

श्रीमद्भगवद्गीता

कान्यकुब्ज श्रीनगनाथसुक्त विरचित

मनभावनी भाषा टीका समेत

मूल भगवद्गीता

गीता सुगीता कसैयो किमने शास्त्रविस्तरे ।
व्याख्यं यज्ञनामस्य सुखप्रज्ञादिनिहता ॥

दोहा

राधा राधा रमण की कीरति कीरति याहि
खो देरौ मनभावनी जिसक तिलककरि ताहि

कलकत्ता

निमतसागरी ३२ नंबर के मकान मे
श्रीभुवनचन्द्र वसाक के
ज्ञानरत्नाकर यन्त्रमे छपी

संवत् १८२४ ।

विज्ञापन ।

इस असार संसार में वेद शास्त्र पुराण इतिहास का सारांशरूप तथा मोड़ तम तिमिर तिरोहण के अर्थ प्रचंड मार्तण्ड और अज्ञान से अन्ध जनसमूह को ज्ञान अज्ञानका अक्लनूठा यह अनूठा जो गीताशास्त्र से समरभूमि में बन्धुवध निमित्त व्याकुल अर्जुन से शीलष्ण भगवान् ने कहा था सोई श्रीनारायण का अवतार श्रीविद्यास ने महाभारत में भीष्मपर्व के बीच प्रकाश किया है और उसका तात्पर्य भी स्वामी श्रीशङ्कराचार्य ने भाष्य करि के कहा फेरि शङ्करभाष्य का भी टीका आनन्दगिरि जी ने किया और परम ज्ञानवान् श्रीधरस्वामी ने भी गीता पर सुबोधिनी नाम तिलक किया है परन्तु ये सब संस्कृत भाषामें हैं इससे पण्डित छोड़ और लोगों के समझमें गीता का सावार्थ नहीं आवता है इस कारण से और कईएक सत्पुरुषों की रची श्री कहनेसे पण्डित जगन्नाथसुकुल ने अपने बुद्धि बलके अनुसार मनसावनी नाम भाषा टीका सम्बत् १८२३ में किया है सो उसी टीका के साथ श्रीमद्भगवद्गीता अङ्गन्यास करन्यास औ माहात्म्य के समेत श्रीभुवनेश्वर वसाकने अपने ज्ञानरत्न यन्त्र में अपनी तरफ से छाप्य और जगन्नाथ पण्डित ने उसे फेर भी मुद्रा किया है ।

श्रीमद्भगवद्गीता

शाङ्करभाष्य उपक्रमशिका

श्रीनारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसम्भवम् । अण्डस्यान्तस्त्रिमेखिकाः सप्त
हीमाचमेदिनी ॥१॥ स भगवान्सृष्ट्व दृढं जगत् तस्य च स्थितिं चिकिर्षुर्धरीत्यादीनश्रेष्ठं ह्य
प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राह्यामास वेदोक्तं ततोऽन्यांश्च स न कस्य नन्दनादीन् त्वाद

भाषा अनुवाद

इस संसारमें यह सब किसीके इच्छा रहती है कि दुख दूर होय और निरन्तर
सुख मिले परन्तु उसकी कोई उपाय विना जाने बड़तेरे लोग अनेक अनेक
यतन करि श्रेष्ठ पुराण निहारि हारिवैठे और अपने मनके मनोरथको न
पहुँचे तब परम दयालु भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णजीने उसकी एक अति उत्तम
उपायरूप गीताशास्त्र महाभारतके बीच यजुर्नको उपदेश किया जिससे ज्ञान
निष्ठा और ज्ञाननिष्ठाका कारणरूप जो कर्मनिष्ठा अर्थात् कर्मके द्वारा ज्ञानकी
प्राप्ति होती है यही दोनों निष्ठा में प्रवृत्त कहे कहता ऊँचा जा गीताशास्त्र-
तिसका तात्पर्य कहनेके लिये भगवान् भाष्यकार शंकराचार्य सकल इतिहास
पुराणोंके साथ गीताकी एकवाक्यता अर्थात् किसीसे विरोध नहीं है यह जानाते
ऊँचे गुरुके आरम्भमें अन्तर्यामी परमेश्वर का प्रतिपादन कहे कहनेवाला एक
पुराणका श्लोक महलाचरण किया है ॥ उसका अर्थ यह है कि जो अव्यक्तनाम
माया जगत्की प्रकृति तिसमें प्रगट सकल स्वरूप जङ्गमकी शरीर समूहमें अधि-
ष्ठित कहे ठिके जो सकल जीव तिनके आश्रयभूत अन्तर्यामी नारायण हैं और
उसी मायासे अंदाकार यह ब्रह्मांड प्रगट भया है कि जिस ब्रह्मांडके भीतर सकल

निवृत्तिधर्मे ज्ञानवैराग्यलक्षणप्राप्त्यामास । द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो
 निवृत्तिलक्षणश्च । तत्रैको जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां सत्तादभ्युदयनिःश्रेयसहेतुर्वि-
 सधर्मी ब्राह्मणराक्षसैर्विभिन्नैर्यमिभिः श्रेयार्थिभिरनुष्ठेयमानो दीर्घकालेन अनुष्ठान-
 णा कामोद्भवाऽऽद्यमानविवेकाय ज्ञानहेतुकेनाधर्मेण यमिभ्युमाने धर्मे प्रवर्द्धमाने चाधर्मे
 जगतः स्थितिं परिपालयिषुः स आदिकर्त्तानारायणस्य । विष्णुर्गौतमस्य ब्रह्मणो
 ब्राह्मणत्वं स्वरक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवादेशेन दृश्यः किल सम्भूय ब्राह्मणत्वं स्वहिरण्येन
 रक्षितः स्याद्वैदिको धर्मस्तदधीनत्वाद्द्वार्यायमभेदानां । स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिव-
 लवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं सांमायां भूलप्रकृतिं वशीकृत्या जोऽ-
 व्यभोभूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् सुखमायया देहवानिव जात इव लोका-
 नुग्रहं कुर्वन् लक्ष्यते स प्रयोजनाभावोऽपि भूतानुजिहृष्टया वैदिकं हि धर्मं हवन्तु नान्यथो-
 क्तो ह्येवमहोद्भवौ निमग्नौ योपरि देवैः सुखाधर्कैर्हि गृहीतोऽनुष्ठेयमानश्च धर्मः प्रकृत्यं

भाषा अनुवाद

लोक और समुद्र समेत यह सातही वस्तुधरा जो श्विधी सोधरी भई है ॥ १ ॥

सोई नारायण जगतको सिर्जन करे इस सृष्टिके पालन करनेके लिये मरीचि
 अग्नि आदि दश प्रकाशितियोंको पहले उत्पन्न किया और उनको वेदविहित
 प्रवृत्ति लक्षण धर्मकी शिक्षा दिया फेर मनका, दकों को उपलाय उनको ज्ञान
 वैराग्य निवृत्ति लक्षण धर्मका उपदेश किया । सो वैदिक कहे वेदविहित धर्म दो
 प्रकारका है पहला जगतको स्थिति करनेवाला जिसको प्रवृत्ति लक्षण कहते है
 दूसरा सत्तिका देवहार निवृत्ति लक्षण है जिसको ब्राह्मण आदि चारो वरप
 और चारो आद्यमी अपने कल्याणके अर्थ अनुष्ठान अर्थात् प्रारण करते है ॥

जगतमें लोगोंकी कामनावशते विवेकज्ञानके नाशक अधर्मी इति भई तो जगत्
 की स्थिति कहे पालनकी इच्छा करिके यही आदि कर्त्ता नारायण ब्राह्मण और
 ब्राह्मणके आधीन वेदविहित धर्मको रक्षाके निमित्त देवकीके गर्भमें वसुदेवसे अंश
 रूप आप प्रगट भये । सोई भगवान् सदा ज्ञान ऐश्वर्यशक्ति वल वीर्य तेजसे सम्पन्न
 कहे युक्त अपनी वैष्णवी त्रिगुणमयी मायाको अपने वश करके और आप मुक्तरूप
 मायाके द्वारा उत्पन्न भये ऐसे देवपट्टे अर्धने किसी प्रयोजनके बिना भी लोगों

गमिष्यतीति । तन्धर्मभगवतायथोपदिष्टवेदव्यासः सर्वज्ञो भगवान् गीताख्यैः सप्तभिः
लोकशतैरुपनिबन्ध । तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं दुर्लभं चोपायं
तदर्थविष्करपायानेकैर्विदुषा तदपदार्थवाक्यार्थन्यायमत्यन्तविरुद्धानेकार्थत्वेन लौकिकैर्गृह्यमाणमुपलभ्याहं विवेकतो र्थनिर्द्धारणार्थं संचोपेतो विवरणं करिष्यामि । तस्या
ख्यगीताशास्त्रस्य संचोपेतः प्रयोजनं प्ररं निःश्रेयसं सहेतुकस्य संसारस्यात्यन्तोपरमलक्षणं
तच्च सर्वकर्मसन्तारासपूर्वकादात्मज्ञाननिष्ठारूपपादधर्माद्भवति तथेमेव गीतार्थधर्ममुद्दि
श्य भगवतैवोक्तं सहिष्यं सुपर्याप्तोत्तरं । पदवेदनं इत्यनुगीतासु किञ्चान्यदपि तवैवो
क्तानैव धर्मानि चाधर्मानि चैव हि गुभाशुभी । यस्यादेका सनेलीनस्तुष्णी किञ्चिद्विदित
यन् । ज्ञानं सन्तारासलक्षणमिति च । इहामिचान्ते उक्तमर्जुना यस्य सर्वधर्मान्परित्यज्य
यानेकं शरणं वेति । अथ्यदुयार्थोपि यः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो वर्णाश्रमाद्यो हि श्रवित
त स च देवादिस्नानप्राप्तिहेतुरपि स न ईश्वरार्पणबुद्धानुष्ठीयमानसत्त्वगुह्ये भवति फला
भिसन्निवर्जितः शुद्धसत्त्वस्वचक्षाननिष्ठा योग्यता प्राप्तिद्वारेण ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन

भाषा अनुवाद

पर अनुग्रह प्रकाश करिके प्रगटे जिसमे इस धर्मको सबलोग जानिकारि ग्रहण
कारे कोकि वडोके आचरण किये ऊये धर्मको सबलोग ग्रहण करेगे यह विचारि
श्रीकृष्णजी ने संग्राम के बीच शोकसागरमे निमग्न कहे डूबे ऊये अर्जुनसे वेदोक्त
प्रवृत्ति निवृत्ति दोना प्रकारके धर्म उपदेश किया था सोई भगवत्का कहा ऊआ
उपदेश सात सै लोकमे सर्वज्ञ भगवान वेदव्यासजी ने यह गीता निबन्ध किया
अर्थात् बनाया सकल वेदोके अर्थका सारसंग्रह स्वरूप इस गीता का तात्प
र्यार्थ लोगो को अति दुर्ज्ञेय कहे जानवे योग नहीं है इसी से वड्डतोने
यद्यपि इस गीताका अर्थ प्रकाश किया तौ भी साधारण लोग उसका उलटा
भाव अर्थ ग्रहण करलेते है यह जानि कै यशस्वत कहे ठीक ठीक अर्थ निर्धारण
करनेके लिये हम संचोपमे विवरण करनेमे प्रवृत्त भये है इसरूप इस
संसारसे उपरतिरूप को निर्वाण कहे मुक्ति सोई गीताशास्त्रका प्रयोजन है
परन्तु सर्वकर्म परित्याग पूर्वक ज्ञाननिष्ठारूप निवृत्ति धर्मके अनुष्ठान करने से
वह प्रयोजन सिद्ध होता है अनुगीता आदि ग्रन्थोमे भगवान् आप यही सकल

चनिःश्रेयसहेतुत्वमप्रतिपद्यते तथा चे मम धर्ममभिसन्धाय वक्ष्यति ब्रह्मणा धाय कर्माणि
यतचित्ताजितेन्द्रियाः । योगिनः कर्मकुर्वन्तिसङ्गत्य त्वात्मशुद्धये इति । इमं द्विपका
रं धर्मं नि श्रेयसप्रयोजनं परमार्थतत्त्वज्ञवासुदेवाख्यं परब्रह्माभिधेयभूतं विशेषतोऽभि
व्यञ्जयन् विशिष्टप्रयोजनसम्बन्धाभिधेयवद्गीताशास्त्रं यतस्तदर्थीव ज्ञानेन समस्तपुरुषार्थ
सिद्धिरतस्तद्विवरणेयत्नः क्रियते मया अत्र च धृतराष्ट्र उवाच धर्मक्षेत्र इत्यादि ।

भाषा अनुवाद

अभिप्राय प्रमाणरूप प्रगट देखाया है और जो वर्ण आश्रमके विषयसे जगत का
स्थिति साधन कहे सहायक कर्मनिष्ठारूप प्रवृत्तिलक्षण धर्म इससे कही कहीं
कहा है वह यद्यपि देवादिलोक प्राप्ति का हेतु है पर तौ भी ईश्वरार्पण बुद्धि से
किया हुआ चित्तशुद्धिके साथ ज्ञाननिष्ठाकी योग्यताके द्वारा निर्वाण मुक्तिका
साधन होता है यह बात इसी ग्रन्थसे मीछू कही जायगी इसी भाँति निर्वाणमुक्तिका
कारणरूप दो प्रकारका धर्म और वासुदेव जो परब्रह्म परमार्थ तत्त्व सोई विशेष
रूपसे प्रगट करते विशेष प्रयोजन अभिधेय औ सम्बन्धविशिष्ट इस गीताशास्त्रके
अर्थ ज्ञानसे सब पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं इसलिये इसका तात्पर्य कहनेको मैं यत्न
करता हूँ इस विषयसे धृतराष्ट्र ने कहा कि हे सञ्जय इत्यादि ।

इति शाङ्करभाष्य उपक्रमशिका ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथम अध्याय ।

‘हतराष्ट्रउवाच । धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः । मामकाः पाण्डवाश्चैव
किमुकुर्वन्तसञ्जय ॥ १ ॥ सञ्जयउवाच । दृष्ट्वा तु पाण्डुवानो कं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।

भाषा अनुवाद

नेवहीन हतराष्ट्र युद्ध में संदेह करते ऊँचे प्रशंसा वाक्य से धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र का विशेषण देकर आत्महितकारी सञ्जय से पूछा कि हे सञ्जय धर्मक्षेत्र धर्मभूमि जो कुरुक्षेत्र वहाँ मेरे पुत्र दुर्योधन आदिक और पाण्डु के पुत्र युधिष्ठिरादि सब युद्ध की दृष्टि करिके इकट्ठे हो क्या करते हैं इससे यह आया कि हतराष्ट्र के पूर्वपुरुषों में कोई कुरुनाम राजा थे जिनका यह कुरुक्षेत्र धर्मस्थान है वहाँ धर्म बृद्धि होय संग्राम छोड़ मेल करके राज्य का विभाग तो न कर देंगे यह भीतरी अभिप्राय है और रणभूमि में सैन्यदल देखि सशक्त कहे उरे से कौन है क्या धीरवीर भीष्मपितामह के साथ मेरी प्रवल सेना को देखि शत्रुओं को भय भई है या हिंसा को भय दोनों मानि संग्राम से निवृत्त हो जायेंगे यह हतराष्ट्र सञ्जय से पूछते हैं पाण्डुवा यह सम्बोधन दे कर जनाया कि मेरे भाई पाण्डु रोगी थे और उन को रोग रूप धरि सैधुन करत ऊँचे ऋषि ने शाप भी दिया था कि जब तुम स्त्रीसंग करोगे तब मर्जावगे तो फिर युधिष्ठिरादि मेरे भाई के पुत्र कैसे हो सकाते हैं इस से ये जारज हैं और राज्य के लिये लड़ने को आये कुरुक्षेत्र में यह इन का सोलह आना अन्याय है और मामका कहने से झलकाया कि मेरे पुत्र जो कुरुक्षेत्र गये सो अपने वडों के स्थान पर गये कुछ अन्याय नहीं किया पर उन का आवना पराई जगह अन्याय है ॥ १ ॥ तब सञ्जयने हतराष्ट्र से कहा कि

आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥ पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्यमहतीं चमूं
 व्यूढां द्रुपदं पुत्रोत्तमं तपशिष्येण धीमता ॥ ३ ॥ अथ गुरुरामहेष्वासामीमार्जुनसमा युधि ॥
 युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥ एष्टके तुष्टकितानः काशिराजश्च वीर्य-
 वान् । पुरुजित्कुन्तिभोजश्चैव्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥ युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौ-
 जाश्च वीर्यवान् । सौमद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥ अस्माकन्तु विशि-

भाषा अनुवाद

राजा पांडुपुत्र युधिष्ठिरादिका सैन्यदल व्यूहाकार रचना रचित युद्धके लिये तयार खड़ा देखि आप के पुत्र राजा दुर्योधन द्रोणाचार्य के निकट जाय कर वक्ष्यमाण वह बात कहो है इस से यह जानाया कि भय औ शंका तुमारे ही पुत्र को भई है कि घबड़ाये के गुरू के निकट दौड़ गये ॥ २ ॥ सोई दुर्योधन की सब बातें सज्जय नव श्लोकसे कहते हैं कि हे आचार्य देखियेतो यह युधिष्ठिरका सैन्यदल जिस को आपका शिष्य द्रुपद का पुत्र वह्निनिपान एष्टकुन्ति ने रचा है सो महात्मा आप के सामने बडे विस्तारमे युद्ध करने को तयार निडर खड़ा है इस से यह आया कि जिस मे द्रोणाचार्य क्रोध करै ॥ ३ ॥ और इस सेना के बीच युद्ध करने मे भीम अर्जुन के समान धनुर्धारी महाबली और और कितने योद्धा हैं तिन के नाम दुर्योधन द्रोणाचार्य से कहते हैं कि युयुधान जो सात्यकी और राजा विराट महारथी द्रुपद राजा ॥ ४ ॥ और एष्टके तुष्टकितान राजा औ बलवान काशिराज औ पुरुजितराजा कुन्तिभोज औ सैव्य ये सब राजा नरयेष्ठ औ बलवान हैं ॥ ५ ॥ पराक्रमी युधामन्यु नाम राजा और बलवान उत्तमौजा नाम एक राजा और सुभद्राके पुत्र अभिमन्यु औ द्रौपदीके गर्भसे युधिष्ठिरादि पांचजनसे उत्पन्न प्रतिविंदादि पांचभाई ये सब महारथी वीर हैं महा रथीका लक्षण जो अस्त्रशस्त्रमे निपुण हो दग हजार धनुर्धारी योद्धोंके साथ अकेला युद्ध कर सके उसी को महारथी कहते हैं और असंख्य योद्धोंके साथ युद्ध करने मे जो समर्थ उसे अतिरथी शास्त्र मे कहते हैं और एक योद्धा के साथ जो युद्ध करे मारथी है उस मे भी कम अर्हथी कहायते हैं ॥ ६ ॥ जो प्रेवल भव सेनादल देखि डरे मे बोलते हो तो मेल क्यों न करनो खड़ाई से क्या फल

थावेताद्विवोधितोत्तम । ' नायकाममसैन्यस्त्रसंज्ञार्थं तानुग्रहीमिहे ॥ ७ ॥ भवान्
भीष्मश्चकर्णक्षत्रप्रश्नसमितिसुय । अश्वत्थमाविकर्णश्चसोमदत्तिर्जयद्रथ ॥ ८ ॥
अन्येचवह्वनशूरामर्दर्थत्यक्तवीरिताः । नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वयुद्धविशारदाः ॥ ९ ॥
अपय्याप्ततदस्त्राकंवलंभीष्माभिरक्षितं । यर्याप्तान्विदमेतेपांवलंभीमाभिरक्षितं ॥ १० ॥
अयनेपुचसर्वयुयथाभागमवस्थिताः । भीष्मनेवाभिरक्षन्तुमवन्तः सर्वएवहि ॥ ११ ॥

भाषा अनुवाद

है ऐसा द्रोणाचार्य न कहै इस शब्दा से दुर्योधन कहता है कि मेरे पक्ष में जो
नायक कहें सेनापति हैं वे सब आप से लिपे नहीं हैं तौभी उन के नाम आप को
स्मरण कराने के लिये कहता हूँ ॥ ७ ॥ सोइ ये दो श्लोक से कहते हैं कि
सश्रामविजयी आप औ भीष्मपितामह कर्ण क्षपाचार्य अश्वत्थमा विकर्ण औ सोम
दत्त का पुत्र भूरिश्वा औ जयद्रथ ये सब वीर अपनी ओर हैं तौ घोर डर किस
वात का है यह आशय जानो ॥ ८ ॥ अब कहते हैं कि और भी वीर वीर शूर
जो मेरे अर्थ प्राण परित्याग करने की निश्चय करि राखे हैं और नाना प्रकार के
शस्त्र चलावनेवाले तथा युद्धविद्यामें विशारद कहें अति निपुणवे सब लोगभी आप
को क्षपा से इधर तयार हैं ॥ ९ ॥ इस के अनन्तर दुर्योधन ने जा कहा सोइ
घृतराष्ट्र से सञ्जय कहते हैं कि ऐसे ऐसे शूर वीरों से भरी पूरी और भीष्म
पितामह से रक्षित हो के भी हमारी सेना अपय्याप्त कहें पाण्डवों को सेना के
साथ युद्ध करनेमें असमर्थ सो जानी जाती है और विपक्ष पाण्डवों का अपूर्ण दल
आखसों भीमसेन से रक्षित पय्याप्त अर्थात् समर्थ सो देख पड़े हैं । दूसरा
अर्थ दुर्योधन अपने हृदयकी निडरता प्रकाश करते ऊँचे द्रोणाचार्यसे कहते हैं
कि हमारा ग्यारह अक्षौहिणी सैन्य दल महात्मा बुद्धिमान भीष्मपितामह जिस
को हरतरह से रक्षा करते हैं निसन्देह शत्रुवा का पराभव करने का समर्थ है
और इन विचारों की एकता सात अक्षौहिणी भाव धाडी सेना दूसरे चपलबुद्धि
महा गवांर भीमसेन से परिपालित है कहां हमारा सामनां खा करेगा पराभव
करना अर्थात् जितना तो बड़ी दूर है ॥ १० ॥ इस से अब तब सब लोगों को
सही करना उचित है कि शत्रु के सैन्यदल के भीतर प्रवेश करने का क्रम से

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुद्वहः प्रितामहः । सिंहनादं विनष्टोच्चैः शंखं दधौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥
 ततः शङ्खाभ्यर्थ्य च परवानकगोमुखाः । सहसैवाभ्यहन्यन्त सशब्दस्तुमुलोऽभनत् ॥ १३ ॥
 ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ । माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ ग्रहौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥
 पाण्डवज्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः । पौण्ड्रदध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वक्रोदरः ॥ १५ ॥
 अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । नकुलः सहदेवश्च सुधोपमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥
 काश्यपः परमेष्वासः शिखण्डो वमहारायः । धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्य

भाषा अनुवाद

घलग चलग हो अपनी अपनी रणभूमि पर खड़े हो कर भीष्मजी की सब कोई रक्षा करो जिस में और कोई शत्रु की और का बोधा पीछू से इनको न मारने सके इस की अभिप्राय यह है कि भीष्मजी के बल से हमारा जीवन है ॥ ११ ॥
 तब तो ऐसी ऐसी राजा दुर्योधन की सनमान और अपनपै की पातें मुनि भीष्मजीने जो किया सो कहते हैं कि दुर्योधनके सन्तुष्ट होने के कारण कुशवंश के दृष्ट प्रितामह उच्छल के आगे बढि सिंहनाद करि के शङ्ख जो बड़े धुधुकार शब्द से बजाया ॥ १२ ॥ भीष्म प्रितामह की युद्ध में ऐसी उत्साह देखि सकल सेना के सरदार लोग जिस भांति युद्ध उत्सव में प्रवृत्त भये सोई कहते हैं कि तदनन्तर शङ्ख भेरी कहे तूर ही पणव जो रुदङ्ग अनक जो नगारा गोमुख बाद्य विशेष तत्काल एक बारगी जो समोने बजाया तो वह शब्द एक बड़ा आश्चर्यभूत भयानक धुधुकार भया कि दृष्टिबी दहल उठी ॥ १३ ॥ तिस के बादि पाण्डवों की सेना में युद्ध की तयारी पांच झोक से कहते हैं कि इधर तो हंस से श्वेत वरण चार हय संयुक्त सूर्यके समान प्रकाशमान रूप पर सवार श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अति उत्तम दोनो शङ्ख धुधुकारे कि तीन खोक हिल उठे ॥ १४ ॥ अब किसने कौन शङ्ख बजाया सो कहते हैं कि पाण्डवज्य नामक शङ्ख श्रीमद्भगवान ने और अर्जुनने देवदत्त नाम शङ्ख बजाया फेर भीमकर्मा भीमसेनने भयानक पौण्ड्र नामक महाशङ्ख बजाया ॥ १५ ॥ तिस के अनन्तर अनन्तविजय नाम शङ्ख कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने बजाया और सुधोप नाम शङ्ख नकुलने और मणिपुष्प नाम सहदेवने बजाया ॥ १६ ॥ और धनुषारी कामीराज शिखण्डी और धृष्टद्युम्न

किंवा पराजितः ॥ १७ ॥ द्रुपदो द्रोपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते । सौभद्रश्च महाबाहुः
 सहानुदम्भः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥ सर्वोपो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् । नभश्च
 पृथिवीञ्चैव तमुजोऽभ्यनुनादयन् ॥ १९ ॥ अयश्च वसितानुदद्रा धार्तराष्ट्रान्कमिष्वजः ।
 प्रवृत्तेष्वमं पाते धनुर्हृत्प्राप्य पाण्डवः । हृषीकेशं तदा नाक्यमदमाहमहीपते ॥ २० ॥
 अर्जुन उवाच । सेनया कर्मणोर्मथैरथं स्थापय मे व्यत ॥ २१ ॥ यावदेतानि रीक्षेहं यो ह
 कामानवसितान् । कौर्मया स ह्ययोद्व्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥ योऽत्यमानानवेक्षेहं
 मएतेऽवसमागता धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुधेर्बुधेऽप्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥ सञ्जय उवाच ॥

भाषा चनुवाद

तथा विराट राजा और युद्ध में अपराजित जो सात्वकी ॥ १७ ॥ और द्रुपद
 राजा तथा द्रौपदी के पांच पुत्र प्रतिनिन्दादि और सुमद्रा के पुत्र महाबाहु
 अभिमन्युजी हे पृथ्वीनाथ एतराष्ट्र ये सब के सब भिन्न भिन्न ध्वनि करने लगे
 ॥ १८ ॥ वही उन सबों की शत्रुध्वनिने हमारे पुत्र दुर्बोधन और उन से
 पक्षपातियों के हृदयों को विदीर्ण कर दिया और वह ध्वनि प्रतिध्वनिरूप से
 आकाश और पृथिवीतल में व्याप्त हो जाय रही ॥ १९ ॥ उस समय में अर्जुनने
 श्रीकृष्णजी को जो जनाया सो चार श्लोक से सञ्जय धृतराष्ट्र के निकट प्रगट
 करते हैं कि हे महाराज एतराष्ट्र इस प्रकारकी शत्रु ध्वनि सेने पर भी हमारे
 भगवान से यह बात कही ॥ २० ॥ श्रीकृष्ण से अर्जुन इतनी ही बात कही कि
 पुत्र लोगों की उत्साह युद्ध में देख कर कमिष्वज अर्जुनने धनुष चढ़ाय उस काल
 हे अच्युत देना दलके बीच मेरे रथको पड़ा करो ॥ २१ ॥ जो कहें कि क्या
 तम्रासगौर हो कि खड़े हो देखोगे हम तो आप योद्धा लड़नेवाले हो इससे सेना
 के मध्य रथ किस लिये खड़ा किया जायगा इस बात पर कहते हैं कि उतनी देर
 रथ पड़ाकरो कि जबतक हम देखें कि युद्धको कामना करि खड़ी भई सेनाके बीच
 किस के साथ लड़ना हमें उचित है ॥ २२ ॥ दुर्बुधे दुर्बोधन का मनोरथ सिद्ध
 करने के अर्थ जो राजा लोग इस युद्ध भूमि पर आय हुकहे भये हैं उन को जब
 तक हम देखें तबलों रथ देना सेना के मध्यमें स्थापन करो ॥ २३ ॥ तिस के
 बाद क्या भया सो कहते ऊँचे सञ्जय बोले कि हे महाराज एतराष्ट्र अर्जुन जी

एवमुक्तो ह पीकेशो युष्माकेभ्येन भारत सेनयोऽयमयोर्मध्ये स्थापयित्वा रघोत्तमं ॥ २५ ॥
 भीष्माद्रोऽप्यमृतं सर्वेपाञ्चमहीक्षितो । उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतांस्तु निति ॥ २६ ॥
 तत्रापस्थितस्तिता न्पार्थः प्रहृष्टवर्षितामहान् । आचार्यान्मातुलान्स्वाह्वान्
 पुत्रान्पौत्रान्सर्वास्तथा । श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोऽयमयोरपि ॥ २६ ॥ तान्
 समीक्ष्य सकौन्तेय सर्वान्बभूव न वस्थितान् । हृष्यापर्याविष्टो वपीदन्निदमब्रवीत् ॥ २७ ॥
 अर्जुन उवाच । दृष्ट्वैमान्स्वजनान्छय्ययुक्तान्समवस्थितान् । सीदन्ति
 मम गात्राणि सख्यश्च परिश्रुयति ॥ २८ ॥ वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।
 गाढीर्वदन्तं हस्तात्स्वकैव परिदह्यते ॥ २९ ॥ न च यत्नोऽयं वसतां न मतीव च मे

भाषा अनुवाद

यह प्रार्थना सुनिके श्रीकृष्ण देवो सेनाके बीचमे उस उत्तम रथको ले जाय कर
 राडा किया ॥ २४ ॥ पेटि भीष्म द्रोण औ और और राजावोके सामने रथको खडा
 करिके श्रीभगवानने कहा कि युद्ध करनेके हेतु एकही ऊँची यह कुरुवंशीयों की
 सेनाको देखो और जिनके साथ युद्ध अनुचित मान तुमारा मन मजीन भया है
 इनके साथ युद्ध करना ही पडेगा क्यों कि संग्राममे प्रह्लाधारी राजों के सामने खे
 हटना जघी के योग्य काम नही है ॥ २५ ॥ तहाँ खडे ऊँचे चचा दादा आचार्य
 मामा भाई भतीजे पाते नाती आमित्र बन्धु सधुर सुहृदो को दोना तरफ अर्जुन
 ने देखा ॥ २६ ॥ तो सो कुन्तीपुत्र अर्जुन उन सब बंधुवो को लडने के लिये
 सग्राम मे खडे देखि परम छपा से यत्न अति कातर स्वभाव हो विपाद करते
 भये यह वचन बोले ॥ २७ ॥ उस समय अर्जुन ने जो कहा सो संजय कहते
 है कि हे राजा तब अर्जुन छप्पासे बोले कि हे श्रीकृष्ण युद्ध की इच्छा करि संग्राम
 भूमिमे खडे ऊँचे इन स्वजन बंधुवोको देखि मेरे हाथ पाव डीले होगये और सारी
 शरीरमे पसीना पसीना हो आया मख नी सूखता जाता है ॥ २८ ॥ और देह
 कापती है रोका खडे हो हो उठते हाथसे गाडीन धन्वा भी गिरा पडता है सर्वांगकी
 पाख जली सी जाती है ॥ २९ ॥ और मेरे अब खडे होनेकी सामर्थ्य भी नहीं रही
 मेरा मन भ्रमता है और निःसक्त असह्य भी उलटे पुलटे देखता हूँ बादे आँख
 और हाथ भी फरते है ॥ ३० ॥ इससे मैं अपना अब कल्याण नही देखता हूँ

मनः । निमित्तानिचपश्यामिविपरीतानिकेशव ॥ ३० ॥ नचयेयानुपश्यामिहत्वा
 स्वजनमाहवे । नकांक्षेप्रियं कृष्णनचराज्यं सुखानिच ॥ ३१ ॥ किंनोराज्येन
 गोविन्दकिंभोगैर्नोवितेनवा । येपामर्थेकांचित्तनोराज्यंभोगाः सुखानिच ॥ ३२ ॥
 तदमेऽवस्थितायुर्ह्येप्राणांस्त्यक्त्वाधनानिच । आचार्याःपितरःपुत्रास्तथैवचपितामहा
 ॥ ३३ ॥ मातुलाःश्वशुराःपौत्राःश्यालाःसम्बन्धिनस्तथा । एतान्नहन्तुमिच्छामि
 मतोपिमधुसूदन ॥ ३४ ॥ अपिबैलोत्तराज्यस्यहेतोःकिन्नुमहीदते । निहत्यधार्त
 राधान्नःकाम्प्रीतिःस्याज्जनार्दन ॥ ३५ ॥ पापमेवाययेदस्मान् हत्वैतादाततायिनः ।
 तस्मान्नाहोवयंहन्तुधार्तराधान्सवान्धवान् । स्वजनंहिकथंहत्वासुखिनःस्वाम

भाषा अनुवाद

कि स्वजन वंधु वों को संग्राम मे मारके हे क्षणा नहीं चाहिये हमै विक्रय
 और नराज्य और सुख की भी इच्छा हमै नहीं है ॥ ३१ ॥ देखो क्या
 करना हमै राज्य लेकर हे गोविन्द और भोगसे भी मुझे क्या काम है
 और जीने से भी हमै क्या प्रयोजन है कि जिनके वास्ते हम राज्य भोगऔर सुख
 की आकांक्षा करते है वेई पांडव प्राणवन छोड के मेरे सामने संग्राम मे खडे
 है और आचार्य पिह पितामह पुत्र पौत्र येई सकल देख पडे है ॥ ३२ ॥ ३३॥
 जो कहो कि क्षमा करिके चाहो तुम इहे छोडो पर ये सब संग्राम मे अब तुमको
 मारे जीगे जिनमारे किसी तरह न छोडेगे इससे तुम इन सबको संहार करिके
 राज्य भोग क्यों करो तो हे मधुसूदन ये लोग चाहें हमै मारे परन्तु मारते
 ऊये भी मामा नाती पोते भतीजे ससुरे संबंधी इन को हम मारने की इच्छा
 यही करते है ॥ ३४ ॥ जिन को हम तीन लोक की राज्य संपदा के वास्ते भी
 मारने की इच्छा नहीं रखते तो हे जनार्दन केवल शिवी भर की राज्य के हेतु
 दुर्योधन आदि की नाश करि के हमारी काम्प्रीति अर्थात् कौन बडा कार्य सिद्ध
 होगा तात्पर्य यह कि कुटुम्बको नाश करि हमको संसार का कोई सुख नहीं है ॥ ३५ ॥
 जो कहो कि वरमे आगलगवे या विष पिलाय मारे अथवा वध करने को सह्य
 उठावे और धन हरन करे या भूमि कीनले और स्त्रीहरिले ये कृपा आततायी
 कहावते है इनके मारने मे दोष नहीं है औस यास्त अर्थात् नीतिमे लिखा है

श्रीमद्भगवद्गीता

द्वितीय अध्यायः ।

सञ्जय उवाच । तन्तयाक्षपयाविष्टमयुपूर्णकुलेक्षणं । विपीदन्तमिदं वाक्यं
मुवाचमधुसूदनः ॥ १ ॥ श्रीभगवानुवाच । कुतस्त्वाकश्रममिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्य्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकारमर्जुन ॥ २ ॥ माह्वैष्यंगच्छकौन्तेय नैतत्
त्वय्युपपद्यते । क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्तोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥ अर्जुन उवाच ।

भाषा अनुवाद

अहिंसा प्रसन्न धर्म है इससे भिक्षाकरि निर्वाह करना हीं हमें उचित है ऐसी
ये सब अर्जुन की बातें सञ्जय के मुख से सुनि और युद्ध से विमुख अर्जुनको जानि
अपने पुत्र का अचल राज्य मानि मन प्रसन्न स्वस हृदय धृतराष्ट्र को देखि फेरि
सञ्जय धृतराष्ट्र की उस दुष्ट आशा को दूर करते ऊँचे यह वचन बोले कि है
राजन इस प्रकार क्षयायुक्त अयुधारा पूर्ण लोचन विषाद करते ऊँचे अर्जुन से
दुखभोचन श्रीभगवान् ब्रह्मविद्या जो ज्ञान तिससे प्रयोध करते ऊँचे यह वचन
कहते भये सो सुनो ॥ १ ॥ अर्जुनको कातर देखि यह वचन श्रीकृष्ण बोले कि
है अर्जुन ऐसे असमय मे लड़ाई के बीच मूरख कायर क्रूरकृत शास्त्र विहीन
मनुष्यों के योग्य जो लोक मे दुर्दश करने वाला है औ असुर्य्य कहे जिससे स्वर्ग
जाय और नरक मिलै ऐसा काश्रत अर्थात् सोह अर्जुन इस नाससे भूतलमे प्रसिद्ध
धीरवीर तूमे ऐसे पुण्य को श्राय कर प्राप्त मया यय बडाही आचरज है ॥ २ ॥
फेर भी भगवान् अर्जुन से कहते है कि है परन्ताप शत्रु संहार करनेवाले अर्जुन
है कौन्तेय कुन्तीपुत्र अब तूमे वीरभावको छोड इस लीव कहे नमंसकसे भावको न

कथमीधमहंसंख्येद्रोणज्वमधुसूदन । इपुमिःप्रतियोत्स्यामिपूजार्हावरिसूदन ॥
४ ॥ गुरुनहत्वाहिमहानुभावान्श्रेयोभोक्तुं मैत्र्यमपीदृशलोके । इत्वार्यकामास्तु
गुरुनिहैवमुन्नीयमोगान्स्वधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥ नचैतद्विश्रुततरन्नागरीयोयदा

भाषा अनुवाद

गहरी यह हमारे योग्य नहीं है इस आचरण के करने में हमारी शोभा जगतमें कुछ नहीं होगी इससे इस चुद्र कहे अच्छे हृदय की दुर्बलता कहे कादरपन को छोड़ कर हमारे कहने से उठो और धीरज धरि समें के अनुसार कार्य करो कृन्तिपुत्र सम्बोधन देने से जनया कि मादस्वभाव कन्या को होता है पुत्रको तो पिदस्वभावही उचित है और परन्तप कहने से सोचाया कि उठ कर शत्रुवोंको मारलो हम अनेक बार संग्राममें जय प्राय चुके हो क्यों घबहाते हो ॥ ३ ॥ इस प्रकार भगवत्से प्रबोध कराये भी गये अर्जुन तौ भी शोकग्रस्त महा व्याकुल अपने मनका मनोरथ प्रकाश करते ऊँचे दृष्टि गम्भवान से फेरि कहने लगे कि हे भवसूदन पूजा करनेके योग्य जा भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य तिनसे संग्राम में हम बाणोंसे कैसे युद्ध करें और उनको मारें कि जिनके साथ हम बचनखे भी संग्राम करने की बात नहीं कर सकते है तो हे अरिसूदन कहे शत्रुनाशन साक्षात् युद्ध कैसे करें इहा शत्रुनाशन कहनेसे आभप्राय यह कि यह कहे उपायमें शत्रु नाश करने वाले हो ॥ ४ ॥ फेर भी अर्जुन कहते है कि यद्यपि युद्ध करना राजों का धर्म है तौ भी लोभसे जीविका ही के अर्थ वे लोग युद्ध में अनर्थ रूप पाप करते है और जो कहो कि इन लोगों को बिना मारे हमारी देहयावा कहे जीवनवृत्ति भोजन, वस्त्र भी न चलेगा तो निर्वाह कहो संसार में कैसे होगा इस बात पर अर्जुन कहते है कि जिस लिये महानुभाप महात्मा गुरु लोगों को न मार के भीषमाण खाना भी भरेजान लोक परलोकमें गेय कहे अति उत्तम कल्याण रूप है और नहीं गुरु आदि बड़े लोगों को मारिके उनके लोहसे लपेटे मये भोग हम चाहते है क्यों कि जो आप यह कहो कि रणलोक में जो होगा सो होगा किसने देखा है अब जो उपस्थित है सो करो तो कहते है कि केवल परलोक ही में दुख नहीं है यहां भी दुर्गन्ध और सन्ताप रूप दुःख होता ही है और जो कहो कि रहै

जयेम यदि वानो जयेयुः । यानेव हत्वानजिजीविषामस्ते वस्थिताः प्रसुप्ते धार्तराष्ट्राः ॥
 ६॥ कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंभूतचेताः । यच्छ्रेयः स्यान्निश्चि-
 तं हितं श्रेयसि ह्यस्ते हं सधिमां त्वां प्रयत्नम् ॥ ७ ॥ न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छो-
 कमुच्छोपपन्नमिन्द्रियाणां । अवाप्यभूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यं ॥ ८ ॥

भाषा अनुवाद

परलोक यहां लोकमे तो सुख मिलेगा तो हे श्रीकृष्ण तुच्छ अल्प सुखके हेतु सुक्ति और स्वर्गलोकमे यश ऐसी बड़ी वस्तु कौन मूर्ख छोड़ेगा ॥५॥ और जो कदाचित् हम अधर्म अङ्गीकार करें तौभी तो हमारी जय या पराजय क्या होगी यह भी तो हम नहीं जानते हैं कि दोनों मे क्या होगा सोई कहते हैं कि होय हमी रणमे उनको जय करलें नतुवा वेई सबहमे जीतें परन्तु हमारी जीत होने से भी विचार कर देखो कि वह हमारी हारही है क्यों कि जिनको नाश करिके हम फेरि और संसार मे प्राणधारण करना नहीं चाहते हैं सोई धतराष्ट्रके पुत्र सब इकट्ठे हुये रणभूमिमे हमारे सामने युद्धके अर्थ खडे है ॥६॥ इन कुटुम्बके लोगों का वध करिके हम अपने प्राण कैसे करि राखेंगे इस चिन्ता को कार्पण्य कहते और दोष जो कुलक्षय कृत पापहै यही दोनों बातोंसे हमारी शूरता नष्ट होगई अर्थात् चली गई इस से अब धर्मके विचार मे भी हमारी बुद्धि खट हो गई है कि संग्राम छोड भिक्षान्नसे भोजन करना क्षत्रिय को उचित कि अनुचित है इस संदेह से व्याकुल होय हम अब आपही से पूछते है कि जिस मे हमारा अत्यन्त परम कल्याण होय सो आप द्रप्य करिके हमसे कहो क्यों कि हम आपके शिष्य औ शरणागत है हमें अब और कुछ नही सूझे है शरणागतपर दया करना आप जैसे महात्माको उचित है ॥७॥ जो कहो कि हमहीं आप अपने मनसे विचारकरके जो करने योग्य होय सो करो न को तिसपर कहते है कि इन्द्रियोंकी चैतन्य शक्तिका नाश करनेवाला जो यह शोक हमें प्रायके प्राप्त भयाहै सो किसीभी उपायसे दूर होगा यह हम किसीभी मांतिसे नही देखते है और यद्यपि हम निष्कण्टक दधिभी भरका राज्य करें या देवाधिपत्य कहे स्वर्गका राज्य इन्द्रपदभी प्राप्त करै अर्थात् पावें तौभी इसशोकसागरके पार जानेकी कोइ उपाय हमनहीं देखते है ॥८॥ इस

सञ्जय उवाच । एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप । न योऽस्य दृष्टिगोविन्दमुक्त्वा तृप्तो भूवह ॥८॥ तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत । सेनयोरुभयोर्मध्ये विप्रीदन्तमिदं वचः ॥१०॥ श्रीभगवानुवाच ॥ अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च

भाषा अनुवाद

प्रकारकी बातें भगवानसे कहके अर्जुनने और कहाकिया सो सञ्जय एतराष्ट्रसे कहते हैं कि निद्राविजयी शत्रुनाशन धनञ्जय अर्जुनने भगवानसे कहा कि हे गोविन्द हम युद्ध न करेगे जो होय सो होय यह कहकर रथके उपर मौन होय बैठ रहे ॥८॥ तिसके अनन्तर कहा गया सो संजय कहते हैं कि दोनो सेना के बीच में विप्राद को प्राप्त भये अर्जुन को सम्बोधन करि भगवान हंसते ऊँचे वक्षमाण ये वचन कहने लगे हे भारत एतराष्ट्र सुनो ॥१०॥ यह ग्रन्थ प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक से ले कर और द्वितीय अध्यायके दशवें श्लोक तक जो तीन वाक्य हैं तिन के मध्य में प्रथम अध्याय के दूसरे श्लोक से ले के द्वितीय अध्याय के नवये श्लोक पर्यन्त की वाक्य व्याख्या करने के योग्य हैं क्योंकि उस में प्राणियों के सांसारिक दुख का कारणभूत जो शोक मोह आदि रूप दोष तिसकी उत्पत्ति का हेतु रूप अहङ्कार की कारणस्वरूप अविद्या वर्णन की गई है और राज्य आदि ममता रूप भ्रान्तिज्ञान निमित्तक स्नेह देखाया और उस के वियोग से उत्पन्न स्नेह मोह भी देखाया है अर्जुन अपना क्षत्रिय का जो धर्म युद्ध करना तिसमें आपही प्रवृत्त हो के भी जिस शोक मोहके द्वारा विवेकज्ञानसे रहित हो कर युद्धसे विरक्त और परधर्म भिन्ना में प्रवृत्त भये ये ठीक हैं शोक मोह युक्त प्राणीमात्र वज्रघात स्वधर्म छोड़ परधर्म अङ्गीकार कर लेते हैं और जो स्वधर्म में प्रवृत्त है वे भी फल की कामना में अहङ्कार पूर्वक प्रवृत्त होते हैं । इस कारण धर्म अधर्म की प्रबलताके हेतु से उत्तम अधम जोनियोंमें जन्म और सुख दुःख आदि प्राप्ति रूप यह संसार किसी प्रकार छूटता नहीं इस से शोक मोह ये दोनो संसार होने के कारण हैं केवल संन्यास पूर्वक आत्मज्ञान निष्ठाके बिना शोकमोहके निवारणकी और कोई उपाय न देखि भगवान वसुदेव लोकके उपर अनुग्रह करते ऊँचे अर्जुनको उपलक्षण करि इस गीताशास्त्र में सोई ज्ञाननिष्ठा का उपदेश करते हैं । इसविषयमें कोई कहते

भाषा अनुवाद

हैं कि सर्व कर्म परित्याग करि के केवल आत्मज्ञानसे मुक्ति नहीं होती है परन्तु युति स्मृति विहित कर्मनिष्ठा के सहित जो तत्त्वज्ञाननिष्ठा है उस से कैवल्यमुक्ति प्राप्ति होती है इस से प्रमाण इसी गीताके दूसरे अध्यायमें ३३ ४७ आदि श्लोकों से कहा है और यह आदि कर्म भी चली को अधर्म नहीं है बलु उस को न करने से दोष है यह भी इसी द्वितीय अध्याय के ३३ श्लोक में निश्चय करिके कहा है । तो उपर की उक्त अभिप्राय अत्यन्त असत् है कि जिस हेतु ज्ञाननिष्ठा औ कर्म निष्ठा दोनों प्रथक प्रथक कहा है अर्थात् इसी द्वितीय अध्याय के ११ श्लोक से लेकर ३१ श्लोक तक जो परमार्थ तत्त्व निरूपण किया गया है तद्विषयक बुद्धि का नाम सांख्य बुद्धि और सोई बुद्धि युक्त ज्ञानी भी सांख्य कहावते हैं और इस सांख्य बुद्धि उत्पन्न होनेके पूर्व देहादि व्यतिरिक्त कहे भिन्न जो आत्मा उसको कर्तृत्व आदि की अपेक्षा करि के धर्म अधर्म विचार पूर्वक जो भोज का साधन रूप योग निरूपण अर्थात् कहा गया है तद्विषयक बुद्धि का नाम योगबुद्धि है सोई बुद्धियुक्त कर्मी पुरुष का भी नाम योगी है इस प्रकार से दोनों निष्ठा दिखाई है उन के बीच सांख्य नाम ज्ञाननिष्ठा औ योग रूप कर्मनिष्ठा ये दोनों भी आगे प्रथक प्रथक कही जायेंगी इसीसे सांख्य बुद्धिका आश्रय ज्ञाननिष्ठा औ योगबुद्धिका आश्रय कर्मनिष्ठा ये दोनों निष्ठा एक कालमें एक पुरुष करके अनुष्ठान करीजायं यह किसी प्रकारसे सम्भव नहीं होता है यही शतपथ ब्राह्मणमें कहा है कि यो ज्ञान औ कर्म समुच्चय अभिप्रेत हो तो ये सब विभाग वचन और किसी प्रकार सम्भव नहीं है । और इस प्रकारसे अर्जुनकी प्रश्न भी ठीक नहीं होती है क्योंकि कि ज्ञान औ कर्म एक कालमें एक पुरुष को नितान्त असम्भव है यह पूर्व न कहने से अर्जुन किस प्रकार कर्मसे ज्ञानको छोड़ जानि भगवानसे मिथ्या आशेष करेंगे और सर्व उपदेश में ज्ञान औ कर्म इन दोनों के मध्यमें जो प्रेय हो सो हमको छोड़कर कहो इस प्रकार एक विषयक प्रश्न ही वा कहो किस तरह सम्भव है जो भगवत्के उक्त वचनोंका अर्थ न समझके अर्जुन ऐसी प्रश्न किये हों तो भी अर्जुनसे भगवानके ऐसे प्रतिवचन सम्भव नहीं होते हैं चली का स्वधर्म जो यह रूप स्मृतिविहित कर्म तिसके सहित ज्ञान सम्पादन करना भी विहित नहीं है । क्योंकि सो होने से

भाष्ये । गतासूत्रगतासूत्रानुशोचन्तिपण्डिताः ॥ ११ ॥ नत्वेवाहं जातुनासं

भाषा अनुवाद

श्रीकृष्णके प्रति अर्जुनका इस प्रकारका अनुयोग करना कभी सम्भव होता नहीं इसीसे गीताशास्त्र में लेशमात्र भी थोत या स्वार्त्त कर्मके सहित ज्ञान सम्पादन का प्रतिपादन करने को कोई भी समर्थ न होंगे । अज्ञान किम्बा राग आदि दोष वशते कर्मसे प्रवृत्त मनुष्य को यज्ञ दान तप आदि के द्वारा सत्त्व शुद्धि पूर्वक परमार्थ तत्त्वज्ञान होनेसे परलोक संग्रहके अर्थ जो फेरिभी कर्मसे प्रवृत्ति होय तो उस कर्मको कर्म नहीं कहते हैं सुतरां तिसके सहित ज्ञान का सम्पादन नहीं होता है जैसे भगवान् श्रीकृष्ण के सकल धर्म समुचित नहीं और जैसे काय्य कर्मसे कामना न रहने से फेरि और वह काय्य कर्म नहीं हो सकता है जिस हेतु उस में फलाभिसन्धि कहे फलकी इच्छा नहीं है । तो फेरि जो जनक आदि राजा कर्म के द्वारा मुक्त ऊये थे यह ग्रन्थों में वर्णन किया है सो केवल लोक संग्रह के अर्थ मात्र अथात् सब कर्म का परित्याग होने से भी गुण औ गुणी ज्ञान वशते कर्म आभास के साथ उन की मुक्ति भई थी अर्थात् कर्म के त्याग में अधिकार होने से भी कर्म त्याग न करि के उस के सहित निर्वाण प्रद प्राप्त किया और जो कहो कि जनकादि राजा पूर्व में तत्त्वज्ञानो नहीं थे तौ भी ज्ञान के साधन भूत सकल कर्म ईश्वर को समर्पण करने से उनको सत्त्व शुद्धि अथवा ज्ञान की उत्पत्ति भई थी भगवान् ने इस गीता शास्त्र में यही प्रति पादन करि के पीछे सोई प्रकार शुद्ध सत्त्वगुण मनुष्य की ज्ञाननिष्ठा निरूपण किया है इस से केवल तत्त्वज्ञानसे जो मुक्ति होती है और उसमें जो कर्मके सहायताकी अपेक्षा न करे यही इस गीता शास्त्र का निश्चित अर्थ है यह अर्थ आगे प्रकरण पाय के देखाया जायगा इस प्रकार गीता शास्त्रका तात्पर्य अर्थ निरूप्य किया गया है परन्तु अब धर्ममें व्यग्र मिथ्या भ्रमविशिष्ट कहे युक्त महत् शोक सागरमें डूबे ऊये अर्जुन को आत्म ज्ञान के बिना उद्धार होने की और कोई उपाय न देखि करके भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रति तत्त्वज्ञान का उपदेश करते हैं । प्रथम अध्याय के २८ श्लोक से लेकर तम जो कुटुम्बके जनोका शोक करते हो सो वे सब तुम्हारे

तन्नेनेजनाधिपः । नचैवनमविद्यास सर्वैववमत'परं ॥ १२ ॥ देहिनोऽस्मिन्-
यथादेहेकौमारंयौवनंजर । तथादेहान्तरप्राप्तिर्विरस्तवनसुहृत्कि ॥ १३ ॥

भाषा अनुवाद

शोचनेके योग्य नहीं है और द्वितीय अध्यायके २ श्लोकसे लेके हमसे प्रबोध कराये अर्थात् समझाये गये भी तुमको परिणतमानी के समान ये वचन उच्चारण करते अर्थात् कहते हो कि मोक्ष पितामही को संग्राममें हम कैसे मारें' इससे यह प्रतीति होती है कि तुम यथार्थ परिणत नहीं हो जिस हेतु बुद्धिमान परिणत जोहैं वे गतप्राण अगतप्राण अर्थात् मरे और जीवते को नहीं शोचते हैं कि बन्धु विहीन हम कैसे जिअेंगे ॥११॥ भीष्म आदिके प्रति जो शोच करना अनुचित है इसमें श्रीभगवान् कारण कहते हैं कि देखो हम परमेश्वर हमारा शरीर धारण कराना केवल लीला के अर्थ है इससे इस देह के होने जाने वशते हम कर्म पूर्वमें नहीं रहे थे यह सम्भव नहीं होता जिस हेतु हम अनादि और हमारे अग्रते उत्पन्न तुम और ये सब राजा लोग भी कभी नहीं रहे थे यह भी सम्भव नहीं है इससे हम जैसे पहले थे तैसे अब भी हैं फेरि आगे भी हम सब होयगे इससे आत्म स्वरूप देह के जन्म और मरणका स्वभाव हो है तो फिर स्वजन विनाश कहे शोक का विषय कैसे है नहीं हो सकता है ॥ १२ ॥ जो कहो कि तुम ईश्वर तमारा जन्म और विनाश न होना सम्भव है परन्तु हम लोग जीव हैं इससे हमारा जन्म मरण प्रसिद्ध है इस विषयमें भगवान् कहते हैं कि देखो देहाभिमानी जीवको इस स्थूल शरीर में जैसे कौमार यौवन और वृद्धा अवस्था प्राप्त होती है परन्तु जीव स्वरूप को नहीं होती है और यही सब अवस्था के मध्यमें पूर्व अवस्थाके वीत गये और और अवस्था प्राप्त भये पर भी संस्कार वशते सोई हम है यह ज्ञान रहता है तैसेही जीवको भी स्थूल देह के नाश होने पर लिङ्ग शरीर के द्वारा देहान्तर प्राप्ति होनेसे भी आत्माका नाश नहीं होता है देखो तुर्तके भये ऊँचे बालकको पूर्व देहके संस्कार वशते जन्म होतेही माय दूध पीनेमें प्रवृत्ति देख पडती है इसीसे स्थूल देहके जन्म नाश भयेपर और पुनः मूढ नहीं होते अर्थात् आत्माका जन्म मरण अद्भोकार नहीं करते हैं ॥ १३ ॥ और जो कहो कि हम भीष्म आदिके प्रति

मायास्यशस्त्रकौन्तेयशीतोष्णसुखदुःखदाः । आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तिष्ठतश्च
भारत ॥ १४ ॥ यं हि न व्ययं न तेते पुरुषं पुरुषधर्मम् । समदुःखसुखं धीरसोऽनृतत्वाय
कल्पते ॥ १५ ॥ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । उभयोरपि दृष्टो न
स्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥ अविनाशितुतद्दिद्विद्येन सर्वं भिदततं । विनाशम

माया अनुवाद

शोक नहीं करते हैं परन्तु उनके वियोग में हमें दुःख करना ही होगा इस लिये
हम अपने को शोचते हैं इस बात पर कहते हैं कि सकल वस्तु जिसके द्वारा परिमाण
की जाय ऐसी जो सब इन्द्रिय वृत्ति कहे संयोग और उनके द्वारा जो विषयों का
स्पर्श होना यही शीत उष्ण आदि के द्वारा सुख दुःख देता है किन्तु वे शीतादिक सब
अनित्य हैं इससे उनको धीरज धरके सहो जैसे जल अग्नि धर्म आदि संयोग से
कालस्थमान वधते शीत उष्ण होनेसे सुख दुःख है तैसे इष्ट औ अनिष्ट प्राप्त होने से
भी सुख दुःख होता ही है परन्तु वह अनित्य और मिथ्या है इससे तुमको उनका
सहना उचित है तुम ऐसे धीर वीर पुरुष को उन में हर्ष विषाद करना अति
अयोग्य और दृष्टा है ॥ १४ ॥ जिस हेतु कोई उपाय अवलंबन करि शीत उष्ण
का वारन करने से कष्टकर उनका सहना ही उचित है क्योंकि उसमें बड़ा प्रयत्न
है यही कहते हैं कि हे पुरुष येष्ठ अर्जुन जिन धीर पुरुषों को सुख दुःख समान
भाय है अर्थात् शीत उष्ण में लेश बोध नहीं होता सोई विक्षेप रहित पुरुष धर्म
औ ज्ञानके द्वारा मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी है ॥ १५ ॥ और जो कहो कि तौ भी
अति दुःसह शीत उष्ण उनको हम कैसे कर सहे और जो बड़ा लेश करिके
'किसी तरहसे सहे तो कदाचित् इस आत्माका नाश हो सकता है यह शङ्का करि
कहते हैं कि विचार से तो वे सब सह्य जाय सकते हैं देखो जैसे अति तुच्छ औ
अनात्मधर्म अर्थात् शरीरके धर्म जो शीत उष्ण प्रवृत्ति हैं उनका आत्मासे कुछ संबंध
नहीं है और सत् स्वभाव जो आत्मा उसका कभी भी विनाश नहीं होता है यद्यपि
दर्शी तत्त्वज्ञानी पुरुष इसी प्रकार से सत असत इन दोनों पदार्थ की निर्णय किया
है इससे विवेक ज्ञानके द्वारा शीत उष्ण आदि तुम सह्य करो घबडाते काहेलिये
है ॥ १६ ॥ अविनाशी सत वस्तु का स्वरूप सामान्य से वर्णन करिके फेरि विमोप

व्यवस्थास्वनकश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥ अन्तवन्त इमे देहानित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्तस्याद्युध्यस्वभारत ॥ १८ ॥ यएनं वेत्ति हन्ता गूढं चैनं मन्यते
हतम् । उभौ तौ न विनानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥ न जायते म्रियते वाकदा चिन्ता
संभूता भविता वा न भूयः । अजो नित्यः प्राश्नतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

भाषा अनुवाद

रूपसे कहते हैं कि जो इस अनित्य देहमें साक्षीरूप सबधौर व्याप्त होकर रहता है वही आत्मा को तुम अविनाशी जानो जिस हेतु उसके विनाश करने को किसी की सामर्थ्य नहीं है ॥ १७ ॥ अब उत्पत्ति विनाश धर्म विशिष्ट देहादिकी अनित्यता देखावते हैं कि नित्य अर्थात् सदा एक रूपसे स्थित और इसीसे अविनाशी औ अप्रिमेय कहे जानेवाले जोग नहीं ऐसा जो देही कहे आत्मा है और सुख दुःख आदि धर्मविशिष्ट नश्वर अर्थात् विनाश होनेवाली यह देह है ऐसा तत्त्वज्ञानी कहते हैं इसीसे जानो कि जो स्वरूपसे आत्माना विनाश तथा सुख दुःख आदिका संबंध नहीं है तो मोहजनित शोक को परित्याग करके युद्धमें तुम प्रवृत्त होओ और अपना क्षतीका परमधर्म जो युद्ध से कभी न छोड़ो छोड़ना नहीं चाहिये ॥ १८ ॥ भगवान की इन सब बातों से महात्मा भीष्म पितामहादिक के सत्य हेतु को अर्जुन को दुःख शोक आद्य के प्राप्त भया था सो सब दूर भया और अब कुटुम्ब के वध करनेवाले हम हैं यह दुःख जो प्रथम अध्यायके ३४ श्लोकमें कहा है सो उस दुःखके उत्पन्न होने में कोई हेतु नहीं है यह प्रतीति भगवान करावते हैं कि यह आत्मा न किसीसे मरता और न किसीको मारता है फेर जो कोई इस को हन्ता जानता और इस को हत मानता है वे दोनों भी कुछ नहीं जानते हैं ॥ १९ ॥

आत्माका नाश नहीं है यह बात यहभाष, विक्रिया कहे विकारका अभाव कथन के द्वारा भगवानदृष्ट करते हैं कि आत्मा का जन्म होता नहीं अर्थात् उसका जन्मरूप विकार नहीं है और कभी मरता भी नहीं अर्थात् विनाश रूप विकार उसका नहीं है और आत्मा उत्पन्न होके विद्यमान है यहभी नहीं अर्थात् वत्त मान रूप विकार नहीं है जो जन्म धरे है सोई वर्त्तमान भी होता यह तो अज तथा पूर्वसे सदासर्वदा विराजमान है इसका फेरि जन्म लेकर विद्यमान होना

२० ॥ वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययं । कथं स पुरुषः पार्थ कंघातयति हन्ति कं

भाषा अनुवाद

कहाँ यह अतिही असम्भव है और यह नित्य सदा एकरूप अर्थात् इसका दृढ़ रूप विकार नहीं है और यह शास्त्र अर्थात् ज्वरहित है और पुराण अर्थात् इसका परिणाम नहीं है परिणाम कहते बदलने को अर्थात् रूपान्तर होने को आत्मा पुरातन होके भी देहके साथ नयासा होता दीखै है देखो शरीर संयोग से परिणत होके भी रूपान्तर को प्राप्त नहीं होता है क्योंकि त्योंही रहता और भी कहते कि पड़ले नहीं था अब भया और बढ़ता है यह कुछ बात भी आत्मा से नहीं है इस अर्थसे भी बृहिरूप विकार रहित होता है इस विषयसे अज औ नित्य ये दोनों शब्दोंके रहनेसे और कुछ कहनेका प्रयोजन नहीं है इसीप्रकार आत्मा का जन्म विद्यमानता बुद्धि परिणाम अपजय कहे घटना औ विनाश ये छ विकारों का अभाव सांख्य शास्त्रमे निर्णय किया है अब जो बाकी रहा सो कहते हैं कि शरीर जत होनेसे भी आत्मा जत नहीं होता जिस हेतु यह अविनाशी है ॥२०॥ पूर्व श्लोकमे आत्माको पडविकार रहित कहा है इससे आत्मा इनन क्रिया को मारना तिसका कर्त्ता कहे करने वाला नहीं है यह बात अच्छी प्रकार से सिद्ध भई सोई भगवान कहते हैं कि जो कोई इस आत्माको घटने बटने से रहित तथा जन्म हीन औ अविनाशी जानते हैं हे अर्जुन वे किस वास्ते किसी को मारेगे कारण यह कि आत्मा जो अविनाशी उसके वध की उपाय कोई नहीं है और आप प्रेरणा करि और किसी से किसी को भी किस लिये घात करावे गा इस कहने से श्रीकृष्णजी की यह अभिप्राय जानी गई कि भीष्म आदिके वध मे प्रयो वक्त कहे प्रेरक रूप दोष हमै कभी न दीजो अर्थात् तुमारे कहने से यह काम हमने किया है ऐसी कभी कहियो नहीं ॥ २१ ॥ जो कहो कि आत्मा अविनाशी भी होय पर तौ भी उस की इस स्थूल देह का नाश देख कर हम शोक करते हैं तो देखो जैसे मनुष्य जीर्ण कहे पुराने वस्त्र परिव्राज कहे उतार कर और नये कपडे धारण करते अर्थात् पहिरते हैं तैसे ही आत्मा पूर्व प्राचीन शरीर कहे देह को छोड कर और नूतन कहे नई देह ग्रहण करता है इस से कर्म के अनु

॥२१॥ वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि शृङ्गातिनरोऽपराणि । तथा शरीराणि
विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥ नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति
पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति भारतः ॥ २३ ॥ अक्षरेद्योऽयमदाह्योऽयम
क्लेद्योऽशोष्य एव च । नित्यः सर्वगतः स्थासुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥ अव्यक्तोऽयम
चिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते । तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥ अथ

भाषा अनुवाद

सार देहका अवयव होनहार जो जन्म और नाश तिस में शोच करना तुम जैसे
पण्डित को उचित नहीं है ॥ २२ ॥ अब २१ श्लोकमें कहा जो आत्माके वधके
साधनका अभाव कहे निरुपाय अर्थात् किसी प्रकार से आत्मा का वध नहीं हो
सकता है यह देखाय करि अब आत्मा अविनाशी है इस बातको दृढ़ करते हैं कि
सकल अस्त्र शस्त्र इस आत्मा को छेदन नहीं करि सकते और अग्नि भी इस को
दग्ध करने की समर्थ नहीं है जल इस को आर्द्र कहे गीला नहीं करि सकता
और वायु भी इस को सुखाय नहीं सकती है क्योंकि यह अवयव कहे अंश रहित
है और इन सब की सामर्थ्य अवयव सहित में है अर्थात् भौतिक कहे पञ्चभूत
निर्मित वस्तुमें है ॥ २३ ॥ इसका कारण यह कि आत्मा अस्त्रशस्त्र से छिन्नभिन्न किं
या आगसे दग्ध और जलसे आर्द्र और वायुसे रूपभी नहीं सकता है इसी से
आत्मा नित्य और अविनाशी तथा सर्वत्र विद्यमान है और स्थिरस्थाय अचल
अनादि है ॥ २४ ॥ और यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् चक्षुरादि कर्माद्रिन्द्रियों का विषय
नहीं है यह बात भी कह चुके हैं और अचिन्त्य अर्थात् मनको भी अगम्य कहे ध्यान
से बाहर हैं और अविकारी अर्थात् जन्मनाश, अथवा छोटा बड़ा नया पुराना होना
अथवा किसी रूपमें बदलना भी नहीं इसका है जैसे ही तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं
इससे जन्म नाश शून्य कहे रहित आत्माके स्वरूप को अच्छी तरह से जान वृत्त
कर तुम इस झूठे शोक संताप को परित्याग करो ॥ २५ ॥ और विचार
करि देखी जबकि आत्माके बन्ध तथा नाश का अभाव है तौ फेरि आत्मा के अर्थ
शोक करना किसी प्रकार उचित नहीं है यह बात निर्धार करके ठहराई गई
है अब जो देह के जन्म और नाशसे आत्मा का जन्म नाश है कदाचित् ऐसा अज्ञे

चैनं नित्यजातं नित्यं वामन्यसेऽतः । तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च । तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥
अव्यक्तादो निर्भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत । अव्यक्तनिधानान्येव तत्र कापरिदेव नः ॥

भाषा अनुवाद

कार करि मानो तौभी तुमको शोच करना अनुचित है यह कहते हैं कि पुण्य और पाप तथा तिन के फल सुख दुख और जन्म नाश इन सब का आत्मा के साथ सम्बन्ध रहनेसे यद्यपि देखके जन्म होनेसे आत्मा का जन्म और देखके नाशसे आत्मा का नाश है इस रीतिसे उसके जन्मनाश को नित्य मानो पर तौभी जन्म नाश अवश्य भावी अर्थात् निश्चय होने वाला ही है फेरिभी उसके अर्थ तुम को शोचना का योग्य है नहीं है ॥ २६ ॥ काहेसे शोचना योग्य नहीं है इसका हेतु कहते हैं कि जिसलिये जो वस्तु जन्म ग्रहण करती है उसके आरब्ध कर्म के लय होनेसे निश्चय उसकी मृत्यु अर्थात् नाश होता है ऐसेही मरेकाभी पूर्व देखकर कर्मवशते फेर अवश्यही जन्म होता है इसोसे एवंभूत अनिवार्य कहे अनेक अवश्यभावी कहे होने वाले जन्म और मरणके विषयमे तुमको शोच करना तुमको किसीतरह योग्य होतानहीं क्योंकि तुम विद्वान कहे पण्डित होउ पण्डितका अर्थ यह है कि सत असत्की विवेकिनो कहे विचार करनेवाली बुद्धिकोपण्डाकहते हैं सो जिसके होयसो पण्डित है आत्मासे भिन्न जो कुछ है सो असत् जानो सत एक आत्माही है ॥ २७ ॥ और जो कहो कि देहादि का स्वभाव जो जन्म मरण आदि तदुपाधिक आत्माका जन्म मरण विचारि करि हम शोचते है तौभी शोच करना तुमको न चाहिये इस पर भगवान कहते हैं कि अव्यक्तादि अर्थात् अव्यक्त कहे प्राणियों की उत्पत्ति का मूल कारण जो प्रकृति माया सो प्राणियोंकी उत्पत्तिके पूर्वकारणरूपमे सब जीवों की अपने भीतर लीन कर के अव्यक्त कहे अग्रकट रहती है और व्यक्त मध्य अर्थात् जन्म मरणके मध्यमे सकल प्राणी वर्तमान अवस्था मे विराजमान रहते है और अव्यक्त निघन अर्थात् अन्त मे सुकारण जो माया तिसमे सब प्राणी लीन हो के रहते हैं इस से हे वर्जुन ऐसे रहनेवाले प्राणियोंको मृत्युसे किसीतरह शोच करना न चाहिये जैसे जमे ऊये मनुष्य को खन्न मे देखी भई वस्तु के अर्थ शोच

२८ ॥ आश्चर्यवत्पश्यतिकश्चिदेनमाश्चर्यवद्दृष्टितथैवचान्यः । आश्चर्यवच्चैनसन्त्यः
 गृह्योतिश्रुत्वायेनवेदनचैवकश्चित् ॥ १० ॥ देहीनित्यमदभ्योऽवदेहेसर्वस्वभारत ।
 तस्मात्सर्वविभूतानिनित्वंशोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥ स्वधर्ममपिचावेत्यनावकम्पितुम

भाषा अनुवाद

करना अयोग्य है तैसे यह भी जानो ॥ २८ ॥ तौ फेरि बड़े विद्वान लोग जो
 शोक करते चले आते हैं सो केवल आत्मा विषयक अज्ञानता ही से होता इस
 अभिप्राय मे आत्मा की दुर्ज्ञेयता कहे' ज्ञान कठिनता का निरूपण करते हैं कि
 कोई तो शास्त्र आलोचना करिके इस आत्मा को जानि बूझके भी आश्चर्य ऐसा
 जानते अर्थात् सर्वगत नित्य ज्ञान औ आनन्दस्वरूप आत्मा के अलौकिक्य हेतु से
 असम्भव जो इन्द्रजालिक कौतुक तिस के समान देखि आश्चर्य से घबड़ाय कर
 निस्संयुक्त होते हैं और कोई आश्चर्य केनाई कहते कोई आश्चर्य के तुल्य सुनते
 और कोई आत्मज्ञानरूप विपरीत कहे उलटी भावनासे अभिभूत होके इस आत्मा
 का तत्त्व सुनि के भी जानि सकते नहीं अर्थात् वज्रत देखिसुनि के भी अच्छी
 तरह से आत्मा का जानना अति कठिन है ॥ २९ ॥ इस प्रकार आत्मा का दुर्वि-
 ज्ञेय स्वभाव अर्थात् बड़े ऋषे भी उसका जानना कठिन है यह संक्षेप से उपदेश
 करि के अब शोक न करना इस विषयसे कहते हैं कि जैसे सब प्राणियोंकी नश्वर
 कहे नाश होनेवाली देह मे वर्तमान यह देही कहे आत्मा सो देह नाश होने से
 भी नष्ट नहीं होता है क्यों कि आत्मा नित्य औ अव्यय है इसी से भूत जो प्राणी
 तिन की देह नाश के अर्थ तुम को शोक करना उचित नहीं है ॥ ३० ॥ प्रथम
 अध्याय के २९ श्लोकमे अर्जुनने कहा है कि हमारी शरीर कांपती औ रोवां खुड़े
 होते तथा हाथसे धनुष वाण गिरे पड़ते हैं सो यहभी तुमको अयोग्य असम्भव है
 जिस हेतु स्वधर्म जो संग्राम तिसमे प्रवृत्त हो के फेरि भीष्मपितामह आदि के
 हनन करने से अविनाशी आत्मा का विनाश मानि तुमारा डरना औ कांपना यह
 यत्तिसे सिद्ध होता नहीं और ३१ श्लोकमे कहा है कि ये अपने जनोको नाश करि
 के हम अथ कहे कथन नहीं देखते उस बात पर भगवान कहते हैं कि धर्म युक्त
 जो न्याय युह तिसकी अवेक्षा अर्थात् उससे गठि कर जिवियोंको और कौन कल्याण

हंसि । धर्मादियुद्धाच्छेयोऽन्यत्क्षत्रियस्त्रनविद्यते ॥ ३१ ॥ यदृच्छयाचोपपन्नं
स्वर्गद्वारमपावृतं । सुखिनः क्षत्रियाः पार्थलभन्ते युद्धमीदृशं ॥ ३२ ॥ अथ वेत्त्वमिमं
धर्म्यसंग्रामं न कुरियसि । ततः स्वधर्मं कीर्त्तिञ्च हित्वा पापमवाप्नुयसि ॥ ३३ ॥ अकी

भाषा अनुवाद

करनेवाला कर्म है अर्थात् कोई भी नहीं है ॥ ३१ ॥ और जो कहो कि युद्ध आदि
अनेक प्राणियों की हिंसायुद्ध में होयगी औ शास्त्र में अहिंसा परमधर्म कहा है इससे
युद्ध करना अति अनुचित है इसपर श्रीकृष्ण कहते कि जैसे वेद विहित जो यज्ञ में
हिंसा सो हिंसा नहीं है तैसे ही शास्त्रसम्मत जो क्षत्री का परम धर्म युद्ध तिसमें
हिंसा औ पापकी कल्पना वृथा करते हो और परम अथैरूप महाफल आपसे आप
आप तुम को उपस्थित कहे प्राप्त भया है इस से अब तुम किस कारण कर्ममान
होते हो सोइ यह दृढकरके कहते हैं कि हे अर्जुन वे मांगे वेयतन किये आप से
प्राप्त परमयेय कहे कल्याण साधन युद्ध जिससे परम कल्याण सिद्ध होय ऐसा युद्ध
अति भाग्यवान क्षत्री लोग पायते हैं क्योंकि इस से स्वर्गका द्वार बेरोक टोंक खुला
रहता है अथवा जो इस प्रकार का युद्ध पावें सोई सुखी है इस लोक से प्रथम
अध्याय का छत्तीसवां श्लोक कहा गया कि किस तरह आत्मीयजनों को नाश करि
सुखी होयगे इसी बात का भगवानने उत्तर दिया है ॥ ३२ ॥ और जो यह स्व
धर्म रूप संग्राम न करोगे तो केवल फल प्राप्ति न होगी यही नहीं है और
उलटा प्रत्यवाय कहे अधर्म भी होगा सोई दोष कहते हैं कि जो तुम इस धर्म
जनक उपस्थित कहे प्राप्त भये युद्ध करने में प्रवृत्त न होउगे तो तुम अपने धर्म
औ कीर्तिके त्याग करनेसे अवश्य पाप के भागी होउगे इसमें कुछ सन्देह नहीं है
॥ ३३ ॥ और जो कहो कि स्वधर्म औ कीर्त्ति जाय हम हिंसा न करैगे तो यह
न करने से केवल स्वधर्म औ कीर्त्ति ही का त्याग नहीं है और भी है सो करते
हैं कि युद्ध छोड़ने से लोग तुमारा अथश कहेंगे और वह अथश चिरकाल कहे
वृद्धत दिने तक संसार में रहेगा और तुम क्षत्रियों के बीच युद्ध करने में प्रसिद्ध
पीर हो देगो जो जिसवातमें स्थात कहे नाभी हैं और लोग उसको प्रतिष्ठित बड़ा
करि जानते मानते हैं तो फेरि उसका उसी वातमें अथश यह मरनेसे भी अधिक

निष्ठाप्रभूतानि कथयिष्यन्ति तेऽप्यहम् । समाविष्टस्त्राकीर्त्तिर्भरणादतिरिच्यते ॥
 ३४ ॥ भयाद्गुणादुपरतं संस्तुते त्वां सहायः । येषां च त्वं बद्धमतो भूत्वा यास्यसि
 लाघवं ॥ ३५ ॥ अवाच्यवादाश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः । निन्द्यास्तव सामर्थ्यं
 ततो दुःखतरं नु किं ॥ ३६ ॥ हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं नित्वा वा भोग्यसे महीं । तस्माद्

भाषा अनुवाद

हैं और सब पाप औ दोषों का दादा हैं इस को अच्छी तरह विचार कर देखो ॥
 ३४ ॥ भगवान कहते हैं कि अर्जुन तुम को अब युद्ध करना हीं उचित है क्यों
 कि तुम तो यह जानते हो कि प्राणियों के उपर कृपा करि हम संग्राम छोड़ते
 पर सहाय्यी वीर तुम को भयसे युद्ध विमुख जानेंगे जो तुम को पूर्व कहे पहिले
 सकल गुण सम्पन्न कहे युद्ध जानते ये वे लोग अब तुम को कारण आदिक योद्धों
 के भय से युद्ध विमुख जानेंगे देखो जिन दुर्योधन आदिकों को तुम बद्धमत कहे
 मान्य रहे उनके निकट अब तुम कैसे लड़ो कहे हलके होउगें तो इस हंसीके डर
 से युद्ध करना तुमको अवश्य है ॥ ३५ ॥ इस से अब तुम युद्ध से निवृत्त न होउ
 और जो कहो कि भीष्म तथा द्रोण आदिका वध बड़ा कष्ट है तो देखो तुमारे शत्रु
 गण तुमारी सामर्थ्यकी निन्दा करते ऊँचे तुमारे प्रति अनेक अनेक अयोग्य दुर्वचन
 कहेंगे तो इस से और दुःख कौन है यह कष्ट से भी बड़ा कष्ट है ॥ ३६ ॥
 तो युद्धकरि युद्ध आदिके वधसे निन्दारोगी औ संग्राम छोड़नेसे शत्रु निन्दा करैगे
 इस दुविधा चिन्ता के उपर कहते हैं और दूसरे अध्याय के छठये श्लोक में जो
 अर्जुन ने कहा कि इन को हम मारें या येई हमें जय करि लेंय इसका भी उत्तर
 श्रीकृष्ण करते हैं कि जय करैगे या पराजय पावैगे इसकी निश्चय करिके जैव तुम
 उठो जो कहो कि इस दैव अधीन जयपराजयका क्या निश्चय है तो इस युद्धमें जो
 तुमारी मृत्यु होगी तो स्वर्गवास पावैगे और जो शत्रुओं को जीतोगे तो पृथिवी
 का राज्य औ भोग करोगे तिससे हे कौन्तेय अर्जुन युद्ध करने की निश्चय करिके
 उठो तुमारे तो दोनों हाथ लड़ना हैं ॥ ३७ ॥ जो कदाचित् वन्धुवधहेतुक पापही की
 निश्चयकरि राखेहउसके डरसे युद्धमें निश्चयकरिके नही उठि सकते हो यह
 कहो तो सुहृद मित्रोंके जीवन और मरणनिमित्तक सुख औ दुःखकी समता कहते हैं

क्षिप्रकौस्तुभयुद्धाद्यज्ञतानिश्चयः ॥ ३७ ॥ सुखदुःखे समेकत्वात्ताभात्ताभौजयाजयौ ।
ततोयुद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥ एषा तेऽभिहित्वा सांख्ये बुद्धिर्योगे
त्विसां गृह्यते । • बुद्ध्या युक्तो यथापार्य कर्मवन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥ नैहाभिक्रमनाशो

भाषा अनुवाद

किं प्रथम सुख औ दुःख तथा, लाभ औ हानि जय पराजय इनको समान जानिकरि
औ प्रीति विरोध को भी त्याग करि के तब युद्ध में प्रवृत्त होउ इस प्रकार से युद्ध
करने से पाप न प्राप्त होयगा अर्थात् न लगेगा ॥ ३८ ॥ पूर्व कथित जो ज्ञान
योग उस को कहि करि अब उस का साधन जो कर्मयोग सो कहते हैं कि वस्तु
औ तत्त्व को प्रकाश करनेवाला सांख्य नामक तत्त्वज्ञान तुम से कहा गया अर्थात्
तत्त्वज्ञान के विषय में जो बुद्धि सो मैंने तुमको कहा है इससे जो तुम्हारे मन में तत्त्व
ज्ञान का बोध न भया होय तो फिर चित्तसुद्धि के द्वारा तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने के अर्थ
अब यह कर्मयोग अर्थात् कर्मयोग के विषय की बुद्धि हम कहते हैं सो साधन
हो कर सुनो कि हे अर्जुन जिस हेतु से ईश्वरार्पित कर्म के द्वारा चित्त की शुद्धि हो
कर ईश्वर के प्रसाद से प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त करि अर्थात् पाय करि इस बन्धन से
अनायास अर्थात् सहज में कूटि जाउगे ॥ ३९ ॥ और जो कहो कि जैसे खेती औ
बनिक वैपार आदि कर्मों में कदाचित् कहे कर्म कर्म विमो की वाञ्छल्य कहे
वञ्छतायत से फल के हानि को भी सम्भावना है अर्थात् निष्फल परिणाम भी होता
है और मत्त्व अनुष्ठान कहे जप यज्ञ आदिक में भी विम अथवा अङ्ग विकल होने
से प्रत्यक्ष कहे दोष औ कर्म निष्फल होता है तैसे जो यह कर्म जो विमो के
मारे पूरा न हो उठै तो कैसे कर्मवन्ध की हानि कहे नाश होगा और उलटे
दोष लगने का डर है इसवास्ते भगवान कहते हैं कि यह निष्काम कर्मयोग का
आरम्भ करने से जो पूरा न भी हो उठै तो भी निष्काम कर्म निष्फल होता नहीं
और इसमें दोष प्राप्त भी नहीं लगता है जिस हेतु ईश्वर को इदृश करि अर्थात्
ईश्वर के अर्थ किये कर्म में विम होते ही नहीं और ईश्वराराधन के अर्थ इस धर्म
के छोड़े आचरण से भी बड़े भयानक संसार से रक्षा होती है अर्थात् ईश्वरार्पित
कर्म रक्षा करता है इस से यह काय्यकर्म की तरह कुछ अङ्ग विकल होने से भी

उत्तिष्ठत्यवायोनविद्यते । स्वल्पसम्यक्सर्वस्ववायतेमहतोमवात् ॥ ४० ॥ व्यवसायात्मिकाबुद्धिरैकेहकुचनन्दन । वज्रशाखाद्यनन्ताश्चबुद्ध्योऽव्यवसायिना ॥ ४१ ॥ यामिसांपुष्पितांवाचंप्रवदन्त्यविपश्चितः । वेद्वाद्दरता,मार्धनान्यदस्तीतिवादिन, ॥

भाषा अनुवाद

निष्कल नहीं होता है तात्पर्य यह कि ईश्वरार्थ कर्म करने से जो दोष न लगे और महत् फल है तो साक्षात् ईश्वर की आज्ञा करनेसे और क्या कहना है ॥ ४० ॥ जो कहो कि कण्ठ आदि आचर्यों के मत में ज्ञान कर्म उपासना रूप अनेक प्रकार की बुद्धि कही है और आम जहां ज्ञानयोग रूप श्री कर्मरूप दोही प्रकार बुद्धि के कहा सो कैसे सम्भव होय इस अभिप्राय पर उक्त इन दोनों के भी विपरीत कहे उलटा भिन्न प्रकार कहते हैं कि हे कुचनन्दन अर्जुन यह ईश्वर आराधन रूप कामयोगसे व्यवसायात्मिका बुद्धि अर्थात् मङ्गलिके द्वारा अवश्य ही उद्धार होगा ऐसी निश्चयात्मिका कहे निश्चयरूप बुद्धि की निष्ठा एक ही है और अव्यवसायी अर्थात् आराधन के वहिर्मुख कामी कहे सकाम कर्म करनेवालों की अनन्त वासना से अनेक प्रकार की बुद्धि होती है और उस से भी कर्मका फल और अश्वमेध राजसूय आदि यज्ञ का अथ दिग्विजय की भांति गुप्त कला आदि नाना प्रकार वज्रत शाखा प्रशाखा विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है परन्तु भगवत् आराधन के अर्थ नित्यकर्म या नैमित्तिक कर्म कुछ यज्ञ विकल कहे अधूरा भी होने से नष्ट नहीं जाता है यथासाध्य कहे जितना या जैसा अपने से हो सके उतना और वैसाही करो यही उस धर्म की विधि है ईश्वरार्पित कर्म विमला दोष को शान्त कर देता इस से उस के करने में कदाचित् वैगुण्य नहीं होती अर्थात् उस को विगुण नहीं कह सकते हैं और कायकर्म तैसा नहीं है इस से दोनों के बीच बड़ा अन्तर है सो एक बुद्धि हो के रहो दुग्ध मय से दूर करो ॥ ४१ ॥ जो कहो कि सांख्ययोग रूप बुद्धि एक ही प्रमाणभूत है तो फेरि वही सब के चित्त में क्यों नहीं स्थिर होती अर्थात् जो सकाम मनुष्य है वे भी ये कष्ट रूप सकल कामना त्याग करि भगवद्भक्ति ही से मुक्त होवगे ऐसी निश्चयरूप बुद्धि काहे से नहीं करते है तिस पर कहते हैं नि विपलता कहे इन्द्रकन की तरह

४२ ॥ कामात्मानःस्वर्गपराजन्मकर्मफलप्रदा । क्रियाविशेषवज्जलभोगैश्वर्यगतिं
प्रति ॥ ४३ ॥ भोगैश्वर्यप्रसक्तानांतथापहृतचेतसां । व्यवसायात्मिकाबुद्धिःसमा

भाषा अनुवाद

अति सुन्दर यह जो उत्तम स्वर्ग आदि फल सुनावनेवाली श्रुति कहे जो वेदवाक्य है जिस को कामी कहे सुकाम मनुष्य सब कहते हैं सोई स्वर्ग आदि फल श्रुति रूप वेदवाक्य से विचार शून्य मनुष्यों को अर्थात् उस पर विश्वास करनेवालों को भगवद्भक्ति से निश्चय सुक्त होंयगे ऐसी बुद्धि उत्पन्न कभी नहीं होती है इस श्लोक के आगेवाले तीन श्लोकोंके साथ इस श्लोक की अन्यय है जो कहो कि वे मनुष्य ऐसे पाहे लिये कहते हैं तो उनका सिद्धान्त भगवान कहते हैं कि जिस लिये वे सब लोग अति मूढ़ औ अज्ञानी हैं उन के अज्ञानमे अब हेतु कहते हैं कि वेदके बीच मे जो सब वाक्य है सो केवल प्रशंसा परक है अर्थात् चतुर्मासया जीयों को अच्छय स्वर्गफल होता है और यज्ञके शेष मे सोमलता पी करि अमर होते हैं इत्यादि जो प्रलास पुष्प के समान पुष्पित वेदवाक्य है अर्थात् निर्गन्ध फूल के तुल्य इनी वेदवाक्योंसे काश्य कर्ममे वेलोग निरत है इससे कहते हैं कि यह वेदोक्त स्वर्ग आदि फल को छोड कर और ईश्वरतत्त्व प्राप्त करने योग्य वस्तु कुछ नहीं है इसी मतको वेलोग कहते हैं ॥४२॥ अतएव कामात्मा कहे कर्मबुद्धि स्वर्गादि फल प्राप्तिरूप कामना ही है परम पुरुषार्थ जिन के मत मे ऐसे जो मूढ़ है तेई जन्म कर्म तथा स्वर्ग फल देनेवाली जो वेदवाक्य सब है और भोग ऐश्वर्य प्राप्त होने के अर्थ साधनभूत जो वेदोक्त कहे वेदविहित अनेक अनेक क्रियों की आधिष्य कहे वज्जतायत है जिन से मूढ़जन ऐसे बचन बोलते हैं अर्थात् जन्म ही है कर्म का फल तिस के देनेवाली वाक्यों को कहते हैं ॥ ४३ ॥ भोग औ ऐश्वर्य से आसक्त तथा ऊपर लिखी विपलता के तुल्य सुन्दर वेदवाक्य से आलस्य कहे खेचा गया है चित्त चित्त का उनकी समाधि अर्थात् चित्तकी एकाग्रतारूप परमेश्वर मे जो एक निष्ठा तिसमे निश्चयात्मिकाबुद्धि होती नहीं इससे कर्मरूप जो बुद्धि उस मे कर्त स्वरूप अहङ्कार अर्थात् हम कर्ता है इस वासना के मारे उन विचारोंको ऐसी एकनिष्ठा निश्चयात्मिका बुद्धि आपसे आप उत्पन्न कैसे होय यह भगवानने कहा

धौनविधीयते ॥ ४४ ॥ त्रैगुण्यविषयावेदानिस्त्रैगुण्योपवार्जुन । निर्द्वन्द्वो नित्यस
त्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥ यावानर्थ उदपाने सर्वतः संशु तौ दके । तावान्
सर्वेषु वेदेषु बाह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

भाषा अनुवाद

॥ ४४ ॥ स्वर्ग आदि फल जो परम फल नहीं है तौ फेरि वेदों ने किस लिये
स्वर्ग आदि फल के साधन नाना प्रकार के कर्मों का विधान किया है तो कहते
हैं कि सकाम अधिकारी जनो के अर्थ वेद कर्मफल का प्रतिपादन अर्थात् कहते
हैं परन्तु तुम निष्काम होउ निष्काम होने की उपाय यह है कि निर्द्वन्द्व अर्थात्
सुख दुःख शीत उष्ण ज्वानि लाभ जन्म मरण आदि से रहित होउ अर्थात् ये सब
सहो जो कहो कि कैसे इनको सहै तो कहते हैं कि धैर्य अवलम्बन करि के सहो
और अग्रिम वस्तु को प्राप्ति करने की इच्छा जो योग है औ प्राप्ति भई वस्तु की
रक्षा करना जो जेम है इन दूनों को परित्याग करि के सावधान होउ क्यों कि
सुख दुःख में आसक्त औ अग्रिम वस्तु की इच्छा प्राप्त का रक्षण इस में व्याकुलचित्त
असावधान जो है वह निष्काम कैसे हो सकेगा त्रैगुण्य जो त्रिगुणात्मक संसार सो
है विषय कहे कथनीय जिनको ऐसे तो वेद है पर तुम त्रैगुण्य कहे सांसारिक
भान सुख दुःखादि से रहित होउ ॥ ४५ ॥ जो कहो कि वेदोक्त कर्म औ तत्त्व
कासनना के फल सकल त्याग करि के निष्काम ईश्वरार्चन के अर्थ जो व्यवसायात्मिका
बुद्धि सो कुबुद्धि है इस शङ्का को निवारण करते ऊँचे भगवान कहते हैं कि
जिस से जल पान किया जाय सो उदपान अर्थात् वावडी कुआ ताल तिन में जो
अल्प जल हो तो सब काम साधने के अर्थ अर्थात् खान पान आदि करने के वास्ते
तहाँ तहाँ खमण करि के सब काम सिद्ध होयंगे परन्तु संशु तौ दक कहे एक मट्ठा
कुण्ड जिस में अग्राध जल भरा है उस एक ही से सब निर्वाह हो सकते हैं
तैसे ही वेदोक्त जो कर्म के फल सो सब भगवद्भक्तियुक्त ब्रह्मपरायण पुरुष की भक्ति
ही से मिलते हैं देखो ये स्वर्ग आदि सम्पूर्ण तुच्छ सुख ब्रह्मानन्द के भीतर ही
अन्तरभूत हैं इस ब्रह्मानन्द के कलामात्र आनन्द को प्राप्त हो के सर्व प्राणी जीते
रहते हैं यह श्रुतिमें कहा है इससे निश्चयात्मिका जो बुद्धि सोई सुबुद्धि है ॥ ४६ ॥

माकर्मफलहेतुर्मुमतिस्तद्विस्तकर्मणि ॥ ४७ ॥ योगस्यः कुरुकर्माणि सङ्गत्य त्वाधन
क्षयं । सिद्धसिद्धोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥ द्वारेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगा

भाषा अनुवाद

जो ऐसा कहते हो कि समस्त कर्म का फल परमेश्वरकी आराधना करने हीसे होगा तो हम भगवतका आराधन हीं सब छोड़कर करें और कर्म करनेसे क्या प्रयोजन है इस शङ्काको निवारण करते ऊँचे सिद्धान्त कहते हैं कि तत्त्वज्ञानके अर्थी जो तुम सो तुमको कर्ममात्र करने का अधिकार है और बन्धन का हेतुभूत कर्म के फलकी अभिलाषा करिके ये अनेक प्रकार की कामना करनेमें कभी तुम्हारा अधिकार नहीं है जो कहोकि कर्म करनेसे उसका फल अवश्य होहीगा जैसे कि आहार करनेसे तृप्ति होती ही है इसपर कहते हैं कि सो होय पर उसका पुण्य प्राप्त नहीं लगता है जैसे अज्ञान बालक जो नीचका अन्न खाये तो उसका धर्म न जाय क्योंकि धर्म नाश के अर्थ नहीं खाया सो तुम फलके अर्थ कर्म में प्रवृत्त न होउ निष्काम कर्म करो जो कर्मफलकी तृष्णासे कर्म करोगे तो कर्मफल प्राप्ति के हेतु होउगे जब फल की इच्छामे कर्म में मनुष्य प्रवृत्त होता है तब फल औ जन्म दोनोंका हेतु हो जाता है नीच ऊँच योनिमें जनमिजनमिके फल भोगता है और जो कर्मफल को न चाहे तो दुष्कुरुप कर्म करने से क्या प्रयोजन है ऐसी मतिभी तुमको मति होय अर्थात् न करनेमें भी रुचि न होय तात्पर्य यह कि सकाम कर्म न करो निष्काम तो अवश्यही करो ॥ ४७ ॥ तो फिर क्या करना चाहिये सो कहते हैं कि हे धनञ्जय अर्जुन योग कहे ईश्वर में जो एक निष्ठा उसी में स्थित होयके कर्म करो और इसी इसके कर्ता हैं ऐसे अभिमान को त्याग करिके केवल ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करो अर्थात् निष्काम कर्मका फलरूप तत्त्वज्ञान की प्राप्ति अप्राप्तिमें समता पूर्वक कहे समचित्त होय केवल ईश्वरार्पण जानिके कर्म अनुष्ठान करो जिसहेतु ऐसी ही समता को साधुलोग योग कहते हैं क्योंकि इसीसे चित्त स्थिर होता है यह सुबोधनीका अर्थ है । ईश्वरार्पण शब्दका भाव अर्थ यह है कि हम अपने हृदय में ठिके ऊँचे अन्तर्गामी रूप परमेश्वर के आधीन हैं यही अन्तर्गामी हमारी वासना के अनुसार शुभ अशुभ जिस कर्म में हमको लगावते उसी

इनञ्जय । बुद्धौशरणमन्विच्छपणाःफलहेतवः ॥४६॥ बुद्धियुक्तोजहातीहउभेसु
 कृतदुष्कृते । तस्मात्योगाययुज्यस्वयोगःकर्मसुकोशलं ॥ ५० ॥ कर्मजंबुद्धियुक्ता
 हिफलं त्यक्त्वा मनीषिणः । जन्मवन्सर्विनिर्मुक्ताःपदंगच्छन्त्यनामयं ॥ ५१ ॥ यदाते

भाषा अनुवाद .

को हम उनकी प्रेरणा से करते हैं ऐसे विचारकर किये ज्ञये सब कर्मों को भग
 वत अर्पण कहते हैं सोई प्रञ्चदशी मे कहा है कि जानामिधर्मनचमेप्रवृत्तिर्जाना
 म्यधर्मनचमेनिवृत्तिः । त्वयाहृषीकेशहृदिस्थितेनयथानिवृक्तोस्मृतयाकरोमि ॥४८॥
 जितने काय्य कर्म है सब को निवृत्त कहे नकारे कहते हैं व्यसयात्मिका बुद्धि
 के द्वारा किये जो कर्मयोग उनका नाम बुद्धियोग और वह ज्ञान साधन का
 उपाय है निष्काम बुद्धियोग की अपेक्षा सब काय्यकर्म अत्यन्त अपेक्षा जो काय्य
 कर्म ऐसा अच्छे ठहरे तो हे धनञ्जय बुद्धिश्च वाच्य कहे ज्ञान तिसको आश्रय
 करि निष्काम कर्मयोगरूप भक्तियोगका अनुष्ठान करो चिन्तनीय पालनकरनेवाले
 ईश्वर ही को बुद्धिका आश्रय करो कर्मफलके अभिलाषी जो नर हैं सो क्षपण औ
 दोन हैं युतिमे भी यही कहा है कि हे गार्गी ईस अक्षर स्वरूप ब्रह्मको न जानि
 जो संसार मे लोकान्तरर्गामी होते हैं वेई क्षपण अर्थात् निवृत्त हैं इस से बुद्धि
 पाँहे ज्ञान उसमे आश्रय लेउ ॥ ४६ ॥ पूर्व जो कहा कि सुख दुख आदि से
 समान बुद्धि होकर स्वधर्म को करै तो बुद्धियोगयुक्त होने से क्या होता है सोई
 बुद्धियोग की श्रेष्ठता कहते हैं कि सुकृत जो पुण्य खर्म आदि का देनहार औ
 दु कृतजो पाप नरकपासकी प्राप्ति करनेका साधन इनदोनोंको बुद्धियोगयुक्त पुरुष
 इसी जन्म मे भगवत् की छपामे परित्याग करते हैं तिसमे हे अर्जुन तम बुद्धियोग
 रूप निष्काम कर्म करो जिससे योग कर्मके बीच मे कौशल कहे चातुर्य है अर्थात्
 सकल कर्म वन्धन होने के कारण हैं तौ भी ईश्वर की आराधना से मुक्ति प्राप्ति
 करना चातुर्य है इसी को योग कहते सो बुद्धियोगयुक्त तम होउ ॥ ५० ॥ सुख दुख
 आदिमे समता युक्त भी भये और सुकृत दु.कृत कर्मके फलको परित्याग किये भी
 अर्थात् नि.काम कर्म किये से भी फेर मोक्ष कैसे होगी इस शङ्कापर कर्मको
 मोक्षकी साधनता है यह कहते कि कर्मके फल की अभिलाष छोड करिके केवल

मोहकलिखंडवृद्धितिरिष्यति । तदागन्तासिनिर्वेदं योतव्यस्य युतस्य च ॥ ५२ ॥
युतिविप्रतिप्रज्ञातेयदासांस्वतिनिश्चला । समाधावचलाबुद्धिसदायोगमवाप्सि ॥
५३ ॥ अर्जुन उवाच । स्थितप्रज्ञस्य कामापासमाधिस्थस्य केशव । स्थितधीः किं प्र
भाषेत किमासीत् प्रजेत किं ॥ ५४ ॥ श्रीभगवानुवाच । ग्रहजातियदाकामान्सर्वां

भाषा अनुवाद

ईश्वराराधनार्थं कर्म करते ऊँचे बुद्धिमान मनुष्य ज्ञानी होके जन्मरूप बन्धन से छूटि करि सकल उपद्रव से रहित जो विष्णुपद जिसको मोह कहते तिस को सह जमे पावते हैं ॥ ५२ ॥ जो कहोकि कव हम उस विष्णुपदको पावेंगे तो दोशोकसे कहते हैं कि मोह जो देहादिक में आत्मबुद्धि अर्थात् आत्मास्वरूप जो कुछ है सो देह है ऐसा जो दृढ़ विश्वास सोई दुरवगाह अज्ञान गहन बन है सो जब इस पूर्व कथितरूप परमेश्वर की आराधना करने से भगवत् की कृपासे तुमारी बुद्धि देह अभिमानरूप मोहमय अगम्य ज्ञानन कहे वनके पार अच्छीतरह से होगी अर्थात् देहाभिमान छूटैगा तब विष्णुपदरूप सुक्ति प्राप्ति होगी और जो अर्थ सुना चाहते हो और सुनिबुके हो तिस सब अर्थ में वैराग्य उत्पन्न होगी अर्थात् वह सब तुच्छ कहे किसी कामका नहीं यह जानि सकोगे और और उस बातको न पूछोगे ॥ ५३ ॥ इसी प्रकार लौकिक कहे लोक की वार्त्ता औ वैदिक कहे वेद की बातें अनेक प्रकार की अवण करते करते पूर्व से विचित्र कहे नमिति जो तुमारीबुद्धि सो जब समाधि में स्थिर होगी अर्थात् अच्छीतरह लगाया जाय चित जिसमें सोसमाधि कहे परमेश्वर तिसईश्वरमें और और विषयोंको छोड़ि अन्धास करते करते निपुण होय जब अचल रूपसे स्थिर होगी तब तुम योगका फल को ब्रह्मज्ञान सोपावोगे ॥ ५३ ॥ पूर्व श्लोक में कहा जो आत्मतत्त्वज्ञानी का लक्षण उस के जानने की इच्छा करि अर्जुन पूछते हैं कि हे केशव अनायासलभ्य समाधि में स्थित जो निश्चल बुद्धि स्थित प्रज्ञ पुरुष उसका क्या लक्षण है अर्थात् कैसे उसको जानें तात्पर्य यह है कि कैसे लक्षण होने से किस आचरण से स्थिरप्रज्ञ होता है सोई पूछते हैं कि ज्ञानी कैसे बैठते बैठते और कैसे चलते फिरते रहते हैं ॥ ५४ ॥ श्रीभगवान् बोले कि हे अर्जुन सुनो किनको साधक लोग ज्ञान साधन के निमित्त

पार्थमनोगतान् । आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥ इ खेष्वनुवि
 ग्नमनःसुखेषु विगतसृष्टम् । वीतरागमयक्रोधाः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥ यः
 सर्वज्ञानमिहो हस्तं तत्प्राप्य शुभाशुभम् । नास्ति नन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥
 यदा संहरते चायं कूर्शोऽङ्गानि ब सर्वशः । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेष्वस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

भाषा अनुवाद

यत्पूर्वक साधना करते हैं वे ईश्वर के सामागिक कहे स्वभावसिद्ध लक्षण है इस
 से अब सिद्ध के लक्षण कहने के अनन्तर ज्ञान के साधन अध्याय की समाप्ति पर्यन्त
 कहते हैं तिनमें से प्रथम दो श्लोकों से पहिली प्रज्ञ का उत्तर करते हैं कि हे अर्जुन
 सुनिश्चय मनोगत सकल कामना जब अच्छी तरह से त्याग करते हैं कि अपने
 परम आनन्दरूप आत्मा में जो रहै सो आत्माराम अर्थात् आप आपने आत्म सुख
 में स्तुष्ट होते हैं तिससे जब झुट्ट विषय अभिलाष को छोड़ते हैं तब उसी लक्षण से
 सुनिश्चय स्थितप्रज्ञ कहे जाते हैं ॥ ५५ ॥ अब लक्षण कहने के बहाने से जिज्ञासू अर्जुन
 को और जो करना चाहिये सो उपदेश करते हैं कि जिनका मन दुःख पड़ने से
 उद्दिग्ध अर्थात् बबहाय नहीं और सकल सुख की सृष्टा कहे इच्छा न करै सुख
 दुःख में समान रहै सो वीतराग अर्थात् विषय प्रीति रहित एवं भय प्रै क्रोधशून्य
 स्थितप्रज्ञ कहे स्थिरबुद्धि मुनि कहावते हैं ॥ ५६ ॥ अर्जुन ने पूछा कि तत्त्वज्ञानी
 किस प्रकार से बात कहते हैं उस प्रश्न का उत्तर भगवान् कहते हैं कि समस्त पुत्र
 मित्र धन धाम आदिक में जिस को ब्रह्म कहे प्रीति नहीं है और शुभ प्राप्ति
 होने से सुखी प्रै अशुभ लाभ होने से दुःखित भी न होय है अर्थात् क्षुति औ
 निन्दा में राग द्वेष कहे प्रीति विरोध हीन है केवल उदास के समान अर्थात्
 उदासीन ऐसे हो बात करते हैं उनी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित है वे ईश्वरबुद्धि मुनि
 हैं ॥ ५७ ॥ जिज्ञासू को और क्या करना योग्य है सो सूचन करावते कहते
 हैं कि और पूर्व कथित योगी जब इन्द्रियार्थ जो नाना प्रकार के विषय तिन में सर्व
 इन्द्रियों को अनायास कहे सङ्ग में लौटाने अर्थात् फेरलेय इसमें दृष्टान्त कहते हैं
 कि जैसे कर्म कहे बकुआ अपने सुख कर चरण अनायास समेटि लेता है तैसे ही
 योगी विषयों से इन्द्रियों को जब बटोर ले सकै तब उस ज्ञानी की बुद्धि स्थिर है ॥

५८ ॥ विषयाविनिवर्त्तनोनिराहारस्वदेहिनः । रसवर्ज्यसोपस्थपरंद्वानिवर्त्तते ॥ ५९ ॥ यततोद्यमिकौन्तेयपुरुषस्यविपश्चितः । इन्द्रियाणिप्रमाधीनिहरन्तिप्रसमंमनः ॥ ६० ॥ तानिसर्वाणिसंयम्ययुक्तआसीतमत्परः । वशेहियस्तेन्द्रियाणितस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥ ध्यायतोविषयान्पुंसःसङ्गक्षोपमजायते । सङ्गात्

भाषा अनुवाद

५८ ॥ जो कहो कि इन्द्रियों की विषय में अप्रवृत्ति होना यह स्थित प्रज्ञ का लक्षण न हो सकेगा क्योंकि जड़ आतुर और उपवास करनेवाले मनुष्यों की इन्द्री भी विषय में नहीं प्रवृत्त होती है तो इनसे और ज्ञानी से फेरि क्या विषय कहें अन्तर है इन को भी स्थिरबुद्धि मुनि कहना उचित है तिस पर कहते हैं कि हां आहार न करने से निराहार पुरुष को यद्यपि विषयों का इन्द्रिय द्वारा ज्ञान नहीं होता सत्य है पर तौ भी उसकी विषयों से अभिलाषा नहीं जाती अर्थात् विषय की वासना मन में बनी रहती है और स्थित प्रज्ञ पुरुष के परमात्म दर्शन हेतु से विषय की लालसा निवृत्तहोजाती अर्थात् अच्छी तरहसे अभिलाषा सहित विषयवासना नाशहोतीहै और जड़ आतुर जैसे विषयोंके अज्ञ है तैसे आत्मा को भी नहीं जानते तो वे स्थिर बुद्धि कैसे हो सकते हैं और रस कहें राग जो प्रीति से स्थित प्रज्ञ पुरुष को आप से आप निवृत्त होती है ॥ ५९ ॥ इन्द्रियों का संयम किये बिना अर्थात् विषयों से रोकने के बिना स्थित प्रज्ञा कहें परमात्मा में अचल बुद्धि होती नहीं इस से प्रथम साधन की अवस्था में इन्द्रियों को स्वाधीन करने के अर्थ बड़ा यत्न करना चाहिये यह कहते हैं कि हे कौन्तेय कुन्तीनन्दन अर्जुन मोक्ष के हेतु प्रयत्न करते ऊँचे विवेकी विचारवान ज्ञानी पुरुष के भी मनको ये प्रयत्न प्रमायी कहें लोभ करनेवाली इन्द्री हरण कर लेती हैं ॥ ६० ॥ इन्द्रियों को स्वाधीन करना यह कहि करि फेरि क्या करना उचित है सो कहते हैं कि तो सब इन्द्रियों का संयम करिके युक्त योगी मेरे में तत्पर हो रहे अर्थात् आत्मामें निष्ठाकरिके बैठ रहें यह कहि कर ज्ञानी कैसे स्थिति करते इस प्रश्नका उत्तर दिया अर्थात् जिसके इन्द्रियगण बश हैं उस को प्रज्ञा कहें बुद्धि प्रतिष्ठित अर्थात् स्थिर है ॥ ६१ ॥ बाह्यइन्द्रिय कहें बाहर की इन्द्रियों के बश न रहने

संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥ क्रोधाद्भवति समोहः समोहात्
 स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशादुद्दिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥ ६३ ॥ रागद्वेषविक
 त्तैस्तु विषयानीन्द्रियैश्चरन् । आत्मवशैर्विधेयात्मप्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

भाषा अनुवाद

मे जो दोष सो देखाय अब अवशीभूत जो मन तिस का दोष देखावते हैं कि बुद्धि
 के द्वारा रूपादिक विषयों को ध्यान करते ऊँचे पुरुष का मन उन विषयों में
 आसक्त होता अर्थात् विषय सक्त होता है और सङ्ग से अधिक अधिक कामना
 उत्पन्न होती है फेरि जो कामना किसी प्रकार से नष्ट होय तो क्रोध प्रगट
 होता है अर्थात् काम से क्रोध प्रगट होय है ॥ ६२ ॥ और क्रोध मोह का
 हेतु है इस को दृढ़ करते हैं कि क्रोध से अर्थात् उस के द्वारा मोह होता है
 अर्थात् काज अकाज का विचार नहीं रहता फेरि संमोह होने से शास्त्र और
 आचार्य तथा गुरु का दिया जो उपदेश कहे शिष्या अर्थ सो विचलित अर्थात् भूल
 काय है और स्मृति भ्रंस होने से कहे उपदेश भूल जाने से बुद्धि की चेतनाप्रति
 बली जाती है अर्थात् बुद्धि नष्ट होती है बुद्धि नाश होने से जड़ के समान होय
 फेरि वह मनुष्य मुर्दे की तुल्य हो कर नष्ट हो जाता है ॥ ६३ ॥ जो कहो कि
 चिरकालसे विषयमें निमग्न स्वभाव कहे विषय में आसक्त इन्द्रियण का विषय से
 रोकना जो असमर्थ अति कठिन है तो पूर्वोक्त दोष निवारण कैसे हो सकेगा इस
 में स्थित प्रज्ञा होना भी असम्भव कहे अति दुर्घट है इस शङ्कर पर कहते हैं कि
 राग कहे प्रीति और द्वेष जो विरोध तिनसे रहित होके अर्थात् इनको छोड़ के
 और अभिमान त्याग करिके सब इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करने से भी
 शान्ति प्राप्ति होती है तो राग द्वेष रहित कैसे होय सो कहते हैं कि मन के
 आधीन कहे वशीभूत सब इन्द्रिय हैं और इन्द्रिय प्रणकारी मन को जो मनुष्य
 अपने वश कर राखे है उसके फेरि और राग द्वेषादिक रहते नहीं इस कहने
 से अर्जुन की चौथी प्रश्न जो है कि स्थितप्रज्ञ कैसे गमन करे है उस का उत्तर
 दिया कि आधीन इन्द्रियगण राखि कै विषयों में गमन करे अर्थात् इन्द्रियजित की
 विषय भोग करे जिस हेतु आत्मवश इन्द्रिय द्वारा विषय भोग करता ऊँचा आत्मा

प्रसादसर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते । प्रसन्नचेतसो ह्याशुबुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
६५ ॥ नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना । न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कृतः
सुखं ॥ ६६ ॥ इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते । तदस्य हरति प्रज्ञावायु
र्नावमिवाग्निसि ॥ ६७ ॥ तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ॥ इन्द्रियाणी

भाषा अनुवादः

सुखी रहता है ॥ ६४ ॥ इस प्रकार शान्ति प्राप्त होने पर फिर क्या होता है
सो कहते हैं कि शान्ति लाभ होने से सब दुःख नाश हो जाते हैं फेरि इस शान्त
चित्त पुरुष के सुन्दर बुद्धि स्थिर होती है ॥ ६५ ॥ इन्द्रियों का निग्रह कहे
कावरखना जो स्थितप्रज्ञ पुरुष का साधन सो विपरीत कहे उलटी रीतिसे कहते
हैं कि अवशीलत इन्द्रिय मनुष्य के शास्त्र औ आचार्य के उपदेश से आत्मज्ञान
होने के योग्य बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है तो स्थित प्रज्ञ होना दूर बात है इहां
भावना का अर्थ ध्यान है सो ध्यान के द्वारा बुद्धि आत्मा मे प्रतिष्ठित कहे स्थित
होती है परन्तु जो इन्द्रियगण वश न करि सके उस को यह ध्यान कहा है इसीसे
वह आत्मा के ध्यान का अवधिकारी है तो फिर उसको शान्ति नहीं होती अर्थात्
आत्मा मे चित्तयुक्त नहीं होता और अशान्त पुरुष को सुख कहे परम आनन्द
कहां से हो सकेगा ॥ ६६ ॥ इन्द्री वश किये बिना तत्त्वज्ञान नहीं होता इसका
कारण कहते हैं कि अवशीलत इन्द्रिय विषयाधीन भोगी पुरुष को इन्द्रियों के बीच
जब एक इन्द्री के साथ मन धावता है अर्थात् उसके आधीन हो विषय पर चला
तो फिर वह मन पुरुष की बुद्धि हरि कै उस को विषय मे वेचिप्त करता है तब
सब इन्द्री इकट्ठे हो प्रज्ञा को हरण करती हैं तो और क्या कहै फेरि वायु जैसे
जलसे नाव को धर उधर नचावती है तैसे ही यह मन इन्द्रियों के साथ विचिप्त
हो जहां तहां मारामारा समता फिरता इस पुरुष को खराब करता है ॥ ६७ ॥
इन्द्रियों का संयम करना स्थितप्रज्ञ पुरुष का साधन औ यही उसका सक्षण है यह
जो पूर्व कहि चुके सोई अब फेरि कहते हैं कि हे महाबाहो अर्जुन जो इन सब
इन्द्रियों को विषयों से शान्त राखि सके उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है महाबाहु
सम्बोधन देनेसे यह जनाया कि तुम वैरियों के निग्रह करने मे समर्थ हो इससे

न्द्रियार्थेष्वस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥ यानि शास्त्रं भूतानां तस्यां जागर्तिसंयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सानि शापश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥ आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रं

भाषा अनुवाद

अवश्य इन्द्रियोंको वश करि सकोगे क्योंकि ये इन्द्री पुरुषकी परम शक्त हैं शक्तको जय करने विना वही ज्ञान है यह इसका भावार्थ है ॥ ६८ ॥ जो सन्देह करो कि निद्रागत कहे सोये ज्ञेय मनुष्यके समान देखना सुनना बोलना चलना या अरस परस करना आदि इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित कहे इन्द्रीजित तो कोईभी पुरुष इस संसारमें नहीं देख पड़ता है तो स्थित प्रज्ञका लक्षण जो कहा सो असम्भव अर्थात् कोईभी स्थिर बुद्धि नहीं है इसपर श्रीभगवान् कहते हैं कि अज्ञानरूप अन्धकार से आच्छादित कहे वेदे ज्ञेय सकल मनुष्योंको आत्मनिष्ठा कहे आत्मज्ञान तत्त्वज्ञानरूप विषयमें दर्शन आदि कोई व्यापार न रहने से जन्तुओं की जो निद्रा कहे रात्रि अर्थात् दर्शनादि व्यापार शून्य अवस्था है तद्रूप आत्मनिष्ठा कहे तत्त्वज्ञान अवस्था रात्रि है जिसमें विषयी विचारों को कुछ नहीं सम्भता है सोये ज्ञेय पुरुष के समान प्रियलि पड़े है कोई इन्द्रीभी कुछ काममें नहीं आती है यही आत्मनिष्ठारूप निद्रा तम सब जीवोंकी जानो इससे संयमी कहे इन्द्रीजित जागते हैं अर्थात् तत्त्व ज्ञानका अनुभव करते और उ उ रूपको देखते आनन्द पावते हैं और जो विषय निष्ठा कहे विषयों का ज्ञान जिस में सब प्राणी जागते अर्थात् विषयी जन विषयों में बोधयुक्त होय दर्शनादि व्यापार करते हुये स्वप्न की ऐसी संपदा में मगन है सोई अवस्था मुनि जो तत्त्वज्ञानी है उनको रात्रि तुल्य है अर्थात् इस विषय मोह रूप रात्रिमें उनको कुछ नहीं सम्भता है सोये ज्ञेय नर के समान अचेत है अर्थात् वृक्ष में दृष्टि है और विषयों को देखते नहीं सोई कहा कि जो निद्रा स्व भूत कहे प्राणियों की है उसमें मुनि जन जागते और जो ज्ञानियों की रात्रि उस में प्राणी सब जागते हैं जैसे उलूआपची और चमगादुर छुछुन्दर आदि जीव और जीवोंकी जो रात्रि वह इनका दिन है अपना सब व्यापार उसमें करते खुसीसे रात भर घूमते हैं तैसीही जानो ॥ ६९ ॥ जो कहो कि विषयमें दृष्टि विना भये फिर वे ज्ञानी विषय भोग कैसे करते हैं इस आशय में भगवान् कहते हैं कि

मायःप्रविशन्ति यद्वत् । यद्वत्कामायं प्रविशन्ति सर्वमशान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
७० ॥ विहाय कामान्य सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः । निर्ममो निरहङ्कारः स
शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥ एषा ब्राह्मी स्थितिः । पार्थ नैना प्राप्य विमुह्यति । स्थित्वा
स्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमश्नुते ॥ ७२ ॥ इति श्रीभगवद्गीतायां सांख्ययोगो
नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

भाषा अनुवाद

जैसे नद नदी नारोंके जल प्रवाहके जोर में अचल समुद्रमें जाय प्रवेश करते पर
समुद्र को इच्छा नहीं है तैसेही विषय सब अदृष्ट कहे पूर्व कर्मके अनुसार इस
संसारमें भोगइच्छा हीन मुनिके अन्तःकरणमें अदृष्टके जोरसे कर्मके द्वारा विषय
प्रवेश करते हैं परन्तु तिनके द्वारा ही विषय भोग करते ऊँचे भो वे कैवल्य मुक्ति
पावते हैं और कामके कामी भोग कामना शील कहे विषय स्वभाव वे नहीं होते
हैं ॥ ७० ॥ जब ऐसी व्यवस्था है तो जो प्राप्त विषय को त्याग करते या अनादरसे
ग्रहण करते हैं और अप्राप्तमें इच्छा रहित कहे किसीकी अभिलाषा नहीं रखते
इससे उनके अहङ्कार नहीं है इसी से भोग अभोग साधनमें समता को हृदय हो
कर आत्मामें दृढ़ रहि अदृष्ट वशते विषयोक्ता भोग करते हैं और कही भोगाय
पर शान्ति को प्राप्त होते हैं अर्थात् जो सब कामना छोड़ि वे परवाह अहं समता
हीन पुष्प भोग करे या कही जाय पर शान्ति तो पावते ही हैं ॥ ७१ ॥ पूर्वकी
कही ऊँई ज्ञाननिष्ठाकी प्रसथा करिके कहते हैं कि हे अर्जुन उक्त ब्रह्मज्ञान को
निष्ठा ऐसी है इससे भगवतके आराधनसे शुद्धचित्त पुरुष यह ब्रह्मनिष्ठा पाय
करि और संसार सागरमें नष्ट नहीं जाता है देखो मरती वार भी एक क्षण भर
जो ब्रह्मनिष्ठामें मन स्थिर करते वे ब्रह्ममें लोन होते हैं तो बालपनसे या वृद्धत
दिनोंसे इस ब्रह्मनिष्ठा की अभ्यास से इसमें मन स्थिर करि अन्तमें मुक्ति मिलैगी
इसमें फिर कुछ सन्देह बाकी है सा हे पार्थ यह ब्राह्मी स्थिति है इसको प्राप्त
होय फेरि मोह नहीं पावते अन्तकाल में भी इसमें क्षणभर मन स्थिर करिके
मनुष्य निश्चय ब्रह्म निश्वासपद पावते हैं ॥ ७२ ॥ इति श्रीभगवत्पापसुक्तविरचिताया
मनभाषनीटीकायां श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

तृतीय अध्यायः ।

अर्जुन उवाच । ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता दुर्हिर्जनार्दन । तत्किं कर्मणि घोरे मा
नियोजयसि केशव ॥१॥ व्यामिश्रेणैवाक्रेण बुद्धिर्भो ह्यसीव मे । तदेकं वद निश्चित्य मे ।

भाषा अनुवाद

गीताशास्त्रमें प्रथम प्रवृत्ति और निवृत्ति की हेतुरूप सांख्य तथा योग ये दो प्रकार की बुद्धि देखावते ऊँचे यीनगदीश्वर ने अशोभान्धान्धप्रोक्तत्वं इत्यादि श्लोक से पहिले मुक्तिसाधनके विषयमें देह और आत्माका भेद कहा तिसके अनन्तर एषा तेऽभिहिता सांख्ये इत्यादि श्लोकके द्वारा निष्काम कर्म करने को कहा परन्तु तिससे कौन पक्ष सुख कहे थोड़ा और कौन गौण कहे साधारण है यह कुछ भाव कहे भगवत् की अभिप्राय न जानी गई और तिसके बीचमें ज्ञानी पुरुष को कर्म रहित होना तथा इन्द्री वश करना और निरहकार रहना कहिकर एषा प्राप्ती स्थितिः पार्थ इस श्लोकमें प्रसंगा पूर्वक भगवत्की कहावत से तत्त्वज्ञान और निष्काम कर्मयोगरूप भक्तियोग इन दोनोंके मध्यमें ज्ञान ही की श्रेष्ठता भगवान् की अभिमत है यह जानिकर अर्जुन कहते हैं कि हे केशव गो निष्काम कर्म योगरूप भक्तियोग की अपेक्षा शीघ्र मुक्ति का देनहार तत्त्वज्ञान ही श्रेष्ठ आप को अभिमत है तो फिर किसवास्ते तस्माद्यप्यस्य तस्मादुत्तिष्ठ ये बातें कहि कहि कर रहे जनार्दन घोर हिंसा रूप कर्मोंमें हमें प्रवृत्त करते हैं जनार्दन संशोधन देनेसे यह आया कि जन कहे भक्तजन जो मैं तिस को अर्हण कहे पोड़ा देने वाले कहेंगे होते हैं यह अर्जुन का तात्पर्य है ॥१॥ हैं अनघनिःपाप अर्जुन मैयङ् वात पर्व कहि चुका हूं तहां जो मोक्ष के हेतु रूप ज्ञान तथा कर्म ये दोनों

येयोऽहमाश्रयां ॥ २ ॥ श्रीभगवानुवाच । लोकोऽस्मिन्निविधानिष्ठापुराप्रोक्तामया

भाषा अनुवाट

निष्ठा में स्थक स्थक कहे अलग अलग जो कहे होता या अभी जो तुमसे कहा इसी में स्थक करि कहा होता तो अवत्ता दोनों के बीच जो उचित हो सो निश्चय कर कहो यह तुमारा कहना ठीक या परन्तु मैंने तो ऐसा नहीं कहा केवल दोनों हीं पक्ष से एक ब्रह्मनिष्ठा ही को कहा क्यों कि गौण और मुख्यफल दायक ये कर्मयोग यौ ज्ञानयोगसे भिन्न भिन्न ऐसी एक ज्ञाननिष्ठा ही मैंने कहा सो भी अधिकारी के भेद से कि जैसा अधिकारी हो वैसा आचरण करै और दोनों निष्ठा का अधिकारी एकही पुरुष कैसे होगा जो तुम कहते हो कि दोनों में एक निश्चय कर कहो सो शुद्ध अन्तःकरण औ अशुद्ध अन्तःकरण होने से अधिकारी दो प्रकार के हैं इससे दो मत कहे गये हैं सोई दो प्रकार ब्रह्मनिष्ठा जो मोक्षप्राप्तिकी उपाय सो पूर्व अध्यायमें मैंने स्पष्ट करके कहा है अब उक्त दोनों मतका निर्णय करते हैं कि साख्य कहे शुद्ध अन्तःकरण ज्ञानमार्गमें आरूढ पुरुष को ज्ञान परिप्राप्त रूप कारण से ज्ञानयोगके द्वारा आत्मा की निश्चय करनेवाली ध्यान आदि निष्ठा और धर्मादियुद्धाच्छेयोऽन्यत् चलियख न गिदते इत्यादि श्लोको से भगवान् कर्म को प्रधान कहा है इसी ब्रह्मपर अर्जुन कहते हैं कि करी तो कर्म की प्रशंसा और कहीं ज्ञान की बहाई करते ऊँचे आप की सन्देह के उत्पन्न करनेवाली इन बातों से मेरी बुद्धिको मोहसा करते ऊँचे यह आप क्या कहते हो यद्यपि परम कहरामय जो आप तिन के मोह कहां है तौ भी भ्रान्ति से हमको मोह की ऐसी बातें समझ पड़ती हैं सो ज्ञान औ कर्म दोनों के बीच में जो कल्याणकारी होय वही एक पक्ष निश्चय करके हमको कहो यथवा जो हमारा कल्याण इस युद्ध कर्महीसे निश्चय किये है तो इसी को निर्धार करिके ठीक कहो ॥ २ ॥ अर्जुन की प्रश्न के अनुरूप उत्तर करते ऊँचे श्रीभगवान् कहते हैं कि इस लोकमें शास्त्रके अर्थ अनुसार चलनेवाले ब्राह्मण क्षत्री वैश्य इन तीनि वर्णोंके अर्थ दो प्रकार की निष्ठा पूर्वही अर्थात् कृष्टि के प्रथमही उन का येयसाधन कहे मुक्तिका देनहार वेदार्थ समझाय प्रगट करते ऊँचेमैंने इस रूपसे ब्रह्मपरता कही

नव । ज्ञानयोगेनसांख्यानां कर्मयोगेनयोगिनां ॥ ३ ॥, न कर्मणामनारम्भान्नेष्यं पुरुषोऽयुते । न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥ न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् । कार्यते ह्यवशं कर्मसर्वं प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥ कर्मैन्द्रियाणि

भाषा अनुवाद

है । यथा तानि सर्वाणि संयज्य युक्त आसीत मत्परः इस श्लोक से और जो ज्ञानमार्ग में नहीं प्राप्त है उन लोगों को चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञानमार्ग पर आरुढ़ होने के अर्थ उस की उपाय रूप कर्मयोग के अधिकारियों को कर्मयोग से निष्ठा अर्थात् ब्रह्मपरता कही गई है यथा धर्माहि युहाच्छेयोऽन्यत् क्षयिष्य न विद्यते इत्यादि श्लोकों से कहा है अतएव चित्तशुद्धि अशुद्धि दो अवस्था भेद से दो प्रकार ब्रह्मपरता कथित भई है परंतु भी हम से प्रकाश करि कहे खुलासा से मैंने कहि दिया है कि एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेति मा ऽदृशु इति श्लोक से फिर भी हम सन्देह करते हैं ॥ ३ ॥ इस से यह थाया कि सम्पूर्ण चित्तशुद्धि के द्वारा जब तक ज्ञान उत्पन्न न होय तब तक वर्ण कहे जाति औ आश्रम कहे ब्रह्मचर्य गाईस्त्र वान प्रस्थ संन्यास इन में विहित जो जो कर्म सो सब करना उचित है नहीं तो चित्तशुद्धि के बिना ज्ञान कैसे होसके गा यही भगवान कहते हैं कि कर्म किये बिना पुरुष नैष्कर्म्य जो तत्त्वज्ञान से नहीं पावते है जो कहे कि संन्यासी फेरि सर्वकर्म परित्याग करि तत्त्वज्ञान कैसे पावते है और वेद की श्रुति कहती है कि संन्यास धारण करने ही से मुक्ति मिलती है फेरि कर्म करने से क्या प्रयोजन है इस शङ्कापर कहते हैं कि सो नहीं क्योंकि निष्काम कर्म करि चित्तशुद्धि किये बिना ज्ञान का प्रभाव है औ ज्ञान के बिना मुक्तिप्राप्ति नहीं होती यह निश्चय है कुछ संन्यास ही लेने से पुरुष सिद्धि की नहीं पाय जाता है ॥ ४ ॥ कर्म संन्यास इसका यह अर्थ है कि सर्व कर्म में आसक्ति रहित होना भाव न कि एकाएक सब कर्मों का त्याग करना और शरीर रहते कर्म का त्याग भी असाध्य है सोई कहते हैं कदाचित् कहे किसी अवस्थानेभी क्या ज्ञानी और क्या अज्ञानी क्षणमात्र भी मान मित्र वाचिक कायक कर्म किये बिना रह नहीं सकता है कारण यह कि प्रकृति जो स्वभाव तिस के प्रभाव से राग द्वेष कहे प्रीति विरोध आदि गुणों से सब

संयम्ययथास्तेभ्यःसास्मरन् । इन्द्रियार्थान्विमृदात्मान्मिथ्याचारःसञ्च्यते ॥ ६ ॥
यस्त्विन्द्रियायिमनसानिवभ्यारभतेऽर्जुन । कर्मेन्द्रियैःकर्मयोगमसक्तःसविश्रियते
॥ ७ ॥ नियतं कृत्वा कर्म त्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः । शरीरयावापि च तेन प्रसिद्धेदक
र्मणः ॥ ८ ॥ यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्कालोऽयं कर्मबन्धनः । तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः
समाचारः ॥ ९ ॥ सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः । अनेन प्रसविष्य ज्ञमेव

भाषा अनुवाद

मनुष्य परतन्त्र, कहे परमेश हो कर्म करते ही है ॥ ५ ॥ इसी से अज्ञान कर्म
त्यागी की निन्दा करते हैं कि जो आत्मस्वरूप को स्थिर न करि के बाह्य पाणि
पाद आदि कर्म इन्द्रियों को वशीभूत अर्थात् काबू करि भगवत् के ध्यान के दहाने
से मन की अशुद्धता के कारण से इन्द्रियगण का अर्थरूप विषयों का स्मरण मनसे
करता है सोई मूढ़ मिथ्याचारी अर्थात् नास्तिक कहावता है ॥ ६ ॥ अब इस के
विपरीत कहे उल्टा कहते अर्थात् कर्मकारी पुरुष को थोड़ा कहते हैं कि जो
फल की अभिलाष रहित मनुष्य चक्षु श्रोत्र घ्राण आदि ज्ञान इन्द्रियों को, मन को
द्वारा वशीभूत करि के अर्थात् ईश्वर ने तत्पर होय सकल कर्म में अपने को अन्त
र्गामी भगवान् के आधीन जानिके कर्मरूप योग आरम्भ करते हैं वेई फलभिलाष
रहित चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञानवान् होते हैं और कर्म दोष रहित हो मुक्तिलाभ
करते हैं ॥ ७ ॥ जिस हेतु ऐसी व्यवस्था है इस से तुम कर्म करो सोई कहते
हैं कि नियत कहे नित्य कर्म संध्या उपासन आदि कर्म अनुष्ठान करो जिसलिये
कर्म न करने से कर्म करना ही भला है नहीं तो सब कर्म छोड़ने से एकवारगी
कर्मशून्य अचेतनकी भांति रहनेसे तुमारी शरीरयात्राभी कैसे करनिय हैगी अर्थात्
नचलेगी ॥ ८ ॥ सांख्य मतवाले कहते हैं कि बन्धन के कारणभूत कर्म है इससे
सम्पूर्ण कर्म न करना ही भला है उसी को निर्णय करके भगवान् कहते हैं कि यज्ञ
शब्दका अर्थ विष्णु है यह श्रुतियोंमें कहा है सो यज्ञरूप जो विष्णु भगवान् तिनके
आराधनार्थ जो कर्म तिस को, छाड़िकरि के और सब कर्म चलवता लोगों को
संसार बन्धन करते हैं परन्तु ईश्वर आराधन रूप कर्म तैसे नहीं है इससे विष्णु
प्रीत्यर्थ निष्काममानस होय सब कर्म अच्छी तरहसे करो क्या डर है ॥ ९ ॥ यज्ञा

वोऽस्तिष्टकामधुक् ॥१०॥ देवान्भावयतानेनतेदेवाभावयन्तुवः । परस्परंभावम
न्तःश्रेयाःपरमवाप्तुयथ ॥११॥ इष्टान्मोगान्हिवोदेवादास्यन्तेयज्ञभाविताः । तैर्द
त्तानप्रदायैष्योयोभुक्तेस्तेनएवसः ॥१२॥ यज्ञशिष्टाशिनःसन्तोसुच्यन्तेऽर्द्धकिल्बिषैः ।
भुञ्जतेतेत्वघ्नपापायैपचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥ अन्ताहवन्तिभूतानिपर्यन्यादन्

भाषा अनुवाद

की वाक्यसे भी कर्म की कर्त्तव्यता ही थोड़ा आती है सोई चारि लोकसे कहते हैं कि यज्ञके साथ सहयज्ञ अर्थात् यज्ञके अधिकारी ब्राह्मण आदि सब प्रजा को सृष्टिके आदिमें उत्पन्न करनेके वादि प्रज्ञाने यही बात कही थी कि इसी यज्ञ के द्वारा हमारी बुद्धि होय इहां प्रसव शब्दका अर्थ बुद्धि है अर्थात् उत्तर २ बुद्धि होती जाय कारण यह कि यज्ञ हमारी इष्ट कामना की दाता है इस जगह यज्ञ शब्द नित्य कर्म का उपलक्षण है अर्थात् यज्ञ कहने से नित्य कर्म भी सब आते हैं और इहां काश्य कर्म की प्रशंसा करना असंगत भी है तौभी सामायिक कोई कर्म न करनेसे काश्य कर्म करना ही उत्तम है इसी से कहा कि उसमें कोई दोष नहीं है ॥ १० ॥ यज्ञ इष्टकामना की दाता कैसे होगी सो कहते हैं इसी यज्ञके द्वारा हम सब देवताओं को घृत आहुति देकर बढ़ावो और वे देवता सब भी हमारी बुद्धि करें अर्थात् जल बरसाय यन्न उपजाय हमको सन्तुष्ट करै इसी तरह हमारा दोनों का परस्पर कहे एकसे एकका अभीष्ट अर्थ सिद्ध होय ॥११॥ इस को अच्छी तरह विचार करिके कहते हैं कि कर्म न करनेसे दोष होता है देखो यज्ञमें सन्तुष्ट देवता जल दृष्टि करिके हम सबके अर्थ यन्न आदि नाना प्रकार के भोग दियंगे तो जो पशु यज्ञ के द्वारा देवदत्त अन्नादि वस्तु उनको न देकर आपही भोग कर लेय सो चोर औ लतम है यह हम जानो ॥ १२ ॥ इस हेतु से यज्ञ करने वाले मनुष्य थोड़ा है और जो देव अतिथि अग्नि गोघ्रास बलि वैख्येय ये पशुयज्ञ नहीं करते केवल अपने वास्ते पाव करके खाते हैं वेई लोभी पापाचारी हैं सोई भगवानकहते हैं कि जो देवादिको को देकर आप भोजन करते हैं उनको पशुघ्ननाका पाप नहीं लगता है खाना कहे इत्याके खान गृहसों के बरने रोज रोज इत्या होनेकी पांच जगह है घर झारते चुल्हे में आग बारते

सम्भवः । यज्ञाद्भवति परम्यन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥ कर्मप्रज्ञोद्भवविद्विज्ज्ञा
चरसमुद्भवः ॥ तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितं ॥ १५ ॥ एवं प्रवर्तितं च क्रमं
नानुवर्तयतीत्यर्थः । अध्यायुरिन्द्रियारामो मोक्षं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥ यस्मात्पर

भाषा अनुवाद

जलके पात्रसे और उखलने कूटते तथा चक्की पीसते समय अनेक जीवहिंसा होती है सो पाप पञ्चयज्ञ न करनेवाले को लगते हैं और वे स्वर्गवास नहीं पावते ॥ १३ ॥ संसार, चक्रमे प्रवृत्त होनेका हेतु जो कर्म सो कर्तव्य है यह तीन लोकसे कहते हैं कि अन्नही उदर में जायकर रसरूप हो शुक्र कहे बीज औ शोणित कहे रुधिर होता है जिससे भूत कहे प्राणी उत्पन्न होते हैं और सो अन्न भेष वरसने से होता है और भेष यज्ञधूम से होते और वह यज्ञ फेरि यज्ञ करने वालोंके व्यापारसे पूरी होती है यही बात युति कहती है कि अग्निसे दी ऊई आहुति ह्यर्थ लोकमे रहती इसीहेतु सूर्य से दृष्टि होती औ दृष्टिसे अन्न होता फेरि उस अन्नसे सब प्रजा गन्मलेती है ॥ १४ ॥ जैसे अपूर्व हेतुओं से कर्म को चोछता औ कर्तव्यता किसलिये कहा औ कर्म क्या बस्तु है सोई विवरन करते हैं कि यज्ञ कारा पुरुषों का व्यापाररूप जो कर्म सो ब्रह्म कहे वेदसे उत्पन्न भया है औ ब्रह्म जो वेद सो अक्षर जो परब्रह्म तिससे प्रगटभया है यह तुम जानो और युतिनेभी कहा है कि परब्रह्मकी निश्वास से ऋक् यजुः और सामवेद प्रगटे हैं इससे सर्वव्यापी परब्रह्म सर्वदा यज्ञमे प्रतीत है अर्थात् यज्ञरूप उपाय से ब्रह्मप्राप्ति होती है जैसे उद्योग करने से लक्ष्मीका लाभ होता है अथवा जगतमे मूल कर्म है इससे मन्त्र और अर्थके द्वारा सब मनुष्योंमे प्राप्त अनादि कालसे स्थित जो वेद ब्रह्म सो तात्पर्यके द्वारा प्रतिष्ठित है इससे यज्ञादि कर्म अवश्य कर्तव्य है ॥ १५ ॥ जिस हेतु ईश्वर की प्रेरणासे मनुष्य सकल पुरुषार्थ सिद्ध होनेके अर्थ इस संसार चक्रमे आंच उक्त कर्मरूप चक्रमे प्रवृत्त है इससे कर्म न करने से अनुष्य गन्म ही व्यर्थ है यह कहते हैं कि ईश्वर की आज्ञा रूपवेदसे मुख्य यज्ञ कर्म मे प्रवृत्त होते तिससे भेष और भेषसे अन्न अन्नसे प्राणी और प्राणियों से फेरि कर्म की प्रवृत्ति होती यही चक्र है अतएव जो ईश्वर साधन कर्म नहीं करते कोयल इन्द्रियों

तिरेवस्यादात्मदत्तश्चमानवः । आत्मन्येवचसन्तुष्टस्तस्यकार्यंनविद्यते ॥ १७ ॥ नैव
तस्यकृतेनार्योनाकृतेनेहकश्चन । नचास्यसर्वभूतेषुकश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥ तस्मा
दसक्तःसततंकार्यकर्मसमाचर । असक्तोह्याचरन्कर्मपरमाप्नोतिपुरुषः ॥ १९ ॥

माया अनुवाद

से विषय भोग मात्र करते उनका वृथा जीवन है ॥ १६ ॥ कर्मणामनारम्भा
दित्यादि श्लोकसे अज्ञानी पुरुषको अन्तःकरण शुद्धिके हेतु कर्मयोग कहि करअव
ज्ञानी को कर्म न करना दो श्लोकसे कहते हैं कि जिसकी आत्मा में रति कहे
प्रीति औ आत्म आनन्दमें भगन तथा आत्मासे जोसन्तुष्ट है और भोगादिसे रहित
है ऐसे जो तत्त्वज्ञानी उनको कोई कर्म भी करना नहीं है ॥ १७ ॥ जो तत्त्व
ज्ञानीकहे आत्मज्ञानी पुरुषहैं उसको कोईभी कर्मकरना जरूरनहीं सोई कहते
हैं कि न ज्ञानी को कर्म करने से पुन्य है और कर्म न करने से प्रत्यवाय कहे
पाप भी नहीं है क्योंकि ज्ञानी तो निरहङ्कार है इस से उस को किसी कर्म का
विधि औ नियम नहीं है वह सब से अलग है जो कहे कि युति कहती है कि
देवतोंकी इच्छा नहीं है कि मनुष्य यज्ञ को जानै औ यज्ञज्ञानी जो मोक्षको पावै
तो निश्चय है कि मोक्ष होने से देवता विभ करैंगे इसवासे विभ वारण के अर्थ
देवतोंकी सेवारूप कर्म जरूर ही करना पड़ेगा इसपर भगवानकहतेहैं कि यज्ञ
से लेकर और ह्यावरपर्यन्त किसीकी सहायता ज्ञानीको टरकार नहींहै क्योंकि
ज्ञानमार्ग से विभ का अभाव है यह युति से कहि चुके हैं इस से आत्मदर्शी को
प्राणीमान की आशय कहे अवलम्ब लेने का क्लृप्त काम नहीं है ॥ १८ ॥ इस से हे
अर्जुन ज्ञानी पुरुषही को कर्म कर्त्तव्य नहींहै और दूसरे मनुष्यको तो कर्मकरना
ही उचित है सो ठम कर्म करो यही कहते हैं कि तस्मात् कहे तिस में असक्त
हो कर्त्तव्यकर्म निरन्तर समाचर कहे करो अशक्त हो पुरुष कर्मकरते ऊयेपर
जो मुक्ति उस को प्राप्त होतेहै अर्थात् फल कामना रहित होकर अपश्य कर्म जो
नित्य नैमित्तिक है सो सब करो जिसहेतु आगति रहित कर्मकारी मनुष्य परम
जो मुक्ति उस को चित्तशुद्धि के द्वारा पावता है । नित्यकर्म संध्यावन्दनादिक हैं
और नैमित्तिक जो निमित्त पाय कर किये जाय जैसे पुत्र जन्म से जातकर्मादिक

कर्मणैर्विहसंसिद्धिं भावित्वा जनकादयः । लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥
२० ॥ यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते
॥ २१ ॥ ममेपाश्वास्तिकर्तव्यं त्रिपुलोकैर्पुकिञ्चन । नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्तएव च
कर्मणि ॥ २२ ॥ यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः । समवर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः
पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥ उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्मचेदहं । सङ्करश्च कर्त्ता स्या

भाषा अनुवाद

किये जाते हैं इससे यह जनाया कि तुमको युद्धकी नैमित्तिक कर्मकरना आवश्यक है
॥ १८ ॥ अब इस विषय में ज्ञानियों के आचरणको प्रमाण देते हैं कि देखो परम
ज्ञानी जनक राजा मर्म के आचरण करने में शुद्ध सत्य हो कर अच्छी तरह ज्ञान
को प्राप्त भये थे और जो तुम सम्पूर्ण ज्ञानी अपने को जानो तभी कर्म करना
ही श्रेय कहे कल्याण है यह कहते हैं कि सब मनुष्यों को धर्म में प्रवृत्ति के अर्थ
अर्थात् हमारे कर्म करने से सब लोग कर्म करेंगे नहीं तो ज्ञानी का व्यवहार
देखि अज्ञानी भी लोग व्यवहार छोड़ बैठेंगे इस हेतु लोक की रक्षा के अर्थ कर्म
करना अवश्य प्रयोजन है यह विचारि कर्म करना योग्य है सो तुम भूल के भी
कर्म न त्याग करना ॥ २० ॥ और तुम्हारे कर्म करने से सब लोगों की कर्म में क्वि
होयगी यह भगवान कहते हैं कि श्रेष्ठ कहे बड़े लोग निवृत्ति या प्रवृत्ति कर्म जो
प्रमाण मानते और करते हैं सोई साधारण मनुष्य भी आचरण करते हैं अर्थात्
उन के अनुसार सब व्यवहार के अनुगामी होते हैं ॥ २१ ॥ इस विषय में
भगवान अपने को दृष्टान्त दे कर कहते हैं कि हे पार्थ यजुर्ग देखो वैलोक्य में
भी हम को कर्त्तव्य कर्म कुछ नहीं है तौ भी हम कर्म कर्त्ते ही रहते हैं और हम
को त्रिभुवन में भी अलस तथा किसी वस्तु में अभिलाष नहीं है ॥ २२ ॥ तौ
फिर जो हम कर्म न करें तो कर्म न करने से जो लोगों की हानि होयगी सोई
देखावते कि जो सावधान हो कर्म में हम कभी न वर्त्तमान, होय तो सब लोग
हमारी ही राह लेय अर्थात् हमारी नाई कर्मों को न करें ॥ २३ ॥ तौ उस न
करनेमें जो होगा सो कहते हैं कि जो हम कर्म न करें तो धर्म लोप हो जाय
और धर्म लोप से प्रजा नष्ट होयगी और बेमर्जाद हो राह छोड़ जो जिस के मन

सुप्रहृन्त्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥ सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत । कुर्याद्विद्वांसस्तथा सक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहं ॥ २५ ॥ न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानं कर्मसङ्गिनां । योजयेत्सर्वकर्मणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥ प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमूढात्माकर्ता ह्यमिति मन्यते ॥ २७ ॥ तत्त्ववित्तुमहाबाहो

भाषा अनुवाद

मानै सोई करै तो संसार मे दुराचार से वर्णशङ्कर जन्मैगे फेरिं इस अनुचित के कर्ताभी हमी ठहरे अपनी प्रजा आपही नष्ट किया यही होगा ॥ २४ ॥ इस वास्ते आत्मज्ञानी को भी लोगों पर कृपा करि शिक्षा देने के अर्थ कर्म करना चाहिये इसी को कहते हैं कि हे भारत अर्जुन कर्म मे आसक्त हो कर जैसे अज्ञानी लोग कर्म करते हैं तैसे लोगों के उपदेश की इच्छा करिके विद्वान कहे ज्ञानीभी कर्म करै तो धर्म की मार्ग बनी रहैगी ॥ २५ ॥ तो फेरि सब को तत्त्व ज्ञानहीका उपदेश करना चाहिये जो ऐसा कहो सो नहीं यह कहते हैं कि अज्ञ जो कर्म मे आसक्त है तिन को आत्म उपदेश दे कर बुद्धि का भेद उत्पन्न कभी न करै अर्थात् कर्म से उन को न छुड़ावै वल्ले उन से और भी कर्म करावै तो फेर उन से किस तरह कर्म करावै सो कहते हैं कि आप सावधान हो कर्म का आचरण करता उन से करवावै नहीं तो उनकी बुद्धि बल विचल करारवने से फेरि कर्म मे उन की अज्ञा बली जायगी और जो ज्ञान की भी उत्पत्ति न भई तो उन की दोनो राह नष्ट भई विचारे अज्ञानी उधर के भी न भये और दूधरसेनी गये यही होगा ॥ २६ ॥ जो कहो कि इस प्रकार जो ज्ञानी कर्म करै तो अज्ञानी औ ज्ञानीके बीच क्या विशेष कहे अन्तर रहा इसो अभिप्राय पर दो श्लोकसे होना का अन्तर देखावते हैं कि देखो मूढलोग प्रकृति जो माया से इन्द्रियोंके द्वारा जो सब कर्म करती है उन कर्मों को हम करते हैं ऐसा मानि लेते हैं तो मानि लेने का कारण यह है कि अहङ्कार से इन्द्रियों मे आत्मा का अध्यास अर्थात् इन्द्रियों को आत्मा जानि कर उन की बुद्धि मूढ हो गई है ॥ २७ ॥ और ज्ञानी ऐसा नहीं मानते हैं सोई कहते कि तत्त्वज्ञानी तो हम इन्द्रियरूप नहीं है ऐसे विचार करि इन्द्रियों से आत्मा को जुदा जानते हैं और हमारे कोई भी कर्म

तेऽपि कर्मिणः ॥ ३१ ॥ ये त्वेतदस्य स्यन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतं । सर्वज्ञानविमूढां
स्तान् विहिनष्टान् चेतसः ॥ ३२ ॥ सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि । प्रकृतिं
यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥ इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थि

भाषा अनुवाद

सो कहते हैं कि जो लोग इस तरह कर्म न करें ते विचार रहित हैं और कर्म तथा ब्रह्मज्ञानमें भ्रष्टविवेक जानी सोइ कहते हैं कि जो इस भेरे मत की निन्दा करते ऊँचे इस मत में नहीं प्रवृत्त होते हैं उन को सकल ज्ञान के भूटात्मा कहे नष्टबुद्धि जानो ॥ ३२ ॥ जो कहो कि तौ फेरि मझा फल के अर्थ इन्द्रियों को निग्रह कर और कामनाको त्यागि के सभी लोग क्यों नहीं इस तरह स्वधर्म का अनुष्ठान करते हैं तो इसपर कहते हैं कि पूर्व कर्मके संस्कारके अधीन जो स्वभाव तिसके अनुसार गुण दोष के ज्ञानवान भी चेष्टा करते हैं तो फेर अश्व विचारे जो स्वभाव तिस के अनुरूप चेष्टा करते इस में और क्या कहना है जब कि स्वभाव बलवान है तब कि और इन्द्रियनिग्रह कोई फेर कर सकै है तो स्वभाव के अनुरूप चलनाहीं पड़ता है ॥ ३३ ॥ जो बलवान स्वभावी के अनुसार कर्म में सबकी प्रवृत्ति है तौ यह कर्म करना औ यह न करना जो शास्त्र विधि औ निषेध करता सो व्यर्थ है इस शङ्का पर कहते हैं कि इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य दुइवार कहने से हर एक इन्द्रियको अपनी अपनी विषयके अनुकूल वस्तु में प्रीति औ प्रतिकूल विषयमें वैरक्ति कहे विरक्त्यारूप रागद्वेषादि अवश्य होगा सो इसीसे रागद्वेषके अनुरूप कर्ममें प्रवृत्ति होना यह यद्यपि सब को स्वभाव सिद्ध है पर तौभी राग द्वेषके बशीभूत होना न चाहिये यही शास्त्रोंमें नियम कर राखा है क्यों कि मुमुक्षु पुरुष के वेद विप्रकारी औ विपक्ष है तात्पर्य यह कि विषयों के स्मरण के द्वारा रागद्वेष प्रगट करवाय वह स्वभाव असंयतान पुरुषों को अपने बलसे अति जोर धारा प्रवाह की नाई अनर्थमें प्रवृत्त करावता है परन्तु शास्त्रज्ञी उस अनर्थ प्रवृत्तिके पहिले ही विषयों में रागद्वेष का प्रतिबन्धक रूप कहे रोकनेवाला जो भगवत आराधन तिसमें प्रवृत्ति करावते हैं इससे देखो कि प्रवाहमें परने के पूर्व ही नौका प्राप्त पुरुष के समान उस अनर्थ में शास्त्र द्वारा अनुष्ठ बचिजाते हैं

गुणकर्मविभागयोः । गुणगुणेषु वर्तन्ते इति मतवान्सञ्जते ॥ २८ ॥ प्रकृतेर्गुणसं
मूढाः सञ्जन्ते गुणकर्मसु । तानक्षत्स्वविदो मन्दानक्षत्स्वविन्स्त्रिजालधित् ॥ २९ ॥
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्या ध्यातुं चेत्तसा । निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः
॥ ३० ॥ ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः । शब्दावन्तो ज्ञानसंयन्तो मुच्यन्ते

भाषा अनुवाद

नहीं हैं ऐसे विचारसे कर्मोंसे अपने को प्रत्यक्ष मानते हैं अर्थात् इस प्रकार इन्द्री
और कर्म से प्रत्यक्ष बुद्धि हो कर जो तत्त्व वस्तु सो जानते हैं हे अर्जुन वे और फेरि
कर्म में आसक्त नहीं होते अर्थात् हम कर्म करते हैं यह विचार नहीं करते
इस का हेतु यह कि माया के द्वारा सब इन्द्री विषयों में प्रवृत्त हैं हम सब से
अलग हैं यह उन का जाना है ॥ २८ ॥ सो कहते हैं कि प्रकृति जो माया तिस
के गुण जो सत्त्व रज तम तिन से सख्यक मूढ़ कहे मोह को प्राप्त जो जन हैं तेई
लोग गुणों के कर्म में अर्थात् सात्त्विक राजस तामस विगुण कर्म में आसक्त
होय कर्म का सङ्ग करते हैं तिन असम्पूर्ण ज्ञानी मन्दमति मनुष्यों को उस
कर्म के आनन्द से भगन मन कर्म करने से लपटावित कहे सम्पूर्ण ज्ञानी सो न
चलावे अर्थात् उन को कर्म रहित न करे ॥ २९ ॥ सो देखो तत्त्वज्ञानी को भी
कर्म करना उचित है फेरि भगवान कहते हैं कि तुम तो अभी ऐसे कुछ तत्त्व
ज्ञानी भये भी नहीं हो इस से अच्छी तरह कर्म करो कर्म करने में तो तुम्हारा
अविचार ही है यह भगवान कहते हैं कि आत्मा में चित्त देके सब कर्म हमारे
में अर्पण करके अर्थात् हम अन्तर्यामी भगवान के आधीन होय कर्म करते
हैं और यह हमारा काम है हम करते हैं इस विचार औ फल की प्राप्ति
को छोड़ कर तथा शोक दूर करि के तुम वे खट के युद्ध करो यह श्रीकृष्ण ने
कहा ॥ ३० ॥ इस प्रकार कर्म करने में उपकार कहते हैं कि जो इस हमारे
मतमें यदायुक्त होय और अस्त्या रहित अर्थात् निन्दा न करि के कि दुखदाई
कर्ममें हमको प्रवृत्त करते अर्थात् लगावते हैं जैसी दोष दृष्टि न करके जो कोई
यह मेरा मत अङ्गीकार करके करेगा सो कर्म के द्वारा क्रम क्रमसे ज्ञानी की तरह
कर्मसे मुक्त होय पर होयगा ॥ ३१ ॥ अब इसके विपरीत आचरण में जो दोष

तो । तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्वपरिग्रहिनौ ॥ ३४ ॥ येयान् स्वधर्मो विगुणः पर-
धर्मात्स्वनुष्ठितात् । स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥ अर्जुन उवाच ।
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापञ्चरतिपूरुषः । अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥
श्रीभगवानुवाच । कामरूपक्रोधमरणो गुणः स सुदुर्बलः । महाशूनो महापादुमाविष्टो

भाषा अनुवाद

इससे स्वाभाविक प्राप्त कर्म त्याग करके धर्म प्रवृत्त होना अवश्य कर्त्तव्य है तात्पर्य
मे यह कि तुम स्वभाव प्राप्त कल्याण को छोड़ि अब युद्ध करो ॥ ३४ ॥ स्वाभाविक
प्रवृत्ति त्याग करि धर्ममे प्रवृत्त होना अवश्य कर्त्तव्य है किन्तु निज धर्म दुःखदा-
यक युद्ध रूपके करने के असमर्थ और परधर्म शुभ करनेवाला अहिंसा रूप ये
दोनों भी धर्म प्रज्ञमे समान हैं तो इन दोनोंके मध्यम पर धर्म हीं मे प्रवृत्त होने
की इच्छा करते ऊँचे अर्जुनके प्रति भगवान् कहते हैं कि साङ्गोपाङ्ग सम्पूर्ण
किये ऊँचे परधर्म की अपेक्षा अङ्ग हीन होने से भी स्वधर्म श्रेय कहे सुन्दर है
अर्थात् स्वधर्म युद्ध आदि मे प्रवृत्त पुरुष का मरण भी श्रेय कहे येठ लाभ है
क्यों कि उस से स्वर्गादि प्राप्त होता है परन्तु परधर्म मयदायक अर्थात् निषिद्ध
है इस से नरक प्राप्ति का कारण होता है सोई कहा कि स्वधर्म निधनं श्रेयः
परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥ तयोर्न वशमागच्छेत् इस श्लोकसे कहा कि राग द्वेष
के वश न होना फेरि विरोध हेतुक युद्ध को स्वधर्म कहि कर आज्ञा देते हैं इस
पर अर्जुन कहते हैं कि वृष्णि वंश मे अवतीर्थ हे वार्ष्णेय हे कृष्ण अनर्थरूप पाप
करने मे इच्छा न रहतेभी किसीकी प्रेरणासे यह पुरुष पाप आचरण करता है
काम, क्रोधको विचार बलसे रोक के भी मनुष्यकी पापकर्म करने मे फेरि प्रवृत्ति
देख पड़ती है इससे यह जानि पड़े है कि कोई उसका मूलभूत कारण होगा जो
बलकारके करवावता है इस सम्भावना पर सन्देह करते ऊँचे अर्जुन ने प्रश्न किया
है ॥ ३६ ॥ अर्जुन ने जो पूछा कि इच्छा बिना भी किसी की प्रेरणा से पुरुष
पापाचार मे प्रवृत्त होता है इसीका उत्तर भगवान् करते हैं कि सब को अपने
वश करनेवाला और प्राणियों का परम शत्रु सकल अनर्थ प्राप्तिकारी यह काम जो
कामना सोई किसी कारण से प्रतेहत भया अर्थात् कामना जो सिद्ध न भई तो

नमिहवैरिणं ॥३७॥ धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च । यथोत्वेनावृतो गर्भस्तथा ते
नेदमावृतं ॥३८॥ आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरणा । कामरूपेण फौन्तेय दुष्पूरे
स्थानलेन च ॥३९॥ इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते । एतैर्विमोहयत्येष

भाषा अनुवाद .

वही काम बदल कर रजोगुण से है जन्म जिस का ऐसा क्रोध रूप होय पुरुष
को अहंकार के वश कराय रजोगुण की सेवा में डाल देता है वह क्रोध फेरि
महाशन है अर्थात् महत् भोजन है जिस का सो ऐसा महामाम्सा कहे पाप रूप
परम शत्रु है यह तुम जानो तात्पर्य यह है कि काम ही जीवों को प्रेरणा देता है
परन्तु सतोगुण की वृद्धि होने से रजोगुण की जय होती है फेरि रजोगुण का
कार्य काम कहे कामना का जन्म नहीं होता है सो इस भोज्यमार्ग के वैरी काम
रूप शत्रु को पूर्व कथित उपाय से नाश करना ही उचित है देखो कामना के
अनुरूप भोग मिलने से भी उन का भोग चिरकाल करते भी सन्तोष नहीं होता
है इसी से कहा कि भक्षदशन कहे बड़ा खानेवाला जो काम सो भोग करने से भी
पूर्व नहीं होता है ॥३७॥ अब विशेष रूप से कामकी श्रद्धा देखावते ऊँचे कहते
है कि जैसे धूम से आग और मल से दर्पण उल्ला जो झिल्ली चमड़ा तिस से गर्भ
आवृत कहे कपेटे है तैसे ही काम जो कामना तिस से यह ज्ञान भी आवृत कहे
घेरा मया है ॥३८॥ फेरि भी कामका वैरित्व प्रकाश करते हैं कि विवेक ज्ञान
सह काम से आवृत होता है यद्यपि अज्ञानी मनुष्य को यह काम भोग समय में
सुख का छेठ है पर तौ भी शेष में वैरभाव प्रगट करता है इसी से ज्ञानी लोगों
को भोगकाल में भी अनर्घ हो जानि पड़ता है क्योंकि यह काम दुख का कारण
है ते कौन्तिय अर्जुन देखो यह काम अनेक दिन विषयभोग करते भी सन्तोष
नही पावता दिन दिन और और इच्छा बढ़ती ही जाती है जैसे आग इन्धन प्राय
अधिक अधिक पड़ती है और सन्तुष्ट नहीं होती है और जो कदाचित विषयभोग
न भिन्ना अथवा अस्वार्थसे भोग ही न कर सकै तो शोक सन्ताप होता है इस से
आसिरसे तो दुख छोड़ सुखका लेख भी नहीं है ॥३९॥ अब कामके रहनेकी
जगह और इस के जय करने की उपाय दो श्लोक से कहते हैं कि विषयों का

ज्ञानमाहृत्यदेहिनं ॥ ४० ॥ तस्मात्तन्मिन्द्रियान्यादौ नियम्य भरतर्षभ । पाप्मानं प्रजहि
ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनं ॥ ४१ ॥ इन्द्रियाणि पराण्याह्वरिन्द्रियेभ्यः परं मनः । मनसस्तु
परबुद्धिर्बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥ एवं बुद्धेः परं बुद्ध्या संस्तुत्या त्मानमात्मना । जहि शत्रुं म
हाबाहो कामरूपं दुरासदं ॥ ४३ ॥ इति कर्मयोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

भाषा अनुवाद

इन्द्रियों के द्वारा भोग होता है और मन से सङ्कल्प रूप विषयवासना मानसिक
कर्म तथा बुद्धि से निश्चय होना अर्थात् यह काम अवश्य करेंगे इन सब बातों से
जाना गया कि मन बुद्धि और इन्द्री ये कामना के आधार स्थान हैं अर्थात् उत्पत्ति
और रहनेकी जगह है सोई काम विवेक ज्ञानको आच्छादन कहे घेरि कर देही
जो आत्मा उस को मोह युक्त कर देता है ॥ ४० ॥ तिस कारण से मोह होने
के प्रथम हीं ये सब इन्द्री और मन तथा बुद्धि को नियम्य कहे काबू करके या रोक
कर इस पाप्मरूप काम को हे भरतर्षभ अर्जुन अच्छी तरह नाश करो अथवा
त्याग करो क्यों कि यह काम आत्मज्ञान और शास्त्रोक्त जो विज्ञान तिन दोनों
का नाशक है ॥ ४१ ॥ अब जिस में मनुष्य चित्त को सावधान करि आत्मा में
लगाय इन्द्रियोंको बश करने सकै सोई आत्माका स्वरूप देहादिसे भिन्न देखावते हैं
कि देह आदि बाह्य कहे बाहरके स्थूल पदार्थों से इन्द्री सूक्ष्म और पर हैं अर्थात्
थोड़ा है और इन्द्रियों से भी सङ्कल्पात्मक मन इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्ति करा
वनेवाला पर है अर्थात् सूक्ष्म और थोड़ा है अथवा इन्द्रियों से भिन्न जानो और
मन की अपेक्षा निश्चय शक्तिरूप बुद्धि थोड़ा है या भिन्न है क्यों कि मन के सङ्कल्प
को यह बुद्धि रोक सकती है और जो बुद्धि से भी परे अर्थात् थोड़ा फिन्वा पृथक्
और सांक्षी रूप हो सब के अन्तर में टिका है सो आत्मा है तिस को यह दुष्ट
काम मोहयुक्त करता है ॥ ४२ ॥ अब कहते हैं कि विषय और इन्द्रियों से काम
आदि विकारयुक्त बुद्धि ही होती है और आत्मा निर्विकार बुद्धि का साक्षीरूप
और उस से पृथक् है इस से आत्मा को थोड़ा जानि और ऐसी निश्चयरूप बुद्धि से
मन को निश्चल कर के हे महाबाहो दुष्ट का दरवाजा निवारण करने के योग्य
सब कामरूपी दूष्ट दुर्ज्ञेय शत्रु को जीतो ॥ ४३ ॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

चतुर्थ अध्यायः ।

श्रीमन्मनुवाच । इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् । विवस्वान्मनवे प्राहमनु
रिषाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥ एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः । सकालेनैव सांभूता
योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥ स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः । भक्तोऽसि से

भाषा अनुवाद

श्रीकृष्ण भगवान् आप ही अपनी आविर्भाव कहे प्रगट होना और तिरोभाव
कहे परमधाम का जाना तिस के प्रकाश करने के निमित्त सामवेद के अन्तर्गत जो
मन्त्र प्रतिपादक तत्त्वमसि महावाक्य है तिस के तत्पद और त्वम्पद के विचार करने के
अर्थ कर्मयोग की प्रशंसा करते गीताशास्त्र की अभिप्राय जो प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण
ज्ञानयोग और कर्मयोग से दो अध्याय से कहि चुके यह मानते ऊँचे अब वंश के
काधन से उस कर्मयोग की स्तुति करते हैं कि यही कर्मयोग मैंने पूर्वकाल में सूर्य
के प्रति से कहा था और हर्यने अपने पुत्र याद देव मनु से कहा और मनु ने फेनि
अपने पुत्र इक्ष्वाकु राजा से कहा था ऐसे ही परम्परा वह कर्मयोग चला आता था
॥ १ ॥ इसी प्रकार इस कर्मयोग को परम्परा प्राप्त कहे एक से दूसरा दूसरे
से तीसरा ऐसे राजकृषि लोग जानते चले आते थे पर अब हे परन्तप श्रुतापन्न
अर्जुन वह कर्मयोग वज्रत काल पाय कर नष्ट हो गया है ॥ २ ॥ सोई कर्मयोग
जो परम्परा सम्प्रदाय से संसार में न रहा तिस को अब फेरि हमने तुम से कहा
क्योंकि तुम हमारे भक्त और मित्र भी हो नहीं तो मैंने फेर और किसी से इस
को नहीं कहा और न कोई मेरा भक्त छोड़ इस के कहने के योग्य है ॥ ३ ॥ अब

सखाचेतिरहस्यं ह्येतदुत्तमं ॥ ३ ॥ अर्जुन उवाच । अपरं भवतो जन्म परं जन्म विव
स्वतः । कथमेतद्भिजानीयात्समादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥ श्रीभगवानुवाच । बहूनि
मेव्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन । तान्यहं वेदस्मृतिष्वेव त्वपरन्तप ॥ ५ ॥ अजोऽ
पि सन् न व्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं खास्यधिष्ठाय सम्भाव्यात्मा मायया ॥ ६ ॥

भाषा अनुवाद

भगवानने ऐसे कहा कि प्रथम हमने सूर्य से यही कर्मयोग कहा था तब तो अर्जुन
सन्देह युक्त होय पूछा कि हे महाराज अपर कहे इस समय मे तो आप का जन्म
भया है और पर कहे पूर्व काल मे विवस्वान जो सूर्य तिन का जन्म भया था इस
से नवीन जो आप सो प्राचीन सूर्यके प्रति कर्मयोग जो कहा यह हम किसतरहसे
जानें कि तुम ने सूर्य से प्रथम कहा था यह हमें असम्भवसा जानि पड़े है ।
दूसरा अर्थ या अपर कहे और भी पूर्वकालमे आपका जन्म भयाथा कि सूर्यही का
पर कहे इस समयमे कोई जन्म और भयाहै नही तो यह आप का कहना असंभव
है तो हम कैसे जानें कि तुमने सूर्यसे योग प्रथम कहा है ॥ ४ ॥ तब तो श्रीभगवान
बोले कि हे अर्जुन हां मैने और जन्म मे उपदेश कियाथा सन्देह न करो हमारे
और तुमारे भी वज्रत जन्म होय बीते है पर उन सब को हम जानते है और
तुम नहीं जानते है क्यों कि हमारी ज्ञान शक्ति बनी रहती है तुम अविद्या
कहे अज्ञान से आहत कहे घेरे भये है ॥ ५ ॥ जो कहो कि अनादि जो तुम
तुमारा जन्म कैसे और अविनाशी है तुम तुमारा पुनर्जन्म ही वा कैसे सम्भव होय
जो कहते हो कि वज्रत जन्म हमारे व्यतीत भये है और फिर भी तुम ईश्वर
तुमारे पुन्य औ पाप दोनोभी नहीं तो फिर जीवकी नाई तुमारा जन्म कैसे सम्भव
हो सके तिस पर कहते है कि हां यह बात तो ठीक है पर हम जन्म रहित
और अविनाशी स्वभाव होके भी तथा ईश्वर अर्थात् कर्म के वश नहीं भी है पर
तो भी अपनी माया के द्वारा स्व इच्छा से प्रगट होते है और जो कहो कि तो भी
पञ्च ज्ञानइन्द्री औ पञ्च कर्मइन्द्री पञ्च प्राण और एक अन्तःकरण ये सोरह
कलारूप लिङ्ग शरीर के बिना किस तरह जन्म होना संभव है इस पर भगवान
कहते है कि हम अपनी शुद्धसत्त्वात्मक प्रकृतिको स्वीकारकरिके अतिजाज्यल्लभान

यदायदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अथ्युत्थानसधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥
 ७ ॥ परित्यागाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां । धर्मसंस्थापनार्थाय सन्मतामि युगे
 युगे ॥ ८ ॥ जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः । त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामे
 ति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥ वीतराग भयक्रोधा मन्मथामासु पाप्मिताः । बहवो ज्ञानतपः

भाषा अनुवाद

सत्त्वगुणसिद्धि से खेच्छाधीन अवतार लेते हैं ॥ ६ ॥ तो अर्जुनी इच्छासे कब आप जन्म
 ग्रहण करते हो इस अपेक्षा पर भगवान कहते हैं कि हे भारत भरतयंशो अर्जुन
 जब जब धर्मकी ग्लानी अर्थात् हानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान कहे
 दुःख होती तब तब हम शरीर धारण करते हैं ॥ ७ ॥ जो कहो कि जैसे समय
 ने आप को शरीर धारणकर अवतरते हैं तो कहते हैं कि साधु कहे स्वधर्मके
 करनेवाले लोग उनकी रक्षा और दुःखत कहे अधर्मी प्राप्ति करने के नाशके हेतु
 मैं जन्म लेता हूँ इस से यह आया कि धर्मका स्थापन और साधु का रक्षण दुष्टोंका
 वध करके धर्मकी दृढ़ करने को सोई सोई समय में मैं शरीर ग्रहण करता हूँ
 वही कहा कि सन्मतामि युगे युगे जो कोई शङ्का करे कि दुष्ट नाश करनेसे भग
 वानको निर्दयता आवती है तो ऐसा कभी कहना नहीं देखो माता पिता गुरु ये
 जो पुत्र शिष्यको शिक्षाके लिये ताड़न करते हैं तो क्या निर्दय है ऐसे ही ईश्वर
 गुरु दोष नियमके अर्थ दण्ड देते हैं किन्तु शत्रुता से नहीं ॥ ८ ॥ अब अपने जन्म
 कर्म जाननेका फल कहते हैं कि हमारे खेच्छासे दिव्य कहे अलौकिक आश्चर्यरूप
 जो जो जन्म और कर्म केवल लोकके अनुग्रहाय है तिन के तत्त्व पूर्णक जाननेसे
 लोग देह अभिमान छोड़ि फेर संसारमें जन्मग्रहण नहीं करते हैं बल्कि हमारे ही
 को प्राप्त होते अर्थात् आवागमन से रहित होते हैं ॥ ९ ॥ जो कहो कि ईश्वरके
 जन्म कर्म जानने ही से कैसे ईश्वर प्राप्त होय है इस पर कहते हैं कि शुद्ध
 संतो गुरु से अवतार ले हमारी जो परम दयालुता के कर्म तिन के जानने से संतो
 गुरुके द्वारा सत्त्व दृढ़ होती है फेर वे लोग संसार से विगत स्नेह और गत क्रोध
 निर्भय होय मेरे आश्रित सद्रूप अर्थात् सत्स्वभाव वज्रतेरे ज्ञान सम्यक् परम
 पवित्र हो मद्भाव को प्राप्त भये अर्थात् मेरे स्वरूप में लीन हो गये हैं ॥ १० ॥

सापूर्वतामद्भावमागता ॥ १० ॥ येयथामांप्रपद्यन्तेतोस्तथैवभजाम्यहं । समवर्तमानं
वर्तन्तेमनुष्यःपार्षसर्वशः ॥ ११ ॥ कांचन्तःकर्मणांसिद्धिंयजन्तइहदेवताः । जिप्रं
हिमानुपेलोकेसिद्धिर्भवतिकर्माजा ॥ १२ ॥ चातुर्वर्ण्यमयाष्टंशुणकर्मविभागशः ।

भाषा अनुवाद

तो तुमारे भी क्या विपरीत भाव कहे खपर बुद्धि है जिस हेतु शरणागत को
हृदाकरि आत्मस्वभाव देते और दूसरे को नहीं देते हैं इस का सिद्धान्त कहते
है कि हेतुार्थ अर्जुन जो मनुष्य जब जिस प्रकार अर्थात् सकाम या निःकाम रूप
हमको भजते सेवते हैं उनको वैसे ही फलप्रदान करिके मैंभी अनुग्रह करता हूँ
और कामना करके जो लोग इन्द्र आदि देवतों का भजन पूजन करते हैं उनका
अनादर या त्याग हम नहीं करते हैं कारण यह कि जिस किसी की पूजा भजन
करै वह मेरी ही पूजा होती है क्यों कि सर्व रूपमय मैं हूँ सो हेतु पार्थ मेरी
ही राह में सब मनुष्य वर्तमान हैं पर जैसी जिसकी भावना तैसा तिस को फल
मिलता है इस से सकाम लोगों को कर्मानुसार फल लाभ देखाया और निःकाम
पुरुष तो मेरा रूप ही है ॥ ११ ॥ जो अइसा कहो कि तौ फेरि मोचही के वास्ते
सब लोग भगवत का आराधन क्यों नहीं करते है इसपर कहते है कि मनुष्य
लोकके वज्रतेरे लोग कर्मफल की अभिलाषा करि इन्द्र आदि देवतों की सेवा
करते और साक्षात् हमारी सेवा नहीं करते है क्यों कि कर्मसे फल शीघ्र प्राप्त
होता और मेरी साक्षात् सेवासे ज्ञान का फलरूप जो मुक्ति सो दुःप्राप है बड़े
कठिनसे धिरकालमें मिलती है ॥ १२ ॥ और जो कहो कि चारो वर्णके कर्ताभी
तुमहीं हो और अनेक प्रकारके कर्म भी वेदके द्वारा तुम्हींने कहा है फेरि उन्ही
कर्मों के करनेवाले ब्राह्मण आदि वर्णों को उत्तम औ अधम कर्मभी तुमने कहा
है तो इस सब के करने औ कहने वाले एक तुम ठहरे फेरि किसी की प्रवृत्ति
सकाम कर्म में और किसी की निष्काम में जो होती है तो कहो वैषम्य दोष कहे
विषम स्वभाव तुमारा क्यों नहीं है इन बातों से अलबते तुमको पक्षपात दोष हो
सकता है इसके उपर भगवान कहते है कि हाँ चातुर्वर्ण्य कहे सतोगुण प्रधान जो
ब्राह्मण उनके कर्म श्रम दम उपरति तितिक्षा समाधान यहा है और सत्त्व राज

तस्यकर्त्तारमपिमांविद्धाकर्त्तारमव्ययं ॥ १३ ॥ नेमांकर्माणि लिप्सन्ति न मे कर्मफले
 स्पृहा । इति मां योऽभिमानात् कर्मभिर्न सवध्यते ॥ १४ ॥ एवं ज्ञात्वा ह्यतः कर्म पूर्वै
 रपि सुसुक्ष्मभिः । कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरङ्गतं ॥ १५ ॥ किं कर्म किमकर्मेति
 कवयोऽप्यत्र मोहिताः । तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामोक्षसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

भाषा अनुवाद

प्रधान जो जल्दी उनके कर्म भूमि राजा प्रजापालन युद्ध आदिक है और रजोगुण
 सतोगुण प्रधान जो वैश्य तिन के कर्म व्यापार खेती आदिक है और तमोगुण
 प्रधान शूद्र का कर्म इन तीनों वर्ण की सेवा रूप है सो यह बात ठीक है पर जो
 भी हम इनके कर्त्ता है तौभी अकर्त्ताही जानो क्योंकि हम अव्यय हमारी आसक्ति
 इन कर्मोंमें नहीं है ॥ १३ ॥ वही कर्म की आसक्ति देखलाते ऊँचे भगवान कहते
 है कि देखो विन्धवर्जन आदि कर्म हमको नहीं लगते और न कर्मफलकी इच्छा
 हमें रहती है क्योंकि हम निरहङ्कार कर्म करते हैं और पूर्ण काम है इससे कोई
 विषयके अवयव दर्शनादि से हमारी भोगमें इच्छा नहीं होती तो ये कर्म हमें कैसे
 आसक्त कर सकें और तुम को क्या कहें देखो जो मनुष्य हम को कर्म में निर्लिप्त
 जानते हैं वे भी कर्मवन्धमें नहीं पड़ते कारण यह है कि जो हमारे निर्लेपताके हेतु
 अग्न अहंकार औ निस्पृहत्व है सो उन जान कार पुरुष के भी प्रियिल होते कहे
 नाम मात्र को रहजाते हैं और कुछ काम देखने योग्य नहीं रहते हैं ॥ १४ ॥ अब
 जैसे चारि लोकसे प्रसङ्ग प्राप्त ईश्वर के वैषम्य दोष को दूर करते ऊँचे पूर्व
 कथित कर्मयोग को विस्तार करि कहते हैं कि अहङ्कार रहित किवा ऊँचा
 कर्म ज्ञानका वाक्क नहीं होता है यह जानि करि के पूर्व कालके सुमुख जन
 जनक आदिकों ने किया या इससे तुमभी अभी इस प्रथम अवस्थामे कर्म करो अब
 ज्ञानयवस्था प्राप्त होगी आपही सब कर्म छूट जायंगे अभी छोड़नेसे सतोगुण की
 शक्ति होना अति दुर्घट है देखो और और युगमें भी लोगोंने प्रथम कर्मको किया है
 यह कर्म युग युगान्तरसे किया चला आता है ॥ १५ ॥ और देखो तत्त्वज्ञानी के
 साथ विचार करके कर्म करना चाहिये केवल भड़ियाधसंगकी नाई लोकपरम्परा
 प्राप्त देखकर करना अनुचितही जानो यह कहते हैं कि देखो कोन कर्म कर्त्तव्य

कर्मणो ह्यपिवोदव्यवोदव्यञ्चविकर्मणः । अकर्मणश्चवोदव्यगृह्णनाकर्मणोगतिः ॥
१७ ॥ कर्मण्यकर्मय प्रत्येदकर्मणिचकर्मवः । सबुद्धिमान्मनुष्येषुसमुक्तःकृत्स्न

भाषा अनुवाद

और कौन अकर्तव्य है इस कर्म अकर्म के विचार में कवि कहे वहे पडे पण्डित भी मोहित होजाते प्रता नहीं लगता है इससे जिस कर्मके करने से इस अशुभ संसार से मुक्त होउगे सो और अकर्म जो अकरणीय कर्म ये दोनो हम तज्जसे कहते है सो सावधान हो सुनो जिसको जानि करिके अशुभ संसार से छूट मुक्त हो जावगे ॥ १६ ॥ जो कहो कि मन वचन देह के व्यापार ही तो कर्म है और देहादि व्यापार का अभाव ही अकर्म है यही तो लोकमें प्रसिद्ध है फेरि जो आप ने कहा कि पण्डित लोग भी कर्म अकर्म के विषय में मोह को प्राप्त होते है सो कैसे इस बात पर कहते है कि कर्म तो शास्त्रविहित व्यापार का तत्त्व जानि करके कर्तव्य है केवल लोक व्यवहार देखि अवश्य कर्तव्यकर्म नहीं और अकर्म तो संन्यास आश्रम अङ्गीकार करि शास्त्रकी रीतसे कर्मका त्याग करना पर तत्त्व ज्ञानवान हो कर उचित है और विकर्म जो निषिद्ध कर्म उसका भी तत्त्व जानना आवश्यक है क्योंकि सब कर्मोंकी गतिका ज्ञान होना कठिन है सोई कहाकि कर्म की गति गहन कहे वडी कठिन सहज से जानने योग नहीं है ॥ १७ ॥ जो कहा कि कर्मकी गति गहन कहे जानवे योग नहीं है और कहाकि कर्म अकर्म निषिद्ध कर्म का तत्त्व जानिकर कर्म को करै सोई कर्मगति की कठिनई देखावते ज्ये भगवान वह तत्त्व कहते है कि जिस के यथार्थ ज्ञानमें पण्डितभी मोहित होते औ जिस के ज्ञानसे इस संसार से छूट जाते है उस को मैं कहताऊ तुम सुनो यह प्रतिज्ञां जो करी थी सो अब कहते है कि भगवत आराधन रूप कर्म जब कि किसी तरह ज्ञान होने में बाधा नहीं करता तो वह क्या कर्म है उस को अकर्म ही अर्थात् कर्म संन्यास ही जो देखते है सोई कहा कि कर्मण्यकर्म य प्रत्येत् और शास्त्र विहित कर्म न करने से दोष होता है फेरि वही न करना ज्ञान का प्रतिवन्धक कहे बाधा का हेतु होता है इस से शास्त्रोक्त कर्म की न करना ही जो अकर्म उसी को कर्तव्य जो देखते है वेई लोग कर्मकारी मूर्खोंके

कर्मवत् ॥ १८ ॥ यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः । ज्ञानाग्निदग्धकर्मा
पातं भाज्ज पण्डितपुधाः ॥ १९ ॥ त्यक्त्वा कर्म फलासङ्गं नित्यतप्तेनिराश्रयः । कर्म

भाषा अनुवाद

मध्यमे बुद्धिमान है उन्हीं की प्रशंसा करते हैं कि ऐसे ही कर्म अनुष्ठान करते जो ज्ञानयोग को प्राप्त होते सोई योगी पुरुष हैं और उनको भगवत् आराधन रूप कर्म के अन्तर्भूत कहे अन्तर्भूत समस्त कर्म करना आवश्यक है । वही कहा कि स युक्त इत्युक्त कर्मवत् । इससे यह आया कि ज्ञानमार्ग से जाने की इच्छा जिस को है उस को कर्मयोगअवस्था में कर्म करना उचित है सोई ३ अध्यायके ४ श्लोक में कहा कि न कर्मणामनारम्भान्नैव कस्य पुरयो भुते और सम्पूर्ण ज्ञान होने से फेरि कर्म का कुछ आवश्यक नहीं है सोई ३ अध्याय के १७ श्लोक में कहा कि यत्कामरतिरेव सादात्मतपश्च मानव इति ये दोनो वातौ इस श्लोक से अच्छी तरह कही गई और जो कर्मेन्द्रियाणि संयम्य यह ३ अध्याय के ८ श्लोक से कहा इन्द्रियो से आत्मा भिन्न है तथा सोई-कर्म नहीं कर्ता है ऐसे जानि दृढ समाधि में जो रहते हैं और अतोयास कहे वे मांगे प्राप्त भये अन्न को भोजन कर लेते वे सकल कर्म करते भी योगी हैं और उन को विकर्म औ निपिह कर्म ष्ठगमांस भोजनदि दोष भी नहीं हैं क्योंकि उन्हे उस वस्तु का आग्रह नहीं है परन्तु अज्ञानी को आग्रह औ उस में रुचि है तो वैश्वक ष्ठगमांस खाने से दोष है इस से निपिह कर्म या तत्त्व कहा यही तत्त्व जानि सब कर्मों में प्रवृत्त होना मैं ने कहा है सो जानो ॥ १८ ॥ गव कर्माण्य, पश्येत् इस श्लोकसे श्रुति का तात्पर्य जो कहा सोई पांच श्लोक से स्पष्ट करके कहते हैं कि जिस के सब समारम्भ कहे कर्म कामसंकल्प वर्जित अर्थात् कामना रहित है उसी की वृष कहे बुद्धिमान लोग पण्डित कहते हैं जिससे कर्म अनुष्ठान के द्वारा शुद्धित होने से प्रगट ज्ञान अग्निसे सकल कर्म दग्ध हो जाते हैं फेरि कर्मबन्ध उसको नहीं होता है और ज्ञानारूढ अवस्था में कामका अर्थ कर्म फल और उसके अर्थ यह कर्म हम को करना उचित है परन्तु ज्ञान आरूढ पुरुष इन दोनो से भी रहित है सोई कहा कि जिस के सब समारम्भ कामना

एषभिप्रवृत्तोऽपिनैवकिञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥ निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्व
परिग्रहः । शरीरकेवलं कर्म कुर्वन्नाश्रितिकिल्बिषं ॥ २१ ॥ यदृच्छा लाभसन्तु
ष्टोद्वन्मृतीतो विमत्सरः । समः सिद्धावसिद्धौ च तत्त्वामिनिबध्यते ॥ २२ ॥ गत

भाषा अनुवाद

रहित हों सो परिहृत है ॥ १८ ॥ और सर्व कर्म तथा कर्म के फल में आशक्ति छोड़ कर नित्य ध्यानरूप आत्मा के सन्तुष्ट मनुष्य अप्राप्त वस्तु की चेष्टा और प्राप्त का पालन इन दोनों से दूर है इसी से वे कोई कर्ममें प्रवृत्त होयं पर उनका वह कर्म कर्म नहीं है अर्थात् उसके सब कर्म अकर्मता को प्राप्त है सोई कहते हैं कि कर्मके फल और संग जो आसक्ति तिसे छोड़ि नित्य आत्मसुख से तप्त वे परवाह को कर्ममें प्रवृत्त भी है पर वह कुछ भी नहीं करता है वह जानो ॥ २० ॥ विज्ञेय कारी कर्मही को तो शास्त्र बन्धनका हेतु कहते हैं और आपने तो कर्मकी प्रशंसा करि जनकादिक को दृष्टान्त देखाय प्रथम अवस्थामे अधिकार और ज्ञानप्राप्त भये भी निरहङ्कार कर्म करने से अदोष कहा इससे सर्वथा कर्म करना प्राप्त होता है इस सन्देह पर भगवान् कहते हैं कि जो सर्व कामना परित्याग करि निष्काम हो तथा मन इन्द्रिय शरीर अपने वशीभूत राखि सकल विषयसे निवृत्त है और शरीर निर्वाह भाव के अर्थ कर्तृत्व अभिमान रहित होय कर्मों को करते ऊँचे भी वे मनुष्य कर्मबन्धनको नहीं प्राप्त होते हैं अर्थात् कर्मजनित किल्बिष जो पाप सो नहीं लगता है सोई कहा कि निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्त सर्व परिग्रहः ॥ २१ ॥ और यदृच्छा लाभ सन्तुष्ट कहे मागे विना आपसे आप प्राप्त जो यथालाभ तिससे जो सन्तुष्ट है अर्थात् उत्तम अधम अधिक अल्प लाभसे हर्ष विषाद रहित है और शीत उष्ण हानि लाभ सुख दुःख वैर प्रीति आदि द्वन्द्वभाव रहित हैं तथा सिद्धि अस्तिद्धि में समभाव है वे पुरुष कर्म करते भी संसार गति को नहीं प्राप्त होते अर्थात् कर्म बन्धनमें नहीं पड़ते हैं सोई कहा कि यदृच्छा लाभ सन्तुष्टो द्वन्द्वमृतीतो विमत्सर इति ॥ २२ ॥ और भी कहते हैं कि गतसंगस्य कहे जिसका देह मोह और विषय से संग कहे आसक्ति चली गई है और काम क्रोध से मुक्त कहे छुट गया है और चित्त ज्ञानरूप परब्रह्म में स्थित है ऐसे गुणों से युक्त मनुष्य के वज्र रत्नार्थ

सङ्ख्यमुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः । यज्ञायाचरतः कर्मसमग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥
 ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्वि ब्रह्माग्नी ब्रह्मखाञ्जतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्मसमाधना ॥
 २४ ॥ दैवमेवापरे यज्ञयोगिनः पर्याप्तासते । ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोप

भाषा अनुवाद

किन्वा लोकशिक्षार्थं या शरीर यावार्थं अथवा भगवदाराधनार्थं किये ज्ञेय सम्पूर्ण
 कर्म वासना समेत विलीन हो जाते हैं ॥ २३ ॥ जो यह यज्ञ करो कि धर्मशास्त्र तो
 वेदका अर्थही है और तिसमे लिखते हैं कि नाभुक्तं क्षीयते कर्म अर्थात् बिना भोग
 किये कर्म क्षीण नहीं होता कर्म का फल भोगना ही पड़ता है तो इस पर
 कहते हैं कि सम्पूर्ण क्रिया और कारक तथा फल रूप जो कुछ हैत है सो सब
 ब्रह्म भाव कहे ब्रह्म छोड़ और कुछ नहीं है ऐसे ज्ञानवान् ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मरूप
 पुरुष के यावत् कर्म विलीन हो जाते हैं इस में कुछ सन्देह नहीं सोई उप
 निषद् में कहा है कि ब्रह्मविदो ब्रह्मैव सर्वं क्रिया कारक फलजातं भवति ।
 सोई कहते हैं कि ब्रह्म के अर्थ और ब्रह्म ही हवि तथा ब्रह्म रूप अग्नि से
 ब्रह्म ही ने दिया है इस प्रकार जो जानता है अर्थात् होम अग्नि शुवा हवि
 कर्त्ता क्रिया वृत्त आदि सब सामग्री और जिस को दिया जाय यह सब जो है
 सो ब्रह्म व्यतिरेक और नहीं है ब्रह्मकर्म में है ससाधि कहे चित्तवृत्ति जिस
 की सो अवश्य ब्रह्म को प्राप्त होता है जैसे इन कर्मों की कर्म में गिनती
 नहीं तैसे ही भगवत् आराधन कर्म की भी कर्म में गणना नहीं है ऐसे कर्म
 जो हैं सो अकर्म ही हैं केरि इन का फल भोगना कहा है और जो फल है
 तो ब्रह्म या भगवत् प्राप्ति रूप ही है और दूसरा नहीं ॥ २४ ॥ पूर्वोक्त प्रकार
 यज्ञरूप से सर्वत्र सम्पादित कहे प्रसिद्ध कर के कहा जो ब्रह्मदर्शन रूप ज्ञान सो
 सकल यज्ञों का हेतु कहे उसी के वास्ते सब यज्ञों की जाती है अतएव अष्ट है
 इसी से अब इस ज्ञान की प्रशंसा कर के अधिकारी के भेद से ज्ञान के उत्पत्ति
 की उपाय रूप सब यज्ञों को ऽ लोक से कहते हैं कि वज्रतेरे कर्मयोगी लोग
 ब्रह्मबुद्धि रहित हो इन्द्र वरुण आदि देवताओं को यज्ञ करि के वही यज्ञ से पूजते
 हैं और कितने ज्ञान योगी ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्मयज्ञ रूप उपाय से यज्ञ करि

जुह्वति ॥ २५ ॥ ओवादीनीन्द्रियाण्यन्वसंयमानिपुजुह्वति । शब्दादीन्विषया
नन्यइन्द्रियाग्निपुजुह्वति ॥ २६ ॥ सर्वाणीन्द्रियकर्माणिप्राणकर्माणिचापरे । आ
त्मसंयमयोगाग्नौजुह्वतिज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥ द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञायोगयज्ञास्तथा
परे । स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्चयतयःसंयितवताः ॥ २८ ॥ अपानेजुह्वतिप्राणप्राणोऽ

भाषा अनुवाद

सकल कर्म रूप ब्रह्म मे ब्रह्मार्पण विधि से अर्पण कहे सब कर्म लीन करते है
सोई नञ्जयज्ञ है ॥ २५ ॥ ऐसे ही कितने ब्रह्मचारी लोग इन्द्रियों का संयम
जो विषयों से रोकना सोई अग्निरूप है तिस मे ओव प्राण जिह्वा त्वक् चक्षु इन
ज्ञान इन्द्रियों को होम करते अर्थात् इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर के संयम से रहते
है और कितने गृहस्थ जब इन्द्रिय रूप अग्नि मे हवि रूप जो विषय कहे रूप
रस गन्ध स्पर्श शब्द सो होम करते है विषय भोग समय मे भी अनाशक्त हो के
अग्निरूप इन्द्रियोंमे रूप रस आदि विषयरूप घृत होम करते है कहे दग्ध करते
निरहङ्गार हो कर फल रहित होते है ॥ २६ ॥ और वज्रतेक ध्यानी पुरुष
ओवादि ज्ञान इन्द्रियों के अवण आदि कर्म तथा वाक् आदि कर्म इन्द्रियों के
कार्य वचन आदि और प्राण अपान उदान व्यान समान नाग कर्म ककल देवदत्त
धनञ्जय ये शरीर की दश वायुओं के कर्म जो वहिर्गमनादि है सो सब आत्म
संयम योग अग्नि मे होम करते है अर्थात् ध्यान के द्वारा चित्त की एकाग्रता
रूप ज्ञान से दीपित योग अग्नि मे होमते कहे लीन करते है अर्थात् धेय
कहे ध्यान के विषय को ध्यान के द्वारा प्रख्यति ज्ञानदीप की प्रकाश से वही धेय
कहे ध्यानयोग्य ब्रह्म को अच्छी तरह जान कर और उसी मे मन को संयम कहे
युक्त करि के सकल कर्म को दूर कर देते है ॥ २७ ॥ और लोक मे कितने
पुरुष द्रव्य दान हीं को परम यज्ञ जानि द्रव्य दानरूप यज्ञ करते और वज्रतेक
मनुष्य ब्रह्म चान्द्रायण तथा द्वादश वार्षिक व्रत आदिक मे चित्त लगाय तपस्वरूप
यज्ञ करते है फेरि कितने जन योगशास्त्रोक्तमेतीधौतीभस्त्रा औ प्राणायाम आदि
योग करके चित्तवृत्ति के बोधरूप योग यज्ञ मे तत्पर है और वज्रतेर वेद शास्त्र
के अध्ययन मनन को स्वकर्म जानि तदर्थ ज्ञान हीं को सर्वस्व मानि स्वाध्याय

पानंतथापदे । प्राणायामगतीरुद्धाप्राणायामपरायणः ॥ २८ ॥ अपरेनिघता
हाराःप्राणान्प्राणेषुबुद्धति । सर्वेष्वेतेयज्ञविदोयज्ञघ्नवितकल्मषाः ॥ ३० ॥

भाषा अनुवाद

ज्ञानरूप यज्ञ करते हैं, परन्तु जो इन्द्रीजित औ ज्ञत में तत्पर है तेई ये सब यज्ञों
कर सकते हैं ॥ २८ ॥ और कितने हठ योगव्यासी मनुष्य अपान वायु में प्राण
वायु को पूरक प्राणायाम के द्वारा खँचि कर होम करते हैं अर्थात् पूरक समै में
प्राण अपान एक कर देते हैं और कोई कुम्भक प्राणायामसे प्राण अपान वायु को
जड़ अधोगमन रोक कर रेचक काल में अपान वायु को प्राणवायु में खँचि ले कर
होम कहे लीन कर देते हैं ऐसे ही पूरक कुम्भक रेचक के द्वारा प्राणायाम में
तत्पर रहते हैं और कोई कोई लोग आहार घटाय इन्द्री शिथिल कर के सोई
सोई इन्द्रियशक्तिका लय रूप होम करते हैं अथवा पूरक रेचक दोनों आसन्न बन्द
कर हंस औ सोहं इस को अनुलोम विलोम कहे उलट पुलट रूप अथवा मन्त्र के
द्वारा तत्त्वमसि महावाक्य से कथित जो तत्पद औ त्वं पद तिन के अर्थ के अनुसार
मह्य जीव की एकता अर्थात् सो मह्य हम हैं और हम सो ब्रह्म हैं ऐसी भावना
करते हैं और कोई प्राणायामही को यज्ञ कहते अर्थात् उदर के दो भाग अन्नसे
पूर्ण करि औ एक भाग मानीसे पूर्ण करि और वायुके संचारार्थ चतुर्थ भाग खाली
राखि शास्त्रविधि के अनुसार परिमित अहारी जन कुम्भक के द्वारा प्राण अपान
की शतिरोध करि प्राण दमनशील हो सब इन्द्रियों को प्राणवायु में होमकरते हैं
अर्थात् कुम्भक से सब प्राण एक हो जाते और इन्द्रियगण लय को प्राप्त होता है
॥ २९ ॥ एही पूर्वोक्त वारह प्रकार के यज्ञकारीयों को प्राण फल भगवान कहते
हैं कि ऐसी यज्ञरूप क्रिया जिन की जानी है और इन यज्ञों से जिन के प्राप
ज्य हो गये हैं और यज्ञ समाप्त करके पीछे शास्त्रविहित अमृतरूप अन्न भोजन
करते हैं फेर तत्त्वज्ञान के द्वारा नित्य सत्य ब्रह्म को प्राप्त होते हैं सो कहा कि
ये सब यज्ञवित् यज्ञ से नष्ट कल्मष कहे निःपाप होय यज्ञशिष्ट अमृतमोही भना
तन ब्रह्म को जाते कहे प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥ अब यज्ञ न करने में दोष कहे
हैं कि देखो यज्ञ न करनेवालों को यह अल्प सुख जो मनुष्य लोक सोई नहीं

यज्ञशिष्टाश्रितभुजोयान्तिब्रह्मसनातनं । नायंलोकोऽस्त्ययज्ञश्चक्रतोऽन्यः कुरुसत्तमः ॥
॥ ३१ ॥ एवं वज्रविधायज्ञावितताब्रह्मणो मुखे । कर्मजान् विवृणोतान्सर्वानेवं ज्ञां
त्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥ श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप । सर्वं कर्माखि
लं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥ तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । उपदे

भाषा अनुवाद

मिलता है तो परलोक सुख फेरि कहा प्राप्त होना है इस से यज्ञ को निश्चयसे
करना चाहिये हे कुरुसत्तम ॥ यह कैसुतिक न्यायसे देखाया है ॥ ३१ ॥ ज्ञान
यज्ञ की प्रशंसा करने के अर्थ अब सब यज्ञों की चर्चा करि न्यून अधिक तारतम्य
देखावते ऊँचे कहते हैं कि नाना प्रकार की यज्ञी वेदरूप सुख से मल्यज्ञ विहित
है पर तैं भी मन वचन शरीर के कर्म से उत्पन्न जो यज्ञ है सकल आत्मस्वरूप
स्वर्ग से रहित जानो अर्थात् उन से आत्मज्ञान नहीं होता क्यों कि आत्मा कर्मों
का अगोचर कहे कर्मसे प्राप्य नहीं है इस से तुम ज्ञाननिष्ठ होय संसार से मुक्त
होउगे यह जानो ॥ ३२ ॥ अब ज्ञान यज्ञ की श्रेष्ठता कहते हैं कि जिस लिये
आत्म व्यापार रहित जो द्रव्यमय देवता के अर्थ यज्ञ है तिस से ज्ञान यज्ञ ही
श्रेष्ठ जानो और यद्यपि ज्ञान यज्ञ मानसिक व्यापार के आधीन है तथापि आत्मा
का स्वरूप जो ज्ञान सो केवल मन का परिणाम अर्थात् ब्रह्मरूप होना मात्र है
और ज्ञान कुछ मानस व्यापार से प्रगट नहीं है और ज्ञान की श्रेष्ठता में हेतु
यह है कि फलके सहित सर्व कर्म तत्त्वज्ञान के अन्तर्भूत है क्योंकि लोगोंके किये
ऊँचे सत्कर्म ज्ञान के अनुगामी कहे साथ होते है यह वेद में कहा है सोई इस
श्लोक से कहा कि श्रेष्ठ है द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ हे परन्तप और सब कर्म हे पार्थ
अर्जुन ज्ञान में परिसमाप्त कहे लीन होते है इसी से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥
जो कहो कि भला जिस ज्ञान की ऐसी प्रशंसा करते हो सो किस प्रकार से प्राप्त
होय तो ज्ञान के साधन कहे उपाय कहते हैं कि ज्ञानी पुरुषों के निकट जाय
नम्रता से प्रणाम कर प्रश्न करै कि किस कारण से हमको यह संसार भया और
कैसे निवृत्त होगा और गुरु की सेवा श्रुयुपा करने से तुम को सो तत्त्वज्ञान
मिलेगा और ज्ञानी जो शास्त्रज्ञ तथा तत्त्वदर्शी जो हैं वे तुम को उपदेश दे कार

पानंतथापरे । प्राणायामगतीरुद्धाप्राणायामपरायणः ॥ २६ ॥ अपरेनियता
हाराः प्राणान्प्राणेषु पुनरुच्यते । सर्वेष्वप्येते यज्ञविद्यो यज्ञश्च यितकल्मषाः ॥ २७ ॥

भाषा अनुवाद

ज्ञानरूप यज्ञ करते हैं, परन्तु जो इन्द्रीजित औ व्रतसे तत्पर है तेई ये सब यज्ञों
कर सकते हैं ॥ २८ ॥ और कितने हठ योगाध्यासी मनुष्य अपान वायु में प्राण
वायु को पूरक प्राणायाम के द्वारा खँचि कर होम करते हैं अर्थात् पूरक समै में
प्राण अपान एक कर देते हैं और कोई कुम्भक प्राणायामसे प्राण अपान वायु को
ऊर्ध्व अधोगमन रोक कर रेचक काल में अपान वायु को प्राणवायु में खँचि ले कर
होम कहे लीन कर देते हैं ऐसे ही पूरक कुम्भक रेचक के द्वारा प्राणायाम में
तत्पर रहते हैं और कोई कोई लोग आहार घटाय इन्द्री शिथिल कर के सोई
सोई इन्द्रियवृत्तिका लय रूप होम करते हैं अथवा पूरक रेचक दोनों आसन्न बन्द
कर हंस औ सोहं इस को अनुलोम विलोम कहे उलट पुलट रूप अथवा मन्त्रके
द्वारा तत्त्वमसि महावाक्य से कथित जो तत्पद औ त्वं पद तिन के अर्थ के अनुसार
ब्रह्म जीव की एकता अर्थात् सो ब्रह्म हम हैं और हम सो ब्रह्म हैं ऐसी भावना
करते हैं और कोई प्राणायामहीं को यज्ञ कहते अर्थात् उदरके दो भाग अन्नसे
पूर्ण करि औ एक भाग पानीसे पूर्ण करि और वायुके संचारार्थ चतुर्थ भाग खाली
राखि शास्त्रविधि के अनुसार परिमित अहारी जन कुम्भक के द्वारा प्राण अपान
की गतिरोध करि प्राण दमनशील हो सब इन्द्रियों को प्राणवायु में होमकरते हैं
अर्थात् कुम्भक से सब प्राण एक हो जाते और इन्द्रियगण लय को प्राप्त होता है
॥ २६ ॥ एही पूर्वोक्त वारह प्रकार के यज्ञकारीयों को प्राप्य फल भगवान कहते
हैं कि ऐसी यज्ञरूप क्रिया जिन की जानी है और इन यज्ञों से जिन के प्राप
ज्य हो गये हैं और यज्ञ समाप्त करके पीछे शास्त्रविहित अमृतरूप अन्न भोजन
करते हैं और तत्त्वज्ञान के द्वारा निवृत्त सत्य ब्रह्म को प्राप्त होते हैं सो कहा कि
ये सब यज्ञवित् यज्ञ से नष्ट कल्मष कहे निःप्राप होय यज्ञशिष्ट अमृतभोगी समा
तन ब्रह्म को जाते कहे प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥ अब यज्ञ न करने में दोष कहते
हैं कि देखो यज्ञ न करनेवालों को यह अल्प सुख जो मनुष्य लोक सोई नहीं

यज्ञगिष्टाद्यतमुजोयान्तिब्रह्मसनातनं । नायंलोकोऽस्ययज्ञस्यकुतोऽन्यः कुरुसत्तमः ॥
॥ ३१ ॥ एवंवज्रविधायज्ञागितताब्रह्मणोमुखे । कर्मजान्ब्रह्मिष्ठान्सर्वानेवंज्ञा
त्वाविमोक्षये ॥ ३२ ॥ येयान्द्रव्यमवाद्यज्ञानज्ञानयज्ञः परन्तप । सर्वकर्मणि
लंपार्थज्ञानेपरिसमाप्यते ॥ ३३ ॥ तद्विद्विप्रणिपातेनपरिप्रश्नेनसेवया । उपदे

भाषा अनुवाद

मिलता है तो परलोक सुख केरि कहां प्राप्त होना है इस से यज्ञ को गिद्ययसे
करना चाहिये हे कुरुसत्तम ॥ यह कैसुतिक न्यायसे देखाया है ॥ ३१ ॥ ज्ञान
यज्ञ की प्रशंसा करने के अर्थ अब सब यज्ञों की चर्चा करि न्यून अधिक तारतम्य
देखावते ज्ञेय कहते हैं कि नाना प्रकार की यज्ञी वेदरूप सुख से प्रत्यक्ष विहित
हैं पर तौ भी मन वचन शरीर के कर्म से उत्पन्न जो यज्ञ हैं सकल आत्मस्वरूप
स्वर्ग से रहित जानो अर्थात् उन से आत्मज्ञान नहीं होता क्यों कि आत्मा कर्मों
का अगोचर कहे कर्मसे प्राप्य नहीं है इस से तुम ज्ञाननिष्ठ होय संसार से मुक्त
होउगे यह जानो ॥ ३२ ॥ अब ज्ञान यज्ञ की श्रेष्ठता कहते हैं कि जिस लिये
आत्म व्यापार रहित जो द्रव्यमय देयता के अर्थ यज्ञ है तिस से ज्ञान यज्ञ ही
श्रेष्ठ जानो और यद्यपि ज्ञान यज्ञ मानसिक व्यापार के आधीन है तथापि आत्मा
का स्वरूप जो ज्ञान से केवल मन का परिणाम अर्थात् ब्रह्मरूप होना भाव है
और ज्ञान कुछ मानस व्यापार से प्रगट नहीं है और ज्ञान की श्रेष्ठता से हेतु
यह है कि फलके सहित सर्व कर्म तत्त्वज्ञान के अन्तर्भूत हैं क्योंकि लोगोंके किये
ज्ञेय सत्कर्म ज्ञान के अनुगामी कहे साथ होते है यह वेद मे कहा है सोई इस
श्लोक से कहा कि श्रेष्ठ है द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ हे परन्तप और सब कर्म हे पार्थ
अर्जुन ज्ञान मे परिसमाप्त कहे लीन होते है इसी से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥
जो कहो कि भला जिस ज्ञान की ऐसी प्रशंसा करते हो सो किस प्रकार से प्राप्त
होय तो ज्ञान के साधन कहे उपाय कहते हैं कि ज्ञानी पुरुषों के निकट जाय
नम्रता से प्रणाम कर प्रश्न करै कि किस कारण से हमको यह संसार भया और
कैसे निरुक्त होगा और गुरु की सेवा श्रुत्युपा करने से तुम को सो तत्त्वज्ञान
मिलेगा और ज्ञानी जो शास्त्रज्ञ तथा तत्त्वदर्शी जो हैं वे तुम को उपदेश दे वार

व्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥ यज्ज्ञात्वा त्वान पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यग्रेष्वेष्टद्रव्यस्यात्मन्यवमोयि ॥ ३५ ॥ अपि चेदसि पापिभ्यः सर्वेभ्यः पापकृ-
त्तमः । सर्वज्ञानज्ञेनैव दृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥ यथेषांसि सन्निहोऽग्निर्भस्म
सात्कुशतेर्जुन । ज्ञानाग्निं सर्वकर्माग्निमस्य सात्कुशते तथा ॥ ३७ ॥ न हि ज्ञानेन

आपा अनुवाद

तत्त्वज्ञान सम्पन्न कर देंगे सोई कहते हैं कि देखवत तथा मन्त्र औ सेवा करनेसे तत्त्वदर्शी ज्ञानी लोग तुम को ज्ञान उपदेश करेंगे और जैसे वन्ध औ भोज तथा ज्ञान औ अज्ञान का वस्तु है सो कहेंगे ॥ ३४ ॥ अब साठे श्लोकसे तत्त्वज्ञानका फल कहते हैं कि तत्त्वज्ञान होने से फेरि और बन्धवध निमित्त ऐसे मोह को न प्राप्त होउगे फारण यह कि ज्ञान सम्पत्ति होनेसे अपने अज्ञानवशते प्रगट जो पिता पुत्र भाई वन्धु तिनको अपने आत्मासे भिन्न न देखोगे और साक्षात् परमात्मारूप हमसे और अपने आत्मा मे अभेद देखोगे सोई कहते कि जिस ज्ञान को जानि के हे पाण्डव फेरि ऐसे मोह को न पावोगे और जिस मे सम्पूर्ण प्राणियों को अपने और मेरे मे देखोगे सो तत्त्वज्ञान महात्माओं से मिलैगा ॥ ३५ ॥ और जो सब पापी मनुष्यों से भी तुम अधिक पापी होउ तो भी पापरूप समुद्र को ज्ञान रूप नौकाके द्वारा अनायास उतरि जावगे तात्पर्य यह है कि जो तुमने कहा था कि पापमेवाश्रयेदस्मान् अर्थात् कुटुम्ब के मारने से हमें बड़ाही पाप होगा और बन्धवधरूप दृजिन कहे दुख सागर के पार कैसे जायंगे सो यह अज्ञान से तुम्हारी भूल सहज उपाय आत्म ज्ञान से छूट जायगी ऐसे कहि कर श्रीभगवान ने ज्ञान का माहात्म्य कहा ॥ ३६ ॥ जो पूर्व श्लोक मे कहा कि ज्ञान नौका से पाप समुद्र को उतरि जाउगे सो ठीक है पर पाप तो बना रहा इस सन्देह पर दृष्टान्त दे कर कहते हैं कि हे अर्जुन जैसे प्रखलित अग्नि काष्ठ समूह को भस्म कर देती है तैसे ही ज्ञानअग्नि भी प्रारब्ध कर्म को छोड और सम्पूर्ण सञ्चित आगामी कर्मों को नाश करती है इस मे कुछ सन्देह न करो ॥ ३७ ॥ तिस का कारण यह है कि संसारमे तप दान व्रत यज्ञ आदिके बीच ज्ञानके समान कोई भी चित्तशुद्ध नहीं करते हैं तो फेरि सब मनुष्य को नहीं ज्ञान ही का अभ्यास करते

सदृशंपवित्रमिहविद्यते । तत्सुखंयोगसंसिद्धःकालेनात्मनिविन्दति ॥ ३८ ॥ यद्वा
वानुलभतेज्ञानंतत्परःसंयतेन्द्रियः । ज्ञानंलब्ध्वापरंशान्तिमचिरेणोधिगच्छति॥ ३९
अज्ञश्चायद्धानश्चसंशयात्माविनश्यति । नायंलोकास्तिनपरोनसुखंसंशयात्मनः ॥ ४०

भाषा अनुवाद

इस पर डेढ़ श्लोक से कहते हैं कि वज्रत काल कर्मयोग करने से शुद्धचित्त होय
सहज में लोग आत्मा का तत्त्वज्ञान लाभ करते हैं परन्तु निष्काम कर्मयोग रूप
को भक्ति तिसके बिना तत्त्वज्ञान नहीं होता है सोई कहा कि न हि ज्ञानेन सदृशं
॥ ३८ ॥ और भी कहते हैं कि यद्वावान् कहे आचार्य्य तथा गुरु के उपदेश में
विश्वास करि आत्मीक बुद्धि हो तत्पर कहे एक उसी उपदेशमें दत्तचित्त हो और
इन्द्रियों को बंध राखि कर वह तत्त्वज्ञान लाभ करै है इसी से ज्ञान लाभ के
पहिले यद्वापूर्वक विज्ञाशुद्धि के अर्थ निष्काम कर्म रूप भक्तियोग करना उचित है
और ज्ञान होने पर ज्ञानी को फेरि अन्य कोई कर्म करना नहीं है सोई कहते
हैं कि तत्त्वज्ञानी ज्ञानलाभ के अनन्तर अचिरात् कहे अल्प काल में भट्ट पट
भोज्य पावते है इस में सन्देह नहीं है ॥ ३९ ॥ तत्त्वज्ञान के अधिकारी को कहि
करि अब अनधिकारी जो अज्ञानी तिसका लक्षण कहते हैं कि एक तो शास्त्र औ
गुरु तथा आचार्यका उपदेश कभी सुना नही और जी देवात् सुनाभी तो समझा
नहीं और जो कुछ किसी तरह समझाभी तो उस में यद्वा अर्थात् विश्वास न भई
और जो किसी के कहने सुनने से विश्वास भी आई तो यह अर्थ कहे प्रयोजन
हमारा सिद्ध होय कि न होय इस संशय में पड़ गये ऐसे लक्षणों से भरे पूरे जो
अलक्षणी अज्ञानी लोग है उनका मतलब कभी नहीं होता अर्थात् अपने मनोरथ
से भट्ट होते है उनी को नष्ट प्राणी कहते है परन्तु उपर कहे जो अज्ञानी औ
यद्वाहीन तथा संशयग्रस्त इन तीन पुरुषोंके मध्य में संशययुक्तचित्त मनुष्य अच्छी
तरह अपने मनोरथसे भट्ट होता है क्योंकि उसको हरकाम औ हर वातमें संदेह
लगी रहती है क्या धन उपार्जन क्या विवाह क्या दान धर्म क्या अपना सुख खाना
पहिराना लेना देना आदि सब कामों में संशय के मारे चणभरभी सुख नहीं है
फेरि औरोंको देखि हम कुछ नहीं करते यह चिन्ता जुटी गिरपर चटी रहती

योगसंन्यस्तकर्माणां ज्ञानसंक्छिन्नसंशयं । आत्मवन्तान्कर्माणि निवृत्तिधनञ्जय ॥
॥ ४१ ॥ तस्मादज्ञानसम्भूतं हृतं स्तं ज्ञानासिनात्मन । चित्त्वेन संशयं योगमाति
ष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥ इति श्रीभगवद्गीतायां ज्ञानयोगनामचतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

भाषा अनुवाद

है तो फेरि संशयके कारण धर्म न होनेसे स्वर्गादिभी नहीं मिलता और संसारमें तो धन नाशकी सन्देह कर सासारिक सुखसे हाथ धोयही बैठे हैं तो उनके लोक परलोक के दोनों सुख चले गये केवल चिन्ता के चिन्ता में बैठे धीरे धीरे जरि जरायके भाटीमें मिल गये मूर्खतासे दृष्टा जन्म पला गया कुछभी न बन पड़ा सोई कहा कि अज्ञानादयद्धानस्य संशयात्मा विनश्यति इति इस से संशय छोड़ो ॥ ४० ॥ दूसरे औ तीसरे अध्याय में कहा जो कर्मनिष्ठा औ ज्ञाननिष्ठा सोई दो लोक से कहते हैं कि जिसने भगवत् आराधनरूप सब कर्म अन्तर्यामी भगवान को अर्पित किया है प्रैसा मनुष्य अपने कर्मफल से कभी वह नहीं होता और हम कोई कर्म नहीं करते प्रैसे बोध से जिस को देह गेह में आत्मबुद्धिरूप संशय नष्ट हो गई है प्रैसे पुरुषके लोक शिष्यार्थ भिक्षा पर्यटन आदि स्वभावसिद्ध कर्म कभी भी ज्ञानके प्रतिबन्धक नहीं होते हैं सोई कहा कि योग जो भगवदाराधन कर्म तिससे दिया है कर्मोंको संन्यास जिसने और ज्ञानसे अच्छो तरह दूर किया है सन्देहको जिसने प्रैसे आत्मस्वरूप पुरुषको है धनञ्जय अर्जुन कर्मवन्धन नहीं कर सकते हैं ॥ ४१ ॥ जब कि भगवदर्पणरूप निष्काम कर्मयोग और ज्ञानयोग ऐसा है तो है भारत अर्जुन आत्मविषयक अपने अज्ञानसे उत्पन्न औ अन्त कारण में टिके जो शोक मोह आदि सब संशय उन को देह आत्मा का विवेक कहे विचाररूप ज्ञानखड्ग से काटि कर बेखटक तुम उठो औ कर्मयोग का अनुष्ठान करो और उपस्थित जो युद्ध से करो श्रीकृष्णने भारत इस सम्बोधन से यह जनाया कि युद्ध क्षत्री का स्वधर्म है और तुम खेठ भरत वंशमें उत्पन्न हो । श्रीधरखामी कहते हैं कि पुरुषों को अवस्था भेदसे कर्ममय औ ज्ञानमय ये दो प्रकार की निष्ठा जिसने कहा ऐसे संशय निवारण भगवान श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूं ॥ ४२ ॥ इति जगन्नाथसुल्लविरचितायां भगवद्गीतायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

पञ्चम अध्यायः ।

अर्जुन उवाच ॥ संन्यासकर्मणां कृष्ण पुनर्योगञ्चैव संसि । तच्छ्रेय एतयोरेकं
तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितं ॥ १ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ संन्यासः कर्मयोगश्च निश्चयेन संकरादु

भाषा अनुवादः

कर्मयोग और संन्यासयोगमें अर्जुन की संशय निवारण करिके अवगततेन्द्रियों की मोक्ष परता श्रीभगवान् श्रीमद्भगवद्गीताके पंचमे अध्यायमें कहैमें अज्ञानमें उत्पन्न भई जो संशय तिस को ज्ञानखड्ग से छेदन करिके निष्काम कर्मयोग करो यह जो भगवान् ने पुनर्बार कर्म करने को कहा तो पूर्वपर कहै आगू पीछू जो कर्मत्याग और कर्म करने को भगवत्की आज्ञा तिस को विचारते ज्ञये अर्जुन कहते हैं कि हे कृष्ण ३ अध्याय के १७ श्लोक में जो आपने कहा कि यस्मात्परतिरेव स्यात् और ४ अध्याय के ३३ श्लोकादि में कहा कि सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञानं परिसमाप्यते यह तत्त्वज्ञानी को सर्व कर्म का त्यागरूप संन्यास ही कहा और ४ अध्याय के ४२ श्लोक में तस्मादज्ञानसंभूतं इत्यादि ज्ञानरूप असि से संशय छेदन करिके उठो और युद्ध करो यह कहि फेरि कर्मयोग की आज्ञा देते हैं परन्तु ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं अर्थात् कर्म का करना और छोड़ना यह एकपुरुष को एकही कालमें असम्भव है सो हे कृष्ण संन्यास अथवा कर्मयोग इन दोनों में जो करने से हमें हितार्थ होंयें सो एक प्रकार विषय निर्धार करिके कहो और कभी संन्यास कर्म कर्मयोग कहि कहि हमें सन्देहमें बार बार न डारो ॥ १ ॥ अर्जुन की इस प्रश्नका उत्तर श्रीभगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन हम वेदान्ती

भौ । तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥ ज्ञेयः स नित्यः संन्यासी वेदो न द्वेष्टि न कांक्षति । निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥ ३ ॥ सांख्ययोगौ

भाषा अनुवाद

तत्त्वज्ञानी के प्रति कर्मयोग करना नहीं कहते हैं क्यों कि तत्त्वज्ञानी को कर्म त्याग के उपदेश से विरोध पड़ेगा परन्तु देह चाटि में आत्मचमिमानों तम को जो वन्धुवध निमित्तक शोक मोह से उत्पन्न संशय तिस को खूल शरीर औ आत्मा का विवेक रूप खड्ग से छेदन के अनन्तर तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने की उपाय रूप जो निष्काम कर्मयोग सोई अनुष्ठान करने को कहा है देखो निःकाम कर्म करने से चित्तशुद्ध होके तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर ज्ञान के परिपाकार्य ज्ञान निष्ठा का अह भूत कर्मके त्याग को मैंने कहा है परन्तु ज्ञानमार्ग में आरूढ पुरुष को कर्मका त्याग और अनारूढ पुरुष को भगवदाराधन निःकाम कर्मयोग कहा सोई कहते हैं कि संन्यास औ कर्मयोग ये दोनो निःश्रेयस सुक्ति के करने वाले हैं परन्तु दोनो के बीच संन्यास से कर्मयोग ही अधिक है जिस हेतु कर्म योग से ज्ञान प्राप्त होके तब संन्यास अर्थात् कर्मका त्याग निहित है और पहिले होनही ॥ २ ॥ जो संन्यास से कर्मयोग को विशेष कहा सोई अब कर्मयोग की प्रशंसा करते ऊँचे कहते हैं कि जो कर्म करता ऊँचा भी न किसीसे बैर करता और न कुछ चाहता है तथा सुख दुःख हानि लाभ इन्द्रभावसे रहित है सोई नित्य संन्यासी है और संसार बन्धन से छूट जाता है अथवा संन्यासी के ऐसे आचरण करता ऊँचा जो राग द्वेष रहित कर्म करता है सो नित्य संन्यासी कहे सिद्ध्य संन्यासी और संन्यासी तो संन्यासी ही है क्यों कि कर्म संन्यास अष्ट है इहा एक संन्यासी पन्थपर है ॥ ३ ॥ जिस हेतु संन्यास औ कर्मयोग दोनो प्रधान अर्द्ध रूप अवस्था भेदमे पाये जाते हैं इस से इस से कौन अष्ट ऐसा पढ़ना अज्ञानी को तो उचित हो सकता है पर ज्ञानी को तो नहीं यही कहते हैं कि ज्ञान-निष्ठा जो सांख्य औ उसी का अंगरूप संन्यास तथा संन्यास से उचित कर्मयोगभी संन्यास है इन दोनो का फल एक ही है तौ भी दोनो भिन्न हैं यह केवल अज्ञानी कहते हैं औ पण्डित ऐसा नहीं कहते हैं देखो इनमे से एक पक्ष का आश्रय लेने

एथगवालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः । एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्युद्धे फलं ॥ ४ ॥ यत्
सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तदगौरपि गम्यते । एकं सांख्यं च योगश्च यः पश्यति स पश्यति
॥ ५ ॥ संन्यासी क्षुप्तमहाबाहो दुःखमाप्नुमयोगतः । योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्मनचिरेणाधिग

भाषा अनुवाद

बाला पुरुष दोनों के फल को प्राप्त होता है जैसे लोग निःकाम कर्म करते शुद्ध
चित्त होय तत्त्वज्ञान प्राप्ति के द्वारा उस दोनों का फल जो कैवल्य से लाभ करते
हैं ऐसेही सब कर्म त्यागरूप संन्यासकारी लोग भी पूर्वकृत कर्मयोगकी परम्परा
रूप जो कैवल्य से पावते हैं तो अलवृत्ता दोनों का फल एक नहीं है । सोई
कहा कि सांख्य औ योग को बालक कहे अज्ञान भिन्न कहते और पण्डित नहीं
कहते हैं एकमे भी अच्छी तरह से स्थित होके फल दोनों का भी पावता है इससे
दोनों एक हैं ॥ ४ ॥ सांख्य औ योग दोनोंमे से एकके सम्यक् अनुष्ठान करनेसे
दोनों का फल किस तरह पावता है इस बद्धा पर सांख्य औ योगका एक फलत्व
प्रकाश करते ऊँचे भगवान कहते हैं कि सांख्य कहे ज्ञाननिष्ठ संन्यासी जो मोक्ष
पद पावते हैं सोई पद योग शब्द वाच्य कर्मयोगीभी ज्ञानके द्वारा प्राप्त होता है
इससे एकही फलके हेतुरूप संन्यास औ योगको जो एकरूप देखते हैं तेई सम्यक्
दर्शी हैं सोई कहा कि जो पद सांख्य लोग पावते सोई योग पुरुषोंको भी मिलता
है और सांख्य योग को जो एक देखते सो देखते हैं बाकी खरदास बने बैठे हैं
या जो कोई पिरले ऐसे देखते हैं सब नहीं ऐसे देखते हैं ॥ ५ ॥ जो ऐसा है कि
योगी लोगों को भी प्रथमे संन्यास ही से ज्ञाननिष्ठ हो ती औ ज्ञान के द्वारा
मोक्षपद पावते तो फेर संन्यास से कर्मयोग को अधिक क्यों पीछे कहा उचित
है कि प्रथमहीं से संन्यास करे इस संशय युक्त अर्जुन के प्रति भगवान कहते
हैं कि प्रथम कर्मयोगके किये बिना हे महाबाहो अर्जुन संन्यासका अध्यास करना
अति कठिन औ दुःखका मूल है क्योंकि चित्तशुद्ध भये बिना ज्ञान होना असम्भव
है परन्तु कर्मके अनुष्ठान करनेवाले मुनि लोग चित्तशुद्धि के द्वारा संन्यासी होय
अर्थात् कर्म छोड़ कर अचिरांत कहे शीघ्रही ब्रह्मपद को प्राप्त होते हैं याने ब्रह्म
रूप हो जाते हैं इससे चित्तशुद्धि के पहले निष्काम कर्म करना ही संन्याससे श्रेष्ठ

च्छति॥ ६ ॥ योगयुक्तोविशुद्धात्माविजितात्माजितेन्द्रियः । सर्वभूतात्मभूतात्माकुर्वन्
पिनलिप्यते ॥ ७ ॥ नैवकिञ्चित्करोमीतियुक्तोमन्येततत्त्वित् । पश्यन्ग्रहन्सृ-
जन्विघ्नन्अन्गच्छन्स्वपन्श्चसन् ॥ ८ ॥ प्रलपन्विस्मजन्गृह्णन्विपदितमिपन्नपि ।

भाषा अनुवाद

होता है ॥ ६ ॥ जो ऐसा कहो कि कर्मके अनुष्ठान से चित्तशुद्धि प्रवृत्ति पर
म्परा प्रणाली क्रमसे ब्रह्मज्ञान होने के अनन्तर इस ज्ञानीका पूर्वकृत कर्म प्रति
बन्धक क्यों न होय इस आशङ्का पर कहते हैं कि जो पुरुष योगयुक्त अर्थात्
निष्काम कर्मयोग रूप भक्ति अनुष्ठान करता है और जिसने चित्त तथा इन्द्रिय
गण अपने बधीभूत कर राखा है और जो अपने आत्मा को शरीर धारी दूधरे
प्राणियों के आत्मा से भिन्न बुद्धि न करके सर्वभूत में टिका जो चेतनरूप आत्मा
तिसको अद्वैत कहे एकरूप विचार कर देखते हैं इसीसे वे लोग शुद्धचित्त भिन्ना
ने अर्थ अथवा स्वभाव आधीन शौच भिन्ना आदि जो सब कर्मों को करते ऊँचे भी
उन कर्मों में लिप्त नहीं होते न कर्म उनको लगते हैं ॥ ७ ॥ और जो ऐसी
शङ्का करो कि कर्म अनुष्ठान करके भी उसमें लिप्त कहे आशङ्क न होना यह
अत्यन्त असम्भव है लिप्त होहीगा इस पर दो श्लोक से कहते हैं कि कर्तृत्व अभि-
मान रहित होना असम्भव नहीं है क्योंकि निष्काम कर्मयोगरूप भक्ति अनुष्ठान
करनेवाले मनुष्य क्रम से तत्त्वज्ञानी होयके दर्शन आदि इन्द्रिय व्यापार करते भी
इन्द्रिय सब अपना अपना काम करती है और हम कुछ भी नहीं करते ऐसी
बुद्धि उनकी निश्चय बनी रहती है यथा दर्शन अबल यर्ष धाण भोजन ये ज्ञान
इन्द्रियोंके व्यापार और गमन वचन विस्मरण कहे विषा मूद्यत्याग जो कर्म इन्द्रियों
के काम और ग्रहण जो कर का व्यापार औ स्वपन् बुद्धिव्यापार निद्रा होना चैनन्
प्राणवायु व्यापार और उन्मेष निमेष कहे पलक लभना खुलना जो कूर्म वायु से
होता है यह सब इन्द्रिय आदिका कर्म है और हम दृष्टा साक्षी रूप है यह कुछ
कर्म हम नहीं करते ऐसे ही ज्ञानी पुरुष इन कर्मोंमें अभिमान शून्य लिप्त नहीं
होते है सोई कहा दो श्लोक से कि इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते इति धारयन् यद्वां
तक ॥ ८ ॥ आठ नव दोनों श्लोक का अर्थ एकही साथ है ॥ ८ ॥ और जो मनुष्य

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ८ ॥ ब्रह्मस्थायी कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा क
रोति यः । लियते न स प्राप्तेन प्रज्ञपन्नमिवात्मसा ॥ १० ॥ कायेन मनसा बुद्ध्या केवले
रिन्द्रियैरपि ॥ योगिनः कर्मकुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥ युक्तः कर्मफलं त्य
क्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकी । अयुक्तः कामकारेण फले शक्तो निवध्यते ॥ १२ ॥ सर्व

भाषा अनुवाद

हम कर्म करते हैं ऐसा अभिमान रखते हैं तैर्द कर्मसे लिप्त होते औ उन्ही को
कर्मबन्ध होता है फेरि चित्तकी अशुद्धता से उनको संन्यास भी दुर्बल है इस से
उनको सब तरह शङ्कट है जो ऐसी शङ्का करो तो यह उत्तर सुनो कि अन्त
र्यानी ईश्वर की प्रेरणा से हम सब कर्म करते हैं ऐसे विचार करि सकल कर्म
ईश्वर मे समर्पण करके औ कर्म कालमे आशक्ति रहित कर्म करते हैं तो उनको
कर्म प्रतिबन्धक नहीं होते और वे कर्म से लिप्त नहीं हैं जैसे पशुपद जलमे निर
न्तर रहते भी जलसे अलग हैं सोई कहा कि ब्रह्ममे कर्म अर्पण करि सङ्ग कहे
आशक्ति छोडि जो कर्म करै हैं सो प्राप से नहीं लिप्त होता जैसे कमलफा पत्ता
जलमे रहिके भी जलसे भिन्न है ॥१०॥ निष्काम कर्मबन्धक नहीं है इस कहनेके
बाद अब उत्तम मनुष्यों को कर्म के द्वारा मुक्ति दिखावते हैं कि शरीरसे ज्ञानादि
मनसे ध्यानादि औ बुद्धिसे तत्त्व निश्चयादि तथा कर्म मे आशक्ति रहित औ फला
मिलाप शून्य होकर इन्द्रियो के द्वारा अयण कीर्तन चिन्तन आदि चित्तशुद्धिके
अर्थ कर्मानुष्ठान योगीजन कर्म करते हैं सोई कहा कि काय मन बुद्धिसे आत्म
शुद्धिके हेतु सङ्ग छोडि योगीजन कर्म करते हैं ॥११॥ जो ऐसी शङ्का करो कि
वही एक कर्मसे कोई तो मुक्त औ किसीको बन्ध यह कैसी व्यवस्था है तो इसका
निवारण करते हैं कि योगी कर्मकारी पुरुष ईश्वरमे एक निष्ठ हो कर्मफल
को त्यागि कर्म अनुष्ठान करिके अत्यन्त शान्ति स्वरूप जो मुक्ति तिसको प्राप्त
होते हैं परन्तु अयुक्त कहे कामना विशिष्ट कर्म वहिर्मुख लोग काम्यकर्म से
अवश्य ही बद्ध होते हैं युक्त कहे ईश्वरार्थ कर्म करने वाले ॥१२॥ इन सब बातों
से अशुद्ध चित्त मनुष्य को संन्यास की अपेक्षा निष्काम कर्म करना ही श्रेष्ठ है
यह विस्तार पूर्वक कहि कर अब शुद्धचित्त पुरुष को संन्यास ही श्रेष्ठ है -

कर्माणि मनसा संन्यस्यास्तिसुखं वशी । नवद्वारे पुरे देहो नैव कुर्बन् कारयन् ॥ १३ ॥
 न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः । न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥
 नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव मुञ्चते विभुः । अज्ञानेनादत्तं ज्ञानं तेन मुञ्चति प्रविवेकः ॥ १५ ॥

भाषा अनुवाद

कहते हैं कि जितचित्त विवेकयुक्त बुद्धि के द्वारा विघ्नेष कारक सब कर्म छाड़ि कर जैसे सुखमें रहते तैसे ज्ञाननिष्ठ यक्त होके भी सुखमें रहते हैं जो कहो कि कहाँ रहते तो कहते हैं कि नवद्वार पुर जो अहङ्कार अन्य शरीर तिसमें आत्म स्वरूप से स्थित रहते हैं और अहङ्कारके अभावसे आप शारीरिक कर्म नहीं करते और ममताके अभाव से दूसरे से भी वे कोई काम नहीं करावते हैं यह शङ्ख औ अयुडचित्त मनुष्यों का भेद भगवानने कहा ॥ १३ ॥ ईश्वर जिस को इस लोकसे यष्ट लोक को लेजाने की इच्छा करते हैं उससे सत्कर्म करावते और जिसे अघो लोक लेजाने की इच्छा करते उससे कुकर्म करावते हैं यह श्रुतिमें कहा है तो परमेश्वर की प्रेरणासे पराधीन जो मनुष्य सो कैसे वे कर्मत्याग करने शकै एक तो यह दूसरे जो परमेश्वरही की प्रेरणासे शुभ अशुभ कर्ममें लोग प्रवृत्त होते हैं तो ईश्वर भी विषम दृष्टि औ निर्दय है फिर कर्मों का करावते वाला भी वही है तो उसको भी पुन्य पाप सम्बन्ध होय न खों जो यह शङ्कन करो तो इस का सिद्धान्त लोकसे कहते हैं कि प्रभु जो ईश्वर सो मनुष्यों को कर्तृत्व अथवा कर्म सृजन नहीं किया किन्तु मनुष्यों को पूर्ण कर्म संस्कार रूप जो अज्ञान सोई कर्तृत्वादिमें प्रवृत्त करै है इसीसे अपनी अमादि अविद्या से कामनाके बन्ध होय प्रवृत्ति युक्त पुरुष को ईश्वर भी कर्ममें नियुक्त करते हैं और ईश्वर कुछ आपसे उसको प्रवृत्ति नहीं देते हैं सोई कहा कि कर्तृत्व औ कर्म तथा फलयोग प्रभुने नहीं किया लोग सब स्वभाव अर्थात् भाषा से प्रवृत्त हैं ॥ १४ ॥ जिस हेतु भगवान न कुछ करते और न किसी से कुछ करावते हैं वे तो विभु कहे व्यापक तथा पूर्ण काम हैं इससे भक्त अमक्त किसीके पुन्य या पापके भागी नहीं है परन्तु परमेश्वर की अचिन्त्य जो भाषा सोई पूर्ण कर्म के अनुसार उच्च नीच कर्म में लोगों को प्रवृत्ति देती और अज्ञान से ज्ञान आवृत्त कहे घेरा है तिससे सब मोहित होते

ज्ञानेन तत्तद् ज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
 परं ॥ १६ ॥ तदुद्भवस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणः ।
 गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्पापाः ॥ १७ ॥ विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
 शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥ इहैव तैर्जितं खर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।

भाषा अनुवाद

है जो कहो कि पूर्ण काम को फेरि भक्तों पर अनुग्रह और अभक्तों का निग्रह क्यों कर बैठे है तो कहते हैं कि परमेश्वर का निग्रह रूप दण्ड अनुग्रह है अर्थात् दण्ड होने से पापीका पाप दूर होजायगा ऐसे दण्डरूप अनुग्रह का न जानना जो अज्ञान सोई परमेश्वर विषयक ज्ञान को आवृत्त करता है तो फेरि जीव मोहित होय अपने अज्ञान से परमेश्वर में विषम दृष्टिका आरोप करते हैं ॥ १५ ॥ और ज्ञान से जिन का अज्ञान नाश हो गया है ऐसे ज्ञानी पुरुषों को पर जो भगवत् स्वरूप सो प्रकाशमान है जैसे सूर्यके प्रकाशसे अन्धकार दूर हो वस्तु सब प्रकाशित होती हैं । लोग केवल अपने मोह से ईश्वर में मोह कल्पना करते हैं ॥ १६ ॥ ऐसे जो परमेश्वर तिनके उपासकों को प्राप्त जो फल होता है सो कहते हैं कि भगवत् की भक्ति से अवश्य ही संसार सागर को उतर जायं गे ऐसी जिन के निश्चयरूप बुद्धि है और तैसे ही भगवद्भक्ति में सम्पन्न और तत्पर है और परमेश्वर ही जिन के परम अवलम्ब है सोई जन ईश्वर के प्रसाद से निःपाप होय मुक्तिपद पाय आवागमन से रहित होते हैं । सोई कहा कि ईश्वर में बुद्धि और ईश्वर में आत्मा और ईश्वर में निष्ठा तथा ईश्वर में परायण पुरुष ज्ञान में निर्धूत कल्पा अपुनरागमन पद मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥ तो वे तत्त्वज्ञानी जो मुक्तिलाभ करते कैसे होते हैं सोई कहते हैं कि विषम वस्तु में सम ज्ञान अर्थात् सकल वस्तु में ब्रह्मरूप देखते हैं जैसे कि विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण और गऊ हाथी कुत्ता तथा चाख्हाल इन सबमें पण्डित कहे ज्ञानी समदर्शी होते हैं अर्थात् सबमें आत्मा रूप ईश्वर को एकरूप देखते हैं ॥ १८ ॥ यह सुनि जो सन्देह होय कि विषम में सम दृष्टि मनुष्य पण्डित कैसे और गौतम ने कहा है कि विषम में सम पूजन और सम में विषम पूजन करने वाले लोक पर लोक

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणोऽस्ति स्थिताः ॥ १८ ॥ न ब्रह्म ज्ञेयं त्रिषं प्रप्राप्य नो दिवेत्
 प्राप्य चाप्रियं । स्थिरबुद्धिरसंशुद्धो ब्रह्मविद्ब्रह्मण्यस्थितः ॥ १९ ॥ ब्राह्मसंशयसंज्ञात्मा विन्द-
 त्यात्मनियत्सुखं । सर्वज्ञयोगयुक्तात्मा सुखमन्वयमनुते ॥ २० ॥ वैश्वसंशयज्ञा-
 भोगादुःखयोनय एवते । आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमन्ते बुधः ॥ २१ ॥ शक्नोतीहैव

भाषा अनुवाद

से नष्ट होते हैं इस सङ्ग को निवारण करते ऊँचे कहते हैं कि जिन का मन
 समभाव में स्थित है उनोंने इहाँ ई स्वर्ग जय कर लिया है क्योंकि सर्वत्र समान
 रूप निर्दोष ब्रह्म परिपूर्ण हो रहा है ऐसा जो जानते हैं ब्रह्म में स्थित कहें ब्रह्म
 रूप निर्दोष और गौतम की बात ज्ञान अवस्था के पहिले की है ॥ १८ ॥ अब
 ब्रह्मभाव प्राप्त पुरुष का लक्षण कहते हैं कि ब्रह्मज्ञानी होके जो ब्रह्म में स्थित
 है वै कोई प्रिय वस्तु पाय के हर्षित नहीं होते हैं और अप्रिय प्राप्त होने से भी
 विषाद नहीं करते हैं क्यों कि वै लोग स्थिर बुद्धि और मोह रहित है ॥ २० ॥
 मोह निवृत्त भाव होने से बुद्धि स्थिर होती इस का ज्ञेय कहते हैं कि ब्राह्म
 इन्द्रियों के विषय में अनाग्रक्त चित्त पुरुष अपने अन्तःकरण में विद्येय रहित
 शान्तियुक्त जो सात्त्विक सुख से अनुभव करते और वही पुरुष शान्तिसुख प्राप्त
 हो के ब्रह्मयोग युक्त आत्मा कहे समाधिके द्वार परमात्मा के साथ एकता की प्राप्ति
 रूप जो अन्वय सुख से भी लाभ करते हैं ॥ २१ ॥ प्रिय जो विषयभोग तिन के
 निवृत्त होने से फेरि सुक्ति पुरुषार्थ अर्थात् परम प्रिय कैसे है इस संशय पर
 कहते हैं कि जो सार्थ आदि विषय और उन विषयों से प्रगट जो सुख से भोग
 समय में स्वर्हा कहे और का अधिक सुख देखि इच्छा की दृष्टि और चावुर्दा ही
 भर है और भोग पीछे कुछ नहीं है खाली चिन्ता मात्र करते हैं इन सब हेतुओं
 से केवल दुःख के कारण है और उन का आदि अन्त भी है इस से हे कौन्तेय
 विवेकी लोक उस विषयसुख भोग में नहीं रमित होते हैं ॥ २२ ॥ इस से सुक्ति
 ही परम पुरुषार्थ है और काम क्रोध से उत्पन्न जो चोम सोई सुक्ति का प्रति-
 पक्ष है अतएव उसके वेगको जो सहि सकै सो सुक्तिभागी होयगा यही कहते हैं
 कि शरीर रहते अवस्था शरीर सामर्थ्य रहते ऊँचे जो काम क्रोध के वेग को

यःसीदुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् । कामक्रोधोद्वेगंसयुक्तःससुखीनरः ॥ २३ ॥
होऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेवयः ॥ सयोगीब्रह्मनिर्वाणब्रह्मभूतोऽधिग-
च्छति ॥ २४ ॥ लभन्तेब्रह्मनिर्वाणस्रपयःक्षीणकल्मषाः । किन्वद्वैधायतात्मानःसर्व-
भूतहितेरताः ॥ २५ ॥ कामक्रोधविमुक्तानांयतीनांयतचेतसां ॥ अभितोब्रह्मनि-
र्वाणवर्त्ततेविदितात्मनां ॥ २६ ॥ स्पर्शान्कृत्वावर्हिर्वाह्याश्चक्षुस्त्रैवान्तरेभ्यो ।

भाषा अनुवाद

सहि लेने सकै सोई नर युक्त कहै आत्मरूप और सुखी है ॥ २३ ॥ और केवल
काम क्रोध का वेग जीतने हीं से मुक्त नहीं होय है और भी कहते हैं कि जो
अपने अन्तरात्मा मे सुखी औ विषयभोग से सुखी नहीं है और जो पुरुष आत्मा
राम हो के आत्माही मे विहार करता औ बाहरके व्यापारसे विरत तथा अन्तर
प्रकाश है अथवा आत्माही मे दृष्टि औ नृत्य गीत आदि विषयों मे दृष्टि नहीं
रखता है सोई योगी इह कहै जीवते ही ब्रह्मरूप ब्रह्म मे लीन होता है ॥ २४ ॥
मुक्ति का हेतु जो ज्ञान तिस की साधन उपाय प्रकारान्तर कहै दूसरी तरह से
कहते हैं कि ऋषि कहै सम्यक्दर्शी संन्यासी लोग जो यज्ञ आदि नित्य नैमित्तिक
कर्म करि क्षीण कल्मष कहै निष्प्राप होके अवयव आदि से ज्ञान के द्वारा किन्
द्वैध कहै संशय रहित हो गये है और जिन का चित्त औ इन्द्रियगण बशीभत
है औ प्राणियों के हितकारी दयाबुद्धभाव अर्थात् हिंसा रहित है वेई ब्रह्ममे
लयरूप मोक्ष पावते है ॥ २५ ॥ और काम क्रोध से विमुक्त ज्ञानी जन संन्यासी
यतचित्त लोग विदित है आत्मा जिनको ते जीवित औ मृत दोनो अवस्थामे मुक्त
है ऐसा नही कि देहान्त मे वे मुक्ति पावमे किन्तु वे जीवते भी ब्रह्म के साथ एक
रूप होय जीवन्मुक्त ऐसे प्रसिद्ध होते हैं ॥ २६ ॥ इसी अध्याय के २४ लोक से
कहा कि योगी मोक्ष पावै हैं सोई फेरि संक्षेप से कहते हैं कि शब्द स्पर्श आदि
वर्हिर्विषयो को बाहर करिके और बच्चु कहै दृष्टिको मोंहके मध्य मे राखि प्राण
अपान वायुको सम करि के कुम्भक प्राणायाम करै भूमध्य मे दृष्टि इस लिये कहा
कि नेत्र बन्द करने से निद्रावश हो मन लय कहै लीन हो जाता और खुले रहने
से मन विषयों पर धावता है अवबुद्धे रखने से भू के बीच निकटही दृष्टि रहती

प्राणायामनैसमौल्यत्वानासाव्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥ यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्ष
 परायणः । विगतेच्छाभयक्रोधोयःसदासुक्तएवसः ॥ २८ ॥ भोक्तायन्नतपसांस
 र्वलोकमहेश्वरं । सुहृदंसर्वभूतानांज्ञात्वाभाशान्तिमश्नुते ॥ २९ ॥ इति श्रीमद्भग
 वद्गीता सूत्रनिपत्सु संन्यासयोगनाम पञ्चमोऽध्याय ॥ ५ ॥

भाषा अनुवाद

है और दोनों वायु सम करि नासिका रन्ध्र से सञ्चार करती है जिस से प्राणवायु
 बाहर और अपान भीतर सञ्चार न करै इसवासे कुम्भक प्राणायाम योग करै ॥
 २७ ॥ और इसी उपाय से जिस की इन्द्रिय और मन बुद्धि आदि बशीभूत हैं
 और सुक्ति प्राप्ति के योग्य है और जिसने इच्छा भय क्रोध को दूर किया है ऐसे
 गुणों से सदा युक्त जो सुनि सो जीवनकाल में भी सुक्त अर्थात् वह कर्मरहित
 जीन्मुक्त है ॥ २८ ॥ जो कहो कि इन्द्रिय मात्र ब्रह्म करने से कैसे सुक्त होय
 तिस पर कहते कि हा सुक्ति ज्ञान ही के द्वारा होती है देखो हमारे भक्तों से
 समर्पित यज्ञ और तप के अथवा चित्तरूप भोक्ता और प्रतिपालक सर्व लोक में श्रेष्ठ
 ईश्वर सब से निरपेक्ष अन्तर्यामी रूप हम को जानि कै योगी लोग मेरी अनुग्रह
 से शान्ति कहे मोक्ष पावते हैं ॥ २९ ॥ श्रीधर स्वामी कहते कि जो अर्जुन की
 कर्मयोग और ज्ञानयोग को पृथक् शङ्का निवारि कै जिसने क्रम से देने को एक
 कहा है सोई जगत गुरु श्रीकृष्ण को हम प्रणाम करते हैं ॥ इति जगन्नाथ सुक्त
 विरचितायामनभावनीटीकायां पञ्चमोऽध्याय ॥ ५ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

पठ सञ्जयायः ।

श्रीभगवानुवाच । अनाथितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । संन्यासी च योगी च

भाषा अनुवाद

श्रीधरस्वामी छठवें अध्यायके आरम्भमें वर्णन करते हैं कि मनुष्यों को भित्त गुह होने से भी ध्यानके बिना केवल संन्यास मात्रसे सुक्ति नहीं मिलती है इसी हेतुसे श्रीभगवान् छठवें अध्यायमें ध्यानयोगको विस्तार करि कहते हैं कि प्रज्ञम अध्यायके अन्तभागमें संक्षेप से कहा गया जो ध्यानयोग सोई विस्तार करने को छठवें अध्यायका आरम्भ अर्थात् सर्व कर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी इति ५ अध्यायके १३ श्लोक से सर्व कर्मा त्याग पूर्वक ज्ञाननिष्ठा की प्रशंसा करने से और कर्म अनुष्ठान क्लेशकारी है इससे हठात् कर्म त्याग की अवस्था के बिना भी कर्म का त्याग मनुष्यों के मनमें होय उठै है सो तिसके निवारण के अर्थ कर्म छोड़ने से कर्म करना अच्छे है यह कहि कर्म योगकी बड़ाई करते ऊँचे भगवान् कहते हैं कि ॥ अनाथितः कहे कर्म फलकी आकांक्षा रहित होय कर सब कर्म अवश्य ही कर्त्तव्य है इस विचार से जो विहित कर्म का अनुष्ठान करै सोई संन्यासी औ सोई योगी है नहीं तो निरग्नि कहे अग्निसाध्य यज्ञादि कर्म त्यागी औ अक्रिय अर्थात् वेद्यज्ञ के कर्म कुंवां ताल वावडी खनन तथा दानादि कर्म त्यागी होके लोक चमने को योगी समझेंगे किन्तु ऐसा नहीं है तात्पर्य यह कि फल ही का त्याग उचित कर्म का त्याग नहीं अर्थात् उपर लिखे सब कर्म विष्णुप्रीत्यर्थ करना ही चाहिये सोई कहा अनाथितः कर्मफलं कार्यं कर्म करो

ननिरग्निर्नचाक्रियः ॥ १ ॥ यंसंन्यासमितिप्राज्जयौगंतंविद्विपाण्डव । नह्यसंन्यस्तसंकल्पोयोगीभवतिकश्चन ॥ २ ॥ आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते । योगारूढस्तस्यैवशमःकारणमुच्यते ॥ ३ ॥ यदाहिनेन्द्रियार्थेषुन कर्मस्वनुपज्जते । सर्वसङ्कल्पसंन्यासीयोगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥ उदरेदात्मनात्मानंनात्मानमवसादयेत् ।

भाषा अनुवाद

तितः ॥ १ ॥ यह सुनि अर्जुन ने पुछा कि हे छष्प किस कारण से वै मनुष्य योगी औ संन्यासी नहीं है इस पर कर्म योगको संन्यास प्रतिपादन करते ऊँये कहते है कि हे पाण्डव अर्जुन संन्यास मात्र ही को जो सब युतियोने येठ कहा है सोइ फल संन्यास रूप कर्म को भी जानो जो कहे कि कैसे जानै तो कहते है कि इति शब्द से कहे जो हेतु सो योग मे भी है सोइ डेठ लोक से कहते है कि कर्म निष्ठ या ज्ञान निष्ठ जो होय पर फल की इच्छा त्याग बिना योगी नहीं इससे फल कामना मे जिसका वित्त विच्छिन्न नहीं सोई योगी औ संन्यासी है सोइ कहा नह्यसंन्यस्त कङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥ तौ फेरि जावत् जीवन कहे जिन्दीगीभर कर्मयोग ही करना चाहिये जो ऐसी शङ्कन कर तो कर्मयोग की अवधि कहते है कि ज्ञानयोग मे आरूढ होने की इच्छा करने वाले पुरुष को उस राहके चढने मे कर्म ही कारण रूप कहा है क्यों कि निष्काम कर्म चिन्तशुद्धि करता है और ज्ञानयोग आरूढ कहे ज्ञानी को शम कहे विक्षेपकारी कर्म सकल का त्यागही उचित जिसलिये त्याग ज्ञान परि पाक का कारण रूप कहा है ॥ ३ ॥ जो पूछो कि यह ज्ञानयोग आरूढ पुरुष जिसको विक्षेपकारी कर्म का त्याग कहा गया कैसा होता है तो कहते है कि जब इन्द्रियो के भोग जो विषय तिनमे और भोग के साधन भूत कर्मी मे आशक्त न होय और कर्म संकल्प को छोडि सकै तब उस को योगारूढ कहते है ॥ ४ ॥ देखो विषयों मे ईच्छा निवृत्ति होने से मोक्ष औ विषयो मे आशक्ति से बन्ध होता है यह विचारि रागद्वेषादि स्वभाव से रहित होना उचित सोई कहते है कि विवेक युक्त आपही अपने आत्माको बुद्धिके द्वारा संसार से उतार करैगा और अधोगति को न ले आयगा जिस हेतु कामनासे निवृत्त जो आत्मा कहे मन सोई

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥ बंधुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना
जितः । अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥ जितात्मनः प्रशान्तस्य परमा
त्मा समाहितः । शीतोष्णसुसुखदुःखेषु तथा मानावमानयोः ॥ ७ ॥ ज्ञानविज्ञानात्
प्रात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः । युक्त इत्युच्यते योगी समलो द्वाक्काञ्चनः ॥ ८ ॥ सह

भाषा अनुवाद

अपना बन्धुरूप उपकारी है और कामनामें आशक्त जो मन सो शत्रुरूप अपकारी
है तो अपना शत्रु मित्र आप ही है ॥ ५ ॥ अब आत्मा ही तो किसी मनुष्य का
बन्धु औ किसी का रिपु है इस अर्थेचा पर कहते हैं जिसने अपने आत्मा को जीता
अर्थात् विज्ञानमय आत्मा कर्तृक कार्य कारण मिलित रूप जो आत्मा स्थूल
सूक्ष्म शरीरादि वशीभूत होती है सोई विज्ञानमय जीव अपना बन्धु है और
अनात्मा कहे शरीरादि अवशीलत जो है सोई आप अपना शत्रु तुल्य है ॥ ६ ॥
जितात्मा पुरुष को जो अपने आत्मामें बन्धुता है सो खुलासा करिके करते हैं
कि जिसने आत्मा को शरीर आदि तिष्ठ को जीता अर्थात् अपने अधीन किया है
केवल वह प्रीति विरोध आदिसे रहित मनुष्य का मन शीत उष्ण सुख दुःख
आदिमें समाहित कहे सायधान रहता है अर्थात् वही आत्मानिष्ठ है अथवा उसी
का हृदय परमात्मा में समाहित अर्थात् विक्षेप रहित निश्चल होता किसी का
और समाहित नहीं हो सकता है ॥ ७ ॥ योग आरूढ पुरुष के लक्षण औ येछता
कहते हैं कि ज्ञान कहे साक्षसे अथवा गुरुके उपदेश से हो होय और विज्ञान
जो अनुभव सिद्ध अर्थात् हम सोई वक्ष्य हैं यह प्रत्यक्ष ज्ञान इन दोनों से जिसका
आत्मा कहे चित्त सन्तुष्ट है और जिस ने इन्द्रियगण को जीता है तथा ढेला
पत्यर सोना ये जिसको समान अर्थात् लेने छोड़ने की बुद्धि जिसे नहीं ऐसा
जो निरपेक्ष निर्बिकार कूटस्थ कहे अचल के तुल्य निश्चल पुरुष सोई युक्त योगी
कहे योगारूढ है ॥ ८ ॥ और शत्रु मित्र आदि में जो समदर्शी मनुष्य सो योगी
से भी अधिक है यह कहते हैं कि सुहृद कहे स्वभाव से हित कारी औ मित्र
जो स्नेह वशते उपकारी औ अरि कहे घातक जो शत्रु औ उदासीन अर्थात् उप
कार अपकार दोनों से अलग निरपेक्ष जो औ मध्यस्थ कहे पक्षपात बिना दोनों

स्मिन्नार्थदासीनमध्यस्थद्वेषवंचपु । साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ८ ॥ यो
 गीयुञ्जीत स तमात्मानं रहसि स्थितः । एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥
 शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छ्रितं नातिनीचं नैलाग्निं कुशोत्त-
 रं ॥ ११ ॥ तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः । उपविश्यासने युज्याद्योगमा-
 त्मविशुद्धये ॥ १२ ॥ समं कायशिरोग्रीवं धारयन् च लंस्थिरः । संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं

भाषा अनुवाद

और हितकारी औ द्वेष अर्थात् निःप्रयोजन शत्रु जो अकारण क्रोधी औ बन्धु-
 जिनसे कुछ सम्बन्ध है औ साधु कहे सुशील सुन्दर आचरण जिनका है तथा
 पाप जो दुराचारी इन सबके विषे जिस की बुद्धि समान कहे प्रीति विरोध
 रहित है सो विशिष्ट कहे योगो से अधिक है ॥ ८ ॥ योगी के लक्षण कहिकार
 अब उसका अङ्गरेख जो योग सो इस श्लोक से ले कर इसी अध्याय के स योगी
 परमात्मतः इस ३२ श्लोक तक कहते हैं कि योग आरूढ़ पुरुष सङ्ग रहित होय
 जिस के अन्तःकरण औ शरीर ब्रह्मभूत हैं सो निराकाङ्क्ष सर्व परिग्रह रहित
 एकात्मक मे अकेला सावधान बैठि कर अपने आत्मा कहे मन को निरन्तर
 भगवत के मनन मे युक्त करै ॥ १० ॥ उसी योगका आसन औ नियम आदि
 दिखावते ऊये दो श्लोक से कहते हैं कि पवित्र स्थान मे अपने आसन पर बैठने
 के अनन्तर योग आस्था करै आसन कैसा चाहिये कि जो अच्छल औ न बद्धत
 उंचान अग्नि नीचा होय और खेल कहे बल अग्नि व्याघ्रचर्म अर्थात् नीचे
 कुश तब चर्म उपर बल ऐसा आसन करै ॥ ११ ॥ और जिस का चित्त औ
 इन्द्रिय निष्क्रिय कहे व्यापार रहित है सो मन की शान्ति कहे शुद्धि के अर्थ
 उक्त आसन पर बैठने के बाद मन को एकाग्र विषये रहित कर के योग अध्यास
 करै ॥ १२ ॥ अब चित्त को एकाग्रता के उपयोगी जो देश धारणादि सो दो
 श्लोक से कहते हैं कि काय कहे शरीर का मध्यभाग औ शिर ग्रीवं अर्थात् मूल
 आधार से ले कर मस्तक पर्यन्त शरीर अति यत्न से सीधी रास्ते के औ निश्चल
 कर धारणा के बाद अपनी नासिका के अग्रभाग मे अर्ध उम्भीलन पूर्वक दोनो
 दृष्टि लगाय समाहित सावधान होय और दिशों से दृष्टि न देय ॥ १३ ॥ जिस

दिग्गन्धानवलोकयन् ॥ १३ ॥ प्रशान्तात्माविगतभीर्निष्कचारिब्रतस्थितः । मनःसंय-
म्यमश्नित्तोयुक्तश्चासीतमत्सरः ॥ १४ ॥ युष्मन्नेवंसदात्मानंयोगीनियतमानसः ।
शान्तिंनिर्वाणपरमांमत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥ नात्यन्नतस्तुयोगोऽस्तिनचैकान्तम-
नन्नतः । नचातिस्वप्नशोलस्यकाग्रतोनेवचार्जुन ॥ १६ ॥ युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्ट-
स्यकर्मसु । युक्तस्वभावबोधस्थयोगोभवतिदुःखहा ॥ १७ ॥ यदाविनियतचित्तमात्म

भाषा अनुवाद

का चित्त प्रशान्त और जो निर्भय औ मन्त्रार्थ ब्रत में स्थित हो के अपने मन को
सब तरफ से खींच भेरे में लगाया है और जिसको भर्षी परम पुरुषार्थरूप
कहे हुए देव ही ऐसा मत्परायण पुरुष उक्त मत योग में समाहित रहता है
॥ १४ ॥ अब योगाभ्यास करने का फल कहते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से सदा
आत्मा में मन को युक्त करते करते नियत कहे निरुद्ध है मानस अर्थात् चित्त
जिस का सोई शान्ति कहे संसार निवृत्ति को प्राप्त होता है बह शान्ति कि
स्वरूप है सो कहते हैं कि जिस से परम निर्वाण प्राप्त होय है सोई शान्ति
औ मत्संस्था कहे भेरे रूपमें अवस्थिति सो भी उसके मिलै है ॥ १५ ॥ योगा-
भ्यासो को आहार भयन आदि का नियम कहते हैं कि हे अर्जुन अत्यन्त
अधिक आहारी और अत्यन्त निराहारी इन दोनों को भी योग जो समाधि
सो नहीं हो सकती है और अतिनिद्रा करनेवाला तथा निद्रात्यागी इन को भी
समाधि नहीं होती है ॥ १६ ॥ तो फेरि कैसे पुरुष को समाधि हो सकती है
इस अपेक्षा पर कहते हैं कि नियमरूप आहार औ विहार है जिसका तथा कर्मों
में परिमित चेष्टा कहे व्यापार है जिसका और वथा उचित है सोवना जागना
जिस का उसी को योग कहे समाधि होती है और दुःख दूर करती है ॥ १७ ॥
कौन समय में योगसम्पन्न अर्थात् समाधिसिद्ध होगा सो कहते हैं कि जब पुरुष
का चित्त एकाग्र कहे अच्छी तरह सब ओर से रक्कर अर्थात् बाह्य कहे बाहर
के सकल विषयों को छोड़ कर केवल आत्मा में निश्चल रूप से लगे अर्थात् अपने
आत्मा में स्थिति करै और सब मनोरथ को इच्छा न रहे अर्थात् देखी सुनी जो
सासारिक विषय तिन की कामना में खड़ा कहे लपटा न उठै तब वह योगसिद्ध

न्येवावतिष्ठते । निष्कृष्ट सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥ यथा दीपो निवातस्थो
नेद्वत्ते सोपमा स्मृता । योगिना येन तच्चित्तं स्थिरं युज्यते योगमात्मनः ॥ १९ ॥ यद्योपरमते
चित्तं निरुद्धं योगसेवा । यत्तच्चैवात्मनः पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥ सुखमात्यन्ति

भाषा अनुवाद

कहे युक्त समाहित कहा जाता है सोई कहा कि यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवाव
तिष्ठते इति ॥ १८ ॥ आत्माकाराकारितरूप अवस्थित चित्त कहे आत्मरूप ता
को प्राप्त जो चित्त तिस का दृष्टान्त कहते हैं कि जैसे निर्वात स्थान में दीपशिखा
हलचल नहीं होती सोई उपमा कहे दृष्टान्त वागो यह किस का दृष्टान्त है जो
पूछी तो कहते हैं कि आत्मविषयक योगाभ्यासी योगी पुरुष जिस का चित्त वशी
भूत है उसी का चित्त निर्वात स्थान स्थित दीपशिखा के समान आत्मा में स्थिर
है यहा चित्त शब्द का अर्थ अन्त कारण है सो अन्त कारण इति भेद से चारि
प्रकार का है सङ्ख्यात्मक कहे सङ्ख्यारूप अन्त कारण की इति कहे स्वभाव को
मन कहते हैं और निश्चयात्मक अन्त कारण की इति को बुद्धि कहते और अनु
सन्धान कहे किसी वस्तु के जानने के निचे तद्वस्तुरूप हो रहना अनुसन्धानात्मक
अन्त कारण इति को चित्त कहते हैं और अभिमान युक्त अन्त कारण अहङ्कार
कहा जाता है ॥ १९ ॥ यत्संन्यासमिति प्राहुर् योगं तद्विहिं पाण्डव इसी अध्यायके
इस दूसरे श्लोकसे योगही को कर्म कहा है और नात्वन्नतस्तु योगोक्ति इस सोलहें
श्लोक से योगशब्द से समाधि कहा तो इसमें सुख योग किस को कहे इस अपेक्षा
में फल श्री स्वरूप तथा लक्षण क्रम से समाधि ही सुख है यह साढ़े तीन श्लोक
में कहते हैं कि जिस अवस्था में योगाभ्यास में निरुद्ध कहे एकाग्रचित्त होता
है और जिस अवस्था में आप आप अपने स्वरूप को देखते ऊँचे संकुट
होता है ऐसी जो समाधि कहे चित्तइति की एकाग्रता सोई योग है वही पात
ञ्जलसूत्र में कहा कि योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २० ॥ आत्मसन्तोष का हेतु
कहते हैं कि जिस अवस्था विशेष में योगीजन कोई निरतिशय कहे अत्यन्त नित्य
सुख रूप का अनुभव करते हैं जो कहो कि उस अवस्था में तो विषय तन्मय का
अभाव है तो सुख का सक्षय कैसे होय तिस पर कहते हैं कि विषय इन्द्रिय

कंयत्तद्विद्याद्यमनोन्द्रियं । वेत्तियन्ननचैवार्यस्थितश्चलतितत्त्वतः ॥ २१ ॥ यलब्धा
चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः । यस्मिन्स्थितो न दुःखेन शुक्लणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितं । स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा
॥ २३ ॥ संकल्पप्रभवान्कामांस्त्वक्त्वासधीनशेषतः । मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य
समन्ततः ॥ २४ ॥ अने शनैरुपरमेदुद्धाष्टतिष्ठतीत्या । आत्मसंस्थं मनः कृत्वा
न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥ यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमश्चिरं । ततस्ततो

भाषा अनुवाद

सम्यग् से रहित जो केवल आत्माकाररूप बुद्धि से ग्रहण के योग्य है इसी से उस
मे स्थित होय योगी आत्मरूप से विचलित नहीं होते है ॥ २१ ॥ उसी का
अचलत्व प्रतिपादन करते है कि आत्मज्ञानन्द सुख जो आत्मस्वरूप लाभ लक्षित
कहे प्राय करि और लाभ फेरि उस से अधिक नहीं गनते और जिस मे स्थित
होय वडे वडे श्रेष्ठ उष्ण आदि दुख से भी दुखो नहीं होते अर्थात् वडे दुख भी
उस का कुछ नहीं कर सकते है ॥ २२ ॥ ऐसी दुखसंयोग के अभाव अवस्था
विशेष को योग संज्ञा जानो दुःखशब्द से विषयसुख जो है उन को ग्रहण करते
है अर्थात् जिस अवस्था मे दुख का लेशमात्र भी नहीं है सोई अवस्था योग है
दूस से शिरचित्त होय कर निश्चय से योग अभ्यास करना अवश्य ही कर्त्तव्य है
निर्वेद शब्द का अर्थ तो यत्न करने मे शैथिल्य है सोई कहा कि अनिर्विण्णचित्त
होय अर्थात् शैथिल्य छोडि यत्न पूर्वक अभ्यास करै ॥ २३ ॥ संकल्प मे प्रभव
कहे प्रगट जो योग के प्रतिकूल कहे विरोधी वाक्क रूप सकल कामना उन को
वासना समेत त्याग करि के विषयों के दोष देखता ऊँचा पुरुष मनके द्वारा सर्वत्र
धावमान इन्द्रियों को सब ओर से दमन करि के योगाभ्यास करै अथवा सर्वत्र
धावती ऊँई इन्द्रियों को मन ही से रोक कर योग करै ॥ २४ ॥ और जो मन
पूर्व जन्म कृत कर्म के संस्कार से चलविचल होय तो भी धारणा जो धैर्यरूप बुद्धि
शक्ति तिस से खिर करै यह कहते है कि धारणा से वशीभूत जो बुद्धि तिस से
मन को आत्मा मे अच्छी तरह स्थापन करि के उपरम करै अर्थात् फेरि न कुछ
चिन्तन करै परन्तु यह भी सनैः सनैः कहे धीरे धीरे धैर्यवती बुद्धि के द्वारा काम से

नियस्यैतदात्मन्येववर्णयेत् ॥ २६ ॥ प्रशान्तमनसं ह्यनयोगिनं सुखमुत्तमम् । उपै
ति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्पम् ॥ २७ ॥ युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी रिगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥ सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥ योगी प्रपश्यति सर्वत्र सर्वं ब्रह्म विप्रश्न
ति । तस्याहं न प्रणश्यामि सर्वमेतदप्रणश्यति ॥ ३० ॥ सर्वभूतस्थितं योगी भावयत्येक

भाषा अनुवादः

मन को आत्मा मे थिर करै और सहसा कहे जलदी न करै ॥ २५ ॥ फिर भी जो
रजोगुण बधते मन विचलित होय तो फिर फिर उस को अपने बध करना यह
कहते हैं कि स्वभावही से बन्धल मन भारणा को इच्छा करते भी जो बन्धल होय
तो जिस जिस विषय मे गमन करै उसी उसी विषय से लैचि करि आत्मा ही मे
थिर करै ॥ २६ ॥ इस प्रकार मन औ इन्द्री के बधकारी पुरुष को रजोगुण की
छय होने से परे योग सुख प्राप्त होता है सोई कहते हैं कि पूर्वोक्त रीति से
जिसका रजोगुण नाश भया औ अच्छी तरह मन भी शान्त भया है सोई पाप
रहित प्रचीण मोह तथा ब्रह्मभाव को प्राप्त योगी उत्तम समाधि सुख को अना
यास पावता है ॥ २७ ॥ अब योगीजन की कृतार्थता कहते हैं कि इसी प्रकार
सर्वदा मन बधीभूतकारी पुरुष जिसका सम्पूर्ण पाप दूर भया है सोई योगी
अनायास ब्रह्मसंस्पर्श अर्थात् अविद्या निवृत्तिकारी जो प्रत्यक्ष ब्रह्मज्ञान सर्वोत्तम
सुख सो पावते अर्थात् जीवमुक्त होते हैं ॥ २८ ॥ ब्रह्म साक्षात्कार रूप अंश
रोच ज्ञान कैसा होता सो देखावते हैं कि योग युक्तात्मा पुरुष ब्रह्म से ले खावर
पर्यन्त मे समदर्शी सर्वभूत कहे प्राणी मांश मे अपने को देखता और यावत् जीवों
को भी अपने मे देखता है अर्थात् अविद्यालत देशदि भेद दूर होय ब्रह्ममय
ज्ञानवान सर्वत्र समदर्शी होता है ॥ २९ ॥ अब पूर्वोक्त ज्ञानी को जो फल होता
है कि साक्षात् परमेश्वर जो मैतिस को यावदस्तु भाव सब मे और सकल यो कुछ
है सो मेरे मे यो देखता है तो उस को हम अदृश्य नहीं और हम को वह भी
अदृश्य नहीं अर्थात् हम प्रत्यक्ष होय कृपादृष्टि से उस पर अनुग्रह करते हैं ॥ ३० ॥
एवम्भूत पुरुष विधि कहे कर्म के आधीन नहीं है कि सर्व भूत मे वर्तमान

स्वमास्थितः । सर्वथावर्त्तमानोऽपि स योगी स चिर्वर्त्तते ॥ ३१ ॥ अतौपम्येन सर्वत्र स
मं पश्यति यो ऽर्जुन । सुखं वायदिवा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥ अर्जुन उवाच ।
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साध्येन मधुसूदन । एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलतां त्वत्स्थितिं
स्थिरां ॥ ३३ ॥ चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथिवलट्टनं । तस्याहं निग्रहं मन्ये वायो रिपुः
सुदुष्करं ॥ ३४ ॥ श्रीभगवानुवाच । असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चक्षुः । अथा

भाषा अनुवाद

जो मैं तिस को एक बुद्धि कहूँ एक मोहिं छोड़ और बुद्धि नहीं है जिस के
सो मेरे ही को आश्रय करि भजता है सो योगी तत्त्वज्ञानी सकल कर्म परि
त्याग करि के सर्वथा वर्त्तमान कहे जीवित दशा में भी मेरे में प्राप्त है अर्थात्
सायुज्य गति को प्राप्त है ॥ ३१ ॥ और ऐसे योगीजनों के बीच में जीवों
पर अनुग्रह करनेवाला श्रेष्ठ है सो कहते हैं कि हे अर्जुन जो अपनी उपमा
कहे और सब में भी अपने समान सुख या दुःख तथा प्रिय अप्रिय देखता
है और सब को सुखकी इच्छा करता दुःख नहीं देख सकता है सोई योगी श्रेष्ठ
है ॥ ३२ ॥ ऐसे योग के लक्षण भगवान से सुनि करि असंभव जानि अर्जुन
कहते हैं कि मनकी लय औ विधेय शक्ति दूर करि केवल आत्माने जो अवस्थान
कहे सम साव से मन का धिर हो रहना रूप योग आप ने कहा सो हे मधु
सूदन मन की चञ्चलताई के छेत्तु हमको इस योग की दीर्घ काल अवस्थिति कहे
धिर रहना देख पड़ता नहीं है ॥ ३३ ॥ और वही चञ्चलता को विस्तार करि
कहते हैं कि हे कृष्ण यह मन स्वभाव ही से चञ्चल औ प्रमाथी अर्थात् देह
इन्द्रियों को विचित्रकारी और वलवान कहे विचार से इसका जीतना असाध्य है
तथा दृढ़ कहे विषयवासना से वह इस मन को विषयों से भिन्न करना अति
दुष्कर कठिन है इस से जैसे आकाश में वायु को निश्चल करना कठिन तैसे इस
मन का भी निग्रह कहे धिर करना हम को अति असाध्य बोध होता है ॥ ३४ ॥
अर्जुन की कही मन की अञ्चलता अङ्गीकार करि भगवान उस के निग्रह करने
की उपाय कहते हैं कि हे महाबाहो हा मन की चञ्चलता रोकना कठिन यह
जो तुम कहते हो सो निःसन्देह ठीक है पर तो भी ह कौन्तेय अभ्यास के द्वारा

मेनतुकोन्तेधवैराग्येणचयुज्यते ॥ ३५ ॥ असंयतात्मनायोगोदुष्प्राप्यइतिभेमतिः ।
 वश्वत्तनातयतताश्चकोऽवशुमुपायतः ॥ ३६ ॥ अर्जुनउवाच । कयतिःयद्वयोये
 तोयोगाञ्चलतिमानसः । अप्राप्ययोगसंसिद्धिंकीर्तिंक्षणागच्छति ॥ ३७ ॥ कश्चि
 न्नोभयविम्वटस्त्रिन्नाम्भिवप्रश्रुति । अप्रतिष्ठोमहाबाहोविमूढोब्रह्मणःपरिथि ॥ ३८ ॥

भाषा अनुवाद

मन परमात्माकार दृष्टि मे विषयों की वैराग्य वशते निग्रहीत हो सकी है अभ्यास
 से लय और वैराग्य से विक्षेप ये दोनों दूर होय यह मन निश्चय होय परमात्मा
 कारता पाय कर स्थिर होता है क्योंकि योगशास्त्र मे कहा है कि वृत्तिस्थान्य
 मन की प्रज्ञाकाराकारित रूपस्थिति होती है उसी को निर्विकल्पकसमाधि
 करते हैं ॥ ३५ ॥ और संयतचित्तता को योगप्राप्ति सुलभ है यह कहते हैं कि
 उक्त रीति से अभ्यास और वैराग्य के द्वारा जिस का चित्त बल नहीं है उस को
 यह योग दुःप्राप है और जिस का चित्त बलीभूत है और जो पूर्व कथित उपाय
 से यत्न करता है वह मेरे मत से योगप्राप्त हो सकता है ॥ ३६ ॥ अभ्यास
 वैराग्य के अभ्यास से या और कोई प्रकार उपाय से जिसको तत्त्वज्ञान न
 भया ऐसा मनुष्य कौन प्राप्त पाय सकता है और किस गति को जाता है यह प्रश्न
 अर्जुन करते है कि हे कृष्ण जो प्रथम कण्ठ रहित यद्वा युक्त होय योग मे प्रवृत्त
 भया परन्तु तिस पीछे यत्न न किया अर्थात् अभ्यास मे स्थित कहे दोला रहा
 और जिसका मन विषय मे मग्न रहा कहे विषय से विराग न भया ऐसा मनुष्य
 योग संसिद्धि जो ज्ञानरूप फल तिसको न प्राप्त होके किस रूप गति को पाय
 सकता है अर्थात् कौन गति को जाता है ॥ ३७ ॥ पूर्वोक्त प्रश्न की अभिप्राय
 विस्तार से अर्जुन कहते हैं कि नतो निष्काम कर्म कर ईश्वर को समर्पण किया
 और न काय कर्म ही का अनुष्ठान किया तो स्वर्गादि फल से भी रहित हो रहा
 और योग की असम्पन्नता कहे अपूर्णता से मोक्ष भी न मिली तो फिर हे महा
 बाहो वह अप्रतिष्ठित कहे प्रतिष्ठा रहित मनुष्य दोनों ओर से लुप्त होय किन्तु
 मेव के समान क्या नष्ट तो नहीं होता है जैसे मेवदल से भिन्न भया मेव और
 मेव को न प्राप्त होय के अन्तरीक्ष ही मे विलाय जाय है ॥ ३८ ॥ जिस से आप

एतन्नेसंशयं कृष्णस्तेतमर्हस्यशेषतः-। त्वदन्यसंशयस्यास्यस्तेतानह्युपपद्यते ॥ ३६ ॥
 श्रीभगवानुवाच । पार्थनैवेहनामुवविनाशस्तस्यविद्यते । नहि कल्याणकृतकश्चि
 दुर्गतितातगच्छति ॥ ३७ ॥ प्राप्यपुण्यकृतान्लोकानुपित्वाशान्तोःसमाः । शुचीनां
 श्रीमतांगेहेयोगमष्टोऽभिजायते ॥ ३८ ॥ अथवायोगिनामेवकुलेभवतिभीमतां । एत
 हिदुर्लभतरंलोकेजन्मयदीदृशं ॥ ३९ ॥ तत्रतं बुद्धिसंयोगंलभतेमौर्ध्वदैहिकं । यत

भाषा अनुवाद

सर्वज्ञ हौ इस से आप को छोड़ और कोई इस हमारी संशय का दूर करने
 वाला नहीं है अर्जुन यही कहते हैं कि हे कृष्ण मेरी इस सन्देह को आप ही
 छेदन करने के योग्य हौ और आपके बिना दूसरा इससन्देह का निवृत्ति कर्ता
 नहीं है सो इस सन्देहको कृपा कर मेरे मनसे दूर करो ॥ ३६ ॥ अर्जुन की इस
 प्रश्न का उत्तर श्रीभगवान साढ़े चारि श्लोक से कहते हैं कि हे पार्थ उस अधूरे
 योगाभ्यासी को योगमष्ट होने से यह लोक नाश कहे इस लोक में पासक और
 परलोक में नरक प्राप्ति ये दोनों भी नहीं होय है जिस हेतु किसी कल्याण कृत
 कहे शुभ आचरण करनेवाला पुरुष तात कहे हे भाई अर्जुन दुर्गति को
 नहीं प्राप्त होता है तात शब्द से लोक रीति देखावते भये भगवान ने कहे
 प्रर्थक अर्जुन को सम्बोधन करि के कहा है ॥ ३७ ॥ तो फेरि वे योगमष्ट
 लोग किस गति को जाते हैं इस अपेक्षा पर कहते हैं जिस स्वर्ग आदि लोक
 को अश्वमेध आदिक यज्ञ करि के मनुष्य जाते हैं पुन्यकर्मकारी योगमष्ट पुरुष
 भी उसी उत्तम लोक में जाय कर वज्रत वरस तक वहां बसि सुख भोग
 करि के फेरि सत् कर्मकारी धनी लोगों के घर में आय जन्मग्रहण करते हैं
 ॥ ३८ ॥ थोड़े दिन योगाभ्यास करि के योग से मष्ट भये ऊँचे पुरुष की गति
 कहि सुके थप वज्रत काल अभ्यास कर के मष्ट ऊँचे योगी की गति कहते हैं कि
 अथवा सत्प्राप्त धनियों के घर जन्मलेने से और जो दृष्टि उद्दिमान योगाभ्यासियों
 के कुल में जन्मग्रहण है सो उत्तम है ऐसा जन्म लोक में अति दुर्लभ है सो
 चिरकाल योगाभ्यासी योगमष्ट होय ऐसे ही घर में उत्पन्न होते हैं ॥ ३९ ॥
 सोई जन्मग्रहण के बादि क्या होता है यह डेढ श्लोक से कहते हैं कि हे कृष्ण

तेचततोमूयःसंसिद्धौकुलनन्दन ॥ ४३ ॥ पूर्वाभ्यासेनतेनैवक्रियतेह्यवशोऽपि सः ।
 जिज्ञासुरपियोगस्यशब्दमञ्जातिवर्त्तते ॥ ४४ ॥ प्रयत्नात्प्रयतमानस्तुयोगीसंगुह्यकि
 ल्लिपः । अनेकजन्मसंसिद्धस्तोयातिपरंगतिं ॥ ४५ ॥ तपस्विभ्योऽधिकोयोगी
 ज्ञानीभ्योऽपिमतोऽधिकः । कश्चिन्मयाधिकोयोगीतस्मादोगीभवार्जुन ॥ ४६ ॥

भाषा अनुवाद

नन्दन तेई दोनो प्रकार के योग मूढ लोग जन्म धारण करिके भी पूर्व देह के
 अभ्यास से मञ्ज विषयक बुद्धि संयोग युक्त होते हैं और फेरि भी मोक्ष की सिद्धि
 के लिये अधिक यत्न करते हैं ॥ ४३ ॥ वह पूर्व देह का बुद्धि संस्कार कैसा है
 और उस का कारण यह है कि सोई पूर्व देह की अभ्यास से अवश अर्थात् जो
 कोई कारण या विप्र बलते इच्छा न भी होय तौ भी मोक्ष सिद्धि के अर्थ पूर्व
 संस्कार के जोर से अवश की नाईं यत्न करते हैं अर्थात् विषयो से विमुख हो
 मञ्जनिरत होते हैं । और इस तरह पूर्व अभ्यास के कारण से सुक्ति के अर्थ
 यत्नकारी मनुष्य जिस क्रम से सुक्त होते हैं सो कै सुक्तिक न्याय से डेढ श्लोक के
 द्वारा कहते हैं कि जिज्ञासु कहे योग स्वरूप जानने की इच्छा करने वाला कुछ
 केवल योग ही को नहीं प्राप्त होता किन्तु योगप्रसिद्ध मनुष्य पाप बधते योगमूढ
 होय भी शब्द मञ्ज जो वेद तिस को अति वर्त्तन करता अर्थात् वेदोक्त फल की
 अपेक्षा अधिक फल को प्राप्त होय के फेरि सुक्त होता है । इतना ही नहीं इससे
 भी अधिक इस को कै सुक्तिकन्याय कहते हैं ॥ ४४ ॥ जिस हेतु मन्द यत्नकारी
 योगी श्रेष्ठगति प्राप्त होते हैं तौ उत्तरोत्तर योग में अधिक यत्न करते वै योग से
 निःपाप होय अनेक जन्म संचित योग से संसिद्ध अर्थात् सम्यक् ज्ञानी होय श्रेष्ठ
 गति प्रावेंगे इस में और कुछ कहना या सन्देह वा की है । सोई कहा कि अच्छी
 हरह से यत्न करता योगी तौ संगुह्य किल्लिय निःपाप अनेक जन्म से सम्यक् सिद्ध
 होय फेरि परमगति को याता है ॥ ४५ ॥ जिस कारण ऐसा है कि छच्छ्रचान्द्रा
 यण आदि तपमें निरत औ शास्त्रसे जो ज्ञानी इनसे भी योगी अधिक है तथा यज्ञ
 कुंवां ताल वागदान कर्मकारी जो कर्मी पुरुषतिससे भी अधिक है हमारे मत
 में योगी इससे हे अर्जुन योगी होउ ॥ ४६ ॥ योगियों के मध्य अर्थात् यस नियम

योगीनामपि सर्वेषां मद्भक्तेनान्तरात्मना । यद्वाकान्मज्जते यो मां समयुक्ततमो मतः ॥
४७॥ इति श्रीभगवद्गीतायां योगशास्त्रनाम पष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

भाषा अनुवाद

परमेश्वर लोगों के बीच में मेरा भक्त हो खेठ है यह कहते हैं कि मैं जो परमेश्वर
से मद्भक्त अर्थात् मेरे में मन लगय यद्वा से जो हम को मज्ज है मेरे मत में सोई
खेठ इस से अर्जुन हम मेरे भक्त होउ । श्रीधर स्वामी प्रभु को प्रणाम करते हैं
कि परमानन्द भक्त सेवित लक्ष्मीपति की मै वन्दना करता हूँ जिसने भक्तियोग
श्रीरामणि रूप आत्मयोग उपदेश किया है ॥४७॥ इति जगन्नाथ सुक्त विरचित
मनभावनी टीकायां योगशास्त्रनाम पष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

सप्तम अध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच । मय्यासक्तमनःपार्थयोगयुक्त्वदाययः । असंशयसमग्र
माययाज्ञास्थसितच्छृणु ॥ १ ॥ ज्ञानं तेऽहमविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः । यज्ज्ञा
त्वानेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥ मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यततिसिद्धये ।

भाषा अनुवाद

अब इस अध्याय में भगवानीय ईश्वर का स्वरूप कहते हैं कि जो पूर्ण अध्याय के अन्त में कहा कि महात्मक होय जो मेरी भजन करे है सो उत्तम है इस पर जो कहो कि सो भगवान कैसे हैं जिन की भक्ति करना चाहिये इस अभिप्राय पर अपने स्वरूप का निरूपण करने के अर्थ श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन मेरे मे जिसका मन लगा है और मैहीं हैं अबलम्ब जिसके ऐसा अनन्य शरणागत भक्त होय योगाभ्यास करने के अनन्तर संशय रहित समग्र कहे विभूति वल ऐश्वर्य सहित मेरे रूपको जैसे जानि सकोगा सोई मेरे वचन तुम मन दे यवण करो ॥ १ ॥ अब भगवान जी आप कहते हैं उसी की प्रशंसा करते हैं कि विज्ञान जो अनुभव और ज्ञान जो शास्त्रों में मेरे विषय में होता है ये दोनों मैं तुमारे प्रति कहूंगा जो ज्ञान के सुक्तिमार्ग में आरुढ़ पुरुष को और फेरि कुछ जानना बाकी नहीं रहता है इसी से वे ऊँचा रहते हैं ॥ २ ॥ हमारी भक्ति विना हमें जानने सकै यह अति दुर्लभ है सोई कहते हैं कि असंख्य जीवों के मध्य में मनुष्य छोड़ि और किसी की भोज के विषय में प्रवृत्ति नहीं होती है और हजार मनुष्य के बीच कोई एक पुण्य के प्रभाव से आत्मज्ञान के हेतु बल करता है ऐसे ही बल

यततामपिसिद्धानां कश्चिन्मावेन्नितत्त्वतः ॥ ४ ॥ भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरे
वच । अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥ अपरे यमितस्त्वन्यां प्रकृतिं वि
द्विमेऽपरां । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥ एतद्वोनीनिभूतानि
सर्वाणीत्युपधारय । अहं ह्यहं तत्संख्यजगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥ सत्तः परतरं नान्य

भाषा अनुवाद

कारी हजार के मध्य कोई एक अति उत्तम पुन्य वशते अपने को जानि शकै है
और ऐसे आत्मज्ञानी हजार के बीच में कोई एक मेरी छपा से परमात्मा स्वरूप
मुझे यथार्थ रूप से जानै है सोई अति कठिन ज्ञान हम तुम से कहैगे ॥ ३ ॥
इन बातोंसे आता अर्जुनको उत्साह युक्त करके अब प्रकृति जो माया तिस के द्वारा
सृष्टि आदि का कर्तृत्व जो अङ्गीकार किया है ईश्वरत्व उस का निरूपण उत्तम
अधम भेद क्रम से दो लोकके द्वारा कर्त्तै है कि भूमि आदि शब्दसे पञ्चभूत और
मन शब्द से मन का कारण रूप अहङ्कार तथा बुद्धि का कारण महत् तत्त्वं औ
अहङ्कारकी कारणभूत जो अविद्या कहे अज्ञान इस प्रकार से मेरी प्रकृति माया
आठ प्रकारकी है अथवा पंचभूतसे रूपादि पंच भावा और अहङ्कार से कार्यरूप
इन्द्रिय औ मन बुद्धि ये आठ प्रकार जानो यद्यपि इहां चौविश भेदों को इन आठ
के अन्तर्भूत करिके मायाके आठ ही प्रकार कहा है तौ भी जो तेरे हवां श्रोत्रार्थाय
तहां प्रकृति के चौविश ही तत्त्वरूप विभाग कहैगे ॥ ४ ॥ अपर कहे आठ
प्रकार निष्कट प्रकृति कहि कै अब पर कहे उत्कृष्ट प्रकृति को कहते है कि हे
महाबाहो यह पूर्व कही जो अष्ट प्रकार की प्रकृति सो अपर कहे निष्कट
है क्योंकि वह जड़ औ उत्तम प्रकृति के अधीन है किन्तु और पर कहे
उत्कृष्ट मेरि प्रकृति व्यवहारिक जीवस्वरूप इस प्रकृति से भिन्न जानो जो इस
जगत् को धारण करती है अर्थात् इस के उत्कृष्टता में कारण यह है कि
क्षेत्रज्ञरूप वही चैतन्यशक्ति कर्तृक स्वकर्मके द्वारा यह संसार स्थित है ॥ ५ ॥
प्रकृति के पर औ अपर ये दो भेद देखाव कै अब प्रकृति के द्वारा सृष्टि आदि के
आप ही कारण है सो कारणत्व कहते है कि हे धनञ्जय क्षेत्र कहे शरीर औ
क्षेत्रज्ञ कहे जीव यह जो दो प्रकार की प्रकृति है योनि कहे कारण जिन का

तुकिञ्चिदस्ति धनञ्जय । मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सुखे भणिष्यामि ॥ ७ ॥ रसोऽहमप्यसौ
 कौन्तेय प्रभाऽस्ति शशिसूर्ययोः । प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खेपौरुपेनृषु ॥ ८ ॥ पुण्यो
 गन्धः पृथिव्याञ्च तेजश्चास्ति विभावसौ । जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्ति तपस्विषु ॥ ९ ॥
 वीजं मां सर्वभूतानां विद्धि प्रार्थनातनं । बुद्धिर्बुद्धिमाता मस्मि ते न सोऽन्यिनामहं ॥ १० ॥

भाषा अनुवाद :

ऐसे स्थावर जड़म यावत भूत, इसी कारण से उत्पन्न है यह जानो और विशेष
 यही है कि जड़रूप निष्कट प्रकृति देहरूप अनेक रूप प्रावती है और मेरा अंग
 जो चैतन्य सो भोक्तारूप शरीर मे प्रवेश कर के अपने कर्मा के अनुसार अनेक
 देह धारण करता रहता है और यह प्रकृति हमी से उत्पन्न है इस कारण से
 सम्पूर्ण जगत के प्रभव कहे उत्पन्न करनेवाले औ प्रलय कहे संहारकर्ता भी हम
 हीं है ॥ ६ ॥ सो हे धनञ्जय इसीसे हमसे भिन्न और कोई भी जगत की सृष्टि औ
 संसार का येष्ठ स्वतन्त्र कारण नहीं है और स्थिति के ही हेतु हम हैं यह कहते
 हैं कि मेरे ही से समस्त जगत ग्रथित है जैसे सूत से भणिगण रहते औ कपड़े
 से सूत ओत प्रोत रहते हैं ॥ ७ ॥ इस श्लोक से ले कर पांच श्लोक तक जगत
 की स्थिति का कारण विस्तार करि कहते हैं कि हे कुन्तीपुत्र अर्जुन जल मे रस
 रूप औ चन्द्र सूर्य मे प्रकाशरूप और वेद मे सूत्रमूत प्रणव ओंकाररूप मे हीं
 हं तथा आकाशमे शब्दरूप औ पुरुषोमे पौरुष कहे उदाहरूप भी मे हीं हं यह
 जानो ॥ ८ ॥ और प्रविग गन्धरूप साया पृथिवी मे और तेजरूप अग्नि मे तथा
 जीवनरूप सर्व भूत कहे प्राणियों मे औ तपस्वियों मे तपस्वरूप मे हीं हं अर्थात् मेरी
 ही विभूति है ॥ ९ ॥ और हे पार्थ स्थावर जड़म जो कुह भूतभाव है उस का
 सनातन कहे उत्तरोत्तर समस्त कार्य मे अनुगत कहे प्राप्त अनाशी बीजरूप हमें
 जानो अर्थात् समान जातीय कार्य उत्पादन सामर्थ्य रूप जो कारण सो भी मेरी
 ही विभूति जानो परन्तु सामान्य बीज जैसे अंकुर होने पर नट होते हैं तैसे
 मेरा विभूतिरूप बीज नाश नहीं होता इसी से सनातन है और बुद्धिमानो की
 बुद्धि कहे विवेकशक्ति मे हीं है और तेजस्वियों मे तेज कहे प्रगल्भता प्रलयरूप
 भी मे हीं हं यह जानो ॥ १० ॥ और काम राग विवर्जित अर्थात् काय कहे अप्राप्त

बलं बलवतां चाहं कामरागविर्वर्जितं । धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥
ये चैव सात्त्विकाभावा राजसास्तामसाश्च ये । सत्तएवेति तान् विद्विन्नत्वहं ते पुते मयि ॥
१२ ॥ त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् । मोहितं नाभिजानाति मामेव्यः
परमव्ययं ॥ १३ ॥ दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते माया

भाषा अनुवाद

विषय मे अभिलाष स्वरूप जो रजोगुण का कार्य इच्छा और राग कहे अभि
लपित अर्थ प्रायके उस से भी अधिक के अर्थ जो चित्त का अनुराग कहे तमो
गुण का कार्य दृष्ट्यारूप इच्छा है इन दोनों को छोड़ि और यावत बलवानों का
बल भी मैहौ अर्थात् सात्विक स्वधर्मानुष्ठान की सामर्थ्य मै हूं और हे भरतर्षभ
भरत वंश मे येठ अर्जून धर्म अविरुद्ध अर्थात् स्वभार्या मे पुत्रमात्र उत्पन्न के अर्थ
उपयोगी जो काम भोग सो भी मैहीं हूं धर्म अविरुद्ध कहने से वध आदि काम
का निषेध आया ॥ ११ ॥ और जो सात्त्विक भाव अर्थात् शम दम आदि और
राजस भाव कहे हर्ष गर्व आदि औ तामस भाव जो शोक मोहादि ये सब प्राणी
मात्र को स्वकर्म वशते जन्मे है सो मेरे से उत्पन्न जानो जिस हेतु वै मेरी माया
के तीन गुणों के कार्य है किन्तु तौ भी उनमे हम वर्त्तते नहीं अर्थात् जीव के
समान गुणों के अधीन होते नहीं बलु ये गुण मेरे अधीन होय मेरे मे रहते
है सोई कहा कि वे मेरे मे है और मै उनमे नहीं यह हौ जैसे संसारी मेरे
अधीन है यह जानो ॥ १२ ॥ जो कहो कि ऐसे परमेश्वर को किस कारण से
लोग नहीं जानते है इस पर कहते है कि पूर्वोक्त यहो तीन प्रकार काम लोभ
आदि गुण विकार स्वभाव वशते अविवेकता को प्राप्त प्राणी मोहित होय हम
को नहीं जानते हैं और आप कैसे है इस अपेक्षा से कहते है कि हम ये
तीन भाव से पर कहे संस्पर्श रहित और इन सब भावों के त्रियन्ता इसीसे अव्यय
कहे निर्विकार मै हूं ॥ १३ ॥ जो कहो कि तुम को फेरि कौन जानने शकै
इस पर कहते हैं कि दैवी कहे ब्रह्मत औ सत्व आदिगुणविकारात्मक मेरी शक्ति
जो दुस्तर माया है इस को जो अव्यभिचारिणी भक्तिसे हमै भजै सोई हमारी
माया के पर होके हम को जानि शकै है ॥ १४ ॥ तौ फेरि सब मनुष्य तुमको

मेतांपरन्तिते ॥ १४ ॥ नमांडुष्कृतिनोमूढाःप्रपद्यन्तेनराधमाः । साययामहृतज्ञा
नाश्चासुरभावमाश्रिताः ॥ १५ ॥ चतुर्विधमजन्तेमांजनाःसुहृत्तिनोऽर्जुन । अ
र्त्तोविज्ञासुरार्थार्थीज्ञानीचमरतर्पण ॥ १६ ॥ तेषांज्ञानीनित्ययुक्तएकभक्तिर्विशि
ष्यते । प्रियोऽहिज्ञानिनोऽत्यर्थमहंसचममप्रियः ॥ १७ ॥ उदाराःसर्वेएवैतेज्ञा

भाषा अनुवाद

काहे नहीं भजते हैं जो यह कहो तो उत्तर सुनो कि मनुष्यों के मध्य में जो
अधम है तेई मेरी भजन नहीं करते हैं कारण यह कि वे लोग पापपरायण औ
साधारण अमहृतज्ञान अर्थात् शास्त्र या आचार्य के द्वारा ज्ञान होनेसे भी मैं उनको
निरस्त कहे निरादर करता हूं और सोरहें अध्याय में चौथे श्लोक से कहेंगे जो
आसुर भाव उस को प्राप्त होय मेरी भक्ति नहीं करते हैं ॥ १५ ॥ सत्कर्षकारी
मनुष्य ही मेरी भजन करते हैं और वे भी पुण्यके न्यून अधि वशते चारि प्रकार
के हैं सोई कहते हैं कि हे अर्जुन जो पूर्व जन्म अवधि पुण्यवान है तेई हम को
भजते हैं चारि प्रकार के भक्त ये हैं प्रथम आतुर कहे रोगग्रस्त दूसरा जिज्ञासु
कहे आत्मज्ञान की इच्छा है जिसे तीसरा अर्थार्थी अर्थात् लोक या परलोक का
भोग साधन का अर्थोकांक्षी चौथा ज्ञानी है पर ये चारो पूर्व पुण्य के प्रभाव होने
से भजते हैं नहीं तो और और देवता की भक्ति करि अपना काम निभारलेते
पर वह काम नहीं है ॥ १६ ॥ परन्तु इनके मध्य में ज्ञानी भक्त येष्ट है सोई
कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष नित्ययुक्त अर्थात् सर्वदाही मेरे से निष्ठ रहता है और
केवल इसारा ही एक भक्त और ज्ञानी को शरीर आदि में अहं बुद्धि का अभाव
रहने से मनकी विक्षेप शक्ति के अभाव से नित्य युक्तत्व उस को है और इस
ज्ञानी को हम अत्यन्त प्रिय है और यह ही हम को अति प्रिय है इन कारणों
से ज्ञानी भक्त उत्तम है ॥ १७ ॥ तो क्या बाकी तीन प्रकार के भक्त संसार
गति को प्राप्त होते हैं ऐसी शङ्का को बारवार निषेध करि कहते हैं कि नहीं
नहीं भक्तभी उदार कहे महान है अर्थात् मोक्षप्राप्त के योग्य है परन्तु मेरी यह
अभिप्राय कि ज्ञानी भक्त मेरा ही स्वरूप है जिस हेतु वह भेदकचित्त है इससे
सर्वोत्तम गतिरूप हमको ही आश्रय करके और कोई फल की इच्छा नहीं रख

नीत्वात्मेवमेतत् । आस्थितःसंहियुक्तात्मासामेवानुत्तमांगतिं ॥१८॥ बहूनांजन्मना
मन्तेज्ञानवान्मांप्रपद्यते । वासुदेवःसर्वमितिममहात्मासुदुर्लभः ॥१९॥ कामैस्तेसौ
हृत्तन्नानाःप्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः । तंतंनियममास्थायप्रकृत्यानियताःस्वया ॥ २० ॥
योयोयांयांतनुंभक्तःयहयार्चिर्गुमिच्छति । तस्मत्स्वाचलायहांतामेवविद्वाभ्यर्हं
॥ २१ ॥ सतयायहयायुक्तस्तस्यावाधनमीहते । लभतेचततःकामान्मयैवविहि
तान्हितान् ॥ २२ ॥ अन्तवत्तुफलंतेपांतद्भवत्यल्पमेधसा । देवान्देवयजोयान्ति

भाषा अनुवाद

ता है ॥ १८ ॥ ऐसे भक्त अति दुर्लभ यह कहते हैं कि अनेक जन्मसे कुछ कुछ
पुण्य संचित कहे इकट्ठी होने से श्रेष्ठ जन्मसे तत्त्वज्ञानी होकर यह जो चरा
चरात्मक कहे स्थावर जड़म रूप ब्रह्माण्ड सो सम्पूर्ण एक वासुदेव मात्र है इस
प्रकार सर्वत्र आत्म दृष्टि के द्वारा हमको भजता है अपरिच्छिन्न कहे अबाधित
दृष्टिसे ऐसा महात्मा ज्ञानी दुर्लभ है ॥ १९ ॥ सतो गुणी कामना करिके जो मनुष्य
परमेश्वर ही को भजते है तो कामना प्राप्त होय क्रम से मुक्त होते है परन्तु जो
रजोगुण तमोगुण का आलम्बन कर के कामना के बश होय और २ देवतों का
उपासन करते है तेई संसार गतिको पावते है इस श्लोकसे चौथे श्लोक तक कह
ते है कि जो पुत्र कलत्र धन श्वरुनाथ आदि मनोरथ से हतबुद्धि होय भूत प्रेत
पिशाच यक्ष छुद्र कहे नीच देवतों को पूजते है वे नियम उपास वलिदान अङ्गी
कार करिके अपनी कामना की वासना के बश होय प्रकृत्या कहे स्वभावही से
उन देवतों की सेवा करते है ॥ २० ॥ भक्तों के बीच जो जो भक्त मेरी मूर्ति
विशेष को याने जिस मूर्ति को अर्थात् देवता रूपको अहासे पूजनेसे प्रवृत्त होते
है उसी उसी भक्त की भावना के अनुसार वह उन की इच्छा अन्तर्दामी रूप से
मै पूरी कर्ताहै अर्थात् सोई मूर्ति धारण कर उनका दृष्ट सिद्ध करता हूँ ॥ २१ ॥
सो मेरा भक्त उस अपनी अहा से उसी देव की पूजा करता है और कामनों को
पावता है पर वे कामना मैही देता हूँ क्योंकि मै सर्व देवमय हूँ और देवता
मेरे आधीन है ॥ २२ ॥ अब कहते है कि यद्यपि देवता मेरी ही मूर्ति है और
उनकी पूजाभी मेरी ही पूजा है तथा कर्माफलदाता भी हम हीं है पर तौभी

सङ्गतायान्तिमामपि ॥ २३ ॥ अव्यक्तव्यक्तिमापन्नमन्यन्तेमामबुद्धयः । परंभावम
जानन्तोमसाव्ययमनुत्तमं ॥ २४ ॥ नाहंप्रकाशःसर्वस्वयोगमायासमावृतः । मदो
ऽयंनाभिजानातिलोकोमामजमव्ययं ॥ २५ ॥ वेदाहंसमतीतानिवर्त्तमानानिचार्जुन ।
भविष्यानिचभूतानिमानुवेदनकश्चन ॥ २६ ॥ इच्छादिपसमुत्पन्नद्वन्द्वमोहेनभा

भाषा अनुवाद

अल्प बुद्धियों को अन्तवन्त कहे बिनाशी फल होता अर्थात् स्वर्ग आदि सांसारिक
सुख कुछ दिनके लिये होता है क्योंकि साक्षात् मेरी उपासना नहीं किया है
और जो जिस देवता को आरध है सो उसी को प्राप्त होता और मेरे भक्त जन्म
नाश रहित हो करके मेरे ही को प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥ और जो ऐसी शक्ती
करो कि ध्यान पूजा आदि प्रयत्न तो समान है और फल में वैषम्य कहे बड़ा
अन्तर है तो फेरि सब देवता को त्यागकर तुम हीं को कौन सय भजै इस पर
कहते हैं कि अल्प बुद्धि मनुष्य प्रपञ्च रहित हम को मारु कूर्भ स्वप्न ठहराते हैं
इसको कारण यह है कि वे लोग मेरे येठ रूप को नहीं जानते हैं सोई रूप
प्रकाशित करते हैं कि जो अव्यय कहे नाश रहित और जिससे और उत्तम नहीं
हैं परन्तु संसारको रक्षाके अर्थ जीलासे उत्पन्न विषुद सत्त्व प्रधान जो मैं तिसको
कर्मसे उत्पन्न भौतिक कहे प्रज्जभूतमय देहधारी और देवता की नाई जानिके
हमारे प्रति अधिक आदर नहीं करते हैं बलु शीघ्र फलदाता और देवताको
भजते हैं वेई अन्तवन्त फल पावते हैं ॥ २४ ॥ मूढ़ लोगों के अज्ञान से कारण
कहते हैं कि उन लोगों के सामने हम प्रगट नहीं होते परन्तु अपने भक्तों के
सामने प्रगट होते हैं क्योंकि मूढ़ लोग मेरी योगभाया से आवृत है तो फेरि
कहो कैसे अव्यय स्वरूप को जानि सकें ॥ २५ ॥ मेरे सर्वोत्तम स्वरूपको अज्ञानी
लोग नहीं जानते यह जो पर्व में कहा साईं स्वरूप को उत्तमता ओ अनादृत्य
ज्ञान रूपसे देखावते ऊये औरों की अज्ञानता कहते हैं कि जिस हेतु है अर्जुन
हम भायाके आश्रय हैं इससे भूतकाल वर्त्तमानकाल ओ भविष्यकाल इन तीनों
काल के वर्त्ती चरांचर सब हम जानते हैं क्योंकि माया अपने आश्रय को मोह
नहीं कर सकती है परन्तु मेरी माया से मोहित कोई भी हमें नहीं जानि सके

रत । सर्वभूतानि सभो हं सर्वेयान्ति परन्तप ॥ २७ ॥ ये प्रापन्तगतं प्रापं जना
नां पुण्यकर्मणां । ते ह न्द्रमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥ जरा मरण मोक्षा
यमाभायित्वयतन्ति ये । ते प्रज्ञातद्दिदुःखतत्त्वमथात्मकं कर्म चाखिलं ॥ २९ ॥ साधि
भूताधिदैवमांसाधियज्ञञ्च ये विदुः । प्रयाणकालेऽपि च मांति विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥ इति

भाषा अनुवाद

हैं माया अपने आश्रय के अधीन तथा औरों को मोहती हैं यह प्रसिद्ध है ॥ २६ ॥
माया से मोहित जीवों को परमेश्वर विषयक ज्ञान का समाधि जो कहा सोई
अज्ञान की दृढ़ता में कारण कहते हैं कि हे भारत सृष्टि कहे स्थूल देह धारण
होने से जो देह के अनुकूल विषय में इच्छा और उस देह के प्रतिकूल में जो
द्वेष और उन दोनों इच्छा और द्वेष से उत्पन्न जो सुख दुःख आदि तिससे भया जो
विवेक का नाश इस से प्राणी मोह को प्राप्त हैं अर्थात् हम सुखी हम दुखी ऐसी
निश्चय रखते हैं इसी से ये अज्ञानी हम को नहीं भजते हैं ॥ २७ ॥ तो फिर
कोई कोई जो हमारी भजन करते हैं इस शङ्क में कहते हैं कि जो पुण्य कर्म
आचरण शील है उन के सर्व प्रतिबन्धक स्वरूप सब पाप नष्ट हो गये हैं वे लोग
सुख दुःख आदि इन्द्र से मुक्त और एकाग्रचित्त होय हम को भजते हैं ॥ २८ ॥
और ऐसे जो मेरे भक्त जन तेई जानने जोग वस्तु को अच्छी तरह जानि के
छातार्थ होते हैं यह कहते हैं कि जरा मरण निवारणार्थ मेरी आश्रय लै जो
मनुष्य यह करते हैं वेई परब्रह्म को जानि शकै हैं और सम्पूर्ण अध्यात्म विद्या
जानै हैं अर्थात् अध्यात्मज्ञान से प्राप्तव्य सोई देहदि से भिन्न शुद्ध आत्मा को भी
जानते हैं और तत्त्वज्ञान के साधनरूप कर्म भी जानि शकते हैं ॥ २९ ॥ और
ऐसे मेरे भक्तों को योग से अट होने की शङ्क नहीं है यह इस श्लोक से कहते
हैं कि अधिभूत अधिदैव अधियज्ञ सहित जो हम को जानते हैं तेई मदासक्त
चित्त भरण समय में भी हम को जानि शकै हैं उस बेला भी व्याकुल होय जो
हम को नहीं भूलते हैं इससे मेरे भक्त को योगअट होने का डर नहीं है ।
शीघ्ररखामी अध्याय भरका अर्थ कहते हैं कि कृष्ण के भक्ताहीयल ज्ञानलाभ करते
हैं यही विज्ञानयोग नामक सप्तम अध्याय भगवान ने प्रकाशित किया है ॥ ३० ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

अष्टम अध्यायः ।

अर्जुन उवाच । किन्तु ह्यस्माकमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम । अधिभूतञ्च किं प्रो-
क्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥ अधियज्ञ-कार्यं कोऽहं देहे हि नृमधुसूदन । प्रयाणका-
ले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मनि ॥ २ ॥ श्रीभगवानुवाच । अक्षरं परमं ब्रह्म खभावोऽ

भाषा अनुवाद

सप्तम अध्याय में जो संक्षेप से कहा कि भगवद्भजन में एक चित्त भक्तजन ब्रह्म
कर्म औ अधिभूत आदि सात पदार्थ जानि सकै है सोई सप्तम अध्याय में जो कहा
ब्रह्मवर्मादि तिस को भगवान् अष्टम अध्याय में प्रकाशरूप से कहैगे सो यह कि
सतये अध्याय के अन्तमें प्रसङ्गवशते भगवान् ने कहा जो ब्रह्म औ अध्यात्म सात
पदार्थ तिनके ज्ञानेच्छुक अर्जुन दो श्लोक से प्रश्न करते हैं कि हे पुरुषोत्तम तू
ने कहा जो ब्रह्म सो किस रूप का है और अध्यात्म ही वा किस प्रकार का जानै
तथा कर्म ही वा क्या है और अधिभूत या अधिदैव किस को कहते हैं यह प्रश्न
अर्जुनने किया ॥ १ ॥ और शरीर के द्वारा जो यज्ञादि कर्म किये जाय
हैं उनका अधियज्ञ कहे अधिष्ठाता और कर्मफलदाता कौन है अथ अधि-
यज्ञ का स्वरूप पूछि करके उस का अधिष्ठान भूत वस्तु पूछते हैं कि हे
मधुसूदन यह अधियज्ञ पुरुष इस देह में किस प्रकार से स्थित हो के यज्ञादि
कर्मों का नियोग कहे अवधारण अर्थात् प्रयत्न और यज्ञ फल प्रदान करते हैं
और अन्तकाल में संयतचित्त पुरुष तुमको किस उपाय से जानते हैं । यहाँ
यज्ञ शब्द से सब कर्मों का ग्रहण है यह जानो ॥ २ ॥ श्रीकृष्ण भगवान् इस
श्लोक से ले कर तीन श्लोक के द्वारा अर्जुन की प्रत्येक प्रश्न का सिद्धान्तरूप उत्तर

धात्मसुच्यते । मूतमावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥ अधिभूतं चरो भावः
पुरुषाधिदैवतं । अधिवज्रोऽहमेवावदेहे देहावृताम्बर ॥ ४ ॥ अन्तकाले च मा

भाषा अनुवाद

कहते हैं कि न चरति गच्छति इति अचरं अर्थात् जिस का गमन औ आगमन नहीं है सोई अचर ब्रह्म है जो कहे कि जीव चैतन्यभी अचर होय न काहे तो कहते हैं कि नहीं देखो जो परम अचर कहे जगत का मूल कारण है सोई ब्रह्म जानो क्यों कि युति मे भी कहा है कि हे गार्गी वेद इसी ब्रह्माह ही जो सोई ब्रह्म कहते हैं यह बात प्रसिद्ध है और उसी ब्रह्म का अंश जो जीव रूप होने से नाम स्वभाव और देह आदि अङ्गीकार करिके भोक्ता रूप से वर्त्तमान है वह जीवही अध्यात्म कहा है और भूत कहे जरायुज आदिकों की उत्पत्ति और उद्भव शब्द का यह अर्थ है कि सूर्य से वर्षा वर्षा से अन्न औ अन्न से क्रम से प्रजा इन उत्पत्तिरूप जो दृष्टि से भूतों का भाव और उद्भवकारी जो विसर्ग अर्थात् सर्व कर्म का उपलक्षरूप देवता को उद्देश करि द्रव्य त्यागरूप जो यज्ञ सोई कर्म है ॥ ३ ॥ और चर कहे विनश्चर जो देह आदि से प्राणी मात्रको अधिकार कर के स्थिति करै है इससे अधिभूत कहावे है और पुरुष कहते हैं सूर्य मण्डलवर्ती विराटको जो अपने अंशरूप समस्त देवताके अधिपति है वेई अधिदैव है अधिदैव कहते अधिष्ठात्री देवताको यह युतिमे कहा है कि सोई विराट पुरुष प्रथम शरीरधारी सकल भूतोंके आदि कर्ता औ ब्रह्माके भी पूर्व वर्त्तमान थे और इस शरीरमे अन्तर्यामी रूप से वर्त्तमान हम को अधियज्ञ कहे यज्ञ की अधिष्ठात्री देवता तथा कर्म फलदाता जानो इस से अधियज्ञ किसरूप स्थिति करते इस प्रश्न का उत्तर भया क्यों कि यही अन्तर्यामी की असङ्ग आदि गुण के द्वारा जीवके साथ भिन्नता पूर्वक देह के बीच वर्त्तमानता लोक मे प्रसिद्ध है सो युति भी कहती है कि मिलता भावसे एक स्थानमे रहने वाले जो जीव औ अन्तर्यामी रूप ये दोनो सुन्दर पक्ष युक्त पक्षी शरीररूप एक दृष्ट पर स्थिति किये हैं तिनके मध्य एक फल भोगी औ दूसरा साक्षी भाव कहे देखनेवाला है और हे देहवृतांबर नरथेष्ठ अर्जुन इस सम्बोधन से यह बताया कि तुमभी अपनी प्रवृत्ति रूप कर्मों की अव्यय व्यतिरे

मेवस्मरन्सुक्ताकलेवरं । यः प्रयातिसमद्भावं याति नास्त्वत्र संशयः ॥ ५ ॥ यं यं वापि
स्मरन्भावं त्यजत्यन्तेकलेवरं । तंतमेवैतिकौन्तेय सदा तद्भावं भावितः ॥ ६ ॥ तस्मात्
सर्वेषु कालेषु मामनुस्मरयुष्य च । मध्वर्षितमनो बुद्धिर्मा मे वै व्यस्य संशयः ॥ ७ ॥ अथा

भाषा अनुवाद

यानुरूप अर्थात् परस्पर सम्बन्ध और भिन्नरूपसिद्धि असिद्धि में वही अन्तर्यामी के
अधीन है तो सुतरां अन्यव्यतिरेक के द्वारा इस अन्तर्यामी को तुम आप जानने
योग्य हैं ॥ ४ ॥ और तुम अन्तकाल में कैसे जाने जाते हैं इस विषय में अन्त
समय ज्ञानकी उपाय और उसका फल देखावते हैं कि उक्त जो अन्तर्यामी स्वरूप
जो परमेश्वर मैं सो मेरे की स्मरण पर्वक देह त्याग करिके जो प्रकट रूप में
अर्चिरादि कहे सूर्य मण्डल में होय के उत्तरायण राहसे गमन करते हैं वे
मेरे स्वरूप को प्राप्त होते हैं इसमें संशय नहीं है मेरा स्मरण ही मेरा
की उपाय है और मेरे रूपता की प्राप्ति ही फल है ॥ ५ ॥ अन्तकाल में
स्मरण करके मेरी प्राप्ति ही केवल होय यही नहीं सोई कहते हैं कि हे कुन्तीपुत्र
अर्जुन अन्तकाल में जो कोई जिस देवता का या और किसी विषय का ध्यान
करके देह छोड़े है सो उसी को प्राप्त होता जिसका ध्यान किया है देखो सर्वदा
जिसका चिन्तन करते रहो तो अन्तकाल में भी अन्तःकरण में उसीका संस्कार
रहता है और नयी अपूर्व वस्तुका स्मरण होना भी कठिन है ॥ ६ ॥ पूर्ण वासनाही
जिसलिये मरण कालके स्मरण में हेतु है और अन्त समय प्राणीको अपूर्व वस्तुका
स्मरण असंभव है इससे हे अर्जुन सर्वदा हमको चिन्तन करो परन्तु मेरा चिन्तन
भी चित्तशुद्ध बिना दुर्लभ है सो तुम चित्तशुद्धि के अर्थ युद्धरूप स्वधर्मका अनुष्ठान
करो और तुम्हारा संकल्पात्मक मन तथा व्यवसायात्मिका बुद्धि मेरे से अर्पित भई
है इससे अनायास हम को प्राप्त होउगे इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥ और
स्मरण में परम कारण अभ्यास को देखावते ऊँचे कहते हैं कि अभ्यास कहे
समान जातीय की प्रतीतिका प्रवाह जो धारारूप वह योग है अर्थात् उपाय है
उससे एकाग्र होय जिसकी बुद्धि अन्य विषय में न जाय ऐसा मनुष्य उस बुद्धि के
द्वारा प्रकाश रूप परमेश्वर को निरन्तर चिन्तन करिके हे पार्थ उस परमेश्वर

सयोगयुक्तेनचेतसाऽनान्यगामिना । परमंपुरुषं दिव्यं याति पार्वानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥
कविंपुराणमनुशासितारमसोरणीयांसमनुस्मरेद्य । सर्वस्वघातरमचिन्त्यरूपमा
दित्यवर्णेतमसःपतस्तात् ॥ ९ ॥ प्रयाणकालेमनसाऽचलेनमत्तयायुक्तोयोगबलेनचैव ।
शुबोर्मध्येप्राणमावेश्यसम्यक्सुतंपरंपुरुषमुपैतिदिव्यं ॥ १० ॥ यदक्षरं वेदविदो
वदन्तिविशन्तित्यद्यतयोवीतरागाः । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यंचरन्ति ततो प्रदंसंग्रहेण

भाषा अनुवाद

को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥ फेरि भी चिन्तनीय पुरुष का स्वरूप दो श्लोकसे कहते
हैं कि कवि कहे सर्वज्ञ सकल विद्यों के निर्माण कर्ता पुराण कहे अनादि सिद्ध
अनुशासिता कहे समस्त जगतके नियन्ता और अणोरणीयांस कहे सूक्ष्म से भी
सूक्ष्म आकाश काल दिशोंसे भी सूक्ष्म औ सबके घाता कहे पोषण कर्ता अपरि-
मित महिमा से अचिन्त्य रूप अर्थात् मलयुक्त मनबुद्धि के अगोचर कहे अदृश्य औ
आदित्य वर्षा तथा तम को प्रकृति माया तिससे पर ऐसे मेरे रूप को जो स्मरण
करै है ॥ ९ ॥ प्रपञ्च संहत प्रकृति को भिन्न करिकै जो स्थित है ऐसे पुरुषको
भक्तियुक्त जो पुरुष विक्षेप रहित निश्चल मन से आसन्न कहे अन्तकाल मे घारा
बाहिक चित्तवृत्ति से स्मरण करै है उस के स्मरण विषयक मन की स्थिरता का
कारण यही है कि सम्पूर्ण योग गलसे शुपुष्पामार्गक्रमसे उसकी प्राणवायु अभ्यस्य मे
प्रविष्ट होती है ऐसा पुरुष परमात्मारूप प्रकाशात्मक पुरुष को प्राप्त होता है
॥ १० ॥ तिस प्रकाश पुरुष की प्राप्ति का हेतु अभ्यास योग की अपेक्षा प्रणव
अभ्यास को अन्तरङ्ग कहे थोड़ा साधन कहने की इच्छा रखते ऊँचे भगवान उसके
कहने की प्रतिज्ञा करते हैं कि हे मार्गि यही अक्षरस्वरूप परब्रह्म की शिक्षाक्रम
से सूर्य औ चन्द्रम मे नियुक्त होय स्थिति करते हैं वह युति के कहने से वेदवित
लोग जिस को अक्षर कहते हैं और जिस के राग आदि दोष गत भये हैं ऐसा
यती कहे यत्नकारी पुरुष जिसमे प्रवेश करते और जिसके जानने अर्थ शुरू जुलमे
वास करि ब्रह्मचर्य करते हैं सोई ब्रह्मपद तुमको संचोपसे कहता हूं तुम सुनो ॥ ११ ॥
ब्रह्मपद प्राप्ति को अङ्ग समेत उपाय दो श्लोक से कहते हैं कि इन्द्रियों को प्रत्याह-
रण पूर्वक अर्थात् चक्षु आदि मे बाह्य रूपादि विषयों का ग्रहण छोड़ि मन को

प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥ सर्वद्वाराणिसंयम्य समो हृदि निरुध्य च । मूर्ध्नि प्रायात्तनः प्राणमास्थितो
योगधारणां ॥ १२ ॥ ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् । यः प्रायाति तत्र
जन्देहं स याति परमां गतिं ॥ १३ ॥ अनन्यचेता स ततं यो मां स्मरति नित्यशः । तस्या
हं सुखमः पार्थ नित्यमुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥ मासुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयनशाश्वतं ।
नाप्नुवन्ति महांताः संसिद्धिं परमां कृताः ॥ १५ ॥ अब्रह्मसुखनाह्नोका पुनरावर्ति

भाषा अनुवाद

हृदय में रोष कर के अर्थात् विषय का स्मरण त्याग करत भौह के मध्य श्चकुटी
देश में वायु के स्थापन करने के अनन्तर योद्धा का धारणरूप जो धैर्य उस का
अवलम्बन कर के ॥ १२ ॥ ओकाराख्य एक जो अक्षर सो ब्रह्म का वाचक
अथवा ब्रह्म प्रतीक कहे प्रतिमा के समान इन दोनों हेतु से ब्रह्म है ऐसे प्रणव
कहे ओकार के उच्चारण पूर्वक तद्वाच्यरूप हम को स्मरण करि देह त्याग करते
जो मनुष्य अर्चिरादि मार्ग अर्थात् चन्द्र सूर्य मार्ग से गमन करते हैं तेई सर्वोत्तम
मेरी गति को पावते हैं ॥ १३ ॥ ऐसे ही अन्त काल में धारणा क्रम से नित्य
अभ्यासकारो पुनप को मेरी प्राप्ति होती है और को नहीं एतावता पूर्व वचन
हीं को स्मरण करावते हैं कि हे प्रार्थ जिस मनुष्य का चित्त भगवत को छोड़ि
और, में नहीं असक्त है ऐसा अनन्यचित्त होय जो निरन्तर या प्रति दिन हम
को स्मरण करै है उसी सनाहित पुरुष को हम अनायास मिलते हैं और
को नहीं प्राप्त होते हैं यह जानो ॥ १४ ॥ जो तुम स्वभक्त की ऐसे अनायास
मिलते हो तो फेरि उस का क्या होता है इस प्रश्ना पर कहते हैं कि पूर्वोक्त
महात्मा लोग मेरी भक्ति से मेरे को प्राप्त होय कर दुःख का भवन औ अनित्य
जो जन्म तिस को फेरि नहीं प्राप्त होते हैं क्यों कि वे परमसिद्धि को प्राप्त भये
अर्थात् जीवन्मुक्त होय जन्म मरण संसारदुःखसे छूटि जाते हैं ॥ १५ ॥ इस तरह
और और लोकमें भी उन भक्तों को पुनर्जन्म का अभाव देसाय कर अपुनरुत्थावृत्ति
निर्धारण करते हैं कि हे अर्जुन ब्रह्मा के लोक पर्यन्त प्राप्त हो के भी प्राणी
पुनर्बार संसारगामी होते हैं क्यों कि ब्रह्मलोक का भी एक दिन नाश होता है
और क्रमशः सुप्ति जो कष्ट है सो किसी विरले को उपासना के द्वारा ब्रह्मलोक

नोऽर्जुन । सासुपेत्यतुकौन्तेयपुनर्जन्मविद्यते ॥ १६ ॥ सहस्रयुगपर्यन्तमहर्षेष्ट
 क्षणोविदुः । रात्रियुगसहस्रान्तांतेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥ अव्यक्ताद्यक्तयः
 सर्वाप्रभवन्त्यहरागमे । रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तवैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥ भूतग्रामः
 स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते । रात्र्यागमेऽवशं पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥ परस्मै

भाषा अनुवाद

मे वाय ज्ञान प्राप्त होय ब्रह्मा के साथ सुक्ति मिलती है परन्तु हे कौन्तेय मद्गुप
 को प्राप्त तेरे सक्त का पुनर्जन्म तो नहीं होता है ॥ १६ ॥ और जो कहो कि
 तपस्वी दानी विगतराग औ क्षमाशील लोग त्रैलोक्यके उपर शोकरहित स्थानको
 प्रस्थान करि वास करते है इस पुराण के वचन से महर्षीक आदि लोको को और
 लोकसे उत्तमता मालूम होती है परन्तु विनाश तो सब लोकोंका है इस पदमें सब
 की अप्रकटता ही है ही विशेष यही है कि वे लोक वज्रत दिन तक स्थिर रहते
 है और ब्रह्माकी अपने बर्षोंसे सो बर्षकी आयुर्दा है औ त्रैलोक्य अर्थात् स्वर्ग मर्त्य
 पाताल ये ब्रह्मा के प्रति दिनमें उत्पन्न और प्रति रात्रि में प्रलय होते है ब्रह्माका
 एक दिन मनुष्यके हजार चतुर्गुणके बराबर का होता है और उत्तनीही रात्रि है
 और मनुष्य का एक वर्ष देवतो का राति दिन है इस हिसान से देवतों के पारह
 हजार वर्ष में चारि युग होते है जो यह जानते सोई सर्वज्ञ है और जो चन्द्र
 सूर्य की गतिको राति दिन जाते वे कुछ नहीं जाते है ॥ १७ ॥ जिससे कालगति
 के पराधीन सब लोक है इस से पुनरावृत्ति होती है सोई कहते है कि कार्यरूप
 जगत के अव्यक्त कहे सूक्ष्मरूप का कारण स्वरूप ही को प्रकृति कहते है उसी
 कारणरूप प्रकृति से ब्रह्मा के दिन में चराचर सकल उत्पन्न होते और रात्रि
 आने से फेरि उसी प्रकृति में लय पाते है ॥ १८ ॥ अब विषयों से वैराग्य होने
 के अर्थ सृष्टि औ लय का प्रवाह देखावते हैं कि हे पार्थ चराचर प्राणो साथ पूर्व
 में से तेई अवश कर्म के आधीन वारम्बार होते औ जाते है जब ब्रह्मा का दिन
 भया तब प्रगटे अब राति आई तो फेरि प्रकृति में लीन हो गये ऐसे ही हेरफेर
 लगा रहता है ॥ १९ ॥ सकल लोक की अनित्यता दिखाय कर अब दो लोक से
 परमेश्वर का नित्यत्व विस्तार करि कहते हैं कि सोई चराचर की कारणरूप

स्वात्तुभावोन्वोव्यक्तोव्यक्तात्सनातनः । यःसर्वेषुभूतेषुनश्यत्सुनविनश्यति ॥ २० ॥
 अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तास्तमाहुःपरमांगतिं । यंप्राथननिवर्त्तन्तेतद्दामपरमंभम ॥ २१ ॥
 पुरुषःसपरःपार्थभक्त्यालभ्यस्त्वनन्यथा । यस्यान्तःस्थानिभूतानिवेनसर्वमिदंततं ॥ २२ ॥
 यत्रकालेत्वनारुत्तिमावृत्तिञ्चैवयोगिनः । प्रयातायान्तितंकालंवक्ष्यामिभरतर्षभ ॥

भाषा अनुवाद

प्रकृति पर अर्थात् उस का भी कारण स्वरूप औ उस मे भिन्न वस्तु आदि का अगोचर भाव जो अनादि पुरुष सो यावत् कार्य कारणरूप भूत मात्त का नाश होने से भी नष्ट नहीं होते हैं ॥ २० ॥ अब परमेश्वर के अविनाशित्व मे प्रमाण दर्शाय कर कहते हैं कि जो भावरूप इन्द्रिय अगोचर प्रवेश नाश शून्य अक्षर स्वरूप परमेश्वर जिस से इस विश्व का उद्भव है औ युति सब जिस को अक्षर कहती हैं कि पुरुषांन्त किञ्चित्पर साक्षात् परागतिः जो सब के पर और जिस से पर कोई नहीं ऐसे युति जिस को उत्कृष्ट गति कहती हैं और जिस को प्राय कर फेरि संसार गति नहीं होती वही मेरा स्वरूप है इस से मै ही परम गति हो यह जानो ॥ २१ ॥ इस परमेश्वर की प्राप्ति मे भक्ति ही सब से बढि कै परम उपायरूप है इस को कहते हैं कि सोई परम पुरुष मै अनन्त भक्ति अर्थात् जिस भक्ति मे मै छोडि और कोई भी चिन्तनीय नहीं है ऐसी एकान्त भक्ति से मै मिलता हूँ और अब प्राप्तव्य पुरुष की श्रेष्ठता कहते हैं कि जिस पुरुषमे ये भूत सकल स्थित हैं और जो कारण रूप से समस्त जगत मे व्याप रहा है सोई मै हूँ ॥ २२ ॥ इस प्रकार से भगवत् उपासक परम पद प्राप्त हो के फेरि संसारगतिमे नहीं आवते हैं यह तीन श्लोक से कहा अब कौन मार्ग से गमन करिके फेरि आवते और कौन मार्गगामी फेरि नहीं आवते है यहा प्रकाश रूप से कहते हैं कि हे अर्जुन योगी जन जिस काल मे गमन करि आवते और जिस मे गमन करि नहीं आवते सो काल तुम से कहूंगा यद्यपि देह त्याग मे उत्तरायण काल श्रेष्ठ औ दक्षिणायन निकृष्ट है तौ भी व्याससूय से कहा है कि भगवत् भक्त दक्षिणायन मे उत्तम गति को जाते है यहा योगी कहे कर्मि औ काल से तद्भिमानिनी देवताको लेते हैं ॥ २३ ॥ और जिस मार्गसे प्रयाण करिके

॥ २३ ॥ अग्निज्योतिरहःशुक्लःपञ्चामासउत्तरायणं । तत्रप्रयातागच्छन्तिनक्षत्रा
विदोजनाः ॥ २४ ॥ धूमोरात्रिस्तथादृष्टःपञ्चामासादक्षिणायनं । तत्रचान्द्रमसं
ज्योतिर्योगीप्राप्यनिवर्त्तते ॥ २५ ॥ शुक्लदृष्टो गती ह्येते जगतः प्रावृत्तेभ्यः । एक
यायात्यनाद्यत्तिमन्ययाऽवर्त्तते पुनः ॥ २६ ॥ नैतेऽस्तीपार्थजनान् योगी सुहृत्तिकश्चन ।

भाषा अनुवाद

फेरि नहीं संसार गतिको प्राप्त होते हैं सोई मार्ग कहते हैं कि अर्थात् अभिमानिनी
अर्थात् अग्नि या ज्योतिरूप और यह कहे दिन औ शुक्लपक्ष तथा उत्तरायण औ
छ मास हैं और संवत्सर इन सब की अभिमानिनी देवता इहां लेते हैं यथा प्रथम
ज्योति में प्रवेश करि फेरि दिन से दिन से पक्ष से पक्ष से उत्तरायण छ माहीं में
उससे संवत्सर में संवत्सर से देवलोक में प्राप्त होय फेरि भगवत् उपासक यज्ञज्ञ
होय साक्षात् ब्रह्मस्वरूप होते हैं निष्काम कर्मकारी इस गति से जाते हैं ॥ २४ ॥
और जिस राह से गमन करि फेरि संसार में आवते सो कहते हैं कि प्रथम धूम
में प्राप्त होय फेरि धूम से रात्रि में रात्रि से दृष्टपक्ष में दृष्टपक्ष से दक्षिणायन
छ मास में तब प्रहलोक में उस से फेरि चन्द्रजोति में प्राप्त होय योगी फेरि
निवृत्त होते हैं इहां भी धूमादि शब्दों से तदभिमानिनी देवता लेते हैं कामना
करि कर्मकारियों की यह गति है कि कर्मफल भोग करि फेरि संसार होता
है ॥ २५ ॥ येई शुक्ल दृष्टा दो गती जगत में सनातन से चली आवती हैं इन में
निष्काम कर्मकारी ज्ञानी शुक्ल कहे प्रकाश मार्ग से गमन कर के मुक्त होते और
नाना मनोरथ कर के यज्ञादि कर्मकारी मनुष्य कृष्ण कहे अन्धेरी धूम मार्ग से
गमन कर कर्मफल भोग के अनन्तर फेरि संसार में आव्य नन्म ग्रहण करते हैं
॥ २६ ॥ इन दोनों उक्त मार्ग के ज्ञान से जो फल सो दिखावते ऊँचे भक्तियोग
कहते हैं कि हे पार्थ मोक्ष औ संसार की देनेवाली इन दोनों मार्ग को जानि
कर कोई योगी पुरुष सासारिक मोह को नहीं पावता अर्थात् सुख समझि स्वर्ग
आदि फल की कामना नहीं करता बल्कि परमेश्वर ही में निष्ठा करता है इस
से हे अर्जुन तुम भेरे भक्तियोग में युक्त होय के रहो ॥ २७ ॥ अध्याय का अर्थ
स्वरूप आठ प्रश्ना अर्थ निर्णय औ फलके सहित कहते हैं कि वेदों में अध्ययनके

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥ वेदेषु यज्ञेषु तपसु चैव दाने पुण्यं पुण्यं
फलं प्रदिष्टं । अथेतितत्सर्वं मिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यं ॥ २८ ॥ इति
श्रीभगवद्गीतायां तारकब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

भाषा अनुवाद

द्वारा और यज्ञों में अनुष्ठान द्वारा और तपस्यों में शरीर शोधन द्वारा और सर्व
दान में मत्पात्र के अर्पण से जो उत्तम पुण्यफल सब शास्त्रों में कहा है उस फल
को उसी हीन कौर के योगी येष्ठ योगरूप ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं अर्थात् परम पद
प्राप्त होते हैं ॥ २८ ॥ इति जगन्नाथसुक्लविरचित भगवद्गीता टीकायां तारकब्रह्म
योगनाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

नवम अध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच । इदमुत्तेषु ह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे । ज्ञानं विज्ञानं सहितं
यज्ञात्वा मोक्षमेषु भातु ॥ १ ॥ राजविद्याराजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमं । प्रत्य

भाषा अनुवाद

केवल भक्ति ही के द्वारा से परमेश्वर पाये जाते अर्थात् ईश्वरका तत्त्वज्ञान होना भक्तिके बिना कोई उपाय से सुलभ नहीं है यही अष्टम अध्याय में स्थिर किया है सोई ईश्वरका अद्भुत ऐश्वर्य्य औ अपनी भक्तिकी सर्व श्रेष्ठमहिमा अब नवम अध्याय में विस्तार से भगवान आपसपने मुखसे कहते हैं कि जिस से परमेश्वर जाने जाय सोई विज्ञान कहे उपासना तिस के सहित ईश्वरविषयक जो यह ज्ञान गुह्यतम अर्थात् शास्त्रोक्त धर्मज्ञान गुह्य कहे गोपनीय है और उस की अपेक्षा देहादि से भिन्न जो आत्मज्ञान सो गुह्यतर कहे अधिकगोपनीय है फेरि आत्मज्ञान गुह्यतम है अत्यन्त गोपनीय है सो असूया रहित अर्थात् बार बार अपना महात्म उपदेश करते ऊये मेरे मे दोष दृष्टि रहित तम हौ इस से मैं अब दया करि तम से कहूंगा कि जिस को जानि करि इस अशुभ रूप संसारबन्धन से छूटि जावगे ॥१॥ अब अर्जुन की इच्छा बढावने के हेतु जो ज्ञान कहेंगे उस की प्रशंसा करते हैं कि यह जो ज्ञान सो सकल विद्याओं का राजा और गोपनीय जो कुछ है उन का भी राजा अर्थात् सब से श्रेष्ठ है और यह अत्यन्त पावन तथा उत्तम है और ज्ञानियों को प्रत्यक्षावगम कहे जिस का बोधसुलभ है और धर्म कहे धर्म से भिन्न नहीं अर्थात् वेदविहित सर्व धर्म का फल स्वरूप है और सुसुख कहे अनायास साधन किया जाय सकै है और जिस हेतु अत्रय फल है इस से अव्यय

चावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुं मय्ययं ॥ २ ॥ अथ हृद्धानाः पुरुषा धर्मस्था खपरन्तप । य
 प्राथमानि वत्सन्ते ह्यत्युत्तमसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥ मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
 तत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहंते स्वस्थिताः ॥ ४ ॥ न च स तस्थानि भूतानि पश्य मे योग
 मैश्वरं । भूतभृन्न च भूतस्यो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥ यथाकाशस्थितो नित्यवायुः

भाषा अनुवाद

अर्थात् नाश रहित है ॥ २ ॥ जो इस ज्ञान से ऐसा सुख सुलभ है तो फिर
 कौन ऐसा अभागी है जो संसारी होगा इस यज्ञ पर कहते हैं कि यही भक्ति
 सहित ज्ञानस्वरूप धर्म को न कर के दूसरी उपाय से मेरी प्राप्ति के लिये जो
 लोग बल करते हैं वे मनुष्य हम को न पाय के ह्यत्युत्तम संसार ने बार बार
 आते और जाते रहते हैं ॥ ३ ॥ इस प्रकार से अक्सर प्राप्त जो ज्ञानकाण्ड तिसके
 श्रोता अर्जुन को उत्साहयुक्त करि के सोइ ज्ञान दो शोक से कहते हैं कि जिस
 का स्वरूप अव्यक्त कहे इन्द्रियों का अगोचर ऐसा कारणस्वरूप जो मैं सो मेरे से
 सम्पूर्ण जगत व्याप्त है कौं कि युति कहती है कि सोइ ब्रह्म संसार सृष्टि करि के
 उसके बीच जीवस्वरूप होय प्रविष्ट है इसकारण से चराचरालोक भूतभाव कारण
 रूप मेरे ही मे स्थित हैं परन्तु ऐसा भी है तो भी स्वकार्य घटादि में सृष्टिका के
 तुल्य मैं भूतों में नहीं हूँ जिस हेतु मैं आकाश के समान सदा रहित अर्थात् सबसे
 अलग हूँ ॥ ४ ॥ और देखो कि हम सबसे अलग हैं इस हेतु स्थावर जड़म सर्वभूत
 हमारे में नहीं स्थित हैं और जो यज्ञ करो कि मोझे तुमने अपना सर्वव्यापित्व
 और सब को आयय यह कहा है तो कहते हैं कि हमारी अघट घटनां रूप चातुरी
 देखो कि मेरी योगमायाके विभवयलसे यहवात वृक्षनेके अयोग्य है पर मेरा कहना
 तो किसीर्थसे विरुद्ध नहीं है और आचार्य लोग जीभूतभावन पालनकर्ता हमको
 कहते हैं तो भी हमारा उत्कृष्ट रूप भूतभावन नहीं है जैसे वीवगण देहधारण
 और पालन करते ऊँचे अहङ्कार से देह के साथ मिलत है तैसे निरङ्गुर हेतु से
 भूतों का लालन पालन करते ऊँचे भी हम उन में प्रयुक्त हैं यही मेरा ऐश्वर्य
 है ॥ ५ ॥ अतः मिल वस्तु भी आधार अधेय अर्थात् रहने की जगह और रहने
 वाली वस्तु होसके है यह दृष्टान्त देखायकर कहते हैं कि आकाशके बिना वस्तु

सर्वमगोमहान् । तथासर्वाणिभूतानिभूतस्थानोत्पत्त्यधारय ॥ ६ ॥ सर्वभूतानिकौ
न्तेयप्रकृतिर्यान्तिमामिकां । कल्पक्षयेपुनस्तानिकल्पादौविस्त्वाम्यहं ॥ ७ ॥ प्रकृ
तिंस्वामवष्टयविस्त्वामिपुनःपुनः । भूतग्राममिमंरुतस्त्वमवशंप्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥ न
चमांतानिकर्माणिनिवर्धन्तिधनञ्जय । उदासीनवदासीनमसक्ततेपुकर्मसु ॥ ९ ॥
मयाव्यक्षेणप्रकृतिःस्रयतेसचराचरं । हेतुनानेनकौन्तेयजगद्विपरिवर्त्तते ॥ १० ॥ अथ

भाषा अनुवाद

रहने का असम्भव है इससे आकाश में स्थित जो वायु सो सर्वगत और महान होने
भी आकाश के साथ मिलने की कोई उपाय न रहनेसे जैसे आकाश के साथ नहीं
मिलती है तैसेही भूत मेरेमें रहते ऊँचेभी अलग जानो यर्थात् जैसे आधाररूप
आकाश में रह कर वायु निर्मित है तैसे भूतोंके रहते ऊँचे भी आधार स्वरूप
महान् निर्मित है ॥ ६ ॥ इस से असङ्गरूप ईश्वर को योगमाया से चराचर की
स्थिति ईश्वर में कही गई अब सोई योगमाया से सृष्टि और पालन के भी हेतु
ईश्वर है यह कहते हैं कि प्रलय के समय में सकल भूत सत्त्व रज तम गुणमयी
मेरी प्रकृति में लीन होते फेरि सृष्टि के समय स्थूल सूक्ष्म नानारूप भूतों को
मैं सिर्जन करता हूँ हे कौन्तेय अर्जुन ॥ ७ ॥ जो कहो कि तुम असङ्ग निर्भिकार
सो कैसे सृष्टि करते हो इस अपेक्षा पर कहते हैं कि मैं अपने अधीन प्रकृति को
अंगीकार करि प्राचीन कर्मों के सुभाव वश भये पराधीन कर्मों के वशीभूत भूत
सकलकों फेरि नानारूप सिर्जन करता रहता हूँ ॥ ८ ॥ और जो कहो कि
इस प्रकार नाना प्रकार कर्मकारी जो तुम हो तो तुमारा जीवके समान बन्धन क्यों
न होय तो कहते हैं कि ये कर्म हमको बन्ध नहीं कर सकते क्यों कि कर्ममें जो
आसक्ति सोई बन्धन का कारण है और हम पूरण काम है इस से वह आसक्ति
हम को नहीं है हम तो उदासीन के समान वर्त्तमान हैं ऐसे ही उदासीन के
समान कर्म करते ऊँचे तुम को भी ये कर्म न लगेंगे ॥ ९ ॥ सोई कहते हैं
कि अधिष्ठाता कारण स्वरूप मेरे बल से यह प्रकृति चराचर विश्व को बार
बार उत्पन्न करती है तात्पर्य यह कि मेरी सान्निध्य कहे सामीप्य से प्रकृति
सृष्टि करने को समर्थ होती है इस से हम को कर्तृत्व और उदासीनत्व दोनों

जानन्ति मां मूढा मानुषीन्तनुमाश्रितं । परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरं ॥ ११ ॥
 मोघाशामोघकर्मणो मोघज्ञानाविचेतसः । राक्षसीमासुरीजैवप्रकृतिभो हनीषि-
 ताः ॥ १२ ॥ महात्मानस्तु मां पार्थदिवी प्रकृतिमाश्रिताः । भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूता-
 दिमव्ययं ॥ १३ ॥ सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढवता । नमस्तन्तश्च मां भक्त्या नित्य-

भाषा अनुवाद

असद्गत नहीं है क्योंकि भाषा हमारी सहाय के बिना असमर्थ है ॥ १० ॥ और जो कहो कि तुम ऐसे जो परमेश्वर तो तुमको कोई कोई आदर नहीं क्योंकि करते है तो दो श्लोकसे कहते है कि सर्व भूत के ईश्वर जो हम सो हमारा परमतत्त्व जो लोग नहीं जानते तेई मुख हमारा निरादर करते है इस में कारण यह है कि हम विगुह सत्त्वरूप होयके भी अपने भक्तों की इच्छा वशते मनुष्य के नाई शरीर धारण करते और तैसेही कर्मभी करते है इससे लोग अपने समान हम को मानते है ॥ ११ ॥ और जो मनुष्य हम से भिन्न और देवता से कि शीघ्र फल देयंगे ऐसी निष्फल आशा करते है और हमसे विमुख रीय जो फल के हेतु कार्य करै है और जिनके शास्त्रसे जो ज्ञान सो नाना कृतर्क युक्त है वेई सकल विचेतस कहे विचित्र चित्त लोग अनर्थ के हेतु हिंसादि तामस कार्य तथा काम अभिमान से भरी पूरी जो राजसी बुद्धि तिस के आश्रित होय हय को न जानि हमारा निरादर करते है ॥ १२ ॥ तो फिर तुमारी आराधना कौन करते है जो यह पूछो तो कहते है कि कामादिक में जिन का चित्त अवश नहीं ऐसे जो महात्मा लोग वे दैवी प्रकृति के आश्रित होते है इसी से हम को छोड़ि और से जिन का मन रमित नहीं है ते मनुष्य हम को समस्त भूतके आदि कहे जगत के कारण नित्य स्वरूप जानि कै भक्ति पूर्वक आराधन करते है ॥ १३ ॥ अब भक्तों के भजन का प्रकार दो श्लोकसे कहते है कि सर्वदा स्तोत्र औ मन्त्र से कोई मेरा कीर्त्तन करते ऊये मेरी उपासना करते है और कोई दृढ नियम करके ऐश्वर्य औ ज्ञानमें यत्न करते ऊये मेरे उपासक होते है और कोई भक्ति पूर्वक प्रणत होय मेरा सेवन करते है ऐसे नित्य युक्त कहे सावधान मेरेमे तत्पर होय मेरे भक्त मुझे सेवते है ॥ १४ ॥ और चराचर मात्र शीघ्र है ऐसा जो आत्मदर्शन सोई ज्ञान औ सोई

ज्ञातुपासते ॥१४॥ ज्ञानयज्ञेनचाप्यन्येयजन्तोभासुपासते । एकत्वेनपृथक्त्वेनवज्जघा
विश्वतोमुखं ॥१५॥ अहंक्रतुरहंयज्ञ स्वधाहमहमौपधं । मन्त्रोहममेवाज्यमहमग्नि
रहंजतं ॥१६॥ पितामहस्यजगतोभाताधातापितामहः । वेद्यप्रविणमोक्षारक्षक्षाम
यजुरेवच ॥१७॥ गतिर्मर्ताप्रभुः साचीनिवास शरणंसहृत् । प्रभवःप्रलयःस्थानंनिधानं
बीजमव्ययं ॥१८॥ तपाव्यहमहंवर्षेनिगृह्णास्युत्सृजामिच । अमृतञ्चैवमृत्युश्चसदस

भाषा अनुवाद

यज्ञ है इस प्रकार ज्ञान यज्ञ से कितने हम को पूजते हैं देखो कोई अभेद भाव
से और कोई हम भगवान के दास इस भेद भाव से उपासना करते हैं और कोई
हम को यज्ञा रुद्र आदि रूप समझ कर के सेवते हैं ॥१५॥ अब अपनी सर्व
रूपता चारि लोक से कहते हैं कि मैही क्रतु कहे वेदोक्त अग्निष्टोम आदि यज्ञ
और यज्ञ कहे धर्म शास्त्रोक्त वो पञ्च यज्ञ वलि वैश्व देवादि औ स्वधा कहे व्याह
और औपध अर्थात् फल होनेसे जो पकि जाय इससे अन्नभी आय गये और मन्त्र
औ आज्य कहे घृत आदि औ अग्नि कहे यज्ञाग्नि और होम यह वो कुछ सो सय
हम ही हैं ॥१६॥ और इस जगत के पिता माता तथा धाता कहे कर्मफलदाता
औ पितामह तथा वेद्य कहे ज्ञेयवस्तु औ विवि कहे गृह करनेवाले औ ओकार तथा
वृत्क यजुर साम अथर्व वेद यह समस्त मैही हौं ॥१७॥ और मैही गति कहे
प्राय कर्मफल रूप औ भर्ता कहे प्रोक्षणकर्ता औ प्रभु नियामक तथा साची शुभ
अशुभ के द्रष्टा औ निवास कहे भोगस्थान तथा शरण कहे रक्षक एवं सहृत् कहे
हेतु रहित हितकारी औ प्रभव अर्थात् जगतके उत्पन्नकर्ता प्रलय कहे संहर्ता स्थान
कहे विश्व के आधार और निधान कहे लय स्थान एवं बीज कहे कारण औ अव्यय
कहे अविनाशी मैही हौं ॥१८॥ और ग्रीष्मकालमे सूर्यरूप मैही समस्तको ताप
देता हौं औ वर्षाकालमे जल वृष्टि भी इसी करते हैं औ तथा कोई समय जल
किरणो से सींचते और कभी फेरि जल को छोड़ते भी इसी हैं औ अमृत कहे
जीवन मृत्यु कहे मरण औ मृत कहे श्चिवी आदि पांच स्थूल पदार्थ औ असत्
कहे सूक्ष्म वस्तु रूपादि पंच मात्रा भी है अर्जुन हम हीं को जानो इसी से लोग
नाना रूप हमारी उपासना करते हैं ॥१९॥ मद मेरा अनादर करते औ

आहमर्जुन ॥१६॥ त्रैविद्यामासौमपापुतपापायत्रैरिहास्वर्गतिप्रार्थयन्ते । तेषु
 मासाद्यसुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभागान् ॥२०॥ ततं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विधा-
 संक्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति । एवं त्रयीधर्ममनप्रपन्ना गता गतं कामकामालभन्ते ॥
 २१॥ अनन्याश्चिन्तयन्तो माये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वह-
 म्यहं ॥२२॥ येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते यद्वयान्विताः । तेषां मामेव कौन्तो ययजन्त्यवि-

भाषा अनुवाद

महात्मा मेरी भजन करते ऐसे पूर्व में भक्त प्रभक्त के लक्षण कहि के अब मूर्खों
 का जन्म मृत्यु रूप संसार प्रवाह दुर्निवार है यह दो श्लोक से कहते हैं कि
 जो मनुष्य ऋक् यजुः साम वेद पढ़ते हैं त्रैविद्या अर्थात् वेदोक्त कर्म परायण
 यज्ञ के द्वारा सर्व रूप जो मैं सो मेरी ही पूजा करि के और सोमलता का
 रस पीकर पुतपाप होय खेच्छा से स्वर्ग लोक को जाते हैं और पुण्य फलरूप
 स्वर्ग प्राप्त होय वहाँ के उत्तम देवभोग्य वस्तुओं का भोग है ॥ २० ॥ फेरि वेद
 स्वर्ग कामी मनुष्य अपना इष्ट विपुल स्वर्गसुख भोग करि के जब पुण्य क्षीय भई
 तब फेरि मर्त्यलोक में आते हैं आय के फेरि वही वेदवयी विहित धर्म कर्म
 करि के भोग कामनाकारी लोग गमनागमन भाव लाभ किया करते हैं अर्थात्
 कामी नीचे आते औ कामी उपर जाते रहते हैं ॥ २१ ॥ और हमारे भक्तजन मेरी
 कृपा ही से कृतार्थ होते यह कहते हैं कि जिन के हमें छोड़ि और कोई मन
 कामना नहीं है तेई अनन्य भक्त हमारी सेवा करते हैं नित्याभियुक्त सर्वदा एक
 मेरे में है मन जिन का उन का योगक्षेम अर्थात् योग जो धन आदि लाभ और
 क्षेम जो प्राप्त वस्तु का रक्ष सो मैं करता हूँ अथवा निर्विण जो सुक्ति यद्यपि वे नहीं
 चाहते पर मैं उन को अपनी इच्छा से देता हूँ ॥ २२ ॥ जो कहा कि विचार में
 तो सर्व देवरूप तुमको छोड़ि और देवता कौन है देखो सब रूप जो हमारे हैं तो
 इन्द्रादि के पञ्चक लोग भी हमारे ही उपासक हैं फेरि क्या कारण है जो वे
 विचारे उपर नीचे गमनागमन किया करते हैं इस पर कहते हैं कि हाँ अथवा
 युक्त जो इन्द्रादि देवताओं की आराधना करते हैं सो मत्त्व हमारी सेवा है परन्तु
 वे अविधि से अर्थात् भोक्तृकी देनहार विधि को छोड़ि कर पूजन करते हैं इसीसे

धिपूर्वकं ॥२३॥ अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभु रेव च । न तु मामभिजानन्ति तच्चेना
तथा वन्ति ते ॥२४॥ यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रता । भूतानि यान्ति भूते
ज्यायान्ति मदद्याजिनोऽपि मां ॥२५॥ पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं
भक्त्युपहृतमग्नामि प्रयात्मनः ॥२६॥ यत्करोष्वियदग्रासियञ्जुहोषिददासियत् । यत्त
पस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व भदर्पणं ॥२७॥ शुभाशुभफलैरेवं मोक्षयसे कर्मबन्धनैः । संन्या

भाषा अनुवाद

पुनः पुनः संसारको पावते हैं ॥२३॥ पूर्व कथित वाक्यको विस्तारसे कहते हैं कि
देवता स्वरूप यज्ञफल भोक्ता नहीं हैं और प्रभु कहे यज्ञफल दाता भी मैं ही हूँ
पर इस तरहसे वे देवपूजक लोग यथावत कहे ठीक नहीं जानते हैं इसीसे फेरि
संसारगति को आवते हैं और सर्वदेव मे इनको अन्तर्यामीरूप देखि जो मेरा
अर्चन करते वे पुनः संसारगतिको नहीं पावते हैं ॥२४॥ अब वही उक्त वाक्यका
प्रतिपादन करते हैं कि जो देवव्रत कहे इन्द्रादि देव उपासक हैं वे देवलोक को
जाते औ पितृ उपासना करनेवाले पितृलोक को जाते तथा भूत सेवाकारी अन्त
मे भूत जोनि पावते हैं और जो मेरो पूजा करै हैं सो भद्याजी अक्षय परमानन्द
स्वरूप हमको ही प्राप्त होयं हैं ॥२५॥ अब स्वभक्त को अक्षय फलत्व औ स्वभक्ति
का सुलभत्व देखावते हैं जो मनुष्य भक्तिपूर्वक पत्र पुष्प फल जल मात्र भी
हमै देय है वह विमलचित्त भक्तजन की प्रीति से दिया ज्ञा पुष्पादि मैं
अति प्रसन्न होय ग्रहण करता हूँ इस का भाव यह है कि और देव के
समान वही पूजा सामग्री हमै न चाहिये हम केवल भाव भक्ति से प्रसन्न
होते हैं ॥२६॥ जिस लिये मैं भाव भक्ति से भक्त पर प्रसन्न होता हूँ
इस से है कौन्तेय कुन्तीपुत्र जो कुछ कर्म करो या आहार करो या यज्ञ
करो या दान करो या तप करो सो सब मदर्पण अर्थात् मेरे को समर्पण करो
तो वह सब अक्षय फल होगा और दोष किसी तरह से न लगेगा ॥२७॥
इस प्रकार आचरण करने से जो फल होगा सो सुनो कि उक्त प्रकार से कम
सकल भगवत समर्पण करनेसे कर्मबन्धन अर्थात् कर्मजनित इष्ट अनिष्ट फलप्राप्ति
मे वधि रहोगे और मेरे मे समर्पित जो कर्म संन्यासयोग उसी से युक्तचित्त हो

सयोगयुक्तात्माविमुक्तोऽसौमुपैष्यसि ॥२८॥ समोऽहं सर्वभूतेषु न मे हेत्योऽस्ति न प्रियः ॥
 ये भजन्ति तमांभक्त्या मयि ते ते पुचाय हं ॥२९॥ अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्य
 भाक् । साधुरेव समनन्यः सत्यग्व्रतः सितो हि सः ॥३०॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छा ।

भाषा अनुवाद

के हम हम को निःसन्देह प्राप्त होचगे ॥ २८ ॥ भला जो मर्त्तों को इस भाँति
 मुक्त करते हो श्री भक्तों को नहीं तो क्या तुम्हारे भी प्रीति विरोध कृत वैषम्य
 कहे विषम स्वभाव है इसके उपर अपने उस भाव का अभाव कहते हैं कि सकल
 भूत में हम समान रूप से वर्त्तमान हैं इसीसे हमारे न कोई प्रिय और न अप्रिय
 है और जो हमारी भक्ति करता है सो हमारे में वर्त्तमान और मैं भी उस पर
 अनुग्रह करता रहता हूँ इस का भावार्थ यह है कि जैसे अग्नि के सेवन करने
 वाले का अन्धकार और शीत आदि दुःख का निवारणकारी अग्नि में विषम स्वभाव
 नहीं है और जैसे कल्पवृक्ष अपने सेवक को सकल पदार्थ देता है तो इन को
 प्रिय अप्रिय कोई नहीं परन्तु फल जो है सो भक्त ही को है इस से भक्ति ही की
 महिमा यह सब हम जानो ॥ २९ ॥ और अपनी भक्ति का अपूर्व अचिन्त्य प्रभाव
 देखावते हैं कि अत्यन्त दुराचार कहे और और देखावता भी वासुदेव ही है
 इस रूप एक बुद्धि होय यद्यपि औरों की भक्ति न कर के केवल परमेश्वर स्वरूप
 मही को भजै है तो भी सो साधु श्री श्रेष्ठ है क्योंकि मेरे में उत्तम निश्चय तो
 उत्पन्न किया है ॥ ३० ॥ ऐसा मनुष्य किस प्रकार उत्तम है इस शङ्का पर
 कहते हैं कि अत्यन्त दुराचारी भी हमारी ही भक्ति कर के स्वधर्मचित्त होय है
 अर्थात् चित्त की तरङ्ग निवृत्त होय परमेश्वर में निष्ठा अवश्य पावता है और तर्त
 धर्मात्मा होता और शान्ति को प्राप्त होता है पर इस बात को कुतर्क कर्कशवादी
 लोग न मानेंगे इस शङ्का से व्याकुल अर्जुन को भगवान् उत्साह देते हैं कि
 हे कौन्तेय नगरा ब्रह्माय विवादकारी लोगों को समा में जाय हाथ उठाये तुम
 नि शङ्क हो यह प्रतिज्ञा करो कि परमेश्वर के, भक्त अति दुराचार होने से भी
 नष्ट नहीं होते बल्क हतार्थ होते हैं ऐसी प्रतिज्ञा करने पर तुमारी अय और मे
 नष्ट कुतर्क होय तुम को शुरू कर के मानेंगे सो तुम यह जानो कि मेरे भक्त का

न्तिनिर्गच्छति ॥ कौन्तेयप्रतिजानीहिनमेभक्त प्रख्यस्यति ॥३१॥ मां हि पार्थव्यपायि
त्वयेऽपि सुःपापयोनयः । स्त्रियो वैश्वास्तथासुद्रास्तोऽपि यान्ति परांगतिं ॥३२॥ किंपुन
र्मांश्च । पुण्याभक्ता राजर्पयस्तथा ॥ अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व मां ॥३३॥
मम नाम भवभक्तो मया जीर्णमनमस्तु ॥ मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥
इति श्रीभगवद्गीतायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजगुह्यनाम नवमोऽध्यायः ॥६॥

भाषा अनुवाद

नाश नहीं है ॥३१॥ अत्यन्ताचार मटोको भी जो मेरी भक्ति प्रविष्ट करती है
इससे क्या आश्चर्य है क्योंकि देखो मेरी भक्ति अनधिकारीयों को भी संसारसे मुक्त
करती है तो दुराचाराकी सुक्तिसे क्या सन्देह है सोई कहते हैं कि कोई निष्ठ
जन्म चाण्डाल आदि क्यों न होय और स्त्री क्यों न होय स्त्री में भी वैश्या क्यों न
होय वैश्या ही को वैश्या कहते स्वार्थ में अण प्रत्यक्ष जानो जो कोई वैश्या का अर्थ
वशिक जाति पर लगाते उन की मुक्त कितनी पड़ी है कि वेद ब्रह्म के अधिकारी
तथा संध्या उपासना कर्म के अधिकारी तथा यज्ञउपवीतधारी दिवाति शब्द से
प्रसिद्ध वैश्य जो अनधिकारी है तो तो ब्राह्मण क्षत्री भी तैसे ही हैं मनभावता
अर्थ करो वेद शास्त्र क्या करना है ॥३२॥ जब कि मेरी भक्ति अनधिकारीयों
को मुक्ति देती तो फिर ब्राह्मण कहे ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों को ब्राह्मण क्षत्री
वैश्य पवित्र चौ मेरे भक्त उन की सुक्ति में क्या सन्देह है तिस में भी राजर्षि
अर्थात् राजवंश क्षत्रिय राजा लोग जो दशदिग्पालों के अंग से प्रगट हैं उन को
क्या कहना है सो तुम राजवंश हो इस अनित्य संसार सुख को त्याग करि के
यह लोक कहे नर देह पाय हम को भजो ॥३३॥ भजन प्रकार देखवते ऊंचे
कहते हैं कि मेरे में जिस का मन है ऐसे तुम मग्न होओ और मेरे ही भक्त
होओ औ मेरो ही प्रजा करो और मैं ही को प्रणाम करो इसी प्रकार से मत्परा
यण हो के आत्मा जो मन तिस को मेरे में योग कहे लगाय के परम आनन्दरूप
मेरे स्वरूप को प्राप्त होओगे इस नवये' अध्याय में अपनी भक्ति का अद्भुत प्रभाव
राजयोग नाम भगवान ने प्रकाश किया है ॥३४॥ इति श्रीभगवद्गीतायां योगशास्त्रे राजगुह्ययोग नाम नवमोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

दशम अध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच । मयैवमहाबाहोऽष्टांशमेयरमं वचः । यत्तेऽहं प्रीयमाणाय दत्त्वा
मिहितकाव्यया ॥१॥ न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः । अहमादिर्हि देवानां
महर्षीणाञ्च सर्वशः ॥२॥ यो मामलज्जनादिष्वेति लोकमहेश्वरं । असंभूदसमर्थं

भाषा अनुवाद

सप्तम अध्याय से ले कर नवम अध्याय पर्यन्त भगवानने आपनी विभूति और सर्वत्र
ऐश्वर्य बुद्धि होना तथा आप आपना परमेश्वरत्व और यज्ञ आदि सकल वस्तु मैंहीं
हूँ और अपनी अनन्त शक्ति परम भक्त अर्जुन से संक्षेप रूप कहा अब दशम
अध्याय में वही अपनी विभूतियों को विस्तार करि कहते ऊँचे स्वभक्ति की अवस्था
कसंख्यता श्रीभगवान कहते हैं कि हे महाबाहो अर्जुन तुम फेरि हमारे वचन
सुनो परमात्मा विषयक मेरे वचन अस्मत् ऐसे अवश करिके अति प्रसन्न प्रीतियुक्त
जो तुम सो तुमारी इच्छा के अनुसार तुमारे इहत वचन मैं कहता हूँ तुम अवश्य
करो ॥१॥ कही ऊँई बात का यो पुनर्वाच कहना तिसमे हेतु यह कि मेरा तत्त्व
जानना अति कठिन है सोई कहते हैं कि जन्म रहित होके भी जो विभूतियों के
द्वारा मेरा आविर्भाव कहे प्रगट होना सो देवता और मृत्यु प्रकृति महर्षि भी नहीं
जानते हैं को कि देवता और महर्षियों के उत्पन्न करने वाले तथा बुद्धिके प्रवृत्ति
देनहार आदि भूत कारणरूप हम हैं इसी से हमारी कृपा बिना हम को कोई
जानने नहीं सकता है ॥२॥ अब आत्मज्ञान का फल कहते हैं कि सब के कारण
रूप हेतु और जिसका कोई कारण नहीं है ऐसे अनादि और जन्म रहित सकल
लोक के महेश्वर जो मैं सो मुझ जो कोई जानै है तो मनुष्यों के मध्य में वही

सुसर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥ बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमासत्यदमः शमः । सुखदुःखं भयोऽ
भावो भयञ्चानयमेव च ॥४॥ अहिंसा समता तृप्तिस्तपोदानं यशोऽयशः । भवन्ति भा
वाभूतानां मत्त एव यथैव विधा ॥५॥ महर्षयः सप्तपूर्वचत्वारो मनवस्तथा । मद्भावा मा
नसा जाता ये पांलो कइमाः प्रजाः ॥६॥ एतां विभूतियोगञ्च समयो वेत्ति तत्त्वतः । सोऽपि
कल्पेन योगेन युज्यते नावसंशयः ॥७॥ अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । इति म
त्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥ मच्चित्तमद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परं । कथ

भाषा अनुवाद

अच्छीतरह मोह रहित होके समस्त प्राणीसे छूट जाय है ॥३॥ अब तीन श्लोक
से अपनी लोकमहेश्वरता प्रकाश करते हैं कि बुद्धि कहे सार असार वस्तु विचार
की चातुरी औ ज्ञान तथा असंमोह औ क्षमा सत्य वचन और दम कहे बाहर की
इन्द्रियोंका दमन औ शम कहे मनःका नियंत्र औ सुख दुख जन्म नाश औ भय
अभय ये सब हम से होते हैं ॥४॥ और अहिंसा शमता कहे प्रीति विरोध का
अभाव औ तृप्ति कहे वे मांगे यथा लाभ सन्तोष औ तपस्व आदि १७ अध्याय मे
कहैगे और दान कहे स्वधर्म से उपाचित धन सत्पात्र को देना और यश अवय
ये नाना प्रकार के भाव सब इस ही से उत्पन्न होते हैं ॥५॥ और ऋगु आदि
सप्त महर्षि येई पुराणों मे सात ब्राह्मण करके प्रसिद्ध हैं और इन के भी पूर्व सन
कादि चारि ब्राह्मण और खायम्भू आदि चौदह मनु इन सब मे मेरा प्रभाव है
और ये सकल हिरण्यगर्भ जो मैं सो मेरी इच्छा से प्रगटे हैं येई सात ऋषियों से
पुत्र पौत्र शिष्य ग्रन्थि क्रमसे प्रत्वारूप ब्राह्मणादि वर्ण सकल जन्मे हैं ॥६॥ अब
यह सप्त उक्त विभूति कहे अपनी सम्पत्ति के तत्त्वज्ञान का फल कहते हैं कि येई
ऋगु आदि हमारी विभूति औ ऐश्वर्यरूप योग है यहको मनुष्य यथार्थ से जानै है
सो संशय रहित सर्वज्ञ सम्यक् दर्शन होय है ॥७॥ अब विभूति औ योग जाननेसे
जिस प्रकार सम्यक्ज्ञान प्राप्ति होती है सोई चारि लोकसे देखावते हैं कि सैहीं
समस्त जगत का प्रभव अर्थात् ऋगु आदि मनु आदि रूप विभूति के द्वारा उत्पत्ति
का हेतु है और हमी से बुद्धि औ ज्ञान सकल उत्पन्न होते यही जानिके विवेकी
योग प्रीतियुक्त होय हमारी भजन करते हैं ॥८॥ प्रीतिपर्वक भजन का स्वरूप

यत्तच्च मानित्यंत्यन्ति चरमन्ति च ॥६॥ तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकं ।
 दामिबुद्धियोगंतं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥ तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजंतमः ।
 नाशयंभ्यात्मभावस्यो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥ अर्जुन उवाच ॥ परं ब्रह्म परं धाम
 पवित्रं परमं भवान् । पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विमुं ॥१२॥ आहुस्त्वान्मत्पथः
 सर्वदेवर्षिर्नारदस्तथा । असितदेवलो व्यासः स्वयन्मैव वीर्यपीपिमे ॥१३॥ सर्वमेतद्वर्तमानं

भाषा अनुवाद

कहते हैं कि जिसका चित्त मेरे ही मे निरत है सो भवित्त और जिसके प्राण
 कहे सकल इन्द्रिय अथवा जीवन मेरे मे अर्पित है ऐसे भक्त प्राण विवेकी जन
 हमको युक्ति औ श्रुति प्रमाण से जानते हैं और सर्वदा परस्पर मेरी ही चर्चा
 करते ऊँचे सदा सन्तुष्ट मन मेरे गुण गान मे रममाण पूर्णकाम इस असार
 संसार के जङ्गल से मुक्ति पाते हैं ॥६॥ ऐसे ही भक्तों को हम ज्ञान प्रदान
 करते हैं सोई कहते हैं कि एवम्भूत मेरे मे सदा आसक्त चित्त औ प्रीतिपूर्वक
 भजनकारी भक्तलोगों को मे सोई बुद्धिरूप योग कहे उपाय देता हूं और उस
 उपाय से वे मेरे भक्त सुखे अनायास प्राप्त होते हैं ॥१०॥ बुद्धियोग दे करके
 उन अपने भक्तों का फेरि अविद्याकृत संसार नाश करता हूं अब यह कहते हैं
 कि उन पर अनुग्रह करने ही के अर्थ उन के अज्ञान से उत्पन्न जो संसार अन्य
 कारितियों को नाश करता हूं जो कहो कि किस स्थान मे बैठके और कौन प्रकार से
 सो अन्यकार आप दूर करते हो तो कहते हैं कि आत्मभाव कहे बुद्धिचित्त मे अब
 स्थान करके प्रकाशमान तत्त्वज्ञानस्वरूप दीपके द्वारा अज्ञान अन्यकार दूर करता
 हूँ ॥११॥ संक्षेपरूप से कही गई जो विभूति उसको शिस्तार से जानने की इच्छा
 करिके अब अर्जुन भगवानकी कृति करते ऊँचे सात श्लोक से कहते हैं कि आप पर
 ब्रह्म औ परमधाम कहे आश्रय औ पवित्र हो इस कारण यह कि नित्य कहे सदा
 वर्तमान, पुरुष स्वयं प्रकाश आदि देव औ जगत् सर्वव्यापी तमको कृति कहते
 हैं ॥१२॥ कौन ऐसा कहते हैं तो इस पर कहते कि ऋग्यजु आदि ऋषि-सकल
 और देवर्षि नारद असित ऋषि देवल व्यासदेव ये सब कहते और आप भी
 साक्षात् हम से कहते हो ॥१३॥ इससे अब आपके ऐश्वर्य मे असंभावना बुद्धि

न्येपन्मावदसिकेशव । नहि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवान दानवाः ॥१४॥ स्वयमेवात्म
नात्मानं वेत्यत्वं पुरुषोत्तम । भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥ वक्तुमर्हस्य मे
यद्विद्या ह्यात्मविभूतयः । याभिर्विभूतिभिर्लोकानि मां स्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥ कथं
विद्यामर्हयोगिस्त्वासदा परिचिन्तयन् । केपु केपु च भवेपु चिन्त्वोसि भगवन्मया ॥१७॥

भाषा अनुवाद

निदृष्ट हो गई यह कहते हैं कि हे केशव आप जो कहते हैं कि सब रूप हम हैं
सो मैंने सत्य करि माना और जो आपने कहा कि सकल देवता हम को नहीं
जानते वह भी यथार्थ करके मैंने जाना है सोई अर्जुन कहते हैं कि हे भगवान्
भक्तों औ देवतों पर अनुग्रह के अर्थ जो हमारे अवतार यह देवता नहीं जानते हैं
और दानव भी यह नहीं जानते कि हमारे निग्रह के लिये भगवान् का शरीर
धारण भया है ॥१४॥ तो इसका प्रलित अर्थ क्या है इस आकांक्षा पर कहते
हैं कि हे पुरुषोत्तम आपही अपने को जानते हैं और कोई तुमको नहीं जानै
है यह अति आदर से बारम्बार सम्बोधन दे कर कहते हैं कि हे भूतभावन भूतेश
देवदेव जगत्पते इन सब सम्बोधनों से श्रीकृष्ण का पुरुषोत्तमत्व साधन किया
है ॥१५॥ जिस हेतु हमारा तत्त्व औ अभिव्यक्ति तुमको छोड़िके देवादि भी नहीं
जानते इस से हमारी जो अद्भुत विभूति सो हमारे ही कहने योग्य है कि जिन
विभूतियों से तुम सकल लोक में व्याप रहें हो सो अपनी उन दिव्य विभूतियों को
छापा करि के कहो जो मेरे मन का सन्देह जाय ॥१६॥ इस से अर्जुन अपने
कहने का प्रयोजन देखलाय कर प्रार्थना करते हैं कि हे योगिन् श्रीकृष्ण मैं तुम
को किस्तरह हमारी विभूति भेदके द्वारा निरन्तर भावना करिके जानने सकौंगा
और भिन्न भिन्न विभूति में चिन्तनीय तुम कौन कौन पदार्थ में मेरी भावना के
योग्य हैं अर्थात् किस किस वस्तु में तुमैं हम जानें ॥ १७ ॥ चित्त की वृत्ति वहि
मुख होने पर भी उस समे हमारी विभूतियों के द्वारा जिस प्रकार हमारा
चिन्तन होय ऐसी उपाय विस्तार से कहो यह अर्जुन प्रार्थते हैं कि हमारा सर्व
ज्ञान और सर्वशक्तिमत्त्व आदि स्वरूप जो योग का अैश्वर्य और सम्पूर्ण विभूति जो
है सो सब हे, अनार्दन विस्तार से पुनर्बार कहो क्यों कि आपके अन्त स्वरूप

विस्तरेणात्मनायीं विभूतिञ्ज्वनादेन । मयः कथयद्विहिंशद्वयतोनास्मि मेष्टतः ॥
 १८ ॥ श्रीभगवानुवाच । हन्तते कथमिष्यामि दिव्याह्यात्मविभूतयः । प्राधान्यतः
 कुरुष्वेष्टनात्पुनस्तो विस्तरस्थमे ॥ १९ ॥ अहमात्मा गुहाकेय सर्वभूताश्रयस्थितः ।
 अहमादित्यमध्यञ्च भूतानामन्तएव च ॥ २० ॥ आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषारवि
 रंगुमान् । सरीचिर्महतामस्मिन्क्षेत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥ वेदानां सामवेदोऽसि
 देवानामस्मि वासवः । इन्द्रियाणां मनसास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥ ब्रह्मा
 णां शङ्करास्मि विष्णोश्च रक्षसां । वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहं ॥ २३ ॥

भाषा अनुवाद

बचन अर्थ कहते हैं ये भी मेरा मन लग्न नहीं होता है ॥ १८ ॥ अब अर्जुन ने
 श्रीश्री प्रार्थना किया तब भगवान् कहते हैं कि हे कुरुष्वेष्ट अर्जुन मेरी जो दिव्य
 विभूतियाँ हैं सो तुमको अच्छी प्रकार से कहूँगा और विस्तार से कहने को तो
 मेरी विभूतियों का अन्त नहीं है इस से प्रधान प्रधान जो हैं सो सब कहूँगा
 ॥ १९ ॥ अब प्रथम ईश्वर स्वरूप कहते हैं कि हे गुहाकेय जितनिद्र अर्जुन
 परमात्मारूप मैं तावत् भूतमात्र के अन्तःकरण में सर्वज्ञत्व आदि गुण से नियन्ता
 रूप स्थित हूँ और आदि मध्य अन्त कहे सर्व भूतों के सृष्टि स्थिति संहार का
 हेतु भी मैं ही हूँ यह जानो । गुहाका निद्रा को कहते हैं अथवा गुहा कहे
 गुडचियाले धूंधुराते हैं केय जिस के सो गुहाकेय है ॥ २० ॥ अब इस लोक से ले
 कर अर्थात् समाप्ति पर्यन्त अपनी विभूतियों को कहते हैं कि बारह अदितिके पुरों
 में विष्णु नाम आदित्य मङ्ग और प्रकाशरूपों के मध्य सर्वत्र व्यापी रविरूप मैं ही
 और सप्त देवतों के बीच सरीचि नामक हूँ जानो और नक्षत्रगण में चन्द्रमा भी
 मैं ही को मानो ॥ २१ ॥ और वेदों में साम वेद देवतों में इन्द्र और इन्द्रियों के
 मध्य में मन प्रधान इन्द्री मैं ही तथा भूत कहे प्राणियों के विशेष चेतना जो ज्ञान
 शक्ति सो मैं ही हूँ ॥ २२ ॥ और एकादश रुद्रों में शङ्कर और यक्ष राजाओं में
 कुबेर मैं ही असुरों के बीच में अग्नि और पर्वतों में सुमेरु जानो ॥ २३ ॥ और हे
 अर्जुन पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति हम हैं और सेनापतियों में स्वामकार्तिक हम
 हैं और सरसा कहे धिर जलाशयों के मध्य समुद्र हम को जानो ॥ २४ ॥ और

पुरोधसाञ्चसुख्यं मां विद्विषार्थं दृष्टव्यं । सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्त्रिसागरः ॥ २४ ॥ महर्षीणां भृशुरहं गिरामस्त्रेकमक्षरं । यज्ञानां वपयज्ञोऽस्त्रिंशोऽपराधा हिमालयः ॥ २५ ॥ अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणाञ्च नारदः । गन्धर्वीणां च विनरथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥ उच्चैः श्वसन् श्वानां विद्विषामस्ततो ह्रवः । एरावतं गजेन्द्राणां नराणाञ्च नराधिपः ॥ २७ ॥ आयुधानामहं वज्रं धेनूनां मस्त्रिकामधुकं । प्रजनद्यास्त्रिकन्दर्पः सर्पाणामस्त्रिवासुकिः ॥ २८ ॥ अनन्तस्यास्त्रिनागानां वरुणोऽयं दसानहं । पितृणां मरुत्यमावास्त्रियमः संयमतामहं ॥ २९ ॥ प्रह्लादस्यास्त्रिदैत्यानां कालः कलयतामहं । रुगाणाञ्च रुद्रोऽहं वनतेयश्च पक्षिणः ॥ ३० ॥ पवनः प्रवतामस्त्रिरामः शस्त्रभृतामहं । कृपाणां मकराश्चास्त्रिखोतसामस्त्रिजाह्नवी ॥ ३१ ॥

भाषा अनुवाद

महर्षियों में हूँ और अक्षर तथा पद आत्मक वाक्यके बीच श्रोकार अक्षर भी मैं हूँ और यज्ञों में हिंसा रहित हेतु से वप्ररूप यज्ञ मैं हूँ खावरो में हिमालय भी हमहीं हैं ॥ २४ ॥ और वृक्ष जातियों में अश्वत्थ कहे पीपर और देव ऋषियों नारद मैं हूँ और गन्धर्वगणों में विनरथ और सिद्ध कहे आरुक्ष से परमार्थ तत्त्व ज्ञानियों में कपिल मुनि मैं हूँ ॥ २६ ॥ अश्व कहे घोड़ों में उच्चैः श्वा और गजेन्द्रों में औरावत तथा मनुष्यों में नरपति राजा भी मैंहीं हूँ ॥ २७ ॥ और आयुधों में वज्र और धेनु सकलमें कामधेनु और प्रजा उत्पत्तिकारी जो कन्दर्प सो मैंहीं हूँ तथा सर्पों में वासुकी भी हमें जानो विषधारियों की सर्प संज्ञा है ॥ २८ ॥ नरगों में अनन्त शेष नाग और जल जीवों में वरुण राजा मैं हूँ और पितरों में अर्यमा तथा दण्डकारियों में यमराज हमें जानो । नाग और सर्प में यह भेद है कि विष रहित को नाग कहते हैं ॥ २९ ॥ दैत्यों में प्रह्लाद मैं हूँ और वंश करनेवालों में संख्या में काल मैं हूँ रुद्र जाति में रुद्रोऽहं कहे सिंह मैं तथा पक्षियों में गरुड मैं हूँ ॥ ३० ॥ और पवित्र तथा वेगवानों में पवन कहे वायु और शस्त्रधारियों में राम दशरथ के पुत्र हम को जानो तथा मरुतियों में मरुत नाम मरुत मैं हूँ और खोत कहे प्रवाहरूप नदियों में जाह्नवी गङ्गाभी मैंहीं हूँ ॥ ३१ ॥ स्वर्ग कहे आकाश आदि पदार्थों में आकाश जो आदि मध्य अन्त में सदा शर्तमान सो मैं हूँ अथवा

सर्गाणामादिरन्ताश्च मध्यञ्चैवाहमर्जुन । अध्यात्मविद्याविद्यानां वादः प्रवदतामहं ॥ ३२ ॥
 अक्षरस्यामकारोऽस्मिदहम् । सत्त्वसंसारस्य च । अहमेवाक्षयः कालो धाता
 विश्वतो मुखः ॥ ३३ ॥ शब्दः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यता । कीर्त्तिः श्रीर्वाक् च नारी
 सा स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥ दृष्टत्वा मत्तथा साक्षां गायत्रीच्छन्दसामहं । मासा
 नामार्गशीर्षो हस्ततूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥ द्यूतं छलयतामस्मि ते जस्ते जस्विनामहं ।
 जय्योऽस्म्यवसावोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहं ॥ ३६ ॥ दृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि प्रागुवा
 नाधनञ्जयः । मुनीनामयहं व्यासः कवीनामुशनः कविः ॥ ३७ ॥ दण्डोदमयताम
 स्मि नीतिरस्मि जिगीषता । मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहं ॥ ३८ ॥ यज्ञा

भाषा अनुवाद

वृष्टि मे आदि मध्य अन्त मे हूँ तथा हे अर्जुन विद्या मे अध्यात्म विद्या औ प्रवाद
 करने वालों के बीच वादरूप मे हौं जिससे सिद्धान्त पक्ष विर होता है ॥ ३२ ॥
 और अक्षरों के मध्य मे अक्षर अक्षर मे हूँ और समासों के विषे उभय पद
 प्रधान इन्द्र समास और अक्षय प्रवाहरूप काल जो सो हम है और फल प्रदान
 करनेवालों मे विश्वतो मुख कहे सर्व फल विधान कर्ता मे हौं ॥ ३३ ॥ संहार
 कारियों के मध्य मे सर्व संहारकारी शब्दरूप हम को जानो और होनेवाली
 वस्तुयों मे उद्भव पदार्थ हम है और स्त्रियों मे सप्तनारी कहे कीर्त्ति श्री वाणी
 स्मृति मेधा धृति क्षमा ये रूप मे देहीं है ॥ ३४ ॥ और साम वेद मे मन्त्र प्राज्ञाय
 गद्य पद्य भूत श्रुतियों के मध्य मे दृष्टत्वा म नाम हम को जानो जिस से इन्द्र गाय
 जाते है और छंद बन्धगुक्त मन्त्रों के मध्य गायत्री हम है और मास कहे महीनों मे
 मार्गशीर्ष कहे अगहन मास हम है औ वृत्तों मे वसन्त वृत्त मे हौं ॥ ३५ ॥ छल
 वस्तुओं मे द्यूत कहे जुआ मेहीं और तेजस्वियों मे तेज जो प्रताप सो मे तथा जय
 और व्यवसाय कहे उद्यमभी मे और सतो गुणी जितने है उन ने सतो गुण हम है
 ॥ ३६ ॥ और दृष्णी वंशियों मे वासुदेव कृष्ण हम है जो तुमको उपदेश करते है
 और प्रागुवों मे अर्जुन जो तुम सो मे हूँ औ मुनियों मे व्यासदेव तथा कवियों मे
 उसना कहे शुक हम है ॥ ३७ ॥ दम करनेवालों मे दण्डरूप हम तथा जीतने
 वालों की नीति रीति हमे जानो गुह्य पदार्थों मे मौन जो सो हम और ज्ञानवानों मे

मिसर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन । न तदस्ति विना यत्स्थान्मया भूतं चराचरं ॥ ३६ ॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप । एतत्तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया
॥ ४० ॥ यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं यीमद्रूजितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम ते जौंशसम्भ-
वः ॥ ४१ ॥ अथवा वज्रं नैतेन किं ज्ञाते न तवा र्जुन । विष्टव्या इमिदं तत्समेकांशेन
स्थिती जगत् ॥ ४२ ॥ इति श्रीभगवद्गीतायां विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

भाषा अनुवाद

ज्ञानरूप भी हमी है ॥ ३८ ॥ और यावत जीवों में जो बीज सो है अर्जुन हम है
और जो मेरे विना है सो कुछ नहीं है अर्थात् चराचर मेरे विना कुछ बाकी नहीं
है ॥ ३९ ॥ जिस हेतु हे परन्तप अर्जुन मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है
इससे सम्पूर्ण कही नहीं जाय सकती है पर इतनी जो कहा सो उद्देश कहे संक्षेप
से मैंने उचित कराया है ॥ ४० ॥ यह सुनिके अधिक अवस्थाओं की अर्जुनसे भगवान्
संक्षेपरूप अपनी सर्वरूपता कहै हैं कि ऐश्वर्ययुक्त अथवा बलयुक्त वा प्रभावयुक्त तथा
विद्या बुद्धिरूप गुणयुक्त जो वस्तुमात है सो मेरे अंश औ प्रभावसे है यह जानो
अर्थात् उसमें मेरा विशेष अंश है ॥ ४१ ॥ अथवा हे अर्जुन इस सब बखेड़े से तुमको
क्या प्रयोजन है सकल वस्तु में हमको देखो यह कहते हैं कि यावत पदार्थ में मैं
व्याप रहा हों यह जगत् मेरा रूप है मोहि छोड़ि और कुछ भावनी नहीं है ॥ ४२ ॥

इति श्रीनगनाथ गुकूल विरचित मनभावनी टीकायां योगशास्त्रे

विभूतियोग नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

श्रीभङ्गवद्गीता

एकादश अध्यायः ।

अर्जुन उवाच ॥ महदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितं । यत्तयोक्तं वचनं
मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥ भवाय यौहिभूतानां युतौ विस्तारो भया । ततः कमल
पद्माक्षमाहात्म्यमभिधातव्यं ॥ २ ॥ एवमेतद्व्याख्यत्वमात्मानं परमेश्वर । ब्रह्म

भाषा अनुवाद

श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र अति कृपाकरि के अपनी विभूतिका विभव जब कहा तब सो
सुनि कै दर्शन छु अर्जुन को विष्टव्याहमिदं द्रुतस्त्वमेकांशेन स्थितो जगदित्यादि श्लोक
से भगवान् ने विश्वात्मक परमेश्वर स्वरूप प्रसङ्ग वशते देखाया तो अर्जुन भगवद्भक्त
पूर्व वचनों की प्रशंसा करते ऊँचे अब एकादश अध्याय के आरम्भ में चारि श्लोक
से कहते हैं कि अशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्यादि दूसरे अध्याय के ग्यारह श्लोक
से लेकर छठवें अध्याय तक मेरे शोक निवृत्तिके अर्थ परमात्मनिष्ठ अति शोभनीय
आत्म औ अनात्म विचार के विषय जो वचन आपने कहा उन से हम हस्ता औ ये
गद्गुगण हमारे मारने योग्य ऐसी जो मेरी मम सो नष्ट हो गई क्यों कि आत्मा
को कर्तृत्व आदि कुछ नहीं है यह आपने कहा सो ठीक ही है ॥ १ ॥ और
भूतों की सृष्टि तथा प्रलय भी आप ही से होती यह भी मैंने विस्तार से सुना
और हे कमलपद्माक्ष श्रीकृष्ण आप का अव्यय कहे अचय माहात्म्य भी आप से
सुना इस से अब जीव सकल आप के अधीन हैं यह जाना और अहं कर्ता भोक्ता
इत्यादि रूप मेरा मोह सम्पूर्ण दूर हो गया ॥ २ ॥ और जो आप ने सप्तम
अध्याय में कहा कि भूत सृष्टि तथा प्रलय आदि कार्यों का कारण मैं हूँ और
दशम अध्याय के अन्त में कहा कि विष्टव्याहमिदं द्रुतस्त्वमेकांशेन स्थितो जगदिति

क्वामितेरूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥ मन्यसे यदि तच्छब्दं मया द्रष्टुमिति प्रभो । योगे
श्वरततो मे त्वं दर्शय आत्मानमव्ययं ॥४॥ श्रीभगवानुवाच ॥ पश्य मे पार्थ रूपं शिशुतथो
ऽयं स हृस्वगः । नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥ पश्चादित्यानुब्रून्
रुद्रानश्चिनो मरुतस्तथा । ब्रह्मण्यदृष्टपूर्वाणि पश्चात्स्वर्गानि मारुत ॥६॥ इहैकं कथं
जगत्कृत्स्नं पश्चाद्वसुधाचरं । भवेद्देहे गुडाकेश यन्नान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

भाषा अनुवाद

श्रीर, अब भी जो रूप आप अपना कहते हो यह सब ऐसा ही है इसमें हमें कुछ
सन्देह नहीं है तो भी हे पुरुषोत्तम ज्ञान ऐश्वर्य बल वीर्य औ तेज से सम्पन्न, कहे
युक्त हमारे रूप को अति आश्चर्य से मैं देखने की इच्छा करता हूँ ॥ ३ ॥ और
मेरी इच्छा देखनेकी है इस हेतु आपको अपना रूप देखावना अब उचित है यह
कुछ बड़ी बात नहीं है परन्तु हे योगेश्वर जो वह आपका ईश्वरस्वरूप हमारे देखने,
योग्य होय और हम देख सकें तो हे प्रभो वही अव्ययस्वरूप अपना हमें कृपाकर
दिखाओ यह अर्जुन ने भगवानसे कहा ॥४॥ जब ऐसी प्रार्थना अर्जुन ने किया तब
भगवान् श्रीकृष्ण अपने रूपके देखावने का मनोरथ कर के अर्जुन को सावधान
होउ यह कहि करि के चारि श्लोकसे कहते हैं कि हे पार्थ अर्जुन अपरिमित नाना
प्रकारके अलौकिक मेरे रूप अब तुम देखो और वर्ण कहे शुक्ल क्षण्य आदि आकृति
कहे कर धरण अङ्ग सब वयायोग मेरा दिव्यरूप नानावर्ण आकृतिका जो है सो तुम
देखो जो देखा चाहते हो ॥५॥ अब सोई आप कहते हैं कि हे भारत सब आदित्य
औ वसुगण रुद्रगण तथा अश्विनोक्नुमार औ मरुतगण ये सकल देवता को मेरी
देह मे देखो और हे अर्जुन जो मेरा रूप न तुमने न और किसीने कभी देखा
है ऐसा अद्भुत मेरा रूप अब देखो ॥६॥ और इस ब्रह्माण्डके बीच हर एक स्थानों
मे भ्रमण करते ज्ञेय जो सूर्य चन्द्र यह नक्षत्रादि समस्त चराचर जिन को
कोटि वर्षमे भी कोई नहीं देखि सकै है सो सब स्थावर जड़म समेत सम्पूर्ण जगत
इस मेरी शरीर मे अवयव कहे अङ्ग रूप देखो और गुडाकेश अर्जुन जगत का
आय्य औ संसार की अवस्था तथा जय पराजय आदि जो कुछ और देखा चाहो
सो सब मेरे रूप मे देखो ॥ ७ ॥ और जो अर्जुन ने कहा कि वह रूप मेरे

ननुमाश्रयसेद्रुमनेनैवसुचक्षुषा । दिव्यंददामितेचक्षुःपश्यभेयोगमैश्वरं ॥ ८ ॥ संज
यत्तदाव । एवमुक्त्वाततोराजन्महायोगेश्वरोहरि । दर्शयामासपार्यायपरमंरु
पमैश्वरं ॥ ९ ॥ अनेकवक्त्रानयनमनेकाद्भुतदर्शनं । अनेकदिव्याभरणदिव्यानेकोद्य
तायुधं ॥ १० ॥ दिव्यमाल्याम्बरधरंदिव्यगन्धानुलेपनं । सर्वाश्चर्यमयदेवमनन्तंवि
च्रतोमुखं ॥ ११ ॥ दिविस्वर्यसहस्रस्यभवेद्यगपदुत्थिता । यदिमासहस्रीसाक्षात्का
सस्तस्यमहात्मन ॥ १२ ॥ तत्रैकखंजगतकृतृत्वंप्रविभक्तमनेकधा । अपश्यद्देवदेव
स्यशरीरेमाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥ ततःसविस्त्रयाविष्टोहृष्टरोमाधनञ्जय । प्रणम्यशिर

भाषा अनुवाद

देखने योग्य होय तो देखावो इस पर कहते हैं कि हे अर्जुन इन अपने चर्च चक्षु
कहे चमड़े की आखों से हमारे उस रूप को न देख सको जो इस से हम तुम को
अलौकिक दिव्य ज्ञानचक्षु देते हैं उनसे वह मेरा ईश्वर रूप अघटन घटना
समर्थ का दर्शन करो ॥ ८ ॥ इस प्रकार से कहि कर भगवानने अर्जुन को
अपना विराट रूप देखाया तो वह रूप देखि अर्जुन श्रीकृष्णको जैसा जाना
औ देखा सोई छ लोक से राजा धृतराष्ट्र के प्रति सञ्जय कहते हैं कि हे
राजन् धृतराष्ट्र महात्मा श्रीकृष्ण योगेश्वर ने अर्जुन से ये सब बातें कह
करके अपना ऐश्वर्यविशिष्ट परम स्वरूप अर्जुनको दर्शन कराया ॥ ९ ॥ अब किस
प्रकार का वह रूप है सो कहते हैं कि अनेक है वक्त्र कहे मुख और नेत्र तथा
अनेक अनेक है अद्भुत वस्तुओं का दर्शन जिस में और अनेक दिव्य आभरण और
दिव्य आयुध धारण है जिस में ऐसा रूप भगवान ने अर्जुनको देखाया ॥ १० ॥
और दिव्य माल्य कहे पुष्प और दिव्य अम्बर कहे वस्त्र तथा दिव्य गन्ध लेपन है
जिस रूप में और नाना आश्चर्य युक्त तथा अनन्त अपरिच्छिन्न और सर्वत्र है मुख
जिस में सो रूप देखाया ॥ ११ ॥ और उस रूप की निरूपण प्रभा प्रकाश
करते हैं कि आकाश में जो एक काल सहस्र सूर्य के उदय की प्रभा हो उठै तो
कदाचित् उन भगवाता की कान्ति के कोई अंश की उपमा होय तो होय नहीं तो
उस रूप की उपमा कोई नहीं है ॥ १२ ॥ तिस के बादि क्या भया सो कहते हैं कि
उस समय अर्जुन को नाना प्रकार शरीर और अनेक भागने स्थित समस्त जगतको

सादेवकृताञ्जलिरभापत॥१४॥ अर्जुनउवाच ॥ पश्यामिदेवांस्तवदेवदेहेसर्वांस्तथा
भूतविशेषसंघान् । ब्रह्मासमीशंकमलासनस्थस्त्रींश्चसर्धानुरगांश्चदिव्यान् ॥१५॥
अनेकवाह्मणदरवक्त्रनेत्रपश्यामित्वासर्वतोऽनन्तरूपं । नान्तंनमध्यंनपुनस्तवादिंपश्या
मिविश्वेश्वरविश्वरूप ॥१६॥ किरीटिनंगदिनंचक्रिणञ्जतेजोराशिंसर्वतोदीप्तिमन्तं ।
पश्यामित्वांदुर्निरीत्यंसमन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयं ॥१७॥ त्वमक्षरंपरमवेदि
तव्यंत्वमस्यविश्वस्यपरंनिधानं । त्वमव्ययःशाश्वतधर्मगोप्तासनातनस्वंपुरुषोमतोमे
॥१८॥ अनादिसम्यान्तमनन्तावीर्यमनन्तवाङ्मयमिह्यनेत्रं । पश्यामित्वादीप्ताञ्ज

भाषा अनुवाद

श्रीकृष्ण एक अपनी शरीर में एक बारगी देखाया ॥ १३ ॥ तब तो अर्जुन वह
आश्चर्य रूप भगवान का रूप देखि अतिशय कौतुकयुक्त होय आनन्द से पुलकित
भये और मस्तक झुंकाय प्रणाम करि हाथजोडि यह वचन बोलते भये ॥१४॥ अप
सञ्जय सबह शोकमें अर्जुनके कहे ऊँचे वचनों को कहते है कि हे कृष्ण आपकी
शरीरमेंआदित्य औ यावत्भूतसमूह अर्थात् जरायुज मनुष्य पशु और अश्वइन पक्षी
सर्प आदि औ स्वेदज जुंआं मच्छड प्रवृत्ति तथा उद्विज्ज लता वृक्ष आदि ये सब
देखता है और हे देव सकल देवता औ नाभि कमल में ब्रह्मा बैठे तथा ईश महा
देव और दिव्यशृंगि वशिष्ठ आदि औ उरग तन्त्रक आदिकोंकोभी देखता हूं और
पञ्चासनस्थ ब्रह्मा किसप्रकार देखपडते सो कहतेहै कि शशिनी रूप नाभि से उठा
जो कमल स्वरूप सुमेरुगिरि तिस पर बैठे ऊँचे ब्रह्माको देखों हैं ॥१५॥ और
अनेक वाङ्मय अनेक उदर अनेक मुख अनेक नेत्र तुमको सर्वत्र मैं देखता हूं परन्तु
हे विश्वरूप तुमारा आदि मध्यअन्त भागही नहीं देखता हूं ॥१६॥ और सुकुट
गदा चक्र युक्त तथा तेजःपुञ्ज सर्वत्र प्रकाशमान अति दुर्निरीत्य चह्म और प्रदीप्त
अनल अर्कके समान तुमको मैं देखता हूं ॥१७॥ जिस हेतु तुमारा ऐश्वर्य ऐसा
अचिन्त्यहै इससे तुम अक्षर जो परब्रह्म सुसुचुलोगोके जाननेयोग्य और तुम इस
विश्व के निधान कहे परम आश्रयभूत है इससे तुम नित्य औ नित्य धर्मके पालक
औ अनादि पुरुष मेरेमतमें है ॥१८॥ और अनादिसम्यन्त बाहे उत्पत्तिस्थिति
लय रहित औ अनन्त प्रभाव तथा अनन्त वाङ्मय औ चन्द्र सूर्य है नेत्र जिसके ऐसे

ताश्चक्रंस्वतेजसाविश्वमिदंतपन्तं ॥१६॥ द्वावाश्चिथ्योरिदमन्तरंहिव्याप्तत्वेकेन
 दिग्ब्रह्मसर्वाः । दृष्ट्वाद्भुतरूपमिदंतवोग्रलोकत्रयं प्रव्यधितं महात्मन् ॥२०॥ शमीहि
 त्वांसुरसंधाविशन्ति केचिद्गीताः प्राञ्जलयोगृणन्ति । खलीलुक्तामहर्षिसिंहसंधावी
 जन्तेत्वांस्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥ रुद्रादित्यावसवोयेचसाध्याविशेऽग्निनीमरुतश्चो
 ष्मपाश्च । गन्धर्वयक्षासुरसिंहसंधावीजन्तेत्वांस्त्रिभिस्तुतिभिर्वसवैर्व ॥२२॥ रूपमहते
 वज्रवक्त्रनेत्रं महाबाहो वज्रबाहू रपादं । बहूदरं वज्रदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यधि
 स्तपाहं ॥२३॥ नभोऽसृष्टं दीप्तमनेकवर्णं व्याप्तात्तनं दीप्तं विशालनेत्रं । दृष्ट्वा हित्वां प्र
 व्यधितान्तरात्मा धर्तिनं विन्दामि शमञ्च विष्णो ॥२४॥ दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वा

भाषा अनुवाद

तुम को हम देखते हैं और अग्नि जिस के मुख में ज्ञानव्यमान है ऐसे आप
 अपने तेज से इस विश्वभर को सन्तप्त करते ऊँचे तुम को मैं देखौं हौं ॥ १६ ॥
 और हे महात्मन् स्वर्ग औ पृथिवी तथा अन्तरिक्ष और सकल दिशा एक आप से
 व्याप्त हैं सो यह उग्र रूप आप का देखि के तैलोक्य अति भय खाता है ॥ २० ॥
 और ये सम्पूर्ण देवता भयमाय तुमारे शरणागत हैं और कोई अति भीत होय दूर
 छड़े कर जोड़े जय जय रत्न रत्न पुकार पुकार प्रार्थना करते हैं और महर्षि तथा
 सिंहसंघ तुम को देखते स्वस्ति नमन उचारते ऊँचे सम्पूर्ण स्तुति से स्तुति करते
 हैं ॥ २१ ॥ और रुद्रगण आदित्यगण वसुगण औ साध्यगण देवगण तथा विश्वे
 देवा अश्विनीकुमार औ मरुतगण मित्रगण उष्य इव्य पान करनेवाले मित्रगण धर्म
 शास्त्र औ युति में ऐसे कहा कि मित्रगण तब तक मौन भोजन करते जब तक
 अन्न उष्य है और यावत् मित्र उद्देय करिके दिये ऊँचे अन्न का गुण वर्णन रूप
 मधु वातादि वैदिक मन्त्र पाठ समाप्त न होय तावत् पितर अन्न खाते हैं और
 गन्धर्वगण यक्षगण और विरोचन प्रभृति असुरगण औ सिंहगण ये सकल विस्मय
 युक्त होके तुमको खड़े एकटक देखते हैं ॥ २२ ॥ और हे महाबाहो यह महान् तुमारा
 रूप जिसमें वज्रत मुख नेत्र बाहु उर पाद उदर हैं और जो वज्रतेरे मूढ़े मूढ़
 दांतोंसे अति कराल कहे भयानक है इस को देखने सकल लोक व्याधयुक्त हैं और
 मैभी अतिपीडित हौं ॥ २३ ॥ और मैहीं केवल डरता हूँ यह नहीं ऐसा यह रूप

उकालानलसन्निभानि । दिशोनजानेनलमेवशर्माप्रसीददेवेशजगन्निवास ॥ २५ ॥
असीचत्वाधतराष्ट्रपुत्राःसर्वैसहैवावनिपालसंचैः । भीष्मद्रोणसूतपुत्रस्तयासौस
हास्पादीयैरतिथोचमुखैः ॥ २६ ॥ वक्राक्षितेत्वरमाजविशन्तिदंष्ट्राकरालानिभयान
कानि ॥ केचिद्विलग्नादग्रनान्तरेपुसंदृश्यन्तेचूर्णितैरुत्तमांगैः ॥ २७ ॥ यथानदीनां
वहवोऽम्बवेगाशसुद्रमेवाभिमुखाद्रवन्ति । तथातवामीनरलोकवीराविशन्तिवक्रा

भाषा अनुवाद

आकाश को भस्म करनेवाला अर्थात् अत्यध्यामी तेज युक्त नाना वर्ण विविध
विस्तार को प्राप्त और जलजलाते हैं विशाल कहे बड़े बड़े नेत्र जिस के ऐसे
तुम को अवलोकन करि के, हे विष्णो हमारा अन्तरात्मा व्यधायुक्त है और मैं
इस रूप को देखते ऊँचे शान्ति तथा धीरज किसी तरह नहीं धर सकता ऊँ
॥ २४ ॥ और हे देवेश तुमारा मुख देखि कर डर के मारे हमें दिशा भूलि
गई और सुख शान्ति पावते नहीं हे जगन्निवास अब प्रसन्न होइ अब कैसा
मुख देखि कर डर भया सो कहते कि बड़े बड़े कराल दांतों से भयानक जो
प्रलयान्नि के समान है ॥ २५ ॥ और जो कहा कि अन्यत् जो भावो पराजय
है सो भी इस मेरी शरीर में देखो सोई देखि अब अर्जुन पांच श्लोक से
कहते हैं कि जयद्रथ प्रभृति राजगण समेत ये धतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि
तुमारे सुख में प्रवेश करते हैं और भीष्म द्रोण और सूतपुत्र कर्ण ये भी तुमारे
सुख में प्रवेश करते हैं और यही सब नहीं प्रवेश करते हैं बलु प्रतियोधा
अर्थात् हमारे पक्षके भी शिखण्डी धृष्टद्युम्न प्रभृति को के समेत ये सबप्रवेश करते
हैं ॥ २६ ॥ और ये दुर्योधनादिक धावते ऊँचे तुमारे विकट दन्तों से कराल
सुख में प्रवेश करते हैं और तिनके बीच कोई कोई घोहा मस्तक चूर्ण ऊँचे
तुमारे दांतों के मध्य सन्धिमें लपटे से देख पड़ते हैं ॥ २७ ॥ अब उनके
प्रवेश विषय में दृष्टान्त कहते हैं कि जैसे अनेक अनेक मार्ग से नदियों के धारा
प्रवाह समुद्र के अभिसुग धावे मये जायकर समुद्र में प्रवेश करते हैं तैमही ये
नरलोक के वीर सकल जाज्यल्यमान तुमारे सुखमें पैठते जाते हैं ॥ २८ ॥
वे वयं रूप प्रवेश में नदी का दृष्टान्त कहिकर अब बुद्धिपूर्वक प्रवेश करने में

ख्यमितोज्ज्वलन्ति ॥२८॥ यथाप्रदीपज्ज्वलनं पतता विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः । ते
यैव नाशाय विशन्ति त्लोकास्तवापि वक्ता तिसमृद्धवेगाः ॥२९॥ लेनिह्यसे ग्रसमानः सम
न्ताम्लोकानुसमग्रानुवदनैर्ज्वलद्भिः । तेजो भरापूर्वजगत्समग्रं भासस्तवीशः प्रतपन्ति
विष्णो ॥३०॥ आख्याहि मे को भगवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववरप्रसीद । विज्ञातुमि
च्छामि भवन्तमाह्वनं हि प्रजानामितव प्रवृत्तिं ॥३१॥ श्रीभगवानुवाच । कालोक्ति
लोकजयकृत्यदृष्टो लोकानुसमाहर्तुमिह प्रवृत्तः । ऋते पितृना भविष्यन्त सर्वे येऽवशि
ताः प्रत्यनीके पुरोधः ॥३२॥ तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशोलभस्व जित्वा शत्रून् भूद्विजराज्यं स नृ

भाषा अनुवाद

दृष्टान्त कहते हैं कि जैसे बड़े वेग और उत्साह से पतङ्ग जो घांसी ते सब नाश के
निमित्त द्रोप शिखा में जाय जाय गिरते और मरते हैं तैसे ही अति वेगसे ये सब
वीर मनुष्य नाश के अर्थ तुम्हारे सुख में आय आय कर प्रवेश करते हैं ॥ २९ ॥
और प्रवेश के अनन्तर फेरि व्या होता सो कहते हैं कि तुम भी अति भयानक
जिह्वा लहजहाते ऊँचे मानो वैलोक्य लील वे को रसना पसारी है अपने तेज से
समग्र जगत को सन्तप्त करते भये उन सब वीरों को शास कहे मलय करने की
इच्छा करते हैं ॥ ३० ॥ हे महाराज जिससे तुम्हारा ऐसा उग्ररूप है इससे
आयको है सो कहो और हम तुमको प्रणाम करते हैं हे देवदेव तुम मेरे पर
अप प्रसन्न होठ और आदि पुरुष जो तुम सो तुमको मैं जाना चाहता हूँ और
एवंभूत जो तुम तुम्हारी प्रवृत्ति कहे वार्त्ता कुछ भी हम नहीं जान सकते हैं ॥ ३१ ॥
इस प्रकार अर्जुन से प्रार्थना किये गये श्रीभगवान् तीन श्लोक से कहते हैं कि
मैं सकल लोकका नश्य करनेवाला कालरूप हूँ और प्राणियोंको संहार करनेकी
इच्छा करि इस लोक में प्रवृत्त कहे प्रगट भया हूँ सो एक तुमको छोड़ि और
कोई इस से न बचैगे अर्थात् प्रति सेना में जो भीष्म द्रोण आदि योद्धा हैं वे
सबके सब मरेंगे ॥ ३२ ॥ जिस हेतु ऐसा होनहार है इस से तुम युद्ध के अर्थ
उठो और देवता से भी अजय जो भीष्म द्रोण आदि वीर सो अर्जुन से पराजित
भये इन यश को नाश करो और शत्रुओं का विनाश करि कै संपूर्ण राज्य भोग
करो और ये जो तुम्हारे हैं शत्रु तिन को युद्धके पूर्व ही काल रूप मैंने यन्त्रादि हत

हं । मयैवैतेनिहताःपूर्वमेवनिमित्तमावंभवसव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥ द्रोणाञ्चभीष्म
ञ्चजयप्रयञ्चकर्णेतथान्वान्प्रियोषधीरान् । मयाहतांस्त्वजहिमाव्यथिष्ठायुध्यसृजिता
सिरण्येसपत्नान् ॥ ३४ ॥ सञ्जयउवाच । एतच्छ्रुत्वावचनंकेशवस्यकृताञ्जलिर्वैपमा
नःकिरीटी । नमस्कृत्यभूयएवाहृष्टाणांसगद्गदंभोतभीतःप्रणम्य ॥ ३५ ॥ अर्जुनउवा
च । स्थानेहृषीकेशतनप्रकीर्त्याजगत्प्रहृष्यत्यनुरव्यतेव । रक्षासिभीतानिदिशो
द्रवन्ति सर्वनमस्यन्तिचसिद्धसंधा ॥ ३६ ॥ कस्माच्चतेननमेरव्यहात्मन्गरीयसेव्रज्ज्वा

भाषा अनुवाद

करि राखा है तौ भी है सव्यसाचिन् अर्जुन तुम निमित्त मात्र होउ सव्यसाची
उसको कहते जो वाये हाथ से युद्धादि कार्य करि शकै है ॥ ३३ ॥ और जो पूर्वं
मे अर्जुन ने शंका किया कि हम इन को जीतैगे या येई हम को मारलें यह हम
नही जानतेहै उसका वारण करतेहुये कहतेहै कि लिनसे तुमको शङ्का भईधी
वे सब सुक्तसे हत भयेहै जो द्रोणभीष्म जयद्रथ कर्ण तथा और और जो वीर उन
सबको तुम जय करो और उनसे रक्षामर न हरो तुम अवश्य ही जीतोगे ॥ ३४ ॥
तिसके वादि जो भया सो संजय घृतराष्ट्र से कहते है कि ये थीक्ष्ण्यको वचन सुनि
करि कम्पमान कलेर किरीटी अर्जुन हर्ष औ भयकेभारेगदगदकण्ठ अतिरुडसे
उरे जैसे हाथजोह थीक्ष्ण्यको प्रणाम करके बच्यमाण कहे आगेकहैगे जो बातें
कहते भये ॥ ३५ ॥ अब इस श्लोक से अर्जुन कहते है कि हे हृषीकेश जिस हैउ
तुम ऐसे अद्भुत प्रभाव से युक्त औ भक्तवत्सल हो इससे तुमारा माहात्म्य संजीतन
करने से केवल हमीने जो हर्ष पाया सो नहीं किन्तु ब्रह्माण्ड भर अति हर्षित औ
प्रीतियुक्त है यह उचित है और इस ब्रह्माण्डमे जो सब सज्जन प्रसन्न हो राक्षस
सकल डरके मारे दम दिशामे भागे फिरते है और योग तप सन्न आदिके द्वारा
सिद्धगए तुम को प्रणाम करते है यह कुछ आश्चर्य नहीं है ॥ ३६ ॥ और सबके
हर्ष औ प्रणाम करनेमे अवहेतु कहते हैं कि हे महात्मन् हे अनन्त हे जगन्निवास
थीक्ष्ण्य ज्यों ये सब प्रणाम करैगे कि जो तुम ब्रह्माकेभी आदि कर्ता कहे जनक
और गुरु हो और सत् कहे व्यक्त प्रगट जो जगत औ असत जो अव्यक्त प्रकृत
भाया इन दोनोंसे पर अर्थात् मूल कारण रूप अक्षर कहे अविनाशी जो ब्रह्मा सो

योऽप्यादिकर्त्तॆ । अनन्तदेवेशजगन्निवासत्वमक्षरं सदसत्तत्परं वत् ॥ ३७ ॥ त्वमा
दिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्वपरं निधानं । वेत्ता सिधेदाञ्च परञ्च धाम त्वया तत्
विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥ वायुर्वमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रमितामहम् ।
नमोनमस्तेऽस्तु सहस्रद्वयः पुनश्च भूयोऽपि नमोनमस्ते ॥ ३९ ॥ तमः पुरस्तादयष्टतस्तन
मोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व । अनन्तविर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाश्रोषिततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

भाषा अनुवाद

भी तुम हो तो नवधा भक्ति द्वारा जो सब तुम को प्रणाम करते हैं सो उचित है
और संपूर्ण देवों के आदि भूत जो अनादिपुरुष तुम सो इस विश्वके परनिधान
कहे लयस्थान और विश्वके ज्ञाता और जो कुछ जानने के योग्य वस्तु है सो तुम
हो और परम धाम जो विष्णुपद सो भी तुम हो इससे हे अनन्तरूप कृष्ण
तुम इस विश्वमें व्याप्त हो इन सात हेतुओं के द्वारा भी तुमही नमस्कार योग्य
हो ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ जिस हेतु तुम सर्व देवरूप हो इससे तुम सबके नमस्कार योग्य
हो जैसे बचनोंसे भगवान् की स्तुति करिके अब अर्जुन आप प्रणाम करते हैं
कि वायु यम अग्नि वरुण चन्द्र प्रजापति ब्रह्मा और प्रमितामह ब्रह्माके भी
जनक जो तुम सो मेरे सहस्र सहस्र प्रणाम तुमको हैं केरि केरि भी सहस्र
सहस्र प्रणाम हैं ॥ ३९ ॥ भक्ति और यहा तथा आदर की अधिकाई से भगवत्
को नमस्कार करने से दृष्टि न पाय के पुनर्बार और भी प्रणाम करते हैं कि
हे सर्वोत्तम तुमारे सन्मुख और दृष्टभाग में प्रणाम करता हूँ और तुमारे
सब और भी मेरी नमस्कार पड़चै और भगवान् की सर्वोत्तकता सिद्ध करने
की आकांक्षा पर कहते हैं कि जिस की अनन्त सामर्थ्य और अपरिमित
पराक्रम एवंभूत जो तुम विश्व के भीतर बाहर संख्यस् व्याप्त हो जैसे सुवर्ण
नानारूप से भूषणों में व्याप्त है और सत्तिका घट आदि पात्रों में जैसे व्याप्त है
तैसे विश्वमें आप व्याप्त रहे हो ॥ ४० ॥ अब दो श्लोकोंके द्वारा भगवान् से अर्जुन
अपनी अपराध क्षमा करावते हैं कि हे कृष्ण हे यादव हे सब ऐसे बचनों से
आपको अपना सखा मानि जो हठसे मैंने तुमारी यह महिमा न जानिके अथवा
भूलसे या प्रणय कहे अतः प्रीति से कहा सो मेरी जनजान की असावधान की

सखेति सत्त्वाप्रसभ्यदुक्तं हेतुः ॥ हेतुः ॥ हेतुः ॥ सखेति । अज्ञानतामहिमानंतवेदं मया प्र
मादात्प्रययेन वापि ॥ ४१ ॥ यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारश्च यासनभोजनेषु ।
एकोऽयथायच्युततत्समस्तत्त्वाभयेत्वा मम प्रमेयं ॥ ४२ ॥ पितासिलोकस्थ चराचर
स्थान्तमस्य पूज्यं शुभं शुभं रीयन् । न त्वत्समोऽस्य अधिकः कुतोऽन्यो लोकादयेऽप्यप्रतिमप्र
भाव ॥ ४३ ॥ तस्मात्प्रयय्यप्रणिपादकायं प्रसादयेत्वा मम मीमांसा । पितेव पुत्रस्य
सखेव सख्युप्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुं ॥ ४४ ॥ अदृष्टपूर्वं ह्यपितोऽस्मिद्वद्भाभयेन च ग

भाषा अनुवाद

अपराध चूक आप क्षमा करो ॥ ४१ ॥ और हे अच्युत विहार शयन भोजन म्रीडा
आदि मे अथवा सखागण रहित निर्जन स्थान मे जहां हम और तुम को छोड़
और कोई न था ऐसी जगह मे अथवा परिहास करने वाले भिदों के बीच मे
जो हमने हसने के लिये तिरस्कार आपका किया है सो सब अचिन्त्य प्रभाव
आपमे हम क्षमा करवावते है ॥ ४२ ॥ अब भगवत् का अपिन्त्य प्रभाव कहते
है कि हे अप्रतिम प्रभाव नहीं है प्रतिमा कहे उपमा ऐसा निरूपण प्रभाव
है जिसका सो तुम इस चराचरात्मक लोक के पिता कहे उत्पत्ति करनेवाले
पूजनीय तथा शुभ के भी शुभ है इस हेतु परमेश्वर जो तुम तुमारे समान का
बिलोको मे कोई नहीं है तो अधिक फेर और कहां होय सके है यह अर्जुन ने कहा
॥ ४२ ॥ इसमे हे ईश स्वामिन् स्तुति के योग्य ईश्वर जो आप तिन को मे शरीर से
दंडकी नाई अष्टाङ्ग प्रणाम करिके प्रसन्न करायता हूँ कि जैसे पुत्रकी अपराध क्षमा
करिके पिता साह लेता और मित्र की अपराध मित्र मन मे नहीं धरता तथा
पत्नी की अपराध पति भी प्रीति से सह्य करता है तैसे ही हे देव पिता औ
मित्र तथा स्वामी रूप आप भी मेरी अनजान बालक समान प्रीतिपात्र सेवक की
अपराध क्षमा कीजिये ॥ ४४ ॥ इस प्रकार से क्षमा करायके अब अर्जुन दो
लोक के द्वारा भगवान से प्रार्थना करते है कि हे देव श्रीकृष्ण अदृष्टपूर्व यह
आपका रूप देखि के मैं अति प्रसन्न भवा हूँ परन्तु भय के सारे मेरा मन थिर
नही है इससे हे देवेश जगतके निवास अब मेरेपर प्रसन्न होउ और वही पूर्वरूप
देखावो यह प्रार्थना करता हूँ ॥ ४५ ॥ अब सोई पूर्वरूप कहते है कि हे सहस्र

व्यथितं मनमे । तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवे शजगन्निवास ॥ ४५ ॥ किरीटिनं ग
दिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वान्द्रष्टुमहं तथैव । तेनैवरूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विष्णु
मूर्ते ॥ ४६ ॥ श्रीभगवानुवाच । मया प्रसन्नेन तवार्जुने दंष्ट्रुपं परं दर्शितमात्मयोगं ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं न्येतदन्तेन द्रष्टुं ॥ ४७ ॥ न वेद यज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च
क्रियाभिर्न तपोभिर्ययैः । एवं रूपः शब्दोऽहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥
माते व्ययामाच विमूढभावो दृष्टारूपं घोरभीष्टमिदं । व्यपेतभीः प्रीतमना पुनस्त्वं तदे

भाषा अनुवाद

वाहो हे विश्वमूर्ते सोई किरीट सुकुट दिये गदा औ चक्र हाथ मे लिये आपको
देखनेकी इच्छा करता हूँ इससे अब आप इस विश्वरूपको संहार करिके वैसेही
चतुर्भुजरूप स्वरूप धारण करो ॥ ४६ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण जब ऐसे प्रार्थना किये
गये तब अर्जुन को समझाते ऊँचे तीन श्लोक से यह कहने लगे कि हे अर्जुन
तुम भय काहे लिये करते हो मैने अति प्रसन्न होय अपनी योगभाषा की सामर्थ्य
से यह अपना अपूर्व उत्तमरूप तुम को द्रष्टा करि के देखाया है और इस तेज
मय विश्वात्मक आदि अन्त रहित मेरे रूप को तुम्हारे समान भक्त के बिना किसी
और भक्तने कभी भी नहीं देखा है ॥ ४७ ॥ और यह अति दुर्लभ दर्शन पाय के
तुम अब कृतार्थ भयेही सोई कहते है कि न वेद अध्ययन से न यज्ञ अध्ययन कहे
यज्ञविद्या जो कलरूप आदि कर्मकाण्ड के अर्थ संग्रह किये ग्रन्थ तिन से अर्थात्
न यज्ञविद्याध्ययन से और न दान से न अग्निहोत आदि क्रियो से न चान्द्रायण
आदि उग्र कठिन तपस्यो के द्वारा वह मेरा रूप नरलोक मे देखनेके शक्य है सो
हे कुरुप्रवीर अर्जुन तुम को छोडि और कोई नहीं नृलोक मे इस रूप को देख
शक्य है सो तुम मेरे अनुग्रह से इस मेरे रूप का दर्शन करि अपने को कृतार्थ
भये जानो ॥ ४८ ॥ जो ऐसा घोर भयानकरूप देखि तुमको क्षोण होता है तो
जिस मे तुम मेरा रूप देखि व्यथा औ भूढता न होय इस से अब तुम त्रिगतभय
प्रसन्न चित्त होय फिर हमारा सोई वह पूर्वरूप जो देखा चाहते है सो देखो
॥ ४९ ॥ ऐसे वचन कहि कर भगवान्ने अर्जुन कीं यही पूर्वरूप अपना देखाया वं
सञ्जय धृतराष्ट्र से कहते है कि महात्मा वासुदेव श्रीकृष्णजी ने अर्जुन को सोई

वमेरूपमिदं प्रपश्य ॥४६॥ सञ्जय उवाच । इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वरूपं दर्शयामास भूय । आश्वासयामास च सीतमर्जुनं भूत्वा पुनः सौख्यवपुर्मेहात्मा ॥५०॥ अर्जुन उवाच । दृष्ट्वा देमानुपंखरूपं तव सौख्यं जनार्दन । इदानीमस्मि संष्टतः सचेता प्रकृतिं गतः ॥५१॥ श्रीभगवानुवाच । सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसियन्मम । देवाश्च यस्वरूपस्थानित्वं दर्शनकाक्षिणः ॥५२॥ नाहं वेदैर्न तत्प्रसादनानेन न चेज्यया । शक्य एव विधोऽद्भुतं दृष्टवानसियन्मम ॥५३॥ भक्त्या त्वेन न्ययांशक्योऽयमवधिर्नोर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप ॥५४॥ मत्कर्मकृत्यरमो भगवत्कृतः सङ्गवर्जितः । निवृत्तः सर्वभूतेषु यः समासेति पाण्डव ॥५५॥ इति विश्वरूपदर्शनो नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

भाषा अनुवाद

अर्जुन किरीटधारी अपना शान्तस्वरूप फेरि देखाया और उभरे भये अर्जुन को आश्वास दिया ॥५०॥ तिसके अनन्तर निर्भय होय अर्जुन ने कहा कि हे जनार्दन तुमारा यह शान्त मनुष्य स्वरूप देखि मैं अब प्रसन्नचित्त और सावधान भयाँ हूँ ॥५१॥ तिसके बाद भगवान अपनी कृपा की दुर्लभता देखावते हैं कि जो हय हमारा विश्वरूप स्वरूप तुम ने देखा इसका दर्शन अति दुर्लभ है देखो देवतागण भी इस रूप के दर्शन की इच्छा सर्वदा करते हैं परन्तु इसका दर्शन नहीं पावते हैं ॥५२॥ उस अपने रूप के दुर्लभ दर्शन में कारण कहते हैं कि तुम ने जो रूप मेरा देखा वह वेद अध्ययन और तपस्या या दान यज्ञ के द्वारा किसी की देखने की सामर्थ्य नहीं है ॥५३॥ तो फेरि कौन उपाय से आप दर्शन दे सकते हो ओ यह कहो तो कहते हैं कि अर्जुन अनन्य कहे मदेकचित्त भक्ति ही के द्वारा ऐसे विश्वरूप से हम प्रगट हो सकते हैं और वह भक्त भी हमें जान सकते हैं और हैं परन्तप अर्जुन शास्त्र से प्रत्यक्ष और तदात्म रूप प्रवेश अर्थात् उस रूप में लीन हम कराय सकते हैं और कोई भी उपाय नहीं है ॥५४॥ अब शास्त्र के अर्थ का सारांश परम रहस्य कहते हैं कि हे पाण्डव मत्कर्म छूट कहे मेरी प्रीति के अर्थ जो कर्म करे है और मत्परम कहे महीं हैं परम प्रयोजन जिसको और मङ्गल कहे मेरे आश्रित यथा पुत्र स्त्री धन मे आशक्ति हीन और भूत कहे प्राणी भाव मे वैर रहित जो है सोई हमको प्राप्त होता है ॥५५॥

श्रीसङ्गवज्रीता

द्वादश अध्यायः

अर्जुन उवाच । एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वापर्युपासते । ये चाथक्षयमव्यक्तं ते पादौ
योगवित्तमा ॥ १ ॥ श्रीभगवानुवाच । मया वैश्वमनो ये मानित्ययुक्ता उपासते । अ
व्यापारयोपेतास्ते मे युक्ततमानताः ॥ २ ॥ ये तत्परमनिर्देशमव्यक्तं पर्युपासते । स

भाषा-अनुवाद

एकादश अध्यायके अन्तिम श्लोक से और नवम अध्याय के एकतिश श्लोकादि से भी सगुण भगवद्भक्त ही को येष्ठ कहा और तेषां ज्ञानी नित्य युक्त एव भक्ति विंशत्यते इत्यादि सप्तम अध्यायके सत्रह श्लोक से और सर्व ज्ञान ज्ञेयैव वृजिन सन्तर्प्यसि इत्यादि चतुर्थ अध्याय के छत्तिश श्लोकादि से भी ज्ञानी ही को येष्ठ कहा है सो सगुण निर्गुण उपासना में कौन उपासना येष्ठ है अर्थात् जो भक्त सर्वज्ञ विश्वरूप सर्वशक्तिमान रूप तुम को ध्यान करता है सो कि जो अव्यक्त और निर्विशेष अविनाशी नश्व की उपासना करता है सो दोनों के मध्य में कौन अतिशय योगवित् अर्थात् येष्ठ है यह अर्जुन भगवान से पूछते भये ॥ १ ॥ तिन दोनों के बीच में सगुण उपासना सुख साध्य है इस हेतु से भगवान सगुण उपासक भक्त को येष्ठ कहते ऊंचे उत्तर देते हैं कि सर्वज्ञत्व आदिगुण विविध परमेश्वर स्वरूप मेरे मे मन को एकाग्र करिके यद्वापूर्वक सत्कीर्त्य कर्म अनुष्ठान करने से मेरे मे निष्ठ कहे युक्त होय जो हमारी आराधना करता है सोई हमारे मत से युक्ततम कहे अति येष्ठ है सो तुम तत्कीर्त्य कर्म करो ॥ २ ॥ और अजर ब्रह्मका खज्जण स्वरूप कहते हैं कि ब्रह्म अनिर्देश अर्थात् यह है ऐसा है इस कहने के अयोग्य है क्यों कि अव्यक्त कहे रूपादि राहत है और

वैवर्गमचिन्त्यञ्चकूटस्थमचलं ध्रुवं ॥ ३ ॥ सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्ववसमनुहयः । ते प्राप्नु-
वन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता ॥ ४ ॥ क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्ताशक्तचेतसां । अव्य-
क्ताहिमतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥ ये तु सर्वाधिककर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन माध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥ तेषामहं स सुहृत्तां ह्यत्युसंसारसागरात् ।

भाषा अनुवाद

सर्व व्यापी तथा निराकार हेतु से अचिन्त्य औ कूटस्थ अर्थात् कूट जो माया प्रपञ्च ब्रह्माण्ड तिसका अधिष्ठान कहे आश्रय रूप स्थित है और अचल कहे व्यापार रहित तथा ध्रुव कहे अचल नित्य जगत् इति इत्य है तीन चार के श्लोक का अर्थ एक साथ है ॥ ३ ॥ जो निर्गुण के उपासकों को क्लेश अधिक है तो फेरि क्या निर्गुण के उपासक थोड़ा नहीं है इस शंकापर दो श्लोक से कहते हैं कि जो समदर्शी जन इन्द्रियगणको अपने वशीभूत करके अक्षर कहे अविनाशी ब्रह्मका ध्यान करते हैं सो सकल भूतों के हितकारी निर्गुण उपासक मनुष्य भी हमको प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥ जो निर्गुण उपासक भी हम को प्राप्त होते हैं तो श्रुत्युपासक युक्त कहे थोड़ा जो आपने कहा सो कैसे संभव होय है इस शंका को निवारण करते ज्ञेय तीन श्लोक से क्लेश हेतुक विशेष कहते हैं कि अव्यक्त निर्विशेष अक्षर ब्रह्म में जिसका चित्त आशक्त भया उस को अधिक क्लेश होय है क्योंकि कि अव्यक्त ब्रह्म विषयक जो निष्ठा सो देहाभिमानो मनुष्य को अति दुःख से प्राप्त होती है कारण यह कि स्थूल शरीर में आत्म बुद्धि विशिष्ट मनुष्यों के मन को अन्तर्मुख वृत्तिका प्रत्यक्ष कहे हर एक चैतन्य से निमग्न होना सर्वथा दुष्कर है ॥ ५ ॥ परन्तु मेरे भक्त मेरी कृपा से अनायास सिद्ध होते हैं यह दुई श्लोक के द्वारा कहते हैं कि जो मनुष्य परमेश्वर स्वरूप मेरेको सकल कर्म अर्पणपूर्वक मत्परायण कहे अनन्य भावसे मेरेमे तत्पर होय है ते मेरा ध्यान उपासना करते हैं अनन्य भाव कहे नहीं है अन्य वस्तु में भाव प्रीति जिस में सो अनन्य भाव है ॥ ६ ॥ इस प्रकारसे जिनोने मेरेमे चित्त लगाया है उनका हे पार्थ तत्काल इस श्रुत्युक्त संसार सागर से उद्धार करनेवाला मैं हूँ अर्थात् एकाग्रचित्त भक्तजनों को मैं संसार दुःखसे उद्धारकर्ता हूँ ॥ ७ ॥ इससे संकल्प विकल्पात्मक मनको

भवाभिनचिरात्पार्थम्यव्यवेशितचेतसां ॥७॥ मय्येवमनश्चाघतृप्समयिदुर्हिनिवेश्य ।
निवसिष्यसिमय्येवच्यतजह्नेनसंशयः ॥८॥ अथचित्तंसमाधातुंनगक्रोसिमयिस्थिरं ।
अभ्यासयोगेनततोभामिच्छामुधनञ्जय ॥९॥ अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसितत्कर्मपरमोभव ।
मदर्धमपिकर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥ अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मदीोगमा
थितः । सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरुयतात्मवान् ॥११॥ येयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञा

भाषा अनुवाद

मेरे मे धिर करो और व्यवसायात्मिका बुद्धि को भी मेरे मे लगावो तो देहके
अन्तर्मे मेरी छपा से तत्त्व ज्ञान को प्राप्त होय परमात्मा रूप मेरेमे स्थिति फहे
वास करोगे इसमे कुछ संशय नहीं है सोई युति कहती है कि सगुण उपासक
को देहान्त होनेपर वह उपास्य देव परब्रह्ममन्त्र उद्देश करिके अपरोक्ष कहे
साक्षात् करदेय है ॥८॥ और सगुण उपासना मे अशक्त पुरुष को सुगम
उपाय कहते हैं कि जो चित्तको मेरे मे धिर करने न शकै तो हे धनञ्जय अर्जुन
विषय मे विचित्र चित्त को विषयों से पुनः पुनः फेरि कर मेरे स्मरण की अभ्यास
से हमै प्राप्त होने की यत्न करै ॥९॥ और जो अभ्यास करने मे समर्थ न होउ
तो मत्कीर्त्यर्था एकादशी उपवास व्रत पूजा औ नाम का कीर्तन आदि कर्म यो धर्म
है उनमे तत्पर होउ क्यों कि मत्कीर्त्यर्था कर्म करने से भी मुक्ति को प्राप्त होउ गे
॥१०॥ और इस भगवद्दर्शमे भी असमर्थ पुरुष को दूसरी उपाय कहते हैं कि जो
मत्कीर्त्यर्था कर्म भी न करि शकै तो एक मेरी प्ररण होय जो चित्त वशीभूत करिके
यावत् कर्मफलका परित्याग करै इसका तात्पर्य यह है कि अन्तर्यामी रूप ईश्वर
की प्रेरणा से हमै कर्म कर्त्तव्य है और इन कर्मों का दृष्ट अदृष्ट फल परमेश्वर के
आधीन है ऐसा भाग मेरेमे आरोप करिकै फल की इच्छा त्याग पूर्वक कर्म करने
से भी मेरी छपा से छतार्थ होउगे ॥११॥ और उक्त फल त्याग की प्रशंसा करते
हैं कि सगुण की उपासना मे सब्बक ज्ञान रहित जो अभ्यास तिससे वृत्ति सहित
उपदेय पूर्वक यह सगुण उपासना का अङ्ग भूत जो परोक्षज्ञान सो यथै है और
उस ज्ञानसे भी ध्यान अधिक है और तिससे भी कर्मफलका त्याग यथै है क्यों कि
कर्म औ कर्मफल मे आशक्ति निवृत्त होने पर मेरी अनुग्रह से शीघ्र संसार की

नाङ्गानंविधिप्यते । ध्यानात्कर्मफलत्यागस्यागाच्छान्तिरनन्तरं ॥१२॥ अद्वेष्टा
सर्वभूतानामैवः करुण एव च । निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखक्षमी ॥१३॥ सन्तु
ष्टः सततं योगीयतात्मा दृढनिश्चयः । मय्यर्पितमनो बुद्धिर्बलमङ्गलः समेप्रियः ॥१४॥
यस्यानोद्विजते लोको लोकानोद्विजते च यः । हर्षमर्षमयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः
॥१५॥ अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीन गतव्ययः । सर्वारम्भपरित्यागी यो मङ्गलः समे
प्रियः ॥१६॥ यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांचति । शुभाशुभपरित्यागी मङ्गलः

भाषा अनुवाद

शान्ति होय है ॥१२॥ अब पूर्व उक्त भक्तके ऊपर शीघ्र भगवतकी कृपा होनेका
हेतु रूप सकल धर्म आठ श्लोक से कहते हैं कि साधारण से सब जीवों के साथ
निर्वैर और सबका मित्र तथा दवावान अर्थात् समान से मैत्री औ हीनपर कृपा
कारी और समता विहीन अहङ्काररहित औ कृपालुता से दूसरे का सुख दुःख
देखि अपने सुख दुःखके समान जो जानै है ऐसे अपने सुख दुःखसे भी समदुःखि औ
क्षमाशील पर मेरी शीघ्र प्रसन्नता होती है ॥१३॥ और ज्ञान लाभ से प्रसन्न
चित्त तथा अग्रसन्न वशीभूत स्वभाव औ सतविषय से दृढ निश्चय और मेरे से
अर्पण किया है मनबुद्धि जिसने ऐसा जो मेरा भक्त सो हमै अतिही प्रिय है ॥१४॥
और जिस पुरुषसे लोग भयके द्वारा उद्वेग कहे चित्तचोम नही पावते और जिस
को लोगों से उद्वेग नहीं होता है और जो दृष्ट होने से प्रसन्न औ अनिष्ट होनेसे
अग्रसन्न तथा आमर्ष कहे दूसरे की लाभ न देखि शकना ये सब जिसके नहीं है
और भय उद्वेगसे मुक्त जो मेरा भक्त सो मोहि परम प्रिय है ॥१५॥ और जिस
को अनायास प्राप्त धनकी भी इच्छा नहीं और भीतर बाहर शुचि कहे परितः है
औ दक्ष कहे आलस्य रहित तथा पक्षपात वर्जित औ गतव्यथ कहे आधिभ्याधि शून्य
और सर्व आरम्भ कहे उदास का त्यागी ऐसा जो सो भक्त मेरा प्रिय है आधि
मन की चिन्ता है और व्याधि रोग को कहते है ॥१६॥ और जो प्रिय वस्तु
पाय के सन्तुष्ट औ अप्रिय पायके असन्तुष्ट न होय और दृष्ट के नाश होने पर भी
शोचता नहीं और किसी अग्रान्न वस्तु की आकांक्षाभी जिसके मनसे नहीं है और
शुभ अशुभ कहे पुण्य पाप का भी त्यागी कहे त्याग का अधिकारी है ऐसा भक्ति

मान्यःसमेप्रियः ॥१७॥ समःशत्रौचमित्रेचतयामानापमानयोः । शीतोष्णसुख
दुःखेषुसमःसङ्गविवर्जितः ॥१८॥ तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनीसन्तुष्टोद्येनकेनचित् । अ
निकेतःस्थिरमतिर्भक्तिमान्मेप्रियोनरः ॥१९॥ येषुषर्षाद्यतमिदंयथोक्तंपर्युपासते ।
अद्वयानामतत्परमामक्तास्तेऽतीवमेप्रियाः ॥ २० ॥ इति श्रीभगवद्गीतायां खण्ड
निपतृषुभक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

भाषा अनुवाद

युक्त मनुष्य हमें प्रिय होता है ॥१७॥ और शत्रु मित्र दोनोंके प्रति समान कहे
प्रीति विरोध रहित और मान अपमान से भी हर्ष विषाद रहित है और शीत
उष्ण सुख दुःखमें एकरूप है तथा सङ्गवर्जित कहे विषयोंमें आशक्ति रहित पुरुष
को है ॥ १८ ॥ और निन्दा स्तुति जिसको तुल्य है और जो मौनी कहे बिह्व
वचन तथा वक्ताद रहित होय जो क्रुद्ध यथा लाभसे सन्तुष्ट है तथा अनिकेत कहे
निवासस्थान शून्य और स्थिरमति अर्थात् वशीभूतचित्त है जिनके ऐसे गुणयुक्त नर
मेरे को परम प्रिय है ॥ १९ ॥ यही सब पूर्वोक्त धर्म अर्थात् कहे सुक्ति रूप है
इनको यथोक्तरूप से जो यहायुक्त उपासना करते है और मत्परता कहे नहीं
है परम परायण जिन को ऐसे मेरे भक्त मुझे अतिशय प्रिय होते है ॥ २० ॥
इति जगन्नाथ सुक्ताविरचित मनभावनी भाषा टीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच । इदंशरीरंकौन्तेयक्षेत्रमित्यभिधीयते । एतद्योवेक्षितं प्राञ्ज
क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥ क्षेत्रज्ञश्चापि माविहि सर्वक्षेत्रेषु भारत । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो

भाषा अनुवाद

अब इस तेरहे अध्याय में तत्त्व ज्ञान वर्णन किया जाता है कि हे पार्थ अर्जुन
क्षेत्रज्ञात् संसार सागर से सद्युप उपासक अपने भक्तों को मैं उद्धार करता हूँ
इत्यादि द्वादश अध्याय के सप्तम श्लोक में भगवत् अङ्गीकृत जो संसारोद्धारण से
ब्रह्मज्ञानके बिना असंभव है इस हेतु तत्त्वज्ञान उपदेश करनेके अर्थ भगवान् यह
प्रकृति पुरुष विवेक अध्यायका आरम्भ करते हैं कि जो प्रकृति पुरुष विवेक सप्तम
अध्याय के प्रथम श्लोक में परा अपरा प्रकृति द्वय रूप कहा है जिस प्रकृतिके
द्वारा अविवेक वशते यह चेतन का अंश जीव भावको प्राप्त होय संसारी होता
है और जिस प्रकृति द्वयके द्वारा जीवके उपभोगार्थ परमेश्वर भी सृष्टि आदि कर्म
में प्रयुक्त होते हैं क्षेत्र पदवाच्य परस्पर भिन्नस्वरूप द्वय प्रकृति को स्वरूप से
निरूपण करने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे कौन्तेय क्षेत्र औ क्षेत्रज्ञ
दोनों के विचार कारी लोग इस भोगायतन भोगसाधन शरीर को क्षेत्र कहते
हैं क्योंकि यह शरीर संसार शस्त्र के अंकुर होने की भूमि है और जो इस
शरीर को जानता अर्थात् हम हमारा यह विचारता है उस को क्षेत्र औ
क्षेत्रज्ञ विवेकी जन क्षेत्रज्ञ कहते हैं जिस हेतु क्षेत्रज्ञ किसान के समान इस
देह रूप क्षेत्र का फल भोग करता है ॥ १ ॥ क्षेत्रज्ञका व्यावहारिक स्वरूप
कहा अब पारमार्थिक असंसारिस्वरूप कहते हैं कि हे भारत अर्जुन सोई

ज्ञानं यत्तत्तज्ज्ञानं सतं मम ॥२॥ तत्त्वेवं यद्वाहकचर्यादिकारित्ययत् । सच यो
यत्तत्भावश्च तत्समासेन मेष्टु ॥३॥ अतः पितृव्यं वागीतं हृन्दो भविष्यति ॥ यद्यक् । न

भाषा अनुवाद

क्षेत्रज्ञ संसारी जो जीव तिसै यावत् क्षेत्र का आधार रूप हम को जानो कौं
कि साम वेदके तत्त्वमसि महावाक्य का लक्ष्य अर्थात् चिदंशरीरके मेरे ही रूपका
प्रतिपादन किया है और क्षेत्र यथा क्षेत्रज्ञ इन दोनों का जो पृथक् रूप ज्ञान
सोई मेरे मतसे सुक्तिका हेतु है और सब ज्ञान प्रतिबन्धके कारण है तथाचि
सोई कर्म जो बन्धका हेतु न होय और सोई विद्या जो सुक्तिकी हेतु होय वाक्की
कर्म-सब परिश्रमके हेतु और विद्या सकल शिल्पनैपुण्य भाव अर्थात् कारीगरीकी
चातुरी है यह जानो ॥ २ ॥ यद्यपि यहा चोबिस प्रकार की प्रकृति को क्षेत्र
कहते हैं तौमो देहरूप परिणाम कहे रूपान्तर प्राप्ति को प्राप्त भई वही
प्रकृति-मे अहंरूप अविवेक हेतु से सोई प्रकृति के विभेक के अर्थ इस शरीर
को क्षेत्रमात्र कहा उसीके विस्तार की इच्छा से प्रतिज्ञा करते हैं कि मेरा
किया हुआ जो उक्त स्वरूप जब इष्ट आदि स्वभाव और यादृश इच्छादि
धर्मयुक्त और जैसे इन्द्रियादि विकार मे युक्त और जैसे प्रकृतिपुरुष के संयोग
से जगत्, और जिस प्रकार सावर जड़म भेद से नानारूप होय सोई जो
क्षेत्रज्ञ स्वरूप से जो है और अचिन्त्य ऐश्वर्य के द्वारा जो जो प्रभाव से सम्बन्ध
होय है सो सब संक्षेप से हमसे यवण करो यह भगवान् अर्जुन से कहा ॥ ३ ॥
जिसके कहे विस्तार वचनका यह संक्षेप है तो इसपर कहते हैं कि जो वशिष्ठा
दिकोंने योग शास्त्रमे, ध्यान धारणादिना विषय रूप परमेश्वरका विराटरूप नाना
प्रकार से निरूपण किया है और जो वशिष्ठादिको ने नित्यनैमित्तिक काश्चकर्म
आदि विविध प्रकार से वेदके द्वारा भिन्न भिन्न अनेक पूरणीय देवतारूप से
प्रगट किया है और ब्रह्मसूत्र अर्थात् जिससे ब्रह्मका निरूपण होता है तात्पर्य
यह कि जिससे समस्त भूत जन्मते हैं इत्यादि तदस्य लक्षणरूप उपनिषद् वाक्य
जो ब्रह्मसूत्र और जिसके द्वारा ब्रह्मका साक्षात्कार ज्ञान किया जाता है एता
वता स्वरूप लक्षण अर्थात् सोई ब्रह्म सत्य है ऐसा ज्ञान और आनन्दरूप इत्यादि

स्वास्त्वपदैश्वर्यहेतुमद्विर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥ महाभूतान्यहङ्कारोबुद्धिरश्रुतमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकश्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥ इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः
एतत्तत्त्वैवं समासेन सविकारमुदाहृतं ॥ ६ ॥ अमानित्वमदक्षित्वमहिंसा चान्तिरार्ज

भाषा अनुवाद

श्रुतियोने हेतु युक्त पद कहा अर्थात् हे सोय इस दृष्टिके पूर्व यह जगत् सत मात्र
था असत से सत कैसे जन्म है जो इस हृदय आकाशमे आनन्दरूप आत्मा न होता
तो अपान औ प्राण वायु की चेष्टा कौन करता इससे यह आत्माही प्राणियों को
आनन्द युक्त करै है इन सब श्रुति विशिष्ट ब्रह्म सूत्रादिकों से कहा है सोई संचोप
से सुनो अथवा नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित्त उपासनारूप साधन चतुष्टय से सम्पन्न
होनेके अनन्तर ब्रह्म जिज्ञासा करै इत्यादि वेदव्यास प्रणीत को ब्रह्मसूत्र कहते
है परमेश्वर के ईच्छित्व हेतु से प्रकृति को जगत् का कारण नहीं कहि प्रकृते
है और सब श्रुतियो मे आत्मा को आनन्दमय कहा है इससे ये आनन्दमय है
इत्यादि श्रुतियों से निश्चित है अर्थ जिन सूत्रोंका सोई कहा हेतु मद्विर्विनि
श्चितैः ॥ ४ ॥ और क्षेत्र स्वरूप दो श्लोक से कहते है कि महाभूत कहे चित्ति
जल अग्नि वायु आकाश और इनका कारणरूप अहङ्कार और विज्ञानात्मिका
बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्व और अव्यक्त कहे मूल प्रकृति और पांच ज्ञान इन्द्रि तया
एक सङ्कल्पविकल्पात्मक मन और पांच इन्द्रिय गोचर कहे शब्द आदि तन्मात्रा
विशेषरूप से इन्द्रिय ग्राह्य विषय वेई क्षेत्र स्वरूप दौबिस तत्त्व कहे है ॥ ५ ॥
और इच्छा द्वेष सुख दुःख औ संघात कहे शरीर औ चेतना कहे ज्ञानात्मक
अन्तःकरण की दृष्टि जो बुद्धि औ धैर्य ये सब द्रव्य है इससे ये आत्माके धर्म नहीं
है अन्तःकरण हीं के धर्म है तो शरीर धर्मही इनको कहा चाहिये सो श्रुति
मे कहा है कि कामना संकल्प संशय अज्ञा अथवा धैर्य अधैर्य लज्जा बुद्धि मय ये
सब अन्तःकरणके व्यापार है इस वचन से यही अध्यायके तीसरे श्लोकमे जो कहा
क्षेत्रधर्म सो देखाया है और इन्द्रिय आदि विकार सहित क्षेत्र को मेने संचोपरूप
तमसे कहा ॥ ६ ॥ अब उक्त क्षेत्र से दृष्टक जो ज्ञेय कहे जानवे योग क्षेत्रज्ञ तिस
को विस्ताररूप वर्णन की इच्छा करि क्षेत्रज्ञ के ज्ञान होनेके साधन पांच श्लोक

वं । आचार्योपासनं सौख्यं स्थैर्यं मातृविनिग्रहः ॥ ७ ॥ इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च । जन्ममृत्युजरा व्याधिदुःखदोषानुदर्शनं ॥ ८ ॥ अशक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदा रगृहादिषु । नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥ भयिचानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी । विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥ अध्यात्मज्ञान नित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं । एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदगोऽन्यथा ॥ ११ ॥ ज्ञेयं

भाषा अनुवाद

से कहते हैं कि अमानित्व अदम्बित्व अहिंसा कहे मान कष्ट परपीडा राहित और क्षान्ति कहे क्षमा और आर्जन जो सीधापन और आचार्योपासन जो गुरु सेवन और शौच कहे बाह्य अन्तर शुद्धि और भाव शुद्धसे अन्तःशुद्धि जानो और स्थैर्य कहे सत् मार्ग में प्रवृत्ति और उसी एक में तत्परता तथा आत्मविनिग्रह कहे शरीर संयम ॥ ७ ॥ और इन्द्रियार्थ जो रूप आदि विषय तिनसे वैराग्य और अनहङ्कारता तथा जन्म मृत्यु जरा व्याधि दुःख दोष इनको बार बार देखना चाहिये ॥ ८ ॥ और पुत्र दारा धन आदिमें आशक्ति कहे प्रीतित्याग और पुत्रादि में सुख दुःख देखि जो मैं सुखी अथवा दुःखी हूँ ऐसा मानिलेना अभिष्वङ्ग है तिसका त्याग और इष्ट और अनिष्ट दोनों की प्राप्तिमें सर्वदा समचित्त कहे चित्तकी एक रूपता अर्थात् सावधान चित्त रहना ॥ ९ ॥ और परमेश्वररूप भेदे में अनन्य योग अर्थात् सर्वत्र आत्मदृष्टि से अव्यभिचारिणी एकान्त भक्ति और विविक्त कहे शुद्ध अथवा चित्त प्रसन्नकारी जो निर्जन देश वहाँ की वास और संसारी व्यवहारी दुष्ट मनुष्यों को समाने अर्चति ॥ १० ॥ और आत्मा को अधि कार करि के वर्तमान जो ज्ञान तिस में नित्यभाव अर्थात् तत्त्वमसि महावाक्य के तत्त्व और त्वं मद् के अर्थ पर विश्वास और तत्त्वज्ञान का फल जो मुक्ति तिसी को येष्ट रूप से आलोचन करना इस से अमानित्व अदम्बित्व आदि जो बीस कहे गये सोई ज्ञान के साधन स्वरूप है यह वशिष्ठादिकोंने कहा है और इन बीसों के विपरीत जो मान दम्भ हिंसा आदिबीस है तेई ज्ञानके विरोधी हैं और अज्ञान के स्वरूप जानो इस से वे सदा वर्जनीय हैं ॥ ११ ॥ और इस सब साधन से जिस को जानना होता है तिस को ब्रह्म ज्ञेय से कहते हैं कि जो जानने योग है

यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा ह्येतन्मनुते । अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सर्वतः परिपादन्त सर्वतोऽपि चिश्चिरोमुखं । सर्वतः युतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
१३॥ सर्वेन्द्रियगुणभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितं । असक्त सर्वस्वैर्वनिर्गुणं गुणभोक्ता च

भाषा अनुवाद

सोई मैहूँ यह कहूँगा परन्तु अभीयोता के आदर सिद्ध होने के लिये वही ज्ञान का फल देखावते हैं कि मैं जो ज्ञान की बात कहूँगा सो जानि के लोग मुक्ति पावते हैं और सो ज्ञेय पदार्थ क्या है इस पर कहते हैं कि वह अनादि औ पर कहे निरतिशय ब्रह्मरूप यही ज्ञेय ब्रह्म न सत् न असत् अर्थात् सत असत् ब्रह्म से नहीं कहा जाता तात्पर्य यह कि सत कहे जो पृथि मुख से प्रमाण का विषय औ असत् कहे जो निषेध का विषय सोई सत् असत् कहावता है यह तो ब्रह्म अविषय हेतु अर्थात् विषय न होनेसे उन दोनों से भिन्न ही है ॥१२॥ और जो ऐसा कहो कि ब्रह्म सत् असत् से भिन्न है तो यह चराचरात्मक ब्रह्माण्ड ब्रह्म है इत्यादि युति से विरुद्ध होय है यह ब्रह्मा करिके इस ब्रह्म की नाना प्रकार शक्ति औ ज्ञानक्रिया बलक्रिया आदि स्वभावसिद्ध नाना मतके द्वारा युतियोंसे कहा जाय है इस तरह ब्रह्मकी सर्वात्मता दिखाय अब पांच श्लोकसे कहते हैं कि सर्वत्र इक्षु पाद चक्षु मस्तक मुख जिस के है सो सर्वदही अवयव इन्द्रियोंसे युक्त होय सब लोक की व्याप्त हो के स्थित है अर्थात् यावत् प्राणीयोमे वर्तमान कर चरण आदि उपाधियोंसे व्यवहार करै है ॥१३॥ और चक्षु आदि इन्द्रियों के गुणस्वरूप अर्थात् रूपादि विषय मे तिस तिस आकार से वही प्रकाशमान है अथवा इन्द्रिय और गुण कहे इन्द्रियों के विषय रूपादि समस्त मे सोई प्रकाश करता है इस से सर्व इन्द्री गुण आभास स्वरूप है और सम्पूर्ण इन्द्रियों से रहित है सोई युति कहती है कि सोई जो ब्रह्म सो हस्त रहित हो के भी ग्रहण करते औ पाद विना भी वेगवान तथा चक्षुहीन दृष्टा औ कर्ष विहीन योता और इन सकल विषय को वे जानते हैं पर उनको कोई भी नहीं जानता है वही परमात्मा को वेद सब आदि पुरुष औ पंथ तथा सर्वव्यापी कहते हैं और वे असक्त कहे सत्तादि गुण रहित औ गुण के भोक्ता अर्थात् सत्तादि गुण समूह के प्रतिपालक है यह भगवान अर्जुन

॥१४॥ बहिरन्तर्यभूतानामचरंचरमेव च । सूक्ष्मात्तात्तद्विज्ञेयंदूरस्थंचान्तिकेषु
तत् ॥ १५ ॥ अविभक्तञ्चभूतेषुविभक्तमिवचक्षितं । भूतमर्हच्चतज्ज्ञेयंशसिष्णुप्रम
विष्णु च ॥ १६ ॥ ज्योतिषामपितज्ज्योतिस्तनस परमुच्यते । ज्ञानंज्ञेयंज्ञानगम्यं

भाषा अनुवाद

मे कहा ॥ १४ ॥ और जैसे सुवर्ण के कार्य कड़ा कड़न कुखल आदि आभूषणों में सोना कारण रूप में भीतर बाहर वर्तमान है और जैसे जल तरङ्ग में भी जल छोड़ि और नहीं है तथा आकाश जैसे सकल वस्तु के बहिरन्तर वर्तमान है तैसे ही ब्रह्म के कार्य स्वरूप चराचर आदि भूत समूह से अन्तर बाहर भी सोई ब्रह्म ही वर्तमान है क्यों कि तावत् कार्य के कारण सोई है परन्तु ऐसे ही के भी रूपादि विहीन हेतु से यह इतने और ऐसे कर स्वरूप जानवे योग्य नहीं है और यही ब्रह्म अज्ञानियों को लक्ष्य योजन के समान दूर है क्योंकि विकार सहित जो प्रकृति तिस में पर है और ज्ञानियों को अपरोक्ष रूप से नित्य निकट है सूक्ष्मता के कारण अज्ञानियों को अविज्ञेय और वेदशास्त्र मार्ग से चलनेवाले ज्ञानियों को विज्ञेय है अर्थात् जानिबे योग्य है इस को भी आकाश के नाई जांओ ॥ १५ ॥ और इस अध्याय के बारहें श्लोक से कहा जो ज्ञेयपदवाच्य ब्रह्मभूताख्य सो स्याव जङ्गम संसृष्ट में अविभक्त अर्थात् कारण रूप से अभिन्न और कार्य रूप से समुद्र फेन के समान भिन्न वर्तमान है और समस्त भूतों के भक्तों अर्थात् स्थिति काल में प्रतिपालक औ प्रलय में संहारक तथा सृष्टि काल में स्वयं आप नाना कार्यरूप से प्रगट होते हैं ॥ १६ ॥ और सो ब्रह्म जोतिरूप जो सूर्य चन्द्र ताराग्रय विद्युत् औ अग्नि इन सब का जोति कहे प्रकाशक है जिस से ये सब प्रकाशमान हैं और ये सब जिस ब्रह्म को नहीं प्रकाश करि शक्ते हैं ऐसे ब्रह्म से यह समस्त जगत् प्रकाशित है यह श्रुति कहती है इसी से हम जो अज्ञान तिस में पर है अर्थात् अज्ञान का लेश भी वहां नहीं है यादित् परास्तमसः परस्तात् इस श्रुति ने कहा है और सोई ब्रह्म बुद्धिदत्त में ज्ञान रूप प्रगट है और सोई रूपादि आकार रूप से ज्ञेय कहे ज्ञान योग्य है और ज्ञानगम्य अर्थात् पूर्णोक्त अभानित्व आदि लक्ष्य ज्ञान के साधनों में प्राप्य है क्यों कि प्राणी साध के हृदय में निवृत्ता अन्तः

हृदि सर्वस्वविष्ठितं ॥१७॥ इति चेन्न तथान्नानं ज्ञेयञ्चोक्तं समासतः । महत्कृत्येति हि
ज्ञायमानावयोपपद्यते ॥१८॥ प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वान्नादीशमावयि । विकाराञ्च
गुणाञ्चैव निदिप्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥ कार्यकारणकर्तृत्वे हेतु प्रकृतिरुच्यते । पुरुषः
सुखदुःखानामोक्तृत्वे हेतु उच्यते ॥२०॥ पुरुषः प्रकृतिरिति हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।

भाषा अनुवाद

यहाँ भी चेतन रूप से स्थित है ॥ १७ ॥ अब अधिकारी और फल सहित कहा जो
चेदादि उस का तात्पर्य कहते हैं कि इस अध्याय के पंचमे श्लोक से लेकर और
सबहें तक गेय स्वरूप जो पशित्ठादि ऋषियों ने विस्तार से कहा है सो सबसे ने
संक्षेप से कहा सो मेरे भक्त यह जानि करि के प्रज्ञाता की प्राप्ति होने के योग्य
होते हैं अर्थात् मेरे भाषको पावते हैं ॥ १८ ॥ क्षेत्र स्वरूप और जो जड़ अदृश्य
आदि है और स्वभाव और जैसा इच्छादि धर्मविशिष्ट सो सब पूर्ण ही विस्तार
रूप से कह चुके अब पूर्ण अज्ञीकृत यही क्षेत्र जैसे इन्द्रिय आदि विकार से युक्त
और जैसे प्रकृति पुरुष संयोग से प्रगट होय है और जिस प्रकार स्थावर जङ्गम
आदि भेद से भिन्न भिन्न स्वरूप होय है और सोई क्षेत्रज्ञ जो स्वरूप और जैसे
भानविशिष्ट है सो सब प्रकृति पुरुष को संसार हेतुत्व कहने के द्वारा पांच श्लोक
विस्तार रूप कहते हैं कि सोई प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं जो इन का
और कारण दुंदुबे तो अनवस्था दोष पड़ेगा अर्थात् उसका कारण तिसका कारण
ऐसे ठिकाना न लगेगा इससे सोई प्रकृति पुरुष को अनादि जानो तो ईश्वर की
प्राप्ति प्रकृति भी अनादि है और ईश्वर का अंगमूत पुरुष भी अनादि है और देह
इन्द्रिय आदि विकार तथा गुणरूप परिणामको प्राप्त जो सुख दुख मोह आदि सो
सब प्रकृतिसे होते हैं यह जानो परमेश्वर और तदीय कहें उनको शक्तियोंको अना
दित्व भाष्यकार श्रीमद्भारुचार्थ ने विस्तार से कहा है इस से इहाँ अन्य बढने के
उरसे मैने नहीं कहा देह इन्दी सुख दुख सब प्रकृति ही के कार्य हैं ॥ १९ ॥
भगवान् श्रीगृष्ण सकल विकारके प्रकृति से उत्पन्न है यह देखाय इस अब पुरुष
को संसार होनेका हेतु इस श्लोकसे देखानते हैं कि कार्य जो शरीर और कारण
जो सुख दुख के साधन स्वरूप कहे करनेवाली इन्दी सब और इन्दीयों को कर्तृत्व

रणगुणसङ्गोऽसदमदो निजम्बु ॥ २१ ॥ उपदटानुमत्ता चमर्ता भोक्ता भक्ष्यरः ।
परमात्मैति चाप्युद्धेहेस्त्रिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥ य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।

भाषा अनुवाद

कहे तीन तीन रूप हो जाना इस सब की कारणभूत प्रकृति है यह कमल आदि
वृद्धियो ने कहा है और पुरुष जो जीव सो शरीर इन्द्रिय आदि दत्त सुख दुख सब
का कारण स्वरूप कहा है तात्पर्य यह कि यद्यपि अचेतन प्रकृति आप्त्मे कुछ
नहीं कर सकती और विकारी पुरुष को भी भोक्तृत्व कहे भोग करना यह असंभव
है तौ भी कर्तृत्व शब्द का अर्थ यह है कि क्रिया करना अचेतन प्रकृतिको भी
चैतन्यरूप जीव के अदृष्टवशते सम्भव है जैसे अचेतन हो के भी अग्निज्वाला का
काष्ठगमन औ वायुका तिर्जक कहे तिच्छी गमन और वशोको जैसे दूध रक्षण करै
है तैसेही पुरुषकी सान्निध्य कहे अबलम्बनसे प्रकृति को कर्तृत्व है और भोक्तृत्व
जो सुख दुख का ज्ञान सो चेतन का धर्म है इस से प्रकृति सन्निधान कहे भाषा
की निकटता को प्राप्त होय पुरुष को भी भोक्तृत्व कहा है ॥ २० ॥ जो कहो कि
अविकारी औ जगत् रहित जो आत्मा तिस को भोक्तृत्व कहे भोगना कैसे सम्भव
होय है कि जिस हेतु सोई पुरुष प्रकृतिस्व अर्थात् प्रकृति का कार्य जो शरीर
तिस मे तदात्मरूप होय वास करै है इस हेतु उस शरीर से प्रगट जो सुख दुख
आदि तिन को भूख से भोग करै है जैसे मनुष्य कोइ वस्तु या द्रव्य पाय अपनी कर
मानि लेय फेरि उसके जानेसे दुखो होय है कहो यहा दुख का कारण अभिमान
छोड और क्या है और सत जो देव मनुष्य जोनि औ असत् जो पशु पक्षी आदि
जोनि तिन मे जो इस पुरुष का जीव रूप जगत् है सो गुण कहे शुभ अशुभ कर्म
कारी इन्द्रियण तिन के सङ्ग से होय है सङ्ग ही ऊंची नीची देह धारण मे कारण
रूप है यह जानो ॥ २१ ॥ उक्त रीति से प्रकृति जो भाषा तिस के अविवेक
वशते जीव को अहं कर्ता अहं भोक्ता इत्यादि कल्पित माय संसार है पर विचार
स्वरूप से तो इस जीव को संसार नहीं है इसी आशा पर अब पुरुष का स्वरूप
कहते है कि इस प्रकृति का कार्य रूप जो शरीर तिस मे वर्तमान हो के भी जीव
प्रकृति से भिन्न कहे प्रकृतिके गुणो से युक्त नहीं है उनसे अलग है क्योंकि ईश्वर

सर्वथावर्त्तमानोऽपि न समूयोऽभिजायते ॥२३॥ ध्यानेनात्मनि पश्यन्तिके विदात्मानमात्मना । अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥ अन्यत्वेन मज्जन्तः युत्वा

भाषा अनुवाद

अंश जीव उपद्रष्टा अर्थात् भिन्नरूपसे समीप में रह कर देखनेवाला सांक्षीभाव है और अनुमन्ता अर्थात् समीप सम्बन्धसे अनुग्राहक कहे अनुभोदन कर्ता माननेवाला है सोई युति कहती है कि एक स्वरूप प्रकाशरूप जो परमात्मा सो भत मात्मे निगूढ भावसे स्थित है और सर्वव्यापी तावत् प्राणीका अन्तर्भावी है और सकलकर्मका नियन्ता और भतमात्मका अधिष्ठानरूप और द्रष्टा और सौमक्ष भूतोंका चैतन्यकारी और अद्वितीय तथा गुणोंसे अतीत कहे अलग है और यह पुरुष ईश्वर सम्बन्ध रूपमें भर्ता कहे पोषणकारी प्रतिपालक है और सहेश्वर कहे ब्रह्मादिकों का भी अधिपति अर्थात् स्वामी है सोई युति है कि यह पुरुष सबका ईश्वर और सर्वभूतका अधिपति तथा भतमात्रका प्रतिपालक है ॥ २२ ॥ ऐसी जो प्रकृति या पुरुष तिनके विवेक के ज्ञानवान् मनुष्यों की प्रशंसा करते हैं कि जो लोग ऐसे उपद्रष्टारूप पुरुषका जानते हैं तथा प्रकृतियों और प्रकृति के गुणरूप परिणामों को प्राप्त कहे रूपान्तर को प्राप्त सुखदुःख सहित को जान सकें हैं वे ई मनुष्य संसार से रहते सम्पूर्ण विधिको उल्लंघन करके सो पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करते सुकृष्टो होते हैं यह जानो ॥ २३ ॥ ऐसी जो प्रकृति तिस से भिन्न जो आत्मा तिसके ज्ञान होनेके विषयमें अनेक अनेक कल्पनारूप साधन दो लोकसे कहते हैं कि कोई तो ध्यान कहे आत्माकाराकारित ज्ञानरूप धारावाहिक अन्त करण की दृष्टिसे इसी शरीरमें मनके द्वारा आत्माका दर्शन करते हैं और कोई सांख्य अर्थात् प्रकृति पुरुषका भेद आलोचनके द्वारा आत्माको देखते हैं कोई यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधिरूप अष्टांग योगके क्रमसे जानते हैं और कितने एक नि काम कर्मरूप भक्तियोग अनुष्ठान करके शुद्ध सतोगुण होय वत्सज्ज्ञान के द्वारा आत्मा को देखते रहते हैं यद्यपि ध्यानादि यथा योग्य क्रम से एकही है तो भी तौन २ निष्ठा के भेद से भिन्न नाना मत कहा है ॥ २४ ॥ और अब अति मन्द अधिकारियों के निस्तार की उपाय कहते हैं कि सांख्ययोग

न्येव्यलपामते । । तेऽपिचातितरन्त्येवमृत्युमुतिपरायणाः ॥२५॥ यान्त्संजायते
 किञ्चित्स्वत्त्वावरजङ्गमं । क्षेत्रक्षेत्रसंयोगात्तद्विद्विभरतर्पभ ॥२६॥ समंसर्वेषु
 भूतेषुतिष्ठन्तंपरमेश्वरं । विनश्यत्स्वविनश्यन्तयःपश्यतिसपश्यति ॥२७॥ समंप
 श्यन्हिसर्ववसमस्थितमीश्वरं । नहिनस्वात्मनात्मानंततोयातिपरांगतिं ॥२८॥ प्र

भाषा अनुवाद

आदि मार्ग से जैसे उपद्रुटरूप आत्माको साक्षात्कार करने में अर्थात् देखने में जो अज्ञ है परन्तु और किसी आचार्य का उपदेश श्रवण कर के ध्यानमात्र करते हैं तेउ अज्ञापूर्वक उपदेश श्रवण में तत्पर होय क्रम से चतुष्टयज्ञ संसार में अवश्य सुज्ञ हो जाते हैं सोई अर्जुन तुम यह जानो ॥२५॥ अब तृतीय चतुर्थ प्रश्नम अध्याय में कर्मयोग विस्तार से कहा और छठवें अठवें अध्याय में ध्यानयोग का विस्तार कहा और सांख्यके द्वारा भिन्न किया हुआ जो आत्मा सोई ध्यान आदिका विषय है इस हेतु सांख्य ही को अध्याय समाप्ति पर्यन्त विस्तार कर के भगवान् कहते हैं कि हे भरतर्पभ अर्जुन जो कृष्ण स्थावरजंगम आदि वस्तु उत्पन्न है सो सब क्षेत्रक्षेत्रज्ञ दोनोंके योगमें है अर्थात् अविवेककृत जो आत्माका अध्यास अर्थात् संयोग है तिस हेतुसे उत्पन्नमाद है यह निश्चयकर जानो ॥२६॥ अविवेकसे संसार उत्पत्ति कहिकर अब संसारकी निवृत्तिके अर्थ प्रकृतिसे भिन्न स्वरूप जो आत्मा उसका शोभन दर्शन कहते हैं कि स्थावर जंगमालका सर्व भूतमें निर्विशेष कहेसमान सत् रूप सम भावसे स्थायी परमात्माकीजो मनुष्य देखते हैं और मृत्तोंके विनाशमें आत्मागो अविनाशीरूप जो देखते हैं तेई शोभनरूप देखते हैं और कोईभीनहीं ॥२७॥ और उस शोभन दर्शन होनेका कारण क्या है इस पर कहते हैं कि सोई शोभन देखने वाला मनुष्य यावत् भूतमाद में सम्यक् प्रकार से अक्षर स्वरूप अवस्थित परमात्मा का दर्शन कर के आप अपने को नष्ट नहीं कर्ता अर्थात् सविदानन्द आत्मा स्वरूपको अविद्या अज्ञान से आवरण कर के नाश नहीं करता है तिस से अष्टगति सुक्तिरूपको प्राप्त होता है और जो इस पूर्वोक्तरूप से नहीं देखता है सो शरीर हीको आत्मा करके देखनेवाला शरीरके सहित अपनेको अवश ही नष्ट कर्ता है सोई श्रुति कहती है कि जो उक्त प्रकार से आत्महा होता है

कृत्यैवचकर्मागिक्रियमाणानिसर्व्वगः । य.पश्यतितथात्मानमकर्त्तारंसपश्यति ॥२८॥
यथाभूतदृष्टगुणावमेकस्थमनुपश्यति । अतएवचविस्तारं वक्ष्यसम्पद्यतेतदा ॥ ३० ॥
अनादित्वागिर्युक्तत्वात्परमात्मायमव्ययः । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करति न लिप्यते

भाषा अनुवाद

सोई मरणके अनन्तर प्रकाश अन्य अन्वकार से आहत जो स्थान तांहा को जाता है ॥२८॥ जो कहो कि शुभ अशुभ कर्म के कर्त्तृत्व हेतु से वैषम्य देख पडती है फेरि आत्माका समान कैसे है इस पर कहते हैं कि जो देह इन्द्रिय आकार ने रूपान्तर को प्राप्त प्रकृति के द्वारा जाना प्रकार क्रियमाण कर्म होते हैं ऐसे जो मनुष्य देखे है और अपने को अकर्ता देखे है अर्थात् स्थूल शरीर में अहं बुद्धि में आत्मा कर्ता होता है और स्वरूप से उसको कर्त्तृत्व नहीं है ऐसे जो मनुष्य देखे है सो सम्यक् देखे है सोई कहा है कि य.पश्यतिसपश्यति इति ॥२८॥ अब प्रकृति के सकल कार्यभूत और तिन की कारण स्वरूप प्रकृति मात्र इस भेद के अभाव हेतु से मनुष्य भूतगत भेदजनित आत्माका भेद नहीं देखे है ऐसे मनुष्योंको ब्रह्मभाव प्राप्ति कहते हैं कि जब स्थावर जड़म भूतका दृष्टक भाव कहें भेद को ऐसे देखते हैं कि एक यही परमेश्वर को शक्तिरूप प्रकृति से सृष्टि स्थिति प्रलय काल में भूतों की उत्पत्ति पालन नाश निरन्तर देखते हैं और तत्काल में प्रकृतिस्वरूप मात्र देखते भूतों के अमेददर्शी लोग परिपूर्ण स्वरूप ब्रह्म ही है ॥३०॥ और जो कहो कि पूर्वोक्तरूप आत्माके भेदका अभाव होनेसे भी संसार ब्रह्मा में देह सम्बन्ध से जो कर्म और उद्धी कर्मोंका फलरूप जो सुखदुःख आदि तिनके द्वारा वैषम्य भावतो नहीं दूर हो सकै है इससे वैसे आत्माका सम्यक् दर्शन कैसे संभव होय इस शङ्कापर कहते हैं कि जिसकी उत्पत्ति होती उसका अवश्य आदि है और जो गुणयुक्त वस्तु है उसको गुणके नाश होनेसे रूपान्तर प्राप्ति रूप विकार भी होता है किन्तु जिस हेतु यह जीव परमात्मा और अनादि तथा निर्गुण हेतु से अव्यय अर्थात् अविकारी है इस से हे कौन्तेय शरीर में रहिके भी कोई कर्म नहीं कर्ता और कर्मफल में भी लिप्त नहीं होता अर्थात् इसको कोई कर्म नहीं लगते है ॥ ३१ ॥ अब आत्माके कर्म न करने और कर्मफल में लिप्त न

न्येभ्य उपपासते । । तेऽपि चातितरन्त्येकमृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥ यावत्संजायते
किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमं । क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्विभरतर्पभ ॥२६॥ समंसर्वेषु
भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरं । विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति समश्नुति ॥२७॥ समं
पश्यन्ति सर्वं यः समश्नुति मीश्वरं । न हिनस्त्यात्मानात्मानं ततो याति परांगति ॥२८॥ प्र

भाषा अनुवाद

आदि मार्ग से जैसे उपद्रष्टारूप आत्माको सञ्जात्कार करने से अर्थात् देखने से
घो अन्न है परन्तु और किसी आचार्य का उपदेश श्रवण कर के ध्यानमात्र
करते हैं तो उद्धारपूर्वक उपदेश श्रवण में तत्पर होय क्रम से चतुर्गुण संसार से
अवश्य मुक्त हो जाते हैं सोई अर्जुन तुम यह जानो ॥२५॥ अब तृतीय चतुर्थ पञ्चम
अध्याय में कर्मयोग विस्तार से कहा और छठे अठवें अध्याय में ध्यानयोग का
विस्तार कहा और सात्विके द्वारा भिन्न क्रिया उद्घा जो आत्मा सोई ध्यान आदिका
विषय है इस हेतु सात्विक ही को अध्याय समाप्ति पर्यन्त विस्तार कर के भगवान्
कहते हैं कि हे भरतर्पभ अर्जुन जो कुछ स्थावरजंगम आदि वस्तु उत्पन्न है सो
सब क्षेत्र क्षेत्रज्ञ दोनोंके योगमें है अर्थात् अविवेकित जो आत्माका अध्यास अर्थात्
संयोग है तिस हेतु से उत्पन्न मान है यह निश्चय कर जानो ॥२६॥ यविवेक से संसार उत्प
त्ति कहिकर अब संसारकी निवृत्तिके अर्थ प्रवृत्तिसे भिन्न स्वरूप जो आत्मा उसका
शोभन दर्शन कहते हैं कि स्थावर जंगमात्मक सर्व भूतमें निर्विशेष कहे समान सत्
रूप सम भावसे स्थायी परमात्माकी जो मनुष्य देखते हैं और भूतोंके विनाशमें आ
त्माको अविनाशीरूप जो देखते हैं तेई शोभनरूप देखते हैं और कोई भी नहीं ॥२७॥
और उस शोभन दर्शन होनेका कारण क्या है इस पर कहते हैं कि सोई शोभन
देखने वाला मनुष्य यावत् भूतमात्र में सम्यक् प्रकार से अधर स्वरूप अवस्थित
परमात्मा का दर्शन कर के आप अपने को नष्ट नहीं कर्ता अर्थात् सविदानन्द
आत्मा स्वरूप को अविद्या अज्ञान से आवरण कर के नाश नहीं करता है तिस
से श्रेष्ठगति मुक्तिरूप को प्राप्त होता है और जो इस पूर्वोक्तरूप से नहीं देखता
है सो शरीर ही को आत्मा करके देखनेवाला शरीरके सहित अपनेको अवश्य
ही नष्ट कर्ता है सोई श्रुति कहती है कि जो उक्त प्रकार से आत्मज्ञ होता है

कृतैवचकर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः । यः प्रयति तदात्मानमकर्तारं स प्रयति ॥ २८ ॥
यथाभूतं पश्यन् भावमेकस्मिन्नुपयति । अतएव च विस्तारं ब्रह्मसंन्यते तदा ॥ ३० ॥
अनादि त्वाणि गुरुत्वात् परमात्मायमव्ययः । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करति न लिप्यते

भाषा अनुवाद

सोई मरणके अनन्तर प्रकाश मूल्य अन्वकार से आहत जो स्थान तांहा जो जाता है ॥ २८ ॥ जो कहो कि मंभ अशुभ कर्म के कर्तृत्व हेतु से वैषम्य देख पड़ती है फेर आत्माका समत्व कैसे है इस पर कहते हैं कि जो देख इन्द्रिय आकार में रूपान्तर को प्राप्त प्रकृति के द्वारा नाना प्रकार क्रियमाण कर्म होते हैं जैसे जो मनुष्य देखे है और अपने को अकर्ता देखे है अर्थात् स्थूल शरीर में अहं बुद्धि से आत्मा कर्ता होता है और स्वरूप से उसको कर्तृत्व नहीं है जैसे जो मनुष्य देखे है सो सम्यक् देखे है सोई कहा है कि यः प्रयतिसंप्रयति इति ॥ २८ ॥ अब प्रकृति के सकल कार्यभूत और तिन की कारण स्वरूप प्रकृति भाव इस भेद के अभाव हेतु से मनुष्य भूतगत भेदजनित आत्माका भेद नहीं देखे हैं ऐसे मनुष्योंको ब्रह्मभाव प्राप्ति कहते हैं कि जब स्थावर अजस्र भूतका प्रत्येक भाव कहे भेद को ऐसे देखते हैं कि एक यही परमेश्वर को शक्तिरूप प्रकृति से सृष्टि स्थिति प्रलय काल में भूतों की उत्पत्ति पालन नाश निरन्तर देखते हैं और तत्तत्काल में प्रकृतिस्वरूप भाव देखते भूतों के अमेददर्शी लोग परिपूर्ण स्वरूप ब्रह्म ही हैं ॥ ३० ॥ और जो कहो कि पूर्वाक्तरूप आत्माके भेदका अभाव होनेसे भी संसार रावस्था में देह सम्बन्ध से जो कर्म और उही कर्मोंका फलरूप जो सुखदुःख आदि तिनके द्वारा वैषम्य भावतो नहीं दूर हो सकै है इससे वैसे आत्माका सम्यक् दर्शन कैसे संभव होय इस शङ्कापर कहते हैं कि जिसकी उत्पत्ति होती उसका अवश्य आदि है और जो गुरुयुक्त यस्तु है उसीको गुणके नाश होनेसे रूपान्तर प्राप्ति रूप विकार भी होता है किन्तु जिस हेतु यह जीव परमात्मा और अनादि तथा निर्गुण हेतु से अव्यय अर्थात् अविकारी है इस से हे कौन्तेय शरीर में रहिके भी कोई कर्म नहीं कर्ता और कर्मफल में भी लिप्त नहीं होता अर्थात् इसको कोई कर्म नहीं लगते हैं ॥ ३१ ॥ अब आत्माके कर्म न करने और कर्मफल में लिप्त न

॥३१॥ यथासंज्ञगतं सौक्ष्मादाकाशं नोपलिखते । सर्वत्रावस्थितो देहेतयात्मानोपलिखते ॥ ३२ ॥ यथाप्रकाशयत्नेः कृत्स्नलोकमिसंरविः । ज्ञेयं ज्ञेयतया कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥ ज्ञेयं ज्ञेयज्ञयोरेव नन्तरं ज्ञानवच्चुपा । सूतप्रवृत्तिमोक्षं चैविदुर्यान्तते परम् ॥ ३४ ॥ इति प्रकृतपुरुषविवेकयोगो नाम दशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

भाषा अनुवाद

होने में दृष्टान्त देते ऊँचे हेतु कहते हैं कि जैसे सूक्ष्मता के हेतु से सर्वगत आकाश पङ्क आदिमें रहते भी असंग हेतु से पङ्क आदि उसको नहीं लगते अर्थात् पङ्क से वह लिप्त नहीं होता है तैसे ही यावत् उत्तम मध्यम औ अधम शरीरों में रहिके भी आत्मा लिप्त नहीं होता है अर्थात् शरीरसंबन्धी पण्य पाप आदिसे युक्त नहीं होता है ॥ ३२ ॥ असंग हेतु से परमात्मा की निर्लेपता आकाशके दृष्टान्त से दिखाया अब प्रकाशक होके भी जो प्रकाश्य वस्तुओंके धर्मसे आत्मा युक्त नहीं है यह सूर्यके दृष्टान्तसे कहते हैं कि हे भारत अर्जुन एक यही सूर्य जैसे समस्त लोकको प्रकाश करते हैं परन्तु प्रकाश्य वस्तुके गुणदोषसे लिप्त नहीं होते ऐसे ही ज्ञेयी जो आत्मा सो ज्ञेय कहे शरीर आदि सबको प्रकाश करते भी देहादि के गुण दोषसे लिप्त नहीं होता है यह तुम हमारी बात सत्य करके मानो हे भारत अर्जुन ॥ ३३ ॥ अब अध्यायके अर्थ का उपसंहार करते हैं कि इस प्रकार से उक्त जो ज्ञेय औ ज्ञेयज्ञ तिन दोनों का भेद जो मनुष्य विवेकज्ञानरूप वस्तु के द्वारा देखते हैं और यही पूर्व कही ऊँचे जो प्रकृति तिससे मोक्ष अर्थात् मुक्तिका उपायरूप ध्यान धारण आदि जो जानते हैं तेई पुरुष परमपद को जाते हैं ॥ ३४ ॥ इति योगसूत्राय सुकुल विरचितं मनभाषनी टीकायां दशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

चतुर्थ अध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच । परंभूयःप्रवक्ष्यामिज्ञानिनांज्ञानसुत्तमं । यद्ज्ञात्वासुनयःसर्वेपरसिद्धिमितोगताः ॥१॥ इदंज्ञानमुप्राधित्यसमसाधर्म्यमागताः । सर्वेऽपि

भाषा अनुवाद

तेरहें अध्याय के छवीसवें श्लोक में जो कहा कि प्रकृति और पुरुष के संयोग से संसार की उत्पत्ति होती है ऐसी निरीश्वरवादी साध्य मत के अवलम्बियों की निश्चय के अनुसार संसार की स्वाधीनता नहीं है किन्तु ईश्वर की इच्छा के क्रम ही से जो होय है यह कहते ऊँचे भगवान् श्रीकृष्ण प्रकृति पुरुष की स्वाधीनता के निवारणपूर्वक सत्त्व आदि गुणों के संग से संसार की विचित्रता होती है और तेरहें अध्याय के एकदशवें श्लोक में कहा जो सत्त्वादि गुण से संसार की चिगता सो अब चौदहें अध्यायमें विस्तारसे भगवान् कहते हैं और जो अब कहेंगे उसकी प्रशंसा दो श्लोक से कहते हैं कि परम जो परमार्थ निष्ठ जिसके द्वारा जाना जाय ऐसा जो ज्ञान उपदेश सो फेरि तुमसे कहूँगा सो ज्ञान किस प्रकार का है इस अपेक्षा पर कहते हैं कि यह ज्ञान मोक्ष का हेतु है इससे तप और कर्म आदि विषयक सकल ज्ञानों के बीच यह उत्तम है जिस की जानि के मुनिछोग खूल खूँझ शरीर बन्धनसे छूटि थोछ सिद्धिरूप मुक्ति को प्राप्त भये है इससे ज्ञानीयों का यह उत्तम ज्ञान है यहतुम जानो ॥१॥ और यही ज्ञानअर्थात् ज्ञान का साधन जो अब तुम से कहूँगा तिस का अनुष्ठान करिके कहे आथय ले के सारूप्यमुक्ति को प्राप्त सकल मुनिजन सर्ग कहे ब्रह्मादिक की उत्पत्ति होने से भी उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलय काल में भी प्रलय के दुख को नहीं भोगते हैं अर्थात् पुनरा

नोपजायन्तेप्रलयेनव्ययन्तिच ॥२॥ ममयोनिर्महद्ब्रह्मतस्मिन्गर्भेदधाम्यहं । सम्भवःसंभूतानाततोभवतिभारत ॥३॥ सर्वयोनिपुकोन्तेयमूर्त्तयःसम्भवन्तिताः । तासांब्रह्ममहदोनिरहंवीजप्रदःपिता ॥४॥ सत्त्वरजस्तमइतिगुणा प्रकृतिःसम्भवाः ।

माया अनुवाद

गमन से रहित हो जाते हैं ॥ २ ॥ उसी ज्ञानसाधन की प्रशंसा करि कै योता अर्जुन को अवन की अभिलाष बढ़ाय परमेश्वर के अधीन जो प्रकृति औ पुरुष ये दोनो सकल भूतमात्र की उत्पत्ति के कारण हैं परन्तु स्वाधीन प्रकृति पुरुष को कारणत्व नहीं है यही तात्पर्य अब कहते हैं कि प्रकृति देश औ काल से अपरिच्छिन्न अर्थात् सबसे भिन्न महत कहे अनन्त समस्त कार्य की हेतुरूप ब्रह्म है सो यही महत ब्रह्म नाम जो प्रकृति सो परमेश्वर स्वरूप हमारी जोनि है अर्थात् गर्भधारण का स्थान है सो इसी प्रकृति से मै गर्भ कहे जगत के विस्तार का हेतु चिदाभास कहे चेतन अंश बीजरूप को स्थापन करता हूँ और प्रलयकाल मे हमारे ही मे लीन होय है और अविद्या से उत्पन्न जो काम्यकर्म तिनके संस्कार से युक्त चैवज्ञ आत्मा को सृष्टिकाल मे भोग्य जो ज्ञेय कहे नाना प्रकार देह तिन मे सव्यक प्रकार से योग करता हूँ और वही गर्भ आधानसे ब्रह्मा आदि समस्त भूतकी उत्पत्ति होती है हे भरत अर्जुन तुम श्रवण करो ॥३॥ केवल सृष्टिकाल ही मे प्रकृति पुरुषके द्वारा भूतो का जन्म होता है ऐसा न जानो परन्तु सदा सर्वदा प्रकृति पुरुष से प्रगट होते रहते यही कहते हैं कि हे कौन्तेय अर्जुन जितने मनुष्य आ योनि स्वरूप ज इम रूप स्वरूप उत्पन्न होते हैं उन को निरन्तर बढ़ावनेवाली प्रकृतिही योनि है अर्थात् माता है और बीज प्रदाता पितारूप गर्भाधान कर्त्ता पुरुषस्वरूप मै ही है ॥ ४ ॥ परमेश्वराधीन प्रकृति पुरुषके द्वारा प्राणियों की उत्पत्ति निरूपण करि कै अब प्रकृति के संयोग से पुरुष की संसार अवस्था इस श्लोक से ले कर चारि श्लोक पर्यन्त क्रम से विस्तार करि कहते हैं कि हे महाबाहो अर्जुन सत्त्व रज औ तम ये तीन गुणो की समान अवस्था रखनेवाली जो प्रकृति तिस से जिस की उत्पत्ति है उस मे गुणो के धर्म आव होंगे देखो प्रकृति से गुणो के अनुसार भिन्नभिन्न प्रगट होय प्रकृति के

निवर्तन्ति महाबाहो देहे देहि नमः ॥ ५ ॥ तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्माशक्तमनाभयं ।
सुखसंगेन वध्नातिज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥ रजोरागात्मकां विद्विष्यासंगसमुद्भवं ।
तन्निवर्तनातिक्रान्तेयकर्मसंगेन देहि नमः ॥ ७ ॥ तमस्तु ज्ञानवर्गं विद्विमोहनं सर्वदेहिना ।
प्रसादालस्यनिद्रामिस्तन्निवर्तनातिभारत ॥ ८ ॥ सत्त्वं सुखे सञ्चयति रजः कर्मणि भारत ।

भाषा अनुवाद

कार्यरूप प्ररीर मे अहंशुक्ति युक्त स्थित देही स्वरूप चिह्न आत्मा जो सचसुख
अव्यय निर्निकार रूप है उसको भी गुण अच्छी तरह वह करते है अर्थात् अपने
कार्य सुख दुख मोह आदि से युक्त कर देते है ॥ ५ ॥ तिन गुणों के बीच मे सतो
गुण का स्वरूप और उसके बन्धकत्व की प्रकार कहते है कि सतो गुण निर्मलता
के हेतु से फटिक के समान प्रकाशक कहे दीप्ति युक्त और अनामय अर्थात् निरु
पद्रव शान्त स्वरूप है इसीसे हे अनघ निष्पाप अर्जुन शान्त स्वरूप सतो गुण अपने
कार्यरूप सुख मे जो आशक्ति के द्वारा बन्ध करता है और प्रकाशक है इस हेतु
से अपने कार्यरूप ज्ञान मे जो आशक्ति उस मे भी वह करता है अर्थात् हम सुखी
हम ज्ञानी इत्यादि मन के सकल कर्मों को तिस अभिमानी क्षेत्रज्ञ रूप आत्मा ने
सम्पूर्ण रूप से योग कर देता है अनघ पद से जानाया कि गीता का अविकारी
पुरुषात्मा है ॥ ६ ॥ अब रजोगुण का स्वरूप और बन्धकत्व कहते है कि हे कौन्तेय
अर्जुन रजोगुण को रागात्मक कहे अनुराग स्वरूप जानो इससे तृष्णा जो अप्राप्त
वस्तु मे अभिलाष औ संग कहे प्राप्त विषय मे जो सम्पूर्ण आशक्ति इन दोनों का
रजोगुण से उद्भव होता है सोई रजोगुण देही जीवको दृष्ट औ अदृष्ट अर्थ कर्मों
की आशक्ति मे निश्चय बन्ध करते है क्योंकि तृष्णा औ संग के द्वारा समस्त कर्म मे
आशक्ति होती है ॥ ७ ॥ अब तमोगुण का स्वरूप और बन्धकत्व कहते है कि
तमोगुण अज्ञान से प्रगट है अर्थात् आवरण शक्ति प्रधान प्रकृति के अंश से प्रगट
जानो इससे हे भारत अर्जुन यावत जीव का मोहकारी अर्थात् मग्न उत्पन्न करे
है तो कौन यह तमोगुण प्रसाद आलस्य औ निद्रा आदि दोष जीव को करेगा
॥ ८ ॥ सत्त्वं आदि तीनों गुणों के स्वकार्य करने मे सामर्थ्य को आभिय्य कहते है
कि हे भारत अर्जुन सतो गुण सुख मे युक्त करता है अर्थात् यद्यपि विषय सुख ईषां

ज्ञानमावृत्यतु तम प्रमादे सञ्जयत्युत ॥८॥ रजस्तमश्चाभिमुखः सत्त्वं भवति भारत ।
 रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तया ॥९॥ सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
 ज्ञानं यदा तदा विद्यादिवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥१०॥ लोभप्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामयमः सृ

भाषा अनुवाद

अध्याया जोग से प्रगट सुख दुख शोक आदि का कारण स्वरूप है तो भी जीव को सुख ही की ओर उन्मुख करता है और रजोगुण सुख आदिका कारण होके भी सर्व कर्मों में युक्त करता है और तमोगुण महात्माओं के संग से उत्पन्न ज्ञान को आवरण करि के असावधान कर देय है अर्थात् महात्माओं के उत्तम उपदेश को नहीं समझने देय है और आलस्य आदि से अच्छोतरह युक्त कर देता है ॥८॥ अब सत्त्वादि तीनो गुणों के प्रवृत्त होने की रीति कहते हैं कि रजोगुण तमोगुण को तिरस्कार कहे परामव करि के सतोगुण प्रगट होय है अर्थात् जीव के सदृष्टवशते सत्त्व बनै है और अपने कार्य सुख आदि में जीव को युक्त करै है जैसे ही सत्त्व और तमोगुण का परामव करि रजोगुण बनै है और अपने कार्य दृष्ट्या आदि में युक्त करता है तैसे ही सत्त्व रज को परामव करि के तमोगुण प्रगट होय है और अपने कार्य प्रमाद आलस्य में युक्त करि देता है ॥९॥ अब विशेष से बढे ऊँचे सत्त्व आदि तीनो गुण के लक्षण कहे चिह्न तीन श्लोक से कहते हैं कि इस भोग यतन कहे भोग भाण्ड शरीर में शीव आदि समस्त द्वारा में जिस समय शब्द आदि ज्ञान स्वरूप उत्पन्न होता है उस समय प्रकाशरूप चिह्न के द्वारा सतोगुण को विशेष बढाऊँआ जानो और सुखआदि चिह्नसे भी सत्त्वकी वृद्धि जानो तात्पर्य यह कि इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान होता सो सतोगुण ही से होय है ॥१०॥ और है भरतर्षम अर्जुन लोभ कहे वज्रत धन रहते और पैदा होते भी धन को बार बार दृष्टिकरने की लापलाप अभिलाष और प्रवृत्ति कहे सदा ही व्यापार में मन दिये रहना और आरम्भ अर्थात् कर्मों का आरम्भ घर बगीचा आभूषणादि बनाने में उद्यम और अश्रम कहे मै यह कर्म करि के फेरि वह कर्म करूँगा यह जो नानासङ्कल्पसे मनका असत्तोप और सृष्टा कहे उत्तमअधम वस्तु देखने हीं से जिस तरह होय लेनेकी इच्छा ये सब चिह्न रजोगुण के बढने से होते हैं अर्थात् इन

हा । रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥ अग्रकाशेऽग्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च । तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥ यदा सत्त्वेऽग्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहं तदा । तदोत्तमविदालोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥ रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते । तवाप्रलीनस्तमसि मूढघोनि पुजायते ॥ १५ ॥ कर्मणः सुकृतस्थाऽऽसात्ति कर्म्मिर्लभ फलं । रजसस्तु कलंदुःखमज्ञानं तमसः फलं ॥ १६ ॥ सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च । प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥ कर्म्मणोऽहं नृप

भाषा अनुवाद

लक्ष्मणो से रजो गुण की वृद्धि जानो है अर्जुन यह श्रीकृष्ण ने कहा ॥ १२ ॥ और अग्रकाश कहे विचारका नाश और अग्रवृत्ति कहे निबद्धम और प्रमाद कहे हर काम हर बात में बेलबल और मोह कहे मिथ्या अभिनिवेश अर्थात् दुःखितई या झूठे कारखाने में मन देना ये सब चिह्न तमोगुण में होते हैं और इनि लक्ष्मणों से तुम तमोगुण की वृद्धि जानो ॥ १३ ॥ अब भरतकालमें विशेषसे वर्तमान सत्त्व आदि गुणों का फल विशेषरूप दो श्लोकसे कहते हैं कि जो सतोगुण की वृद्धि के समय में देहधारी जीवशरीरको छोड़ै तो हिरण्यगर्भ आदिकी उपासना करनेवाले मनुष्यों के प्रकाशमय सुख उपभोग करनेके जो स्थान हैं उन स्थान विशेषों को प्राप्त होय है ॥ १४ ॥ और रजोगुण की वृद्धि के समय में मूढ प्राप्त होने से कर्म में आशक्त मनुष्य लोक में जन्म होता है और तमोगुण के वृद्धि काल में देह झूटने से मूढ मूर्ख आदि मूढ जोनि में जन्म पावै है ॥ १५ ॥ अब सत्त्व आदि गुणद्वय के अनुसृत कर्मों के द्वारा विचित्र फल प्राप्ति में गुणों को हेतु कहते हैं कि कपिज आदि कृत्पि सुकृत कहे सात्त्विक कर्म का फल सत्त्वप्रधान प्रकाशमय सुखफल कहते हैं और रजस कर्म का फल दुःख कहते हैं और तमस कर्म का फल अज्ञान अर्थात् मूढता को कहते हैं किन्तु सात्त्विकादि कर्मका स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण आठारह अध्याय-के तीसरे श्लोक आदिसे ज्ञात कर कहेंगे ॥ १६ ॥ अब पूर्वोक्त सत्त्वादि गुणके फल स्वरूप सुख आदि का हेतु कहते हैं कि सतोगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है इस से सात्त्विक कर्मका प्रकाश जो सुख-सौंदर्य होता है और रजोगुण से लोभ जन्मै है इस से लोभ पूर्वक सर्वकर्म का दुःख ही फल होता है और तमोगुण से प्रमाद मोह

त्वाक्षामध्येतिउत्तराजसा । जवन्यगुणवृत्तिस्थाश्रयगच्छन्तामसा ॥ १८ ॥
 नायं गुणेव कर्तारं पदादृष्टानुवति । गुणेव्यक्षपरं वेत्तिमद्भावंसेऽविगच्छति ॥
 १९ ॥ गुणानैतानतीत्यवीन्देही देहसमुद्भवान् । जन्ममृत्युजरादु खैर्विमुक्तोऽमृत
 मन्नुते ॥ २० ॥ अर्जुन उवाच । कैर्लैस्त्रीन्गुणानैतानतीतो भवति प्रभो । किमा

भाषा अनुवाद

तथा अज्ञान प्रगटे है इससे अज्ञान जड़ता यही फल होना उचित है ॥ १७ ॥ अब
 सत्वगुण आदि आचरणशीलो ने पल भेद करते हैं कि सत्वक्ष कहे सत्वगुण
 प्रसाद पुत्रपौ को ऊँह लोक प्राप्त होते अर्थात् सत्व के प्रताप से पुण्य की आधिक्य
 होती है उत्तरोत्तर कहे घागेघागे सोगुनी आनन्द स्वरूप होते ऊँचे मनुष्य लोक
 गन्धर्व लोक मिट्टी लोक देव लोक सत्व लोक पर्यन्त प्राप्त होते हैं और रजोगुण प्रधान
 मनुष्य लोमग्रस्त मध्यलोक में रहते हैं अर्थात् मनुष्य लोक में जन्म है और जवन्य कहे
 निष्ठल जो तमोगुणी मनुष्य जाग प्रमाद मोह से भरे पूरे हैं उनकी अधोगती हो जाती है
 अर्थात् तमोगुण उनको छपाकर के अत्यन्त नरक में प्रज्जंसाय देता है ॥ १८ ॥ पूर्वोक्त
 प्रकार प्रकृतिके गुण संग से संसार की शङ्कल्य कहे बड़ताइ काँहिके अब प्रकृति से
 पुत्रपत्नी विवेक करने ही से मोक्ष होती है यह देखावते हैं कि जिस काल में दूटा
 जीव विवेकी होके मुडि आदि रूप की प्राप्त होय सत्व आदि गुणों को छोड़ दूसरे
 किसी को कर्त्ता नहीं देखता बल्कि गुण ही सब कर्म करते हैं यही देखता है
 और सत्व आदि गुणों से पर कहे भिन्न स्वरूप सोई गुणादि को का साक्षी आप
 अपने को जब जाने तब सो जीव मज्ज्ञान को प्राप्त होय अर्थात् ब्रह्मपद पावे ॥ १९ ॥
 तिस के अनन्तर सत्व आदि गुण छत सम्पूर्ण अनर्थ निवृत्त होने ही से जो
 छतार्थ होता है कहते हैं कि सव्यक् प्रकार से जिसका देहादि रूप में
 उद्भव अर्थात् देह रूप परिणाम को प्राप्त है सोई देह समुद्भव कहवै है इस
 से देही जो जीवात्मा सो देह रूप परिणाम को प्राप्त येई सत्व दि तीन गुणों
 के अतिमानन करने से पर है अर्थात् गुण छत जन्म सरप बरा व्याधि दुख आदि से
 अच्छी प्रकार मुक्त होय अमृत जो परम आनन्द रो लाभ करता है ॥ २० ॥
 जीव यह गुण त्रय से अतिक्रान्त कहे अलग होने से मुक्ति पावता है यह भगवान्

चारः कथंचेतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥ श्रीभगवानुवाच । प्रकाशश्चप्रवृत्तिश्च
सोऽहमेवचपाण्डव । नृदेष्टिसंप्रवृत्तानि न विवृत्तानि कांचति ॥२२॥ उदासीनवदा

भाषा अनुवाद

श्रीकृष्ण के मुख से यवराज करिके गुणातीत मनुष्य के लक्षण और उन मनुष्यों का
आचरण और गुणों के अतिक्रम की उपाय सव्यक प्रकार से जानने की इच्छा
करिके अर्जुन भगवान से कहते हैं कि हे प्रभो देखी जो जीव सो किस प्रकार
आपसे उत्पन्न लक्षण के द्वारा गुणातीत होत्र यह लक्षण पूछा और किमाचार
कहे इसके आचरण कैसे होते अर्थात् किस प्रकार के व्यवहार में वर्त्तमान
रहता है और किस उपाय से इन गुणों को अतिक्रमण करिके स्थिर होय है
सो सब कथन करि कहिके जो मेरी संदेह दूर जाय ॥२१॥ श्रुत प्रज्ञस्य का भाषा
यह दूसरे अध्यायके चौविंश पचीस श्लोक आदि से यही बात अर्जुन ने पूछा
भी था और उसका उत्तर भी भगवान दे चुके हैं तौ भी फेरि विशेष रूप से जान
ने की इच्छासे अर्जुन पूछते हैं यह विचार करि के भगवान दूसरे प्रकार से
उनका लक्षण आदि इस श्लोकसे लेकर छः श्लोकसे कहते हैं और उनमें भीव ईस
एक श्लोक के द्वारा उनके लक्षण जनावते हैं कि सत्व आदि गुणों को उपलक्ष्य
करि कै कहा जो प्रकाश अर्थात् सर्वद्वारेषु देहेस्मिन् यह इस अध्याय के एका
दश श्लोक से कहा जो सतोगुण का कार्य और प्रवृत्ति जो रजोगुण का कार्य
तथा मोहादि जो तमोगुण का कार्य ये समस्त कार्य यथाक्रम से आप में प्रवृत्त
होनेपर दुख विचारकरि के जो पुरुष ह्येप हेतु से और निवृत्ति होने से सुख जानि
इच्छा न करे सोई गुणातीत मनुष्य है यह जानो ॥ २२ ॥ उक्त रूप अनायास
बोधसे गम्य जो गुणातीत के लक्षण सो कहि कर गुणातीत का आचरण कैसा है
इस दूसरे प्रश्न का उत्तर तीन श्लोक से कहते हैं कि उदासीन के समान साक्षी
रूप स्थित होके सत्व आदि गुण के कार्य सुख दुख आदि से जो मनुष्य अवि
खलित है अर्थात् अपने दृष्टा स्वरूप से चूत न होय के वजु सत्वादि गुण अपने
अपने काम में वर्त्तमान है इन से हम में हाथ भी सम्मन्व नहीं है ऐसे विवेक
ज्ञानसे जो पुरुष चुपचाप मौन होय स्थित रहै और इस बातसे निखलित न होय

सीनोगुनैर्योनविचाल्यते । गुणावर्त्तन्तइत्येवंयोऽवतिष्ठतिनेहते ॥२३॥ समदुःखसुखःस्वस्वःसमलोपाश्रयकाश्चनः । तल्लप्रियाप्रियोघोरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥ मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्योमिवारिपक्षयोः । सर्दारक्षपरित्यागीगुणातीतःसदस्यते ॥२५॥ माञ्चयोऽव्यभिचारिणभक्तियोगेनसेवते । सगुणान्समतीत्यैतान्महाभूयायकल्पते ॥२६॥ ब्रह्मणोहिप्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्यच । शाश्वतस्यचधर्मस्यसुखस्यैकान्तिकस्यच ॥२७॥ इति गुणपदविभागयोगोनाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

भाषा अनुवाद

सो गुणातीत है ॥ २३ ॥ और जो मनुष्य सुख दुःख में समान और माटी पाथर सोना आदि भी जिस के निकट समान है और सुख दुःख के हेतु स्वरूप मित्र अप्रिय विषय में जिस को बुद्धि तुल्य है और धीर धीमान जो है तथा अपनी स्तुति औ निन्दा में भी तुल्य बुद्धि है ॥ २४ ॥ और जो मनुष्य मान अपमान में एकभाव और मित्र शत्रु पक्ष में समबुद्ध तथा जो दृष्ट अदृष्ट संपूर्ण अर्थ के उद्यमको त्याग करने में समर्थ है ऐसे आचरण से युक्त पुरुषको गुणातीत कहते हैं यह जानो ॥ २५ ॥ किस प्रकार सत्वादि गुणों को अतिक्रम करके वर्तमान रहें इस प्रश्न का उत्तर करते हैं कि परमेश्वर स्वरूप हमारी ही सेवा अव्यभिचारिणी ऐकान्तिक भक्ति के द्वारा जो मनुष्य करता है सोई मनुष्य गुण विषय को अच्छीतरह से अतिक्रम करके सुकृत प्राप्ति के योग्य होता है ॥ २६ ॥ अब पूर्वोक्त भगवद्भक्त के मोक्ष प्राप्ति के विषय में हेतु कहते हैं कि जिस हेतु ब्रह्म की प्रतिष्ठा जो प्रतिमा सो मैं हूँ अर्थात् धनीभूत प्रकाश मात्र जैसे सूर्य मण्डल तद्रूप हम धनीभूत ब्रह्म हैं और नित्यसुक्त अव्यय के और अमृत जो सुक्ति तिस के भी प्रतिमा हम हैं और अह सत्य सक्ति के साधन स्वरूप सनातन धर्म के भी प्रतिमा मूर्ति हम हैं और परमानन्द सुख के भी मूर्ति हमें जानो इस से मेरे सेवक जनको प्रज्ञाव रूप ब्रह्मत्व प्राप्ति की अवश्य सम्भावना है जिस के आश्रय हेतु से असत जो सत के समान प्रतीयमान यह संसार तिससे हमारे भक्त अनायास ही तर जाते हैं यही चौदहें अध्याय में भगवानने कहा है ॥ २७ ॥ इति श्रीभगवद्वायः सुकृत विरचित मनभावनी श्रीकावा चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

पञ्चदश अध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच । ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राञ्जलव्यूथं । छन्दोऽसि यस्त्वर्णोऽनि

भाषा अनुवाद

वैराग्यके बिना ज्ञान औ भक्ति दुर्लभ है इस लिये पंद्रहें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण वैराग्य सहित ज्ञान का उपदेश अर्जुन को दिया है और पूर्व चौदहें अध्याय के अन्तमें जो कहा कि मांघ योऽव्यभिचारेण भक्ति योगेन सेवते इत्यादि छविसवें श्लोकादि से कि एकान्त भक्ति से परमेश्वरका भजनकारी मनुष्य भगवत् की कृपासे ज्ञान लाभके द्वारा मुक्त होता है सो विराग रहित पुरुष को एकान्त भक्ति अथवा ज्ञान होता ही नहीं इसी हेतु से वैराग्य कथन पूर्वक ज्ञान उपदेश करनेके मनोरथ से प्रथम डेढ़ श्लोक करिके संसारस्वरूपको वृक्षरूप रूपक अलङ्कार से वर्णन करते ज्ञेय भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि उर्ध्वमूल कहे उत्तम अर्थात् ऊपर अक्षर से भी उकृष्ट जो पुरुषोत्तम परमेश्वर सो संसार के मूल कारण है इसी से संसार उर्ध्वमूल है और अधःशाख कहे परमेश्वर की अपेक्षा अधः अर्थात् कार्यरूप उपाधि युक्त हिरण्यगर्भ आदि जो संसार की शाखा स्वरूप है सोई संसार को अधःशाख कहा है और यह संसार विनश्यत् हेतुसे परदिन प्रभात लौं रहैगा ऐसी विश्वास के योग्य नहीं है इसी से अश्वत्थ कहा और अठवें अध्यायके उनीसवें श्लोककी उक्त अभिप्राय से यह संसार प्रलय के अनन्तर पुनः पुनः कहे बार बार उत्पन्न होता है तो ज्ञान जाना इस हेतु से रहने से धरावाहिक वृत्तिरूप इस संसारका विच्छेद नहीं है अर्थात् सदाही बना रहता है इससे अव्यय औ अनादि भी है और ऐसे ही श्रुतियों में भी कहा

यस्तवेदसवेदवित् ॥ १॥ अधोऽर्होऽप्रसूतास्तस्थशाखासुरप्रट्टद्विविधप्रवालाः । अध

भाषा अनुवाद

है और छन्द कहे वेद सकल इस संसार वृक्ष के पत्र हैं अर्थात् धर्म अधर्मका प्रतिपादन करतेसे छायाके तल्य हैं और कर्मफलके हेतु संसार वृक्षके आयित जीव समूह हैं यह कहते ऊँचे वेद पत्र समान हैं जो मनुष्य ऐसे करके संसार अन्वयरूप को जानते हैं सोई वेदके अर्थवित् हैं तात्पर्य यह कि प्रपंचरूप संसार वृक्ष के मूल परमेश्वर और परमेश्वर के अंग स्वरूप जो ब्रह्मादिक सो सब शाखा समान हैं सोई वृक्ष विनश्चर औ प्रवाहरूपसे नित्य भी हैं और वेद विहित कर्मोंके द्वारा संसार वृक्षकी सेवा करना भी कहा है इतनाही वेदों का निश्चित अर्थ है इससे इस वृक्षके ज्ञानीपुरुष को वेदवित् कहना चाहिये ॥ १॥ और कार्यरूप उपाधि विशिष्ट हिरण्यगर्भ आदि जो सकल जीव सोई शाखारूप पूर्व श्लोक में कहा है तिन के मध्यमे जो अकर्मकारी अर्थात् कुत्सित कर्म करते हैं तेह अधः अर्थात् पशुआदि योनिमें जाते हैं और जो सत् कर्म करते हैं वे उर्ध्व कहे देव योनि में प्राप्त होव हैं येई संसार वृक्षके शाखा रूप सत्त्व आदि गुणों की वृत्तिसे जल सेचन के समान यथा योग बढ़ते हैं और शाखाके अग्रतल्य इन्द्रिय औ इन्द्रियों के विषय जो रूप रस आदि सोई प्रधान अर्थात् पत्र तल्य हैं और अधोभाग में ऊर्ध्व भागमें औ समस्त मूलमें परमेश्वर ही मुख्यमूल है और तद्भोगवासनारूप अवान्तर वासना सब अवान्तर मूल हैं और अवान्तर वासना के कार्य कहते हैं कि कर्म भाव ही सकल वासना के अनुबन्ध अर्थात् उत्तर भावी कहे होन हार सोई वासना समस्त मनुष्य लोक में कर्म अनुबन्धी होती है अर्थात् ऊँचे अधो लोकमें सुता जो नाना प्रकार के भोग सोई सोई भोग वासनाके द्वारा ही कर्मक्षय होनेसे मनुष्य लोक को प्राप्त लांगों को सोई सोई वासना अनुरूप सकल कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है और जिस हेतु मनुष्य लोक ही ने कर्म का अधिकार है और कोई लोक में नहीं है इससे मनुष्य लोक ही ने वासनारूप मूल को कर्मका अनुबन्धी कहा है अब शेष यह है कि घणभद्र सकल साधन मनुष्य देह पायको न छूट कर शकै इन मूलको भी मूलगये हाय किसीको

अमूलान्यनुसन्तानानिकर्मानुबन्धीनिमनुष्यलोके ॥ २ ॥ नरूपमस्ते हृतयोपलभ्यतेना
न्तो नवादिर्न वसं प्रतिष्ठा । अश्वत्थमेनं सुप्रिहृदमूलमसुप्रिहृदं दृष्टे न क्षित्वा ॥ ३ ॥
ततः पदं तत्परिभार्गितव्यं यस्मिन् गतान निवर्त्तन्ति भूयः । तमेव चाद्यां पुरुषं प्रपद्येतः
प्रवृत्तिः प्रसूता पुराणी ॥ ४ ॥ निर्मानमोहाजितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्याविनिवृत्तका
माः । इद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥ न तद्भासयते

भाषा अनुवाद

देखके या किसीके उपदेशमे आख अखे और कान बहिरे ही रह गये ॥ २ ॥
इस संसार मे वर्त्तमान जो प्राणी है वे संसार वृक्षका ऊर्ध्वमूल आदि भेद
नहीं जानते है और अत्यन्त घडेपनके डेट से इसका अन्तभी नहीं जाना जाय
है तथा अनादि हेतुसे आदि भी नहीं कोई जानि शकै है और स्थिति अर्थात्
यह संसार किस तरह स्थित औ कैसा है सो भी खबर किसी को नही है
इससे यह संसार वृक्ष दुखेदा कहे इसका काटना बढा कठिन है और अनर्थकारी
है इसी हेतु इस संसार को दृढ वैराग्य रूप शस्त्रसे छेदन करके तत्त्वज्ञान
की बल करना चाहिये यह डेट लोकसे कहते है कि यह अश्वत्थरूप दृढमूल
संसार को अहं ममता त्यागरूप दृढ अस्वस्वरूप सम्यक् विचार से छेदन अर्थात्
घृष्ट करके ॥ ३ ॥ तदनन्तर संसारके मूल कारण स्वरूप तत्त्वदसे कहे जाये जिस
ईश्वरपदको अन्वेषण करना अर्थात् ढूढना उचित है सोपद कैसा है इस अपेक्षापर
कहते है कि जहां जायकर फेर और संसार आवर्त्तन कहे आवा गमन होता
नहीं और अब भगवत्पद ढूढने की रीति कहते है कि जिससे इस पुराने संसार
को प्रवृत्ति भई है उसी आदि पुरुष के शरणागत होते है इसीतरह एकान्त
भक्ति के द्वारा उसपदको ढूढै ॥ ४ ॥ सोई परमेश्वरकी प्राप्ति के विषय से दूसरी उ
पाय देखावते जाये कहते है कि जिन मनुष्योंके भान अहंकार औ मिथ्या वस्तुमे
रुचि नहीं है अर्थात् मानादि दूर हो गये है और जिन के पुत्र इस्ती धन आदि
से आशक्ति रूप दोष निवृत्त भये है और जिन को आत्मज्ञान मे भली प्रकार से
निष्ठा है और जिनकी वासना अस्त्रीतरह निवृत्त हो गई है और सुख दुखके हेतु
रूप भीत उष्ण हानि लाभ आदि इन्द्रसे अस्त्रीतरह छुट गये है ऐसे जो निवृत्त

सूर्यो नशशाङ्को न पावकः । यद्वत्त्वानि वसन्तो तद्दामपरममम ॥ ६ ॥ ममैवांशो जीव
 लोके जीवमतः सनातनः । मनः पठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥ शरीरं
 यद्वाग्नेतियद्वाप्यक्रामतीश्वरः । गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानि वा शयात् ॥ ८ ॥
 यो वञ्चतुःस्थानं चरन् सन् प्राणमेव च । अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥ उ

भाषा अनुवाद

अविद्य कहे ज्ञानीजन हैं तेई अव्ययरूप को प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥ अब उसी अव्यय
 पद को विशेषरूप से कहते हैं कि उस पद को सूर्य चन्द्र अग्नि भी प्रकाश नहीं
 कर सकते हैं और योगीजन जिस पद को प्राप्त होय फेरि संसार में आवर्तन
 कहे गमनागमन नहीं करते हैं सोई धाम कहे तेजरूप हमारा स्वरूप है जहां
 सूर्यादि की गति नहीं तहां दुख इन्द्र जड़ता का कौन प्रसङ्ग है ॥ ६ ॥ जो कहो कि
 हमारे धाम को प्राप्त होय फेरि संसार नहीं होता सो सत्य है सकल जीव सत
 स्वरूप सम्पन्न होके हैटि नहीं करते हैं और सुषुप्ति समय में इस ब्रह्म भाव
 को प्राप्त होते हैं जैसे युति विधान करे हैं और प्रलयकाल में भी सब जीव तिस
 धाम को प्राप्त होते हैं तो फेरि संसारी और किस का नाम है इस आशङ्का पर
 पांच श्लोक से संसारी स्वरूप देखावते हैं कि हमारा अंश जीव अविद्या से सुषुप्ति
 तथा प्रलय के समय प्रकृति में लीन होके रहते हैं और मन समेत इन्द्रिय इन
 क्रूरों को मेरे ही अंश सगठन कीमत् संसार के उपभोगार्थ फेर भी मनुष्यलोक
 में खेचै है यहां यह जानना चाहिये कि इन्द्रिय शब्द से ज्ञान कर्म इन्द्रिय औ
 मज्ज प्राण लेते हैं इसीसे संसारी होते हैं ॥ ७ ॥ और सोई इन्द्रियों को आकर्षण
 करिके जीव क्या करते हैं जो यह गड़वा करो तो सुनो कि जब ईश्वर नाम
 देह आदि का सामि स्वरूप व्यावहारिक जीव कर्मवशते दूसरी शरीर को प्राप्त
 होते हैं अथवा जब शरीरको छोड़िके गमन करते हैं तब पूर्व शरीरसे इन्द्रियादि
 को ग्रहण करि के ही गमन करै हैं इस में दृष्टान्त यह कि जैसे वायु पत्तों के
 स्थानसे सुगन्धरूप सूक्ष्म अंश परमाणु ग्रहण करके गमन करै है तैसे ही यह भी
 ग्रहण करता है सो जानो ॥ ८ ॥ इन्द्रियों के समत्कार कह के अब जिस लिये उन
 इन्द्रियों को ग्रहण करिके जीव गमन करते हैं सो कहते हैं कि ये जीव योत बल

त्कामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गृणान्वितं । विमूढानानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानवच्चुपः ॥
१०॥ यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितं । यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्य
चेतसः ॥ ११॥ यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलं । यच्चन्द्रमसि यद्वाग्मौतसे जो वि
हिमामकं ॥ १२॥ गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा । पुण्यामिच्छीमधीः स
र्वाः सोमभूत्वारसात्मकः ॥ १३॥ अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः । प्राणा

भाषा अनुवाद

सूर्य जिह्वा और घ्राण ये वायु इन्द्रिय और अन्तःकरण को आश्रय करि
के शब्द आदि विषयों को उपभोग करै है ॥ ८ ॥ जो कहते कि ऐसे आत्मा को
कार्य कारण समूह से भिन्न रूप सब कोई क्यों नहीं देखते इस पर कहते हैं कि
देहान्तरगामी अथवा उसी देह में स्थित या विषयभोगी किम्वा इन्द्रियादि से युक्त
जीव को विशेष मूढबुद्धि लोग सब नहीं देखते हैं परन्तु ज्ञानही जिसके चक्षु है
ऐसे विवेकी मनुष्य ही देखते हैं ॥ १० ॥ और यह आत्मा दुर्विज्ञेय है क्यों कि
विवेकिओं के बीच भी कोई देखते और कोई नहीं देख सकते हैं सोई कहते हैं
कि ध्यान आदि के द्वारा बलकारी योगीजन अपनी शरीर में इस आत्मा को प्रत्यक्ष
रूप में देखते हैं और शास्त्र अध्ययन से बल करके भी अद्वैतात्मा अर्थात् अशुद्ध
चित्त मन्दमति लोग इस आत्मा को नहीं देखते हैं ॥ ११ ॥ इससे न तद्भासयते
सूर्य इत्यादि इसी अध्याय के सप्तम आदि श्लोक के द्वारा परमेश्वर का जो परम
धाम सो कहा गया है और तद्गाम प्राप्त जीवों को अपुनरवार आवृत्ति कही गई है
और तद्विषयक संसारी के अभाव आशङ्कामर देह से भिन्न संसारी स्वरूप को
भी देखाया है अब सोई परमेश्वर सम्बन्धी रूप इहां से लेकर चार श्लोक से
अनन्त शक्ति क्रम से निरूपण करते हैं कि सूर्यादि में स्थित अनेक प्रकार तेज
जो विश्व को प्रकाश करै है ऐसे ही चन्द्र में स्थित जो तेज अखिल संसार को
प्रकाश करते हैं तेसे ही अग्निस्व तेज ब्रह्माण्ड दीप्त करै है सो सब तेज हमारा
ही है यह जानो ॥ १२ ॥ और पृथिवी को अपने बलके द्वारा स्थित करके मै घरा
घरात्मक सकल भूतों को धारण करता हूं और अद्वैतात्मक चन्द्र स्वरूप होके
वृक्ष आदि सम्पूर्ण ब्रह्म को भी वढावता हूं ॥ १३ ॥ और मैं ही वैश्वानर नाम

पानसमायुक्तः प्रचामय्यन्नं चतुर्विधं ॥१४॥ 'सर्वं स्वचाहं हृदिसन्निविष्टो मत्तः स्मृतिश्चा-
नमपोहनञ्च । वेदैश्च सैर्भैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्देवदेवचाहं ॥१५॥ हाविमौ पुंश्च
पौलोके चरश्चाचर एव च । चरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽचर उच्यते ॥१६॥ उत्त

भाषा अनुवाद

जठराग्नि स्वरूप होके प्राणियों की शरीर के मध्य में प्रवेश कर के प्राण अपान वायु के साथ होय जीवों का युक्त जो भोज्य भक्ष्य लेख्य चोप्य चतुर्विध अन्न तिस को परिपाक करता हूँ भक्ष्य वह है जो दातों से पीसकर खाया जाय दाल भात चर्बन वगैरः और भोज्य जो निहा के इसारे से निगला जाय खीर हलुआ आदि लेख्य वह है द्रवरूप आखादन पूर्वक पान किया जाय सहित दुग्ध आदि भोज्य कहे जो घूस कर घूट लिया जाय ऊख वगैरः को जानो ॥१४॥ और मैहीं यावत् प्राणी के हृदय में अन्तर्वासीरूप से प्रवेश करता हूँ इसी से सब प्राणियों को पूर्वज्ञात अर्थ विषय का स्मरण होता है और इन्द्रियों के संयोगसे जो रूपादि विषयों का ज्ञान सो हमी से होता है और अपोहन कहे स्मरण औ विषयों का ज्ञान इन दोनों का अभाव भी हम से ही होय है और वेदो में कहे ऊये तीन तीन देवता रूप भी हमी है और वेदान्तकृत अर्थात् शिष्य प्रशिष्य रूपसे सन्मदाय के प्रवर्तक कहे ज्ञानदाता गुरुस्वरूप भी मैहीं हौ औ वेदार्थवित् भी मैहीं हूँ ॥१५॥ अब तद्वाम परमं मन यह जो इस अध्याय के सप्तम श्लोक में कहा अपना सर्वोत्तमत्व सो तीन श्लोक से देखावते हैं कि जो चर औ अचर स्वरूप दुई पुरुष लोक में प्रसिद्ध है, इन का विशेष यह है कि ब्रह्मा आदि, स्थावर पर्यन्त, जो देहधारी तिन का नाम चर पुरुष क्योंकि अविवेकियों को स्थूल शरीर में पुरुषत्व प्रसिद्ध है और कूटस्थ कहे शिलाराशि पर्यन्त के समान देह नाश भये भी, निर्विकाररूपसे स्थिति करै ऐसा जो चैतन्य स्वरूप भोक्ता है क्योंकि देखो विवेकी जनोके विचारसे सोई अचर पुरुष है ॥१६॥ जिस हेतु चर औ अचर दोनों पुरुष लक्षित भये हैं इस से जो उत्तम पुरुष सो इन दोनों से भिन्न है उस की विलक्षणता कहते हैं कि सो परमात्मा स्वरूप है यह युक्तियों में कहा है और आत्मा अचेतनरूप चर से तथा परमात्मा अचररूप भोक्ता से भी भिन्न है अब उनका परमात्मत्व देखावते

मः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । योलोकवयमाविश्यविभर्त्ताव्यवर्द्धश्चरः ॥ १७ ॥
यस्मात्तच्चरमतीतोऽहमच्चरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥
यो मामेवमसम्भूटो जानाति पुरुषोत्तमं । स सर्वं विद्वज्जति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदं सुक्तमयाऽनघ । एतद्ब्रुवन्बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥
इति भगवद्गीतायां पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

भाषा अनुवाद

हैं कि सो ईश्वर मदवाच्य नियन्ता औ अव्यय कहे निर्बिकार स्वरूप हो के भी वैलोक्यके हृदयमे प्रवेश करिके प्राणीमात्रका प्रतिपालन करते हैं ॥ १७ ॥ एवम्भूत पुरुषोत्तमत्व अपना नाम कहने से देखायते हैं कि जिस हेतु हम चर जो जड़ स मूह तिनको अतिक्रमण करते ऊँचे और नियन्तारूप पेतन जो अक्षर उससे भी उत्तम हैं इस से सकल लोक और वेद मे हम पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हैं सोई श्रुति कहती हैं कि सोई जो पुरुषोत्तम वे आत्मा औ वैलोक्यके वयस्करनेवाले और तीन लोक के ईश्वर सबके शासनकर्ता हैं यह भगवानने अर्जुनसे कहा ॥ १८ ॥ ऐसे ईश्वर का जानने द्वारा ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का फल कहते हैं कि हे भारत अर्जुन इस तरह पूर्वोक्त निश्चित प्रकार से असंभूत कहे निश्चितमति हो के जो पुरुषोत्तम स्वरूप हम को जानि शकै हैं सोई अनुग्रह सत्यक प्रकार से हम को भजै हैं तिस के अनन्तर सर्वज्ञ होता हैं यह जानो ॥ १९ ॥ अब अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हैं कि हे अनघ निम्नाप अर्जुन यह संक्षेपसे अति रक्ष्य स्वरूप जो सम्पूर्ण शास्त्रोंका सारांश सो मैंने कहा केवल वीश श्लोकयुक्त एक अध्याय छोड़ के इससे जो कोई होय यह मेरी कही ऊँई वाक्य को बोध करिके बुद्धिमान कष्टावता औ ज्ञानी होके चरितार्थ कृतार्थ होता है तो हे भरतवंशी अर्जुन तब जो चरितार्थ होउगे इससे क्या और कुछ कहना है । सर्वव्यापिपूर्ण परमात्मारूप श्रीकृष्णजी संसार दुष्ट को मित्र करके पुरुषोत्तमयोग नाम पंद्रहें ईस अध्याय मे अपना परमपद अर्जुनको उपदेय किया है ॥ २० ॥ इति पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

षोडश अध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच । अभयसत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः । दानं दमश्च यज्ञश्च
ध्यायस्तपश्चार्जवम् ॥ १ ॥ अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् । दया मतेजलो

भाषा अनुवाद

अब इस सोलहें अध्यायका तात्पर्य कहते हैं कि आसुरी सम्पत् त्याग करके
दैवी सम्पत् आश्रय लेनेवाले मनुष्य सुक्त होते हैं इसकी निर्णय करनेके अर्थ इस
अध्याय में उसका विस्तार करते हैं कि हे अर्जुन सकल शास्त्रके अनुरूप मेरे
कहे ऊँचे इस वृत्तान्त के जानने से लोग सम्यक् ज्ञानी और द्योतार्थ होते हैं यह
भगवानने पन्द्रहें अध्यायके अन्त में कहा है तो कौन मनुष्य वह तत्त्व समझ सकते
हैं और कौन नहीं इस अपेक्षापर तत्व ज्ञानके अधिकारी और अनधिकारी
की निर्णय करनेके लिये सोलहें अध्याय का आरम्भ होता है यों कि जिसने
जिसका अधिकार है वह उसीसे पूरा प्ररता है इससे अब तत्वके अधिकारी पुरुष
का गुण स्वरूप सम्पूर्ण दैवी संपत् को इस श्लोकसे लेकर तीन श्लोकसे कहते हैं कि
अभय और सत्त्व संशुद्धि कहे शुद्धि की प्रसन्नता और ज्ञानयोग जो आत्मज्ञान की उपा
यमें व्यवस्थिति कहे प्रतिनिष्ठा और दान कहे अपने भोजन की वस्तु अन्न आदिका
भी यथा उचित देना तथा दम अर्थात् बाह्य इन्द्रियोंका संयमकरना और यज्ञ कहे
यथाविधि से दर्श पूँर्ण मास आदि याग करना और स्वाध्याय कहे यज्ञ यज्ञ और
तप जो सबहें अध्यायके चौदहें श्लोक में कहेंगे देव द्विज गुरु पण्डित ज्ञानी का
पूजन तथा शौच सीधायन कोमलताई ब्रह्मचर्य अहिंसा इनको शरीर तप कहते
हैं सो और आर्यव कहे सीधा स्वभाव ॥ १ ॥ और अहिंसा कहे परपीडा

लुप्तमार्दवंहीरचापलं ॥२॥ तेजःक्षमाधृतिःशौचमद्रोहोनातिमानिता । भवन्ति
सम्पदं दैवीमभिजातस्यभारत ॥३॥ दम्भोदर्पोऽभिमानस्यक्रोधःप्रादुर्भावमेव । अ
ज्ञानं चाभिजातस्यपार्यसम्पदमासुरीं ॥४॥ दैवीसम्पद्भिर्भोक्तव्यनिवन्धायासुरीमता ।

भाषा अनुवाद

का त्याग औ सत्य अर्थात् देखासुना ज्यों का त्यों कहना औ अक्रोध कहे कोई
मारै या कुवाच्य कहे तौ भी चित्त क्रोधवश न होने देना तथा त्याग कहे प्रिय
अप्रिय से उदासीनता और शान्ति अर्थात् विषयों से चित्तकी निवृत्ति औ अपै
युक्त्य कहे परनिन्दा वर्जन पीठ पीछे निन्दा करनेको पैशुन्य कहते हैं और दीन
दरिद्र पर दया तथा अलोलुपत्व कहे निर्लोभता औ मार्दव जो कोमलता औ ह्री
कहे कुकर्न करने में लोकालज्जा तथा अचापल अर्थात् दृढा बोलना या दृढा कृच्छ्र
करना चञ्चलताई जो सो ये सब न होय ॥२॥ और तेज कहे ठिठाई और क्षमा
औ धृति कहे हानि तथा दुःखमें धीरज रचना औ शौच अर्थात् बाहिर भीतर गृह
ता अद्रोह कहे हिंसा ईर्ष्यारहितहोना अतिमानिता कहे अपनी प्रजामान ग्रंथसा
का अभाव येई अभय आदि जो लुब्ध प्रकार की दैवी सम्पत् है सो उसी को
होती है जिसको कल्याण भावो है अर्थात् आगे मला होनहार है ॥३॥
अब आसुरी सम्पत् कहते हैं कि दम्भ कहे लोगों के सामने अपनी धार्मिकता
प्रकाश के हेतु मन भावते कल्पित धर्मों की व्यवसा देखलाना और दर्प कहे धन
उपाजन तथा विद्या आदि में चित्त को उत्साह कहे उंचाई और अभिमान कह
अपने हरतरहके महत्त्व से दूसरे को कुल न समझना और क्रोध तथा प्राण्य
को कठोरता निडुरता और अज्ञान कहे अनिवेक ये आसुरी कहे आसुर राक्षसों की
यो सम्पत् इन में रुचि जिनको होती है वे असुर राक्षस हैं ॥४॥ अब इन दोनों
सम्पदों के काज अकाज देखावते ऊये कहते हैं कि दैवी सम्पद से युक्त मनुष्य
ही मेरे कहे हुये तत्त्वज्ञान के अधिकारी है और जो मनुष्य आसुरी सम्पद से
युक्त है ते सदाही संसारी होते हैं अब ये वचन भगवान के अवग करके सै
तत्त्वज्ञान का अधिकारी हौं कि नहीं इस सन्देह से व्यग्रचित्त अर्जुन को सम
झावते ऊये भगवान कहते हैं कि हे परन्तप तुम शोच न करो क्यों कि

मायुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥ दौभूतसंगौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च
 दैवो विस्तारः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥ प्रकृतिं च निवृत्तिं च जनानां विदुरासुराः ।
 न शौचं नापि चाचारो न सत्यते पु विद्यते ॥७॥ असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाञ्जरीश्वर ।

भाषा अनुवाद

दैवी सम्पद के अभिमुख जन्मे हो और दैवी सम्पद संयुक्त हो यह हमारे आचरणों से प्रसिद्ध है ॥५॥ आसुरी सम्पद अच्छी प्रकार से वर्जन करना ही कर्त्तव्य कर्म है इससे आसुरी सम्पद को विस्तार करिके कहते हैं कि जो दो प्रकार की भूतों की सृष्टि है सो मेरे मुख से यवण करो इस जगह असुर राक्षस सम्बन्धी दोनों प्रकृति की एकता करके देव प्रकृतिके साथ दुई मत कहा है इससे नवये अध्यायके बारहें श्लोकमें आसुरीं राक्षसीं चैव इत्यादि त्रिविध प्रकृतिके साथ विरोध नहीं है हे अर्जुन इस लोकमें देव औ असुर सम्पदसे युक्त जो दो प्रकार भूतों की सृष्टि तिसके मध्यमें दैवी सम्पद युक्त सृष्टि मैंने पूर्वं ही विस्ताररूपसे कहा है अब आसुरी सम्पद से युक्त सो सृष्टि जो हमसे सुनो ॥ ६ ॥ आसुरी सम्पद इस लोक से लेकर बारह श्लोक तक दया करिके निरूपण करते हैं कि असुर स्वभाववाले मनुष्य सकल धर्म में प्रकृति औ अधर्म से निवृत्ति कैसी होती है सो जानते ही नहीं इसी से इन लोगों में शौच आचार औ सत्यता का लेश मात्र भी नहीं रहता है यह हम जानो ॥ ७ ॥ वेदविहित जो धर्म अधर्म तिस में प्रकृति को असुर स्वभाव मनुष्य क्यों नहीं जानते और धर्म अधर्म को अङ्गीकार न करने से सांसारिक सुख औ दुख आदि होना किस प्रकारसे निरूपण किया जाय और शौच तथा आचार आदि में ईश्वर की आज्ञाही को वा कैसे लङ्घन करते हैं और ईश्वर को न मानि कै जगत की उत्पत्ति किससे कहते हैं सोई कहते हैं कि जो वेद पुराण इतिहास को प्रमाण नहीं मानते और कहते हैं कि सुनि औ भांडू तथा राक्षस येई तीनों ने वेद को बनाया है और जिन की धर्म अधर्म की प्रतिष्ठा अर्थात् व्यवस्था नहीं है तेइ अप्रतिष्ठ कहे नास्तिक लोग अपनी पूर्वोक्त भाषा को पुष्ट करने के कारणसे इस जगत को अप्रतिष्ठ कहते हैं अर्थात् यह जगत की विचित्रता स्वभावसिद्ध भाव कहते हैं और जिनके मत में इस जगत का स्थापक

अपरस्परसम्भूतकिमन्यत्कामहेतुकं ॥ ८ ॥ एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणिः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥ काममाश्रित्य तृष्णं रूढं तस्मान्न स दान्विताः ।
मोहाद्बुद्धीत्वा सद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽगुचिब्रताः ॥ १० ॥ चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तासु

भाषा अनुवाद

ईश्वर नहीं है इस से यह संसार अनीश्वर है ऐसे नास्तीक लोग अपनी बात का मजबूत करके जगत को अनीश्वर कहते हैं जो पूछो कि तौ फेरि वे लोग इस जगत की उत्पत्ति किस से मानते हैं इस पर उनकी कहावत कहते हैं कि अपरस्पर कहे पर अपर से भिन्न जो स्त्री पुरुष इन दोनों के संयोग से संसार की उत्पत्ति होती है इसका और कोई कारण नहीं है यह जगत काम हेतुका अर्थात् स्त्री पुरुष इन दोनों का जो काम सोइ धारा प्रवाह क्रम से इस संसार का कारण स्वरूप चला आवता है नास्तीक लोग ऐसे ही कहते हैं ॥ ८ ॥ देखो निरीश्वर वादीयों की दृष्टि कहे तजवीज और कल्पना से कल्पित बातों औ उनके दर्शन कहे मतग्रन्थों का आश्रयण करके मलिनचित्त अल्पबुद्धि अर्थात् जो देखें सुनै उसी पर तर्क वैविचार विश्वास करिके मनुष्य जिनको हिंसाही करना भाव काम है वे शत्रुस्वरूप हो के संसार के नाश के हेतु प्रगट होते हैं ॥ ९ ॥ और जो कामना भोगादि करने से भी कभी पूरी नहीं होती ऐसी कामना को अवलम्बन करके दम्भ पापगुह से युक्त होय जुड़ देवता भूत प्रेत आदि की आराधना में प्रवृत्त होते हैं सोइ कहते हैं कि असतग्राह ग्रहण अर्थात् इस मन्त्र के द्वारा इस देवता की आराधना से बद्धत धन प्राप्त होगा ऐसा दुराग्रह मोहवशते जो मनुष्य अज्ञीकार कर लेते हैं और अल्पबुद्धियों के अशुचि कहे मद्य मांस आदि युक्तव्रत नियम होते हैं तेई मनुष्य इन निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥ और प्रलय कहे मरण काल पर्यन्त है जिसका अन्त ऐसी जो अपरिमेय चिन्ता अर्थात् कितनी है इसका ठिकाना नहीं तिस के आश्रित कहे चिन्तापरायण मनुष्य जिनकी काम भोग करना ही परमप्रयोजन है और कामभोग छोड़के दूसरा और कोई परमपुरुषार्थ नहीं है इतनीही किये है निश्चय जो लोग ते कुकर्माकेद्वारा धन सञ्चय करने की इच्छा करते हैं इस श्लोककी पर श्लोक के साथ अन्यय होती

पाश्र्विताः । कामोपभोगपरमाएतावदिति निश्चिता ॥ ११ ॥ आशापाशश्चैर्बद्धा
 कामक्रोधपरायणाः । ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥ इदमद्य
 मया लब्धमिदं प्राप्सेमनोरथं । इदमस्तीदमपि मे मविष्यति पुनर्धनं ॥ १३ ॥ असौ
 याहतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि । ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥
 आम्बोऽभिजनवानस्मिकोऽन्योऽस्ति सदृशो मया । यज्येदास्यामिमोदित्यद्वैतज्ञानवि

भाषा अनुवाद

वृक्षस्यति का खूब प्रमाण देते है कामएवैक पुरुषार्थ इति इसका अर्थ यह है कि
 सैतन्यविशिष्ट जो काम उसी को पुरुष पद से कहते है ॥ ११ ॥ इसी से आशा
 रूप सैकड़ो रसीयो से बन्ने इधर उधर खेंचे जाते ऊँचे लोग काम क्रोध के
 आश्रय स्वरूपभूत काम उपभोग के अर्थ अन्याय कहे चोरी लवारी दगाबाजी
 ठगी बटपारी से धन बटोर ने की इच्छा करते है इसी से वह धन लुकर्म छोड
 धुकर्म मे नहीं लगे है देखो अज्ञानी आप अपने हाथ गले मे सैकड़ो फासी लगाय
 सेते है ॥ १२ ॥ अब ऐसे लोगो के मनोरथ कहि कर उन को नरक प्राप्ति
 का वृत्तान्त इस श्लोक से लेकर चार श्लोक से कहते है कि इसी अज्ञान से
 विशेष मोहको प्राप्त होके नरक मे पडते है देखो उनको रुची औ मनोरथ ये है
 कि आज हम को यह लाभ मई और यह मनभावती प्यारी वस्तु परे कहे आगे
 पावेंगे और यह धन हमारे है हमारा है और फेर भी तजवीज लगाये है
 कि यह धन भी हमारा होता है परन्तु यह नहीं शोचते कि हम किस के हवाले
 होयेंगे और किस गति को जायेंगे ॥ १३ ॥ और इस शत्रुको हम मार
 डालेंगे औ इसको मार लिया है और हम जो चाहै सो करे हम कर्ता और
 हम भोगी है हम सिद्ध है जो कुछ करनाथा कर चुके है हम बलवान हम सुखी
 है इन सब बातों का स्मरण तो क्षण भर भी नहीं भूलते पर काल बलवान
 की सुध को तो एक वागी ही भूल गये है कि वह क्या करेगा ॥ १४ ॥ और
 हमधनी है हम अभिजनवान् अर्थात् कुलीन तथा यज्ञदान आदि जो कभी किया
 तो समझते है कि हमारी बराबर और किसीने नहीं किया लोगो मे हम बड़ी
 प्रतिष्ठा पावेंगे अर्थात् प्रशंसा होगी और जोकोई हमारी स्तुतिकरेगा उसको हम

मोहिताः ॥ १५ ॥ अनेकचित्तविभ्रान्तामोहजालसमावृताः । प्रसक्ताकामभोगेण
प्रतन्तिनरकेऽप्युच्यते ॥ १६ ॥ आत्मसम्भावितास्तत्त्वाधनमानमदान्विताः । यन्नन्तेना
मयन्नैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकं ॥ १७ ॥ अहङ्कारं वलं दर्पं कामं क्रोधञ्च संश्रिताः । सा

भाषा अनुवाद

धन वस्त्र आदि देयंगे और उसपर हम प्रसन्न होयंगे इस प्रकार के मनुष्य अज्ञान
से विमोहित मिथ्या अभिनिवेशको प्राप्त कहे झूठे मनोरथों में डूबे चुये हैं ॥ १५ ॥
ऐसे मनुष्य जिस प्रकार का फल पावते हैं सो सुनो कि अनेक चित्त कहे मनकी
लापों अभिलाषों में प्रवृत्त जो चित्त तिससे विक्षेप को प्राप्त वे लोग सोई मोह मोह
मय जाल से घेरे छुये अर्थात् स्वतन्त्र जालसे वह मनुष्य के समान बन्धे हैं और
काम भोग में आसक्त होके अशुचिजोशेषयुक्त नरक तिसमें आपही से पड़ते हैं ॥ १६ ॥
यज्ञ करिके औरों से हम बड़ी प्रतिष्ठा पावें ऐसे जो जनके मनोरथ जो प्रीति
पंद्रहें लोक में कहा है वह अभिलाष केवल दंभ अहङ्कार आदि प्रधान है
सत्तोगुण प्रधान नहीं है इस अभिप्राय पर दो श्लोक से कहते हैं कि आप
अपने मनसे सम्भाविता कहे महात्मा बने हैं पर कोई साधु उनकी प्रतिष्ठा नहीं
करते है इसीसे वे शुष्क अर्थात् अनम्र स्वभाव कहे कठोरचित्त मनुष्य धनादि
से जो मान औ अहङ्कार तिससे युक्त होके यज्ञदान आदि का तो केवल नाम
मात्र ही है पर करते हैं इस वास्ते कि फलाना आदमी बड़ा पूजा करने वाला
औ दानी है ऐसे नाम प्रसिद्ध होय इस वासना में यज्ञ दान करते हैं वह यज्ञ
दान करना कैसा है सो कहते हैं कि वे खाली अपनी अपनी प्यासि लाभ
अर्थात् नाम के लिये छोड़ और कुछ अज्ञान से नहीं करते हैं तो अविधि पूर्वक
यज्ञ दान जैसे है यह भी तैसे ही निष्फल है वह जानो ॥ १७ ॥ अब अविधि
पूर्वकाच्यको प्रकाश करते हैं कि अम्यसूयक कहे निन्दा करनेवाले मनुष्य अर्थात्
भगवान् कहते हैं कि मेरे प्रथके अवलम्बी पुत्रों के सुखों में दोष लगाने हारे
मनुष्य अहङ्कार वल औ प्रगल्भता जो दोगापन तथा काम और क्रोध का आश्रय
कर अर्थात् पक्ष होय अपनी देह औ परकी देह में चेतन ज्ञानरूप से टिका जो,
मैं हूँ सो सम्पूर्ण रूपसे मेरे प्रति द्रोहकारी यज्ञ आदिकर्म करते हैं परन्तु मारे

मात्स्यपरदेहेषुप्रद्विपन्तोऽप्यसूयकाः ॥१८॥ तानहं द्विपतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
 त्रिपात्यजस्त्रिशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥ आसुरीं योनिमापन्नामूढा जन्मनि जन्म
 नि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिं ॥२०॥ विशिष्टं नरकस्ते दंष्टारं नाशु न मात्स्य
 नः । कामः क्रोधस्तयालोभस्तस्मादेतत्त्वयं त्यजेत् ॥२१॥ एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्धारै
 स्त्रिभिर्नरैः । आचरन्त्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परा गतिं ॥२२॥ यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य

भाषा अनुवाद

दम्भके यज्ञादिमें अहंके बिना अपनेको दृष्टा क्लेश देते हैं और पशु आदिकों को भी अविधिपूर्वक नाशक हिंसा करने से चैतन्य जीवका द्रोहभाव ही फल उत्पन्न होय है और तो कुछ हाथलगता नहीं इसीसे ये मनुष्य मेरे साथ द्रोह करनेवाले मेरे शत्रु तुल्य है इससे इन हत्यारों को जो फल मिलेगा वह तुम जानिलो ॥१८॥ और उनका आसुरी स्वभाव कभी जाता नहीं यह दो श्लोक से कहते हैं कि हमसे द्वेष करने वाले क्रूरस्वरूप नराधमोंको मैं जन्म मृत्युकी मार्गस्वरूप संसार में आसुरी कहें अति क्रूर व्याघ्र सर्प आदि दुष्ट योनि में हमेशा फेंका करता हूँ अर्थात् उनको वही निपिह योनि मिला करती है ॥ १९ ॥ और एव कहने से इस श्लोक में यह कहा गया कि हे कौन्तेय अर्जुन वज्रत जन्म आसुरी योनि में प्राप्त जो मूढजन उनको मेरी प्राप्ति की शङ्का कहां है बल्कि मेरी प्राप्तिकी उपाय जो सतमार्ग उसको भी न पायके असुरादि योनि से भी अधम जो क्षमि कीटादि गति तिस दुर्गतिको वे जाते हैं ॥ २० ॥ पूर्व कहे ऊँचे सब आसुरी दोषोके मध्यमें सकल दोष के कारणस्वरूप जो तीन दोष तिनको सदाही त्याग करना योग्य है सोई कहते हैं कि काम क्रोध और लोभ ये तीन दोष नरक के द्वार स्वरूप हैं तो क्यों नीच योनि प्राप्ति कारक होंय इसी से सुसुष्ठु कहे सुक्ति की इच्छा रखने वाले इन तीनों दोषोंको सवतरह से त्याग करें हैं ये अनर्थ के मूल हैं और देखो कैसे दुख दाई हैं ॥ २१ ॥ अब इन तीन दोषों के त्याग करने में विशेष फल कहते हैं कि हे कौन्तेय अर्जुन तब कहे नरक के द्वार रूप काम आदि तीन दोष से अच्छी तरह मुक्त पुरुष अपने कल्याण के साधन स्वरूप तप योग आदि आचरण करते हैं और तिस के अनन्तर सुक्ति पावते

वर्तते कामचारतः । न स सिद्धिं मवाप्नोति न सुखं न परांगतिं ॥ २३ ॥ तस्माच्छास्त्रं
प्रमाणान्ते कार्यार्थकार्यव्यवस्थितौ । ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुं भिषार्हसि ॥ २४ ॥
इति देवासुरसम्बद्धिभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

भाषा अनुवाद

है ॥ २२ ॥ कामादि त्याग करना भी स्वधर्म आचरण के बिना नहीं हो सका
है यही कहते हैं कि शास्त्र औ विधि कहे वेद अवहित धर्म त्याग करके जो
मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार कर्म करते हैं वे सिद्धि कहे तत्त्व ज्ञान को
नहीं पावते हैं और उपशम अर्थात् शान्तिरूप सुख भी नहीं पावते और न
उत्तम गति जो मुक्ति तिसको पावते हैं ॥ २३ ॥ अब तात्पर्य कहते हैं कि यह काल
औ यह अकाल इसकी व्यवस्था कहे निर्णय में तुमको शास्त्र औ वेद स्मृति कहे
धर्म शास्त्र पुराण प्रमाण स्वरूप हैं इस से शास्त्र की विधिमें कहे जो कर्म तित्तो
जानि कर इस कर्म अधिकारमें वर्तमान तुम अपने अधिकार के अनुरूप कर्म
करने को योग्य होउ जिस हेतु सत्त्व बुद्धि औ सम्यक ज्ञान औ मुक्ति के विषय
में भी कर्महीं भूल कहे कारण स्वरूप है ॥ २४ ॥ इति श्रीजगन्नाथ सुल्ल विर
चित मनभावनी भाषाटीकायां षोडश अध्याय ॥ १६ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

सप्तमः अध्यायः ।

अर्जुन उवाच । येशास्त्रविधिसुतस्त्वय्यजन्तो यद्वा न्विताः । तेषां निष्ठातृका
छाया सत्त्वमाहोरजस्तमः ॥ १ ॥ श्रीभगवानुवाच । निविधाभवति यद्वा देहिना

भाषा अनुवाद

तत्त्वज्ञान के अधिकारी होने में जो सात्विकी यद्वा है सोई मुख्य कारण है यह
पूर्व ही कहा है इससे अब सबहैं अध्यायमें भगवान् यद्वा के तीन भेद कहेंगे और
जो सोरहें अध्याय में यः शास्त्रविधिसुतस्त्वय्यवर्त्तते कामचारतः इस तैईसयें श्लोक में
कहा कि वेद शास्त्र की विधि छोड़ अपनी इच्छा के अनुसार कर्म करनेवाले को
तत्त्वज्ञान नहीं होता है तो विधि त्याग करि यद्वा में कर्म में वर्तमान जनो को
तत्त्वज्ञान का अधिकार है कि नहीं यही ज्ञान होने की इच्छा से अर्जुन कहते
हैं कि जो मनुष्य वेदशास्त्र की विधि को दुख समझकर अथवा आलस्य से त्याग
करि के केवल लोकाचार के अनुसार यद्वायुक्त होय यज्ञ दान आदि कर्म करते
हैं उसकी निष्ठा कहे स्थिति कैसी होती है इसी को पूछते हैं कि हे कृष्ण
उनकी जो देव पूजा अथवा यज्ञ आदि कर्म हैं सो सात्विक राजसी किंवा तामसी
हैं ऐसी तीन प्रकार की शङ्का होती है जो ये पूर्वोक्त कर्मकारी लोग सतोगुणी
होय तो सात्विक हेतु में तत्त्वज्ञान में उनका अधिकार हो सके है और जो
सतोगुणयुक्त न होय तो नहीं हो सकता है यह पूछने का तात्पर्य है ॥ १ ॥
इस का उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह जो वेदशास्त्र के क्रम से
भगवदर्थन करनेवालों की सात्विकी यद्वा एक ही प्रकार की है पर हां लोकाचार
अनुसार कर्म अनुष्ठान करनेवालों की जो यद्वा सोई सात्विकी राजसी तामसी

सात्त्विकभावना । सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥ सत्त्वानुरुपा सर्वस्य
यहामवतिभारत । यहामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रुतः स एव सः ॥ ३ ॥ यजन्ते सात्त्विका देवा
न्यश्चरन्तां सिराजसाः । प्रेतान् भूतगणान् चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥ अशास्त्र

भाषा अनुवाद

तीन प्रकार की होती है, तिसका कारण यह है कि स्वभाव कहे पूर्वकर्म के
संस्कारवशते उत्पन्न जो यज्ञा उसको स्वभावना कहते हैं इससे स्वभाव को
अन्यथा करने में निश्चित समर्थ जो शास्त्रोक्त विवेकज्ञान से लोकाचार कर्म
करनेवालों को नहीं है इससे शुद्ध पूर्व स्वभाव के क्रमसे उत्पन्न जो यज्ञा से
तीन प्रकार की होती है सो तीन भेद हम से सुनो परन्तु भगवत् अर्चन विषयक
सात्त्विकी यज्ञा जो एकही प्रकार है सो भी व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन
इस दूसरे अध्याय के एकतालीशवें श्लोक में कही गई है यह जानो ॥ २ ॥ पूर्वपक्ष
कहते हैं कि हां यज्ञा सात्त्विकी है क्योंकि श्रीभगवानने एकादशस्कन्धके पचीसवें
अध्याय के द्वितीय श्लोक से सत्त्व कार्यरूप ही भगवान उद्धव के प्रति निर्देश किया
अर्थात् दिखाया है कि शम दम तितिक्षा ज्ञान तप सत्य दया स्मृति तृप्ति त्याग
अनिच्छा यज्ञा लज्जा औ आत्मनिवृत्ति कहे आत्मसुख ये सब वृत्तों सत्त्वगुण ही
की है इस से यज्ञा तीन प्रकार की कैसे कहते हैं जो ऐसा कहो तो सुनो कि हां
सत्य कहते हैं पर तथापि रजोगुण औ तमोगुण के संयोग से सत्त्वगुण की तीन
प्रकारता हेतुक सात्त्विक यज्ञा भी जो तीन प्रकार होती है सोई कहते हैं कि
जो पूर्व सात्त्विक स्वभाव वा सो उसके संस्कार से फेर भी सात्त्विक यज्ञायुता होता
है और जो रजोगुण प्रकाश वा सो रजोगुण स्वभाव होता और तमोगुण वालों
की तमोगुणी यज्ञा होती अर्थात् तामसयुक्त होता है इस कारण लोकाचार कर्म
कारी ऐसे सात्त्विक राजस तामस स्वरूप तीन प्रकार यज्ञाका निर्देशमात्र कहे
देखाया है परन्तु जो लोग शान्धज्ञान से प्रगट विवेकज्ञान से युक्त हैं तिनका
स्वभाव सर्वोन्नत होने के वास्ते एकही प्रकारकी यज्ञा होती है इतना ही इस प्रस
रण का तात्पर्यार्थ है ॥ ३ ॥ सात्त्विक आदि जो गुणभेद उसीको कार्य भेदसे विस्तार
कर कहते हैं कि सात्त्विक स्वभावके जन सत्त्वप्रकृति लोग देवतोंको पुजते हैं ऐसे

विहितंघोरंतपन्तेयेतपोजनाः । दस्माहङ्कारसंयुक्ताःकामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
 कर्षयन्तःशरीरस्थंभूतग्राममचेतसः । माञ्जैवान्तःशरीरस्थंतानुविद्यासुरनिश्चयान्
 ॥ ६ ॥ आहारस्तृप्तिर्षस्यमिविधोभवतिप्रियः । यज्ञस्तपस्तथादानंतेषांभेदमिमं
 गृह्य ॥ ७ ॥ आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः । रखाःसिग्धघाःस्विराह

भाषा अनुवाद

हीराजसखभाव राजः प्रकृति देवता, यज्ञ राजसादिकों को पूजते औ तामसी तमो गुणी भूतप्रेतों को पूजते हैं ॥ ४ ॥ और राजस तामस के मध्य में भी जो विशेष है सो फेर दोहोकरसे कहते हैं कि शास्त्र को बिना जाने भी पूर्व संस्कार बल से कोई कोई उत्तम पुरुष सात्त्विक स्वभाव होते हैं कोई मध्यम जन राजस स्वभाव होते और कोई अधम लोग तामस स्वभाव होते हैं और जो अत्यन्त मन्दभाग्य लोग अन्धपरम्परा में पापपिण्डियों के सङ्ग से पापखट्ट आचार के अनुवर्ती होके शास्त्र विधान से भिन्न लोक मयङ्कररूप तपस्या करते हैं तिनके विषय में हेतु स्वरूप दस औ अहङ्कार से संयुक्त तथा काम कहे अभिलाष औ राग कहे अभिलषित, जसु में चित्तरञ्जन के अनुरूप जो अधिक आशक्ति और बल कहे विषयों का आग्रह इस सब से युक्त होके । इस श्लोकका अर्थ दूसरे श्लोक के साथ पूरा होता है ॥ ५ ॥ शरीरस्य कहे शरीर के कारणरूप देह में वर्तमान जो पृथिवी अप तेज वायु आकाश पंच भूत तिनको वृथा उपास करने से दुर्बल करके औ अन्तर्गामीरूप देखके बीच टिके ऊँचे मेरे को भी लङ्घन कर दुखदाइ होय जो अपि बेकी लोग तपस्या करते हैं तिनको आसुर निश्चय कहे अति क्रूरबुद्धि जानो तात्पर्य यह कि मेरी आज्ञा लङ्घन करना ही मुझे दुख देना है ॥ ६ ॥ और आहार, रादि भेद से भी सात्त्विकादि गुण देखावने के अनुरोध से इस श्लोक से लेकर द्रयोदश श्लोक पर्यन्त कहते हैं कि सकल मनुष्यों का आहार जो अन्न आदि भी यथायोग्य तीन प्रकारसे प्रिय लगता है और यज्ञ तपस्या तथा दान आदि भी तीन प्रकार के होते हैं, सो सब भेद सुनो कि राजस तामस आहार औ यज्ञ दानादि परित्याग करके सतोगुण की वृद्धि के निमित्त सात्त्विक आहार औ यज्ञ आदि के विषय में जो यत्न करना कर्त्तव्य है यह भगवान कहते हैं ॥ ७ ॥ अब पूर्ण

आवाहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥ कटुश्चल्वरात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः । आ
हारा राजसस्येष्टादुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥ यातयामं गतरसं पूतिपत्युपितञ्जयत् ।
उच्छिष्टमपि चाभ्यन्धं भोजनं तामसप्रियं ॥ १० ॥ अफलाकांक्षिभिर्यत्नो विधिदिष्टो यद्
कथ्यते । यद्यस्यैवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥ अभिसन्धाय तफलं दमार्थं

भाषा अनुवाद

सात्त्विकादि आहार के तीन प्रकार भेद तीन श्लोक से कहते हैं कि आयु कहे
जीवन सत्त्व कहे उत्साह बल कहे शक्ति औ आरोग्य औ सुख कहे चित्त की प्रस
न्नता प्रीति कहे अभिरुचि इस से यह आया कि आयु सत्त्व आदि को बढ़ावनेवाले
और रस्य कहे रसयुक्त और स्निग्ध कहे चिकने घृतयुक्त औ स्थिर कहे रसांशके
द्वारा चिरकाल देह में रहनेवाले और हृद्य कहे देखतेमात्र भोजन की इच्छा होय
ऐसे सुन्दर स्वरूप आहार भक्ष्य भोज्य आदि सात्त्विकरूप सात्त्विक स्वभाव पुष्ट
को प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥ और अति कटु नीच आदि औ अति शूल औ अति खरख
औ अति उष्ण कहे गरम औ अति तीक्ष्ण मरिचादि औ अति रूक्ष औ अति उग्र
सरसों आदि ये सब राजस स्वभाव मनुष्य को प्रिय होते हैं परन्तु ये सब वस्तु
दुख कहे भोजन समय में हृदय को सन्ताप आदि और शोक कहे भोजन को
अनन्तर अप्रसन्नता और आमय कहे रोग ये सब खानेवाले को देते हैं क्यों कि ये
सब दुःख शोकमय हैं ॥ ९ ॥ और जो अन्न यातयाम कहे जिसको एक पहर बीत
गया और ठंढा हो गया और गतरस कहे जिसका रस सूख गया सीटीसा रह
गया औ पूति कहे दुर्गन्धयुक्त जो है और पर्जुपित कहे वासी अन्न औ उच्छिष्ट
कहे दूसरें का कूड़ा और अमेश्य कहे अपवित्र अभक्ष्य मांस आदि ऐसे आहार
तामस स्वभाव मनुष्यों को प्रिय लगते हैं ॥ १० ॥ और यज्ञ भी तीन प्रकार की हैं
तिनके बीच में सात्त्विक जो यज्ञ सो तीन श्लोक से कहते हैं कि जो पुष्ट फल की
आकांक्षा रहित अवश्य कर्तव्य है यह जानि यज्ञ करते सो यज्ञ सात्त्विक कहा
वती है और वे मनुष्य किस कारण से यज्ञ अनुष्ठान करते इस पर कहते हैं कि
यज्ञकर्म करना ही चाड़िये और कोई फलके अर्थ कर्तव्य नहीं है ऐसा विचारि मन
को एकाग्र करके यज्ञ करते हैं ॥ ११ ॥ राजस यज्ञ कहते हैं कि हे भरतयेष्ट अर्जुन

मपिचैवयत् । इत्यन्तेभरतथेष्ठतंयज्ञविद्विज्जनसं ॥ १२ ॥ विधिहीनमष्टष्टान्तम
हीनमदक्षिणं । यद्वाविरहितंयज्ञतामसंपरिचक्षते ॥ १३ ॥ देवद्विजगुरुप्राज्ञ
पूजनंशौचमार्जवं । ब्रह्मचर्यमहिंसाचशरीरंतपश्च्यते ॥ १४ ॥ अनुद्देगकरंवा
क्यं सत्यंप्रियद्वित्ययत् । साध्यागाम्यसनंचैववाङ्मयंतपश्च्यते ॥ १५ ॥ मनःप्र
सादःसौम्यत्वमौनमात्मविनिग्रहः । भावसंगुहिरित्येतत्तपोमानसमुच्यते ॥ १६ ॥
यद्यथापरयातप्ततपस्तत्त्रिविधंनरैः । अफलाकांक्षिभिर्युक्तैःसात्त्विकंपरिचक्षते ॥ १७ ॥

भाषा अनुवाद

फलकी कामनापूर्वक अपने महत्वको जनावनेको अर्थको यज्ञकी हुई जाय सो राजस
यज्ञ जानो ॥ १२ ॥ अब तामस यज्ञ कहते हैं कि विधि हीन औ अष्टष्टान्त कहे
जो यज्ञ के अर्थ अन्न प्राज्ञाण क्षत्रिय वैश्य से नहीं मिला होय सो अन्न औ मन
हीन औ दक्षिणा दान रहित होय तथा यद्वा वर्णित की हुई यज्ञ को तामस यज्ञ
कहते हैं ॥ १३ ॥ तपस्या भी सात्त्विकादि भेद देखावने के मानस से प्रथम
शरीरादि के भेद क्रम से विविध है सो तीन श्लोक से कहते हैं कि प्राज्ञ कहे
गुरुजन से मित्र और और तत्त्वज्ञानी औ ब्राह्मण तथा गुरुजन की पत्नी और
प्रीति आदि क्रिया इन सब को शिष्ट पुरुष शरीर सम्पादित तपस्या कहते हैं ॥ १४ ॥
और वचन सम्बन्धी तपस्या कहते हैं कि कोई मनुष्य जिनसे भय न होय ऐसे
अनुद्देग कर वचन और सत्य तथा श्रोता को प्रिय लगे और परिश्रम कहे अंत
को सुखदाई और वेद अध्यास करनेवाले वचनो को भी वाक्य तपस्या कहते
हैं ॥ १५ ॥ अब मानसिक तपस्या कहते हैं कि मन की निर्मलता और सौम्यत्व
कहे अक्रूरता और मौन कहे सुनिधर्म जो मनन करना आत्म विनिग्रह कहे विष
योंसे इन्द्रियोंको निग्रह जो रोकना और भावसंगुहिक कहे व्यवहारमें निष्कपट रहना
ये सब मानसिक तपस्यास्वरूप कहेवाते हैं ॥ १६ ॥ शरीर वचन मनके द्वारा तीन
प्रकार तपस्या देखाया सोई तीन प्रकार तप जो सात्त्विकादि गुण भेद से भी
तीन प्रकार है सो तीन श्लोक से कहते हैं कि जो उत्कृष्ट यद्वा से फल की
कामनारहित औ एकाग्रचित्त होय मनुष्य लोग विविध प्रकार कर्म करते तिनको
परिष्ठित लोग सात्त्विक कहते हैं ॥ १७ ॥ राजस कहते हैं कि जो सत्कार

सत्कारमानपूजार्थतपोदम्भेनचैवयत् । क्रियतेतदिहप्राज्ञैराजसंचलमधुवं ॥१८॥
 मूढग्राहेणात्मनोयत्पीडयाक्रियतेतपः । परस्त्रीत्यादनार्थंवातत्तामसमुदाहृतं ॥
 १९॥ दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे । देशेकालेचपात्रेचतद्दानं सान्त्विकं
 स्मृतं ॥२०॥ यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलसुहिस्त्वयापुनः । दीयते च परित्तिष्ठतद्दानं राज
 संस्मृतं ॥२१॥ अदेशकालेयद्दानमपात्रे व्यर्थं दीयते । असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमु

भाषा अनुवाद

अर्थात् यह पुरुष साधु औ यह तपस्वी ऐसे प्रतिष्ठावचनो से जो पूजा औ मान
 कहे उन को देख उठ खड़े होना औ प्रणाम करना आदि जो दैहिक पूजा और
 पूजा कहे अर्थ लामादि इन सब के निमित्त औ अपने महत्व के प्रकाश के अर्थको
 की जाय अथवा जो अनित्य और क्षणिक रूप है उसी को इस लोक में शिष्ट लोग
 राजस कहते हैं ॥ १८ ॥ तामस तपस्या कहते हैं कि अविवेक से कुचैटा कर
 भरीर को लेश देय किस्वा और किसीके विनाश या दुख के अर्थ अभिचार स्वरूप
 जो तपस्या तिसको षण्डितजन तामस तपस्या कहते हैं ॥ १९ ॥ पूर्व कथित अज्ञी
 कृत दान के विषय में भी सान्त्विकादि तीन प्रकार कहते हैं कि दान करना
 ही चाहिये ऐसी निश्चय से जो दान और उस से प्रत्युपकार न होय अर्थात्
 अपना उपकार न चाहै न वह पुरुष उपकारके योग्य होय जिसको दान देय और
 कुचैल काशी प्रयाग तीर्थ स्थान में तथा ग्रहण संक्रान्ति पर्व आदिक में और
 वेद शास्त्रयुक्त ब्राह्मणों को अथवा यह पात्र सकल आप दों से दाता की रक्षा
 करै एवं भूत पाता कहे पात्र को जो दान दिया जाय उसी को षण्डित जन
 सान्त्विक दान कहते हैं ॥ २० ॥ राजस दान कहते हैं कि समय के अनुसार
 यह मेरा प्रत्युपकार करेगा इस हेतु से अथवा स्वर्ग फलभोगके अर्थ चित्तलेशयुक्त
 दिते समय कह होय अर्थात् ऐसा जा दान तिसको शिष्टलोग राजस कहते हैं ॥ २१ ॥
 अब तामस दान कहते हैं कि अदेश कहे अपवित्र स्थान में अकाल कहे अशौ
 चादि समय में और अपात्र कहे चोर लवार नाचने नकल करनेवालों को जो
 दान अथवा देश काल विद्यावान के रहते भी असत्कृत कहे पाद प्रकालन
 आदि सत्कार रहित अथवा अनादर से जो दान सुपात्र को भी दिया जाय तिस

दाहृतं ॥२२॥ अतस्त्विदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृताः । ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च व
 ज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥ तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः । प्रवर्तन्ते
 विधानोक्ताः सततमन्त्रावादिना ॥२४॥ तदित्यनभिसम्भावफलं यज्ञतपःक्रियाः । दा

भाषा अनुवाद

को श्रुष्ट लोग तामस दान कहते हैं ॥ २२ ॥ जो कहो कि ऐसा विचार करने से प्रायः सब यज्ञ और तपस्या तथा दान आदि राजस और तामस भाव की होते हैं इस कारण यज्ञ आदि कर्म में यत्न करना ठीका है इस श्रद्धा पर पूर्वोक्त यज्ञ दान आदि ब्रह्म भा राजस तामस होने से भी सात्त्विकत्व प्रतिपादन की उपाय देखाय कर कहते हैं कि ओं तत् सत् ये जो तीन शब्द सो परमात्मा के नाम के अनुरूप निर्दिष्ट हैं इन के मध्य में ओंकार उकार और मकार का स्वरूप जो ओंकार से ब्रह्म है यह युक्तियों में प्रसिद्ध है सो ओं शब्द ब्रह्म की का नाम है और जगत्कारण हेतु से ज्ञानियों को अपरोक्ष है तत् भी ब्रह्म और परमार्थ और विद्यमानत्व और साधुत्व और प्रसस्तत्वादि प्रयुक्त और है सो इस जगत की सृष्टि के पूर्व सत्स्वरूप में था ऐसे युक्तियों के कहने से सत् शब्द भी ब्रह्म ही का नाम है और यह त्रिविध नाम कहने से निश्चित को भी उत्पन्न करने को नाम समर्थ है इस अभिप्राय से प्रत्यक्ष करते हैं कि विधाता ने सृष्टि के प्रथम इस परमात्मा के त्रिविध नाम का उद्देश कर के ब्राह्मण और वेद और यज्ञ का निर्माण किया अथवा जो परमात्मा का यह तीन प्रकार निर्देश है सोई परमात्मा ने ब्राह्मण अति पवित्र को सृष्ट किया इससे ओं तत् सत् यह कहना अति प्रसस्त कहने उत्तम है ॥ २३ ॥ अब ओंकारादि शब्दों की प्रसस्तता देखावने के मनोरथ से ओंकार का प्रसस्तत्व कहते हैं कि जिस हेतु परमात्मा का निर्देश इसी रूप से प्रसस्त है इस से ओं भाव उच्चारण पूर्वक वेदादि कृत यज्ञ दान और तपस्या आदि शास्त्रोक्त क्रिया सकल यथावत् संपर्ण न होने से अर्थात् हीन होने से भी अच्छी तरह गुण संपन्न सर्वोद्भूत पूर्ण होती है ॥ २४ ॥ इससे नाम की प्रसंशा करते हैं इस स्थल में पूर्वोक्त ओं शब्द के साथ तत्पद का सम्बन्ध है यह अति सुसुचु पुरुषों की अकृत फल रूप कामना ब्रह्मरूप यज्ञ आदि क्रिया

नक्रियाश्च निविधा क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥ सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते । प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थयुज्यते ॥ २६ ॥ यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते । कर्मचैव तदर्थीयं सदित्येवामिधीयते ॥ २७ ॥ अथ द्वयाज्जतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं वक्ष्यते । असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्यनोदह ॥ २८ ॥ इति सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

• भाषा अनुवाद

तत् शब्द उच्चारण पूर्वक की जाती है इसी से चित्तशुद्धि के द्वारा फल सङ्कल्प त्याग पूर्वक समुच्चल है। से तत् शब्द का निर्देश करना भी प्रसस्त है ॥ २५ ॥ सत् शब्द प्रसस्त है यह दो श्लोक से कहते हैं कि सत् भाव कहे अस्तित्व और साधुभाव कहे साधुत्व इन दोनों अर्थ को सत् शब्द कहता है और हे अर्जुन प्रसस्त कहे माङ्गलिक विवाहादि कर्म में भी यह सत् कर्म इन विषयों में सत् शब्द का प्रयोग योग्य है और मद्रक्षादि अर्थ को भी कहता है ॥ २६ ॥ और यज्ञ तप दान में जो स्थिति कहे इन का तात्पर्य जानि कर अवस्थान है उसको भी विद्वान् जन सत् कहते हैं औ परमात्मा के अर्थ अथवा यज्ञ तप दान के अर्थ जो कर्म किये जायें वे भी सत् कहे जाते हैं जो ये यज्ञ दान तप आदि कर्म परमात्मा की सेवा के अर्थ जो कर्म सब असात्विक किन्वा विगुण अङ्गहीन भी होय पर यद्वा पूर्वक किये होय और ब्रह्मके नाम जो ओं तत् सत् इनसे युक्त किये होय तो समुप सात्विक होते हैं ॥ २७ ॥ अब अनुपर यद्वा पूर्वक कर्म में प्रवृत्त होय इस लिये अथवा कृत कर्म की निन्दा करते हैं कि अथवा से होम तप दान औ पूजा आदि कर्म जो किये जाते हैं उनको ज्ञानी औ शिष्ट कहे भलेलोग असत् भाव कहते हैं क्यों कि अङ्ग विकल होने से इन कर्मों का फल परलोक में भी नहीं होता है और अथवा करनेवाले हैं इस से इह लोक में भी कुछ फल नहीं है तो शरीर का होश औ धन की खराबी करने से भी क्या फल है अथवा तो न करके औ करके भी मिले हीगा जो इस फल की इच्छा होय तो ॥ २८ ॥ इति वगन्नाथ सुकुल विरचित मनभावनी टीकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

अष्टादश अध्यायः ।

अर्जुनउवाच । संन्याससमहावाहोतत्पनिष्कामिवेदितं । त्यागश्च हृषीकेशेष्ट

भाषा अनुवाद

अब प्रथम समग्र अष्टादश अध्याय का तात्पर्य संक्षेप से श्रीधरस्वामी कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण ने समग्र गीताशास्त्र का जो संग्रह अर्थ सोई परमाव है, यह निर्णय करने के अर्थ अठारहें अध्याय में संन्यास औ त्याग भिन्न भिन्न करके स्पष्ट रूप से कहा है और सर्व कर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी यः ५ अध्याय का १३ श्लोक औ शुभाशुभ फलैरेवं मोक्ष्य से कर्मबन्धनैः संन्यास योगयुक्ताः पितृक्लोमासुपैत्यसि यह ६ अध्याय का २८ श्लोक औ त्यक्त्वा कर्मफला संगनित्यदृष्टो निराश्रयः यह ८ अध्याय का २० श्लोक औ सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरुयतात्मवान् यह १२ अध्याय का ११ श्लोक इन सब श्लोकों से और और अध्याय में भी तीन तीन श्लोकों से फल मात्र त्याग करके निष्काम समस्त कर्म करने का उपदेश दिया है परन्तु परम कल्याणमय सर्वज्ञ ओ भगवान् श्रीकृष्ण सो परस्पर विरुद्ध वचन कभी भी उपदेश न करेंगे इसी से कर्मों के त्याग करने के विषय में जिस प्रकारसे विरोध न पड़े सोई जानने की इच्छा करि अर्जुन कहते हैं कि हे हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों के नियामक प्रवर्तक और हे कैशानिपूदन केशी नाम दैत्य प्रकलीला के समय अश्व रथ परके आया तो भगवान् उसके मुख में अपना हाथ डाल ककरी के समान चीर डाल के डाल दिया था सोई कहा कि हे महाबाहो श्रीकृष्ण संन्यास औ त्याग शब्द का तत्त्व अर्थ मैं भिन्न भिन्न करके जाना चाहूँ हूँ सो दया करके सुझासे कहिये ॥१॥ इस अर्जुन की प्रश्न

यत्केगिनिस्तदन ॥ १ ॥ श्रीभगवानुवाच । काव्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः । सर्वकर्मफलत्यागं प्राज्जुस्त्यागं विचक्षणः ॥ २ ॥ त्याज्यं दोषवदित्वे के कर्मप्राज्जुर्म

भाषा अनुवाद

के उत्तर मे भगवान कहते है कि देखो पुत्र की कामना करि के पुत्रइष्टि यज्ञ करै और स्वर्ग की कामना करि अश्वमेध यज्ञ करै तथा और और कामना करि जो जो कर्म विहित है ऐसे जो काव्यकर्म तिन सब के परित्याग करने को ही प्रहिणत लोग संन्यास जानते है अर्थात् फल सहित सकल कर्म के त्याग को संन्यास ज्ञान करते है और नितने कर्म अकर्म कहे कुत्सित कर्म औ नित्य नैमित्तिक कर्मों के फलभाव त्याग को विचक्षण कहे निपुण लोग त्याग कहते है पर विचार मे तो कर्म त्याग करनेको तो त्याग नहीं कहते है फल त्याग पसु त्याग हो सके है क्यों कि बज्जतेरे कर्म ऐसे है कि जिनका शरीर रहते त्याग नहीं हो सकता है तो शास्त्रोक्त कर्म नित्यनैमित्तिक उपासना आदि जिन से बुद्धि की शुद्धि औ ज्ञान की योग्यता होती उनका त्याग लोकविद्वद् संसार अवस्था मे अनुचित है परन्तु जिसको तत्त्व ज्ञान नहीं भया है उसको कर्मफल के त्याग करने ही को त्याग जानो और जिसको तत्वज्ञान है उसीको समस्त कर्म का संन्यास हो सके है और उचित भी है यह भगवानने अर्जुनसे कहा ॥२॥

मतान्तर कहे अन्यमतको निषेध करते ऊये उक्त विषय को दृढ करने की इच्छा से मतभेद देखाते है कि हिंसादि कर्म दोषयुक्त औ अनर्थहेतु से बन्धस्वरूप है इस लिये सब कर्म का त्याग करना उचित यह सांख्य मतवाले विवेकी लोग माहिं स्यात्सर्वभूतानि इति वचन से कहते है और अग्नीपोमीयं पशुमालभेत् इस युति से अग्निष्टोम यज्ञ मे प्रगुहिंसा को यज्ञक्रिया का अङ्गविधान किया है और सकल कर्मों के करने मे जीवहिंसा ज्ञान अज्ञानपूर्वक होती है इससे कर्मसाध का त्याग कहा है और कर्मकाण्डी भीमासा मतवाले अग्नीपोमीयं पशुमालभेत् इस विधि केवलसे कहते है कि यज्ञकर्ममे हिंसा हिंसा नहीं है करनी ही चाहिये और यज्ञ छोडकर हिंसा करने से पुरुष को पाप होता है इस अग्नि प्राय षंर भगवान कहते है कि कोई बुद्धिमान तो कहते कि दोषवत कहे दोषयुक्त

नीपिणः । यज्ञदानतपःकर्मनत्याज्यमितिचापरे ॥३॥ निश्चयंष्टपुमेतवत्यागेभर
तसत्तम । त्यागोहिपुरुषव्याघ्रविविध संप्रकीर्तित ॥४॥ यज्ञदानतपः कर्मनत्या
ज्यंकार्यमेवतत् । यज्ञदानंतपश्चैवपावनानिमनीपिणं ॥५॥ एतान्यपितुर्कर्मणि
संगंत्यत्तापलानिच । कर्तव्यानीतिमेपार्थनिश्चितंमतसुत्तमं ॥६॥ नियतस्यतुसं

भाषा अनुवाद

कर्मत्याग करना चाहिये और कोई यज्ञ दान तप कर्मका त्याग नहीं कहते हैं क्योंकि विधिकृत हिंसा से दोष नहीं होता है परन्तु अहिंसा तो परम धर्म है ॥३॥ इस प्रकार से अन्य मत काड़ कर अब अपने मत कहने की इच्छा से भगवान् कहते हैं कि हे भरतसम्भव भरतवंशी यजुन इस पूर्वोक्त परस्परविरोध मत के विषय में निश्चयरूप जो मेरे वचन से सुनो और त्याग की लोकमें प्रसिद्ध है तो उसके विषयमें और क्या सुनैगे ऐसा अनादर न करना यही कहते हैं कि हे पुरुष व्याघ्र कहे पुरुषयेष्ठ यजुन त्याग पदार्थ बड़ा कठिन दुर्बोध है जिससेतु इसकाय्य कर्मका त्याग तत्त्वदर्शी लोगों ने अच्छीतरह से विचार करके तामससादि भेद से विविध कहे तीन प्रकार का कहा है सो त्यागविषयक तीन प्रकार इसी अध्यायके इस सतये श्लोक से कहेंगे कि नियतस्यतुसंन्यास इति ॥४॥ अब प्रथमअपने निश्चित वचनको दो श्लोकमें कहते हैं कि यज्ञदान श्रौ तपरूपकर्मत्याग करनेके योग नहीं है वरन अवश्यही कर्त्तव्य है क्योंकि ये यज्ञ दान तप पूजन आदि सत्कर्म विवेकी पुरुषों को पावन करते हैं अर्थात् चित्त के गुद्धि करनेवाले हैं ॥५॥ जिस प्रकार से किये गिये द्रुये ये कर्मविवेकी जनोके चित्त को शुद्ध करते हैं सोई प्रकार से इन कर्मोंका अनुष्ठान देखावते द्रुये कहते हैं कि हे मार्थ यजुन सत् कहे कहे त्यागभिनियेश अर्थात् हम कर्त्ता इस कर्म को करते हैं इस अहंकार को छोडकर केवल ईश्वर के आधीन रूप से कर्म का अनुष्ठान करना उचित है और फल की कामना को भी त्याग करके जो कर्मका करना है यही हमारा निश्चित अभितम सिद्धान्त है इसी से वह कर्म उत्तम है यह भगवानने यजुन से कहा है ॥६॥ अब इस श्लोकसे देखावते हैं कि सकल काय्यकर्मोंको बन्धकत्व है अर्थात् कामना करि किये द्रुये कर्त्त बन्धन करते हैं इससेतु ये उनका त्याग करना ही कर्त्तव्य है

न्यासकर्मणो नोपपद्यते । मोहात्तत्त्वपरित्यागस्तामसः प्रतिकीर्तितः ॥ ७ ॥ दुःख
मित्येव यत्कर्म क्रायलोभमयात्तज्जेतु । सखत्वारजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन । सङ्गत्य ज्ञातुं फलञ्चैव सत्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥
न हेट्वा कुशलं कर्म कुशलेनानुपज्जते । त्यागसत्त्वसमाविष्टो मेधावच्छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

भाषा अनुवाद

परन्तु नियतकहे नित्य कर्मों का त्याग करना योग्य नहीं है क्योंकि नित्यकर्म सत्वगुहि
के द्वारा मोक्षके साधनस्वरूप है इससे यद्यपि कर्मका परित्याग करना ठीक है तो
भी नित्यकर्म का त्याग मोह मावहीसे होता अर्थात् तामस है क्योंकि मोह तमो
गुण से होता है इस से उस त्याग को द्विष्ट लोगों ने तामस ही कहा है ॥ ७ ॥
राजस त्यागको कहते हैं कि जो मनुष्य आत्मज्ञान के बिना केवल कर्म करना
इस मात्र है यह विचार के और शरीर के लोभ के भय से नित्यकर्मको त्याग
करता है सो त्याग राजस है क्योंकि दुःख रजोगुण का धर्म है इसी से राजस
त्यागकारी रजो गुणी पुरुष को ज्ञानमे निष्ठा जो त्याग का फल सो कर्म भी नहीं
मिलै है ॥ ८ ॥ अब सात्त्विकरूप त्याग कहते हैं कि हे अर्जुन कर्म सप, कर्तव्य
है ऐसे विचार से नियत कहे अवश्य कर्त्तव्य रूप विहित कर्मों को कर्तव्य अथि
निवेश कहे अहंबुद्धि औ फल की कामना रहित जो त्याग करना सो सात्त्विक
त्याग है ॥ ९ ॥ एवम्भूत सात्त्विक त्याग मे प्रकट निष्ठा युक्त पुरुष के लक्षण
कहते हैं कि सतोगुण से सात्त्विकत्यागी पुरुष अकुशल कहे दुःखदायी अधीर
विशिर कहे जाड़े मे प्रातःस्नान आदि कर्म से द्वेष नहीं करते और कुशल
कहे ग्रीष्म काल के मध्यान ज्ञान दानादि कर्म मे प्रीति नहीं रखते है इसका
कारण यह है कि वे लोग स्थिर बुद्धि अर्थात् विवेक से अन्यकृत पराभय आनादर
आदि महा दुःख भी महते है और स्वर्गादि सुख को भी त्याग करते है जेहि
सुख औ दुःख जो क्षणिक कहे क्षण माय रहनेवाला है यह निश्चय जानते है
औ जिस का दैहिक सुख दुःख के अक्षय औ त्याग की इच्छा रूप जो
मिथ्या ज्ञान सो जिसका नष्ट हो गया है वही छिन्न संशय पुरुष है ॥ १० ॥
जो कहे कि पूर्वोक्त कर्मों के फल त्यागसे कर्मों ही का त्याग करना ही श्रेष्ठ कीं

नहिदेहमृताशङ्कत्यक्तुं कर्मोप्यशेषतः । यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥
 अनिटमिटं मिथश्च विविधं कर्मणः फलं । भवत्यत्यागिना प्रेत्य न तु संन्यासिना कश्चित् ॥ १२ ॥
 पञ्चेमानिमहाबाहो कारणानि निबोध मे । सांख्ये कृतान्तानि प्रोक्तानि सिद्धये सर्व कर्मणां ॥ १३ ॥

भाषा अनुवाद

न होय जिस हेतु विक्षेप करनेवाले कर्म दूर होने से अविक्षेप क्रम से ज्ञाननिहा
 रूप जो मुख से सम्पन्न होगया इस पर कहते हैं कि देह अग्निमानयुक्त मनुष्य
 तावत् सर्व कर्मों का सम्पूर्ण त्याग नहीं कर सकते हैं इस में प्रमाण तीसरे
 अध्याय के पञ्चम श्लोक आदि से कहा है कि न कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म
 कृत् इति इससे जो सकल कर्मका अनुष्ठान करके भी फलमें त्यागी है वेई पुरुष
 प्रधान त्यागी है ॥ ११ ॥ अब पूर्वोक्त त्यागका फल कहते हैं कि अनिट कहे
 नरक औ इट कहे देवत्व तथा मिथ कहे मनुष्यत्व वेई पाप पुण्य मिले ऊँचे
 कर्मों के फल है सो काम्यकर्म करनेवालों को देहात्त होने पर प्राप्त होते हैं जो
 कि सकाम मनुष्यों को पाप पुण्य औ दोनोंसे मिले ऊँचे विविध कर्म सम्भव होते
 हैं परन्तु ये कर्म संन्यासी पुरुष को किसी तरह सम्भव नहीं होते और संन्यासी
 इस प्रसङ्गमें कर्मफलका त्यागीही लिया जाता है यहाँ प्रमाण सुनो कि अनाश्रितः
 कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः स संन्यासी च योगी च इति इ' अध्याय के प्रथम
 श्लोक से लेकर कहा है और कर्मफलत्यागी पुरुषको सब जगह संन्यासी कहा है
 इस से यह फल त्यागी सात्त्विक मनुष्य को पाप के असम्भव हेतु से और भगवत्
 को अर्पण करने से पुण्यफलके भी त्याग होने से विविध जो कर्मफल वे किसी
 प्रकार से भी नहीं होते हैं ॥ १२ ॥ जो कहो कि कर्मों पुरुष को कर्मफल क्यों न
 छोड़ेंगे इसप्रश्नपर सङ्गत्यागी विद्वान् मनुष्यको जो कर्मवन्ध नहीं होते यह विद्व
 करने की इच्छासे यहाँ से पाँच श्लोकों द्वारा कहते हैं कि हे महाबाहो कर्मोंकी
 निष्पत्तिमें ये पाँचकारण मेरे वचनसे तुम जानो और अपने कर्तृत्वरूप अभिमान
 की निर्दत्ति के अर्थ इन कारणों को अवश्य ही जानना चाहिये कि इस प्रकार पर
 मात्मा सम्बन्ध रूप से प्रसिद्ध अर्थात् ज्ञान का विषय होता है इस अर्थ का रखन
 करनेवाला जो सांख्य भावार्थ यह कि तत्त्वज्ञान से प्रकाशमान आत्मबोध ही को

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणञ्चैव त्रिविधं । विविधाश्च पृथक्चेष्टादैवञ्चैवावपञ्चमं ॥१४॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः । न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥
तत्रैवं सति कर्त्ता रमात्मानं केवलमनुयः । पश्यत्युक्तबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मति ॥१६॥

भाषा अनुवाद

सांख्य कहते हैं और ऐसे कर्मों का अन्त कहे समाप्ति इसी में है इस अर्थका सूचक जो छतान्त अर्थात् सांख्य छतान्त कहे वेदान्त सिद्धान्त में अथवा इसमें सब तत्त्व गने गये हैं इस अर्थ का सूचक सांख्य और इस तरह से किया है अन्त अर्थात् सकल निर्णय है इस में इस अर्थ का सूचक जो छतान्त पद इन दोनों प्रदार्थ को सांख्य कहते हैं सोइ सांख्यने ये पांचो कारण अच्छी प्रकार से कहा है इस से तुम इसको सव्यक् प्रकार से जानो ॥ १३ ॥ सोई सर्वकर्म संपत्तिके विषय में कारण कहते हैं कि अधिष्ठान कहे शरीर औ कर्त्ता कहे चित औ जड़ की ग्रन्थि रूप अङ्गकार और भिन्न भिन्न अनेक प्रकार करण स्वरूप चक्षु आदि इन्द्रिय और विविध कहे कार्य से या स्वरूप से भिन्न भिन्न चेष्टा अर्थात् प्राण अपानादि वायु के व्यापार समूह और अन्न कहे अधिष्ठान शरीर आदि सब के मध्य में पञ्चम स्वरूप दैव अन्तर्यामी सर्वनियन्ता अथवा चक्षु आदि इन्द्रियों के अनुकूलकारी सूर्य आदि देवता जानो इहां चित्तका अर्थ ज्ञान है ॥ १४ ॥ इही पांचों को सर्व्य कर्म में कारणात्व कहते हैं कि इही पांचों के कारण से आरम्भ किये जाते जो कर्म सकल तिनको शरीरादि में अन्तर्गत कहे मानिके इस श्लोक में कहा है कि जिस हेतु कर्ममात्र जो शारीरिक औ वाचनिक तथा मानसिक होते हैं यह प्रसिद्ध है औ श्लोक का अर्थ यह है कि शरीर वचन औ मन के द्वारा सब मनुष्य जो कोई धर्म या अधर्म करते हैं सोई सकल कर्मके कारण है येई अधिष्ठान कहे शरीर आदि पांच कर्मोंके हेतु हैं ॥ १५ ॥ तो इससे फेरि क्या होता है इस अपेक्षा पर कहते हैं कि उन कर्मों को हेतु जो अधिष्ठानादि पांचमात्र है और कोईहेतु नहीं है सो होनेसेभी शास्त्र औ आचार्य के उपदेशसे नहीं शोषी गई बुद्धि इस कारणसे जो दुर्भ्रति मनुष्य उपाध रहित असङ्गरूप आत्माको कर्त्तारूप देखते हैं इस से ये दुर्भ्रति मनुष्य

यस्य नाहं हतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । हत्वापि सद्मं ह्योक्तान् हन्ति न निबध्यते ॥१७॥
 ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता विविधा कर्म चोदना । करणं कर्म कर्त्तृति विविधः कर्मसंग्रहः ॥

भाषा अनुवाद

दर्शी नहीं हैं ॥ १६ ॥ जिस को कर्मलेप नहीं है ऐसा सुमति कौन है इस अपेक्षा से कहते हैं कि मैंने यह कर्म किया और मैं कर्त्ता हूँ ऐसी वासना जिसके नहीं है अथवा शरीर औ इन्द्रिमात्र को कर्त्तृत्व देखने से अहंकार, स्वभाव रूप कर्त्तृत्व का भी लेश जिसको नहीं है इस हेतु से जिसकी बुद्धि, इष्ट, अनिष्ट विचार से सकल कर्म में आसक्त नहीं होती है ऐसा जो देहादि से भिन्न रूप आत्मा दर्शी पुरुष प्राणियों को लोक दृष्टि से हनन करके भी सबसे अभिन्न रूप आत्मदृष्टि हेतु से किसीका भी हनन नहीं करता है और कर्मफल से बन्धनको नहीं पावता है सन्तुष्टि के द्वारा अपरोक्ष कहे प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न हेतु से निष्कास कर्मके द्वारा उसको बन्धनकी शृङ्गा और बाकी क्या है यह ५ अध्याय के १० श्लोक में कह चुके हैं कि जो कर्म फल की आशक्ति छोड़ भगवद्दर्पण पूर्वक कर्मका अनुष्ठान करते हैं ते मनुष्य जलके बीच बर्तमान प्रज्ञपन्न के समान पुण्य प्राप समस्त कर्म से चलता रहते लिप्त नहीं होते हैं ॥१७॥ कर्म में अभिनिवेश जो इच्छा औ आशक्ति कहे तनमन से लगे रहना इन दोनों से रहित पुरुष हनन करके भी हनन नहीं करते औ बंधन को प्राप्त होते इस पूर्वोक्त वाक्यमात्र के कहने के लिये कर्मकी विधि है औ कर्म-यथे कहे कल्याण कर है और कर्मफल आदि सबको तिरुणात्मकत्व हेतु से गुणातीत जो आत्मा तिसको इस कर्मविधि आदिके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है इस कहने की अभिप्राय से कर्म विधि औ कर्म यथे कहते हैं कि ज्ञान कहे यही इष्टका साधन है ऐसा जो बोध औ ज्ञेय कहे इष्ट के साधन स्वरूप जो कर्म और परिज्ञाता कहे ऐसे ज्ञानका आश्रय भूत जो मनुष्य यही त्रिविध कर्मविधि कहे प्रेरणा है अर्थात् इसी प्रेरणा से लोग कर्म में प्रवृत्त होते हैं जो कार्य यह है कि कर्मविषयक जो विधि सो उक्तारूप तिरुणात्मक ज्ञान आदि को अवलम्बन करके प्रवृत्त होती है यह दूसरे अध्याय के ४५ श्लोक में कहा है कि

१८॥ ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च विधैव गुणभेदतः । प्रोच्यते गुणसंस्थाने यथा वच्छृणुतान्यपि
॥ १९ ॥ सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्ष्यते । अविभक्तं विभक्तेषु तन् ज्ञानं विद्विषा
त्त्विकं ॥ २० ॥ पृथक्त्वेन ह्यव्ययं ज्ञानं नाना भावान् पृथग्विधान् । वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तन् ज्ञानं
न विद्विराजसं ॥ २१ ॥ यत्तु यत्तु सत्त्वदेकस्मिन् कार्ये सत्तम हैतुकं । अतत्पार्थ वदस्व

भाषा अनुवाद

हे अर्जुन त्रिगुणात्मक सकाम अधिकारीके सम्बन्धसे फल सम्बन्ध वेद मे कहा है
और कारण कहे सावन ओ कर्मकहे कर्त्ताकी अत्यन्त इच्छा की अधिक ईसे किया
जाय जो व्यापार और कर्त्ता कहे कियाका करने द्वारा और सब कर्म सम्पूर्ण
रूप से इसी मे गृहीत होते है इस अर्थके सूचन करनेवाले पदको कर्मसंग्रह
कहते हैं कारण कर्म कर्त्तारूप तीन कारक ये क्रियाके आश्रय हैं और सम्प्रदान
प्रदादान और अधिकरण ये तीन केवल परस्पर आक्रमण से क्रिया के प्रवर्त्तक
हैं साक्षात् क्रियाके आश्रय स्वरूप नहीं हैं इसीसे पूर्वोक्त तीन कारणोंको
त्रया के आश्रय स्वरूप कहा है ॥ १८ ॥ अब क्रिया कारक और फल को
गुणात्मता से सत्त्व रज तम छत विविध भेद कहा चाहते है इस अपेक्षा पर
कहते हैं कि इसीमे गुण कार्य भेदसे सम्पूर्ण अतिपादन करके कहते हैं इस अर्थका
सूचन करनेवाला संस्थान कहे सांख्यशास्त्र तिस मे सात्त्विक आदि गुणभेद क्रमसे
तथा कार्य के द्वारा ज्ञान और कर्त्ता तथा कर्त्ता ये प्रत्येक विविध स्वरूप कहे
गये है सोई मैं यथावत् कहता हूं तिन को भी तुम श्रवण करो ॥ १९ ॥
[स श्लोक से लेकर तीन श्लोक से इस ज्ञानका सात्त्विक आदि भेद से तीन प्रकार
कहते है कि ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त परस्पर भिन्न भिन्न सकल वस्तु मे प्राप्त एक
निर्विकार स्वरूप अव्यय परमात्मतत्त्व का जिस ज्ञान से आलोचन किया जाय
उस ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान तुम जानो ॥ २० ॥ इस श्लोक मे राजस ज्ञान कहते है
कि भूत कहे देहधारीभाव मे नाना भाव अर्थात् सब की शरीर मे क्षेत्रज्ञ आत्मा
स्थक् स्थक् सुखी दुखी रूप से भिन्न भिन्न भी जाना जाय जिस ज्ञान से सो ज्ञान
राजस जानो ॥ २१ ॥ तामसज्ञान कहते हैं कि एक कार्य मे अर्थात् स्थूल शरीर
मे अथवा प्रतिमा आदि मे सक्त कहे शरीर ही आत्मा यौ प्रतिमा ही ईश्वर है

श्रुततामससुदाहृतं ॥२२॥ नियतं स ह्यरहितमरागहेयतः कृतं । अफलप्रेप्सुना
 कर्मयत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥ यत्तु कामेप्सुना कर्मसाहङ्कारेण वा पुनः । क्रिय
 ते वैज्रलाया संतद्राजसुदाहृतं ॥२४॥ अनुबंधं च यं हिंसा मनोऽप्येव च पौरुषं । भो
 जादारब्धते कर्मयत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥ सुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्वुत्साहसमन्वितः ।
 सिद्धसिद्धोर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥ रागी कर्म्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हि

भाषा अनुवाद

ऐसे निश्चय से युक्त और अहेतुक कहे युक्तिविषय और परमार्थ अवलम्बन रहित
 जो ज्ञान उक्त कारणों से अल्प विषय अल्प फल हेतु से उत्पन्न है उस
 ज्ञान को शिष्टजनो ने तामसरूप निरूपण किया है ॥२२॥ अब इस
 श्लोक से ले तीन श्लोक के द्वारा सकल कर्म को विविध कहते हैं कि
 फलप्राप्ति की इच्छा करते हैं ऐसे जो फल के लोभी जनो से किये जाते
 हैं उन से भिन्नरूप निष्काम कर्म के अनुष्ठान करने वालों से नियत कहे
 नित्यरूप से विहित और अभिनिवेश आशक्ति शून्य जो कर्म किये जायें और
 जो पुत्र आदि के प्रीत्यर्थ अथवा शत्रु पर क्रोध क्रम से किये न जायें ऐसे कर्म
 सात्त्विक हैं ॥२३॥ और कर्मफल प्राप्ति का इच्छुक अथवा अहङ्कारी कहे
 जो अपने समान और जो नहीं मानता है ऐसे अहङ्कारयुक्त मनुष्य से किये गये
 अथवा जो कर्म अति श्रेष्ठयुक्त होय उन्हीं को शिष्टजन राजस स्वरूप कहते
 हैं ॥२४॥ अब तामस कर्म कहते हैं कि पश्चात् वन्धकारै ऐसे अनुबन्ध कहे
 पश्चात्तत्मावीर्युभ अशुभ और धनव्यय तथा अपनी सामर्थ्य न विचारिके केवल मोह
 से जो कर्म आरम्भ किये जाय वे ई तामस कर्म हैं ॥२५॥ इस श्लोक से ले तीन
 श्लोक से कर्मकर्त्ता सब को विविध करके कहते हैं कि कर्म अनुष्ठार्ई पुरुष कर्त्तव्य
 अभिनिवेश बुद्धि रहित और गर्ववचन रहित और वैयै उत्साह जो उद्यम इन दोनों
 के द्वारा युक्त समस्त कर्म मे सिद्धि असिद्धि को अपेक्षा हर्ष विषाद शून्य होय ऐसे
 कर्त्ता पुरुषों की सात्त्विक स्वभाव कहते हैं ॥२६॥ और पुत्र आदि के लोभयुक्त
 और कर्मफल का कामी और परधन का अभिलाषी और निर्दय स्वभाव और शौच
 रहित और हानि लाभ मे शोक हर्षयुक्त कर्मकारी मनुष्य राजस स्वरूप कहे राजो

सात्मकोऽयुचिः । हर्षशोकान्वित कत्तराज्ञासं परिकीर्तितः ॥२७॥ अयुक्तः प्रा
द्यतः सुखः शठो नैष्कृतिकोऽलसः । विपादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥२८॥
बुद्धेर्भेदं धृतेर्यैव गुणतस्त्रिविधं ग्रहणम् । प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥ २९ ॥
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च कार्यकार्यभयामये । धर्मोच्चैश्च यावेत्तिबुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥
यथा धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाकार्यमेव च । अथ यावत्प्रज्ञानातिबुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥
अधर्मधर्ममिति ब्राम्हण्यते तमसा वृता । सर्वार्थानुधी

भाषा अनुवाद

गुणी है ॥२७॥ और अयुक्त कहे असावधान और प्राकृत कहे विवेक रहित और सुख अनन्त स्वभाव और शठ कहे कर्मचोर और नैष्कृतिक कहे परका अपमान करनेवाला तथा आलसी और विपाद या सदा शोभी और दीर्घसूत्री कहे जो कर्म तुरंत करने का होय उसे महीनो तक टाले जैसे मनुष्य तामस कर्त्ता कहावते है जैसे ही कर्त्ता की वैविध्य से ज्ञाता भी तीन प्रकार के है और कर्म की वैविध्य से ज्ञेय सात्विकी वैविध्य कहा और बुद्धि त्रिविध कहने से कारण भी तीन प्रकार के है ॥ २८ ॥ अब बुद्धि और धृति कहे धैर्य की वैविध्य कहने की प्रतिज्ञा करते है कि हे धनञ्जय अर्जुन बुद्धि के और धैर्य के सत्व आदि गुण क्रम से तीन भेद जो है उन को मैं भिन्न भिन्न कहता हूं तुम सावधान होय सुनो ॥२९॥ अब इस श्लोक से ले तीन श्लोक से बुद्धि की वैविध्य कहते है कि धर्म मे प्रवृत्ति और अधर्म से निवृत्ति और देश काल के अनुसार जो कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य कर्म और काल अकाल जानि अर्थ अनर्थ ज्ञान तथा वन्य ही कैसे और मोक्ष ही वा कैसे हातो इस विचार से भय अभय ये सब बुद्धि कहे अन्तःकरण जानि शक है ऐसी बुद्धि सात्विकी है इस जगह बुद्धि के द्वारा पुरुष सवजानता है यह कहने को ये परवह रीति छोड़ इसी तरह परकहा कारण को कर्त्ता करके कहा है ॥३०॥ और हे पार्थ अर्जुन जिस बुद्धि से धर्म अधर्म और काल प्रकाज अथवा वत् कहे ठीक ठीक न जाना जाय जिससे सो बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥ और तमोगुण से आहत कहे घेरी जो बुद्धि अधर्म को भी जानि धर्म के सुकन विषय को विपरीत कहे उलटा जानै ऐसी विपरीत ग्रहण करनेवाली बुद्धि तामसी है यहां भी करणता बुद्धि की उचित थी पर कर्त्तारूप से कहा है अथवा धर्म

परिताञ्जबुद्धि सापार्थतामसी ॥ ३२ ॥ धृत्यायमाधरयते मनः प्राणोन्द्रियक्रिया ।
योगेनाव्यभिचारिण्याधृतिः सापार्थसात्त्विकी ॥ ३३ ॥ यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धा-
रयतेऽर्जुन । प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सापार्थराजसी ॥ ३४ ॥ यया सुखं भयं शोकं
विषादं मदमेव च । न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सातामसीमता ॥ ३५ ॥ सुखं त्विदानीं
विविधं शृणु मे मरतर्पणम् । अग्न्यासाद्रभते यत्तदुःखान्तञ्च निगच्छति ॥ ३६ ॥ तदग्रे
विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् । तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तं भास्वद्विप्रसादकम् ॥ ३७ ॥

भाषा अनुवाद

अन्तःकरण की धृति बुद्धि औ निश्चय तथा इच्छा द्वेष आदि रूप अन्तःकरण की
धृति वज्रत रहते भी धर्म अधर्म औ भय अभय की साधनरूप बुद्धि को प्रधान
क्रिया है और सब उपलक्षणरूपसे विविध कहे गये हैं ॥ ३२ ॥ अब इस श्लोक को
अवधितर तीन श्लोकसे धृतिको वैविध्य कहते हैं कि हे अर्जुन योग कहे जिस की
एकाग्रता से और और विषय का धारण न करके जो धैर्यसे मन औ प्राण तथा
सब इन्द्रियों की सकल क्रिया की ऊई जाय वही धृति सतोयुगी है ॥ ३३ ॥ अब
राजसी धृति कहते हैं कि हे अर्जुन तिससे भिन्न जा धृति कि जिस से धर्म धर्म
औ क्लान सब येष्ठरूप से धारण किये जाय परित्यक्त न होय और उन के समुप
से धर्म, दि के फल की आकांक्षी भी होय ऐसी धृति का नाम राजसी है ॥ ३४ ॥
अब तामसी धृति कहते हैं कि हे अर्जुन जिस मनुष्य को दुर्मेधा कहे अविवेकिनी
नीच बुद्धि है और वह दुर्बुद्धि मनुष्य जिस धृति कहे धैर्य से निद्रा औ भय शोक
तथा विषाद कहे दुःख औ मद इनको नहीं छोड़ता है वह धृति तामसी है ॥ ३५ ॥
अब सुख भी तीन प्रकार का है यह प्रतिज्ञा पाधे श्लोक से कहते हैं कि हे मरत
वंशी अर्जुन अब विविध सुख भी हम से सुनो कि जो पुरुष नित्य अग्न्यास के जेत
से सुखभोग करता है और विषयी लोगों के समान विषय वासना से अति हठ
धर करके सुख नहीं करता औ भीति को नहीं प्राप्त होता है वैसा जो सुख
भोगी पुरुष सो हठात्तन के अन्तर्का प्राप्त होता अर्थात् दुःखसे छूट जाता है ॥ ३६ ॥
और वह सुख कैसा है इस पर कहते हैं कि जो सुख अग्रे कहे प्रथम विषय के लक्ष
है औ अन्त को अष्टतः समान होता है वह सुख सात्त्विक है और आत्मा तथा

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽस्त्युपमं । परिष्णामेविप्रमिवतत्सुखं राजसंस्मृतं ॥ ३८ ॥
यदग्रेचानुबन्धेचसुखं मोहनात्मनः । निद्रालसप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतं ॥ ३९ ॥
नतर्दक्षिण्यव्यावादि विदेवेषु वा पुनः । सत्त्वं प्रकृतिर्जैर्मुक्तं यदेभिः स्थाविर्भिर्गुणैः ॥
४० ॥ ब्राह्मणक्षत्रियविशामुद्राणाञ्च परन्तप । कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवै

भाषा अनुवाद

बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न है अर्थात् मलरूप रजोगुण तिनको तमोगुण सतो गुण दूर करे है तब वह सुख प्रगट है ॥ ३७ ॥ अब राजस सुख कहते हैं कि विषय वासना सहित इन्द्रियों के संयोग से जो प्रिय सङ्गम आदि सुख होता है और पहिले तो अमृत मूल्य लगता है औ अन्त को दुख दाई जेत से विष समान होता सोई सुख राजस है ॥ ३८ ॥ तामस सुख कहते हैं कि अग्रे कहे पहिले और अनुबंध कहे पीछे भी जो सुख मोहकारी विशेष से निद्रा औ आलस तथा प्रमाद कहे चित्त की असावधानी औ मन की जडता से जो सुख होय है सोई तामस सुख है ॥ ३९ ॥ अब जो पूर्व अध्यायों में कहीं नहीं कहा सो इस लोक से जे तीन लोक से कहते हैं कि इन सतोगुण आदि प्रकृति के गुणों से मुक्त अर्थात् कूटा ऊआ सत्त्व आदि कहे प्राणीभाव नहीं है अथवा और कोई वस्तु क्या पृथिवी में मनुष्य आदि क्या स्वर्ग में देवता आदिमें भी कोई नहीं है ॥ ४० ॥ जो समस्त क्रिया औ कारक कहे क्रियों के साधन तथा फल आदि औ प्राणीभाव सब भी विगुणात्मक कहे विगुणमय भये हैं तो इन लोगों की मुक्ति कैसे वटै कहे होय सकै है इस प्रश्न निवारण के अर्थ अपने अपने अधिकार अनुसार कर्म अनुष्ठान के द्वारा भगवत आराधन से भई ऊई भगवत की कृपा प्राप्ति से प्रगट जो तत्त्वज्ञान तिसके द्वारा ही जो मुक्ति होयगी वह जो सब गीता का सारसंग्रह है सो देखावनेका मानसकारके इसलोकसे जे अध्यायसमाप्ति पर्यन्त प्रकारान्तर कहे दूसरी रीत कहने का आरम्भ करते हैं कि हे परन्तर यदुनांशक अर्जुन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य औ शूद्र इन के कर्म प्रविभक्त कहे प्रकट रूप से भिन्न भिन्न विहित हैं और द्विज पद से शास्त्र में ब्राह्मण आदि तीन वर्ण कहे जाते हैं इस से शूद्र को अलग करके कहा है सोई लक्ष्य कहते हैं कि स्वभाव कहे सतोगुण

गुरुयै ॥ ४१ ॥ शमोदमस्तपःशौचं क्षान्तिरार्जवमेव च । ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म
कर्मसु भावजं ॥ ४२ ॥ शौर्यं ते जो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाथ पलायनं । दानमीश्वरभाव
सच्चक्रकर्मसु भावजं ॥ ४३ ॥ क्षपिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्वकर्मसु भावजं । परिचर्या

भाषा अनुवाद

आदि जिनसे सबका प्रभव कहे उत्पत्ति है उन्हींके अनुसार ब्राह्मण आदिके कर्म
एक एक विहित है अथवा स्वभाव कहे पूर्व जन्मका, संस्कार उसके अनुसार जो
ब्राह्मण आदि की गुणक्रम से कर्मों में प्रवृत्ति है विशेष यह कि ब्राह्मण सतोगुण
प्रधान है और क्षत्रिय कुछ सतोगुण सहित रजोगुण प्रधान है और वैश्य कुछ
सतोगुण तमोगुण ले कर रजोगुण प्रधान है और शूद्र कुछ रजोगुण युक्त
तमोगुण प्रधान है यह जानो ॥ ४१ ॥ तो वे स्वाभाविक कौन कर्म हैं सोई
कहते हैं कि शम कहे चित्त की शान्ति और दम कहे बाह्य इन्द्रियों की शान्ति
और तप जो १७ अध्याय के १४ श्लोक में शरीर की तपस्या कहा है तथा शौच
अर्थात् बाहर भीतर की शुद्धि और क्षान्ति कहे क्षमा आर्जव कहे, सोपापन और
ज्ञान कहे शास्त्र के अर्थ का बोध और विज्ञान कहे अनुभव तथा आस्तिक्य कहे
परलोक है ऐसी निश्चय रूप बुद्धि ये सब ब्राह्मणों के स्वभाव सिद्ध कर्म हैं सो
जानो ॥ ४२ ॥ अब क्षत्रिय के स्वभाव जो कर्म उनको कहते हैं कि शौर्य
कहे पराक्रम और तेज कहे ठोठापन धृति कहे धैर्य और दाक्ष्य कहे निपुणता
और संग्राम ज्ञान पढ़ने में पीठिड़े न भागना तथा दान कहे उदारता और ईश्वर
भाव अर्थात् विषय सम्पत्ती नियम आदि करने की शक्ति ये सब क्षत्रियों के
स्वभाव ही से उत्पन्न कर्म हैं ॥ ४३ ॥ अब वैश्य के स्वभाव जो कहे स्वभाव सिद्ध
कर्म कहते हैं कि क्षपि कहे खेती और गोरक्षा सो दो प्रकार की है एक तो
गच्छा रक्षण दूसरा अपने आश्रितका पालन करना और वाणिज्य व्यापार खरी
दना बेचना तथा ब्राह्मण देवता में यज्ञ रखना ये सब वैश्ववंश के स्वाभाविक कर्म
हैं अब शूद्र का कर्म सुनो कि इन तीनों वर्णों की सेवारूप व्यापार शूद्रका स्वभा
वज कर्म है शूद्र को सेवा छोड़ और कर्म नहीं है ॥ ४४ ॥ ब्राह्मण आदि
वर्णों के इन सब कर्मों को ज्ञान का हेतुत्व कहते हैं कि अपने अपने अधिकार

तत्कर्मशूद्रस्यापि स्वभावजं ॥ ४४ ॥ स्वस्वकर्मस्वभिरतः संसिद्धिं लभते नरः । 'स्व
कर्मनिरतः सिद्धिं यथाविन्दति वच्छृणु ॥ ४५ ॥ यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमस्यैर्च्यं सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥ येषां स्वधर्मा विगुणः परधर्मात्स्व
नुष्ठितात् । स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषं ॥ ४७ ॥ सहजं कर्म कौन्तेय

भाषा अनुवाद

के अनुसार विहित कर्म में निरत कहे निष्ठा से लगे ऊँचे मनुष्य संसिद्ध कहे
ज्ञान की योग्यता लाभ करते हैं और कर्म के द्वारा ज्ञान प्राप्ति की प्रकार इस
श्लोक के आशे से ले डेठ श्लोक से कहते हैं कि अपने कर्म से सब तरह निष्ठायुक्त
पुरुष जिस प्रकार से तत्त्वज्ञान लाभ करते हैं सो प्रकार तुम व्यवहार करो ॥ ४५ ॥
अब कर्म से ज्ञान प्राप्ति का प्रकार कहते हैं कि अन्तर्यामी रूप जो परमेश्वर
कि जिस से प्राणी मात्त चेटा करते हैं और कारण स्वरूप जो ईश्वर कि जिस
ईश्वर से यह समस्त जगत व्याप्त है उस ईश्वर को समस्त कर्म के द्वारा अभ्यर्थ्य
कहे पूजन करके मनुष्य सम्पूर्ण ज्ञान की योग्यता रूप सिद्धि को प्राप्त होते हैं
॥ ४६ ॥ और पूर्व श्लोक में कहा जो स्वकर्मणा तमस्यैर्च्यं उसी स्वकर्म विशेषण
वचन का फल कहते हैं कि खानुष्ठित कहे अच्छी तरह से किये ऊँचे पराये के
धर्म की अपेक्षा से स्वधर्म कहे अपना धर्म विगुण अर्थात् अङ्गहीन भी अथ
कहे अति उत्तम है इस हेतु वन्धुवध आदि से युक्त भी क्षत्रियों का धर्म जो युद्ध
तिस से भिक्षाटन स्वरूप पर धर्म देख नहीं है और पूर्वोक्त स्वभाव क्रम
में नियत कहे नियम स्वरूप शास्त्रोक्त स्वधर्म का अनुष्ठान वर्त्ता ऊँचा कोई
भी पुरुष किल्बिष जो पाप तिस को नहीं प्राप्त होता है सो अर्जुन तुम
किस विचार के बखेड़े में पड़े हो अपने कामको देखो इस चिन्ता से कुछ फल
नहीं है ॥ ४७ ॥ परन्तु स्वधर्म में जो साम्यमत के अनुसार हिंसा को दोष
रूप ज्ञान के औ अहिंसा हेतु से परधर्म येठ जो विचार करो तो परधर्म
के आचरण में भी दोष है इस अभिप्राय पर कहते हैं कि हे कौन्तेय अर्जुन
मनुष्यों को सहज कहे स्वभावसिद्ध औ शास्त्रविहित जो स्वधर्म सो दोषयुक्त
होने से भी त्याग करने योग्य नहीं है क्योंकि समस्त आरम्भ अर्थात् दृष्ट अदृष्ट

सदोपमपिनत्यजेत् । सर्वारम्भाहिदोषेषधूमेनाग्निरिवानृता ॥ ४८ ॥ असक्त
बुद्धिः सर्वत्रजितात्माविगतसंशुद्धः । नैष्कर्म्यसिद्धिंपरमांसंन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥
सिद्धिंप्राप्नोयथावत्क्षतथाप्रोतिनिबोधमे । समासेनैवकौन्तेयनिष्ठाज्ञानस्थयापरा ॥
॥ ५० ॥ बुद्ध्याविशुद्धयायुक्तोष्टत्वात्मानंनियम्यच । शब्दादिन्विषयांस्वक्कारागद्वेषौ

भाषा अनुवाद

कर्ममात्र सब दोषयुक्त है तो जैसे स्वाभाविक धूम से आहत अग्निको दोषयुक्त रहते भी लोग धूम रूप दोष परित्याग करके केवल अन्धकार और शीत वारण के अर्थ सेवन करते हैं तैसे ही स्वकर्मा भी दोष अंश को छोड़के शुद्ध अंश मात्र सत्त्वबुद्धिके अर्थ सेवन करने योग्य है सोई कहा कि हे अर्जुन सहज कहे स्वाभाविक दोषयुक्त भी अपना कर्म छोड़ना न चाहिये क्यों कि सब आरम्भ कहे कर्म सदोप है जैसे धूम दोष से युक्त अग्नि को कौन छोड़ देय है ॥ ४८ ॥ जो कहो कि दोष अंश छोड़ि के शुद्ध मात्र ही ग्रहण करि के कर्म किस प्रकार किये जाय सकेंगे इस अपेक्षा पर कहते हैं कि जिन की बुद्धि असक्त कहे आशक्ति रहित है और जितात्मा अर्थात् जो निरद्वन्द्व है और जिनकी इच्छा कर्म के फल से दूर होगई है ऐसे पुरुष सद्ग को आशक्ति और फल इन दोनों को भी छोड़कर इस अध्याय के नवम श्लोकसे कहे अनुसार आशक्ति और फल त्यागरूप संन्यासके द्वारा परम नैष्कर्म्य सिद्धि कहे सर्व कर्म निवृत्तिरूप जो सत्त्वशुद्धि से प्रायते हैं ॥ ४९ ॥ पूर्वोक्त ऐसे परमहंस पुरुष को ज्ञाननिष्ठाके क्रम से ब्रह्मभाव की प्राप्ति का प्रकार इस श्लोक से ले साठि के श्लोक तक कहते हैं कि हे कौन्तेय अर्जुन नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राय करके ज्ञानविषयक प्रवृत्तिनिष्ठा से जैसे पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होते हैं सो प्रकार संक्षेप से अवश्य करो अर्थात् ज्ञान की जो श्रेष्ठ निष्ठा है सो सुनो ॥ ५० ॥ सोई कहते हैं कि उक्त प्रकार कमसे पूर्वोक्त विशुद्धस्वरूप सात्त्विक बुद्धियुक्त पुरुष सात्त्विकी धृति से आत्मा कहे इस बुद्धि को नियम्य कहे नियम्य करके शब्द आदि सर्व विषय का त्याग करनेके अनन्तर और विषयप्रयुक्त राग द्वेषको भी दूर करके ब्रह्मभावको प्राप्त होते हैं इसश्लोकसे ले तीन श्लोकका अर्थ एकसाथ होता है ॥ ५१ ॥ विविक्त सेवी कहे पवित्र देशवासी और लब्धासी कहे परिमित आहारकारी होय

व्युदस्य च ॥५१॥ विविक्तसेवीलघाश्रीयतवाक्कायमानसः । ध्यानयोगपरोनित्यवैरा-
ग्यंसमुपायितः ॥५२॥ अहङ्कारं वलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहं । विमुच्य निर्ममः शा-
न्तो ब्रह्मभूयायै कल्पते ॥५३॥ ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मानो चित्तनिराकांक्षितः । समः सर्वेषु
भूतेषु मद्भक्तिं लभते परां ॥५४॥ मत्तया मामभिजानाति यावान्यथा स्मितस्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरं ॥५५॥ सर्वकर्मण्यपि सदा कुर्वाणो मद्यथायः

भाषा अनुवाद

और इन उपायों से यत वाक् काय मानस अर्थात् वचन देह और मन को वश
करके सदा ध्यान क्रम से जो योग कहे अविद्या अज्ञान निवृत्तिरूप ब्रह्म साक्षात्
कार तिसमे तत्पर होय अपने ध्यान के अविच्छेद के लिये सम्पूर्णरूप से बारबार
दृढ वैराग्य का आश्रय लेकर ॥५२॥ और अहङ्कार औ वल कहे निद्वयस्तु की
इच्छा औ दर्प कहे योगवल से आकाश गमनरूप आदि मायामे प्रवृत्ति और मार
व्यवशते अप्राप्य वस्तु मे जो काम क्रोध का रोकना और अदृष्टवशते हठात् प्राप्त
यस्तु मे भी समता रहित होके शान्ति को प्राप्त पुरुष ब्रह्म के साथ समता अर्थात्
अहं ब्रह्म ऐसा अचलरूप अवस्थान करनेके योग्य है ॥५३॥ अहं ब्रह्म ऐसी निद्वय
रूप अवस्थिति का फल कहते है कि ब्रह्मभूत कहे ब्रह्मभाव को प्राप्त प्रसन्न चित्त
पुरुष देह आदिमे अभिमानके अभावसे नष्ट जो संसारीविषय तिनका शोध नहीं
करते है और अप्राप्त विषय की भी आकांक्षा नहीं करते इसी से रागद्वेषादिद्वय
विक्षेप के अभाव से मृतमाय मे समभावयुक्त होने के अनन्तर सकल प्राणीयों मे
मद्भावरूप जो मेरी उत्तमभक्ति तिसको प्राप्त होते है ॥५४॥ तिसके अनन्तर वही
उत्तम भक्तिके द्वारा हम को यथार्थरूपसे जानते है और मैं कैसा हूं इस अपेक्षा
पर कहते है कि जिस रूप से हम सर्वव्यापी औ अनचिदानन्दस्वरूप हैं तैसा हम
को जानते है और तिस के अनन्तर हम को ऐसे यथार्थरूप से जानि के फेर
उस ज्ञान के उपर कहे शान्त होने पर हमारे ही मे प्रवेश करते अर्थात् परमा
नन्दस्वरूप होते है ॥५५॥ अपने अधिकार के अनुसार कर्मके क्रमसे भगवत की
आराधना हेतु से कहा जो सुक्ति का प्रकार सो कहते है कि नित्य औ नैमित्तिक
पूर्व कहे ज्ये सर्व कर्मका निरन्तर अनुष्ठानकारी और मत् व्याप्राश्रय कहे जिस

मत्प्रसादाद्वाप्नोति शान्तं पदमव्ययं ॥५६॥ चेतसा सर्वकर्मणि मति संत्यक्त मत्परः ।
बुद्धियोगमुपायित्यमश्नित्तं सततमव ॥५७॥ मश्नित्तं सर्वदुर्गतिं सत्प्रसादात्तरिष्य
सि । अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न शोषसि विनत्यसि ॥५८॥ यदहङ्कारभासित्वमनयोत्
स्य इति मन्यसे । मिथैव व्यवसायस्य प्रकृतिस्त्वं नियोच्यति ॥५९॥ स्वभावजेन कौन्ते

भाषा अनुवाद

के मैं ही आश्रयणीय हूँ और स्वर्ग आदि फल आश्रयणीय नहीं है ऐसे पुरुष मेरी अनुग्रह से सास्वत अर्थात् अनादि औ अव्यय कहे नित्य जो सर्व छेद ब्रह्मपद तिसको प्राप्त होते हैं ॥ ५६ ॥ जिस हेतु नित्य आदि कर्म के अनुष्ठान से ब्रह्म प्राप्ति होती है इस से सर्व कर्म बुद्धि के द्वारा हम को समर्पण करि के मत्पर कहे मही है परम प्रार्थनीय प्राथ परम पुरुषार्थ सर्वस्वरूप जिस के अथवा व्यवसायात्मिका बुद्धि के कर्मयोग को आश्रय कर के सतत कहे कर्म अनुष्ठान काल में भी मद्गतचित्तपुरुष ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाजतं इस ४ अध्यायके २४ श्लोक से कहे ज्ञेय ज्ञानके द्वारा मेरे मे चित्त समर्पित होता है सो हे अर्जुन तू म बुद्धियोग से तद्रूप समचित्त होउ ॥ ५७ ॥ और समचित्त होने से जो होगा सो सुनो तात्पर्य यह कि सद्गतचित्त जो के मेरी छपा से तावत दुर्ग अर्थात् दुस्तर सांसारिक दुख समूह से तरि जावगे और इस के विपरीत आचरण मे दोष कहते हैं कि और जो इस प्रकार कहने पर भी तू अपने अहंकार अर्थात् हम बडे ज्ञानी इस अभिमानसे हमारे कहने पर कान न करोगे तो पुरुष को उचित औ हित करनेवाला जो धर्म तिस से भट होउगे अर्थात् विनष्ट हो जावगे औ दुर्गति भी भोगना पड़ेगा ॥५८॥ और जो कहो कि अच्छा हम धर्म से भट होय परन्तु तौ भी भाई और बन्धुओं के साथ युद्ध न करैगे तिस पर कहते हैं कि मेरी कही सब बातों को अनादर पूर्वक अहङ्कारके भरोसे जो कहो कि मैं युद्ध न करूंगा ऐसी जो तू मनमें निश्चय करते हो तो तुमारा यह निश्चय करना स्वाधीनता के अभाव हेतु से अर्थात् तू स्वाधीन नहीं हो इससे यह बात भिन्ना कहे झूठमूठ है सोई कहते हैं कि जो तुमारी प्रकृति कहे ज्वरी को रजोगुण की अधिकारी सो सुम को अवश्यही युद्धमें प्रवृत्त करेगी अन्त को भय मारोगे औ

यनिवद्धं येन कर्मणा । कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्कारिष्यस्व योऽपितत् ॥६०॥ ईश्वरः
सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । ध्यामयन् सर्वं भूतानि यन्त्वा रूढानि मा वया ॥६१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत । तत्प्रसादात्परांश्चानिं स्थानं प्राप्स्यसि प्राश्रितः ॥

भाषा अनुवाद

लड़ोगे और इस पीठने के पीठने से केवल जगत में दुर्ग्रह छोड़ और कुछ हाथ
लागना नहीं है यह जानो ॥५९॥ और हे कौन्तेय कुन्तीनन्दन अर्जुन स्वभाव कहे
जो पूर्व कर्मों का संस्कार जिससे रजोगुण विग्रिष्ट क्षत्री के जन्म को प्राप्त हो और
शूरता आदि गुण कर्म से निवद्ध कहे वशीभूत तुम मोह के मारे जो इस क्षण में युद्ध
कर्म करने की इच्छा नहीं करते हो पर इसके बाद अवश्य होय यही कर्म अवश्य ही
करोगे इसमें कुछ भी झूठ न मानो ॥६०॥ इससे पिछले दोनो लोक में सांख्य आदि
मतानुसारी मनुष्यों की प्रकृतिपारतन्त्र्य कहे स्वभावाधीनता कही गई अब दो लोक
से निज कहे अपना मत कहते हैं कि हे अर्जुन सकल भूतों के हृदय में नियामक
रूप में अन्तर्यामी ईश्वर स्थित कहते हैं तो किस प्रकार से ठिके हैं इस आकांक्षा
पर कहते हैं कि भूतमात्र को माया जो अपनी शक्ति तिस के जोर से समर कहे
उपस्थिति समस्त कर्मों में प्रवृत्त करावते भये उनसे ठिके हैं जैसे कठपुतली को खूब
घार बाजीगर लोग लोगों के सामने नचावै हैं अथवा यन्त्र कहे शरीर आरूढ़ कहे
जीव को समर करावते स्थिति करते हैं इस पर श्वेताश्वतर उपनिषद् के मन्त्र
का प्रमाण देते हैं कि एक स्वयं प्रकाश जो परमात्मा जो भूतों में निगूढ भाव से
स्थित और सर्वव्यापी सब का अन्तर्यामी और कर्मों का नियन्ता और भूतों का आधार
रूप और दृष्टा देखनेवाला और भूतमात्र को चेतनकारी अद्वितीय और गुणातीत है
और अन्तर्यामी जो बुद्धि में स्थिति करके बुद्धि का नियम करे है और जिस को
बुद्धि नहीं जानती और बुद्धि ही जिसकी उपाधि है सोई तुमारे भी आत्मा और अन्त
र्यामी तथा कैवल्यस्वरूप है ॥६१॥ जब कि ईश्वर ही सर्वभूतमात्र का प्रेरक है
और उसी की प्रेरणा से सकल कर्म प्राणी करते हैं तो फिर अपना पुरुषार्थ करना
क्या है इस अभिप्राय से कहते हैं कि जिस हेतु से जीवमात्र परमेश्वर के वशीभूत
हैं इससे हे भारत अर्जुन तुम अहङ्कार को परित्याग करके सत्यक प्रकार से

६२॥ इतितेजानमाख्यातं गुह्या गुह्यतरं मया । विष्टश्यैतदशेषेण यथेच्छं सितया कुर्व ।
 ॥६३॥ सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः । इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हि
 तं ॥६४॥ मन्मना भवमङ्गत्तो मया जीमानं मत्कुर्व । मामेवैश्वस्य सित्यं ते प्रतिजानेमि

भाषा अनुवाद

ईश्वर की शरण ग्रहण करो तदनन्तर तिनकी कृपासे परां कहे उत्तम शान्ति श्री परमेश्वर सञ्ज्वीनित्य जो स्थान सो पाओगे यह भगवाने अर्जुनसे कहा ॥६२॥ अब समस्त भगवद्गीता का अर्थ कहे तात्पर्य कहते हैं कि इस प्रकार से मैं ने दया कर के तुम को ज्ञान उपदेश दिया और सो ज्ञान कैसा है इस अपेक्षा से कहते हैं कि गुह्य कहे गोपन करने योग्य तथा मन्त्रयोग आदिसे भी जो ज्ञान गुह्यतर अति रहस्य है सोई मैंने कहा इससे तुम गीताशास्त्रको पहिले अच्छीतरह आलोचन कर के फेर तुमारी जैसी इच्छा होय तैसा करो भावार्थ यह कि इस गीता के अर्थको विचार करने से अवश्य ही तुमारा मोह निवृत्त हो जायगा यह भगवाने कहा ॥६३॥ अति गूढ अर्थ से युक्त जो गीताशास्त्र तिसकी सम्यक् आलोचना करने को असमर्थ जो अर्जुन तिनसे अनुग्रह करके भगवान आप ही गीताका सारसंग्रह रूप अर्थ करि इस श्लोकसे ले तीन श्लोकके द्वारा कहते हैं कि उस सब गोपनीयसेभी अति गुह्यतम जो हमारे वचन सो यद्यपि प्रसङ्ग प्रसङ्ग पर कहे भी गये है पर तौ भी फेर कहता हूँ सो तुम सुनो और बारबार कहने में हेतुकहतेहैं कि तुम हमारे दृढ कहे अत्यन्त प्रियहो इसीसे तुमारी प्रीति औहित के अर्थ फेरभी कऊंगा अथवा मेरी वाक्य को तुमने दृढ प्रमाण करके जाना और माना इससे तुम हमै अतिप्रिय हो तो फेरि तुमारेहितके जो वचनहैं सो कऊँगा ॥६४॥ अब समस्तहितोसे बढके परमहित क्याहै इस शङ्कापर कहनेको अङ्गीकार किये ऊये गीतार्थ सारको कहते हैं कि मन्मना कहे मत्चित्त होउ और मेरेही मङ्गल कहे आश्रित होउ औ मत्तयाजी कहे मेरेही पूजनकारी होउ और प्रीतिको नमस्कार करो इस प्रकार से वर्त्तमान रहने पर मेरी अनुग्रहसे प्राप्त तत्त्वज्ञानके द्वारा जो हम को प्राप्त होउगे इस में कुछ संशय न करो क्योंकि तुम हमारे प्रियपात्र हो सो इसपर तुमको सत्यप्रत्यय कहे प्रतीति जिसमे होय इससे हम तुम

योऽस्मिने ॥६५॥ सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्ष
यिष्यामि न युष्मज्जः ॥६६॥ इदं तेनातपस्कायनाभक्त्याय कदाचन । न चाशुभूपवेवाच्यं
न च मां योऽप्यसूयति ॥६७॥ य इमं परमं गुह्यं ब्रह्मोक्तं विधास्यति । भक्तिमयि परां
कृत्वा मामेवैव्यत्यसंशयः ॥६८॥ न च तस्मान्मनस्येषु कश्चिन्मो प्रियकृतमः । भवितान

भाषा अनुवाद

को प्रतिज्ञा करके कहते हैं ॥६५॥ पूर्व कही गृह्यतम बात से भी जो गृह्य कहे
गोपनीय सो कहते हैं कि हमारी भक्तिही से सकल सिद्धि होती है इस प्रकार
ब्रह्म विश्वास करिके विधि कहे प्रारब्ध औ वेद शास्त्र के विधान का भरोसा
छोड़ि एक हमारी ही शरण लेल अर्थात् मेरे कहे पर विश्वास करो तो ऐसे
हमारी शरणागत रूप में वर्तमान तुम्हारे कर्मयोग से जो फेरि और पाप
होंयगे ऐसा शोच न करना क्योंकि एक मेरे शरण में प्राप्त तुमको मैं यावत पाप
से उद्धार औ मुक्त करूंगा इस से शोक दूर करो और अपना काम देखो ॥६६॥
इस प्रकार से श्रीभगवत्गीता का तत्त्व अर्थ उपदेश करके अब गीता की संप्रदाय
रूप प्रवर्तन करने में अर्थात् दूसरे को उपदेश देने में नियम कहते हैं कि हे
अर्जुन इस गीताके अर्थ तत्त्व को तुम अतपस्क कहे स्वधर्म अनुष्ठान रहित मनुष्य
से न कहना और न कभी अभक्त कहे ईश्वर गुरु तथा ब्राह्मण की भक्ति विहीन
को कहना और अशुभूषु अर्थात् ब्राह्मण गुरु तथा ईश्वर की शुश्रूषा सेवा जो
नहीं करता अथवा गीता अध्याय करने की जिसको अनिच्छा होय ऐसे मनुष्यों
को भी कभी न कहियो और जो परमेश्वर स्वरूप हमारे से मनुष्य बुद्धि लाय
कर दोष आरोप करता ऊँचा निन्दा करै उसको भी तुमकभी न कहना यह तुम
से हम प्रत्युपकार चाहते हैं ॥६७॥ पूर्व कहे ऊँचे सब द्रव्यों से वर्जित भक्तजनों
को गीतार्थ के उपदेश करनेवाले पुरुषका फल कहते हैं कि जो यह परम गृह्य
गीतार्थ का उपदेश मेरे भक्तको करेगा सो मनुष्य मेरी पर कहे उत्तम भक्तिका
अधिकारी होयगा और तदनन्तर सो मनुष्य सर्व संशयसे रहित होय हमको प्राप्त
होयगा यह जानो ॥६८॥ तिसमे हे अर्जुन उपदेश करने औ संप्रदाय चलानेवाले
मनुष्यों के मध्य में मेरा भक्त गीता का उपदेशकारी जो है उसके समान और

चमेतस्मादन्यः प्रियतरो भवि ॥६६॥ अध्येष्यते च यद्दर्शनं सत्त्वादिभावयोः । ज्ञानय
ज्ञेन तेनाहमिदः स्यामि ते मे मतिः ॥७०॥ अह्वावाननसूयश्च भूयुषादपि मे नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभान् लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणां ॥७१॥ कश्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैका
ग्र्येण चेत्तसा । कश्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्तेष्वनञ्जय ॥७२॥ अर्जुन उवाच । नष्टो

भाषा अनुवाद

कोई भी नहीं मेरा अत्यन्त परितोष करनेवाला है और न होगा और इधिवी
मे उससे अधिक प्रिय हमारे और कोई नहीं है न होगा ॥ ६६ ॥ अब गीता
पाठ करने का फल कहते हैं कि जो मनुष्य हमारा और तुम्हारा यह धर्मयुक्त
संवाद नियम से पाठ करेगा सो पुरुष समस्त यज्ञों में येष्ट ज्ञानयज्ञ से हमारा
पूजन किया यह मेरी निश्चित बुद्धि है भावार्थ यह कि जो अर्थ न जानिकेभी जपके
समान गीता पढ़े तो उसके ओता हम उस पर प्रसन्न होते हैं ज्ञान अज्ञान किसी
तरह से हमको छारण करे पर हम उसके निकट अवश्य जायेंगे जैसे अजामिल
और व्याध आदिकों के निकट हम गये हैं ॥ ७० ॥ अब गीता अरण करने का फल
कहते हैं कि जो कोई अह्वा कहे विश्वास युक्त होय केवल गीता पाठ अवरण करे
और अनसूय कहे यह मनुष्य को जोरसे चिलाय के पढ़ता है अथवा अग्र्युद्ध
निकले तो इसे ठोकै ऐसे होय न देखै ऐसे मनुष्य तावत सकल पाप से मुक्त
होय अश्वमेध यज्ञ आदि कर्म करनेवाले जो लोक पावते हैं ये भी उसी लोक
को प्राप्त होंगे और जो अर्थयुक्त अति प्रीति पूर्वक अवरण करै तो वे जीवनमुक्त
हैं और अन्तको साक्षात् ब्रह्मस्वरूप होयेंगे इसमें कुछ सन्देह वाकोनही है ॥ ७१ ॥
जो सम्यक् प्रकार बोध तुमको न भया हो तो हम फिर भी तुमको उपदेश करेंगे
इस आशय से पूछते हैं कि हे पार्थ अर्जुन कहो तो मैंने जो कहा सो सब एकाग्र
चित्त होय तुमने सुना और हे धनञ्जय संमोह कहे तत्त्वज्ञान के विषय में अज्ञान
जनित तुमारी विपरीत बुद्धि नष्ट भई कि नहीं अर्थात् मेरे वचनों से अज्ञान
दूर गया कि नहीं यह भगवान ने पूछा ॥ ७२ ॥ तब तो भगवत् पूर्ण वाणी से
परम कृतार्थ होय अर्जुन कहते हैं कि हे प्रद्युम्न श्रीकृष्ण आपकी वाणी से अब
मेरा आत्मज्ञान के विषय में मोह नष्ट होगया और स्मृति जो ज्ञान सो पाया और

मोहः स्मृतिर्लब्धात्मसादान्मथान्युत । स्थितोऽस्मिगतसन्देहः करिष्येवचनंतव ॥ ७३ ॥
सञ्जय उवाच । इत्थं वासुदेवस्वपार्थस्वचमहात्मनः । सम्वादिमिममथौपमद्भुतं
लोमहृष्यम् ॥ ७४ ॥ व्यासप्रसादाद्भुतवानिमंगुल्यमहंपरं । योगयोगेश्वरात्कृ
प्यात्साक्षात्कथयतः स्वयं ॥ ७५ ॥ राजन्संस्मृत्यसंस्मृत्यसम्वादिमिममद्भुत । केशवा
र्जुनयोः पुण्यहृष्यामिचसुज्जर्मुज्जः ॥ ७६ ॥ तच्च संस्मृत्यसंस्मृत्यरूपमत्यद्भुतहरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामिचपुनः पुनः ॥ ७७ ॥ यवयोगेश्वरोः कृप्यो यत्र प्रार्थो व

भाषा अनुवाद

आत्मस्वरूपके अनुसन्धानमे स्थिति भई अर्थात् आत्मस्वरूपका ज्ञान मेरेको प्रकाश
भया और धर्मके विषयमे संदेह मेरे चित्तसे चली गई ऐसा जो मैझं सो अब आप
की आज्ञा प्रतिपालन करूँगा और युक्त करने के लिये तयार खड़ा हूँ जो आज्ञा
होय सो अब करूँ यह अर्जुन ने भगवान कहा ॥ ७३ ॥ सोई श्रीकृष्ण अर्जुन
का संवाद राजा धृतराष्ट्र से सञ्जय कहते हैं कि महात्मा वासुदेव औ अर्जुन
का यह अद्भुत संवाद रोना सहे करनेवाला मैने जो सुना सो आपको कह
सुनाया है ॥ ७४ ॥ अब सञ्जय यह दत्तान्त अपने खवण करने का समाचार
कहते हैं कि भगवान व्यासदेव ने हम को दिव्य चक्षु औ कर्ण दिया है कि उन्की
छपासे परम योगरूप जो परम शुद्ध अर्जुन के प्रति साक्षात् योगभावा के ईश्वर
श्रीकृष्णने आप अपने मुखसे कहा सो मैने खवण किया और आपके प्रति भी मैने
कहा ॥ ७५ ॥ सो हे महाराज धृतराष्ट्र यह परमपवित्र केशव औ अर्जुनका अद्भुत
संवाद स्मरणकरके मै बारबार हर्षितहोताहूँ अथवा बारबार मेरे रोम खडेहोते
हैं ॥ ७६ ॥ औ तत् शब्द से भगवान के विश्वरूप का निर्देश करते अर्थात् कहते
हैं कि हे महाराज धृतराष्ट्र हरि श्रीकृष्णके उस अद्भुत विश्वरूपका स्मरण करि
करिके हमको अत्यन्त विस्मय होती है अर्थात् आश्चर्य होता है और बारबार
रोमांच होता है ॥ ७७ ॥ इससे हे महाराज अब तुम अपने पुत्रों के राज्य लाभ
की प्रतीक्षा छोड़ परित्याग करो इस आशय पर कहते हैं कि जिसके पञ्च मे योगे
श्वर श्रीकृष्ण वर्त्तमान है और जहाँ गाण्डीव धनुर्हारी अर्जुन तयार है तहाँई श्री
कहे राजलक्ष्मी औ विजय तथा भूति कहे उत्तर उत्तर आभट्टि कहे बढ़ती औ

नुर्धर । तव श्रीर्विजयो मूर्तिर्धुवानीतिर्मतिर्मम ॥७८॥ इति अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

भाषा अनुवाद

नीति जो न्याय सोसव निश्चयकरके है ऐसी मेरी मति है इससे अब तम पुत्रों को साथ ले श्रीकृष्ण की शरण जायके औ पांडवों को अपना सर्वस्व दे प्रसन्नकरावते ऊँचे अपने पुत्रों की प्राण रक्षामात्र करो यह सञ्जयने धृतराष्ट्रको कहा समभाष के ॥७८॥ इति जगन्नाथसुकुलविरचित मनभावनीटीकायां अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

अति पावनि है अनपावन की नित आवनि गावन मे मन दीजे
तजि दावन प्राप परावन जो वैतापनशावनहं जियलीजे
भनरोग दुरावन ज्ञान वढावन सुति उपावन प्रतिदिन प्रीजे
कामिनके मन भामिनिज्यों मनभावनित्यों मनभावनि कीजे

ज्ञानरत्नाकरयन्त्रे यन्त्रिता समाप्ताचेयं श्रीमद्भगवद्गीता

॥ सम्बत् १६२४ वैशाख कृष्ण ३ ॥

अथ अङ्गन्यास करन्यासौ

ॐ श्रीगणेशाय नमः ॐ अस्य श्रीभगवद्गीतामालामन्त्रस्य श्रीभगवान्भेदव्यास
कृपिरनुष्टुप्छन्दः श्रीकृष्णः परमात्मादेवता अशोऽन्यन्यशोचस्वप्नप्रवादांश्च भाषस
इति बीजम् सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं भजेति शक्तिः अहंत्वासर्वपापेभ्यो मोक्ष
यिष्यामि माशुच इति कीलकं नैर्नक्षिन्दन्ति शस्त्राणि नैर्न दहति पावक इत्यंशुष्ठाभ्यां नमः
न चैर्न क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मासत इति तर्जनीभ्यां नमः अक्षेद्योयमदाह्योयमलो
द्योशोऽथ एष चेति मध्यमाभ्यां नमः नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इत्यनामिका
भ्यां नमः पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽसृष्टसृष्ट इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः नानाविधानि
द्रव्यानि गानावर्णास्त्रीनि चैतित्करतलकरष्टाभ्यां नमः इतिकरन्यासः नैर्नक्षिन्द
न्ति शस्त्राणीति हृदयांयनमः न चैर्न क्लेदयन्त्याप इति शिरसे स्वाहा अक्षेद्योयमदाह्यो
यमिति शिषायैव पटु नित्यः सर्वगतः स्थाणुरितिकवचाय ऊँ पश्य मे पार्थ रूपाणी विनेत

त्रयायवौषट् नानाविधानिदिव्यानीत्यस्त्रायफट् श्रीकृष्णप्रोत्थैजपेविनियोगः इति
 पङ्क्त्यासः अथध्यानम् उपाध्यायप्रतिबोधितामगवतानारायणेनस्त्रयं व्यासेन
 धितापुराणसुनिनामप्येमहाभारते अहैताव्यतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यासिनी
 भवत्वाभनसादधामिभगवद्गीतेभवहेपिणीम् १ नमोस्तुतेव्यासविद्यालुङ्गेफुल्लारवि
 न्दायतपततेव येनत्वयाभारततैलपूर्णः प्रख्यालितोज्ञानमयप्रदीपः २ प्रपन्नपारिजा
 ताय तो तपेवैकपाणये ज्ञानसुद्रायकृष्णाय गीताव्यतमहत्तमः ३ सर्वोपनिषदोगावोदो
 ग्धागोपालनन्दनः पार्थोवत्सःसुधीर्भोक्ता दुग्धंगीताव्यतमहत्तमः ४ यसुदेवसुतंदेवंकंसका
 शूरंमर्दनं देवकीपरमानन्दं कृष्णवन्देजगद्गुरुम् ५ भीष्माद्रोणतपाययद्रथजालागान्धा
 रनीलोत्पला शल्यग्राहवतीकृष्णवह्निनीकर्णेननेलाकुला अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा
 दुर्व्याधनावर्त्तनी सोत्तीर्णाखिलपाण्डवैः कुरुनदीकैवर्त्तकः केशवः ६ पाराशर्यवन्द्यः
 सरोजममलंगीतार्थगन्धोत्कटं नानाख्यामककेशरं हरिकयासम्बोधनाबोधितं लोके
 सज्जनपट्पदैरहहहःप्रेमियमानंसुदा भूयाद्भारतपङ्क्त्यंजलिमलप्रार्थितनः येयसे ७
 मूकं करोतिवाचालंपण्डुलद्वेयतेगिरियत्कृपातमहंवन्देपरमानन्दमाधवं ८ ग्रंथश्चावह
 णेन्द्रद्रुमरुतः सुतन्निदिद्व्यैस्तवैर्वैदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्तिर्यसामगाः ध्याना
 वस्थिततज्जतेनमसाप्रश्रन्तिर्ययोगिनो यस्यान्तन्निबुःसुरासुरगणादेवायतस्त्वेनमः ९

श्रीभगवद्गीतामाहात्म्यं ।

श्रीगणेशायनमः ऋषिरुवाच गीतायाश्चैवमाहात्म्यं यथावत्सूतमेवद पुराणसुनि
 नाप्रोक्तं व्यासेन सुनिनोदितम् १ सूतसवाच दृष्टंभवद्विद्वत्पिभिर्यद्विगोथ्यं पुरातनम्
 यद्यते केनवैवक्तुं गीतामाहात्म्यमुत्तमम् २ कृष्णो ज्ञानातिवैसम्यकं किञ्चित्कुन्तीसुतः
 फलम् व्यासोवाव्यासपुत्रोवायाश्च वक्तुं गोथमैविलः ३ अन्येथवरातः युत्वालेयंसंकीर्त्त
 यन्ति च तस्मात्किञ्चिद्दद्यात्तव्यासस्यास्त्रायवायुतम् ४ सर्वोपनिषदोगावोदोग्धा
 गोपालनन्दनः पार्थोवत्सःसुधीर्भोक्ता दुग्धंगीताव्यतमहत्तमः ५ सारथ्यमर्जुनस्यादौकुर्व
 न्गीताव्यतमहत्तमः लोकत्रयोपकारायतसौ कृष्णत्वेनेनमः ६ संसारसागरंघोरं तर्जुमि
 च्छति यो नरः गीतानायंसमासाद्य पारं याति सुखेनमः ७ गीताज्ञानं युतं नैव सदैवा
 व्यासयोगतः मोक्षमिच्छति मूढात्मा याति बालकहस्तताम् ८ येऽहं प्रतिपठन्ते वगी
 ताशास्त्रमहर्निशम् न ते वैमानुषाज्जोयादेव रूपानसंशयः ९ गीताज्ञानेन सम्बोधं

कृत्वा लभते सुक्तिमुत्तमं ६३ गीतेत्युच्चारसंयुक्तो विषयसाधो गतिं लभेत् यदा कर्मैव
 सर्वत्र गीतापाठप्रकीर्तिभूतः ६४ तत्तत्कर्मैव निर्दोषं भूत्वा पश्येत्समांशुयात् पितृनु
 हियुयः आदि गीतापाठं करोति च ६५ सन्तुष्टान् पितरस्तस्य निरयाद्यान्ति स्वर्गं गतिं गी
 तापाठेन सन्तुष्टाः पितरः आहुतर्पिताः ६६ पितृलोकं प्रयान्येव पुत्राश्चैव दत्तपराः
 गीतापुस्तकदानं च धेनुपुच्छैश्च मन्वितम् ६७ कृत्वा च तद्दिने सम्यक् कृतां धीर्जायते जनः
 पुस्तकं हेमसंयुक्तं गीतायाः शुद्धमानसः ६८ दत्वा विप्राय विदुषे जायते न पुनर्भवः यत
 पुस्तकदानेन च गीतायाः प्रकरोति यः ६९ स याति ब्रह्म सदनं पुनरावृत्तिदुर्लभम् गी
 तादानप्रभावेण संप्रकल्प्यार्थसमाः ७० विष्णुलोकमवाप्नोति विष्णुना सह मोदते स
 यः कथं तु त्वान्वगीतार्थं पुस्तकं यः प्रदापयेत् ७१ तस्मै प्रीतो हि भगवान् ददाति मनसि
 स्थितं देहं मानुषमायित्यं चार्जुन पुनरुत्तम ७२ नश्योति न पठति गीताम स तस्मि
 णीह स्तासां ज्ञात्वा स तं प्राप्नोति कदाचित् जेह स मनुते ७३ प्रीत्या गीताम तं लोके लब्ध्वा मोक्षं
 सुखी भवेत् जनैः संसारदुःखतैर्गीताज्ञानं च यैः युतम् ७४ संप्राप्तममृतं तैश्चैव गतास्ते
 सदनं हरिः गीतामायित्यं न ह्येव भूभुजो जनकादयः ७५ निर्धृतकालं समाधौ के गता
 स्ते परमं पदं गीतां सुनिविष्टोऽस्ति जने पूज्या वचपुचः ७६ ज्ञानेनैव स समेषु समावृष्ट
 स्वरूपिणी यो भिस्त्वयि गीतां च ये निन्दां वा करोति च ७७ समेति नरकं वोदयावदा
 भूतसंज्ञं च हृदये न मूढात्मा गीतार्थं नैव मन्यते ७८ कुम्भीपाके पुमप्येतया वत् कल्प
 ज्यो भवेत् गीतार्थं वाच्यं मानं यो न शृणोति समीपतः ७९ वृक्षकरमवां यो निमने का
 सोधि गच्छति धीर्यं कृत्वा च गीतायाः पुस्तकं यः समानयेत् ८० न तस्मै व फलं किञ्चि
 त्पठनाच्च दद्यामवेत् यः युत्वा नैव गीतार्थं मोदते परमार्थतः ८१ नैवाप्नोति फलं लोके
 प्रसादाच्च दद्यात्समः गीतां युत्वा हि रण्यं च पट्टां वरप्रवेष्टनं ८२ निवेद्यैव तद्द्विप्रीत
 वे परमात्मनः वाचकं पूजयेत्तदा द्रव्यवस्तुना पृथक् ८३ अनेकैश्च धामीत्या तस्य
 तां भगवान् हरिः नाहान्यमेतद्गीतायाः कृष्णप्रोक्तं पुरातनम् ८४ गीतान्ते पठते यस्तु
 यद्योक्तफलमाप्तुमवेत् गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ८५ दद्यात्पाठफलं तस्य
 शुभ एव चेदाहृतः एतस्मात्माहात्म्यसंयुक्तं गीतापाठं करोति यः ८६ यद्वयावः शृणोत्येव
 दुर्नसां गतिमाप्नुयात् युत्वा पठित्वा गीतां च माहात्म्यं च शृणोति च ८७ तस्य पुण्यफ
 लं लोके भवेद्द्वैमनसे प्सितम् एवं ज्ञात्वा प्रकुर्वीत गीतापाठमनुत्तमम् ८८

इति श्रीभगवद्गीता माहात्म्यं श्रीकृष्णोपाशुना योक्तं समाप्तम्

येषां अयमेव परमः पुरुषार्थो यः कामोपभोगः पारत्रिकं तु सुखं चास्त्येवेत्येवं निश्चित्तात्मानः एतस्काया-
विरक्तस्य भोक्तुरभावात् । तथाच वार्हस्पत्ये सूत्रे 'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः । काम एवैकः पुरुषार्थः'
इति च ॥ ११ ॥

प० टी०—किं च—चिन्तामिति । प्रलयो मरणमेवान्तः पर्यवसानं यस्यास्तां परिमातुमशक्यां चिन्तां
मनोरथचतविमुपाश्रिताः कामा विषयास्तेषामुपभोग एव परमात्यन्तिकं प्राप्यं येषां ते षटावाप्तपुरुषार्थ इति
कृत्वनिश्चयाः । श्रुतिरपि—“स यावत्प्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कृत्स्नता” इति ।
माध्याह्न—तस्य पुरुषस्य, उ इति निर्धारणे, अकृत्स्नता सकलप्राप्तिरादित्यम् । तस्य कस्य? च एषां पूर्वो-
क्तानां विषयाणां मध्ये यावदेकैकं विषयं न प्राप्नोति तावत्कृत्स्न एवेति मन्यतेऽहमप्राप्तसकलार्थ
एवेति मन्यते ॥ ११ ॥

रा० टी०—किं च—कामेति । प्रलयान्तां मरणान्ताम् । अपरिमेयां परिमातुमशक्यां चिन्तामुपाश्रिताः
कामोपभोगपरमाः काम्यमानवस्त्वनुभूय एव परमो येषां ते विषयभोगैकरताः एतावदेतिकमेव फलं नान्य-
दामुक्तिकमस्तीति निश्चयवन्तः ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्वद्धाः कामक्रोधपरायणाः ॥

ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

त० टी०—अत एव—आशेति । आशा एव पाशास्तेषां शतैर्वद्धाः इतस्तत आकृष्यमाणाः काम-
क्रोधपरायणाः कामक्रोधमात्रपरमाश्रया आसुरा भवन्तीत्यर्थः । एतावता असुराणां लक्षणमुक्तमिदानीं
तत्प्रवृत्तिमाह—ईहन्त इति । कामभोगार्थमन्यायेन चौर्यप्राणिबध्नादिनार्थसंचयान् प्रति ईहन्ते
चेष्टन्ते ॥ १२ ॥

म० टी०—च ईहता असुराः—आशेति । अशक्योपायार्थविषया अनवगतोपायार्थविषया वा प्रार्थना
आशास्ता एव पाशा इव बन्धनहेतुत्वात् पाशास्तेषां शतैः समूहेर्वद्धा इव श्रेयसः प्रच्यव्येतस्तत आकृष्य
नीयमानाः कामकोषो परमयनमाश्रयो येषां ते कामक्रोधपरायणाः क्षीयविकराभिलाषपरानिष्टाभिलाषाभ्यां
सदा परिगृहीता इति यावत् । ईहन्ते कर्तुं चेष्टन्ते कामभोगार्थं न तु धर्मार्थमन्यायेन परस्वहरणादिना
अर्थसंचयान् धनराशीन् संचयानिति बहुवचनेन धनप्राप्तावपि तत्तृणानुसृजेर्विषयप्राप्तिवर्धमानतृष्णास्वरूपो
लोभो दर्शितः ॥ १२ ॥

शं० टी०—किं च—आशेति । आशापाशशतैर्वद्धाः आशा अप्राप्तार्थोभिलाषास्ता एव पाशा बन्धनरज्ज-
वस्तेषां शतैर्वद्धाः । कामक्रोधपरायणाः आसुराः कामभोगार्थं कामानां क्षागद्विषयपाणां भोगार्थमेव न तु
दानार्थं नापि धर्मार्थं च । किं तु विषयानुभवायैव अन्यायेन शास्त्रविरुद्धेन मार्गेण कपटवचनादिरूपेणार्थ-
संचयान् संपादयन्तीहन्ते कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

श्री० टी०—अत एव च—आशेति । आशा एव पाशास्तेषां शतानि तैर्वद्धाः इतस्तत आकृष्यमाणाः काम-
क्रोधो परमयनमाश्रयो येषां ते कामभोगार्थमन्यायेन चौर्यादिनाऽन्यान् संचयान् आशीहीहन्ते इच्छन्ति ॥ १२ ॥

स० टी०—अशक्योपायविषया आशास्ता एव बन्धकाः ॥ पाशास्तेषां शतैर्वद्धाः श्रेयसः प्रच्युता
जडाः ॥ १ ॥ सामिनापरागनिष्टाभिलाषाभ्यां सदाऽऽवृताः ॥ चेष्टन्ते कामभोगार्थं धर्मार्थं न कर्तयन्त
॥ २ ॥ कर्तुं ते वित्तराक्षस्य परस्वहरणादिव्या ॥ ३ ॥ १२ ॥

भा० टी०—आसुरादेव पुनर्विशिष्ट—आशेति । आशा अशक्योपायार्थविषया अनवगतोपायार्थवि-
षया वा प्रार्थनास्ता एव बन्धनहेतुत्वात् पाशाः । आशापाशानां शतैर्वद्धा एव सन्तः श्रेयसः प्रच्यव्ये-

तस्तत् आकृत्यमाणाः कामलोभपरायणाः कामक्रोभो परमयन् आश्रयो येषां ते कामभोगार्थं काम-
भोगप्रयोजनाय न तु धर्मार्थमन्यायेन परस्वापहरणादिनार्यसंचयानर्थप्रचयान् ईहन्ते चेष्टन्ते ॥ १२ ॥

प० टी०—किं च—आशापाशशतैरिति । आशा एव पाशा बन्धनरज्ज्वरेतेषां शतानि वैर्वद्धाः । तदु-
क्तम्—‘आशा नाम मनुष्यस्य कचिदार्थ्यं शृङ्खलम् । यया बद्धाः प्रभावन्ति मुक्तास्तित्थन्ति पङ्कवन्’
इति । तथा कामक्रोभो परमयन् गतिर्वेषां ते कामभोगार्थं विषयभोगार्थमन्यायेन श्रुतचौर्यादिनाऽर्थसंचयान्
द्रव्यसंग्रहानीहन्तेऽपेक्षन्ते ॥ १२ ॥

रा० टी०—आशेति । आशा एव पाशास्तेषां शतैर्वद्धाः कामलोभा एव परं अयन्मेषां ते कामक्रो-
भपरायणाः । कामभोगार्थं कान्यविषयानुसर्षार्थं अन्यायेन चौर्यादिनाऽर्थसंचयान्द्रव्यसमूहानीहन्ते
याच्यन्ति ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ॥

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

त० टी०—तेषामर्थतृष्णां तन्मनोरथकथनेन विवृणोति—इदमयेति । इदं धनक्षेत्रादिकं मया
मुद्रिवलसामर्थ्यवता स्वसामर्थ्येनैव लब्धं न दैवादिना, इदं च धनं मनोरथं मनोऽभिलषितं स्ववी-
र्येण प्राप्स्ये । इदं धनं स्वसामर्थ्यसंचितं मम गृहेऽस्ति । इदमपि यत्तु पापसाध्यं पुनर्भविष्यति ॥ १३ ॥

म० टी०—तेषामीदृश्यां धनतृष्णाप्लुष्टासं मनोराज्यकथनेन विवृणोति—इदमिति । इदं धनं अद्य इहा-
धीमतेनोपायेन मया लब्धम्, इदं तदन्यत् मनोरथं मनस्तुष्टिकरं क्षीप्रमेव प्राप्स्ये, इदं पुरैव संचितं मम गृहे-
ऽस्ति, इदमपि बहुतरं भविष्यत्यागामिनि संवत्सरे पुनर्धनम् । एवं धनतृष्णाकुलाः पतन्ति नरकेऽगुचावित्य-
मिमेणान्वयः ॥ १३ ॥

श्री० टी०—अन्यायेनार्थसंपादनपराणामासुराणां हृदये संकल्पप्रकारमाह—इदमिति त्रिभिः । स्वार्थः ॥ १३ ॥

श्री० टी०—तेषां मनोराज्यं कथयन्तरकप्राप्तिमाह—इदमयेति चतुर्भिः । प्राप्स्ये प्राप्स्यामि मनोरथं
मनसः प्रियम् । शेषे स्वष्टम् । एषां च त्रयाणां श्लोकानामित्यज्ञानविमोहिताः सन्तो, नरके पतन्तीति
चतुर्थेनान्वयः ॥ १३ ॥

स० टी०—ईदृशीं धनतृष्णातृप्तिं तेषां कुचेतसाम् ॥ विवृणोति मनोराज्यकथनेन हरिः स्वयम् ॥ १॥
इदं धनं मयाऽनेनोपायेनाप्तं च संग्रहि ॥ मनस्तुष्टिकरं चान्यस्याप्ये क्षीप्रमिदं पुरा ॥ २ ॥ संचितं मे
गृहे चारितं यद्विविचिदं पुनः ॥ भविष्यत्येव सुखं ममागामिनि वत्सरे ॥ ३ ॥ एवं तृष्णाकुला मूढा
चैव तृष्णादिकेऽगुचो ॥ पतन्ति नरके घोरे जाकलं निःसृजितवः ॥ ४ ॥ १३ ॥

भा० टी०—विकल्पविरोधिनामासुराणामग्निप्रायमाह—इदमिति । इदं द्रव्यं गोहिरण्याद्यद्य इदानीं
मया लब्धमिव मनोरथं मनस्तुष्टिकरं प्राप्स्ये प्राप्स्यामि, इदमस्ति पुरैव संचितम्, इदमपि मे पुन-
र्धनमागामिनि संवत्सरे भविष्यति तेनाह धनो विख्यातो भविष्यामि ॥ १३ ॥

प० टी०—अथान्यायेनार्थसंपादने केसले मनोराज्यमेव कुर्वन्वीत्याह—इदमिति चतुर्भिः । मनोरथं
मनसः प्रियं प्राप्स्ये प्राप्स्यामि । शेषे स्वष्टम् । एषां त्रयाणां श्लोकानामित्यज्ञानविमोहिताः पतन्ति
नरकेऽगुचाविति चतुर्थेनान्वयः ॥ १३ ॥

रा० टी०—चित्प्राकारं दर्शयति—इदमित्यादिना त्रयेण । इदं धनम् अद्य मया लब्धम्, इदं मनोरथं
प्राप्स्ये प्राप्स्यामि । इदं धनम् अग्रे, इदमपि धनं मे पुनर्भविष्यति ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ॥

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

त० टी०—किं च—असाविति । असौ मदीर्यदुर्जनयः शत्रुः सर्वसामर्थ्यवता मया हतः । एवम-
परानपि शत्रुनन्दे शूरो हनिष्यामि । दुर्बला हि दैवादिकं समाश्रयन्ते नाहं तथा, यत ईश्वरोऽहम् ।
स्वाधीनोऽहमितरेषां नियन्ताऽस्मि । अहं भोगी स्वत एव । प्राप्तसर्वभोगः । सिद्धोऽहं पुत्रमित्रभृत्या-
दिभिराज्ञानुवर्तिभिः स्वतोऽपि बलवान् सुखी सर्वव्याधिरहितः ॥ १४ ॥

म० टी०—एवं लोभं प्रपञ्च्य तदभिप्रायकथनेनैव तेषां कौर्ष प्रपञ्चयति—असाविति । असौ देवदत्तनामा
मया हतः शत्रुरविदुर्जनयः, अत इदानीमनयासेन हनिष्ये च हनिष्यामी अपरान् सर्वानपि शत्रून्, त कोऽपि
मत्सत्काशाज्जीविष्यतीत्यपेक्ष्यः । चकारात् केवलं हनिष्यामि तान् किं तु तेषां दारपनादिकमपि प्रहीष्या-
मीत्यभिप्रायः । कुतस्तवैवाद्यं सामर्थ्यं त्वत्तुल्यानां त्वदधिकानां वा शत्रूणां संभवदित्यत आह—ईश्वरोऽहं न
केवलं मानुषो येन मत्तुल्योऽधिको वा काश्चित् स्यात् । किमेते करिष्यन्ति वराकाः सर्वथा नास्ति मत्तुल्यः
काश्चिदित्यनेनाभिप्रायेण ईश्वरत्वं विष्णोर्वि—यस्माद् ईहं भोगी सर्वभोगोपकरणैरुपेतः सिद्धोऽहं पुत्रमृत्यादि-
भिः सहायैः संपन्नः स्वतोऽपि बलवानत्योजस्वी सुखी सर्वथा नीरोगः ॥ १४ ॥

श्री० टी०—किं च—असाविति । ईश्वरो विद्याधनादिभिः समर्थः सिद्धः पुत्रैः पौत्रैः पशुभिर्जनधानैः
संपन्नः कृतकृत्यः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १४ ॥

श्री० टी०—किं च—असाविति । सिद्धः कृतकृत्यः । स्पष्टमन्यत् ॥ १४ ॥

स० टी०—एवं प्रपञ्च्य सत्तुल्यां तदभिप्रायकीर्तनात् ॥ संप्रपञ्चयति कौर्षं तेषां श्रीहरिरज्ययः
॥ १ ॥ मयाऽसौ देवदत्तारणो हवः शत्रुः सुदुर्जनयः ॥ हनिष्याम्यपरान्सर्वानपि शत्रून्सुखेन च ॥ २ ॥
अपेक्षस्तु मत्तुल्यः संध्य को जीवने क्षमः ॥ न केवलं हनिष्यामि किंतु तेषां वनादिकम् ॥ ३ ॥ गृही-
ष्यामीत्यभिप्रायश्चकाराद्यत्र गम्यते ॥ कुतस्तवास्ति सामर्थ्यमोदक्षं हि ब्रह्मोऽपरे ॥ ४ ॥ इत्युक्त्या अ-
धिकाः किं न शत्रवस्तस्य बोध्यते ॥ न केवलं मत्तुल्योऽस्मि येन तुल्योऽधिकोऽयं वा ॥ ५ ॥ काश्चित्स्या-
दत एते किं करिष्यन्ति वराककाः ॥ सर्वथा नास्ति मत्तुल्यः काश्चिदप्येवरोऽस्मद्वद्वा ॥ ६ ॥ विष्णोर्वीथ-
रत्वं च तदभिप्रायस्य हरिः ॥ यतोऽहं भोगसामग्रीयुक्तः सिद्धोऽहमित्यतः ॥ ७ ॥ पुत्रभृत्यादिभिर्युक्तः
स्वतोऽपि बलवानहम् ॥ सर्वथाहं च नीरोगोऽत्यन्तमुपैरवो युतः ॥ ८ ॥ ॥ १४ ॥

भा० टी०—यथोक्तं तदभिप्राये प्रतिबन्धकः शत्रुरपि न संभवतीत्याह—असाविति । असौ देवदत्तो दुर्जनयः
शत्रुर्मया हतः हनिष्ये चापरानन्यान् वराकान् । ननु तपस्विना, सत्तुल्ये कथं सर्वथा पराभवे तत्र सामर्थ्यमि-
त्याशङ्क्य किमेते करिष्यन्ति तपस्विनो यतः सर्वथापि मत्तुल्यो नास्तीत्याह—ईश्वरोऽहम् । ऐश्वर्यादिरैक-
मेव प्रकटयति—भोगी सर्वभोगोपकरणवानहं सिद्धोऽहं पुत्रादिभिः संपन्नः बलवान् न केवलं मानुषबलान्
सुखी चाहमेव ॥ १४ ॥

प० टी०—किं च—असाविति । असौ वर्तमानः शत्रुर्मया हतोऽपरान् भविष्यतोऽपि शत्रून् हनिष्ये ।
सिद्धार्यः कृतार्थः । वदुक्तम्—मया मनोरथयेणीमाधुर्यान्मोहितो दिना । रात्रौ स्वाप्नं मुक्तं सुखप्ररो
जयति जीवितम् ॥ इति ॥ १४ ॥

रा० टी०—असाविति । असौ शत्रुर्मया हतः अपघनन्यानापि शत्रून् हनिष्ये च । अहमीश्वरः परतो-
भरः भोगी ऐहिकमुनिमरुभोगसंपन्नः सिद्धः कृतकृत्यः बलवान् समर्थः ॥ १४ ॥

आद्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति शत्रो मे मया ॥

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

त० टी०—किं च—आद्य इति । आद्यो धनधान्यसंपन्नः, अभिजनवानुत्तमकुले प्रसूतोऽहमेवासि । अतः कोऽन्योऽस्ति सत्त्वो मया, न कोऽपीत्यर्थः । ननु केचिद्वदानादिना कीर्तिमन्तो हृदयन्ते श्रूयन्ते च तत्सादृश्यं स्यादत आह—यक्ष्य इति । यक्षपिशाचादीन् यक्ष्ये । दास्यामि स्तावकेभ्यो नटादिभ्यः । अतो यज्ञेन दानेनाप्यहमेव सर्वेषां कीर्तिमभिमूषोत्कृष्टो भविष्यामीत्यर्थः । ततश्च मोदिष्ये हर्षं प्राप्स्यामि सत्त्वोजनैः सह । इत्येवमाद्यज्ञानेन विमोहिता विविधं मोहं वृथा मनोरथरचनात्मकं भ्रमं प्रापिताः पतन्ति नरकेऽशुचावित्युत्तरेणान्वयः ॥ १५ ॥

स० टी०—ननु धनेन कुलेन वा कश्चित्कुल्यः स्यादित्यत आह—आद्य इति । आद्यो धनी अभिजनवान् कुलीनोऽप्यहमेवासि । अतः कोऽन्योऽस्ति सत्त्वो मया न कोऽपीत्यर्थः । यागेन दानेन वा कश्चित्कुल्यः स्यादित्यत आह—यक्ष्ये यागेनाप्यन्यानाभिभविष्यामि, दास्यामि धनं स्तावकेभ्यो नटादिभ्यश्च । ततश्च मोदिष्ये मोहं हर्षं लप्से नर्तक्यादिभिः सह इत्येवमज्ञानेनाविवेकेन विमोहिता, विविधं मोहं भ्रमपरं परं प्रापिताः ॥ १५ ॥

शु० टी०—किं च—आद्य इति । आद्यो बहुधनसंज्ञः अभिजनवाननूचानः यक्ष्ये प्रतिष्ठार्थं धनार्थं जीवनार्थं वा यागं करिष्यामि दास्यामि स्तावकेभ्यो नटादिभ्यो न तु श्रोत्रियेभ्यो वन्द्युभ्यश्च मोदिष्ये दत्त्वा भुक्त्वा संतोषं प्राप्स्यामीत्येवमज्ञानविमोहिता, सर्वसद्विवेकाभावाऽज्ञानं तेन विविधं मोहिताः मोहं प्राप्ताः ॥ १५ ॥

श्री० टी०—किं च—आद्य इति । आद्यो भनारिसंपन्नः अभिजनवान् कुलीनः । यक्ष्ये यागाद्यनुष्ठानेनापि शीघ्रिवाप्तवैभवं, सकाशान्महतीं प्रतिष्ठां प्राप्स्यामि । दास्यामि स्तावकेभ्यः । मोदिष्ये हर्षं प्राप्स्यामीत्येवमज्ञानेन विमोहिताः मिथ्याभिनिवेशं प्रापिताः ॥ १५ ॥

स० टी०—कश्चिदनेन किं न स्यात्तत्कुल्योऽन कुलेन वा ॥ इत्यत्राह धनी यस्यादहमेव न मत्समः ॥ १ ॥ कुलीनोऽप्यहमेवासि न कश्चिन्मत्समोऽपरः ॥ यागेन वाऽथ दानेन न कोऽप्यस्तोह मत्समः ॥ २ ॥ अन्यानाभिभविष्यामि यागेनाहं तथापरान् ॥ दानेन स्तावकेभ्योऽहं धनं दास्यामि पुष्कलम् ॥ ३ ॥ हर्षं लप्से ततोऽहं वै नर्तक्यादिभिरेव च ॥ इत्येवमविवेकेन प्रापिता बहुविभ्रमा ॥ ४ ॥ १५ ॥

भा० टी०—गुणरत्नासुराणामभिप्रायं वर्णयति—आद्य इति । आद्यो धनेन । अभिजनवान् सत्तुपुरुषं श्रोत्रियत्वादिसंपन्नोऽहमस्मि, वस्यन्मया धनादयेन कुलीनेन सदृशस्तुत्योऽन्यः कोऽस्ति ? न कोऽपीत्यर्थः । किंच यागदानाभ्यां तत्फलं धान्येभ्योऽपि को भविष्यामीत्याह—यक्ष्ये यागेनाप्यन्यानाभिभविष्यामि । दास्यामि नटादिभ्यो । मोदिष्ये हर्षं चाविष्टाय यागदानफलं प्राप्स्यामि । दानादिना चापरानभिभविष्यामीत्येवमज्ञानेन विमोहिता, विविधं मोहिषुः अविवेकभावमापन्नतया येनैवमभिप्रायोऽस्तापीवान् कदापि नोपादेय इति ज्ञानः ॥ १५ ॥

प० टी०—किं च—आद्य इति । आद्यो धनसमृद्धः, अभिजनवान् कुलीनः, मया सदृशः कोऽस्ति कोऽपि नास्तीत्यर्थः । अथाहमप्येऽपि व्यर्थमनोरथानाह—यक्ष्ये इति । यक्ष्ये यागं करिष्ये, दास्यामि गुह्यभागदिदानं करिष्ये, एवं लोकोत्तरकरणेन मोदिष्ये हर्षं प्राप्स्यामीत्यज्ञानेन विमोहिता मिथ्याभिनिवेशं प्रापिताः ॥ १५ ॥

रा० टी०-आद्येति । आह्नः धनादिसंपन्नः अभिजनवल्कुलीनोऽस्मि । मया सहशोऽन्यः कोऽस्ति ? न कोऽपि । यक्ष्ये यागादिभर्मानुष्ठस्यामि । भूरिदक्षिणाज्जादि दास्यामि । मोदिष्ये संतोषं प्राप्स्यामि इत्येवं-
रूपेणात्मानविनोदित्वाः ॥ १५ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ॥

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

त० टी०-एवं ते किं फलं प्राप्नुवन्तीत्यपेक्षायामाह-अनेकेति । सर्वकर्मफलप्रदात्रीश्वरसाहाय्येन स्वस्वैव सामर्थ्यमवकल्प्यैतत्कुर्यादित्युक्तं कुर्यादिति मनुभूयामेत्यनेकचित्तविभ्रान्ता अनेकेषु विषयेषु चित्तं तेन विभ्रान्ता विक्षिप्ता एवं मोहरूपेण जालेन समावृताः सूत्रमयेन जालेनावृता मत्स्या इव कामभोगेषु प्रसक्ता अभिनिविष्टाः सन्तोऽशुचौ विष्णुचक्षुष्यादिपूर्णं रौरवादौ नरके पतन्ति ॥ १६ ॥

म०-टी०-अनेकेति । उक्तप्रकारैरनेकैश्चित्तैस्तत्तद्वृद्धसंकल्पैर्विविधं भ्रान्ताः, यतो मोहजालसमावृताः मोहो हिताहितवस्तुविवेकासामर्थ्यं तदेव जालमावरणात्मकत्वेन बन्धहेतुत्वात्, तेन सम्यगावृताः सर्वतो वेष्टिताः मत्स्या इव सूत्रमयेन जालेन परवशीकृता इत्यर्थः । अत एव स्वानिष्टसाधनेष्वपि कामभोगेषु प्रसक्ताः सर्वथा तदेकपराः प्रतिक्षणमुपचीयमानकल्मसाः पतन्ति नरके वैतरण्यादौ अशुचौ विष्णुचक्षुष्यादिपूर्णं ॥ १६ ॥

शृ० टी०-एवं कामसंकल्पैर्विविधभ्रमापन्नानां कामपराणां तत्पट्टलेः फलमाह-अनेकेति । अनेकचित्तविभ्रान्ताः इदमद्य मया लक्ष्यमित्येवंरूपेरेतेकविभोश्चिच्चिकारैर्विभ्रान्ताविविधं भ्रान्ताः, मोहजालसमावृताः मोहः सदसद्विवेकाभावः स एव जालं मत्स्यानामिवावरणात्मको नाशकश्च तेन सम्यगावृतास्तिरोहितविवेकास्त एव कामभोगेषु विषयसेवायामेव प्रसक्ताः प्रकर्षेण सत्त्वः परिनिष्ठितान् कचित्त्वन्धमे तत एवाशुचौ श्रेणमूपहृदादिरूपत्वादशुभे नरके रौरवादौ पतन्ति ॥ १६ ॥

श्री० टी०-एवंभूता यन्प्रापुवन्ति तच्छृणु-अनेकेति । अनेकेषु मनोरथेषु प्रवृत्तं चित्तमनेकचित्तं तेन विभ्रान्ता विक्षिप्ताः । तेनैव मोहमयेन जालेन समावृताः मत्स्या इव सूत्रमयेन जालेन यन्निवृताः । एवं कामभोगेषु प्रसक्ताः अभिनिविष्टाः सन्तोऽशुचौ कष्टमले नरके पतन्ति ॥ १६ ॥

स० टी०-तच्चट्टैकसंकल्पैरेतेः प्रागुदीरितैः ॥ कामिनो विविधं भ्रान्ता मोहजालेन वेष्टिताः ॥ १ ॥ हिताहिताविवेकादगावरणेनाविवेष्टिताः ॥ मत्स्या इव हि सौम्येण जालेन विवश्येकृताः ॥ २ ॥ स्वानिष्टसाधनेष्वेव कामभोगेषु तपराः ॥ प्रतिक्षणं बर्धमानकल्मसा नरकेऽशुचौ ॥ ३ ॥ यतन्ति श्रेष्ठाविष्णुचक्षुष्यं वैतरणीमुखे ॥ ४ ॥ १६ ॥

भा० टी०-एवमभिप्रायवन्तः आसुराः कृत्वाकृत्यविवेकहीनाः कस्मिंश्चिदेक गच्छन्तीत्याकाङ्क्षायामाह-अनेकेति । अनेकचित्तविभ्रान्ताः उक्तप्रकारैरनेकैश्चित्तैस्तत्तद्वृद्धसंकल्पैर्विभ्रान्ताः विविधं भ्रान्ताः मोहजालसमावृताः कार्याकार्याहिताहितसारासारहेयोपादेयाविवेके मोहः, स एव जालविवावरणमकल्पवान् तेन सम्यगावृताः पक्षिण इव सूत्रमयेन जालेन बन्धने गवाः, प्रसक्ताः कामभोगेषु कामानां विषयाणां सुखभोगेषु प्रकर्षेण सक्ता आसक्तिं गताः तत्रैव निषण्णाः एतादृशः सन्तस्तेनोपचीयमानकल्पया अशुचौ विष्णुचक्षुष्यादिपूर्णं वैतरण्यादिरूपे नरके पतन्ति ॥ १६ ॥

प० टी०-किं च-अनेकेति । अनेकेषु न्यर्थमनोरथेषु प्रवृत्तं चित्तमनेकचित्तं तेन विवश्यो भ्रान्ता-वेवायुद्वारः कदापि नास्तीत्याह-मोहजालसमावृता इति । यया सूत्रमुपजायन्तः, प्रविष्टानां मत्स्यानाम-

निर्गमस्तथा मोहजालसमावृताना कायभोगेषु प्रकर्षेण सक्ता अशुचौ कल्मषरूपे नरके पतन्ति । अत्रैतदुक्तं भवति—“तुल्या व्यवहृतिः सर्वौ स्वप्नामृदवस्थयो । एकस्यान्वसरेऽन्यस्य यन्मिथ्यात्वं प्रतीयते” इति वैतथ्योपनिषदुक्तम् । श्रुतिभि स्वाग्रव्यवहारदृष्टान्तेन जामदग्न्यवहारस्यापि मिथ्यात्वं दर्शितमासीदिदानीं तस्य स्वरूपेणैव मिथ्यात्वं मनोरथरूपत्वेन भगवता विस्तरेण प्रकटीकृतम् । तत्र मनोरथो द्वेधा संभावितोऽसंभावितश्च, तत्र दैनंदिनात्रयानादिविषयभोगमनोरथ संभावितः । सोऽपि देवापीनत्वात्साक्षिः । असंभावि-तस्तु राज्यप्राप्त्यादिसकलभोगैर्मनोरथजनम् । एवमस्य मिथ्याभूतत्वं जानन्तोऽपि मनोरथपरंपरामातन्वन्ति तेषामुद्धार, कदापि नास्तीत्यर्थः । तदुक्तं टिप्पणिकासु—“स्वप्नं सुखं दुःखमस्तस्यमेव वषाति तस्यानुभवस्तदानीम् । तथैव शुक्तौ रजतस्य मिथ्या मनोरथोऽयं तु विनाऽनुभूतिम् ॥ १ ॥ सर्ववस्तुभूतमात्रिणोऽपि स्यान्मनोरथमयो व्यवहारः । शुक्तिवस्तुभवादनुवेले तन्मृणात्वमुदितं गुणिवर्थे ॥ २ ॥” इति । तदुक्तं विष्णुपुराणे सौमर्षाख्ये—“मनोरथानां न समाप्तिरस्ति वर्णयुवैरस्यवशापि लब्धे । पूर्णेषु पूर्णेषु पुनर्नवा-नामुत्पत्तयः सन्ति मनोरथानाम् ॥ १ ॥ पदभ्याङ्गता यौवनवशं जाता दारैश्च संयोगमिताः प्रसूताः । दृष्टाः सुतास्तस्यप्रसूतिं द्रष्टुं पुनर्बालवति मेऽन्वरात्मा ॥ २ ॥ यज्ञीयतो नैव मनोरथानामन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं सयाद्य । मनोरथासक्तिपरस्य चित्तं न जायते वै परमार्थसंगति ॥ ३ ॥” इति ॥ १६ ॥

रा० टी०—एवं चिन्ताप्रकाररुक्त्वा तेषां फलमाह—अनेकति । अनेकवि-त्वायुक्तमवस्था विशेषध्रान्ति-मन्त, पुत्रमित्रादिविषयमोहाख्यजालेन समावृताः विषयभोगेष्ववितरामासक्ताः सन्तः अशुचौ नरके पतन्ति ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ॥

यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

त० टी०—यस्य इत्यादिना यस्तेषां यज्ञदानाद्यभिमान उक्तः सोऽपि केवलं धर्मव्यजित्वाय न ॥ शास्त्रविधिविषय इत्याह—आत्मसंभाविता इति । आत्मनैव संभाविताः आत्मनैवात्मानं श्रेष्ठं मन्यमाना अत एव स्तब्धा अनम्राः । तत्र हेतुः—धनमानमदान्विताः । धनेन मानो गर्वः मद-श्रोद्धर्पस्ताभ्यामन्विताः सन्तस्ते नामयज्ञैर्वाङ्मिका दीक्षिता इति यद्वृत्त्यापनाय ये यज्ञास्ते नामयज्ञाः, अथवा नामयज्ञैर्नाममात्रयज्ञैर्वाभासैर्यजन्ते । कथं? दम्भेन, न तु सात्त्विकश्रद्धया । अविधिपूर्वकं विधि-हीनं यथा भवति तथेत्यर्थः ॥ १७ ॥

म० टी०—ननु तेषामपि केषांचिद्देविके कर्मणि यागदानादौ प्रवृत्तिदर्शनाद्युक्तं नरके पतनमिति नेत्याह—आत्मेति । सर्वगुणविशिष्टा बयमित्यात्मनैव संभाविता पूज्यता प्रापिता न तु साधुभिः कैश्चित् । रतया अनम्रा । यदौ धनमानमदान्विता धननिमित्तो यो मान आत्मनि पूज्यत्वाविश्रयाप्याद्यः तन्निमि-त्तश्च यो मदः परस्मिन् गुर्वादावप्यपूज्यत्वाभिमानस्ताभ्यामन्वितास्ते नामयज्ञैर्नाममात्रैर्यज्ञैर्नात्त्विकैर्दीक्षिताः, येषामाज्यादिनाममात्रसंपादकैर्यं यज्ञैरविधिपूर्वकं विद्विदाद्देविकर्तव्यतारहितैर्दम्भेन धर्मव्यजित्तया न ॥ श्रद्धया यजन्ते । शतवस्तुफलभाजो न भवन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

शं० टी०—ननु येषामपि श्राद्धणत्वेन श्रुताभ्ययनाप्यापनसंभवाद्देवोक्तकर्मानुष्ठानसंभवाद्य कथमेतेषां वैदिकानाम्गुणिनस्त्वपात इत्याशङ्क्या—न । “अद्रव्याणि समिध्यते” इति “यो वा एतदक्षरं गार्ग्य-विदिराऽभिर्लोके जुहोति” इत्यादिश्रुत्युक्तलक्षणमावाचैरविधिना क्रियमाणयज्ञैर्वाभासैर्नधरः प्रियते ऋग्यजुर्मोक्षद्वयवृत्त-रातेषामापुराणा नरकप्राप्त्यमेव सिद्धमिति प्रतिपादयति—आत्मेभिर्वाभ्याम् । धनमा-

नमदान्विताः मानो गर्वः मदो मत्तता धनोत्कर्षमुत्पन्नौ यानमदौ वाभ्यां समन्वितास्तत एवात्मसंभाविता
आत्मना स्वेनैव न तु कश्चिदपि शिष्टैः संभाविताः बहुकृतास्तत एव स्वध्या उद्धृताः नम्रताशून्यास्ते आसुरा
नामयज्ञैर्नाम्ना यज्ञैर्न तु वैदिकक्रियया लक्षणेन वा किंत्वाभास्यज्ञैरविधिपूर्वकं नियतकालमन्त्रहोमस्तिग्वि-
जितं दम्भेन स्वमहत्त्वप्रसिद्धयै यजन्ते न त्वीश्वरप्राप्तिसिद्धयै ॥ १७ ॥

श्री० टी०—यक्ष्य इति च यस्तेषां मनोरथ उक्तः स केवलं दम्भादकारादिप्रधान एव न तु सात्त्विक
इत्यभिप्रायेणाह—आत्मसंभाविता इति द्वाभ्याम् । आत्मनैव संभाविताः पूज्यतां नीताः न तु सा-
धुभिः कैश्चित् । अत एव स्वध्या अनम्राः । धनेन यो मानो मद्भ्यः वाभ्यामन्विताः सन्तस्ते नाममात्रेण ये
यज्ञास्ते नामयज्ञाः । यद्वा दीक्षितः सोमयाजीत्येवमादिनाममात्रप्रसिद्धये ये यज्ञास्तेयजन्ते । कथम् ? दम्भेन
न तु श्रद्धया, अविधिपूर्वकं च यथा भवति तथा ॥ १७ ॥

स० टी०—वेदामपि हि केषांचिद्वैदिकं शुभकर्मणि ॥ प्रवृत्तिर्यागदानादौ दृश्यतेऽतो न सांप्रतम् ॥ १॥
नरके पतनं तेषामित्याहृष्ट्याह तत्र च ॥ सर्वैर्गुणैर्विशिष्टाः स्मो वयमित्यात्मनैव ते ॥ २ ॥ पूज्यतां
प्रापिना मूर्धनं तु कैश्चित्सुसाधुभिः ॥ अनम्रा धनहेतुर्द्यो मानस्वहेतुको मदः ॥ ३ ॥ वेदान्विता मलै-
र्नाममात्रैरुक्ताङ्गमिति ॥ धर्ममजितया मृदा यजन्ते अद्वया न तु ॥ ४ ॥ अतो न फलभाजस्ते यागे-
रविधिपूर्वकैः ॥ किं तु संस्मृतिभाजस्ते क्रूराः क्रूरविचेष्टिताः ॥ ५ ॥ १७ ॥

भा० टी०—तनु तेषामपि केषांचिद्वैदिककर्माणि यागादौ प्रवृत्तिदर्शनात् कथं सर्वेषां वेतरण्यादौ पतनमिति
चेत्तत्राह—आत्मसंभाविताः सर्वगुणविशिष्टा वयमित्यात्मनैवात्मनि संभाविताः पूज्यतां गताः न तु साधुभिः ।
स्वध्याः अप्रणदात्मनोऽनम्राः धनमानमदमन्विताः पतन्तिमित्यो मानो मद्भ्यः वाभ्यां धनमानमदमन्विता
अन्विताः । इदं भाष्यमुपलक्षणं धनमानानिभिन्नो यो मद्भ्यस्तेनान्वित इत्यस्यापि । नाभ्ययज्ञैर्नाममात्रैर्यज्ञैस्ते यज-
न्ते, यतो दम्भेन धर्ममजितयाऽविधिपूर्वकं विहिताङ्गेति कृतव्यतापूर्वकं यथा न भवति तथेत्यर्थः ॥ १७ ॥

प० टी०—आत्मेति । आत्मना स्वेनैव संभाविताः पूज्यतां नीता नान्यैः कैश्चित् । वाचसैव स्वध्या अनम्राः
धनमानाभ्यां मदो गर्वस्तेनान्विताः सन्तो दम्भेन यज्ञैर्यजन्ते न परमार्थयुद्धया । तथापि यज्ञफलं प्राप्त्य-
न्येवेति चेत्तत्राह—अविधिपूर्वकमिति । इत्यपान्नाद्यशुद्धिरविधिस्तत्पूर्वकं कर्म फलदा न भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

रा० टी०—यागादि कुर्वता कथं नरके पात इत्यत आह—आत्मेति । आत्मनैव स्वेनैव संभाविताः
बहुमताः वयं पूज्या इति मन्यमाना इति यावत् । अत एव स्वध्याः अनम्राः धननिमित्तगर्वद्व्याभ्याम्
उपेतास्ते अविधिपूर्वकं दम्भेन स्वमहत्त्वप्रदर्शननिमित्तं यज्ञेऽर्चोविष्टोपादिभिर्यजन्ते नास्म । न कृतार्थ-
युद्धया अतो नरकप्राप्तितेषामिति भावः ॥ १७ ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ॥

गामात्मपरदेहेषु प्रद्विपन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

त० टी०—अविधिपूर्वकत्वं (च) स्वभाववैपीत्यादित्याह—अदंकारमिति । अनात्मनि पात्र-
भौतिके आत्मत्वाभिमानोऽहङ्कारस्ते संश्रिताः । बलं पर्यादाकरणासामर्थ्यं, दर्पं दर्पो नाम स्वस्य
पूज्यत्वातिशययुद्धयाऽन्यानादस्वत्वं, कामं स्व्यादिभोगासक्तिं, क्रोधं स्वपरघंदापमननरूपमन्तर्ज्वल-
नमेतान् दोषान् संश्रिताः मापीश्वरमात्मपरदेहेषु उत्तुहृदिसाक्षितया वर्तमानं प्रद्विपन्तो मच्छासना-
तिक्रमः प्रदेवस्तं कुर्वन्तः अभ्यसूयकाः सन्मार्गवर्तिनां सर्वां गुणेषु दोषारोपकाः ॥ १८ ॥

प० टी०—यक्ष्ये दास्यामीत्यादिमङ्गल्येन दम्भाहङ्कारादिप्रधानेन प्रवृत्तानामासुराणां बहिरङ्गसाधन-

मपि यागदानादिकं कर्म न सिध्यति, अन्तरद्वसाधनं तु ज्ञानवैराग्यभगवद्भजनादि तेषां दूरापास्तमेवे-
त्यह—अहंकारमिति । अहमभिमानरूपो योऽहङ्कारः स सर्वसाधारणः । एतैस्त्वारोपितैर्गुणैरात्मनो महत्त्वा-
भिमानमहंकारं तथा बलं परपरिभवनमित्थं शरीरगतसामर्थ्यविशेषं दुर्घं परावधीरणारूपं गुरुनृपाद्यति-
क्रमकारणं चित्तदोषविशेषं काममिष्टविषयाभिलाषं क्रोधमनिष्टविषयद्वेषं, चकारात्परगुणासहिष्णुत्वरूपं मा-
त्सर्यम् । एवमन्याश्च महतो दोषान् संश्रिताः । एवाहंशा अपि पवितास्तव भक्त्या पूताः सन्तो नरके न
पविष्यन्तीति चेन्नेत्याह—मासीश्वरं भगवन्तं आत्मपरदेहेषु आत्मनां तेषामासुराणां परेषां च तत्पुत्र-
भार्यादीनां देहेषु प्रेमास्पदेषु तत्तद्विद्विद्वत्समस्तितया सन्तमतिप्रेमांस्त्वदमपि दुर्दैवपरिपाकात् प्रद्विष्यन्तः ।
इश्वरस्य मम शासनं श्रुतिस्मृतिरूपं तदुक्तार्थानुष्ठानपराङ्मुखतया तदतिवर्तनं मे प्रद्वेषस्तं कुर्वन्तः । नृपाद्या-
ज्ञालङ्घनमेव हि तत्प्रद्वेष इति प्रसिद्धं लोके । ननु गुर्ववयः कथं तान्मलशासति वज्राह—अभ्यसूयकाः गुर्व-
दीनां वैदिकमार्गस्थानां कारुण्यादिगुणेषु प्रवारणादिदोषारोपकाः । अतरेव सर्वसाधनज्ञान्या नरक एव
पतन्तीत्यर्थः । मामात्मपरदेहेष्वित्यस्यापरा न्याख्या—स्वदेहे परदेहेषु च चिदंशेन स्थितं मां प्रद्विष्यन्तो
यजन्ते दम्भयज्ञेषु श्रद्धायाः अभावाद्दीक्षादिनात्मनो वृथैव पीडा भवति । तथा पश्चादीनामप्यविधिना
हिंसया चैतन्यद्रोहमात्रमवशिष्यत इति । अपरा व्याख्या—आत्मदेहे जीवानां विष्टे भगवद्दीक्षाविग्रहे
वायुदेवादिसमाख्ये मनुष्यत्वादिभ्रमान्मां प्रद्विष्यन्तः । तथा परदेहेषु भक्तदेहेषु प्रह्लादादिसमाख्येषु सर्व-
दाऽऽविर्भूतं मां प्रद्विष्यन्त इति योजना । उक्तं हि नवमे—‘अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमेवैवम् ॥’ गौपाया मोचकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः । राक्षसीमासुरी चैव
प्रकृतिं मोहनीं श्रिताः ॥’ इति । ‘अव्यक्तं व्यक्तमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः’ इति चान्यत्र । तथा च
भजनीये द्वेषात् भक्त्या पूतया तेषां संभवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

श्री० टी०—किं च—अहंकारमिति । अहमेव कुलशैलसंपन्नः सर्वशास्त्रपारगः सर्वज्ञो भर्षिप्रः सर्वोत्तम
इति येन स्वमुल्लङ्घं मन्यते सोऽसावहंकारस्तं बलं कामरागजैर्दुर्घं दत्तत्वां कामं क्रोधं चकारान्मोहलो-
भपादप्यादियुद्धिदोषान् संश्रिता आत्मपरदेहेषु परदेहे आत्मदेहेषु च मामात्मानं प्रत्यक्षक्षणां द्विष्यन्त-
ममान्वर्यामिष्वमनङ्गीकृत्य मां द्विष्यन्तः यद्वा आत्मनो मम देहादिव्यतिरिक्तत्वं नित्यत्वं चैतन्यमाश्रयमकर्तृ-
त्वमभोक्तृत्वं चानङ्गीकृत्य प्रतर्पेण द्विष्यन्तः तत एवाभ्यसूयका आत्मनो देहव्यतिरिक्तत्वनित्यत्वैकत्वपूर्ण-
त्वाविनिर्गन्धवादिनां सत्पुरुषाणां गुणेषु दोषारोपकाः लोके य आसुरा बौद्धाचाराः प्रभवन्ति ॥ १८ ॥

श्री० टी०—अधिपिपूर्वकत्वेन प्रपञ्चयति—अहंकारमिति । अहंकारादिसंश्रिताः सन्तः आत्मपर-
देहेषु स्वदेहेषु परदेहेषु च चिदंशेन स्थितं मां प्रद्विष्यन्तो यजन्ते । दम्भयज्ञेषु श्रद्धाया अभावात् आत्मनो
वृथैव पीडा भवति । तथा पश्चादीनामपि अविधिना हिंसाया चैतन्यद्रोहमात्रमेवावशिष्यत इति प्रद्विष्यन्त
इत्युक्तम् । अभ्यसूयकाः सन्मार्गवर्तिनां गुणेषु दोषारोपकाः ॥ १८ ॥

स० टी०—यस्य इत्यदिपदसंक्षेपः प्रवृत्तानां विकर्मणि ॥ नास्ति रागादिभिरुद्धिहेतुः किं पुनरीश्वरे ॥ १ ॥
रतिवैराग्ययोर्भादि नास्तीत्याह उक्तपक्षः ॥ आरोपितगुणैः स्वस्य महत्त्वाभिप्रायं श्रिताः ॥ २ ॥ बलं
शरीरसामर्थ्यं पराभिमवकारणम् ॥ परावधीरणारूपं दुर्घं गुर्वावतिक्रमम् ॥ ३ ॥ काममिष्टाभिलाषं च
क्रोधं द्वेषमनिष्टम् ॥ परैश्वर्यासहिष्णुत्वं मात्सर्यं चात्तथा परम् ॥ ४ ॥ संश्रिता महतो दोषान्नरकादि-
भयापहान् ॥ इदंशा अपि ते भजया पूताः सन्ता न नारकीम् ॥ ५ ॥ यातनं चे गमिष्यन्तीत्याशङ्क्याह
रमापतिः ॥ मां श्रीनारायणं तेषामासुराणां वपुष्यपि ॥ ६ ॥ परेषां चैव तत्पुत्रभार्यादीनां सुराणिनाम् ॥
प्रेमापदेषु देहेषु वृत्तद्विषयसमक्षेपम् ॥ ७ ॥ परेमापदे श्रीमद्भगवन्त्वमशोक्षम् ॥ दुर्दैवपरिपाकाते

प्रद्विपन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ ८ ॥ ममानुशासनोद्देशस्वरूपात्पराङ्मुखाः ॥ अतिस्मृतां ममैवासे वे वल्लभ
प्रचरते ॥ ९ ॥ आद्याभङ्गी तम द्वैपीत्यादिस्मृत्या तथैरितम् ॥ अतः श्रुत्यर्थैर्मुख्यं प्रद्वेषो मम नापरः ॥ १० ॥
ननु गुणद्वयः क्षिप्तः कथं ताजानुशासति ॥ इत्यत्राहाभ्यसूयां वे कुर्वन्तः सज्जनेष्वपि ॥ ११ ॥
वेदमार्गे स्थितानां वे कारुण्यादिगुणेष्वपि ॥ प्रवाराणादिदोषाणामारोपणस्वभावकाः ॥ १२ ॥ स्वदेहे
परदेहेषु चिदंशेन स्थितं हि माम् ॥ प्रद्विपन्तो यजन्ते वे दम्भयज्ञेषु हिंसया ॥ १३ ॥ पश्चादेरपयथाशक्तं
साक्षात्क्षिप्तोद्देशकारिणः ॥ यथा क्षीक्षादिना पीडां सहन्त्यर्थोऽस्तु नोत्तरे ॥ १४ ॥ यद्वात्मदेहे भगवद्दोष-
विग्रह ईश्वरे ॥ वामुदेवसमाप्येऽस्मिन् मनुष्यत्वादिविग्रहात् ॥ १५ ॥ द्विपन्तः परदेहेषु मच्छेदेषु मां
हरिम् ॥ प्रहादादिसमाप्येषु सदाविर्भूतामित्यपि ॥ १६ ॥ १८ ॥

भा० टी०—न केवलं दम्भेनाविधिपूर्वकं यजन्व इत्येतावदेवापि तु—अहंकारमिति । अहंकारं विद्यामा-
नैरविद्यमानैश्च गुणैरात्मन्यभ्यारोपितैरात्मनो निक्षिप्तस्याभिमानमविचार्य कष्टतमं सर्वदोषाणां सर्वानर्थ-
प्रवृत्तीनां च नृलं तथा बलं पराभिभवनिमित्तं शरीरादिसामर्थ्यं कामरागान्धर्वं दर्पं धर्माधिक्रमहेतुमन्तः-
करणश्रयं दोषविशेषं कामं कयादिविषयं क्रोधमनिष्टविषयं चादेतानन्यान्ध मात्सर्यादीन् महतो दोषान्
संश्रिताः । किं च न केवलमहंकारादीनेव संश्रिताः किं तु तदाश्रयणेन मागोभारमात्मपरदेहेषु स्वदेहे
परदेहेषु च बहुद्विकर्मसाक्षिणं मां प्रद्विपन्तः श्रुतिस्मृतिरूपमच्छासनाविधित्वं बहुलार्थानुष्ठानपराङ्मुखत्वं
महेत्परत्वं कुर्वन्तः दम्भेनाविधिपूर्वकं यजन्तं स्वदेहपीडनमहंकारादिकं मदबलान् च श्रुतिस्मृतिप्रतिषिद्धं समा-
श्रिता मदाशातिवर्तिन इत्यर्थः । ननु सत्कर्मस्थानामनुवृत्तिं किमिति न कुर्वन्तीति चेत्तत्राह—तेषां गुणेष्वभ्य-
सूयकाः समासरा दोषाविष्करणशोभाः ॥ १८ ॥

प० टी०—तदेव प्रपञ्चयति—अहंकारमिति । अहङ्कारादीन् संश्रिता आत्मपरदेहेषु चिदंशत्वेनावस्थितं
मां द्विपन्तोऽप्येतिपूर्वकं यजन्तो भूयैव स्वदेहं छेदयन्ति । पश्चादिहिंसया च परदेहमत एवमयोनिसेव
द्विपन्तोऽभ्यसूयकाः सन्मार्गवर्तिनां गुणदोषारोपकाः ॥ १८ ॥

रा० टी०—सर्वकर्मकारयितारं सर्वान्तर्यामिणं त्वां कुतो न यजन्त इत्यत आह—अहंकारमिति ।
अहंकारादिसंश्रिताः सन्तः आत्मदेहे परदेहेषु च नियामकतया स्थितं मां प्रद्विपन्तः । यदि ईश्वरः कार-
यितास्ति तर्हीदानीमकुर्वाणं मां कारयतु कुर्वाणं च विधातयतु इत्येवं भगवत्पलापरूपप्रद्वेषं कुर्वन्तः ।
अभ्यसूयकाः निदोषे दोषान्वदन्तः । गुणपूर्णे गुणहीनतां वदन्तः यजन्तु इत्यनुपज्जते ॥ १८ ॥

तानहं द्विपतः क्रूराः संसारेषु नराधमान् ॥

क्षिपाम्यजसमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

त० टी०—एवमासुराणां प्रवृत्तिं स्वभावं चोक्तेदानां तेषां नित्यसंस्काररूपामुद्योगतिं फलमाह—
तानिति द्वाभ्याम् । तान् मां साधून् द्विपतः क्रूरानत्युग्रस्वभावान् संसारेषु जन्ममरणादिपापेषु
तत्राप्यासुरीष्वेव योनिषु अनशं निरन्तरं क्षिपामि । तत्स्वभावात्तुगुणसुखोत्तरं क्रूराद्विमेव तेषां
वर्धयामीत्यर्थः ॥ १९ ॥

म० टी०—तेषां तत्कृत्यया कदापिनिस्तारः स्यादिति चेत्त्याह—तानिति । तान् सन्मार्गप्रविषद्भूतान् द्विपतः
साधून् मां क्रूरान् हिंसापरान् अजो नराधमान् अविनिन्दितान् अजस्रं सन्तसमशुभान् अनुप्रकर्मका-
रिणः अहं सर्वकर्मफलदायेश्वरः संसारेष्वेव नरकसंस्करणमार्गेषु क्षिपामि पावयामि । नरकगवाक्ष आसुरीष्वेव
अतिक्रूरासु व्याघ्रसर्पादियोनिषु तत्कर्मवासनानुसारेण क्षिपामीत्यनुपपद्यते । एतादृशेषु द्रोहिषु नास्ति ममे-

शरस्य कृपेत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—“अथ[य इह] कपूयचरणाः अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापधेरन् श्रयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा” इति । कपूयचरणाः कुत्सितकर्माणः अभ्याशो ह शीघ्रमेव कपूयां कुत्सिता योनिमापद्यन्त इति श्रुतेरर्थः । अत एव पूर्वपूर्वकर्मानुसारित्वात्तेश्वरस्य वैपन्यं नैर्घृण्यं वा । तथा च पारमार्थं सुत्रम् ‘वैपन्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति’ इति । एवं च पापकर्माण्येव तेषां कारयति भगवान् तेषु सद्गीजसत्त्वात् । कारुणिकत्वेऽपि तानि न नाशयति तन्नाशकमुष्ण्येवचयाभावात् । पुष्ण्येवचयं न कारयति तेषामयोम्यत्त्वात् । न हीश्वरः पापाणेषु यवाङ्कुरान् करोति । ईश्वरत्वादयोऽगवस्यापि योग्यतां संपादयितुं शक्नोतीति चेत्, शक्नोत्येव सत्यसंकल्पत्वात्, यदि संकल्पयेत् । न तु संकल्पयति आज्ञा-
लक्षितु स्वभक्तश्रोत्रिषु दुरात्मस्वप्रसन्नत्वात् । अत एव श्रुते ‘एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तं यशुजि-
नीपते, एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमयो निनीपते’ इति । तेषु प्रसादकारणमस्स्याज्ञापालनादि तेषु प्रसीदति । तेषु तु द्वैपरित्यं तेषु न प्रसीदति सति कारणे कार्यं कारणाभावे कार्याभाव इति किमत्र वैपन्यम् ।
‘परासु वच्छ्रुतेः’ इति न्यायाच्च । अन्ततो गत्वा किञ्चिद्वैपन्यापावने महामात्यत्वावरोपः ॥ १९ ॥

शं० टी०—किंच—तानिति । मां द्विपतः स्वदेहपरदेहेषु मामात्मानं द्विपवत्तत् एव कुरान् कूरकर्मणो दया-
स्यशौचाचारशून्यानिशुभानमङ्गलाचारनिरस्तान्त एव नराधमान् वानासुराभिरूपासुरसंपद्विशिष्टान् जनान्
तत्कृतदुष्कर्मभिः संसारेषु संसारमार्गेषु । यद्वा संश्रियन्ते भुव्यन्व इति संसारा जन्ममरणदिदोदास्तेष्वनु-
भावेषु सप्तसु तदनुभूयै आसुरीध्वेवातिकूरासु शुनकसूरसर्पव्याघ्रादियोगिषु क्षिपामि तत्कर्मानुरूपामेव
शुनकादियोगिजलं पुनः पुनः प्रोपयाम्यहमीश्वरो मदाज्ञाच्छेदिनो जनानित्यर्थः ॥ १९ ॥

श्री० टी०—तेषां च कदाचिद्व्यासुरस्वरवभावप्रच्युतिर्न भवतीत्याह—तानिति द्वाभ्याम् । वानहं मां द्विपतः
कूरान्संसारेषु जन्ममृत्युमार्गेषु वत्रापि आसुरीध्वेव अतिकूरासु व्याघ्रादियोगिषु अजस्रमनवरतं क्षिपामि,
तेषां पापकर्माणां तादृशं फलं ददामीत्यर्थः ॥ १९ ॥

स० टी०—तेषां त्वदृष्टया जातु निस्तारः स्याद्विहेति चेत् ॥ मैवं सन्मार्गशृंस्तान्मां साधुभिर्पुतः
शठान् ॥ १ ॥ हिंसान्मुनिन्दिवाचाराभिर्यं चाशुभकारिणः ॥ अहं सर्वेश्वरः कर्मफलदाता यथायथम्
॥ २ ॥ संसारेषु सदा दुःखमार्गेषु नरकेषु च ॥ पावयामि तवस्तांश्च व्याप्तपरादियोगिषु ॥ ३ ॥ कूर-
स्वन्यासुरीध्वेव सत्कर्मानुसारतः ॥ एतादृशेषु कुट्टेषु मत्कर्मां नास्ति कर्द्विचित् ॥ ४ ॥ १९ ॥

भा० टी०—एतद्विशेषणवतभासुराणां गदिसाह—तानिति । वान्सन्मार्गप्रतिपक्षमूतान् साधुद्वेषिणो
द्विपवत्तत् मां कूरान् व्याघ्रादिकूरजन्तुतुल्यान् अजलं सबलम् अनुभानशुभकर्मभारिणोऽतो नराधमान्नेव-
चिनिष्ठानहं धर्माधर्मफलदाता परमेश्वरोऽधर्मदोषवत्तात्संसारेषु नरकसंसारमार्गेषु आसुरीध्वेव कूरकर्म-
प्रायसु सिद्धव्याघ्रादियोगिषु क्षिपामि संसारेऽस्मिन्लोके इषयः परमभेदकत्वात् संसारेऽयः वे च ते
नराधमानाश्चेति विषयस्तु फलज्ञानकृष्णालम्ब्यत्वादाचार्यैः परित्यक्तः ॥ १९ ॥

प० टी०—तेषां कदाचिद्व्यासुरयोनिप्रच्युतिर्न भवतीत्याह—तानिति द्वाभ्याम् । वान् मां द्विपतः
कूरान् नराधमान् अनुप्ययोगिष्वप्यधमां संसारेषु जन्ममृत्युमार्गेषु वत्राप्यासुरीषु योगिषु व्याघ्रसर्पवृद्धि-
कादिहिंस्रयोनिष्वजस्रं निरन्तरं क्षिपामि ॥ १९ ॥

रा० टी०—नरकं पक्ष्मत्वेवामदेव न तेषां फलं किंतु किञ्चित्कालं संसारमनुभूय पश्चात्तदनरकमपि
मयैव प्राप्नुयन्तीत्यह—तानिति द्वाभ्याम् । वान्प्रवृत्तिं चेत्पादिनोऽप्यनिर्द्विपतः कूरान् अत एवशाश्वतान्ना-
धमान्संसारेषु वत्राप्यासुरयोनिषु अजस्रं पुनः पुनः क्षिपामि स्थापयामि ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ॥

मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधर्मां गतिम् ॥ २० ॥

त० टी०—ततस्ते—आसुरीमिति । मूढा विवेकशून्या मच्छासनविपरीताचरणाश्रयां योनिमा-
पन्नाः जन्मनि जन्मनि पुनः पुनस्तमोबहुलास्वेव जायमाना मां सर्वशरं सर्वकर्मफलप्रदातारमप्राप्यैव
गुरुशास्त्रोपदेशाभावेन अस्ति परमेश्वरो भगवान्नामुदेवः सर्वाराध्य इति ज्ञानमप्राप्यैव ततो मद्विषया-
ज्ञानादधर्मां भवशूकरादियोनिरूपां गतिं फलं यान्ति प्राप्नुवन्ति ॥ २० ॥

म० टी०—ननु वेपामपि फलेण यद्गता जन्मनामन्ते श्रेयो भविष्यति ? नेत्याह—आसुरीमिति । ये
कदाचिदासुरीं योनिमापन्नास्ते जन्मनि जन्मनि प्रविजन्म मूढास्तमोबहुलस्वेनाविवेकिनस्ततस्तस्मादपि
यान्त्यधर्मां गतिं निरुद्धतमां गतिम् । मामप्राप्येति न मत्प्राप्तौ काचिदाशङ्काप्यस्ति, अतो महुपदिष्टं वेदमार्ग-
मप्राप्येत्यर्थः । एषकारस्तिर्यङ्स्थावरादिषु वेदमार्गप्राप्तिस्वरूपायोग्यतां दर्शयति । तेनात्यन्ततमोबहुलत्वेन
वेदमार्गप्राप्तिस्वरूपायोग्या भूत्वा पूर्वपूर्वनिरुद्धयोनितो निरुद्धतमामधमा योनिमुत्तरोच्चं गच्छन्तीत्यर्थः ।
हे कौन्तेयेति निजसंबन्धकथनेन त्वमितो निस्तोर्ण इति सूचयति । यस्मादेकदा आसुरीं योनिमापन्नानामुत्त-
रोच्चं निरुद्धतरनिरुद्धतमयोनिद्विभो न तु तत्प्रतीकारसामर्थ्यमत्यन्ततमोबहुलत्वात्, तस्माद्योनिमनुष्यदेह-
लाभोऽस्ति तावन्महताऽपि प्रयत्नेनासुर्याः संपदः परमकष्टतमायाः परिहाराय त्वरयैव यथाशक्ति । देवी
संपदनुष्ठेया श्रेयोर्धिभिरन्यथा विर्यगादिदेहप्राप्तौ साधनानुपानायोग्यत्वाच्च कदापि निस्तारोऽस्तीति महत्
संरुद्धमापद्येतेति समुदायार्थः । तदुक्तम् । इहैव नरकन्यावेत्तिक्रिस्तां न करोति यः । गत्वा निरौप्यं
स्थानं सवजः किं करिष्यति ? इति ॥ २० ॥

शं० टी०—ननु शुनकादियोनिषु प्रवेशितानामपि वेपा बहुजन्मनामन्ते मोक्षः स्यादेवेत्याशङ्कयां
न, इमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तानि भूतानि भवन्ति । जायन्त्यस्यैव श्रवणाद्देवविक्रान्ताचारनिरताना पा-
विष्ठानां वेपा पुनःपुनर्जन्मनरणे विना न कदाचिदपि मत्प्राप्तिरस्तीत्याह—आसुरीमिति । अनेकविच-
विभ्रान्ताः कामभोगप्रसक्ता अशुचिन्ता मूढाः स्वकीयदोषाविशयादेव जन्मनि जन्मनि प्रविजन्मपन्था-
सुरीमेव योनिमापन्नाः सन्तो मामप्राप्य—अत्र मामिति मच्छाद्वेन स्वप्राप्तिसाधनं लब्धत्वे—मा मत्प्राप्ति-
योग्यं मानवं वेदमप्राप्यैव ततोऽस्यासुरयोन्त्यपेक्षयाऽधर्मां निरुद्धा वृक्षप्रपाणादिरूपा वा पैशाचा वा गतिं
गम्यन्त इति गतिस्तुं यान्ति । न तु साधनं पुनः शुनकादियोनिमपि प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । प्रवृत्तिं पश्चिन्वृत्तिं च जना
न विदुरित्पाराभ्य ततो यान्त्यधर्मा गतिमित्यन्तेन ग्रन्थेन रजस्तमोदोषदुषितान्तरङ्गणात्मासुराणां वा संपत्तयाः
फलमयोध.पतनं विना न कदाचिदपि श्रेय प्राप्तिर्यस्मात्प्राप्तिं तस्यादुद्धिमान् सदा सदसद्विभेकी पुरुषः पुरु-
षत्वसिद्धेः साफल्यस्य स्वयं विवेकभ्रंशहेतोर्दुर्योगिप्राप्तेः पूर्वमेवासुरसंपत्तेरपिपुण्यो भूत्वा सदा सदसद्विभेकीरा-
ग्याभ्या परमपुरुषार्थस्य यत्नेनेति सूचितं भवति । तेनासुरसंपद्द्रव्यादेव न कचिन्मोक्षोदयेति सिद्धम् ॥ २० ॥

श्री० टी०—किंच—आसुरीमिति । ते च मामप्राप्यैवेत्येवकारेण मत्प्राप्तिरङ्गा कुलत्वेना यथाप्युपपन्नं
सन्मार्गमप्यप्राप्य ततोऽन्यथैवा कृमिकीटादियोनिं गतिं यान्त्यधुक्त्म् । श्रेयं स्पष्टम् ॥ २० ॥

स० टी०—यद्गता जन्मनामन्ते ह्यासुराणां क्रमादपि ॥ नास्ति श्रेयोऽवेतिनित्यत्वादित्याह भगवान्स-
यम् ॥ १ ॥ ये तु ज्ञात्वाऽऽसुरीं योनिमापन्ना प्रविजन्म ते ॥ मूढास्तमस आधिक्यादविवेकिन एव च
॥ २ ॥ तस्मादप्यधर्मा योनिं सामप्राप्यैव यान्ति ते ॥ अतो महुपदिष्टं वेदमार्गं मत्प्राप्य ॥ ३ ॥
अप्राप्य नैव मत्प्राप्तौ विचारं प्रयान्त्यपि ॥ तस्माद्यावन्नुदेहेन संन्यस्तावदेव हि ॥ ४ ॥ परिहृत्या-

सुरीं दुष्टां संपदं नरकावहाम् ॥ सहतापि प्रयत्नेन दैवी संपदमाश्रितः ॥ ५ ॥ भगवन्तं भजेत्प्राज्ञो
यावन्मृत्युर्न चापतेत् ॥ तद्वत् न कदाप्यस्ति नित्यारः संस्तुतेरिति ॥ ६ ॥ सूचितं हरिणा साक्षा-
त्तदुक्तं च स्मृतावपि ॥ इदं नरकव्याधेर्निश्चिंत्सां न करोति यः ॥ ७ ॥ गत्वा निरौष्यं स्थानं स रुजः
किं करिष्यति ॥ ८ ॥ २० ॥

भा० टी०—ननु सेषामपि क्रमेण यद्गता जन्मनामन्ते श्रेयो भविष्यति?—नेत्याह—आसुरीमिति । मूढा
अविधेकिनो जन्मनि जन्मनि प्रतिजन्मासुरीं योनिमापन्नाः प्राप्ता मामीश्वरमप्राप्यैवानासाद्यैव मत्प्राप्तिशङ्काया
अप्यभावात् । मच्छिष्टसाधुमार्गप्राप्तिमप्राप्येत्येवकारेण सूचितम् । तत्र आसुर्यां योनिबोध्यधमा निकृष्टां गतिं
यान्ति तेषां श्रेयः कदापि न भविष्यतीति भावः । कौन्तेयेतिसंशोधयन् त्वं ॥ मपि नृप्वत्सुप्रव्रतान्मां
प्राप्यासुर्यादियोनिषु गन्तुमयोभ्योऽस्मीति मा शुच इति द्योतयति । यस्मादासुरीसंपदनर्थापरारूपा सर्व-
पुरुषार्थपरिग्रहणी तस्मादेषानुग्रहात् मानुषीं योनिमापन्नैः सर्वैवेकं परिहरणीयेति समुदायार्थः ॥ २० ॥

प० टी०—अथासुरयोनिं संस्कारवशाच्चौचौचतरयोनिपूषयन्ते इत्याह—आसुरीमिति । आसुरीं योनि-
मापन्नाः प्राप्ता जन्मजन्मनि मूढा ज्ञानलवणशून्या भवन्ति । अतो मामप्राप्याधमां गतिं यान्ति । श्रुतिरपी-
शावांसोपनिषत्सु—“ आसुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः । तास्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चारम-
हन्तो जनाः ” इति । भाष्यम्—ये लोका आसुर्या नाम असुराणामंशभूता आसुर्यास्ते अन्धेन तमसा निवि-
ष्टतराज्ञानेन वृता अच्छन्नाः सन्ति । अथ ते के ? ये आत्महन आत्मपादकाः पश्चादिर्हिसारतास्ते प्रेत्य
वेहं त्यक्त्वा तान् पूर्वोक्तान् लोकानौभगच्छन्ति, यतः पुनर्निस्वारो नास्तीत्यर्थः ॥ २० ॥

रा० टी०—आसुरीमिति । ततो मूढाः तामसस्वभावाः जन्मनि जन्मनि अनेकजन्मसु आसुरीं योनि-
मापन्नाः मामप्राप्यैवाधमां नित्यनरकलक्षणां गतिं यान्ति ॥ २० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ॥

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतन्नयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

त० टी०—एवमुक्तः सर्व आसुरभावः । इदानीं सर्वानर्थस्यासुरीसंपदश्च मूलं यत्परिहारेण सर्वान-
नर्थः परिहृतो भवति, तत्रिविधं परित्यागार्थमाह—त्रिविधमिति । त्रिविधं त्रिमकारं नरकस्य नर-
कमाप्तौ इदं द्वारमस्ति । किंभूतं ? आत्मनो नाशनं यद्द्वारं त्रिविधमेव पुरुषो नश्यति सर्वपुरुषार्थर-
हितो भवति । किं तन्निर्गमः ? कामः क्रोधस्तथा लोभ इति । यस्माद्वात्मनो नाशनं नरकस्य द्वारं तस्मा-
देतत्कामादिभ्यं त्यजेत् यस्ततः परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

म० टी०—नन्वासुरी संपदनन्तमेवयवी कथं पुरुषयुगेणापि परिहर्तुं शक्येतेत्याशङ्क्य ता संक्षिप्याह—
त्रिविधमिति । इदं त्रिविधं त्रिमकारं नरकस्य प्राप्ती द्वारं साधनं सर्वस्या आसुरीयाः संपदो मूलभूतं
आत्मनो नाशनं सर्वपुरुषार्थायोग्यतासंपादनेनात्यन्दाधमयोनिप्रापकम् ? किं तदित्यत आह—कामः क्रोध-
स्तथा लोभ इति । प्राग्व्याख्यातम् । यस्मादेतन्नयमेव सर्वानर्थमूलं तस्मादेतन्नयं त्यजेत् । एतन्नयत्यागेनैव
सर्वाप्यासुरी संपत्त्यका भवति । एतन्नयत्यागश्च उत्पन्नस्य विवेकेन कार्यप्रतिबन्धः । यतः परं चानुत्पत्ति-
रिति दृष्टव्यम् ॥ २१ ॥

शं० टी०—प्रविधादित्यासुवासुरसंपत्तेः सर्वस्वमत्रैव पर्यवसितमेतत्तद्वये परित्यक्ते प्रधानमहानिर्हण-
न्यायेनाऽऽसुरी संपत्सर्वोपि परित्यक्ता स्यात्ततो मुमुक्षोरवश्यमेतत्तद्वयं त्यक्तव्यम् । एतन्नयत्यागेनैव
श्रेयसायनमनुसिद्धतः पुंशः परमपुरुषार्थः सिध्यतीति प्रतिपादयति—त्रिविधमिति द्वाभ्याम् । नरत्वेनो-

लुप्तजन्मवतां नराणां निरिक्षयमकं दुःखं यत्र तत्ररक्तं शुनकसूकरादिनीचयोनिः नरकमिति शकन्धादिकं रूपं तस्य नरकस्य आदिनिकृष्टयोनिरूपस्य प्राप्तेः कामः क्रोधो लोभ इति त्रिविधं त्रिप्रकारकमेव द्वारं प्रवेशमार्गः नैवेतादृशं द्वारमन्यदस्तीत्यर्थः । ननु कामादीनां नीचयोनिप्राप्तिद्वारत्वमस्तु ततः का नो हानि-
रित्याशङ्क्यामाह—नाशनमिति । जन्मान्तरानेककृत्वपुण्यातिशयान्मनुष्यत्वरूपत्वत्राक्षणात्वेदायधीतिमत्त्व-
विवेकित्वलक्षणं मोक्षसौधान्तगारूढस्यात्मनः स्वस्याधिकारिणो मुमुक्षोः कामादित्रयमेतत्पुरुषार्थस्य ताशक्तं
भवति धर्माधर्मकर्तव्याकर्तव्यार्थानर्थवन्धमोक्षविवेकविज्ञानं नाशयतीत्यर्थः । नहि कामाकुलस्य क्रोधाविष्ट-
स्य वा लोभप्रदप्रत्यक्ष वा धर्माधर्मोदिविवेकविज्ञानं भवति तदभावे पुरुषो विनश्यत्येव । मनुष्यत्वाद्युल्लुप्तमो-
क्षसाधनसंपत्त्या मोक्षसौधान्तगारूढोऽपि प्रमादेन तालारूढ इव कामादिभिरधः पातितः सन् निःशेषं विन-
श्यति । ननु चास्ति वश्यं स्वस्वरूपाशं विना किंचिच्छेषं सिध्यत्यत एवोच्यते नाशनमात्मन इति । यस्मादेवं
कामादीनां प्रभावस्तस्मान्मुमुक्षुर्विवेकसंपन्नस्तत्त्वभावं ज्ञात्वा स्वाविनाशाय चण्डालनिव कामं कृणुसर्व-
निव क्रोधं सलभिन लोभं चैतन्नयं दूरतस्त्यजेन्न तेषां गोचरो भवेदित्यर्थः ॥ २१ ॥

श्री० टी०—उक्तानामासुरदोषाणां मध्ये सकलदोषमूलभूतं दोषत्रयं सर्वथा वर्जनीयमित्याह—त्रिविध-
मिति । कामः क्रोधो लोभश्चेयीदं त्रिविधं नरकस्य द्वारम् । अत्र एवात्मनो नाशनं नीचयोनिप्रापकम् ।
वस्मादेतत्त्रयं सर्वात्मना त्यजेत् ॥ २१ ॥

स० टी०—ननु वर्षशतेनापि परिहर्तुं न चासुरी ॥ शक्यवेऽनन्वभेदात्वेत्याशङ्क्याह समासतः ॥ १ ॥
साधनं नरकप्राप्तौ त्रिप्रकारमिदं शृणु ॥ आसुर्याः संपदो मूलं पुरुषार्थकथावकम् ॥ २ ॥ यस्मादेतत्त्रयं
सर्वानर्थमूलमुद्गिरितम् ॥ तस्मादेतत्त्रयत्वागात्पक्षा सर्वासुरी भवेत् ॥ ३ ॥ उत्पन्नस्य त्रयस्यास्य विदे-
केन विरागतः ॥ फलस्य प्रतिबन्धो हि त्यागोऽनुत्पत्तिरेव च ॥ ४ ॥ २१ ॥

भा० टी०—नन्वनन्तभेदकवीयमासुरी संपत्पुरुषार्थपेयापि परिहर्तुमशक्येत्याशङ्क्य सर्व आसुरसंपद्रे-
दोऽनन्तोऽपि यस्मिन्नन्तर्भवति यत्परिहारेण परिहृत्य भवति तत्सर्वानर्थमूलभूतं दर्शयति—त्रिविधमिति ।
त्रिविधं त्रिप्रकारमिदं नरकस्य नरकप्राप्तौ द्वारमात्मनो नाशनं यद्वारं प्रविशन्नेवात्म नश्यति न
फलमैवित्पुरुषार्थाय योग्यो भवति । किं तत् ? कामः क्रोधस्तथा लोभः इति त्रिविधं नरकस्य द्वारं नाशनं-
मात्मनस्तस्मादेतत्कामादित्रयं श्रेयोर्थी त्यजेत् ॥ २१ ॥

प० टी०—अथोक्तानामासुरदोषाणां मध्ये सकलदोषमूलभूतं दोषत्रयं सर्वथा वर्जनीयमित्याह—त्रिविध-
मिति । इदं प्रोच्यमानं नरकस्य निरयप्राप्तेर्द्वारं त्रिविधमस्ति । तस्मिन् कामः क्रोधस्तथा लोभः । तत्र
कामनया विपरीक्रियतेऽसौ कामोऽभिलाषः तस्य प्रयत्नादप्राप्तौ क्रोधप्राप्तौ च प्राणादप्यधिकयत्नेन संर-
क्षणं लोभः, एतत्त्रयम् । किमुक्तम् ? अत्मनो नाशनमभययोनिप्रापकं तस्मात्सर्वप्रयत्नेदेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

श० टी०—उक्तेषु पुनर्वविरोधिषु प्रवानदोषत्रयमवश्यं त्याज्यामित्याह—त्रिविधमिति । कामः क्रोधः लोभः
इति इदं त्रिविधं नरकद्वारं नरकसाधनम् । अत्र एव आत्मनो नाशनमनर्थप्रापकम् । तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।
तत्र च कारणमावाप्तरकाणामप्राप्तिरिति भावः ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरैः ॥

आचस्त्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

त० टी०—तस्यागमेव श्रेयोहेतुत्वेन स्तौति—एतैरिति । एतैः कामक्रोधलोभैस्ततोद्वारैस्ताभि-
सान्ध्यामिसादिनरकस्य द्वारभूतैस्त्रिभिर्विमुक्तो विशेषतो मुक्तो नर आत्मनः श्रेयो मोक्षसाधन-
प्राचरति मद्भक्तिज्ञानोपाये यत्ते । ततो ज्ञानभक्तिपरिपाकात्परां गतिं परमफलं मामेव याति ॥ २२ ॥

म० टी०—एतन्नयं त्यजतः किं स्यादिति उपाह—एतैरिति । एतैः कामश्रेयश्लोभैस्त्रिभिस्तमोद्वारैर्नरकसाधनैर्विमुक्तो विरहितः पुरुष आचरत्यात्मनः श्रेयो यद्धितं वेदयोषितं हे कोन्तेय, पूर्वं हि कामादिप्रतिपदः श्रेयो नाचरति येन पुरुषार्थः सिध्येत् । अश्रेयश्चाचरति येन निरवपातः स्यात् । अधुना तदप्रतिपत्त्यपरहितः सन्नश्रेयो नाचरति श्रेयश्चाचरति । तत ऐहिकं सुखमनुभूय सम्यग्धीद्वारा याति परां गतिं मोक्षम् ॥ २२ ॥

श्र० टी०—एवं कामादीनामभ्यन्तरेषु चिहेतुतया नरकद्वारत्वं समुद्धृत्यागत्य च प्रतिपाद्य एतैर्विमुक्तः श्रेयसाधननिष्ठो भूत्वा श्रेयः प्राप्नोतीत्याह—एतैरिति । नरो समुद्धृतराधिकारी प्राज्ञणादिविद्वान् तमोद्वारैः तमसो नरकस्य द्वारैर्द्वारभूयैस्त्रिभिरेतैः कामश्रेयश्लोभैर्विमुक्तो विशिष्य निर्मुक्तः सन्नागानः स्वस्य श्रेयसाधनं स्वाधिकारासुरूपं स्वाभ्युपार्जितं धर्मं वैदिकं वा श्रवणादिकं वा यदाऽऽचरति सम्यगनुविष्टति ततस्तेनैवानुप्राप्तेन पिच्छशुद्धिद्वारा समुत्पन्नात्मज्ञानेन परां गतिं विदेहमुक्तिं याति गच्छतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

श्री० टी०—त्यागे च विशिष्टफलमाह—एतैरिति । तमसो नरकस्य द्वारभूतैरेतैस्त्रिभिः कामादिभिर्विमुक्तो नरः आत्मनः श्रेयसाधनं तपोयोगादिकर्माचरति । ततश्च मोक्षं प्राप्नोति ॥ २२ ॥

स० टी०—किं स्यादेतप्रत्ययगात्पुंस एवच्छृणु स्फुटम् ॥ एतैः कामादिभिर्दोषैस्त्रिभिर्नरकसाधनैः ॥ १ ॥ पुमान्विरहितः श्रेयो यद्धितं वेदयोषितम् ॥ आचरत्यात्मनः सम्यग्धीद्वारैवि परां गतिम् ॥ २ ॥ कामादिप्रतिपदः प्राक् श्रेयो नाचरति स्वयम् ॥ अश्रेयस्त्वाचरत्येव येन स्थानिरये स्थितिः ॥ ३ ॥ कामादिशून्यः पुरुषो नाश्रेयश्चरति ह्ययम् ॥ श्रेयः सम्यकरत्येव तवो याति परां गतिम् ॥ ४ ॥ २२ ॥

भा० टी०—एतैर्विमुक्तो लौकिकसुरोपभोगपूर्विकां परां गतिं यावद्विधाह—एतैरिति । एतैः कामादिभिस्त्रिभिस्तमसो नरकस्य दुःसमोदात्मकस्य द्वारैः श्रेयःप्रवृत्तिप्रतिपत्त्यभेदैर्विमुक्तो नर आत्मनः श्रेयसाधनं मन्त्राधनादिकनाचरत्यनुविष्टति । ततस्तद्व्यचरणान्न लौकिकसुरं भुक्त्वा परां गतिं मोक्षमपि याति गच्छति । यः कामादिभिर्विमुक्तः स एव नरः सार्थकनरजन्मा च इतरे पक्षयो निरर्थकनरजन्मानशेषे विवृणुते नर इत्युक्तम् । एवं तु कामादिभिर्विमुक्तायाः कुल्याः पुत्रत्वाच्चैर्विमुक्तः सन् लौकिकं सुरं भुक्त्वा परां गतिं गन्तुं योगोऽस्तीति चोक्तयन्माह—कौन्तेयेति ॥ २२ ॥

प० टी०—त्यागे च विशिष्टफलमाह—एतैरिति । तमसो नरकस्य द्वारभूतैरेतैस्त्रिभिः कामादिभिर्विमुक्तो नर आत्मनः श्रेयसाधनं तपोयोगाद्याचरति । ततः परां गतिं याति ॥ २२ ॥

रा० टी०—न केवलं कामादित्यागेन नरकाप्राप्तिः परमपुण्यप्राप्तिश्चास्तीत्याह—एतैरिति । तमोद्वारैर्नरकहेतुभिस्त्रिभिरेतैः कामश्रेयश्लोभैर्विमुक्तो नरः आत्मनः श्रेयसाधनमाचरति । ततः परां गतिं मोक्षं याति ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकास्तः ॥

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

त० टी०—उक्तस्य सर्वस्यासुरभावस्य कामादेस्त्रिविधस्य नरकद्वारस्य च परिवर्जनेन श्रेयश्चाचरणं च विधिनिषेधरूपशास्त्रज्ञानाद्यौनमिति वक्तुं तदनादरेणाचरणं सर्वश्रेयोवाधकमित्याह—यः शास्त्रविधिमिति । यच्छब्देन शास्त्रीयकार्यानुष्ठानाधिकारी सामान्यो गृह्यते । जीवानां हितं शास्त्रं बोधयतीति । शास्त्रं वेदस्तदुपजीविस्मृतिपुराणेतिहासादि तत्संबन्धी विधिरित्युपलक्षणं निषेधस्य । तथा चैवं कुर्यादेवं न कुर्यादिति कर्तव्याकर्तव्यविषयो लिङ्गादिशब्दस्तमुत्सृज्योपेक्ष्य कामकास्तः स्वेच्छया यो वर्तते गुणकार्येषु वर्तते स सिद्धिं साधनसिद्धिं कर्माद्युपायं कुर्वन्नपि नाप्नोति । सिद्धयभावे न सुखमैकामुष्मिकं किमपि प्राप्नोति, न परां गतिं मुक्तिं प्राप्नोति ॥ २३ ॥

प० टी०—यस्मादश्रेयोनाचरणस्य श्रेयआचरणस्य च शास्त्रमेव निमित्तं तयोः शास्त्रैकगम्यत्वात् तस्मात्—यः शास्त्रेति । शिष्यत्वेऽनुशिष्यत्वेऽपूर्वोऽर्थो बोध्यत्वेऽनेनेति शास्त्रं वेदः वदुष्यांविस्मृतिपुराणादि च वत्संयन्धी विधिर्लेद्धादिशब्दः कुर्यान्न कुर्यादित्येवं प्रवर्तनानिवर्तनात्मकः कर्तव्याकर्तव्यज्ञानहेतुर्विधिनपेनाख्यस्तं शास्त्रविधिं विधिनिषेधातिरिक्तमपि ब्रह्मप्रतिपादकं शास्त्रमस्तीति सूचयितुं विधिशब्दः । उत्सृज्य अश्रद्धया परित्यज्य कामकारतः स्वेच्छामात्रेण वर्तते विहितमपि नाचरति निषिद्धमप्याचरति यः स सिद्धिं पुरुषार्थप्राप्तियोग्यतामन्तःकरणशुद्धिं कर्माणि कुर्वन्नपि नाप्नोति न सुखमैहिकं, नापि परां प्रकृष्टां गतिं स्वर्गं मोक्षं वा ॥ २२ ॥

श्री० टी०—एवं दम्भवर्ज्यतिमानाद्यासुरसंघत्तिमतां वेदशास्त्रविधिमुद्धृत्य तदुक्तधर्माधर्मानुदस्य तत्फलप्रदा-
तारं चापीश्वरमनादृत्य यथेष्टं कामोपभोगेषु परस्वहरणादौ च प्रवृत्तानां पापिष्ठानां पुनरारोहवर्जितमधः-
पतनं प्रतिपाद्य स्वाज्ञानमुद्धृत्वा यः पुनरापि य एवमेव प्रवर्तते सोऽप्यथोलोकमेव गच्छति, न मुक्तिवार्तां स्वप्ने-
ऽपि विन्दतीत्युक्तमेवार्थं द्रष्टव्यम्—य इति । यः श्रुताध्ययनसंपन्नो ब्राह्मणादिरधिकारी शास्त्रविधिं विधीयते
अपूर्वोऽर्थो बोध्यत्वेऽनेनेति विधिः “अग्नीषोमीयं पशुमालभेत्”, “न कलशं भक्षयेत्” इत्येवं कर्तव्याकर्तव्यार्थ-
प्रकाशकं शास्त्रविधिं चोदनाविधिं निषेधं चोत्सृज्याविचार्य शास्त्रविधिमपेक्ष्यैतत्कामकारतः कामनया यथेच्छं
वर्तते शास्त्रनियममुद्धृत्य स्वेच्छानुरूपं श्रद्धाविधुरं कर्मानुष्ठानं यः करोतीत्यर्थः । स कामापन्नप्रवृत्तिः पुरुषः
सिद्धिमविधिना कृतवत्तैः कर्मभिश्चित्तशुद्धिं नाप्नोति । विध्युक्तस्यैव कर्मणः कल्याणवश्यंभावित्वनियमात्त एव
स्वर्गाय च सुखं न प्राप्नोति । कर्मणां मुक्तिसाधनत्वाभावात्परं गतिं मोक्षं चापि नाप्नोति । पथेच्छमविधिना
कर्म कुर्वाणः स्वर्गापन्नोभयभ्रष्टो भवतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

श्री० टी०—कामादित्यागश्च स्वधर्माचरणं विना न भवतीत्याह—य इति । शास्त्रविधिं वेदविहितं धर्म-
मुत्सृज्य यः कामकारतो यथेच्छं वर्तते, स सिद्धिं तत्त्वज्ञानं न प्राप्नोति, न च सुखमुपपन्नं, न च परां
गतिं मुक्तिं प्राप्नोति ॥ २३ ॥

स० टी०—शिष्यत्वे बोध्यत्वेऽनेनापूर्वार्थ इति शास्त्रकम् ॥ वेदस्तदुपजीव्येतस्मृत्याद्यपि तदेवं च ॥ १॥
तत्संयन्धिविधिं यस्तु परित्यज्याविनाशितकः ॥ स्वेच्छामात्रेण विहितं न करोति निषिद्धकृत् ॥ २ ॥ स
सिद्धिं चेतसः शुद्धिं पुमर्थप्राप्तियोग्यताम् ॥ नाप्नोति नैहिकं सौन्दर्यं न स्वर्गं नापवर्गकृत् ॥ ३ ॥ २३ ॥

भा० टी०—आसुर्याः संपदः परिवर्जनस्य श्रेयआचरणस्य च किं कारणमित्यपेक्षायामुभयं शास्त्रप्रमा-
णाच्छङ्क्यं कर्तुं नान्यथाऽत उभयोः शास्त्रं कारणमिति बोधयितुं शास्त्रविधित्वागेऽनर्थनाह—य इति ।
शिष्यत्वेऽनुशिष्यत्वे बोध्यत्वेऽनेनाहतीर्ष इति शास्त्रं वेदस्तदुपजीव्येतस्मृतिपुराणादि च तस्य विधिः
कुर्यान्न कुर्यादिति कर्तव्याकर्तव्यज्ञानकारणं शास्त्रसंयन्धिविधिनिषेधाख्यस्तं यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य विहाय
कामकारतः स्वेच्छानुसारेण वर्तते कामस्य करणं कामकारस्तस्मादेतोः शास्त्रविधिमुत्सृज्येति वा संयन्धः ।
संसिद्धिं पुरुषार्थयोग्यतां चित्तशुद्धयादिलक्षणां नावाप्नोति नास्मिन्लोके सुखं नापि परां प्रकृष्टां गतिं स्वर्गं
मोक्षं चाप्नोति ॥ २३ ॥

प० टी०—कामादित्यागश्च स्वधर्माचरणं विना न भवतीत्याह—य इति । शास्त्रविधिं वेदधर्ममुत्सृज्य
यः कामकारतः स्वेच्छाचरणेन वर्तते स सिद्धिं तत्त्वज्ञानं न प्राप्नोति न सुखं तत्त्वज्ञानस्य फलरूपमाप्त-
सुखं तत्फलरूपां परां गतिं मोक्षं न प्राप्नोति ॥ २३ ॥

रा० टी०—श्रेयःसाधनानुष्ठाने अज्ञानान्तरं विधातुं वदकरणे बाधकं तावदाह—य इति । यः शास्त्रोक्त-

विधानमुत्सृज्य कामकारत, स्वेच्छामात्रेण यत्र फलित्प्रवर्तते स सिद्धिं पुमर्जोपाय नावाप्नोति । सुखमोहिक परा गतिं मोक्षं च नाप्नोति ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ॥

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु देवासुरसंपद्विभागयोगो

नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

त० टी०—फलितार्थमाह—तस्मादिति । यस्माच्छास्त्रानुकीकारिणां न किमपि फलं भवति, तस्मात् कार्याकार्यव्यवस्थितौ इदमित्यं वा कार्यमिदमित्यं वा न कार्यमित्यस्यां व्यवस्थाया ते तत्र दैवीप्रकृतिकस्य शास्त्रं वेदस्तदुपबृंहणस्युक्तिपुराणेतिहासादिकं प्रमाणं निश्चायकम् । अतः शास्त्रविधानोक्तं विहितं प्रतिपिद्धं च धर्ममर्थं च ज्ञात्वा इह कर्माधिकारे नरलोके स्ववर्णाश्रमोचितमेव युद्धादिकं कर्म कर्तुं त्वमर्हसि ॥ २४ ॥

आसुरीं संपदं हित्वा कामार्थैः कारणैः सह । शास्त्रोक्तमेव कर्तव्यमित्यादिपुं हि षोडशे ॥ १ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकाया तत्त्वप्रकाशिकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

म० टी०—यस्मादेव—तस्मादिति । यस्माच्छास्त्रविगुलवया कामाभीनप्रवृत्तिरहितकारित्रिकसर्व-पुरुषार्थयोग्यस्तस्मात्ते तत्र श्रेयोऽर्थेन कार्याकार्यव्यवस्थितौ किं कार्यं किमकार्यमिति विषये शास्त्रं वेदस्तदुपबृंहणस्युक्तिपुराणादिकमेव प्रमाणं योषकं नान्यत् । श्रौतश्रौतस्युक्तव्याप्तिमिमांसा । एवं चेह कर्माधिकारसूत्रे शास्त्रविधानेन कुर्यान्न कुर्यादित्येवं प्रवर्तनानिवर्तनारूपेण वैदिकलिङ्गादिपदेनोक्तं कर्म विहितं प्रतिपिद्धं च ज्ञात्वा निषिद्धं वर्जयन् विहितं क्षत्रियस्य युद्धादि कर्म त्व कर्तुमर्हसि सत्त्वबुद्धिपर्यन्त-मित्यर्थः । तदेवमस्मिन्नध्याये सर्वस्या आसुर्या, संपदो मूलभूतान् सर्वश्रेय प्रापकान् सर्वश्रेय, प्रति-बन्धकान्सहस्रान् कामक्रेषल्येभान्सहस्र श्रेयोऽर्थिना अर्थान्नवया शास्त्रमवगेन वदुपविष्टाभलुप्तानपरेण भवितव्यमिति संपद्व्यविभागप्रदर्शनमुत्सेन निर्धारितम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिब्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचिताया

श्रीभगवद्गीतागूढार्थटीकाया देवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

शं० टी०—शास्त्रविधानेन कर्मणा कर्तव्यत्व निर्धारयन्नध्यायमुपसहरति—तस्मादिति । यस्मादशास्त्री-याणां कर्मैकनिबन्धनानां कर्मणा फलाभावे निश्चितस्तस्मात् समुक्षो कार्याकार्यव्यवस्थितौ कर्तव्याकर्त-व्यार्थयोर्व्यवस्थापने इदमेवमनेन कर्तव्यमिदं तु न कर्तव्यमित्येवमनुष्ठेयाननुष्ठेयार्थनिर्णये श्रुतिस्मृतिलक्षण-मेव शास्त्रं प्रमाणं तत्तदर्थप्रमाणकं देशकालमन्त्रतन्त्रदेवताद्वयार्थविज्ञानस्य हेतुव्यवज्ञानस्य च कारण-मित्यर्थः । यद्य एव तत्र, कर्मगूणो कर्माधिकारी दैवसंपत्त्या परित्यक्तकामादिदोषस्त्वमभीतवित्तवेदवेदार्थ-सन् शास्त्रविधानोक्तं शास्त्रविधितदमेव कर्म ज्ञात्वा भगदे शास्त्रीय कर्म कर्तव्यमिति शास्त्रतो विज्ञायैव स्वार्थं कर्म कर्तुमर्हसि नान्यथा कर्मफलवैगुण्यापत्तेरित्यनेन स्ववर्णाश्रमोचितं कर्म ज्ञात्वेन विज्ञाय समु-क्षुणा कर्तव्यमिति सिद्धम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिब्राजकाचार्यश्रीमदानन्दालससरस्वतीशिष्यश्रीलकरानन्द-

सरस्वतीकृतौ गीतातात्पर्यवोचिन्या षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

श्री० टी०—फलितमाह—तस्मादिति । इदं कार्यमिदमकार्यमित्यस्यां व्यवस्थाया ते तव शास्त्रं श्रुति-
स्मृतिपुराणादिकमेव प्रमाणम् । अतः शास्त्रविधानोक्तं कर्म ज्ञात्वा इह कर्माधिकारे वर्तमानो यथाधिकारं
कर्म कर्तुमर्हसि, तन्मूलत्वात्सत्त्वशुद्धिसम्भरणज्ञानमुक्तीनामित्यर्थः ॥ २४ ॥

देवदैवसंपत्तिसंविभागेन पोदशे ॥ तत्त्वज्ञानेऽधिकारस्तु सार्विकमेवेति दर्शितम् ॥ १ ॥

इति श्रीसुषोधिण्या टीकायां श्रीपरस्वामिविरचितायां देवासुरसंपद्विभागयोगो

नाम पोदशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

स० टी०—यस्माच्छास्त्रवर्हिर्भूतः कामाधीनप्रवृत्तिभाक् ॥ नैहिकामुक्तिमत्रश्रेयोयोग्यस्तस्मात्तत्त्वार्थानां
॥ १ ॥ किं कार्यं किमकार्यं चेत्तत्र शास्त्रं हि बोधकम् ॥ श्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रमाणं नात्मरूपता ॥ २ ॥
इहाधिकारभूमौ त्वं ज्ञात्वा शास्त्रविधानतः ॥ कुर्यान्न कुर्यादित्येवं निषिद्धं विहितं तथा ॥ ३ ॥
निषिद्धं वर्ज्यन्कर्म विहितं क्षत्रियस्य यत् ॥ पुरुषादिशुद्धिपर्यन्तं कर्तुं योग्योऽसि सर्वदा ॥ ४ ॥ तदेवम-
स्मिन्नध्याये आसुर्याः संपदोऽप्ययम् ॥ मूलभूतास्त्रीनकाभादीस्त्यक्त्वा देवां समाश्रयेत् ॥ ५ ॥ तेनापवर्ग-
सिद्धिः स्यान्नान्यथा चेत्पुनराहृतम् ॥ ६ ॥ २४ ॥

दैवी संपद्विशोऽक्षं जनयति सुधियामासुरी दुःखहेतु-

हान्तुर्यास्यामहेतुर्हरिपरणरविर्नान्यथाऽवोऽप्यनन्यः ॥

एवन्ते प्रेम्णैव कृष्णं स्मर भन सततं द्यात्मभूतं महेशं

मुक्तिरतेनैव सिद्धा भवति हरिबन्धो मानसप्रान्तवधम् ॥ १ ॥

यद्यस्त्यपेक्षा तव दैवसंपदि विभेभि चैदासुरसंपदस्तदा ॥

समाश्रय त्वं वसुदेवनन्दने रतिं मतिं भ्रान्तिमपोह सर्वतः ॥ २ ॥

इति भावप्रकाशे श्रीसदानन्दविदा कृते ॥ दैवासुरविभागोऽयं पोदशः पूर्णवध मतः ॥

टीकाप्रत्योक्तसंख्या ॥ १६८ ॥ आदितटीकाप्रत्योक्तसंख्या ॥ ४४३ ॥

भा० टी०—यस्माच्छास्त्रविधिमूलस्य कामचारतः प्रवृत्तानां पुनरुपायहारिर्नर्थावतिष्ठ तस्मात्ते दैवां
संपदमभिजातस्य तव कार्यकार्यव्यवस्थितौ कर्तव्याकर्तव्यव्यवस्थायां शास्त्रं प्रमाणं ज्ञानसाधनमतः शास्त्रेण
विधानं कुर्यादित्येवंलक्षणं शास्त्रविधानं तेनोक्तं स्वस्य क्षत्रियस्य यत्कर्म तदिह कर्माधिकारभूमौ कर्तुमर्हसि
योग्योऽसि । इदं कर्तव्यमिदं नेति शासनं वेदाधारुपं शास्त्रं तदतिक्रमे प्राणश्रितं विधानम् । शास्त्रं च विधानं
च ताभ्यामुक्तमिति तूक्तविधानपदार्थस्य शास्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या शास्त्रपदार्थेऽन्तर्भावमभिप्रेत्याचार्यैर्नोक्तम् ।
तदनेन पोदशाध्यायेन संपद्वयं निरूपयता सर्वस्या आसुर्याः संपदो मूलभूताश्च सर्वानर्थप्रापकाश्च सर्वार्थ-
प्रतिनन्दकान् महादोषान् कामादीन् श्रेयपरित्यज्य तत्परिवर्जनं श्रेयसाचरणकारणं शास्त्रविष्णुत्वनं च
विहाय श्रेयोधिना अद्वयानुयायां शास्त्रोपदिष्टार्थानुष्ठानपरेण भवितव्यमिति दर्शयता आसुर्याः परिवर्जनेन
दैव्या उपादानेन च लभ्यमखण्डं मोक्षारुखं ब्रह्म प्रकाशितम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिज्ज्ञाज्जकार्यवालस्वामिश्रीपादशिष्यदत्तवंशावतंससयामकुमारसुतधनप-

तिविदुषा विरचिताया गीताभाष्योत्कर्षदीपिकाया पोदशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

प० टी०—फलितमर्थाह—तस्मादिति । इदं कार्यमित्यस्या व्यवस्थाया ते तव श्रुतिस्मृतिरूपं शासना-
च्छास्त्रं प्रमाणं नात्यन्तम् । अतः शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहाहसि तन्मूलकत्वासत्त्वशुद्धिपूर्वकं परवत्ज्ञानं
हे भविष्यतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

अपाप्मापतात्पर्यम् ।

देवी संपद्भिस्तु शमदमसमवधान्तिवैराग्यरूपा

कामक्रोधाभिमानानृतकपटमयी चासुरी बन्धहेतुः ।

उत्पात्तिर्देवसंपद्यनुजगृहिता मामकना जनानां

त्वं मा मैषी । किरिदित्रिति मधुरिषुषा पोडशे प्रोक्तमासीत् ॥ १ ॥

इति श्रीमदैवसंपाण्डितसूर्यविरचिताया भगवद्गीताटीकया परमार्थप्रपाया

देवासुरसंपत्तिविवेको नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

रा० टी०—इत शस्त्रविभ्यतिक्रमे संसिद्धिसुसाधभाव इति शब्दा निरस्यतद्भ्रान्तरं विधत्ते—तस्मादिति । यस्मादिदं कार्यमिदमकार्यमिति व्यवस्थाया ते तत्र विवेकित, शास्त्रं प्रमाणं सदतिक्रमे च द्वौप, तस्माद्विहरोके शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमर्हसि इति ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे राघवेन्द्रयतिकृते षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच—ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ॥

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण ! सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

त० टी०—पूर्वाध्याये तच्चक्षानाधिकारार्थं मुमुक्षुणा सचैकनिष्ठेन भाव्यमित्येतदर्थं हेयोपादेय-योदेवासुरसंपदोर्विभागमुक्त्वा तयोर्हेयोपादेयज्ञानासाधारणं कारणं शास्त्रमेवोपादेयं, तदुक्तमेव कार्यं तद्विरुद्धं निषिद्धं चाप्रमगतिदं नाचरणीयमित्यन्ते निर्णातम् । इदानीं सात्त्विकश्रद्धयाऽनुष्ठितस्यैव श्रेयो-हेतुत्वं राजसतामसश्रद्धयाऽनुष्ठितस्यासुरत्वात्संसारहेतुत्वमिति श्रद्धाऽऽहारयज्ञतपोदानादेस्त्रैविध्यवर्धनाय सप्तदशाध्याय आरभ्यते । तत्र ये शास्त्रविधिं कुतश्चित्कारणाद्दिहाय शिष्टाचारमात्रेण निषिद्ध-त्यागपूर्वकं श्रद्धया यज्ञादि कर्मानुतिष्ठन्ति तेऽपि शास्त्रविध्युपेक्षालक्षणस्यासुरधर्मस्य श्रद्धापूर्वकानुष्ठान-लक्षणस्य दैवधर्मस्य च दर्शनात् किं वेऽसुरेष्वन्तर्भवन्ति देवेषु वेत्येककोटि निश्चेतुमश्वनुवंस्तन्निर्ण-यतुमुत्तुरर्जुन उवाच—ये शास्त्रविधिमिति । ये केचित्छास्त्रविधिमज्ञानादुत्सृज्य श्रद्धयाऽन्विताः सन्तो यजन्ते देवताराधनादौ प्रवर्तन्ते । अत्र ये शास्त्रविधिमुत्सृज्येत्यनेन ये दुःखबुद्ध्या आलस्याद्वा शास्त्रविधिमुत्सृज्य शास्त्रज्ञाने श्रममकृत्वा केवलं शिष्टाचारपरंपरावशेन श्रद्धयाऽन्विताः सन्तो देवता-राधनादौ प्रवर्तमाना गृह्णन्ते, न तु ये शास्त्रं सम्प्राप्य ज्ञात्वा बुद्धिपूर्वकं तमनाहृत्य यथेष्टाचारेण वर्तमाना गृह्णन्ते । कुतः ? श्रद्धयाऽन्वितत्वविशेषणात् । आस्तिक्यबुद्धिर्हि श्रद्धेत्युच्यते । सा च यथेष्टाचारिणां न संभवति । तस्माद्ये शास्त्रविधिमुत्सृज्येत्यत्र पूर्वोक्ता ज्ञेया । तेषां का निष्ठा स्थितिः ? हे कृष्णेति सामान्यतः पृष्ट्वा किञ्चन्देन प्रश्नस्य विशेषं स्वयमेव व्यनक्ति—सत्त्वमाहो रजस्तम इति । उक्त-प्रकारेण देवपूजादौ नै प्रवृत्तास्तेषां सत्त्वादिषु का निष्ठा आश्रयः ? सत्त्वं—ते सत्त्वाश्रयाः आहोस्वित् रजोनिष्ठा रजसि संश्रितास्तमःसंश्रिता वा इति विवेचनीयमिति भावः ॥ १ ॥

म० टी०—द्विविधा, कर्मानुष्ठानतरो भवन्ति । केचित्छास्त्रविधिं ज्ञात्वाऽप्यश्रद्धया तमुत्सृज्य कामकार-मात्रेण यत्किञ्चिदनुतिष्ठन्ति ते सर्वमुपकारार्थयोग्यत्वादसुरा । केचित्तु शास्त्रविधिं ज्ञात्वा श्रद्धयानतया तदनु-

सारेणैव निषिद्धं वर्ज्यवतो विहितमनुतिष्ठन्ति ते सर्वपुरुषार्थयोग्यत्वादेवा इति पूर्वाध्यायान्ते सिद्धम् । ये तु शास्त्रीयं विधिभालस्यादिवशादुपेक्ष्य अद्यानतयैव वृद्धव्यवहारमात्रेण निषिद्धं वर्ज्यन्वो विहितमनुतिष्ठन्ति ते शास्त्रीयविध्युपेक्षालक्षणेनासुरसाधर्म्येण अद्यापूर्वकानुष्ठानलक्षणेन च देवसाधर्म्येणान्विताः किमसुरेष्वन्तर्भवन्तु किं वा देवेश्वित्यभयधर्मदर्शनादेककोटिनिश्चायकप्रदर्शनाच्च संदिहानोऽर्जुन उवाच—ये इति । ये पूर्वाध्याये न निर्णीताः न देववच्छास्त्रानुसारिणः किं तु शास्त्रविधिं श्रुतिस्मृतिषोदनामुत्सृज्य आत्म्यादि-वशादनादस्य नासुरवदभ्युपानाः किं तु वृद्धव्यवहारानुसारेण अद्यान्विता यजन्ते देवपूजादिकं कुर्वन्ति तेषां तु शास्त्रविध्युपेक्षा अद्याभ्या पूर्वनिश्चितदेवासुरविलक्षणानां निष्ठा का कीदृशी तेषां शास्त्रविधनपेक्षा अद्यापूर्विका च सा यजननदिक्रियाव्यवस्थितिः हे कृष्ण भक्ताचर्कणं, किं सत्त्वं सात्त्विकी । तथा सति सात्त्विकराशौ देवाः । आहो इति पक्षान्तरे । किं रजस्तमः राजसी वामसी च । तथा सति राजसतामसत्वा-दसुरास्ते । सत्त्वमित्येका कोटिः, रजस्तमइत्यपरा कोटिरिति विभागाज्ञापनायाहोशब्दः ॥ १ ॥

श्लो० दी०—एवं देवासुरसंपत्तिभागं तत्त्वरूपं वत्फलं चासुराणां ज्ञानानभिकारित्वबोधनायासुरसंपत्ति-
नता कामसंकल्पगुणकर्माणि च फलं च विशिष्य प्रतिपाद्य मुमुक्षोः शास्त्रज्ञानेनेव कर्म कर्तव्यमिति
निरूप्यामुना शास्त्रार्थनिश्चिन्नामपि शास्त्रीयमेव कर्म कामकारं विना अद्या कुर्वतामपि मुमुक्षुणा
सात्त्विकेभ्योह्यव्यवहारवैधानादिषु प्रतिष्ठितानां ज्ञानाधिकारः शमदद्यादिपदकसंयत्तया प्राप्तज्ञानेन मो-
क्षाधिकारश्च युज्यत इति बोधयितुं सप्तदशाध्याय आरभ्यते । तत्रादौ यः शास्त्रविधिसुत्सृज्येति तस्मा-
च्छास्त्रं प्रमाणं त इति शास्त्रविधिं ज्ञात्वापि वस्तुसूत्र्य कामकारेण यः प्रवर्तते स आसुरस्त्वस्य न चित्त-
शुद्धिर्न च ज्ञानं नापि तत्फलं च सिध्यतीति श्रुत्वा शास्त्रार्थमज्ञानता कामकारं विनैव अद्या कर्माणि
कुर्वता पुरुषाणां देवी वाऽऽसुरी वा का वा संपत्तिः का गतिस्तेषामिति जिज्ञासुरर्जुन उवाच—य इति । ये
सामान्याः पुरुषाः शास्त्रविधिं श्रुतिस्मृतिलक्षणं शास्त्रं तद्विधिं विधानं श्रीवत्सर्गसुनाध्ययनतदर्थपरिज्ञा-
नाभावादानुष्ठानविधिसुत्सृज्याविज्ञाय अद्या वृद्धव्यवहारसद्वर्जनसमुपसृज्याऽऽस्तिक्यपुद्गला विनैव कामकारं
भेदिकेषु नियतेषु कर्मस्त्वन्वविज्ञासेनान्विताः सन्तो भेदिकेन कर्मणा देवान् यजन्ते शास्त्रार्थ-
मज्ञात्वापि अद्या भक्त्वा च श्रौतं स्मार्तं च कर्म ये कुर्वन्त्येवम् । तेषां अद्या कर्माणि भेदिके
प्रवृत्तानां पुरुषाणां निष्ठा स्थितिः का किंलक्षणा ? तत्त्वमाहो रजस्तमः इति कारणेन कार्यं गृह्यते ।
तु शब्दः पूर्वव्यावृत्त्यर्थः । तेषां तु निष्ठा इतिः सात्त्विकी वा उच्यते राजसी किं वामसी वा कथ्यता-
मिति । अत्र सत्त्वशब्देन दैवसंपत्तिः रजस्तमः शब्देनासुरसंपत्तिर्विपक्षिता । देवासुरसंपत्तिरधिकारविपारे
प्रक्रान्तेत्वाच्चा संपदेर्वा वाप्युत आसुरी चेति प्रथमं । ननु यः शास्त्रविधिसुत्सृज्येत्यनेन वचनेन शास्त्रनि-
धिसुत्सृज्य यः प्रवर्तते स आसुर इत्येतेषामस्यासुरत्वमुक्तमेव, पुनस्तेषां निष्ठा तु का कृष्णोऽर्जुनस्य प्रभो-
ऽनुपपन्न एवेति चेत्तत्त्वम् । यद्यपि शास्त्रविध्युत्सृज्यसमयं सममेव तेषामेतेषां च, तथापि अद्यान्वितवनिरो-
पणविशिष्टत्वात्तपमेतेषां च विशेषो विद्यते । कामकारत इति तत्र कामकारत्वविशेषणविशेषोपपत्त्यर्थं शास्त्र-
विधिसुत्सृज्येति ज्ञात्वा शास्त्रोद्घ्वनशोषविशेषाच्च तेषामेतेषां च भेदो निश्चय एव । ननु शास्त्रविध्युत्सृजनमवग्राहि
च विद्यत एवेति चेन्न शास्त्रविध्युत्सृजनपदेनात्र शास्त्रार्थपरिज्ञानं विवक्षितं न तु ज्ञात्वा विध्युद्घ्वनम् ।
ननु तर्हि शास्त्रार्थनिश्चिन्ना मूढानां कर्म भेदिके कर्माणि प्रवृत्तिरिति चेदुच्यते—अप्यदाचरति अष्टसदृश-
देवेतरो जन इतिन्यायेन ज्ञानकर्मवृत्तिसंदर्शनेन मूढानामपि अद्यावत् सद्युद्धीना भैरविक्रमप्रवृ-
त्तिरुपपद्यते यस्मिन् वृद्धेषु नमस्तु सस्तु वाटानां नमनक्रिया यथा तत्स्तेषामेतेषां च विशेषभेदात्त्रेः
सिध्यति, तत एवार्जुनेन पृष्ठं तेषां निष्ठा तु का कृष्णोऽर्जुन न कायिदम्यप्रानुपपत्तिः ॥ १ ॥

श्री० टी०—उक्तप्रकारेणैतानां श्रद्धा मुख्यं तु सात्त्विकी ॥ इति सप्तदशे गौणश्रद्धाभेदविधौच्यते ॥ १ ॥ पूर्वाध्यायान्ते 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति' इत्यनेन शास्त्रोक्तविधिमुत्सृज्य कामकारेण वर्तमानस्य ध्यानेऽधिकारो नास्त्युक्तम् । तत्र शास्त्रविधिमुत्सृज्य कामकारं विना श्रद्धया वर्तमानानां किमधिकारोऽस्ति नास्ति चेति पुनस्तथा अर्जुन उवाच—य इति । अत्र च शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते इत्यनेन शास्त्रार्थं वुमुः तमुद्धृत्य वर्तमाना न गृह्णन्ते तेषां श्रद्धया यजन्तानुपपत्तेः । आस्तिस्यबुद्धिर्हि श्रद्धा । न चासौ शास्त्रज्ञानवती शास्त्रविरुद्धेऽर्थे संभवति । तानेवाधिकृत्य त्रिविधा भवति श्रद्धा, यजन्ते सात्त्विका देवानित्याहुस्तत्रानुपपत्तेश्च । असौ नात्र शास्त्रविरुद्धिष्वने गृह्णन्ते । अपि तु क्लेशबुद्ध्या आलस्याद्वा शास्त्रार्थज्ञाने प्रयत्नमकृत्या केवलमाचारपरंपरावशेन श्रद्धया कथिदेवाराधनादौ प्रवर्तमाना गृह्णन्ते । अतोऽयमर्थः—ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य दुःखबुद्ध्या आलस्याद्वा अनादृत्य केवलमाचारप्रामाण्येन श्रद्धयान्विताः सन्तो यजन्ते तेषां तु का निष्ठा कः स्थितिः कः आश्रयः । तामेव विशेषेण वृच्छति—किं सत्त्वम् आहो किं वा रजः जयवा वम इति । तेषां तादृशी देवपूजादिप्रवृत्तिः किं सत्त्वसंश्रिता रजःसंश्रिता वा तमःसंश्रिता वेत्यर्थः । श्रद्धायाः सात्त्विकत्वात् क्लेशबुद्ध्या आलस्येन च शास्त्रानादरस्य च राजसतामसत्वावेषा संदेहः । यदि सत्त्वभावसंश्रितास्तार्हि तेषामपि सात्त्विकत्वाद्ययोक्तमज्ञानेऽधिकारः स्यात्, अन्यथा नेति प्रभतात्पर्यार्थः ॥ १ ॥

स० टी०—स्वर्गयोतिर्गङ्गा श्रुतिशिखरीतिं निरवधिं जगद्भामाद्वैतं प्रकृतिपुरुषान्तर्वर्तमन्नम् ॥ सद्देशाचाराभ्यं प्रजयुवतिभिः स्वाद्यममृतं महः श्रीकृष्णारुवं सुरानिभिर्हं नौमि सखतम् ॥ १ ॥ त्रिविधाः कर्मकर्तारो भवन्ति पुरुषा भुवि ॥ केचिच्छास्त्रविधिं ज्ञात्वा श्रद्धाहीना विहाय तम् ॥ २ ॥ कामकारेण यत्किंचिदनुविष्टन्ति तेऽसुराः ॥ केचिच्छास्त्रविधिं ज्ञात्वा श्रद्धयान्वयोचमाः ॥ ३ ॥ निपिद्धं वर्जयन्तो देज्जुतिष्ठन्ति यथाभिनि ॥ ते पुरुषार्थयोग्यत्वादेवा इत्यपि बोधितम् ॥ ४ ॥ आलस्यादिवशाच्च तृपेक्ष्य शास्त्रविधिं स्वयम् ॥ श्रद्धयान्वया वृद्धयवहारैकदर्शनात् ॥ ५ ॥ निपिद्धं वर्जयन्त्यत्र कुर्यान्ति विहितं सदा ॥ शास्त्रीयोपेक्षणात्ते किं प्रविष्टा असुरेषु वा ॥ ६ ॥ श्रद्धयान्वया किं वा येवेति विवर्कयन् ॥ अर्जुनः संदिहानः सन्नुवाच श्रीहरिं प्रति ॥ ७ ॥ श्रुतिस्मृतिविधिं त्यक्त्वा य आलस्यादिना जनाः ॥ देवपूजादिकं वृद्धयवहारानुसारतः ॥ ८ ॥ श्रद्धयान्वया नित्यं कुर्यान्त्यानन्दसागर ॥ देवासुरविभिन्नाः ता तेषां निष्ठाऽस्ति कीदृशी ॥ ९ ॥ किं सात्त्विकी वेदनिष्ठा राजसी वाच तामसी ॥ १० ॥ १ ॥

भा० टी०—गीताभाष्यप्रकाशेन जगदुद्धारणौ भवौ । वन्दे परस्परतामनौ देवौ श्रीकृष्णशंकरौ ॥ यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' इति भगवद्वाक्यात् ये शास्त्रविधिं परित्यज्य कामकारणः प्रवृत्तास्ते नास्तिकाः असुरा, ये तु शास्त्रविधिमुत्सृज्य विहितानुष्ठानाय प्रविष्टिप्रहणाय च श्रद्धयान्वया प्रवृत्तास्ते आस्तिकाः सुरा इति ज्ञात्वा श्रद्धावता शास्त्रानभिज्ञाना निष्ठा जिह्वासुरजुन उवाच—ये इति । ये केचिदसुराणां देवानां च विशेषणैरविशेषिताः शास्त्रविधिं श्रुतिस्मृत्यादिशास्त्रविधानमुत्सृज्यालस्यादिनाऽपश्यन्तो वृद्धयवहारादेव श्रद्धया आस्तिक्यबुद्ध्याऽन्विताः संयुक्ताः सन्तः देवादीन्यजन्ति पूजयन्ति । ये तु किंचिच्छास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तमाना एवाश्रद्धयान्वया तमुत्सृज्यायथाविधि देवान्पूजयन्ति तेऽत्र न गृह्णन्ते श्रद्धयान्विता इति विशेषणम् । तेषामेवंभूतानां निष्ठा तु का किं सत्त्वमवस्थानं श्रद्धायाः सात्त्विकत्वात् ? आहो रजः किं वा तमः क्लेशबुद्ध्या आलस्येन च शास्त्रादर्शनस्य राजसतामसत्वात् ? एतदुक्तं भवति—या तेषां देवादिष्टिया पूजा सा किं सात्त्विकी आहोस्त्विद्वानस्युत वागवीति 'कृपिर्भूवाचकः शब्दो गन्ध निर्गन्धवाचकः । तयोदैवैर्परं प्रदं कृष्ण इत्यभिधीयते ॥' इति निकृतिभिर्मेव सर्वत्र सत्तास्म-

त्यादिना स्थितस्य परमात्मनस्त्वत् किंचिदप्यविदितं न भवतीति सूचयन्संकोचयति—कृणोति । मम संशया-
पकर्णेति वा संकोचनार्थः ॥ १ ॥

प० टी०—पूर्वाध्यायान्ते 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य' इत्यादिना शास्त्रविधिमुत्सृज्य प्रवृत्तस्य सिद्धिर्ना-
स्तीत्युक्तं, तदेव दृच्छमर्जुन आह—ये शास्त्रविधिमिति । ये शास्त्रविधिं विभिनिषेधात्मकमुत्सृज्य दुःखमुद्धवा-
ऽऽहस्याद्वाऽनाहत्य केवलं लौकिकाचारपरंपरया अद्धा विना यजन्ते तेषां का निम्ना क आश्रयः सत्त्वसाहो-
स्त्रिजज्ञस्तमो वा । 'यजन्ते सात्त्विका देवान्' इत्यादिवत् फलोपघातं नैव वेति प्रशङ्कः ॥ १ ॥

रा० टी०—चतुर्विंशत्याये नान्यं गुणैः कर्तारभित्यादिना सर्वोऽपि परिणामो गुणकृत् इति सामा-
न्यवत् कृत्स्यात् सत्त्वाविगुणकृतानां अद्धानामाहारस्य तपःप्रवृत्तिरूपेणा च सर्वसद्गुणाणां भेदोक्त्या प्रप-
ञ्चनं क्रियते । पूर्वत्र शास्त्रविधानोक्तं ज्ञात्वा कर्म कार्यमित्युक्ते उन्वाकसरोऽर्जुनः शास्त्रविध्यज्ञानिनां वा
स्थितिरिति दृष्टमिति—य इति । ये जनाः शास्त्रविधिमुत्सृज्य अद्धान् अद्दयान्विताः अद्दामात्रेण यजन्ते
तेषां निम्ना तु स्थितस्तु का कीदृशी । तमेव विविच्याह—सत्त्वभित्यादिना । किं सात्त्विकी राजसी ता-
मसी वा स्थितिरित्यर्थः । ते किं सात्त्विकाः राजसास्वामसा चेति यावत् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—त्रिविधा भवति अद्धा देहिनां सा स्वभावजा ॥

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

त० टी०—एवं पृष्ठोऽर्जुनसंदेहप्रपत्तिनीषुस्तावच्छास्त्रप्रवृत्तां तदनुकूलाचाराणामनेकजन्माहु-
ताकाम्पकर्मणां सात्त्विकानां तु अद्धा श्लोकोपयोगिनी भगवद्गारापनविपरिकेकैरेव भवति । शास्त्र-
ज्ञानहीनानां मोक्षमार्गेऽनधिकृतानां सकामानां जीवानां गुणत्रयविभागेन अद्धान्यविभागं श्रीभ-
गवानुवाच—त्रिविधेति । देहिनां परमार्थज्ञानहीनानां प्रवृत्तिमाश्रयैरानां मनुष्याणां सर्वेषां
अद्धा सात्त्विकी राजसी तामसी चेति त्रिविधा भवति । त्रिविधे हेतुः—सा स्वभावजेति ।
स्वभावः स्वकीयमाचीनकर्मनुगुणे रुचिविशेषस्तस्माज्जाता स्वभावजा । जीवस्य यत्र रुचिविशेष-
स्तत्र अद्धा जायते । अद्धा नामाद्यं ममेष्टं साधयेदिति विश्वासः, विश्वासपूर्विकैव साधने प्रवृत्तिर्भवति ।
रुचिअद्धान्ययत्नानां निमित्तभूता अन्तःकरणरज्जुकाः सत्त्वादयो गुणाः कार्यैकगुण्या अतस्त्रिविधा
भवति । तामिमां त्रिविधां अद्धान् वक्ष्यमाणां शृणु ॥ २ ॥

म० टी०—ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य अद्दयान् यजन्ते ते अद्धान्देहादियन्ते । तत्र ये सात्त्विक्या अद्दयान्वि-
तास्ते देवाः शास्त्रोक्तसाधनेऽधिक्रियन्ते तत्फलं च मुच्यन्ते । ये तु राजस्य वासस्या च अद्दयान्वितास्ते
ऽनुरा न शास्त्रसाधनेऽधिक्रियन्ते न वा तत्फलं मुच्यन्ते इति विवेकमर्जुनस्य संदेहप्रपत्तिनीषुः अद्धान्दे-
श्रीभगवानुवाच—त्रिविधेति । यथा अद्दयान्विताः शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते सा देहिनां स्वभावजा, जन्मा-
न्तरकृते धर्माधर्मादिशुभाशुभसंस्कार इदानींतनजन्मारम्भकः स्वभावः । स त्रिविधः सात्त्विको राजससा-
मसश्चेति । तेन जनिता अद्धान् त्रिविधा भवति सात्त्विकी राजसी, तामसी च, कारणानुत्पत्त्यात्कार्यस्य,
या स्वारूपे जन्मनि शास्त्रसंस्कारमात्रा विदुषा सा कारणैकतत्त्वादेकतया सात्त्विक्येव, न राजसी
तामसी चेति प्रथमचकारार्थः । शास्त्रनिरपेक्षा तु प्राणिमयसाधारणी स्वभावजा । एव स्वभावत्रैविद्या-
द्विविधेत्येवकारार्थः । उक्तविधायकसमुच्चयार्थश्चरमश्चकार । यत्, प्राग्भवीयवाचनारयस्त्वभावरूपमिभावकं
शास्त्रीयं विवक्षितज्ञानमनादृत्यशास्त्राणां देहिना नास्ति अतस्तेषां स्वभाववशाद्विधा भवन्तीं वा अद्धान् शृणु ।
श्रुत्वा च देवासुरमर्त्यं स्वयमेवावधारयेत्यर्थः ॥ २ ॥

श्लो० टी०—कारणे ज्ञाते कार्यं बोधयितुं शक्यं न त्वज्ञाते सत्यतः कारणश्रद्धाभेदज्ञापनेन निष्ठाभेदं बोधयितुं श्रीभगवानुवाच—त्रिविधेति । देहिनां प्राणिनां श्रद्धा सात्त्विकी राजसी च तामसी चेति त्रिविधैव त्रिप्रकारा त्रिवैव भिन्ना भवतीत्यर्थः । श्रद्धायास्त्रिविध्यासिद्धौ कारणमाह—स्वभावजेति । आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च । पथेतानि विडिष्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनां इत्यनेन प्राग्भवोयपुण्यापुण्यादिसंस्कारः स्वभावः स्वेन सह भवतीति स्वभावस्तस्माज्ज्ञाता स्वभावज्ञा । यद्वा स्वभावः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका प्रकृतिस्तस्माज्ज्ञाता स्वभावज्ञा तत एव सत्त्वादिगुणभेदाच्छ्रद्धाया अपि सात्त्विकी राजसी तामसी चेति भेद उपपन्न इत्यर्थः । यत्प्रधानक्रियायां वर्तमानानां देहिनां निष्ठां त्वं पृच्छसि तां श्रद्धां मयोच्यमानां शृणु, श्रद्धासंभूतिप्रकारं शृण्वित्यर्थः ॥ २ ॥

श्री० टी०—अत्रोत्तरं श्रीभगवानुवाच—त्रिविधेति । अयमर्थः—शास्त्रवत्स्वज्ञानवः प्रवर्तमानानां परमेश्वरपूजाविषया सात्त्विकी एकविधैव श्रद्धा । लोकाचारमात्रेण तु प्रवर्तमानानां देहिनां या श्रद्धा सा तु सात्त्विकी राजसी तामसी चेति त्रिविधा भवति । तत्र हेतुः स्वभावज्ञा । स्वभावः पूर्वकर्मसंस्कारस्तस्माज्ज्ञाता स्वभावज्ञा । स्वभावमन्यथा कर्तुं समर्थ हि शास्त्रोक्तं विवेकज्ञानं तत्तु तेषां नास्ति । अतः केवलं पूर्वस्वभावेनैव भवतीति श्रद्धा त्रिविधा भवति तामिमां त्रिविधा श्रद्धां शृणु । तदुक्तम्—व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुतः नन्दन इत्यादिना ॥ २ ॥

स० टी०—सात्त्विकया श्रद्धया युक्ता देवाः शास्त्रोक्तसाधने ॥ अधिक्रियन्ते युज्यन्ते वत्फलनं च साधकाः ॥ १ ॥ राजस्या ये तु तामस्या श्रद्धया संयुताश्च वे ॥ नाभिक्षिपन्ते शास्त्राणि युज्यन्ते वत्फलनं न ॥ २ ॥ इत्येवं हि विवेकेन स्वभक्त्यार्जुनस्य च ॥ संदेहोच्छिद्ये श्रद्धाभेदं श्रीश उवाच ह ॥ ३ ॥ शास्त्रोक्तविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धया यया ॥ जन्मान्तरीयधर्मादिसंस्कारो योऽपुनास्ते ॥ ४ ॥ जन्मन्यारम्भकः सोऽयं स्वभावस्त्रिविधो नृणाम् ॥ सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्चेति तेन सा ॥ ५ ॥ त्रिविधोत्पादिता श्रद्धा सात्त्विक्यादिभिर्दावती ॥ श्रद्धां तां त्वं शृणु श्रद्धा स्वयमेवाधारय ॥ ६ ॥ देवासुरस्वभावेन सा यथा भवति त्रिधा ॥ ७ ॥ २ ॥

भा० टी०—प्रभालुसमुत्तरं श्रीभगवानुवाच—त्रिविधेति । त्रिविधा त्रिप्रकारा श्रद्धा भवति, यथाऽन्वितानां निष्ठां त्वं पृच्छसि सा देहिनां देहवतां जीवानां स्वभावज्ञा जन्मान्तरकृत्वधर्मासंस्कारो मरणकालेऽभिव्यक्तः स्वभाव उच्यते । तस्माज्ज्ञाता जीवानां त्रिविधात् स्वभावात् जावत्यात् श्रद्धा त्रिविधा भवतीत्यर्थः । या तु असवभावज्ञा अनुमानमात्रेण स्वभावः मरणमित्यर्थः । तस्मिन्समये सति जाता मरणसमये व्यस्तानां समस्तानां च गुणानामुद्भवे जन्मान्तरे तत्संस्कारवशात् वसद्गुणाधिक एव भवतीति व्यवसायकारणमिवावरोधं व्याख्या । सा तु 'सुरमस्तीति वक्तव्यम्' इतिन्यायविज्ञम्भितत्वादुपेक्ष्य । श्रद्धायास्त्रिविध्यामाह—सात्त्विकी सत्त्वनिर्वृत्ता देवादिपूजाविषया, राजसी रजोनिर्वृत्ता यशस्वःपूजाविषया, तामसी तमोनिर्वृत्ता प्रेतपिशाचादिपूजाविषया । एवं त्रिविधां तां श्रद्धां मयोच्यमानां शृणु ॥ २ ॥

प० टी०—ननु शास्त्रविषेकद्वयं शास्त्रार्थमनुदृष्ट्वा बुद्ध्या वा ? नाथो यजन्नासंभवात्पारः श्रद्धालुत्पत्तेश्चिन्त्यबुद्धिर्हि श्रद्धा, न चासौ शास्त्रज्ञानवतां शास्त्रविरुद्धे संभवतीति पर्यालोच्य भगवानाह—त्रिविधेति । देहिनां मनुष्याणां स्वभावज्ञा श्रद्धा त्रिविधा भवति । प्राचीनसंस्कारः स्वभावस्तस्माज्ज्ञाता स्वभावज्ञा स्वभावमन्यथाकर्तुं समर्थः शास्त्रोत्पन्नं तत्तु तेषां नास्त्यतः केवलं सत्त्वरजस्तमःप्रधानप्राचीनसंस्कारेण श्रद्धा त्रिविधा तां शृणु ॥ २ ॥

रा० टी०—ते त्रिविधा अपि सन्तीतिभावेन प्राक् यागान्नतया यष्टृविशेषणत्वेनोक्तश्रद्धां सात्त्विकत्वादिना विमज्ज्य वदाम्रयेण तेषां सात्त्विकत्वादित्वरूपमाह—त्रिविधेति द्वाभ्याम् । श्रद्धा आस्तिक्य-निष्ठा स्वभावजैवेत्यन्वयः । मनोवृत्तिश्रद्धाज्यावृत्तये स्वभावजैवेत्युक्तम् । तां त्रिविधां शृणु श्रुत्वा तत्र निष्ठां कुर्यात्तथः । तदन्वितैः क्रियमाणयजनप्रकारं शृण्वित्यर्थः ॥ १ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ! ॥

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

त० टी०—सत्त्वानुरूपेति । सत्त्वमन्तःकरणं तदुत्तरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति । सत्त्वादिगुण-रजितान्तःकरणभेदाच्छ्रद्धाभेदः । यद्यप्यन्तःकरणस्य सात्त्विकार्हकारकार्यत्वात् सात्त्विकत्वमेव, तथाऽपि तदाप्यायकान्नपानादेः सात्त्विकादित्रैविध्यान्निविधं भवति । तथा च मार्चानकर्मनिमित्तकत्वाज्जन्मत एव केषांचित्सत्त्वगुणप्रधानं, केषांचिद्रजःप्रधानं, केषांचित्तमःप्रधानं, सत्त्वमन्तःकरणं देवयक्षराक्षसां क्रमेण भवति । मनुष्याणां तु प्रायेण व्यामिश्रं, केषांचिदेकैकगुणप्रधानं सत्त्वं भवति । एवं च सर्वस्य पुरुषस्य सत्त्वानुरूपान्तःकरणरूपा श्रद्धा भवति । हे भारत ! सत्त्वप्रधानस्य सात्त्विकी, रजःप्रधानस्य राजसी, तमःप्रधानस्य तामसीति विवेकः । फलितमाह—श्रद्धामयोऽयं पुरुष इति । अयं मोक्षानधिकारी संसारी पुरुषः श्रद्धामयः श्रद्धाप्रधानः । प्राधान्ये मयद् स्त्रीमय इतिवत् । तस्माद्यो यच्छ्रद्धः स एव सः, यः पुरुषो यादृश्या श्रद्धया युक्तः स एव सः । सात्त्विक्यादिभेदया युक्तः सात्त्विकादिरूप एव पुरुषो भवति । एवं श्रद्धयैव निष्ठाऽपि दर्शिता । एतेन तेषां निष्ठा तु का कृणेति भक्षस्योचरमुक्तम् । सत्त्वादिनिष्ठानां फलं तु 'उज्यै गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः । जयन्त्यगुणदृष्टित्था अधो गच्छन्ति तामसाः' इति चतुर्दशे उक्तम् ॥ ३ ॥

म० टी०—प्राग्भववीर्यान्तःकरणगतवासनारूपनिमित्तकारणवैचित्र्येण श्रद्धावैचित्र्यमुत्त्वा तदुपादान-कारणान्तःकरणवैचित्र्येणापि तत्रैविध्यमाह—सत्त्वेति । सत्त्वं प्रकृतांशोऽस्त्वत्सत्त्वप्रधानत्रिगुणावन्धी-कृतपञ्चसहाभूताद्वर्त्ममन्तःकरणम् । तच्च कचिदुद्विक्तसत्त्वमेव यथा देवानां, कचिद्रजसाभिभूतसत्त्वं यथा यक्षादीनां, कचिद्रजसाभिभूतसत्त्वं यथा प्रेतभूतादीनां, मनुष्याणां तु प्रायेण व्यामिश्रमेव । तच्च शास्त्रीयविवेक-कहानेतेनोद्भूतसत्त्वं रजस्तमसी अभिभूय क्रियते । शास्त्रीयविवेकविज्ञानशून्यस्य तु सर्वस्य "प्राणिजातस्य सत्त्वानुरूपा श्रद्धा सत्त्ववैचित्र्याद्विचित्रा भवति, सत्त्वप्रधानेऽन्तःकरणे सात्त्विकी, रजःप्रधाने तस्मिन् राजसी, तमःप्रधाने तु तस्मिन्तामसीति । हे भारत महाकुलप्रसूत ज्ञाननिरतोति वा श्रद्धासात्त्विकरूपं योतयति । यत्त्वया पृष्टं तेषां निष्ठा केति तत्रोचरं शृणु—अयं शास्त्रीयज्ञानशून्यः कर्माधिकृतः पुरुषः त्रिगुणान्तःकरण-संपिण्डितः श्रद्धामयः प्राचुर्येणास्मिन् श्रद्धा प्रस्तुतेति तत्प्रस्तुतवचने मयद्, अन्नमयो यत् इतिवत् । अतो यो यच्छ्रद्धः या सात्त्विकी राजसी तामसी वा श्रद्धा यस्य स एव श्रद्धानुरूप एव स सात्त्विको राज-सस्तामसी वा । श्रद्धयैव निष्ठा व्याख्यातेत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

शं० टी०—तदाह—सत्त्वेति । सत्त्वानुरूपा सत्त्वमिति रजस्तमसोरुत्पत्त्यर्थम् । सत्त्वरजस्तमोर्गुणानामनु-रूपा गुणत्रयभेदानुवृत्ता सर्वस्य प्राणिजातस्य श्रद्धा भवति पुण्यापुण्यकर्मवशादन्तःकरणविभक्तिभेदसत्त्वादि-गुणभेदमाश्रित्यैव पुरुषाणां श्रद्धा भवति न तु पुरुषभेदमाश्रित्येत्यर्थः । ननु सत्त्वादिगुणानुगुण्येन प्राणिनां श्रद्धा भवतु प्रकृते किमायावमित्याकाङ्क्षायामाह—श्रद्धामय इति । अयमिति दृष्टव्यवहारी रूपते । अयं प्रत्यक्षः व्यवहारविषयः पुरुषः श्रद्धामयः अभिभूते पुरुषे श्रद्धाप्राचुर्येण दृश्यते, ततोऽयं श्रद्धामयः श्रद्धा-

प्रधानत्वाच्छ्रद्धामय इत्युच्यत इत्यर्थः । ननु पुरुषस्य अद्धामयने सिद्धेऽपि का निष्ठेत्युक्तेः किमुत्तरमित्या-
काङ्क्षायामाह—य इति । योऽधिकारी पुरुषः स्वधर्मनिष्ठो यच्छ्रद्धः यदुणसंभावितश्रद्धावान् भवति स पुरुषः
स एव तदुण एव भवति । सत्त्वगुणसंभावितश्रद्धायान् सात्त्विकः रजोगुणसंभावितश्रद्धावान् राजस्तमो-
गुणसंभावितश्रद्धावान् तामसो भवतीत्यर्थः । यद्यपि अद्धा सत्त्वस्यैव धर्मो न तु रजस्तमसोस्तथापि तयोः
प्राधान्ये सत्यपि तत्र सत्त्वस्योपसर्जनत्वसंभवात्तद्वत्त्वपि तद्वर्गभासः अद्धायासिकी संभवत्यत एवोच्यते
यो यच्छ्रद्धः स एव स इति । एतेन सत्त्वरजस्तमोगुणसंभावितश्रद्धावता तेषां निष्ठा क्रमात्सात्त्विकी
राजसी तामसी चेत्पुनरं सूचितं भवति । ततः सिद्धं सात्त्विकानां वैवी सपत्राजसवामसानां द्वासुरी
संप्रदिति ॥ ३ ॥

श्री० टी०—ननु च अद्धा सात्त्विकस्यैव सत्त्वकार्यत्वेन त्वस्यैव भगवता उद्धवं प्रति निर्दिष्टत्वात् ।
यथोक्तम् । शमो धर्मसिद्धिक्षेपः सपः सत्यं दया स्मृतिः । तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा अद्धा ह्रीर्दया निर्द्विर्धृतिः ।
इत्येता, सत्त्वस्य वृत्तय इति । अतः कथं तस्मात्त्रैविध्यमुच्यते ? सत्यम्, तथाऽपि रजस्तमोयुक्तपुरुषाभ्य-
त्वेन रजस्तमोमिश्रत्वेन सत्त्वस्य त्रैविध्यात् अद्धाया अपि त्रैविध्यं घटत इत्याह—सत्त्वानुरूपेति । सत्त्वानुरूपया
सत्त्वतारतम्यानुसारिणी सर्वस्य विवेकिनोऽविवेकिनो वा लोकस्य अद्धा भवति । तस्मादयं पुरुषः लौकिकः
अद्धामय अद्धाविकारः त्रिविधया अद्धया विक्रियत इत्यर्थः । तदेवाह यो यच्छ्रद्धः, यादृशी अद्धा यस्य
त एव स, तादृशया अद्धया युक्त एव सः । यः पूर्वं सत्त्वोत्कर्षेण सात्त्विकश्रद्धया युक्तः पुरुषः स पुनस्ता-
दृशः स्वसंस्कारेण सात्त्विकश्रद्धया युक्त एव भवति । यस्तु रजस उत्कर्षेण राजसश्रद्धायुक्तः स पुनस्तादृशः
एव भवति । यस्तु तमस उत्कर्षेण तामसश्रद्धया युक्तः स पुनस्तादृशः एव भवति इति लोकाचारमा-
त्रेण प्रवर्तमानेष्वेवं सात्त्विकराजसतामसश्रद्धान्यवस्था । शास्त्रजनितविवेकज्ञानयुक्तानां तु स्वभावविजयेन
सात्त्विकस्यैव अद्धेति प्रकरणार्थः ॥ ३ ॥

स० टी०—प्राग्भवीयमनोनिष्ठवासनानां विचित्रता ॥ निमित्तमस्ति अद्धाया वैचित्र्ये चेत्पुनरीरितम् ॥ १ ॥
इदानीं तदुपादानमनोवैचित्र्यसौऽपि च ॥ अद्धावैचित्र्यमाहेशो महामाया नियामकः ॥ २ ॥ सत्त्वं प्रकाशलो-
कत्वात्त्वकरणमुच्यते ॥ क्वचिदुद्विक्तसत्त्वं तदयमस्ति त्रिविधोऽकसाम् ॥ ३ ॥ त्रिविधश्रद्धोऽभिभूतं तद्यथा-
दीना मनो यथा ॥ क्वचित्श्रद्धोऽभिभूतं तद्यथा प्रेतादिवेदिनाम् ॥ ४ ॥ सन्तुष्याणां तु सत्त्वसत्त्वं व्यामिश्रं
प्राप्यो भवेत् ॥ तच्च शास्त्रीयमोक्षेनोद्धृतसत्त्वं रजस्तमः ॥ ५ ॥ क्रियते चाभिभूतैव तच्छ्रद्धस्य तु
तच्छ्रद्धा ॥ सर्वस्य प्राणिजातस्य अद्धा सत्त्वानुसारिणी ॥ ६ ॥ सत्त्वप्रधाने मनसि सात्त्विकी पूर्वपुण्यजा ॥
रज प्रधाने तस्मिन्सा राजसी पूर्वकर्मजा ॥ ७ ॥ तम प्रधाने तस्मिन्सा तामसीति त्रिधा स्मृता ॥ का
निष्ठेति त्वया वृष्टं यत्ततोत्तरमुच्यते ॥ ८ ॥ शास्त्रीयज्ञानशून्योऽयं कर्मण्यधिकृतः पुमान् ॥ अद्धामयोऽस्य
निष्ठापि व्याप्यता अद्धस्यैव हि ॥ ९ ॥ या यस्य सात्त्विकी अद्धा राजसी वाऽयं तामसी ॥ अद्धानुरूप
एवास्ति स पुनानिति निर्णयः ॥ १० ॥ ३ ॥

५ भा० टी०—प्राचीनकर्मोद्देष्टव्या त्रिविधा जासना स्वभावबन्दिता त्रिविधायाः अद्धायाः निमित्तमित्यु-
क्तम् । इदानीं तस्या उपादानानुरूपत्वेन त्रैविध्यं ज्ञापयन् तन्मयस्य पुरुषस्य त्रैविध्यं ज्ञापयति—सत्त्वानु-
रूपेति । सर्वस्य प्राणिजातस्य सत्त्वानुरूपया सात्त्विकादिसंस्कारोपेतान्त्वकरणानुरूपया त्रिविधसंस्कारोपेत-
चित्तोपादाना अद्धा त्रिविधा भवतीत्यर्थः । अद्धामयः अद्धाप्रायोऽयं पुरुषो जीवः । कथं ? यो यच्छ्रद्धः यस्य
जीवस्य य अद्धा स यच्छ्रद्धः स एव स अद्धानुरूप एव स जीवः । अद्धायास्तैविध्याचन्मन्यो जीवोऽपि
त्रिविध इत्यर्थः । यथा त्वं भरतर्षभोऽज्ञत्वात् भारतस्तथेति संबोधनादयः ॥ ३ ॥

प० टी०—तामेवाह—सत्त्वानुरूपेति । सर्वस्य प्राणिनः अद्वा सत्त्वानुरूपा विशिष्टसंस्कारोपरस्कृतान्तः-
करणातुरूपा वच्छेद्या, यत् आस्तिक्यमुद्धिः सत्त्वमन्तरेण नोत्पद्यते । तथा सति गुणप्राधान्यवशाद्विधा
भवति । एवमर्थं पुरुषः संसारी अद्वा मयाविधया अद्वा विविक्त इति । तदाह—यो यच्छ्रद्धः यादृशी
अद्वा यस्यासौ यच्छ्रद्धस्तादृश्या अद्वा युक्तः स एव सः ॥ ३ ॥

रा० टी०—अस्तु अद्वा त्रिविधा । तेषां का निष्ठेतिप्रश्नस्य किमुत्तरमित्यत आह—यो यच्छ्रद्धः स एव
स इति । प्रो यजमानः सात्त्विकः अद्वा स सात्त्विकः । यो राजसः अद्वा स राजसः । यस्त्वामसः अद्वा स तामस
इत्यर्थः । कुत एवमित्यतस्तदुपपादनायोर्योक्तं सत्त्वेति । सर्वस्य जन्तोः अद्वा सत्त्वानुरूपा जीवस्वरूपानुरूपा
भवति 'सत्त्वं जीवः प्रचिर्योक्तः' इत्यादिवचनात् । अद्वायाः जीवस्वरूपानुरूपत्वात्तया तत्स्वरूपं होय-
मित्यर्थः । अद्वायाः जीवानुरूपत्वमेव कुत इत्यत उक्तं अद्वाति । अयं पुरुषो जीवः अद्वा मयः । तादा-
त्म्यार्थं सयद्—अद्वास्वरूप इत्यर्थः ॥ ३ ॥

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ॥

प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

त० टी०—तदेवं अद्वाया निष्ठा ज्ञेया । अद्वा तु सात्त्विकादिभेदविधा देवादिपूजाछिद्वेन
कार्येण लक्ष्येत्याह—यजन्त इति । सात्त्विकाः सत्त्वमयान् जनाः समानशीलानेव देवान् यजन्ते,
तेषां देवाराधनविषया अद्वा सात्त्विकीति ज्ञेया । राजसा रजःप्रयुक्त जना समानशीलानेव यक्षर-
क्षांसि यजन्ते, तेषां राजसी अद्वा भवति । अन्ये तामसा जनाः समानशीलांस्तामसानेव प्रेतान्
भूतगणांश्च यजन्ते, तेषां तामसी अद्वा भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

म० टी०—अद्वा ज्ञाता सर्वा निष्ठां ज्ञापयिष्यति । केनोपायेन सा ज्ञायतामित्येवमित्येव देवपूजाकार्य-
छिद्वेनानुमेयेत्याह—यजन्त इति । जनाः शास्त्रीयविवेकहीनाः ये स्वाभाविक्या अद्वाया देवान् वसुधेश्वरीन्
सात्त्विकान् यजन्ते तेऽन्ये सात्त्विका ज्ञेयाः । ये च यक्षान् कुबेरादीन् रक्षांसि च राक्षसान् निर्गन्तिप्रभू-
तीन् राजसान् यजन्ते तेऽन्ये राजसा ज्ञेयाः । ये च प्रेतान् विप्रादयः स्वधर्मात्प्रच्युता देहप्राप्तदूर्वा बायवीर्यं
देहमापन्नाः उल्कामुलकटपुतनादिर्घ्वाः प्रेता भवन्तीति सन्तान् पिशाचविशेषान् वा, भूतगणांश्च सप्तमातृ-
कादींश्च तामसान् ये यजन्ते तेऽन्ये तामसा ज्ञेयाः । अन्य इति परं त्रिष्वपि वैलक्षण्यस्योपपत्त्या संन्यतम् ॥ ४ ॥

शुं० टी०—एवं सत्त्वरजस्तमःसंभावित्वमद्वावता पुनरेषां सात्त्विकीं राजसीं तामसीं च प्रकृतिरिति
सूचयित्वा तेषां प्रकृत्यनुरूपाणि कर्माण्याह कर्मणा छिद्वेन तेषां स्वभावो ज्ञातव्य इति सूचयितुम्—यजन्त
इति । सात्त्विकाः ओत्रिया देवसंपत्तिमन्तो देवानग्न्यादीन् वैदिकेन कर्मणा यजन्ते सात्त्विक्या अद्वाया ।
तदन्ये राजसास्त्वामसाश्चासुरसंपत्तिमन्तो राजस्या तामस्या च अद्वाया यक्षरक्षांसि पिशाचान् भूतगणांश्च
यजन्ते ॥ ४ ॥

श्री० टी०—सात्त्विकादिभेदेनैव कार्यभेदेन प्रपञ्चयति—यजन्त इति । सात्त्विका जनाः सत्त्वप्रकृ-
तीन् देवानेव यजन्ते पूजयन्ति । राजसान् रजःप्रकृतीन् यक्षान् राक्षसांश्च यजन्ते । एवम्येऽन्ये तु
विलक्षणस्तामसा जनस्तामसानेव प्रेतान् भूतगणांश्च यजन्ते । सत्त्वादिप्रकृतीनां वृत्तदेवतानां तु पूजा-
रुचिभिस्तत्पूजकानां सात्त्विकत्वादि ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

स० टी०—अद्वा ज्ञाता सर्वा निष्ठां ज्ञापयिष्यति साऽपि ॥ ज्ञापयति कथमित्युक्तेऽनुमेया कार्य-
छिद्वेनः ॥ १ ॥ शास्त्रीयज्ञानहीना ये स्वाभाविक्या यथा युताः ॥ अद्वाया सात्त्विकान् देवान् यजन्ते

कद्रमुख्यकान् ॥ २ ॥ ते जनाः सात्त्विका ज्ञेया ये तु यथांश्च राक्षसान् ॥ यजन्ते राजसत्तेऽन्ये ज्ञातव्या
राजसा जनाः ॥ ३ ॥ प्रेतान्पिशाचभेदान्ये मानुकादींश्च तामसान् ॥ यजन्ते भूतसंपास्ते ज्ञातव्या-
स्तामसा जनाः ॥ ४ ॥ ४ ॥

भा० टी०-एवं श्रद्धायास्त्रैविध्येन पुरुषाणां त्रैविध्यं निरूप्य यथोक्तानां पुरुषाणां सत्त्वादिनिष्ठा कथं
ज्ञातुं शक्येत्याकाङ्क्षापशुचये देवादिपूजारूपकार्येण लिङ्गेन साऽनुमेयेत्याशयेनाह-यजन्त इति । सात्त्विकाः
सात्त्विकश्रद्धासयाः सत्त्वनिष्ठाः देवान्वत्त्वादीन् सात्त्विकान्यजन्ते पूजयन्ति । राजसाः सुवेरानिर्दतिप्रमुखान्
यक्षरक्षांसि राजसान्यजन्ते । अन्ये तामसा जनाः प्रेतान् । पिशादयः स्वर्गमात्रं प्रच्युता वेहपातावूर्ध्वं नायनीयं
देहप्रापन्ना वदकामुखरुष्टपूतनादिसंज्ञाः प्रेता भवन्तीति सन्तुष्टान् पिशाचविशेषान् वा भूतगणांश्च सत-
मानुकादींश्च तामसान्यजन्ते । एवं पूजात्रैविध्येन जीवानां निष्ठात्रैविध्यं ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

प० टी०-यजन्ते सात्त्विका देवानिति । स्पष्टम् ॥ ४ ॥

रा० टी०-यो यच्छ्रद्ध इत्यत्र सात्त्विकादिश्रद्धः सात्त्विकादिविरत्युक्तम् । तत्र सात्त्विकश्रद्धाविः किं कर्म-
वानिति जिज्ञासायां ता श्रुतिविति प्रतिज्ञातमाह-यजन्त इति । सात्त्विकाः सात्त्विकश्रद्धावन्तः शास्त्रवि-
धानमज्ञानन्तोऽपि सात्त्विकश्रद्धाभावात्तान्विता जना इति यावत्, देवान् यजन्ते । राजसा राजसश्रद्धावन्तः
शास्त्रविधानमज्ञानन्त इति सर्वत्र ज्ञेयं, यक्षरक्षांसि यजन्ते । तामसान्तामसश्रद्धावन्तः प्रेतादीन् यजन्ते ।
यद्यपि यागविधिषु ऐन्द्रं दधोत्यादिषु इन्द्रादिदेवता एवोद्देश्यतया श्रुताः इति राजसादिरपि तत्र श्रुतदेवतौ-
द्देशेनैव यजनं करोति । तथापि वैरिष्टम् । यंश्चराक्षसाः धीनत्वादेवनामानो ब्रह्मेन्द्रादिसनामकाः गृह्णन्तीति
रसृत्वा तत्तन्नामकयक्षादीनामेव तत्तद्यज्ञभोक्तृत्वाद्यक्षरक्षांसि यजन्त्य इत्याद्युक्तिमिति ज्ञेयम् । अत्र देवया-
जिना विष्णुमत्स्यादिमत्स्यान्मोक्ष एव फलम् । राजसानां तु स्वर्गप्रतिविधिस्थेन फलित्वः सात्त्विकः स्वर्गः ।
तामसानां तु शिवपरिवारभूतादित्वमिति फलं ज्ञेयम् । 'मोक्षः सात्त्विकः स्वर्गो भूवादित्वं फलं क्रमात्'
इति रसृतेः ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ॥

दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागवल्गान्विताः ॥ ५ ॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममेतसः ॥

मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्धयासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

त० टी०-ननु शास्त्रविधियुक्तं श्रद्धया यजतां श्रद्धात्रैविध्येन सात्त्विकादित्रैविध्यमुक्तं, तथा-
ऽपि तेषां शास्त्रोपेक्षणहेतुत्वं न भवति 'यः शास्त्रविधियुक्तं यजति वर्तते कामकारतः' इत्यादिना सर्व-
पुरुषार्थदीनत्वकृपणतः । नाप्यसृत्वं तेषु दैवसाधर्म्यस्य तपोयज्ञादेर्दर्शनात् । तस्मात्कस्तेषां निश्चय
इति चेत्तत्राह-अशास्त्रविहितमिति द्वाभ्याम् । अशास्त्रविहितं शास्त्रेण वेदेन तदनुकूलेन
स्मृतिपुराणादिना च यत्र विहितमव एव घोरं प्राणिपीडाकरं तपो ये जनास्तप्यन्ते, उपलक्षणमिदं
यज्ञादेः । तथाऽतिघोरं यज्ञं च ये कुर्वन्ति कर्षयन्तः दम्भाहङ्कारसंयुक्ता दम्भो धार्मिकत्वख्यापनम्,
अहङ्कार आत्मनः श्रेष्ठताभिमानस्ताभ्यां संयुक्ताः, कामरागवल्गान्विताः कामो विषयाभिलाषः, राग-
स्तदभिनिवेशः, वर्लं तत्प्राप्त्यर्थं मयत्प्रहस्तेरान्विताः सन्तः शरीरस्थमुपादानतया शरीरे स्थितं भूतग्रामं
पृथिव्यादिभूतसमूहं कर्षयन्तः, वृथैवोपवासनादिभिः कृष्टं कुर्वन्तः, अचेतसो विवेकहीना अन्तःशरीरस्थं
मां च भर्तृभूतं जीवं चैव कर्षयन्तोऽप्यगतिप्रापणेन दुःखी कुर्वन्तस्तपोयज्ञादि कुर्वन्ति । ते आसुर-

निश्चयास्तानामुरनिश्चयान् परिहृमार्थं विद्धि । असुरा हि पञ्चासनमुल्लङ्घ्य यथेष्टाचारिणः मदाज्ञा-
विपरीताचारित्वात्तेषां सुखलब्धसंभावाऽपि नास्ति, प्रत्युताजसदुःखे नरके पतन्ति । मसक्ताः
कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽप्युचावित्युक्तत्वात् ॥ ५ ॥ ६ ॥

म० टी०—एवमनादृतशस्त्राणां सत्त्वादिनिष्ठा कार्यतो निर्जोता । तत्र केचिद्वाजसतमसता अपि प्राग्भ-
वीयपुण्यपरिपाकात्सात्त्विका भूत्वा शास्त्रीयसाधनेऽधिक्रियन्ते । ये तु दुराग्रहेण दुर्दैवपरिपाकप्राप्तदुर्जन-
सङ्कादिदोषेण च राजसतामसतां न सुष्वन्वि वे शास्त्रीयमार्गाद्गृह्णा असन्मार्गात्तुल्यरणेनेह लोके परत्र च
दुःखभागिन एवेत्याह द्वाभ्याम्—अज्ञास्त्रिविहितमिति । अज्ञास्त्रिविहितं शास्त्रेण वेदेन प्रत्यक्षेणानुमितेन वा
न विहितम्—अज्ञास्त्रेण पुण्यापागमेन बोधितं वा—घोरं परस्वात्मनः पीडाकरं तपस्तपशिक्षादोहणादि तप्यन्ते
कुर्वन्ति ये जनाः, दम्भो धार्मिकत्वव्यापनम्, अहंकारोऽमेव श्रेष्ठ इति दुरभिमानः ताभ्यां सम्यग्युक्ताः,
योगस्य सम्यक्त्वमनायासेन विभोगजननासामर्थ्यं, कामे काम्यमानविषये यो रागस्तन्निमित्तं व्रतमत्युप-
दुःखसहनसामर्थ्यं तेनान्विताः, कामो विषयेऽभिज्ञापः, रागः सदा तदभितिविष्टत्वरूपोऽभिवृद्धः, बलमव-
श्यमिदं साधयिष्यामीत्याग्रहः, तैरन्विता इति वा । अत एव बलवत् दुःखदर्शनेऽप्यनिरवर्षमानाः कर्षयन्तः
कुशीकुर्वन्तो पुत्रोपवासादिना शरीरस्थं भूतप्राप्तं देहेन्द्रियसंघाताकारेण परिणतं पृथिव्यादिभूतसमुदायम-
चेतसो विवेकशून्याः मां चान्तःशरीरस्थं भोक्तृरूपेण स्थितं भोग्यस्य शरीरस्य कुशीकारणेन कुशीकुर्वन्त एव
मामन्तर्यामित्वेन शरीरान्तःस्थितं बुद्धितद्भुत्तिसाक्षीभूतमीश्वरमाज्ञातुत्वेन कर्षयन्त इति वा । तानैहिकसर्व-
भोगविदुषान् परत्र चापमर्गतिमागिनः सर्वपुरुषार्थभ्रष्टानामसुरनिश्चयान् आसुरो विपर्ययरूपे वैशर्य-
विरोधिनिश्चयो येषां तान् मनुष्यत्वेन प्रवीयमानानप्यसुरकार्यकारित्वादसुरान्विद्धि जानीहि परिहरणाय ।
निश्चयस्यासुरत्वात्तदपूर्विकाणां सर्वोसामन्तःकरणवृत्तीनामासुरत्वम् । असुरस्वप्नातिरहितानां च मनुष्याणां
कर्मणैवासुरत्वाच्चान्तमुरान्विद्धीति साक्षात्प्रोक्तमिति च दृष्टव्यम् ॥ ५ ॥ ६ ॥

श्री० टी०—राजसानां तामसानां चासुरभेव धर्मं प्रतिपादयति—अज्ञास्त्रेति द्वाभ्याम् । वम्भो मन्त्रवन्-
वेषनभाविद्याहारीकराटोपः, अहंकारः कुलशीलविद्याश्रमादिभिर्लुक्छेदशमित्यन्तःकरणदोषताभ्यां संयु-
क्ताः, कामरागवृत्तान्विताः—कामाः ऐहिकामुक्तिकभोग्यपदार्थाः, रागस्वेपासुपभोगेऽप्यत्र, बलमिच्छावेगस्तेः
सम्यगान्वितास्तत एवाचेतसोऽविधेकिनो ये मूढाः शरीरस्थं स्थूलशरीर उदरे चान्यत्र विद्यमानं भूतमानं
स्थूलसूक्ष्मरूपप्राणिमुदायम् । यद्वा प्राणेन्द्रियप्राप्तं कर्षयन्तोऽन्तरसाधनत्वेन शोषयन्तो मां चैतान्तःशरी-
रस्थान्तःशरीरं बुद्धिः तत्र सर्वप्रकाशकृतया विद्यमानं मां चापि प्रत्यग्रूपं कर्षयन्तो मनोबुद्धीन्द्रियाणामु-
पवासकृताविश्रान्त्या प्रत्युपग्रमे सत्यात्मचैतन्यस्य स्फुरणं न भवति । तद्भाष एवायं प्रत्यग्रामनः कुशी-
करणं तल्लुर्वन्तः सन्तो ये जनाः अज्ञास्त्रिविहितम् न अज्ञास्त्रिविहितं अज्ञास्त्रिविहितं घोरं पीडाकरं तपस्-
प्यन्ते उपवासव्रतादिना कायशोषणं कामरहाबलानुरूपया श्रद्धया ये कुर्वन्तीत्यर्थः । तानामसुरनिश्चयान्
आसुराणां निश्चयो येषां तानामसुरनिश्चयान् विद्धि दुष्करप्रवृत्तानामसुरां विज्ञानीहोत्यर्थः । एतेनाभासश्रद्धापरां
राजसानां तामसानां चासुर्येव संपादिति सूचितम् । तेन सात्त्विकानां दैव्येव संपादिति सिद्धम् ॥ ५ ॥ ६ ॥

श्री० टी०—राजसतामसेषु पुनर्निर्देशोपान्तरमाह—अज्ञास्त्रिविहितमिति द्वाभ्याम् । शास्त्रविषयजनान्तोऽपि
केचित्प्राचिनपुण्यसंस्कारेणोत्तमाः सात्त्विका एव भवन्ति । केचित्तु मध्यमा राजस्य भवन्ति । अवमास्तु
तामसा भवन्ति । ये पुनरत्यन्तं—मन्दभाग्याः गतलुगत्या पाण्डसद्वेन न वशाचारानुवर्तिनः सन्तः
अज्ञास्त्रिविहितं घोरं भूतभयंकरं तपस्तप्यन्ते कुर्वन्ति । उद्य देवकः—दम्भाहंकाराभ्यां संयुक्ताः । तया कायो-
ऽभिज्ञापः, रागः आसक्तिः, बलमाग्रहः । एवेरन्विताः सन्तः तानामसुरनिश्चयान् विद्वीत्युत्तरेणान्वयः ॥ ५ ॥

किंच-कर्ष(शं)यन्त इति । शरीरस्य प्रारम्भकत्वेन देहे स्थितं भूतानां शुभिव्यादीनां प्राप्तं सन्तुष्टं कर्ष(शं)-
यन्तः द्रव्योपवासादिभिः कर्षं कुर्वन्तोऽचेतसोऽविवेकिनः मां च अन्तर्यामितया अन्तःशरीरस्थं देहमध्ये
स्थितं मदाक्षालनत्वेनैव कर्ष(शं)यन्तः सन्त एवं ये तपश्चरन्ति तानामुरनिश्चयानामुरोऽतिकूरो निश्चयो येषां
तान् विद्धि ॥ ६ ॥

स० टी०-इत्यनाहतशाखाणां निष्ठेका त्रिविधा नृणाम् ॥ केचित्पुण्यवशास्तन्ति सत्त्विकाः
शास्त्रतत्परः ॥ १ ॥ दुराग्रहेण ये स्वप्नं दुर्दैवपरिपाकतः ॥ दुष्टवद्वादिशेषेण न मुच्यन्त्यासुरीं मतिम्
॥ २ ॥ ते शास्त्रीयाध्वनो भय्र अस्वर्गमात्रस्यारतः ॥ इहसुखं च दुःखेकभाज एवेति कथ्यते ॥ ३ ॥
यत्र युत्या न वा सत्या विहितं तप आसुरम् ॥ यत्र शास्त्रेण पुण्यपादिप्रणीतेनैव बोधितम् ॥ ४ ॥
घोर स्वस्य परस्यापि कुर्वन्त्यस्यन्तदु खदम् ॥ आत्मनो धार्मिकत्वस्य व्यसनं दम्भ ईरितः ॥ ५ ॥ श्रेष्ठी-
ऽहमेवमित्येवमहंकारो दुराग्रहः ॥ ताभ्यामत्यन्तसंयुक्ता यो रागः काम्यगोपरे ॥ ६ ॥ तन्निमित्तं बलं
दुःखं सोढुं सामर्थ्यमित्यपि ॥ विषयाभिलाषः कामो रागोऽभिप्रेज्ज उच्यते ॥ ७ ॥ साधोपप्याम्यवश्यं
चेत्यामहो बलमुच्यते ॥ तैर्युता यत्नबहुः खदर्शनेऽत्यनिवर्तनः ॥ ८ ॥ ९ ॥ पृथ्व्यादिभूतसंघं ये
देहस्थमेविवेकिनः ॥ कृषोर्कुर्वन्त अग्रमात्रं मा चैवान्तःशरीरस्य ॥ १ ॥ अन्तर्यामितया भोक्त्वृ-
भावेन साक्षिभावतः ॥ मदाक्षालनत्वेनैव मा द्विप्लवो नराधमा ॥ २ ॥ वात्सुमयात्परिघ्नश्रान्तिहासुग्राह-
भागिनः ॥ आसुरोऽतिविषयासो विरुद्धत्वेन च भुवः ॥ ३ ॥ निश्चयो दुर्धिया येषां तान्मुपप्यत्वरूपतः ॥
प्रतीयमानानामुर्मा कान्तान्निद्रापाशुराच्छ्रुता ॥ ४ ॥ सर्वथा देय एवासौ दुष्ट आसुरनिश्चयः ॥ श्रेयो-
ऽभिधिर्विषयैश्चिह्नैरिरेत्येवमाश्रयः ॥ ५ ॥ ६ ॥

भा० टी०-एवं कार्यतो निर्णीतानां सत्त्वादिनिष्ठानां मध्ये देवपूतदिवत्परस्य सत्त्वनिष्ठस्य दौर्लभ्यं
रजस्तमोनिष्ठानां बाहुरस्यं च सापयितुमाह-अशास्त्रेति । अशास्त्रविहितं श्रुतिस्मृत्यादिरूपेण शास्त्रेण
विहितं न भवति तत् शास्त्रं न भवतीत्यवशात् तेन, युद्धाद्यागमेन बोधितमिव वा । घोरं प्राणिनामात्मन-
श्च पीडाकरं तपो ये जनास्तप्यन्ते निर्वर्तयन्ति । जनान्विशिनष्टि-दम्भाहंकारसंयुक्तः दम्भो धर्मध्वजित्वम्,
अहंकारोऽहमेव सर्वोत्तम इति दुरभिमानसाध्यां सम्यग्युक्ताः । कामरागवदन्विताः-कामो विषयाभिलाषः,
कामस्य कारणोभूतो विषयाभिर्जनान्तात्मको रागः, कामरागाभ्या कृते बलं विषयसंवादनोत्साहस्तेनान्विताः,
कामरागवद्वैरन्विता इति वा ॥ ५ ॥ रजोनिष्ठान् प्राधान्येन प्रदर्श्य तमोनिष्ठान् प्राधान्येन विशिनष्टि-
कर्षयन्त इति । शरीरस्थं भूतप्राणं करणसमुदायरूपेण परिणतं कर्षयन्तः कर्षाकुर्वन्तः यतोऽचेतसोऽविवे-
किनो मूढाः मां च तत्कर्ममुद्धिमाक्षिभूतमन्तःशरीरस्थं कर्षयतो मदनुशासनविक्रमणं कुर्वन्तो भोक्त्वरूपे-
णान्तःशरीरस्थम् । भोग्यस्य शरीरस्य कर्षणेन कर्षाकुर्वन्त इति तु भोग्यस्य कर्षाकरणेनापि निरवयवस्य
भोक्तुः वास्तवं कार्यं न संभवतीत्यभिप्रेत्याचार्यः नोक्तम् । य एनंविचारतान् आसुरो निश्चयो येषां
ते आसुरनिश्चयाः तान्परिहरणार्थं विद्धि विज्ञानीहीति करुणानिर्दिष्टमनुपदिशति ॥ ६ ॥

१ प० टी०-अवाविहितं कर्म-दर्शयति-अशास्त्रविहितमिति द्वाभ्याम् । शास्त्रेणाविहितमननुज्ञातं घोरं
भयावहं श्मशाने नमस्तेनालुपीयमानं घोरसाधनादि ये जनास्तपस्तप्यन्तेऽनुतिष्ठन्ति । दम्भो धर्मध्वनि-
त्वम्, अहंकारो गर्वतन्मया संयुक्तः । कामोऽभिलाषो, राग आसक्तिर्बलमाहस्तेरन्वितास्तानामुरनिश्चया-
न्विदीत्युत्तेरणान्वयः ॥ ५ ॥ तदुदाहरितं-कर्षयन्त इति । शरीरस्थं शरीरान्तर्गतं भूम्यादिभूतप्राणं प्राणा-
चारोपवासादिभिः कर्षयन्त, कर्षं कुर्वन्तः । च पर मामन्तर्यामित्वेन स्थितं दुःखसाक्षिणं कुर्वन्तोऽव एवचे-
तसो देवप्राण्यभित्यजानन्तस्तानामुरनिश्चयानामुरोऽतिकूरो निश्चयो येषां ते तथाविधान् विद्धि ॥ ६ ॥

रा० टी०—न केवलं तामसानां भूषादित्वं तमःप्राप्तिरपीत्याह—अशास्त्रेत्यादि द्वाभ्याम् । ये जनाः शास्त्रादन्येन दुरागमादिना विहितं घोरं महाकष्टरूपं तपः दम्भाहंकारसंयुक्तः कामरागवद्वान्निताः इच्छासक्त्याग्रहयुक्तः सन्तस्तप्यन्ते कुर्वन्ति ॥ ५ ॥ किंच—कर्तव्यन्त इति । शरीरस्य भूतग्रामं लक्ष्म्यादिदेवतासमुदायं मां चान्निर्नियामकत्वेन शरीरस्य कर्तव्यन्तो (कर्तव्येना) लपगुणत्वेन पश्यन्तोऽचेतसोऽविवेकिनः । तानामुत्तिष्ठयानमुरसंबन्धनिश्चयान्विद्धि जानीहि । ये दैत्यरक्षःपिशाचा इत्ययः । तमःप्राप्तिरप्या इति भावः ॥ ६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ॥

यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

त० टी०—एवं परिहार्यमासुरत्वं प्रदर्श्य सात्त्विकानामुपादानार्थं राजसतामसानां परिहारार्थं यज्ञस्तपोदानानां गुणतत्त्वैर्विध्यं वक्तुं तावत् सात्त्विकमिदं यज्ञादेरन्तःकरणमिति चित्वा दन्तःकरणस्य शुद्धेस्तु “अन्नमप्यं हि सोम्य ! मनः आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः” इति श्रुत्या आहारशुद्धिर्मुलत्वनिश्चयादाहारस्य गुणतत्त्वैर्विध्यं वक्तुं प्रतिजानीते—आहारस्त्वपीति । न केवलं श्रद्धेव देहिनां त्रिविधा भवति । किंतु सर्वस्य जनस्य यस्तु आहारः प्रियो भवति, सोऽपि त्रिविध एव । सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वेन स्वस्वप्रकृत्यनुसारात्रिविधेष्वेवैकतमः प्रियः, नतु चतुर्थः कश्चिदित्यर्थः । तथा यज्ञास्तथा तपो दानं च त्रिविधं भवति । तेषामाहारादीनां भेदमिमं वक्ष्यमाणं शृणु ॥ ७ ॥

म० टी०—ये सात्त्विकस्ते देवा ये तु राजसास्तामसाश्च ये विपर्यस्तस्वादासुरा इति स्थिते सात्त्विकानामादानाय राजसतामसानां हानाय चाहारयज्ञतपोदानानां त्रैविध्यमाह—आहार इति । न केवलं श्रद्धैव त्रिविधा, आहारोऽपि सर्वस्य प्रियस्त्रिविध एव भवति सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वेन चतुर्थः विधायाः असंभवात् । यथा दृष्टार्थः आहारस्त्रिविधस्तथा यज्ञस्तपोदानान्यदृष्टार्थान्यपि त्रिविधानि । तत्र “यज्ञं व्याख्यास्यामो ब्रह्मं देवतास्यागः” इति कल्पकारैर्देवतोद्देशेन ब्रह्मत्यागो यज्ञ इति निरुक्तः । स च यज्ञविना जुद्धोतिना च चोदितत्वेन यज्ञो होमश्चेति द्विविधः—वचिष्ठद्वयोमा वषट्कारप्रयोगान्ता याज्ञ्यापुरेणुवाक्याकृतो यज्ञतय, उदविष्टहेमाः स्वाहाकारप्रयोगान्ता याज्ञ्यापुरेणुवाक्यारहिताः जुहोतय इति कल्पकारैर्वाक्यातो यज्ञशब्देनोक्तः । तपः कायेन्द्रियक्षोभणं कृच्छ्रवान्द्रावणादि । दानं परस्त्वापतिफलकः स्वस्वत्यत्यागः । तेषामाहारयज्ञतपोदानानां सात्त्विकराजसतामसभेदं मया व्याख्ययमानमिमं शृणु ॥ ७ ॥

श्री० टी०—एवं श्रद्धाभेदेन देवादिभ्यजनभेदेन शास्त्रीयाशास्त्रीयकर्मानुष्ठानेन च सात्त्विकराजसास्तामसा ज्ञातेत्या इति सूचयित्वाऽधुना त्वाहारेण यज्ञेन तपसा दानेन च ये ज्ञातव्या इति सूचयितुमाहारयज्ञतपोदानादीनां सत्त्वादिगुणभेदेन त्रैविध्यं प्रतिपादयति सात्त्विकैस्सुलुभिः । सात्त्विका एवाहारादयश्चित्तशुद्धये कर्तव्या नन्वितर इति ज्ञापयितुं च—आहारस्त्विति । स्पष्टोऽर्थः ॥ ७ ॥

श्री० टी०—आहारादिभेदादपि सात्त्विकादिभेदं दर्शयितुमाह—आहारस्त्वित्यादिप्रयोदशभिः । सर्वस्यापि जनस्य य आहारोऽज्जातिः ॥ तु यथायर्थं त्रिविधः प्रियो भवति । तथा यज्ञतपोदानानि च त्रिविधानि भवन्ति । तेषां च वक्ष्यमाणमिमं भेदं शृणु । यत्तत्र राजसतामसाहारयज्ञादिरित्यागेन सात्त्विकाहारयज्ञादिसेवया सत्त्वशुद्धौ यत्नः कर्तव्य इत्येतदर्थं कथ्यते ॥ ७ ॥

स० टी०—ये सात्त्विकस्ते देवाः स्य राजसास्तामसास्तु ये ॥ वेऽसुराः सर्वथा त्याग्य आहारा देवास्तु सात्त्विकाः ॥ १ ॥ इत्याहारतपोयज्ञदानत्रैविध्यमुच्यते ॥ निमित्तोक्तं यथा श्रद्धा तत्वाहारान्नित्यादन्तानि

॥ २ ॥ सर्वस्य प्राणिनो भोक्तः प्रियो यज्ञस्तपस्तथा ॥ देवतोद्देशतो द्रव्यत्यागो याग उदाहृतः ॥ ३ ॥
तपश्चान्द्रायणाशुक्तं क्षीरेन्द्रियशोषणम् ॥ दानं स्वस्वत्वत्यागोऽन्यस्वत्वापादनसंस्मृतम् ॥ ४ ॥ तेषां चतुर्णां
भेदं त्वं प्रोच्यमानं मया शृणु ॥ ५ ॥ ६ ॥

भा० टी०—वचनद्वारेणु ग्रीत्यविवेकेण सात्त्विकत्वादिकं यज्ञादीनामपि सत्त्वादिगुणभेदेन त्रिविधत्वं च
ब्रुवन् सात्त्विका आहारादयो माह्याः राजस्तामसाश्च परिवर्ज्या इति बोधयितुमारभते—आहार इत्या-
दिना । आहृत्यते इत्याहारो भक्ष्यादिरूपः । सर्वस्य सात्त्विकादिभेदभिन्नस्य प्राणिजातस्य भोक्तुराहारोऽपि
त्रिविधस्त्रिप्रकारः प्रियः इष्टो भवति, तथा यज्ञस्त्रिविधः तथा दानम् । तेषामाहारादीनामिदं बह्व्यमार्थं
भेदं शृणु ॥ ७ ॥

प० टी०—अथ सात्त्विकादीनामाहारादिभेदमाह—आहार इत्यादिवस्तुयोद्देशाभिः । सर्वस्यापि जनस्य
य आहारोऽन्नादिः स तु यद्यथैव त्रिविधः प्रियो भवति । तथा यज्ञतपोदानानि च त्रिविधानि भवन्ति ।
तेषां बह्व्यमाणमिदं भेदं त्रिविधं शृणु ॥ ७ ॥

रा० टी०—अत्राभेदात्सात्त्विकादिभेदः तत्तदीयसदसकर्मविवेकेन सात्त्विकादिस्वरूपविवेक उक्तः ।
आहारादिभेदेनापि तेषां विवेकं प्रतिज्ञापूर्वमाह—आहारस्वित्यादिसप्तभिः । सर्वस्येव सात्त्विकादिजन-
स्येत्यर्थः, यज्ञस्तपोदानं तथा त्रिविधमित्यर्थः । तेषामिति आहारादीनामित्यर्थः ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलरोग्यसुखंप्रीतिविवर्धनाः ॥

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

कटुम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ॥

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं प्रुति पर्युषितं च यत् ॥

उच्छिष्टमपि चाभेद्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

त० टी०—तत्र तावदाहारभेदानाद् त्रिभिः श्लोकैः—आयुरिति । आयुरादिवर्धना आहाराः
सात्त्विकानां प्रिया भवन्ति । तत्रायुश्चिरजीवनं, सत्त्ववन्ताकरणं गुणो वा तस्य कार्यं ज्ञानं सत्त्व-
शब्देनोच्यते 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' इतिवचनात् । कर्तुं स्वर्गमनुष्ठानसाधन्यम्, आरोग्यं रोगरा-
हित्यं, मुख्यं विचित्रसाहः, प्रीतिरभिरुचिस्तोषं विवर्धना विवृद्धिकराः । ते च रस्या मधुररसोपेताः,
स्निग्धाः स्नेहयुक्ताः, स्थिराः शरीरे रसाग्नेन चिरकालस्यायिनः, हृद्या हृदयद्वयाः, एवंविधा आ-
हारा भक्ष्यभोग्यादिरूपाः सात्त्विकप्रिया भवन्ति । तथा—कट्विति । अतिशब्दः कट्वादिषु सप्तस्यपि
योजनीयः । तथा चातिकर्तुर्नैवादिः, अत्यम्लः, अतिलवणः, अत्युष्णः, अतितीक्ष्णो मरी-
च्यादिः, अतिरूक्षः स्नेहवर्जितः कटुकोद्ववादिः, अतिविदाहिनः कण्ठोदरदाहकराः—एवंभूता
आहारा राजसस्येष्टाः प्रिया भवन्ति । ते च दुःखं तात्कालिकतापः, शोकः पश्चाच्छाविदौ-
र्भनस्यम्, आमयो रोगः, एतान् प्रदत्तीति दुःखशोकामयप्रदाः । तथा—यातयामपिति । यातयार्थं
बहुकालसंस्थितं, गतरसं 'निर्वस्वाभाविकरसं, प्रुति दुर्गन्धव्याप्तं, पर्युषितं राज्यन्तरितत्वेन
रसान्तराविष्टम्, उच्छिष्टं सुखस्तरहोभ्योऽन्येषां युक्तान्निष्टम्, अभेद्यं यत्स्वरानर्हंशुचि, एवंविधं

तमोमयं भोजनं तामसस्य पुरुषस्य प्रियं भवति । पुनरपि तमसो विवृद्धिकरम् । तस्माच्छे-
यस्कामै राजसं तामसं च हित्वा सत्त्वद्वये सात्त्विकाहार एव सेवनीय इति भावः ॥ ८-१० ॥

म० टी०—आहारयज्ञवतोदानानां भेदः पञ्चदशभिर्व्याख्यायते । तत्तद्धारभेदसिभिः—आयुरिति । आयु-
धिरजीवनं, सत्त्वं चित्तवैयं नश्यति दुस्तेऽपि निर्विकारत्वापादकं, वलं शरीरसामर्थ्यं स्योचिरे कार्ये श्रमाभा-
वप्रयोजकम्, आरोग्यं व्याप्यभावः, सुखं भोजनानन्तराद्भवति, तृप्तिः प्रीतिर्योजनकालेऽनभिरुचिरादित्यमिच्छो-
त्कटवं तेषां विवर्धनाः विशेषेण वृद्धिहेतवः, रस्याः आस्वाद्याः मधुररसप्रधानाः, स्निग्धाः सहजेनमानुकेन वा
कोहेन युक्ताः, स्थिराः रसाद्यंशेन शरीरे चिरकालस्यायिनः, हृद्याः हृदयंगमाः दुर्गन्धाशुचित्वादिदृष्टादृष्टदोष-
शून्याः, आहाराश्चर्च्योप्यलेहापेयाः, सात्त्विकानां प्रियाः—एतैर्लङ्घैः सात्त्विकज्ञेयाः सात्त्विकत्वमभिलषन्निश्चेत
आदेया इत्यर्थः ॥ ८ ॥ कद्रुति । अतिशब्दः कट्वादिषु सप्तस्वापि योजनीयः । कटुस्तिक्तः कटुरसस्य वीक्षणाद्वे-
नोत्तत्वात् । तथासिक्तदुर्गन्धमिदः, अत्यन्तोऽतिखणोऽत्युष्णश्च प्रसिद्धः । अतिवीक्षणे मरीचादिः, अतिरस्यः
क्षौद्रशून्यः कङ्ककोद्वन्नादिः, अतिविदाही संसापको राजिकादिः, दुर्लभं तात्कालिकं पीबं, शोकं पश्चाद्भावि-
द्वैर्नस्तम्यम्, आमयं रोगं च भातुवैषम्यद्वारा प्रद्वीक्षि यथाभिधा आहारा राजसस्येष्टाः । एतैर्लङ्घैः राजसा-
ज्ञेयाः सात्त्विकैश्चैव उपेक्षणीया इत्यर्थः ॥ ९ ॥ यातेति । यातयाममर्षपकं निर्वायस्य गतरसपेक्षोत्तत्वादिति
भाष्यम् । गतरसं विरसतां प्राप्तं शुष्कं, यातयामं पकं सप्तहरादिव्यवहितमोदनादिवैश्वं प्राप्तं, गतरसमुद्धत-
सारं मथितदुग्धादीन्त्यन्ये, पूति दुर्गन्धं, पर्युषितं पकं सप्तत्रयन्तरितम् । चेत्तु वत्काशेन्यादकरं धनूरादि समुदी-
यते । यदतिप्रसिद्धं दुष्टत्वेन उच्छिष्टं भुक्तवशिष्टम्, अमेध्यमयज्ञार्हमशुचिर्मांसादि । अपि चेति वैयकशास्त्रो-
क्तमर्थं समुच्यते । एतादृशं यज्ञोजनं भोज्यं तत्तामसस्य प्रियं सात्त्विकैरितिवरादुपेक्षणीयमित्यर्थः । एतादृ-
शभोजनस्य दुःखशोकामयप्रदत्वमतिप्रसिद्धमिति कण्ठतो नोक्तम् । अत्र च कृमेण रस्यादिवर्गः सात्त्विकः,
कट्वादिवर्गो राजसः, यातयामादिवर्गस्तामस इत्युक्तमाहारकर्मात्रम् । तत्र सात्त्विकवर्गविरोधित्वमितरवर्गद्वये
द्रष्टव्यम् । तथा शक्तिरुत्पादिकरस्यत्वविरोधि तद्वशास्यानास्वाद्यत्वात् । रुक्षत्वे स्निग्धत्वविरोधि । तीक्ष्णत्व-
विदाहिस्वे भातुपोषणविरोधित्वास्थिरत्वविरोधिनि । अत्युष्णत्वादिकं हृद्यत्वविरोधि । आमयप्रदत्वमायुःसत्त्वव-
लारोग्यविरोधि । दुःखशोकप्रदत्वं सुखप्रीतिविरोधि । एवं सात्त्विकवर्गविरोधित्वं राजसवर्गे स्पष्टम् । तथा ताम-
सवर्गेऽपि गतरसत्वात्तामस्यवर्ग्युपितत्वानि यथासंभवं रस्यत्वस्निग्धत्वास्थिरत्वाविरोधीनि । पूतित्वोच्छिष्टत्वा-
मेध्यत्वानि हृद्यत्वविरोधीनि । आयुःसत्त्वादिविरोधित्वं तु स्पष्टमेव । राजसवर्गे दृष्टविरोधमात्रं, तामसवर्गे
तु दृष्टादृष्टविरोध इत्यतिशयः ॥ १० ॥

श्ल० टी०—आयुरिति । आयुषो ज्योत्स्नीवनस्य सत्त्वस्यान्तःकरणस्य तत्त्वकृतैर्वलस्य देहेन्द्रियशक्ते-
रारोग्यस्य रोगानुरागस्य सुखस्य संतोषस्य प्रीतिश्चसुखीतिर्विवर्धनाः वर्धकाः रस्याः रसोपेता मधुराः स्निग्धाः
क्षौद्रयुक्ताः स्थिरा सारवत्तराः हृद्या मनोरमा आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥ कद्रुति । अतिशब्दः
कट्वादिभिः प्रत्येकं संयज्यते । अतिरुतुरित्तिको निम्बादिः कटुकस्तिक्तशब्देनोच्यते अत्यन्तोऽतिखणो-
ऽत्युष्णः अतिवीक्षणे वृद्धन्मरीचिः रुक्षो निःक्षौद्रः प्रियश्चवादिः, विदाही सर्षपादिः, सगोदुःप्रमदाः पश्चा-
च्छोकप्रदा आहारा राजसस्येष्टाः ॥ ९ ॥ यातेति । यातयामं मन्दपकं, गतरसम् अतिपक्वम्, पूति
दुर्गन्धि, पर्युषितं पुरातनं, उच्छिष्टं भोजनशेषं, अमेध्यमयज्ञशेषं, भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

श्री० टी०—तत्राहारत्रैविध्यमाह—आयुरिति विभिः । आयुर्जीवितम्, सत्त्वमुत्साहः, वलं शक्तिः,
आरोग्यं रोगराहित्यं, सुखं चित्तप्रसादः, प्रीतिरभिरुचिः, आयुरादीनां विवर्धनाः विशेषेण वृद्धिहरास्ते

म० टी०—इदानीं क्रमप्राप्तं त्रिविधं यज्ञमाह—अफलेति त्रिभिः । अधिहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्य-
पशुवन्धज्योतिष्टोमादिर्विश्वे द्विविधः—काम्यो नित्यश्च । फलसंयोगेन चोदितः सर्वद्वोपसंहारेणैव मुख्यकल्पे-
नानुष्ठेयः काम्यः । फलसंयोगं विना जीवनादिनिमित्तसंयोगेन चोदितः सर्वद्वोपसंहारासंभवे प्रतिनि-
ध्यानुपादानेनामुख्यकल्पेनाप्यनुष्ठेयो नित्यः । तत्र सर्वद्वोपसंहारासंभवेऽपि प्रतिनिधिमुपादायावयं यष्ट-
व्यमेव प्रत्यवायपरिहारायावदयकजीवनादिनिमित्तेन चोदितत्वादिति मनः समाधाय निश्चित्य अफला-
काङ्क्षिभिरन्तःकरणशुद्धयर्थितया काम्यप्रयोगविमुखैर्विधिदृष्टो यथाशास्त्रं निश्चितो यो यज्ञ इज्यतेऽनुष्ठीयते
स यथाशास्त्रमन्तःकरणशुद्धयर्थमनुष्ठीयमानो नित्यप्रयोगः सात्त्विकोऽज्ञेयः ॥ ११ ॥

शं० टी०—अफलेति । यष्टव्यमेवानेन मन्त्रपर्याप्तिलक्षणः पुरुषार्थः सिध्यतीति मनः समाधाय मनसो
नैश्चल्यमाधाय अज्ञाभक्ति-यामफलाकाङ्क्षिभिर्निष्कामैः श्रोत्रियैस्तन्त्रमन्त्रार्थवेदिभिर्विधिदृष्टो विद्युत्कनियमो-
पेतो यो यज्ञ इज्यते स सात्त्विको यज्ञ इत्यर्थः ॥ ११ ॥

श्री० टी०—यज्ञोऽपि त्रिविधः, तत्र सात्त्विकं यज्ञमाह—अफलाकाङ्क्षिभिरिति त्रिभिः । फलाकाङ्क्षा-
हितैः पुरुषैर्विधिना दृष्टः आवश्यकतया विहितो यो यज्ञ इत्यर्थे अनुष्ठीयते स सात्त्विको यज्ञः । कथमिज्यते
यष्टव्यमेवेति यज्ञानुष्ठानमेव कार्यं नान्यत्फलं साधनीयमित्येवं मनः समाधाय एकाग्रं कृत्वेत्यर्थः ॥ ११ ॥

स० टी०—त्रिविधं यज्ञमाह—क्रमप्राप्तनिहायानु ॥ अनुष्ठेयो द्विधा यज्ञः काम्यो नित्यश्च तत्र तु ॥ ११ ॥
नित्यो यष्टव्यमेवेति प्रत्यवायजिहासया ॥ मनो निश्चित्य शुद्धयर्थतया काम्यपराङ्मुखैः ॥ १२ ॥ यज्ञो-
ऽनुष्ठीयते प्राज्ञैर्निश्चितो यो यथाविधि ॥ विज्ञेयः सात्त्विको यज्ञोऽनुष्ठितो धीविशुद्धये ॥ ३ ॥ ११ ॥

भा० टी०—एषमाहारात्रैविध्यं विभज्य क्रमप्राप्तं यज्ञत्रैविध्यं विभज्यजगद्गुणैर्वादेयं सात्त्विकं यज्ञमाह—
अफलेति । अफलाकाङ्क्षिभिः फलाकाङ्क्षावर्जितैरप्रियोमादिः विधिर्दृष्टः शास्त्रचोदनादृष्टो यो यज्ञो यष्टव्य-
मेव यज्ञस्वरूपनिवर्तनमेव कर्तव्यमिति बुद्ध्या मनः समाधाय नानेन पुरुषार्थो मम कर्तव्य इति निश्चित्ये-
ज्यते निर्वर्त्यते स सात्त्विको यज्ञ उच्यते । स एव श्रेयोर्थभिरुपादेय इत्यर्थः ॥ ११ ॥

प० टी०—अथ यज्ञोऽपि त्रिविधस्तत्र सोपाधिकं यज्ञमाह—अफलाकाङ्क्षिभिरिति त्रिभिः । ‘कुर्व-
न्नेवेदं कर्माणि’ इत्यादिविधिना यष्टव्यमेवेति दृष्टो यज्ञः फलाकाङ्क्षारहितैः पुरुषैर्नतः समाधाय शुद्धं कृत्वा
य इज्यतेऽनुष्ठीयते स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

रा० टी०—यज्ञभेदेन सात्त्विकादिभेदमाह—अफलेति । फलाकाङ्क्षारहितैर्यो यज्ञो विधिदृष्टो विधिज्ञान-
पूर्वकः यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय इज्यते अनुष्ठीयते स सात्त्विक इत्यर्थः ॥ ११ ॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ॥

इज्यते भरतश्रेष्ठ ! तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

त० टी०—राजस्यज्ञमाह—अभिसंधापेति । फलमभिसंधाय इदं मम स्वादित्युद्दिश्य तु पदि-
ज्यते यजनं क्रियते, दम्भार्थं धार्मिकत्वरूपापनार्थमपीत्यपि शब्दाद्यशोऽर्थः, यस्तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥ १२ ॥

म० टी०—अभिसंधापेति । फलं काम्यं स्वर्गादि अभिसंधाय उद्दिश्य न त्वन्तःकरणशुद्धिम् । तुर्नित्य-
प्रयोगवैलक्षण्यसूचनार्थम् । दम्भो लोके धार्मिकत्वरूपापनं उद्दिश्यमपि चैवेति विरूपसमुच्चयाभ्यां त्रैविध्य-
सूचनार्थम् । पारलौकिकं फलमभिसंधायैकादम्भार्थत्वेऽपि पारलौकिकफलानभिसंधानेऽपि दम्भार्थमेवेति विरूपेण
ज्ञो पक्षः । पारलौकिकफलार्थमेवैहलौकिकदम्भार्थमपीति समुच्चयेनेकः-पक्षः । एवं दृष्टादृष्टफलभिसं-
धिनान्तःकरणशुद्धिमनुद्दिश्य उद्दिश्यते यथाशास्त्रं यो यज्ञोऽनुष्ठीयते तं यज्ञं राजसं विद्धि हानाय । हे
भरतश्रेष्ठेति योग्यत्वसूचनम् ॥ १२ ॥

शं० टी०—अभिसंधायेति । स्वर्गादिफलार्थं वा दम्भार्थं वा क्रियमाणो यज्ञो राजस इत्यर्थः ॥ १२ ॥

श्री० टी०—राजसं यज्ञमाह—अभिसंधायेति । फलमभिसंधाय उद्दिश्य तु यदिष्यते यज्ञः क्रियते दम्भार्थं च महत्त्वव्यापनार्थं तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥ १२ ॥

स० टी०—स्वर्गादिफलमुद्दिश्य श्रेष्ठे दम्भार्थमेव वा ॥ चित्तशुद्धिमुद्दिश्य दृष्टादृष्टफलेषुना ॥ १ ॥ यथातुष्टीयते शास्त्रात् यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ हानाय भरतश्रेष्ठ योग्योऽसि त्वं तु सात्त्विकम् ॥ २ ॥ काम्यो सुसुक्ष्मर्ह्यः सर्वयेत्याश्रयो ह्येः ॥ ३ ॥ १२ ॥

भा० टी०—राजसं यज्ञं ज्ञापयति—अभीति । अभिसंधाय तु फलं स्वर्गादिफलमुद्दिश्य दम्भार्थमपि चैव इह धार्मिकत्वव्यापनार्थं च यत् इष्यते यज्ञजनं क्रियते, तं यज्ञं राजसं राजसा निर्बुधं परिहरणार्थं विद्धि जानोहि । भरतश्रेष्ठेति संबोधयन् राजसयज्ञे तव योग्यता नास्तीति सूचयति ॥ १२ ॥

प० टी०—राजसं यज्ञमाह—अभिसंधायेति । फलमभिसंधायोद्दिश्य दम्भार्थं महत्त्वव्यापनार्थं च इष्यते तं राजसं यज्ञं विद्धि ॥ १२ ॥

रा० टी०—अभीति । फलमभिसंधाय मे सुखादिति कामयमान एव अपि दम्भार्थमेव आत्ममहत्त्व-प्रदर्शनार्थमेव यविष्यते तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ॥

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

त० टी०—तामसं यज्ञमाह—विधिहीनमिति । शास्त्रोक्तद्वयसंस्कारहीनमसृष्टान्नं पात्रेभ्यो न प्रतिपादितमन्नं यस्मिन् साङ्गमन्त्रः (त्वं साङ्गमन्त्र) हीनमदक्षिणं यथोक्तदक्षिणाहीनं श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते कथयन्ति ॥ १३ ॥

म० टी०—विधीति । यथाशास्त्रावधि विपरीतम्, अन्नदानहीनं स्वरतो वर्णतश्च मन्त्रहीनं, यथोक्तदक्षिणा-हीनम्, अस्तिद्वेपादिना श्रद्धाविरहितं तामसं यज्ञं परिचक्षते शिष्टाः । विधिहीनत्वाद्येकैकविशेषणः पञ्चविधः सर्वविशेषणसमुच्चयेन चैकविध इति पदं । द्वित्रिचतुर्विधेषणसमुच्चयेन च बहुवो भेदास्तामसपञ्चत्येव । राजसे यज्ञेऽन्तःकरणशुद्धयभावेऽपि फलोत्पादकमपूर्वमस्ति यथाशास्त्रमसृष्टान्नात् तामसे यथाशास्त्रानुष्ठानान् किमन्यपूर्वमस्तीत्यविशयः ॥ १३ ॥

शं० टी०—विधिहीनमिति । स्पष्टोऽर्थः ॥ १३ ॥

श्री० टी०—तामसं यज्ञमाह—विधिहीनमिति । विधिहीनं शास्त्रोक्तविधिरूपम्, अस्तृष्टान्नं प्राक्षणा-दिभ्यो न कृष्टं न निष्पादितमन्नं यस्मिन्तन्मन्त्रः मन्त्रहीनं, यथोक्तदक्षिणाविरहितं च श्रद्धाशून्यं यज्ञं तामसं परिचक्षते कथयन्ति शिष्टाः ॥ १३ ॥

स० टी०—विधिहीनं यथाशास्त्रावधौषितविपर्ययम् ॥ अन्नदानविहीनं च स्वरतो वर्णतस्तथा ॥ १ ॥ मन्त्रहीनं यथाशास्त्रदक्षिणाहीनमन्त्रम् ॥ आस्तिव्यवुद्धिशून्यं च तामसं कथयन्ति वै ॥ २ ॥ अयं पञ्च-विधो यज्ञस्त्याज्यः श्रेयोऽर्थिभिः सदा ॥ यथाशास्त्रमनुष्ठानाज्ञाज्ञेऽस्ति फलं भनाक् ॥ ३ ॥ तामसे त्वय्यथाशास्त्रानुष्ठानाज्ञं फलं भनाक् ॥ ४ ॥ १३ ॥

भा० टी०—एवं फलमभिसंधिपूर्वकमनुष्ठेयमानत्वात् चित्तशुद्धयजनकत्वेऽपि यथाशास्त्रमनुष्ठेयमान-त्वात् स्वर्गादिफलोत्पादकं लोके धार्मिकत्वव्यापिकरं च राजसपञ्चमुक्त्वा, दृष्टादृष्टफलशून्यमयथाशास्त्रमनु-ष्ठेयमानं सर्वथा हेयं तामसं यज्ञमाह—विधीति । विधिहीनं यथाचोदिविपरीतं शास्त्रोक्तविधितो विपर्यय-

स० टी०—क्रमप्राप्तस्य तपसस्त्रैविध्यं प्राह मापतिः ॥ देवा ब्रह्महरीशाखा द्विजाश्च ब्राह्मणा वराः ॥ १ ॥ आचार्यमुख्या गुरुवः प्राज्ञा वेदविदो युवाः ॥ तेषां प्रणामश्रुषाद्यागमोक्तं हि पूजनम् ॥ २ ॥ शरीरशोधनं शौचं मृज्जलाभ्यां तथाऽऽर्जवम् ॥ यथाशास्त्रं प्रवृत्त्यादौ वक्त्वाभाव उच्यते ॥ ३ ॥ निषिद्धमैयुनाभावो ब्रह्मचर्यमहिंसनम् ॥ प्राणिनां पीडनाभावः शरीरं तप उच्यते ॥ ४ ॥ शरीरमुख्यैः कर्त्राद्यैः साध्यं तत्पञ्चहेतुभिः ॥ न केवलं शरीरेण कृतं शरीरमुच्यते ॥ ५ ॥ यतो वक्ष्यति भगवान् पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ ६ ॥ १४ ॥

भा० टी०—एवं हानादानार्थं यज्ञत्रैविध्यं विभज्य तपसः सात्त्विकादिभावं निरूपयितुं सर्वस्य तस्य त्रिविधं स्वरूपं प्रथमाह—देवेति त्रिभिः । देवाः ब्रह्मविष्णुशिवादयः, द्विजाः पूज्यत्वात् द्विजोत्तमाः, गुरुवः पित्राचार्यादयः, प्राज्ञाः पण्डिताः विदित्वेद्याः—तेषां प्रणामश्रुषादिना पूजनं, शौचं मृज्जलाभ्यां शरीरशोधनं, आर्जवम् ऋजुत्वं विहितनिषिद्धयोरेकरूपप्रवृत्तिनिवृत्तित्वं, ब्रह्मचर्यं प्रतिषिद्धमैयुनासमाचरणं, अहिंसा प्राणिनामपीडनम् । चकारोऽस्तेयादिसमुच्चयार्थः । शरीरनिर्कर्त्य शरीरं शरीरप्रधानैः सर्वैरेव कर्त्रादिभिः साध्यं शरीरं तप उच्यते । अभिप्रायं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् । त्रिविधाश्च पृथक्केषा देवं चैवान् पञ्चमम् ॥ शरीरवाङ्मयनोभिर्भ्यस्तर्कप्रारम्भे नरः । न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ इति वक्ष्यमाणत्वात् १४

ए० टी०—अथ कायवाङ्मनोविभागेन तपस्त्रैविध्यमाह—देवद्विजेति । प्राज्ञा गुरुव्यतिरिक्ता अन्येऽपि तत्त्वविदः । देवब्राह्मणादिपूजनशौचादिकं च शरीरं शरीरनिर्कर्त्य तप उच्यते ॥ १४ ॥

श० टी०—प्राक्प्रतिज्ञातं तपोभेदेन सात्त्विकादिभेदं दर्शयितुं शरीरादिभेदेन तत्रैविध्यं तावदाह—देवेति । देवादिपूजनं यथायोग्यं ध्येयम् । शौचं वाह्याभ्यन्तररूपम् । ब्रह्मचर्यमृध्वरेतत्त्वम् । शरीरं शरीरसंबन्धि ॥ १४ ॥

विशिष्टं स्वाध्यायस्याभ्यसनमावृत्तिरपि तप एवेत्यर्थः । वाङ्मयं तदपि वाचा निर्वर्त्यमानत्वाद्वाङ्मयं तप उच्यते । चकारात् स्तोत्रपाठादिरपि वाङ्मयं तप एव भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

श्री० टी०—वाचिकं तप आह—अनुद्गेति । उद्देयं भयं न करोतीत्यनुद्देयकरं वाक्यं सत्यं च श्रोतुः प्रियं च हितं च परिणामे सुखकरं, स्वाध्यायाभ्यसनं वेदाभ्यासश्च वाङ्मयं वाचा निर्वर्त्य तपः ॥ १५ ॥

स० टी०—न कस्यचिदुःखकरं मानमूलमवाधितम् ॥ श्रोतुस्तत्कालमुखदं परिणामे सुखावहम् ॥ १ ॥ अनुद्देगकरत्वादिविशेषणचतुष्टयम् ॥ समुचितैव यद्वाक्यं नैकेनापि विवर्जितम् ॥ २ ॥ यथा भो वत्स ज्ञानतत्त्वं भव स्वाध्यायमाचर ॥ योगं तथाऽनुतिष्ठ त्वं निःश्रयस्ते भविष्यति ॥ ३ ॥ यथाविद्यानामाभ्यासो वाङ्मयं तप उच्यते ॥ ४ ॥ १५ ॥

भा० टी०—शारीरं तप उक्त्वा वाक्प्रधानैः कर्त्रादिभिः साध्यं तवाह—अन्विति । अनुद्देगकरमिति कस्याप्यनुद्देगकरं दुःखजनकं न भवतीति तत्, सत्यं यथादृष्टार्थप्रतिपादकं, प्रियं दृष्टार्थं उच्चारणकाले श्रोतुः श्रुतिमुखं, हितमदृष्टार्थं परिणामपथ्यम् । विशेषणधर्माणामनुद्देगकरत्वादीनां विशेष्येण वाक्येन समुच्चितानां परस्परसमुच्चयद्योतनार्थश्चकारः । सत्यप्रियहितानुद्देगकरत्वानामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा हीनवारहितं सत्यत्वादिविशेषणचतुष्टयेन विशिष्टं वाक्यं, यथा—ज्ञानो भव वत्स, स्वाध्यायं योगं चानुतिष्ठ, तथा ते श्रेयो भविष्यतीति स्वाध्यायाभ्यसनं चैव प्राङ्मुखत्वं पवित्रपाणित्वमित्यादिविधानमनतिक्रम्य स्वाध्यायस्यावर्तनं च वाङ्मयं वाक् प्राचुर्येण प्रस्तुताऽस्मिन्निति वाङ्मयं वाक्प्रधानमित्यर्थः ॥ १५ ॥

प० टी०—अथ वाङ्मयं तप आह—अनुद्देगकरमिति । परस्योद्देगजनकं न भवति तथाविधं वाक्यं, सत्यं यथार्थमापणम् । तदपि दुःखपर्यवसायि न भवतीत्याह—प्रियमिति । प्रियं च वदितं च—प्रियं सुभाष्यं, परिणामे हितं च । तथा च मनुः—‘सत्यं ब्रूयादियं ब्रूयाज्ज ब्रूयात्सत्यमप्रियम्’ इति । स्वाध्यायाभ्यसनं स्वशास्त्राध्ययनाभ्यासः । एवद्वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

रा० टी०—अन्विति । अनुद्देगकरं परस्यावहो यथा न भवति तादृश्यं वाक्यम्, सत्यं यथार्थवाक्यमिति सर्वशान्तेति । प्रियं श्रवणसमये पुनः पुनः श्रवणेच्छाकरम् । हितं कालान्तरे सुखकरं च । स्वाध्यायाभ्यसनं च वचदिति शेषः । वाङ्मयं वागात्मकं तपः ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ॥

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

त० टी०—मानसं तप आह—मनःप्रसाद इति । मनःप्रसादः कामक्रोधादित्यागेन मनसः स्वच्छता, सौम्यत्वं मुखादिप्रसादहेतुरन्तस्तुष्टिः, मौनं वृथाऽऽज्ञापवर्जनम्, आत्मविनिग्रहः मनसोऽऽत्मवृत्तेरवष्टम्भनं, भावसंशुद्धिः भावस्य हृदयस्य संशुद्धिर्विषययोगवासनारूपमालिन्ध्याभावः, इत्येतन्मानसं तप उच्यते ॥ १६ ॥

म० टी०—मन इति । मनसः प्रसादः स्वच्छता विषयचिन्ताव्याकुलत्वराहित्यं, सौम्यत्वं सौमत्वं सर्वलोकाहितैषित्वं प्रतिपिद्धाचिन्तनं च, मौनं मुनिमात्र एकाग्रतयाऽऽत्मचिन्तनं निदिध्यासनाख्यम् । वाक्संयमहेतुर्न संयमो मौनमिति भाष्यम् । आत्मविनिग्रहः आत्मनो मनसो विशेषेण सर्ववृत्तिनिग्रहो निःसम्भयत्वेन विशिष्टा सा भावशुद्धिः । परेः सह व्यवहारकाले मायाराहित्यं सेवि भाष्यम् । इत्येतदेवंप्रकारं तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

शं० टी०-मन इति । मनःप्रसादः मनसो विषयेभ्यो विश्लिष्याविकारात्मनैकत्रावस्थानं प्रसादः । सौम्यत्वं उपकारिण्यपकारिण्यपीष्टेऽन्यनिष्टे च पक्षपातरहितत्वेन मनसोऽवस्थानं सौम्यत्वमकूरता वा ॥ मौनं मुनेर्भावो मौनं समुपस्य वा निर्गुणस्य वाप्यनुसंधानपरत्वं मौनं, ध्यानपरायण एव मुनिस्तद्भाव एव मौनं न तु वाङ्मात्रनिरोधः । अन्यथा पश्चादीनामपि तद्वत्चापत्तेः । आत्मविनिग्रह आत्मनो मनसो विनिग्रहो विषयेषु प्रवृत्तिनिरोधनं, भावसंशुद्धिः भान्यतेऽर्थोऽनेनेति भावोऽन्तःकरणं तस्य रागद्वेषादिदोषसंश्लेषाभावापादनं भावसंशुद्धिरित्येतत् सर्वं मन एकस्याव्यत्वान्मानसं तप उच्यते महर्षिर्भिरित्यर्थः ॥ १६ ॥

श्री० टी०-मानसं तप आह-मनःप्रसाद इति । मनसः प्रसादः स्वस्थता, सौम्यत्वमकूरता, मौनं मुनेर्भावः मननमित्यर्थः । आत्मनो मनसो विनिग्रहः विषयेभ्यः प्रत्याहारः, भावसंशुद्धिर्ष्ववहारे नायाराहित्यम्-इत्येतन्मानसं तपः ॥ १६ ॥

स० टी०-मनःस्वच्छत्वमक्षोभ्यं सर्वलोकाद्वैपिवा ॥ निदिध्यासनमैकाग्र्यं समाधौ चित्तनिग्रहः ॥ १ ॥ कामादिमलसंश्लान्त्या मायाराहित्यमाशिक्षोः ॥ भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १॥ १६ ॥

भा० टी०-एवं वाक्प्रधानं तप उक्त्वा मनःप्रधानं तदाह-मन इति । मनःप्रसादो मनसः शान्तिः, स्वच्छतापादनं चिन्ताव्याकुलत्वादिहीनतासंपादनमिति यावत् । सौम्यत्वं सुखादिप्रसादकार्यगम्यं सौमनस्यं, मौनं वाक्संयमस्य मनसः संयमपूर्वकत्वात् बाह्यविषयो मनसः संयमो मौनं, सर्वतः सामान्यरूपो मनोनिरोध आत्मविनिग्रह इति विशेषः । ननु मुनेर्भावो मौनमेकाग्रतया आत्मचिन्तनं निदिध्यासनाख्यमिति मौनशब्दार्थः आचार्यैः कुतो न दर्शित इति चेत्तदुक्तमुनिभावस्य रीजसत्वाभावेन राजसतामसतपोभ्यामस्वाग्रहपापत्तेरिति शृङ्गणं । भावसंशुद्धिः परैर्ष्ववहारकालेऽमायावित्तम् । यत्तु भावस्य हव्यस्य शुद्धिः कामक्रोषलोभादिमलनिवृत्तिः, पुनरशुद्धकृत्यादराहित्येन सम्यक्त्वेन विनिष्टा सा भावसंशुद्धिरिति तन्नोपादेयमाचार्यैरनुक्तत्वात् । राजसे तामसे च तपस्येतादृशभावसंशुद्धेरसंभवाच्च । इत्येतत्तपो मानसं मनसा प्रधानेन निर्वर्त्यमुच्यते ॥ १६ ॥

प० टी०-अथ मानसं तप आह-मन इति । मनःप्रसादो मनसः स्वास्थ्यम्, सौम्यत्वमकूरता, मौनं मुनेर्भावो मननमित्यर्थः । आत्मविनिग्रहो विषयेभ्यः प्रत्याहारः, भावसंशुद्धिर्ष्ववहारे नायाराहित्यमेतन्मानसं तपः । श्रुतिरपि “ तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति प्रक्षयार्थेन तपसा अद्वया यज्ञेनानाशकेन ” इति । भाष्यम्-तमेतमात्मानं वेदानुवचनेनोपनिषद्भिर्भागेन विविदिषन्ति वेदिषु ज्ञातुमिच्छन्ति । तथा प्रक्षयार्थेन शरीरेण तपसा अद्वयाऽस्तिव्यमुद्धया, यज्ञेन सात्त्विकेन अत एवानाशकेन तन्त्रफलाभिसंधिरहितेन ॥ १६ ॥

रा० टी०-मन इति । मनःप्रसादः विषयेष्वप्राप्तेन प्रवृत्तिः, सौम्यत्वमकूर्यम्, मौनं मननशीलत्वम्, आत्मविनिग्रहः आत्मानि परमात्मानि मनसो विश्लिष्यावस्थानम्, भावे आशये संशुद्धिः नानाकामरादित्यम् । इत्येतन्मानसं तपः उच्यते ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तपं तपस्तत्रिविधं नरैः ॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

त० टी०-तदेवं शरीरादिभेदेनोक्तस्य त्रिविधस्यापि तपसः सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमाह-अक्षपेति । परया प्रकृष्टया श्रद्धया आस्खिक्खुद्धया तत्प्रकृतं त्रिविधं शरीरवाङ्मानोभिरित्युक्तम्, अफलाकाङ्क्षिभिः फलाकाङ्क्षरहितैः, युक्तैः समाहितैर्नरैर्यत्तपस्तप्तमनुष्ठितं तत्सात्त्विकं परिचक्षते कथयन्ति ॥ १७ ॥

प० टी०—शरीरवाचिकमानसभेदेन त्रिविधस्योक्तस्य तपसः सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमिदानीं दर्शयति—अद्वयेति त्रिभिः । तत्पूर्वोक्तं त्रिविधं शरीरं वाचिकं मानसं च तपः अद्वया आस्तिक्यबुद्ध्या परया प्रकृष्टया अप्रामाण्यशुद्धाकलङ्कशून्यया फलाभिसंधिशून्यैर्युक्तैः समाहितैः सिद्धयसिद्धयोगीर्षिकारैर्नरैरधिकारिभिस्तप्तमनुष्ठितं सात्त्विकं परिचक्षते शिष्टाः ॥ १७ ॥

श्ल० टी०—उक्तस्यैव तपसस्त्रिविधस्य सत्त्वादिगुणभेदेन त्रैविध्यमाह—अद्वयेति । युक्तैरेकामपचितैः परमेश्वरभक्तियुक्तैरत एवाफलाकाङ्क्षिभिर्नरैः परया अद्वया तप्तं तन्निप्रकारकं तपः सात्त्विकं सरवगुणसंभावितविश्रद्धया निष्पादितत्वात्सात्त्विकमिति परिचक्षते कथयन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

श्री० टी०—तदेवं शरीरवाङ्मनोभिर्निर्बलं त्रिविधं तपो दर्शितं, तस्य त्रिविधस्यापि तपसः सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमाह—अद्वयेति त्रिभिः । त्रिविधमपि तपः परया श्रेष्ठया अद्वया फलाकाङ्क्षाशून्यैर्युक्तैरेकामपचितैर्नरैस्तप्तं तत्सात्त्विकं कथयन्ति ॥ १७ ॥

स० टी०—शरीरादिकभेदेन प्रोक्तस्य त्रिविधस्य च ॥ तपसः प्रोक्तस्य भूयस्त्रैविध्यं सात्त्विकादिना ॥ १ ॥ सात्त्विके पुरुषे श्रेष्ठा पूर्वाक्तं तप उच्यते ॥ राजसे वामसे यस्मात्तत्रैविध्यं न संभवेत् ॥ २ ॥ अतः सात्त्विकपुरुषोक्तं तपस्तत्रिविधं बचः ॥ राजसे वामसे प्रोक्तं तद्विरुद्धं सदा यतः ॥ ३ ॥ तत्पूर्वोक्तं तपः सम्यक् अद्वयाऽस्ति कथं रूपया ॥ बुद्ध्या प्रकृष्टयाऽऽशुद्धाशून्यया शास्त्रगोचरे ॥ ॥ फलाभिसंधिरहितैः शुद्धचित्तैः समाहितैः ॥ अनुष्ठितं मुनिश्रेष्ठाः सात्त्विकं कथयन्ति तत् ॥ ५ ॥ १७ ॥

भा० टी०—यथोक्तं कायिकादिभेदेन त्रिविधं तपस्तत् सात्त्विकादिभेदेन कथं त्रिविधं भवतीत्याकाङ्क्षायां तत्रैविध्यं प्रदर्शयन्नादौ सात्त्विकं तदाह—अद्वयेति । तत्पूर्वोक्तं कायिकवाचिकमानसभेदेन त्रिविधं अद्वया आस्तिक्यबुद्ध्या परयोक्तृष्टया भक्तियुक्तया अफलाकाङ्क्षिभिः फलकाङ्क्षावर्जितैर्युक्तैः समाहितैः सिद्धयसिद्धयोगीर्षिकारैर्नरैरनुष्ठुताभिः तप्तमनुष्ठितं सात्त्विकं परिचक्षते शिष्टाः कथयन्ति ॥ १७ ॥

प० टी०—अथ सात्त्विकादिभेदेन पुनस्तत्रैविध्यमाह—अद्वयेति । तत्रिविधं शरीरवाङ्मनोविभागेन कथितं तपोऽफलाकाङ्क्षिभिस्तथा युक्तैरेकग्रान्तकरणैर्नरैस्तप्तमनुष्ठितं तत्सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

रा० टी०—इदानीं सात्त्विकादितपोभेदेन सात्त्विकादिजीवभेदं प्रतिज्ञापूर्वमाह—अद्वयेत्यादिभिस्त्रिभिः । नरैस्तप्तं कृतं तपः यत् तन्निविधमित्यर्थः । तत्कथमित्यत आह—अफलेति । युक्तैर्भगवदप्यर्णादियोगयुक्तैः तप्तं तप इत्यनुषङ्ग्यते ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ॥

क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

त० टी०—राजसं तप आह—सत्कारेति । सत्कारः साधुकारः—साधुरयं तपस्वी श्रेष्ठ इत्यादि वाङ्मयं, मानः प्रत्युत्पानाभिरादनादिपूजाद्रूपोपापनादीत्येतदर्थं सत्कारमानपूजार्थं दम्भेन च हेतुना यत्तपः क्रियते तदिह राजसमत् एव चलमप्यापि तथाऽप्यध्रुवं किंचित्सन्नदस्यापि, न यावज्जीवमित्यर्थः ॥ १८ ॥

प० टी०—सत्कारैरेति । सत्कारः साधुरयं तपस्वी ब्राह्मण इत्येवमभिवेदिकभिः क्रियमाणा स्तुतिः, मानः प्रत्युत्पानाभिरादनादि, पूजा पादप्रक्षालनार्चनभनदनादि, तदर्थं, दम्भेनैव च केवलं धर्मध्वजित्तेनेव च न, त्यास्तिक्यबुद्ध्या यत्तपः क्रियते सत्कारसं प्रोक्तं शिष्टैः, इह जल्पितेन लोके फलदं न पारलौकिकं चलमत्यल्पफलस्यैव फलम्, अध्रुवं चलजनकतानियमशून्यम् ॥ १८ ॥

शं० टी०—सत्कारेति । सत्कारमानपूजार्थं सत्कारार्थं मानार्थं पूजार्थं च सत्कारः साधुरयं विद्वान् ब्राह्मण इति स्तुत्यर्थं, मानो बहुमानस्त्वभ्युत्थानादिरत्नयोजनार्थं, पूजा गन्धपुष्पदक्षिणाभिः स्वपूजा तदर्थं च दम्भेन वेपथ्यादिप्रकाशनेन दाम्भिकैर्यत्तपः क्रियते तत्तप इहास्मिन् लोके एव फलप्रदं भवति, तच्चाधुवं देहमात्रोपयोगित्वादधुवम् तत्रापि चलं तत्कालिकफलं क्षणिकमेवंलक्षणं यत्तपस्त्वज्ञानसमीति महर्षिभिः प्रोक्तमित्यर्थः ॥ १८ ॥

श्री० टी०—राजसं तप आह—सत्कार इति । सत्कारः साधुकारः साधुरयमिति तापस इत्यादिवाक्यपूजा, मानः प्रत्युत्थानाभिवादानादिर्दिहिकी पूजा, पूजाऽर्चलभाविः—एतदर्थं दम्भेन च यत्तपः क्रियते अत एव चलन्ननियतमधुवं च क्षणिकं यदेवंभूतं तपस्तादिह राजसं प्रोक्तम् ॥ १८ ॥

स० टी०—तपस्वी ब्राह्मणः साधुरयमित्यविवेकिभिः ॥ क्रियमाणा स्तुतिः प्रोक्तः स सत्कारस्तदास्ये ॥ १ ॥ प्रत्युत्थानप्रणामादिमानः पूजार्चनादिकम् ॥ तदर्थं धार्मिकत्वादित्युपापनेनैव यत्तपः ॥ २ ॥ क्रियते राजसं प्रोक्तं तदत्रैव फलप्रदम् ॥ अत्यल्पकालस्यायित्वाच्चलं तद्वपुर्भिवारि च ॥ ३ ॥ १८ ॥

भा० टी०—सात्त्विकं तप उदाहृत्य राजसं तदुदाहरति—सत्कार इति । सत्कारः साधुरयं तपस्वीत्येवंस्तुतिरूपः साधुकारः, मानो माननं प्रत्युत्थानाभिवादानादि, पूजा पादप्रक्षालनार्चनाश्रयनाद्यर्पणादि, तदर्थं दम्भेन चैव नास्तित्येन केवलधर्मव्यभिचारेण यत्तपः क्रियते तदिहास्मिन्नेव लोके सत्कारादिकलप्रदं राजसं प्रोक्तं कथितम् । चलं क्षणिकफलमधुवम् अनियतफलं यद्वा चलं कादाचित्कफलं दाम्भिकोऽयमित्यपरिज्ञानकाले कस्मिंश्चित्सत्कारादिकलप्रदं न तु सर्वदेति यावत् । अत एवाधुवं सत्कारादिसिपिपर्यन्तं त्वायि न तु सर्वदेत्यर्थः ॥ १८ ॥

प० टी०—सत्कार इति । सत्कारः साधुरयं तापस इति, मानः प्रत्युत्थानाभिबन्धनादिरत्नयोजनार्थं दम्भेन प्रसिद्धेन यत्कृतम् । चलन्ननियतफलम्, अधुवं क्षणिकं तद्वपुर्भिवारि तपः ॥ १८ ॥

रा० टी०—सत्कार इति । सत्कारो मनसा आदरः, मानो वाचा प्रशंसा, पूजा अर्चनम्, एतदर्थं दम्भेन च आत्मनो महत्त्वप्रदर्शनार्थं वा यत्तपः क्रियते तत्तप इहलोके राजसं प्रोक्तम् । चलं पातभयेन चलनहेतुः । अधुवं क्षणिकम् ॥ १८ ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ॥

परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

त० टी०—तामसमाह—मूढग्राहेणेति । मूढा अविवेकिनस्तेषां ग्राहेण दृष्टाऽभिनिवेशेन आत्मनः स्वस्य पीडया यत्तपः क्रियते, परस्योत्सादनार्थमुत्तेजनार्थं वा क्रियते, तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

म० टी०—मूढेति । मूढग्राहेण अविवेकोविज्ञानकृतेन दुराग्रहेण आत्मनो देहन्द्रियसंघातस्य पीडया यत्तपः क्रियते परस्योत्सादनार्थं वा अन्यस्य विनाशार्थमभिचाररूपं वा तत्तामसमुदाहृतं सिद्धे ॥ १९ ॥

शं० टी०—मूढग्राहेणेति । मूढग्राहेण अर्थात्तत्त्वज्ञानमिश्रो, मूढत्वस्य ग्राहस्वरूपेण सुखिनामित्यभिनिवेशो मूढग्राहेणात्मनस्तत्त्वमूढपुरुषा स्वस्य पीडया कायछेदेन यदुक्तं त्रिविधं तपः क्रियते कायछेदमात्रैकप्रयोजनम् । अथवा परस्योत्सादनार्थमाभिचारिकक्रियया शत्रुविनाशार्थं वा यत्कृत्येति तत्तपस्वतमसं तमः सभावितश्रद्धाभिप्रायविरहाचामसमिति मुनिभिरुदाहृतमित्यर्थः ॥ १९ ॥

श्री० टी०—तामसं तप आह—मूढेति । मूढग्राहेणापिवेककृतेन दुराग्रहेणात्मनः पीडया यत्तपः क्रियते परस्योत्सादनार्थं वा अन्यस्य विनाशार्थमभिचाररूपं तत्तामसमुदाहृतं कथितम् ॥ १९ ॥

स० टी०—सौदद्यादुराग्रहेणैव देहाद्यत्यन्तपीडया ॥ यत्तपः क्रियतेऽन्यस्य विनाशायाभिचारिकम् ॥ १॥ यत्तपस्तामसं शिष्टैः प्रोक्तं हेयं मुमुक्षुभिः ॥ २॥ १९ ॥

भा० टी०—एवं राजसं तप उक्त्वा तामसं तदाह—मूढेति । मूढप्राहेण अविवेकनिश्चयेन यद्येते तपश्चरन्ति तर्हिहमप्येतत्तपसोऽधिकं करिष्यामीत्येवमादिरूपेणात्मनः पीडया परस्योऽसादनार्थं वा एतादृशोऽयं कायिकवाचिकमानसतपोयुक्तोऽतोऽस्याज्ञापलनेनात्मदीयं कार्यं सर्वं सेत्स्यतीति बुद्धिं राजादीनामुत्पाद्य परस्व शत्रोर्नाशार्थं वा यत्तपः क्रियते तत्तामसमुदाहृतं शिष्टैः ॥ १९ ॥

प० टी०—मूढप्राहेणेति । मूढत्वे सति ग्राह आग्रहत्वेन, आत्मनः शरीरस्योपवासादिपीडया, परस्योत्सादनं जारणमरणोच्चाटनाद्याभिचारिकम्, तत्तामसम् ॥ १९ ॥

रा० टी०—मूढेति । मूढप्राहेणाविवेकदुराग्रहेण आत्मनः पीडया परस्य शत्रोरुत्सादनार्थं वा यत्तपः क्रियते तत्तामसम् ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ॥

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

त० टी०—इदानीं प्रतिज्ञतेषु यज्ञादिष्वभिष्टस्य दानस्य गुणतैर्विविधमाह त्रिभिः—दातव्यमिति । दातव्यमित्येवं निश्चयेन न तु फलोद्देशेन यद्दानं दीयते, अनुपकारिणे प्रत्युपकाराकार्त्तं अयं मम प्रत्युपकारं करिष्यतीत्युद्देशाद्विपयायेत्यर्थः । देशे मायुरपुष्करकुक्षेत्रमज्गादिक्षेत्रे, काले कार्तिकसहोमाषमासादौ, पात्रे च क्षमदक्षतितिसादियुक्ताय श्रोत्रियाय तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

म० टी०—इदानीं क्रमप्राप्तस्य दानस्य त्रैविध्यं दर्शयति त्रिभिः—दातव्यमिति । दातव्यमेव शास्त्रचोदनाप्रशादित्वेन निश्चयेन न तु फलाभिसंस्थिना यद्दानं तुलापुरुषादि दीयते अनुपकारिणे प्रत्युपकाराजनकाय, देशे पुण्ये कुक्षेत्रादौ, काले च पुण्ये सूर्योपरामादौ, पात्रे चेति चतुर्थर्थे सप्तमी पात्रादेत्यर्थः । कीदृशादानुपकारिणे दीयते पात्राय च विद्यातपोयुक्ताय । (पार्तीति पात्रा रक्षकस्तस्ये) पात्रे रक्षकायेति वा । विद्यातपोभ्यामात्मनो दातुश्च पालनश्च एव प्रतिगृहीयादिति शास्त्रात् । तदेवंभूतं दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

शं० टी०—दानस्य त्रैविध्यमाह—दातव्यमिति त्रिभिः । स्पष्टोऽर्थः ॥ २० ॥

श्री० टी०—पूर्वं प्रतिज्ञातमेव दानस्य त्रैविध्यमाह—दातव्यमिति । दातव्यमित्येवंनिश्चयेन यद्दानं दीयते अनुपकारिणे प्रत्युपकारात्ममार्थाय देशे कुक्षेत्रादौ काले ग्रहणादौ । पात्रे चेति देशकालादिसाहचर्यात्सप्तमी प्रयुक्तम् । पात्रभूता तपःश्रुत्वादिस्वपात्राय द्राक्षणीयेत्यर्थः । यद्वा पात्र इति चतुर्थ्येवैवा पात्रे (इति तृजन्तं) रक्षकायेत्यर्थः । ६ इति सर्वमावापद्रूणादातारं पालीति । यदेवंभूतं दानं वरसात्त्विकम् ॥ २० ॥

स० टी०—क्रमप्राप्तस्य दानस्य त्रैविध्यं दर्शयत्यजः ॥ दातव्यमेव शास्त्रोक्तमित्येवं निश्चयेन वै ॥ १॥ न तु पत्रमिलोपेण यत्तुलापुरुषादिकम् ॥ प्रत्युपकारशून्याय कुक्षेत्रादिपात्रेन ॥ १ ॥ देशे सूर्योपरामादौ काले पुण्येऽह्नि पर्वणि ॥ विद्यातपोभ्या युक्तस्य पात्राय च यथाविधि ॥ ३ ॥ दीयते अद्वया यक्त्या विष्णुशीत्यर्थमेव यत् ॥ तदेवं सात्त्विकं दानं प्रोक्तं सम्यक्फलप्रदम् ॥ ४ ॥ २० ॥

भा० टी०—एवं तपश्चैविध्यं विविधम् क्रमप्राप्तं दानत्रैविध्यं विमञ्जनादौ सात्त्विकं दानमुदाहरति—दातव्यमिति । दातव्यमित्येवं मनः कृत्वा यद्दानं दीयतस्तु दीयतेऽनुपकारिणे प्रत्युपकारात्ममार्थायापि निरपेक्षं दीयते पुण्य देशे कुक्षेत्रादौ काले संक्रान्त्यादौ पात्रे च यद्दानं समर्पणं पद्धतिद्वेद्वारागे द्रव्यादौ तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् । यथाच प्रथमदानशब्दः कर्मयुक्त्वा देयवस्तुपरः । चक्षुरातुकृष्टस्तु आवर्त्युत्पत्त्या समर्पण-

परः । तेन यो देयद्रव्यवाची द्वितीयान्तस्तत्संयोगात्संप्रदाने चतुर्थ्यपेक्षा । द्वितीयस्तु त्यागवाची प्रथमान्तः । तेन तत्र पात्रनूते पुंसि न चतुर्थ्यपेक्षा । 'कर्मणा यममिप्रैति स संप्रदानम्' इति पारिभाषिक्याः संज्ञायाः अत्र कर्मविमर्त्यभावेनाप्रवृत्तेः । एतेन 'पात्रे चेति चतुर्थ्यर्थे सप्तमी । कीदृशयानुपकारिणे दीयते पात्राय च विद्यातपोयुक्ताय । पात्रे रक्षकायेति वा । विद्यातपोभ्यामात्मनो दातुश्च पालनक्षम एव प्रतिगृहीयादिति शास्त्रात्' इति कल्पनं व्यर्थमेवेति बोध्यम् ॥ २० ॥

प० टी०—अथ त्रिविधं दानमाह—दातव्यमिति त्रिभिः । अवश्यं दातव्यमेवेति नियमेन यदीयते-ऽनुपकारिणे प्रत्युपकारासमर्थाय, काले ग्रहणादौ, देशे कुरुक्षेत्रादौ, पात्रे पटङ्गवेदपारमे । अत्र सप्तम्या चतुर्थी द्वेया । तपःश्रुतादिसंपन्नाय ब्राह्मणायेत्यर्थः । यदेवंभूतं दानं तत्सात्त्विकम् ॥ २० ॥

रा० टी०—प्राक्प्रतिज्ञावदानमेवेन सात्त्विकादिभेदमाह—दातव्यमित्यादित्रिभिः । दातव्यमित्यारित-क्यबुद्ध्या दानं कर्माणि स्युः । दातव्यं वस्तु पुण्यदेशे पुण्यकालेऽनुपकारिणे उपकारमनपेक्ष्य सत्पात्रे च पात्राय दीयते इति यत् सदानं सात्त्विकम् ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ॥

दीयते च परिक्रिष्टं तद्वाजसमुदाहृतम् ॥ २१ ॥

त० टी०—राजसदानमाह—यत्त्विति । तुल्यन्दः पूर्वोक्ताभिष्कृतत्वद्योतनार्थः । प्रत्युपकारार्थं ममायमुपकारिष्यतीत्येवमर्थः, फलमैहिकसुखिकं वा पुनरुद्दिश्य यदीयति परिक्रिष्टं च एतावद्भूयं मया कथं देयमिति चित्ते परिक्रिष्टयुक्तं यथा भवति तथा तद्दानं राजसमुदाहृतम् ॥ २१ ॥

म० टी०—यत्त्विति । प्रत्युपकारार्थं कालान्तरे मामयमुपकारिष्यतीत्येवं दृष्टार्थं फलं वा स्वर्गादिकमु-द्दिश्य यत्पुनर्दानं सात्त्विकविषयकं दीयते, परिक्रिष्टं च कथमेतावद्व्ययितमिति पश्चात्तापयुक्तं यथा भव-त्येवं च यदीयते तद्दानं राजसं स्त्वम् ॥ २१ ॥

शं० टी०—यदिति । परिक्रिष्टं लोभादिशयेनान्तःकरणक्षेत्रसंयुक्तं यच्चदानं राजसम् ॥ २१ ॥

श्री० टी०—राजसं दानमाह—यत्त्विति । कालान्तरेऽयं मां प्रत्युपकारं करिष्यतीत्येवमर्थम्, फलं वा स्वर्गादिकमुद्दिश्य यत्पुनर्दानं दीयते, परिक्रिष्टं चित्तच्छेदयुक्तं यथा भवत्येवंभूतं तद्दानं राजसमुदाहृतं कथितम् ॥ २१ ॥

स० टी०—कालान्तरे हि विप्रोऽयं मामित्युपकरिष्यति ॥ इत्येवं दीयते यद्वा स्वर्गाद्युद्दिश्य यत्पुनः ॥ १ ॥ पश्चात्तापयुक्तं दानं तन्निष्ठे राजसं स्त्वम् ॥ २ ॥ २१ ॥

भा० टी०—सात्त्विकं दानमुक्त्वा राजसं तदाह—यत्त्विति । यत्तु प्रत्युपकारार्थं कालान्तरे त्वं मां प्रत्यु-पकरिष्यतीत्येवं दृष्टार्थं फलमुद्दिश्य दानस्यादृष्टस्वर्गादिफलं मे अविष्यतीति तद्गोद्दिश्य पुनर्दीयते च परिक्रिष्टं क्षेत्रसंयुक्तं कथमेतावद्व्ययितमिति पश्चात्तापयुक्तं यथा स्वादित्येवं च तद्वाजसमुदाहृतम् ॥ २१ ॥

प० टी०—राजसमाह—यत्त्विति । कालान्तरेणायमपि मां प्रत्युपकरिष्यतीति स्वर्गादित्युद्दिश्य वा । परिक्रिष्टं क्षेत्रयुक्तं वा यदीयते तद्वाजसं दानम् ॥ २१ ॥

रा० टी०—यत्त्विति । परिक्रिष्टम्—अन्वापार्जितं द्रव्यम् ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ॥

असत्कृतमवज्ञातं तच्चासमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

त० टी०—तामसदानमाह—अदेश इति । अजादेनकाले इत्यनेन पुण्यत्वविशिष्टदेशकालयोः

पर्युदासोऽभिमतः, न केवलयोगः, असंप्रवात् । तथा चादेशे स्लेच्छामेध्यादिसंस्पृष्टादे इत्यर्थः । अकाले संक्रान्तिद्वादशीदर्शव्यतीपात्तादिपुण्यकालरहिते, अपात्रेभ्यश्च नटनर्तकमूर्खकथकादिभ्यः कथंचिदेश-कालादौ प्राप्तेऽपि असंस्कृतं पादप्रक्षालनादिसत्काररहितम्, अवज्ञातं तिरस्कारवचनपूर्वकं यद्दानं दीयते तत्तामसमुदाहृतमुक्तम् ॥ २२ ॥

म० टी०—अदेशेति । अदेशे स्वतो वा दुर्जनसंसर्गाद्वा । पापहेतावशुचिस्थाने, अकाले पुण्यहेतुत्वेनापसिद्धे यस्मिन् कस्मिंश्चित्, अशौचकाले वा, अपात्रेभ्यश्च विद्यातपोरहितेभ्यो नटादिभ्यः यद्दानं दीयते देशकाल-पात्रसंपत्तावपि असंस्कृतं प्रियमापणपादप्रक्षालनपूजादिसत्कारशून्यमवज्ञातं पात्रपरिभवयुक्तं च तद्दानं तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

ज्ञा० टी०—अदेशेति । असंस्कृतमर्घ्यपाद्यादिभिरनर्चितमवज्ञातमवमानप्रयुक्तं दानं यच्चतामसमिति मुनिभिर्बुद्धव्यम् ॥ २२ ॥

श्री० टी०—तामसं दानमाह—अदेशेति । अदेशे अशुचिस्थाने, अकाले अशौचसमये अपात्रेभ्यो विट-नटनर्तकादिभ्यो यद्दानं दीयते देशकालपात्रसंपत्तावपि असंस्कृतं पादप्रक्षालनादिसत्कारशून्यम्, अवज्ञातं तिरस्कारयुक्तम् । पूर्वभूतं दानं तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

स० टी०—स्वतो वा दुष्टसंसर्गादशुचिस्थान एव हि ॥ अशौचकालेऽपात्रेभ्यो नटादिभ्यः प्रदीयते ॥ १ ॥ देशकालादिसंपत्तावपि सत्कारवर्जितम् ॥ पात्रेष्ववज्ञया युक्तं यद्दानं तामसं स्थूलम् ॥ २॥ २२ ॥

भा० टी०—राजसं दानमुक्त्वा तामसं तदुदाहरति—अदेशेति । अदेशकालेऽपुण्यदेशे स्लेच्छागुह्या-दिसंकीर्णे, अकाले अपुण्यहेतुत्वेन प्रयतिःशौचकाले संक्रान्त्यादिविशेषरहिते वा, अपात्रेभ्यश्च मूर्खनट-तत्कारादिभ्यो देशादिसंपत्तावपि प्रियवचनपादप्रक्षालनपूजादिसत्काररहितमवज्ञातं पात्रपरिभवयुक्तं च यद्दानं दीयते तद्दानं तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

प० टी०—तामसमाह—अदेशकालेति । अदेशेऽशुचिस्थले, अकाले सूचकादावपात्रेभ्यो विटनटादिभ्यो यदीयते । असंस्कृतं सत्काररहितम् । अवज्ञातं पादप्रक्षालनादिरहितम् । तत्तामसम् ॥ २२ ॥

रा० टी०—अदेशेति । अदेशकाल इति द्वन्द्वैकवचनः । अशुचिदेशकालयोः असंस्कृतं तत्सत्कारादिस-त्काररहितम्, अवज्ञातं अवज्ञाकरणयुक्तं यथा तथा अपात्रेभ्यः यदीयते तत्तामसमित्यर्थः ॥ २२ ॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ॥

ब्रह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

त० टी०—तदेवमाहारयज्ञादीनि मुमुक्षुभिः सात्त्विकान्युपादेयानि राजसतामसानि हेतुनीत्येतदर्थं तेषां त्रिविध्यमुक्तम् । तत्र सात्त्विकाहारेण शुद्धसत्त्वानां सात्त्विक्यत्वादिष्वभिधानामनुष्ठातृणामनुष्ठेयेषु सात्त्विकेभ्यः यज्ञतपोदानेषु देशकालद्रव्यमन्त्रक्रियादिकंचिदङ्गैर्गुणैश्च प्रत्यवायापत्त्याज्जटानुत्पत्तौ तदङ्गफलं स्यादिति तदङ्गुण्यपरिहास्यं परमात्मरूपको भगवाननङ्गप्राणत्वेन तत्सादृश्यकारणं परब्रह्म-वाचकान्द्रोधारणमुपदिशति—ॐ तत्सदिति । ॐ तत्सदित्येवंरूपो ब्रह्मणः परमात्मनः पुरु-षोत्तमस्य निर्देशः, निर्देश्यते प्रतिपाद्यतेऽनेनेति निर्देशप्रतिपादकः शब्दो नामेत्यर्थः, त्रिविधास्त्रिप्रकारः स्मृतः, वेदेवेदान्तविद्भिर्महाविभिर्ब्रह्मसनामतया निर्दिष्ट इत्यर्थः । “ओमिति ॐ ब्रह्म” “तद्ब्रह्म ॐ सद्ब्रह्म” “ओमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत” इत्यादिश्रुतिभिः “एकान्तं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः । प्रणयायास्तथा वेदाः प्रणवे पर्यस्मिताः” ॥ “ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्” इत्यादि-

स्मृतिभिश्च आंकारो ब्रह्मनामतया निर्दिष्टः । “तत्त्वमसि, सदेवर्त तद् सत्यमाहुः, तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्” इत्यादिश्रुतिभिः, “यत्तत्पदमनुत्तमं तद्ब्रह्म परमं धाम” इत्यादिस्मृतिभिश्च तच्छब्दस्य ब्रह्मनामतया निर्देशः स्मृतः । “सदेव सोम्येदमग्र आसीत्सन्मूलाः सोम्येषाः सर्वाः प्रजाः सत्प्रतिष्ठाः” इत्यादिश्रुत्या ‘सदसत् क्षरमक्षरम्’ इत्यादिस्मृत्या च सच्छब्दो ब्रह्मनामतया निर्दिष्टः । साद्रूप्यहेतुत्वेनैव ब्रह्मनिर्देशो स्तोति तेन त्रिविधेन ब्रह्मणो निर्देशेन ब्राह्मणा वैदिकास्त्रैवर्णिका वेदाश्च यथाश्च कर्तृकरणकर्मरूपाः पुरा पूर्वं सृष्ट्यादौ मदात्मकेन प्रजापतिना विहिताः, प्रवर्तिताः वैगुण्यपरिहारेण साद्रूप्यपूर्णकृता इत्यर्थः । तस्मान्महाप्रभावोऽयं परमात्मनिर्देशो यज्ञादिवैगुण्यपरिहाराय नियततया स्मर्तव्य इति भावः ॥ २३ ॥

म० टी०—वेदवनाहारयज्ञतपोदानाणां त्रैविध्यकथनेन सात्त्विकानि तान्यादेयानि राजसतामसानि तु परिहर्तव्यानीत्युक्तम् । वनाहारस्य दृष्टार्थत्वेन नास्त्यङ्गवैगुण्येन पुण्ये फलाभावसङ्का । यज्ञतपोदानानां त्वदृष्टार्थानामङ्गवैगुण्यदपुर्णत्वपक्षौ फलाभावः स्यादिति सात्त्विकानामपि वेपामानर्हक्यं प्राप्तं प्रमाद्वहुलत्वाद्यु-
ष्टानुगम् । अतस्तद्गुण्यपरिहाराय औत्सर्ग्यदेवे भगवन्नामोच्चारणरूपं सामान्यप्रापञ्चितं परमकारुणिक-
स्योपदिशति भगवान्—ओमिति । ओं तत्सदित्येवैरूपो ब्रह्मणः परमात्मनो निर्देशः निर्दिश्यतेऽनेनेति निर्देशः प्रतिपादकशब्दः नामेति यावत् । त्रिविधः क्लिष्टो विधा अवयवा यस्य स त्रिविधः स्मृतः वेदान्त-
विज्ञिः । एकवचनाध्यवयवमेकं नाम प्रणववर्गः । यस्मात्पूर्वमर्हर्षिभिरयं ब्रह्मणो निर्देशः स्मृतस्तस्मादिदानीन्त-
नैरपि स्मर्तव्य इति विधिरत्र कल्प्यते । यत्कर्तुं प्रथममद्य इत्यादिष्विव वचनानि त्वपुर्णत्वादिति न्यायात् । यज्ञदानतपःक्रियासंयोगाच्चास्य तद्वैगुण्यमेव कलं नष्टाश्चदग्नयवत् परस्परकाङ्क्षया कल्प्यते ।
‘प्रमादत्कुर्वता कर्म प्रच्यवेताभ्यरेषु यत् । स्मरणादेव तद्विष्णोः संपूर्णं इत्यादिति श्रुतिः’ इति स्मृतः, तथैव शिष्टाचाराश्च । ब्रह्मणो निर्देशः स्मृत्येव कर्मवैगुण्यपरिहारसामर्थ्यक्यनाय—ब्राह्मणा इति त्रैवर्णिकोपलक्ष-
णम् । ब्राह्मणाद्याः कर्तारः वेदाः करणानि यज्ञाः कर्माणि तेन ब्रह्मणो निर्देशेन करणभूतेन पुरा विहिताः प्रजापतिना तस्माद्यज्ञविस्तृष्टहेतुत्वेन तद्गुण्यपरिहारसमर्थो महाप्रभावोऽयं निर्देश इत्यर्थः ॥ २३ ॥

शु० टी०—तत्तु देशकालपात्रश्रवणमन्त्रतन्त्रादिस्वरूपं ज्ञात्वा यथाशास्त्रं वैदिकं कर्म अद्यामाप्तिवित्तैः कर्तुं न शक्यते । तेन सर्वस्यापि वैदिकस्य कर्मणो वैगुण्यमेव प्रसज्यते । तत्र कथमित्याकाङ्क्षायाम् “विद्वान् पजते” इतिश्रवणादिशक्यत्वादित्येवमेव विदुष्यैव सर्वं कर्म विज्ञाय अद्यया कर्तव्यम्, तथापि यज्ञदानतपोब्र-
ह्मादीनामतत्त्वज्ञेन क्रियमाणानामभद्रया वा भ्रमप्रमादादिना वा ह्यचित्तन्मन्त्रस्वरवर्णपदिलोपेन वा वैगुण्ये प्राप्ते औत्सर्ग्यस्युक्त्या सर्वं सगुणं सफलं च भवतीति बोधयितुमयमुपदेशः कथिते—ओमिति । “ओमिति ब्रह्म” इति “तत्त्वमसि” इति “सदेव सोम्य” इति च अवगात् । ओमिति सदिति सदिति च परस्य ब्रह्मणो निर्देशः—निर्दिश्यते वस्तवनेनेति निर्देशो नाम, त्रिविधस्त्रिषकारः स्मृतो वेदान्तत्रिरुदाहकादिभिः । औत्सर्ग्यदेवानि त्रीणि ब्रह्मणो नामान्युक्तानित्यर्थः । एवं नामनिर्देशं कृत्वा नास्त्रा मद्त्वमाह—ब्राह्मणा इति । पुरा सर्वादौ तेनोक्तेन नामत्रितयेन ब्राह्मणा ऋगाद्यो वेदाः श्रौतस्मार्वाश्च सर्वे यज्ञा विहित-
निर्मितास्तेभ्यः समुत्पन्ना इत्यर्थः । एतेन पावनानां वेदादीनां जनिहेतुत्वात्प्रां व्रयाणामपि नास्त्रा पवित्रत्व-
स्येयत्ता नास्तीति सूचितम् । तत्स्वरूपचारणं सर्वेषामप्रापञ्चितमिति सिद्धम् ॥ २३ ॥

श्री० टी०—तत्तु चैवं विचार्यमाणे सर्वमपि यज्ञतपोदानादि राजसतामसप्रायमेवेति व्यर्थो यज्ञादि-
प्रयास इत्याशङ्क्य, तथापिचत्वापि सात्त्विकत्वापादनप्रकारं दर्शयितुमाह—ओमिति । औत्सर्ग्यदेवं त्रिविधो ब्रह्मणः परमात्मनो निर्देशो नामान्यपदेशः स्मृतः शिष्टेः । न तत्र तत्र “ओमिति ब्रह्म”

इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धेरोमिति ब्रह्मणो नाम जगत्कारणत्वेनाविप्रसिद्धत्वात् अविदुषां परोक्षत्वाच्च तच्छब्दोऽपि ब्रह्मणो नाम । परमार्थसत्त्वसाधुत्वप्रशस्तत्वादिभिः सच्छब्दो ब्रह्मणो नाम । ("सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादिश्रुतेः ।) अयं त्रिविधोऽपि नामनिर्देशो विगुणमपि सगुणीकर्तुं समर्थ इत्याशयेन स्तौति—तेन त्रिविधेन ब्रह्मणो निर्देशेन ब्राह्मणाश्च वेदाश्च यज्ञाश्च पूर्वं सृष्ट्यादौ विहिताः विधात्रा निर्मिताः सगुणीकृता वा । यद्वा यस्यायं त्रिविधो निर्देशत्वेन परमात्मना ब्राह्मणादयः पवित्रतमाः सृष्टाः । तस्मात्तस्यायं त्रिविधो निर्देशोऽतिप्रशस्त इत्यर्थः ॥ २३ ॥

स० टी०—एवमाहारमुख्यानां त्रैविध्यकथनेन च ॥ ब्राह्मणि सान्त्विक्कान्त्वेष त्वाद्यान्यन्यानि सर्वथा ॥ १ ॥ इत्युक्तं तत्र भोजयस्य हृद्यार्थत्वेन केवलम् ॥ अङ्गवैगुण्ययो नास्ति फलभावाद्विशङ्कनम् ॥ २ ॥ अहृद्यार्थस्य यज्ञावेरङ्गवैगुण्यतो भवेत् ॥ अपूर्वस्याप्यनुस्यूतौ फलभावेन कर्मिणाम् ॥ ३ ॥ सान्त्विक्कानामपि होपमानस्यैव समागतम् ॥ प्रमादबहुलत्वात्तानुप्रातृणामतो हरिः ॥ ४ ॥ वैगुण्यपरिहारार्थनो हस्तविति च त्रिधा ॥ कर्तव्येन भगवन्नामः प्रायश्चित्ततयाऽनुना ॥ ५ ॥ अविकाराणि कृतेन साक्षादुपदिशत्यज्ञः ॥ ओ तत्सद्विरूपोऽयं ब्रह्मणः परमात्मनः ॥ ६ ॥ नामनिर्देश आत्मज्ञैश्चिन्तितस्त्रिविधः श्रुतौ ॥ यस्मादेवमवः सर्वैः स्मर्व्यमधुनातनैः ॥ ७ ॥ प्रमादात्कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताम्बरेषु यत् ॥ स्मरणादेव तद्विष्णोः संपूर्णं स्यादिति श्रुतिः ॥ ८ ॥ स्वयमेव ब्रह्मनिर्देशः कर्मवैगुण्यनाशकृतः ॥ त्रिधा निर्देशतो विष्णोः कर्तारो ब्राह्मणादयः ॥ ९ ॥ वेदाः सृष्टाः साधनाख्या यज्ञाः कर्मात्मकाः पुरा ॥ तस्माद्यज्ञादिदृष्टेय देवुत्वेन 'देवरयम् ॥ १० ॥ निर्देशः कर्मवैगुण्यपरिहारश्चोऽस्त्यपि ॥ ११ ॥ २३ ॥

भा० टी०—एवमाहारवीनां सान्त्विक्कानामाशानाय हानाय च राजसहामसानां तेषां त्रैविध्यमुक्तम् । इदानीं विहितानां यज्ञादिकर्मणां प्रमादावश्यभावात् तत्प्रयुक्ते वैगुण्ये कथं परिहारः स्यादित्याकाङ्क्षायां तेषां सादृश्यकरणाय कृष्णानिभिर्भगवान् प्रायश्चित्तमुपदिशति—अतस्तसदिति । एष निर्देशः निर्दिश्यतेऽनेनेति निर्देशो ब्रह्मणो त्रिविधो नामनिर्देशः । "ॐमिति ब्रह्म" "तत्त्वमसि" "सदेव सोम्य" इत्यादिवेदान्तेषु ब्रह्मविजिः स्मृतश्चिन्तितः । यज्ञादिसादृश्यसिद्धिपर्यमवश्यमिदं प्रायश्चित्तमुपदिशति यो धनाय निर्देशं स्तौति—ब्राह्मणाः कर्तारो विज्ञाः वेदाः करणानि यज्ञाः कर्माणि पुरा पूर्वं प्रजापतिना येन निर्देशेन विहिता निर्मिताः । तथा च कर्मादीनां ब्रह्मणामपि कारणभूतत्वादस्य वैगुण्यनिवारकत्वं युक्तमेवेति भावः ॥ २३ ॥

प० टी०—ननु कैव विचार्यमाने सर्वमपि यज्ञतपोदानादि राजसे तामसे वा विगुणत्वाल्लतनापि व्यर्थत्वमापद्येत्सादृश्यं तस्य विगुणस्यापि सगुणत्वोपपादनप्रकारं दर्शयितुमाह—ॐमिति । ब्रह्मणः परमात्मनो निर्देशो नामन्यपदेशश्चिन्तितः स्मृतः । स काः अतस्तसदिति । एवं तेन त्रिविधेन ब्रह्मणा यज्ञकर्मकर्तारस्तथा वेदा विधिगर्गप्रवर्तकस्तथा यज्ञाः कर्मरूपाः पुरा पूर्वसृष्ट्यादौ विहिता निर्मिताः । तत्र ॐमिति ब्रह्मणो नाम । तदुक्तं छान्दोग्योपनिषत्सु—“अथ रक्षु य उद्भवेः स प्रणयो यः प्रणयः स ऋषीयः”—तथा “ॐमित्येकाक्षरमुपासीतोम्” इति । तदुक्तम् “ओहीमेन समं किंचिच्छोषं जगति स्मृतम् । यं विनासायवर्गोऽपि स्वकार्ये न प्रवर्तते” इति । तथा सर्वानुक्रमकारः आकलेशोऽपि “प्रजापतिरोद्भूतः सर्वदेवतस्यः पारमेष्ठ्यो ब्राह्मो देव आभ्यात्मिकः” इति । आभ्याम्—प्रजापतिर्देवता ॐमिति शब्दः सर्वदेवतास्वमिधायकत्वेन 'सर्वदेवतस्यः परमोऽकृष्टस्थाने तिष्ठतीति पारमेष्ठ्यो ब्राह्मो ब्रह्मदेवस्य आभ्यात्मिकः शरीरवर्तिप्रत्यगात्मनोऽभिधायको वेति । तथा ब्राह्मेऽप्याज्ञातम् “तानि शुक्राण्यग्न्यतपसेभ्योऽभिधः मेभ्यस्वरो वर्णो अजायन्ताम्कार उकारो मकार इति तानेकधा समभरन् तदेवदोम्” इति । आभ्याम्—‘सर्वदेव शुक्रं तद्ब्रह्म’ इत्यादिश्रुतेः । शुक्राणि शब्दप्रज्ञाणि हिरण्यगर्भादीन्यभितोऽवपन् तपश्चक्रुः ।

तेभ्योऽभितस्ततेभ्यस्तपः कुर्वन्निभ्यः सकाशाद् ये वर्णा अजायन्तेति स्पष्टम् । तथा च अमिति नामनिर्देशेन वेदा विहिताः, तदित्यनेन ब्राह्मणाः, सवित्यनेन यज्ञाः ॥ २३ ॥

रा० टी०—अफलाकाङ्क्षिभिरित्यादिना पूर्वं यज्ञतपोदानानां सात्त्विकत्वादिहेतवोऽसाधारणधर्मा उक्ताः । साधारणास्तु वक्तुमेतत्कर्तुं कथं चरितानुवादरूपपुराणस्यास्यार्थवादमाह—अमित्यादिना । निर्दिश्यते, अनेनेति निर्देशो नाम ब्रह्मणः त्रिविधः स्मृतः । अतं प्रविष्टमाश्रितम् इति यावत् । जगत्तत्र परो इति वा । ईश्वरो वा जगति प्रोतः प्रविष्ट इति वा व्युत्पत्त्या अमिति नाम हरेः । अवरोक्षणकान्तिगतिप्रवेशेत्याद्यर्थस्यावरोष्टि-लोपधेयसूत्रेण मन्त्रस्थः । तस्य टिलोपे अवरोत्वेत्युठि सार्वभाष्येण इति गुणे च अमिति रूपसिद्धेः । गुणैस्तत्त्वाद्वा तद्विषयस्य परोक्षवाचित्वाद्ब्रह्मणश्च वेदैकवेद्यतया परोक्षत्वादिति नाम । निर्दोषसर्वशुभगुण-पूर्णत्वात्सदिति नामेति ज्ञेयम् । तेन ब्रह्मणा ब्राह्मणादयः पुरा सृष्टिकाले विहिताः सृष्टाः । वेदानां विधानं नान् अभिन्नचिह्नया ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ॥

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

त० टी०—एवं ब्राह्मणाद्युत्तमसृष्टौ तच्छ्रेयोहेतुतया समुदितस्य त्रिविधस्य ब्रह्मनान्नः समन्वय उक्तः । इदानीमपीदृशसिद्धयर्थं कार्येषु त्रयाणामोङ्काराद्यवयवानां समन्वयप्रकार उच्यते । तत्रादावो-कारस्यान्वयमाह—तस्मादिति । यस्मादयं सर्ववेदादिभूतः परब्रह्मवाचकस्तस्मादोमित्युदाहृत्योच्चार्य ब्रह्मवादिनां प्रवर्णिकानामोकारोच्चारणानन्तरं विधानोक्ता विधिना दास्यता यज्ञदानतपःक्रियाः सततं सर्वदा प्रवर्तन्ते प्रकर्षेण दोषाप्राप्तेन संपद्यन्ते ॥ २४ ॥

म० टी०—इदानीमकारोकारमकारव्याख्यानेन वस्वमुदायोङ्कारव्याख्यानं वेदाङ्कारतच्छब्दसच्छब्दव्याख्यानेन तत्समुदायरूपं ब्रह्मणो निर्देशं स्तुत्यतिशयाय व्याख्यातुमाश्रिते चतुर्भिः । तत्र प्रथमोङ्कारं व्यापष्टे—तस्मादिति । यस्मात् “ अमिति ब्रह्म ” इत्यादिषु श्रुतिष्वोमिति ब्रह्मणो नाम प्रसिद्धं तस्मादोमित्युदाहृत्य ओङ्कारोच्चारणानन्तरं विधानोक्ताः विविधास्तथोचिता ब्रह्मवादिना वेदवादिना यज्ञदानतपः-क्रियाः सततं प्रवर्तन्ते प्रकृष्टतया वैगुण्यराहित्येन वर्तन्ते । यस्यैकावयवोच्चारणस्यैगुण्यं किं पुनस्तस्य सर्वस्योच्चारणादिति स्तुत्यविशेषः ॥ २४ ॥

शु० टी०—इदमेवार्थं प्रतिपादयन्नादौ प्रणवस्य विनियोगमाह—तस्मादिति । यस्मादेतन्नामश्रितयं ब्रह्मवाचकत्वेन वेदादिजनकत्वेन च पवित्रतममिति भवं तस्मादोमित्युदाहृत्य कर्मारम्भे तदन्ते ओङ्कारमुच्चार्य ब्रह्मवादिनां ब्रह्म वेदास्तदर्थं च वेदितुं शीलमेवास्ति ते ब्रह्मवादिनो वेदवेदार्थपरगा ब्रह्मणास्तथा ब्रह्मवादिनां विधानोक्तः विष्णुका यज्ञदानतपःक्रियाः सर्वाः कश्चिद्ब्रह्मवादिनाङ्कारैकल्येऽप्याश्रित्योरोमित्युच्चारणेन सततं यथोक्तलक्षणेः संपूर्णं यथा तथा प्रवर्तन्ते प्रकर्षेण वर्तन्ते प्रवर्तन्ते । प्रकृष्टाः साक्षाः सात्त्विका भवन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

श्री० टी०—इदानीं प्रत्येकमोकारादिना प्राशस्त्यं दर्शयिष्यन्तोङ्कारस्य तावदाह—तस्मादिति । यस्मादेवं ब्रह्मणो निर्देशस्तस्मादोमित्युदाहृत्य उच्चार्य कृता वेदवादिनां यज्ञाद्याः श्रमशोचुः क्रियाः सततं सर्वदा अद्भुतैकल्येऽपि प्रकर्षेण वर्तन्ते समुष्णा भवन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

स० टी०—अयोङ्कारादिनामास्य श्रीमद्भगवतो हरेः ॥ व्याख्यातुं वेदविर्णातविर्देशस्तुल्ये पुनः ॥ १ ॥ आरभवेऽत्र भगवानोमित्यादौ ब्रह्मवजः ॥ ओमिति ब्रह्मणो नाम प्रसिद्धं यत् अगम्ये ॥ २ ॥ यस्मादा-

मित्युदाहृत्य विधिशास्त्रेण बोधिताः ॥ प्रकृष्टत्वेन वर्तन्ते यज्ञदानतपःक्रियाः ॥ ३ ॥ अङ्गवैगुण्यराहित्या-
स्तत्तत् वेदादिनाम् ॥ यस्यैकाग्र्यबोध्यार्थमाणे वैगुण्यसंक्षयः ॥ ४ ॥ किं पुनस्तस्य सर्वस्योच्चारणादिति
संस्तुतिः ॥ ५ ॥ अहो हरेर्नाम महत्फलं श्रुतौ श्रुतं सर्वोत्कार इति स्मृतं हृदि ॥ पुनरिति यज्ञादिकृतं ब्रह्म-
क्षणे लुनाति पापेषमुदीरणात्सकृत् ॥ ६ ॥ २४ ॥

भा० टी०—तस्मादिति । यस्मादौ तत्सदिति ब्रह्मणो निर्देशो यस्माच्च ब्राह्मणादीनां कारणं तस्मादो-
मित्युदाहृत्योच्चार्य ब्रह्मवादिनां वेदादिनां यज्ञदानतपःक्रियाः विधानोक्ताः शास्त्रबोदिताः सततं सर्वदा
प्रवर्तन्ते ॥ २४ ॥

प० टी०—यज्ञोपस्रन्तमर्थमाह—तस्मादिति । यस्मादेवं ब्रह्मणो निर्देशस्तस्मात्कारणादोमित्युदाहृत्योच्चार्य
वेदविधानोक्तप्रसवादिनां बोधार्थिनां यज्ञदानतपसा क्रियाः सततं निरन्तरं प्रवर्तन्ते ॥ २४ ॥

रा० टी०—तस्मादिति । तस्मादोमित्यस्य भगवन्नामत्वात् अमित्युदाहृत्य अन्तरमुच्चार्य ब्रह्मवादिनां
सततं यज्ञादिक्रियाः विधानोक्ताः विभुक्ताः प्रवर्तन्ते । एतेनोक्तं कारार्थपूर्वकं अमित्युच्चार्य ब्राह्मणे, सह
विभुक्तदिग्गजस्तुष्टानं यज्ञदेः साविष्कत्वे हेतुरुक्तो भवति ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ॥

दानक्रियाश्च विविधाः कियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २५ ॥

त० टी०—एवं फलानुसंहितकर्मेणागोकारोच्चारणपूर्वकं साफल्यमुक्तपिदानां निष्कामाणां मुमुक्षु-
णां यज्ञादिषु तदतिशब्दान्वयमाह—तदिति । पूर्वोक्तं श्रुत्यादिभिर्द्वै ब्रह्मणो नाम वेदाहृत्येति
पूर्वश्लोकादाहृत्य योजनीयं, तदुच्चार्य फलमनभिसंधाय फलाकाङ्क्षां विहाय मोक्षकाङ्क्षिभिर्वेदान्वितैर्यज्ञदा-
नतपःक्रियाश्च विविधाः कियन्ते, केवलं तच्छब्दनिर्दिष्टप्रपञ्चात्सोद्देशेन निर्वर्त्यन्ते इत्यर्थः ॥ २५ ॥

म० टी०—द्विवीर्यं तच्छब्दं व्याचष्टे—तदिति तत्त्वप्रसारादुद्भूतिप्रसिद्धम् । तदिति ब्रह्मणो नामोदा-
हृत्य फलमनभिसंधायान्व. करणशुद्धयर्थं यज्ञतपःक्रिया दानक्रियाश्च विविधा मोक्षकाङ्क्षिभिः कियन्ते
तस्मादतिप्रशस्तमेतत् ॥ २५ ॥

श्री० टी०—एवमोत्कारस्य कर्मसाद्रूप्यसंपादने विनियोगमुक्त्वा तत्पदस्य विनियोगमाह—तदिति । वेदा-
हृत्येति पदं पूर्वोक्तमनुवर्तते । मोक्षकाङ्क्षिभिर्मोक्षककामैः । एतेन पूर्वोक्तानां कामित्वं सूचितम् । मुमुक्षुभिर्ब्राह्मणैः
फलं कर्मजन्यमनभिसंधाय संकल्पाननपेक्ष्य वैश्वरूपेणबुद्ध्या चित्तशुद्धये कर्माभ्यासौ तदिति पदमुदाहृत्य
समुच्चार्य यज्ञदानतपःक्रियाः श्रोतादयो यज्ञक्रियाः, शरीरादयस्तपःक्रियाः, कन्यागवादिभेदेन विविधा दान-
क्रियाश्च कियन्ते । श्रद्धाचन्द्रोद्ये सति तत्पदप्रयोगेन सशुभाः कियन्त इत्यर्थः ॥ २५ ॥

श्री० टी०—किंच द्विवीर्यं नाम प्रसौखि—तदिति । वेदित्युदाहृत्येति पूर्वस्यानुपपन्नः । तदित्युदाहृत्य
शुद्धचित्तमोक्षकाङ्क्षिभिः पुरुषैः फलमभिसंधियकृत्वा यज्ञाद्याः क्रियाः कियन्ते अवशिष्टशोधनद्वारेण फलसं-
स्पत्याजनेन मुमुक्षुत्वसंपादकत्वात्तच्छब्दनिर्देशः प्रशस्त इत्यर्थः ॥ २५ ॥

स० टी०—तदिति ब्रह्मणो नाम प्रसिद्धं तत्त्वसादिकं ॥ वेदवाक्ये समुच्चार्यानभिसंधाय तत्फलम्
॥ १ ॥ अन्व. करणशुद्धयर्थं यज्ञदानतपःक्रियाः ॥ कियन्ते मोक्षमिच्छद्भिः प्रशस्ततपमेव तत् ॥ २ ॥
श्रुतौ तदित्येव मुकुन्दनाम तत्परोक्षपीला परिश्रुणेत परम् ॥ मुमुक्षुभिर्व्ययमानन्यचेतसा उद्येयं वेद्यं भवमु-
क्त्ये पिय ॥ ३ ॥ २५ ॥

भा० टी०—ओमित्विनामो विनियोगमुक्त्वा तदित्यस्य विनियोगमाह—तदिति । फलमनभिसंधाय

मोक्षकाङ्क्षिभिः सुसुप्तभिः यक्षपक्वक्रिया दानक्रियाश्च विविधाः क्षेत्रहिरण्यप्रदानादिवृक्षणाः तदिति ब्रह्मा-
भिपानमुद्यार्थं क्रियन्ते निर्वर्त्यन्ते ॥ २५ ॥

प० टी०—अथ द्वितीयनामानिर्देशं स्तौति—तदिति । तदित्युदाहृत्येति पूर्वस्यानुपपन्नः । नामनिर्देशमुद्यार्थं
चित्तशुद्धयर्थं प्रवृत्तैर्मोक्षकाङ्क्षिभिः फलसमभिसंधाय यक्षपक्वक्रियास्तथा दानक्रियाश्च क्रियन्ते ॥ २५ ॥

रा० टी०—किंच—तदिति । तत्परोक्षं फलं स्वर्गाखनभिसंधाय मम स्यादित्यानिच्छन् । तथा तत् वेदे-
काम्यतया परोक्षभूतं ब्रह्म अभिसंधाय ममास्पदं स्यादित्येच्छन्त्यसिद्धोपपत्तिः तपः क्रियाः प्रागुक्तशरी-
रादितपोरूपक्रियाः दानक्रियाश्च विविधाः मोक्षकाङ्क्षिभिः क्रियन्त इत्युक्त्वा वेदकवेद्यतया तत्परोक्षब्रह्मो-
द्देशेनैव फलानुद्देशेन च क्रियमाणत्वरूपधर्मान्तरमपि यज्ञादेः सात्त्विकत्वादित्युक्तं भवति । तदिति
ब्रह्मोद्देश्य यज्ञादेः करणाश्च ब्रह्मणस्तदिति नानेति चोक्तं भवति ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते ॥

प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

त० टी०—इदानीं सच्छब्दान्वयप्रकारमाह—सद्भावे इति द्वाभ्याम् । सद्भावे वस्तुनोऽविष-
मानताशङ्काव्यावृत्तिः सद्भावस्तस्मिन्, तथा साधुभावे च असद्वृत्तत्वशङ्कायां सद्वृत्तत्वख्यापनं
साधुभावस्तस्मिन्, सदित्येतत् श्रुतिस्मृतिसिद्धं ब्रह्मणो वाचकं पदं लोकेष्वेदयोः प्रयुज्यते शिष्टे ।
तथा प्रशस्ते माङ्गलिके विवाहादौ तत्पदादौ कर्मणि सदित् कर्मेति सच्छब्दो हे पार्थ प्रयुज्यते इत्यर्थः ॥ २६ ॥

म० टी०—नृणां सच्छब्दं व्याख्येयं द्वाभ्याम्—सद्भावे इति । “सदेव सौम्येदमम आसीत्” इत्यादि
श्रुतिप्रसिद्धं सदित्येतत् ब्रह्मणो नाम सद्भावे अविद्यमानत्वशङ्कायां विद्यमानत्वे साधुभावे च असा-
धुत्वशङ्कायां साधुत्वे च प्रयुज्यते शिष्टे । तस्माद्बैशुण्यपरिहारेण यज्ञादेः साधुत्वं तत्फलस्य च विद्यमानत्वं
कर्तुं क्षममेतदित्यर्थः । तथा सद्भावसाधुभावयोरिव प्रशस्ते अप्रतिबन्धेन आशुसुखजनके माङ्गलिके कर्माणि
विवाहादौ सच्छब्दो हे पार्थ युज्यते प्रयुज्यते । तस्मादप्रतिबन्धेनाशु फलजनकत्वं वैशुण्यपरिहारेण यज्ञादेः
समर्थमेतन्नामेति प्रशस्तवर्मेतदित्यर्थः ॥ २६ ॥

शं० टी०—एवमेव सच्छब्दयोर्विनियोगमुक्त्वाऽपि सच्छब्दस्य विनियोगमाह—सद्भावे इति द्वाभ्याम् ।
सद्भावे विद्यमानस्य वस्तुनोऽस्तित्वं सद्भावस्तस्मिन् सद्भावे देवत्वस्य पुत्रोऽस्तीत्येतस्मिन्नर्थे पण्डितैः सदि-
त्येतत्पदं प्रयुज्यते । यद्वा सतो ब्रह्मणो भावः सद्भावस्तस्मिन् सर्वस्य ब्रह्मभावे विवक्षिते सदित्मिति
सच्छब्दः प्रयुज्यते । साधुभावे च सद्वृत्तता साधुभावस्तस्मिन् विवक्षिते साधोः साधुभावे संज्ञिः सत्यमिति
ति सच्छब्दः प्रयुज्यते । तथाच कर्मणः प्रशस्तत्वे विवक्षिते सदित् कर्मेति सच्छब्दः प्रयुज्यते इत्यर्थः ॥ २७ ॥

श्री० टी०—सच्छब्दस्य प्राशस्त्यमाह—सद्भावे इति द्वाभ्याम् । सद्भावे अस्तित्वे देवत्वस्य पुत्रादि-
कमस्तीत्यस्मिन्नर्थे साधुभावे च साधुत्वे देवत्वस्य पुत्रादि श्रेष्ठमित्यस्मिन्नर्थे सदित्येतत्पदं प्रयुज्यते । प्रशस्ते
माङ्गलिके विवाहादिकर्मणि च सदित् कर्मेति सच्छब्दो युज्यते प्रयुज्यते संगच्छेव इति च ॥ २६ ॥

स० टी०—सदेवेति श्रुतौ नाम सदिति ब्रह्मणो हरेः ॥ तदेव सत्यत्वशङ्कायां सद्भावे सत्यप्रयुज्यते
॥ १ ॥ तथा साधुत्वशङ्कायां साधुभावे प्रयुज्यते । वैशुण्यपरिहारेण यज्ञादेः साधुता क्षमम् ॥ २ ॥
प्रकर्तुं तत्फलस्यापि विद्यमानत्वमेव सत् ॥ प्रशस्ते च विवाहादौ सच्छब्दोऽपि प्रयुज्यते ॥ ३ ॥ सर्व-
सद्भावेतुत्वाद्यते माङ्गलिकेऽखिले ॥ तस्मादप्रतिबन्धेन सुखहेतुत्वाऽसक्यम् ॥ ४ ॥ उद्यार्थमाप्यमापते
फलं सत्ताम तद्वरेः ॥ अहो श्रीमद्वरेणामहिमार्थं निरङ्कुशः ॥ ५ ॥ सदेव सौम्येदमित्युक्तौ श्रुतं विना
हरिं नैव विकारनप्नोति ॥ सदित्युद्यार्थेन हरिं सुभीभिर्जदसस्तु सत्तामप्रदं ध्वरादिषु ॥ ६ ॥ २६ ॥

भा० टी०—नृवीर्यनाम्नो विनियोगमाह द्वाभ्याम्—सदिति । सतः सद्भावे यथाऽविद्यमानस्य पुत्रस्य जन्म तथा साधुभावेऽसद्वृत्तस्यासाधोः सद्वृत्तिता साधुभावस्त्वस्मिन्साधुभावे च सदित्वेवत् प्रह्मणोऽभिधानं प्रयुज्यतेऽभिधीयते । तथा प्रशस्ते कर्मणि विवाहादौ च सच्छब्दः प्रयुज्यते । पृथापुत्रे त्वयि पार्थशब्दे गयेति सूचयन्नाह—पार्थेति ॥ २६ ॥

प० टी०—अथ सच्छब्दस्य प्राप्त्यर्थमाह—सद्भाव इति । सद्भावेऽस्त्वित्वे देवदत्तस्य पुत्रादिकमस्तीत्येतस्मिन्नर्थे साधुभावे च साधुत्वे देवदत्तस्य पुत्रादि अष्टमित्येतस्मिन्नर्थे सदित्येतत्प्रयुज्यते । तथा प्रशस्ते विवाहादिमाङ्गलिके कृत्ये सच्छब्दो युज्यते ॥ २६ ॥

रा० टी०—किंच । साधुगुणोपेततथा सच्छब्दार्थभगवज्ज्ञानपूर्वकतयाऽनुष्ठानमपि सात्त्विकत्वहेतुधर्मान्तरं यत्तादेरितिभावेन सच्छब्दार्थमाह—सद्भाव इति । सद्भावे असतः सत्तारूपप्रजननार्थं साधुभावे साधुत्वे । प्रशस्ते कर्मणि शुभकर्मणि चेत्यर्थः ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ॥

कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

त० टी०—तस्मात्—यज्ञ इति । यज्ञे यज्ञकर्मणि या स्थितिः तपसि च या स्थितिर्दाने च या स्थितिर्निष्ठा सा सदित्युच्यते । सदसतोर्विनिर्णयं संगृह्णाह—कर्म चैवेति । यस्य चैतन्नामत्रयं स, परब्रह्मभूतो भगवानेवार्थः प्रयोजनमुद्देश्यो यस्य तत् तदर्थीयं कर्म पूजोपहारजन्मोत्सवाद्यङ्गतया तुलसीपुष्पाद्यवचयतद्वरोपणमन्दिर्निर्माणमार्जनोपलेपनचित्रकरणविविधव्यञ्जनपाककरणगीतवाद्यनृत्यप्रदक्षिणमणामादिसर्वं सदित्येवाभिधीयते, सतः परमात्मनः प्राप्तिहेतुत्वात् । अनावधारणद्वयं तत्रैकमयोगव्यवच्छेदार्थकम् । द्वितीयमन्ययोगव्यवच्छेदार्थकं, तदर्थीयं कर्म सन्नेति न अपितु सदेव । तदर्थीयव्यतिरिक्तं कर्म सन्नेत्यर्थः । “यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते परमेवासुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते” इति श्रुत्या “त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा” इत्युपक्रम्य “क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति एवं त्रयीधर्मेननुग्रहपद्मा गतागतं कामकामा लभन्ते” इत्यादिना भगवता स्वयमपि देवादिभक्तानां स्वर्गादिककर्मणां क्षयिष्णुत्वाभिधानात् । भगवदर्थस्य कर्मणस्तु ‘मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि । सर्वकर्माणां सदा, कुर्वाणो यद्वापाथयः । परमसाद्वान्मोषि श्नाभ्रतं पदमव्ययम्’ इत्यादिना श्रावताव्ययफलत्वप्रतिपादनात् । तदेवं भगवदर्थीयं यज्ञदानतपश्चाद्यन्यदपि सर्वं कर्म परमात्माभिधानमप्रमोषपूर्वकं सात्त्विकश्रद्धयाऽनुष्ठितं श्रेयस्करं भवतीति सिद्धम् ॥ २७ ॥

प० टी०—यज्ञ इति । यज्ञे तपसि दाने च या स्थितिरवसरयथाऽवस्थितिर्निष्ठा सावि सदित्युच्यते विद्वज्जिः । कर्म चैव तदर्थीयं तेषु यज्ञज्ञानतपोरूपेष्वर्थेषु भवं तदनुकूलमेव च कर्म । अथवा यस्य प्रह्मणो नामदेवं प्रस्तुतं तदेवार्थो विषयो यस्य तदर्थं शुद्धमहाज्ञानं तदनुकूलं कर्म तदर्थीयं, भगवदर्पणयुद्धया क्रियमाणं कर्म वा तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते । तस्मात्सादिति नाम कर्मवैशुण्यापनोदनसमर्थं प्रशस्ततरम् । यथैकैकोऽवयवोऽव्येतादृशः किं वक्तव्यं तत् समुदायस्यावतत्सदिति निर्वेशस्य माहात्म्यमिति संविष्टितार्थः ॥ २७ ॥

सं० टी०—किंच—यज्ञ इति । यज्ञे ओतादौ तपसि शारीरघटौ दाने च कन्यादानादौ या स्थितिरवस्थानं स च विद्वज्जिः सदित्युच्यते । यज्ञादीनामश्रद्धाविदोषोपपत्तौ साधुत्वासिद्धये सच्छब्दः प्रयुज्यत इत्यर्थः । तदर्थीयम्—अत्र तच्छब्देन लोकशान्तिप्रसिद्धः परमेष्ठरो गृह्यते । तदर्थीयं परमेष्ठरार्थकं कर्म च

सदित्येवाभिधीयते । अश्रद्धादिदोषप्राप्तौ यस्मादीनां साद्रुण्याय तत्सदिति प्रहणो नामत्रयं प्रयुज्यत इत्यु-
क्त्या सात्त्विक्या श्रद्धयैव सुमुखिर्मिच्छदानादि कर्म नियमेन कर्तव्यमिति पर्ववासितं नान्येत्यर्थः ॥ २७ ॥

श्री० टी०—किंच—यज्ञ इति । यस्मादिषु च या स्थितिस्तात्पर्येणावस्थानं तदपि सदित्युच्यते । यस्य चेदं
नामत्रयं स एव परमात्मा अर्थः फलं यस्य तत्तदर्थं कर्म पूजोपहारशृङ्गाङ्गणपरिमार्जनोपलेपरङ्गमालिका-
दिक्रिया तत्सिद्धये यदन्त्यकर्म क्रियते उद्यानशालिश्वेत्यर्थनार्जनादिविषयं तत्कर्म तदर्थीयम् । तच्चातिव्यवहि-
तमपि सदित्येवाभिधीयते । यस्मादेवमतिप्रशस्तमेतन्नामत्रयं तस्मादेवतत्सर्वकर्मसाद्रुण्यार्थं कीर्तयेदिति तात्प-
र्यार्थः । अत्र चार्थवादालुपपत्त्या विधिः कल्प्यते 'विधेयं स्तूयेत वस्तु' इति न्यायात् । अदरे तु प्रवर्तन्ते
विधानोक्ताः । क्रियन्ते भोक्षकाद्विभिरित्यदिवर्तमानोपदेशः समिधो यजतीत्यादिवद्विधितया परिणमनीय
इत्याहुः । तसु सत्तावे साधुभावे चेत्यादिषु प्राप्तार्थत्वाच्च संगच्छत इति पूर्वोक्तकृतेण विभिरुत्पत्तेनैव
व्यायसी ॥ २७ ॥

स० टी०—यज्ञे तपसि दाने च या निष्ठा तत्परात्मिकम् ॥ सा सदित्युच्यतेऽभिधैरतेष्वर्थेषु मखादिषु
॥ १ ॥ भवन्तदनुकूलं च कर्म सयाभिधीयते ॥ अथवा यस्य नामदे प्रहणः प्रस्तुतं परम् ॥ २ ॥ तदर्थो
विषयो यस्य प्रदक्षानस्य तत्तथा ॥ प्रदक्षार्णधिया कर्म क्रियमाणं विबुद्धये ॥ ३ ॥ तदर्थीयं सदित्येवं
प्रदास्यमभिधीयते ॥ यथैकैकोऽप्यवयवः प्रदास्यो हीदृशो यतः ॥ ४ ॥ किं पुनस्तस्य सर्वस्य वाच्यं
माहात्म्यमनुवत् ॥ ५ ॥ यस्मादौ समुद्दिष्टाङ्गणवतो नामोन्वदित्यादिकं साद्रुण्यं कुर्वते यदङ्गविकलं
ध्येयं सद्योपासकैः ॥ क्षेत्रं वेदविदो रक्षस्यमसिक्तं नामार्थतो यत्परं तच्छृङ्गणमक्षोभिर्भक्तैः समं ततो भूयाद्वचः
स्वार्थतः ॥ ६ ॥ २७ ॥

भा० टी०—यज्ञ इति । यज्ञे यज्ञकर्मणि या स्थितिस्तथा तपसि या स्थितिः दाने च या स्थितिः सा च
विद्वद्भिः सदित्युच्यते । तदर्थीयं यज्ञदानतपोरर्थीयम् अथवा यस्याभिधानत्रयं प्रकृतं तदर्थीयमीश्वरार्थीय-
मित्येतत्सदित्येवाभिधीयते । तदेतद्यज्ञतपसादि कर्म असात्त्विकं विगुणमभक्तिपूर्वकमपि प्रहणोऽभिधानत्र-
येण सात्त्विकं समुष्णं समस्तिकं संपादितं भवत्यतोऽवश्यमो तत्सदिति प्रहणोऽभिधानत्रयमुदाहृत्य यस्मादि
प्रवर्तनीयमिति प्रकरणार्थः ॥ १७ ॥

प० टी०—किं च—यज्ञ इति । यज्ञे तपसि दाने च स्थितिस्तात्पर्येणावस्थानं तदपि सदित्युच्यते ।
यस्य चेदं नामत्रयं स एव परमात्मेत्यर्थः । तथा तदर्थीयं यज्ञदानतपोनिमित्तं पूजोपहारशृङ्गाङ्गणपरिमार्ज-
नोपलेपनध्वजपताकादि तथोद्यानश्वेत्यर्थनार्जनादि यत्कर्म कृियते तदपि सदित्येवाभिधीयते । यस्मादेवमवि-
प्रदास्यं नामत्रयं तस्मादेतत्सर्वकर्मसाद्रुण्यार्थं कीर्तयेदिति तात्पर्यार्थः । नायमर्थवादः, किं तु प्रहणो
नामनिर्देशस्यातिप्रशस्तत्वाद्विभिरैव कल्प्यते ॥ २७ ॥

११० टी०—भगवान्निष्ठापूर्वकत्वमपि कर्मणः—सात्त्विकत्वेतुभूतं धर्मान्तरमितिभावेन निष्ठापि सच्छ-
ब्दार्थ इत्याह—यज्ञ इति । स्थितिर्निष्ठा । भगवानेभिरवश्यं फलं प्रयच्छतीतिबुद्धिरिति यावत् । किंच भग-
वद्विषयतयाऽनुष्ठानमपि धर्मान्तरमिति भावेनह—कर्ममिति । तदर्थोऽयं सच्छब्दार्थभगवदर्थोऽयम् ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ॥

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्सेत्य नो इह ॥ २८ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु श्रद्धात्रयविभागयोगो

नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

त० टी०—तदेतत्सर्वं श्रद्धयैवानुष्ठेयमिति दृढयितुमश्रद्धया कृतस्य नैष्फल्यं वदन्नध्यायमुपसं-
हरति—अश्रद्धयेति । अश्रद्धया होमदानतपःकृतं यन्नान्यदपि लौकिकं वैदिकं कर्म कृतं तत्सर्व-
मसदित्युच्यते । हे पार्थ तदश्रद्धया कृतं न प्रेत्य परलोकेऽपूर्वाजनकत्वात् नो इह लोके यशःसुखकरं
न भवति, सद्भिर्निन्दितत्वात् “श्रद्धापूर्वं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतत्” इति स्मृतेः । तस्माद्राज-
सतामसमासुरं कर्म विहाय सात्त्विकश्रद्धयैव सर्वं कर्म भगवत्प्राप्त्यर्थमुपलभ्यमानः करणशोधनहेतुतया
ज्ञानभक्तिद्वारेण मोक्षहेतुर्भवतीतीह दर्शितम् ॥ २८ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

म० टी०—यथाहस्यादिना शास्त्रीयं विधिसुस्तुज्य अर्धानवयैव वृद्धव्यवहारमनेन यज्ञतपोदानादि
कुर्वता प्रमादद्वैराग्ये प्राप्ते ॐ तत्सदिति ब्रह्मानिर्देशेन तत्परिहारस्तर्ह्यर्धानवया शास्त्रीयं विधिसु-
स्तुज्य कामकारेण यत्किंचिच्चिदादि कुर्वतामसुराणामपि तेनैव वैगुण्यपरिहारः स्यादिति कृतं श्रद्धया
सार्वकत्वहेतुभूतयेत्यत आह—अश्रद्धयेति । अश्रद्धया यद्युत्तं हवनं कृतमग्नौ दत्तं यत् ब्राह्मणेभ्यः यत्त-
पस्वतं यथान्यत्कर्म कृतं स्तुतिनमस्कारादि तत्सर्वमश्रद्धया कृतमसत् असाध्वित्युच्यते । अत आतत्सदिति
निर्देशेन न तस्य साधुभावः शक्यते कर्तुं सर्वथा तदयोग्यत्वाच्चिदलाया इवाक्कुरः, वत्कस्मादसदित्युच्यते
शृणु हे पार्थ ! चो हेतौ । यस्मात्तदश्रद्धाकृतं न प्रेत्य परलोके फलति विगुणत्वेनापूर्वाजनकत्वात्, नो इह
नापीह लोके यशः साधुभिर्निन्दितत्वात्, अत पेहिकामुष्मिकफलविकलत्वाद् अश्रद्धाकृतस्य सार्वक्या श्रद्धयैव
सार्विकं यज्ञादि कुर्यादन्तःकरणशुद्धये, तादृशस्यैव श्रद्धापूर्वकस्य सात्त्विकस्य यज्ञादेर्देवाङ्गैरुपयज्ञाद्यां
ब्रह्मणे नामनिर्देशेन साहृष्यं संपादनीयमिति परमार्थः । श्रद्धापूर्वकमसार्विकमपि यज्ञादि विगुणं ब्रह्मणे
नामनिर्देशेन सात्त्विकं समुणं च संपादितं भवतीति भाष्यम् । तदेवमस्मिन्नध्याये आहस्यादिनाऽनादृतशः
ज्ञाणा श्रद्धापूर्वकं वृद्धव्यवहारमात्रेण प्रवर्तमानानां शास्त्रानादरेणासुरसाधर्म्येण श्रद्धापूर्वकानुष्ठानेन च
देवसाधर्म्येण किमसुरा भगवो देवा नेत्यर्जुनसंशयाविषयाणां राजसतामसश्रद्धापूर्वकं राजसतामसयज्ञादिका-
रिणोऽसुराः शास्त्रीयज्ञानसाधनानिभिकारिणः सात्त्विकश्रद्धापूर्वकं सात्त्विकयज्ञादिकारिणस्तु देवाः शास्त्री-
यज्ञानसाधनाधिकारिण इति श्रद्धात्रैविध्यप्रदर्शनमुखेनाहारादित्रैविध्यप्रदर्शनेन भगवता निर्णयः कृत
इति सिद्धम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्रजकाचार्यश्रीकृष्णेश्वरसरस्वतीपादशिष्यमधुसूदनसरस्वतीविरचिताया श्रीभ-

गवद्गीतागुर्धार्थव्याख्यायां श्रद्धात्रयविभागयोगविवरणं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

श्लो० टी०—श्रद्धाविधुरस्य कर्मणो निष्फलत्वमाह—अश्रद्धयेति । अश्रद्धया श्रोते समां च कर्मणि
यद्यसौ हृत् यदसौ दकादिकं ब्राह्मणेभ्यो दत्तं यच्छरीरादिलक्षणं तपस्वतं यदन्यत् स्तोत्रमन्त्रजपादिकं
कर्म कृतं भवति तत्सर्वमसनिष्फलमेव भवति । तदेव विस्पष्टयति—नचेति । शरीरादिवहुप्रयासेन कृतं
भक्तिश्रद्धाविधुरं यत्सर्वं कर्म प्रेत्य परलोके सुखाय न भवति नो इह पेहिकसुखाय च न भवति, श्रद्धा-
नेधुर्यान्मन्त्रादिलोपाय, वत्कर्म-देवा अपि नालुमन्यन्ते तेन च क्षिप्ता अन्यतः श्रद्धाशून्यं कर्म निष्फल-
मेवेत्यर्थः । नन्वश्रद्धया देयमिति विधिप्रलादश्रद्धया कृतमपि कर्म दानादिकलवदेव स्यादिति चेत्सत्यं,
यद्यप्यश्रद्धया देयमिति श्रूयते तथापि “ केवलाचो भवति केवलशरी ” इति केवलादिनो महापापिष्ठवम-
वप्राप्तिं वशिष्ठतुल्ये त्वश्रद्धया देयमिति दयया श्रूयतेच्यते न तु विधीयते “ यत्किञ्च ब्रह्मचारी च विद्यार्थी
गुरुपोषकः । अन्धगः क्षीणश्रुतिश्च ” इत्यादिषु भिक्षुकैवन्त्येषु वा दोषवस्तु सस्तु न तेषु श्रोत्रियस्य श्रद्धा
जायते । तथापि गृहस्थेकद्वारणानां तेषां गत्यन्तराभावादश्रद्धागामि च दातव्यमेवेत्युच्यते । ‘अश्रद्धया देयं

द्विया देयम्' इति । 'यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः । वर्षन्ते गृहिणं तद्वदाश्रित्येतर आश्रमा' इति न्यायेन । सर्वाश्रमिणा गृहस्थैकस्मरणत्वादानमेव गृहस्थस्येव गृहिणो दानैकप्रधानत्वस्मरणाच्च यथाकथंचिदर्थिन्यो अद्वया वा द्विया वा मिया चाऽवश्यं दातव्यमिति दानस्यावश्यकरणीयत्वं सूच्यते अत्रद्वया देयमित्यादिना । एते नान्यं विधिः । अन्यथा 'अत्रद्वया देयम्' अद्वयमि. समिधये अद्वया हूये हविः ' अद्या कामस्य मातराम् ' इति सर्वस्यापि कर्मणः अद्याप्रधानत्वविधिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तस्माच्छ्रौतं स्मार्तं च कर्म सर्वे अद्वयेव कर्तव्यमिति सिद्धम् ॥ १८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिब्राजकाचार्यश्रीमद्दानन्दभस्मरस्वतीशिक्ष्यश्रीशुंकरानन्द-

सरस्वतीकुलो गौतमात्यर्गवोधिण्या सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

श्री० टी०-इदानीं सर्वकर्मसु अद्वयेव प्रवृत्त्यर्थमद्याकृतं सर्वं निन्दति-अत्रद्वयोति । अत्रद्वया कृतं हवनं, दत्त दान, वस्त्रं निर्वासेतं तपः । यथान्यदपि कृतं कर्म तत्सर्वमसादित्युच्यते । यतस्तत्पक्षे लोका-न्तरे न फलवि बिगुणत्वात् इह न चारिण्डोके फलवि अयस्करत्वात् ॥ २८ ॥

रजस्तनोमयां त्यक्त्वा अद्या सत्त्वमयां भवः । तच्चज्ञानेऽधिकारी स्वाश्रिते सप्तदशे स्थितम् ॥ १ ॥

इति सुयोधिण्या टीकाया श्रीपरस्वामिविरचिताया अद्यात्रयविभाग-

योगविवरणं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

स० टी०-एवं यज्ञादिकं कर्म बिगुणं ह्यपि सार्विकम् ॥ सच्छुद्धापूर्वकं ब्रह्मनामत्रयप्रयोगत्वं ॥ १ ॥ सद्युगं भवतीत्येवं हरिणा समुपेरितम् ॥ इदानीं अद्वया हीनं सर्वं यागादि निष्फलम् ॥ २ ॥ भवतीत्यव एवादौ श्रीमद्भगवता ख्यम् ॥ प्रधानत्वेन सच्छुद्धा यज्ञरानादिकर्मसु ॥ ३ ॥ तूयते निन्दये सर्वे अद्याहीनं मलादिकम् ॥ यत्कृतं हवनं बह्वे दत्तं पात्रेभ्य एव यत् ॥ ४ ॥ अनुष्ठितं तपो यद्य कृतं स्तुत्या-दि कर्म यत् ॥ अत्रद्वया च तत्सर्वमसादित्युच्यते कृतम् ॥ ५ ॥ तच्चअद्याकृतं यस्मात्तामुत्रेह फलमपि । अद्भुतैगुण्यतोऽपूर्वाजनकत्वेन हेतुना ॥ ६ ॥ नापीहास्ति यक्षे लोके निर्वित्तत्वाच्च साधुभिः ॥ अतो सुमुखभिः अद्या संपाद्या सार्विकी तथा ॥ ७ ॥ यज्ञादिकर्म कर्तव्यं चित्तशुद्धपक्षप्रत्यये ॥ ८ ॥ २८ ॥

अद्यात्रैविष्यमादौ सकलमसतपोदानसाधुभ्यदेवो-

रोन्वत्सज्जनानां चोक्तं श्रुतिवित्तकलं यदाविद्यासिद्धे ॥

अद्याहीनं विनिर्णयं सकलमपि कृतं येन संप्रोक्तमित्यं

तं श्रीकृष्णं गुरुणामपि परममुक्त भूरिभावैर्नोऽस्मि ॥ १ ॥

रजस्तनोदुःखनिदानमाराख्यक्त्वा समाश्रित्य युगं विमुह्यम् ॥

इदं पदाम्बोजयुगं सुदैव ध्यात्वेव मोक्षो भवपाशवन्धात् ॥ २ ॥

सत्राप्यसामर्थ्यवता जनानां यज्ञादि साधुभ्यकरं हि विष्णोः ॥

नामत्रय दोषव्यापार्हं तज्योक्तं सुमुख सततं भजेव ॥ ३ ॥

अनादिनिर्णीतमिदं सर्वं यत्सर्वेषु यज्ञादिषु नाम विष्णोः ॥

प्रधानमस्तीत्यत एवदेव स्मृत्वा विमुच्येव विकल्पजालात् ॥ ४ ॥

इति भावप्रकाशे श्रीसुदानन्दविदा कृते ॥ अद्यात्रैविष्यबोधोऽयं पूर्वं सप्तदशो गतः ॥

टीकाश्लोकसंख्या ॥ १३९ ॥ आदितटीकाश्लोकसंख्या ॥ ४९७० ॥

भा० टी०-तत्र सर्वत्रास्तिक्यलक्षणाया अद्यायाः प्रधानतया सर्वं तथैव संपाद्यते यस्मात्तस्मादयद्व-

या हुतं हन्यद्भवनं कृतं दत्तं च ब्राह्मणेभ्यो यत्तपस्ततं यच्चान्यत्कर्म स्तुतिनमस्कारादि कृतं तत्सर्वमसदि-
त्युच्यते सत्प्राप्तिसामर्थादस्ति क्यलक्षणद्वारात्वात् असत्त्वमेव प्रतिपादयति । न च तद्ब्रह्मायामपि प्रेत्य
मृत्वा फलाय नापीह यशोरूपफलाय साधुभिर्निन्दितत्वात् । हुतमित्युक्त्या विहिते कर्मणि श्रद्धावानधिकारी
प्रतिषिद्धे तु श्रद्धारहितोऽपीति बोधितम् । एतेन निषेधलङ्घिनो नास्तिकस्य प्रत्यवायाभावप्रसङ्गो निरस्तः । ननु
“यदेव विद्याया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति” इति श्रुत्या श्रद्धया कृतं वीर्यवत्तरं चेत्
श्रद्धारहितमपि वीर्यवदित्यर्थात् बोधितमिति कथं भगवता प्रोक्तमसदित्युच्यत इति । नैष दोषः । यतः श्रुतिस्थ-
श्रद्धापदं भक्तिरूपश्रद्धापरं स्मृतिस्थं तु विज्ञासात्मकश्रद्धापरम् । एवं च नास्तिक्यबुद्ध्या कृतं सर्वं निर-
र्थकमेवातो नास्ति क्वचं श्रेयोर्थिभिः सर्वथैव हेयमिति भावः । पृथापुत्रस्य तव तु कदापि तन्नोचितमिति
सूचयन्संबोधयति—मार्थेति ॥ २८ ॥

तदनेन सनदशाध्यायेन श्रद्धाद्वित्रैविध्यं निरूपयता शास्त्रानभिज्ञानामपि सात्त्विकश्रद्धावता राजस-
तामसाहारादिपरिवर्जनेन सात्त्विकाहारादिसेवया सचक्रेक्षणान्ना प्राप्तमपि यज्ञादिवैगुण्यं ब्रह्मनामनिर्देशे-
न परिहरता परिशुद्धबुद्धीना अवणादिना ब्रह्मात्मसाक्षात्कारो भवतीति प्रदर्शितम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यबालकृष्णमीश्रीपादशिष्यदत्तवर्मावतसरामकुमारसूनुधनपातिविदुषा

विरचिताया गीताभाष्योत्कर्षदीपिकाया सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

प० टी०—अथाश्रद्धाकृतं सर्वं निन्दति—अश्रद्धयेति । असद्भावेऽश्रद्धया हुतं होमः, दत्तं दानं, तप्तं
निर्वर्तितं तपः यज्ञान्वदपि पूर्वोक्तकृतं तत्सर्वमसदित्युच्यते । यतः प्रेत्य लोकांतरे न फलमिति विगुण-
त्वात् । नेह चारिमन् श्लोके फलति अयश्शस्तरत्वात् । तस्माद्रजस्तमःप्रधाना श्रद्धा त्यक्त्वा सत्त्वमयी
श्रद्धा अयेदित्यध्यायत्वात्पर्यम् ॥ २८ ॥

अध्याप्यतात्पर्यम् ।

प्राकृतस्कारानुरूपं विधिविधुराधियः श्रद्धया सयजन्ते दानाहारीक्रियायैस्त्रिविधगुणवशात्तत्फलं वै लभन्ते ।
तद्वैगुण्यं निहन्तुं प्रभवति तदोतस्तदेवा त्रिवर्णी तेन ब्रह्मार्पणं स्यादित्येति दक्षमे सप्तयुगे निरुक्तम् ॥ १॥

इति श्रीमद्भगवत्पाण्डितसूर्यविरचिताया भगवद्गीताटीकाया परमार्थप्रपाया

श्रद्धाविकेकी नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

११० टी०—यज्ञादेः सात्त्विकत्वे हेतुभूतधर्मानुत्तत्वा तदन्यथात्वेऽपि हेतुभूतधर्मानाह—अश्रद्धयेति ।
भगवच्छ्रद्धाऽभावेनेत्यर्थः । हुतमित्यादौ शास्त्रानुसारेणेति योज्यम् । भगवच्छ्रद्धा विना शास्त्रानुसारेणानु-
ष्ठितमपि यज्ञोमादिकं तदसदेवोच्यते । तत्रेत्य न च, इह च नो । ऐहिकानुष्मिकपुमर्थप्रदं नेत्यर्थः ।
अतो भगवच्छ्रद्धाभक्त्यादिपूर्वकमेवानुष्ठितोमादीनि इहानुष्मिकप्रदानांति श्रद्धैव प्रयोजिकेति सेव त्रिविधा
भवति श्रद्धेत्यादिना प्राधान्येनोच्यते भावः । वस्तुवस्तु श्रद्धाऽभावे शास्त्रानुसारित्वमेव नेति ज्ञेयम् ॥ २८ ॥

इति श्रीगीतासंग्रहसंग्रहे राधकृष्णविरचिते सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथ अष्टादशोऽध्यायः ।



अर्जुन उवाच-संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ॥

त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

त० टी०-अधेदानीमलसानामत्युद्धीनां मुमुक्षूणापेक्षेनैवाध्यायेन सम्यग्ज्ञातेन सर्वगीताध्या-
यार्थोपगतये सर्वगीतार्थं संक्षिप्य वक्तुमयमध्याय आरभ्यते । तत्र पूर्वोऽध्यायान्ते “कर्म चैव तदर्थीयं
सदित्येवाभिधीयते” इत्यनेन परब्रह्मार्थस्यैव कर्मणः सत्त्वमुक्तं; तेन कर्मफलस्यैव त्यागो न तु कर्मण
इति सूचितम्, “सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्” इत्यनेन द्वादशोऽध्यायेऽपि कर्मफलस्यैव
त्याग उक्तः । पञ्चमे तु “सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी” इत्यनेन कर्मसंन्यास
उक्तः । एवं सर्वकर्मसंन्यासं फलमात्रत्यागेन कर्मातुष्टानं च परस्परविरुद्धं मुमुक्षवे सर्वज्ञो
भक्तवत्सलो भगवान्कथमुपदिशेत् । तस्मात्संन्यासत्यागयोः स्वरूपैर्न भेदो वेति संदेहेन तयोस्तत्त्व-
बुधस्तयाऽर्जुन उवाच-संन्यासस्येति । महाबाहो केशिनिपुत्रेनेति संवोधनाभ्यां शत्रुसंहारार्थं
महान्तौ बाहू यस्य स तथा । दुर्जयमहामुरस्य केशिनः संहारकस्त्वं भक्तस्य ममापि शत्रून्नाशयिष्यसीति
सूचितम् । हे हृषीकेशेत्यनेन सर्वत्रिप्रेक्ष्य ममान्तःसर्वसंश्रयनिवारणक्षमेदानीमिमं (मे) संशयं छिन्धी-
त्याह-संन्यासस्य । संन्यासशब्दादर्थस्य तत्त्वं स्वरूपं याथात्म्यं वेदितुमिच्छामि । त्यागस्य च तत्त्वं
स्वरूपं याथात्म्यं पृथक्वेदितुमिच्छामि । अत्र “वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्ध-
सत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ।” “न कर्मणा न प्रजया न धनेन
त्यागेनैकेनामृतत्वमानुशः” इत्यादिश्रुतिषु संन्यासस्त्यागाश्च भोक्तृसाधनतया विहितः । तथा “सर्व-
कर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी” । “सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्” इति पूर्वं भवता-
ऽपि द्वौ विहितौ । किमेतौ संन्यासत्यागशब्दौ भिन्नार्थाः ? उक्तेऽर्थौ ? यदि भिन्नार्थाः तर्हि पृथक्त्वेन
वक्तव्यौ । यद्येकार्थाः तर्हि तद्वान्तरभेदनिमित्तं वक्तव्यम् । यथाऽहमसंदिग्धं तत्स्वरूपं जानीयां तथा
विविच्य ब्रह्मैत्यभिप्रायः ॥ १ ॥

प्र० टी०-पूर्वोऽध्याये अद्वात्रैविध्येनाऽऽहारयज्ञतपोदानत्रैविध्येन च कर्मणां त्रैविध्यमुक्तं सार्विक-
नामादानाय राजसवामसानां च हान्तव्य । इदानीं तु संन्यासत्रैविध्यकथनेन संन्यासिनामपि त्रैविध्यं
वक्तव्यम् । तत्र तत्त्वबोधानन्तरं यः फलभूतः सर्वकर्मसंन्यासः स चतुर्दशेऽध्याये गुणातीतत्वेन व्याख्या-
तत्वात् सार्विकराजसवामसमेदमर्हति । योऽपि तत्त्वबोधाध्याक् यदर्थं सर्वकर्मसंन्यासस्तत्त्वमुमुक्षुस्तया
वेदान्तवाक्यविचाराय भवति सोऽपि “त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ॥” इत्यादिना निर्गुणत्वेन
व्याख्याय । यस्तत्त्वतुल्यज्ञतत्त्वोपधानात्तत्त्वतत्त्वमुमुक्षूनां च कर्मसंन्यासः “तत् संन्यासी च योगी च” इत्या-
दिना गौणो व्याख्यातस्त्वस्य त्रैविध्यसंभवात्तद्विशेषं तुमुक्षुः अर्जुन उवाच-संन्यासस्येति । अविदुषामनु-
पज्ञाविविदिषाणां च कर्माधिकृतानामेव किञ्चित्कर्मपरिग्रहेण किञ्चित्कर्मपरित्यागे यः स त्यागांशगुणयोगात्
संन्यासशब्देनोच्यते । एतादृशस्यान्तःकरणशुद्धयर्थमविद्वत्कर्माधिकारिकर्तृकस्य संन्यासस्य केनचित्प्रेषण कर्म-
त्यागस्य तत्त्वं स्वरूपं पृथक् सात्त्विकराजसवामसमेदनेन वेदितुमिच्छामि । त्यागस्य च तत्त्वं वेदितुमिच्छामि ।
किं संन्यासत्यागशब्दौ घटपटशब्दाविव भिन्नजातीयाथौ किं वा ब्राह्मणपरिप्राजशब्दाविवैकजातीयाथौ ।
यथायस्तर्हि त्यागस्यै तत्त्वं संन्यासात्पृथक् वेदितुमिच्छामि । यदि द्वितीयस्वरूपान्तरप्राप्तिभेदान्नं वक्त-

व्यम् । एकस्याख्यानेनैवोभयं व्याख्यातं भविष्यति । महाबाहो केशिनिपूदनेति संवोधनाभ्या बाहोपद्रव-
निवारणस्वरूपयोग्यताफलोपपत्तेः प्रदर्शिते । हृषीकेशेत्यन्तरुपद्रवनिवारणसामर्थ्यमिति भेदः । अत्यन्ता-
गारसंवोधनत्रयम् । अत्रार्जुनस्य द्वौ प्रभो कर्माधिकारिकर्तृकत्वेन पूर्वोक्त्यज्ञादिसाधर्म्येण संन्यासशब्द-
प्रतिपाद्यत्वेन च गुणादीनासंन्यासद्वयसाधर्म्येण त्रैगुण्यसंभवासंभवाभ्यां संज्ञयः प्रथमस्य प्रश्नस्य बीजम् ।
द्वितीयस्य तु संन्यासस्यागशब्दयोः पर्यायत्वात् कर्मफलत्यागरूपेण च वैलक्षण्योक्तेः संज्ञयः बीजम् ॥ १॥

श्री० टी०—सात्त्विक्या अद्वया क्षमन्वितस्य सात्त्विकैर्यज्ञतपोदानादिभिः परिशुद्धात्मन एव
ब्राह्मणादेर्ज्ञानाधिष्ठार इति सूचयितुं अद्वया यज्ञतपोदानादीनां हेतुत्वोपादेयत्वविज्ञानाय तेषां सात्त्विकत्वा-
दिभेदं च विभज्य सम्यग्दर्शयित्वाऽप्युना त्यागसंन्यासशब्दयोरेकार्थत्वं कान्यनिषिद्धयोरेव त्याग्यत्वं नित्यानां
तु यज्ञदानादीनां नियमेन कर्तव्यत्वं त्यागस्य सात्त्विकत्वादिभेदं नैकैर्गर्भसिद्धिलक्षणहानस्य कर्मणश्च
कर्तुंश्च युद्धेर्धृतेश्च सुखस्य च सात्त्विकत्वं राजसत्त्वं तामसत्त्वं च ब्राह्मणादीनां कर्माणि च तैः प्रसन्नान्त-
करणस्य ज्ञानं तद्वद्वेत्तेर्ज्ञाननिष्ठानां परमात्मस्वरूपवेदनप्रकारं अष्टप्राप्तिं चैवमादिकं सर्वस्य गीताशास्त्रस्य
सर्वोपनिषद् चार्थं सर्वं संगृह्येकत्र प्रतिपादयितुमष्टादशाध्याय आरभ्यते । तत्रार्थे 'मयि सर्वाणि कर्माणि
संन्यस्याप्यारमचेतसा' इति, 'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः, इति, 'संन्यासयोगयुक्तास्मा' इति ॥
'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्' इति, 'सर्वकर्मफलत्यागम्' इति च तत्र तत्र कर्मसंन्यासकर्मफलत्यागौ प्रतिपा-
दितौ । कर्मफलत्यागेन कर्मानुष्ठानं कर्मसंन्यासं चोक्तं स्मृत्वा एकस्मिन्नेवात्रमेव ययोरनुष्ठानानुपपत्तिं
मन्यमानस्तदनुष्ठानप्रकारं ज्ञातुमिच्छुरर्जुन उवाच—संन्यासस्येति । संन्यासस्य संन्यासशब्दार्थस्य त्या-
गस्य त्यागशब्दार्थस्य च, चः समुच्चयार्थः । पृथग्विभज्य तत्त्वं यागार्थं मिश्रितमर्थं स्वतो वेदितुमिच्छामि ।
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्येति, योगसंन्यस्तकर्माणिमिति, सर्वकर्मफलत्यागमिति च तत्र तत्र त्वयोक्तयोः
संन्यासस्यागशब्दयोः प्रत्येकमर्थविशेषं विज्ञातुमिच्छामि । हे केशिनिपूतन केशिनामानं दैत्यं निपूतितवा-
निति हे केशिनिपूदनेति संयुद्धिः । गृहमेधिविषये यथा ब्रह्मचर्यशब्दस्य यथा वाज्रहंसाशब्दस्य चार्थविशेषतया
संन्यासशब्दस्य त्यागशब्दस्य चार्थविशेषो वक्ष्यते इत्यर्थः ॥ १ ॥

श्री० टी०—न्यासस्यागविभागेन सर्वगीतार्थसंग्रहम् ॥ स्पष्टमष्टादशे प्राद परमार्थविनिर्णये ॥ १ ॥
अत्र च 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वक्षी । संन्यासयोगयुक्तास्मा' इत्यादिषु कर्म-
'संन्यास उपदिष्टः, तथा 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृष्टो निराश्रयः । सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु
यत्तत्तत्त्वम् ॥' इत्यादिषु च फलमप्रत्यागेन कर्मानुष्ठानमुपदिष्टम् । न च परस्परं विरुद्धं सर्वज्ञः परमका-
रुणिको भगवानुपदिशेत् । अतः कर्मसंन्यासस्य तदनुष्ठानस्य चाविरोधप्रकारं युमुत्तरार्जुन उवाच—संन्या-
सस्येति । भो हृषीकेश सर्वेन्द्रियनिग्रामक हे केशिनिपूतन केशिनाम्नो हि महदो ह्याकृतैर्दैत्यस्य युद्धे
सुरेण व्यादाय भक्षयितुमागच्छतोऽत्यन्तं व्यासे मुने वामनाहं प्रवेश्य तत्क्षणमेव बिभृक्षेन तेनैव, बाहुना
कर्कटिकाफलवत्तं विद्वार्थं निपूतितवान् । अत एव हे महाबाहो इति संबोधनम् । संन्यासस्य त्यागस्य च
तत्त्वं पृथग्विवेकेन वेदितुमिच्छामि ॥ १ ॥

स० टी०—अष्टादशान्दार्ष्टिकं निगमाशिरसा भावविषयं मुनीन्द्रैरापार्ष्णं परमपदमीशानमकल्पम् ॥ विशु-
द्धा सत्त्वत्या सपदि मुनयैः प्राप्यमयुधं मुकुन्दं बन्देऽहं भगवतिमिरविष्णुसिंहरजम् ॥ १ ॥ शरण्यं
सुरार्थं सनकमुत्तमसङ्गैर्हृदि धृतं महायोगेशानं सुरनरजगदेतुममकल्पम् । चिदानन्दारं सत्त्वसत्तारं
हरिपदं सदा स्मारं स्मारं भवजलधिपरं सुकलयै ॥ २ ॥ प्राग्निस्त्रितया प्रोक्तं विस्तरेण यवततः ॥
आचार्यमुपसंहार्याधुना संक्षेपतोऽखिलम् ॥ १ ॥ अत्रायामेन धोभार्थमभिव्यक्तुमुपक्रमः ॥ गीताशास्त्रस्य

सर्वस्याध्यायेऽस्मिन्नर्थसंग्रहः ॥ ४ ॥ वेदार्थस्य च सर्वस्य वक्तव्योऽस्तीत्यवोऽर्जुनः ॥ अद्वैतैकियतः पूर्वा-
ध्याये यथादिकर्मणाम् ॥ ५ ॥ त्रैविध्यमुक्तमाकर्ण्य संन्यासेऽप्यस्ति संभवः ॥ त्रैविध्यस्येति जिज्ञासु-
वाच श्रीहरिं प्रति ॥ ६ ॥ कर्मभिक्षारिणामेव किञ्चित्कर्मपरिग्रहत् ॥ किञ्चित्कर्मपरित्यागस्यागाशगु-
णयोगतः ॥ ७ ॥ संन्यासशब्दतः प्रोक्तस्तस्य चित्तविशुद्धये ॥ अविद्वत्कर्तृकस्यापि संन्यासस्य यथार्थतः
॥ ८ ॥ पृथक्स्वरूपमिच्छामि वेदितुं गुणभेदतः ॥ त्यागस्यापि स्वरूपं च सम्यगिच्छामि वेदितुम्
॥ ९ ॥ संन्यासस्यागशब्दो किं भिन्नार्थो वैकवाचकौ ॥ आद्यश्लोकादिं संन्यासात्तत्त्वं त्यागस्य वै पृथक्
॥ १० ॥ इच्छामि बोद्धुमन्यश्लेदेकेनोभयनिर्णयम् ॥ द्वाभ्या संवोधनाभ्यां च बाह्योपद्रववारणे ॥ ११ ॥
सामर्थ्यं दर्शयिष्वान्वयतरोपनिवारणे ॥ द्वयीकेशेति सामर्थ्यं भक्तानामिति दर्शितम् ॥ १२ ॥ हरावत्य-
नुरागाद्वा क्षेत्रं संवोधनत्रयम् ॥ १३ ॥ १ ॥

भा० टी०—नमः सोमाय मत्तार्चयि मक्षारये ॥ कृष्णायाकृष्णरूपाय विष्णवे शंभवे
नमः ॥ १ ॥ पूर्वाध्यायैर्विस्तरेणेतत्ततो विक्षिप्ततयोक्तमर्थमुपनिपत्सु चेतस्त्वो विस्तृतमर्थं सुप्रप्रतिपत्तये
उपसंहृत्य वक्तुमयमभ्यास आरभ्यते । अतीवाध्यायेपूक्तस्य सर्ववेदार्थस्यास्मिन्नध्यायेऽगम्यमानत्वात् ।
अर्जुनस्तु संन्यासस्यागशब्दार्थबोधे च विशेषं वृत्तुस्तु कवाच—संन्यासस्येति । संन्यासस्य संन्यासशब्दार्थस्य
त्यागस्य च त्यागशब्दार्थस्य च पृथगन्योन्यविभागवत्स्वरं याथात्म्यं वेदितुं ज्ञातुमिच्छामि । हे महाबाहो
इति संवोधनम् तव बाहुतो जातेः क्षत्रियैः महाबाहुभिरिवैराह्यादिसाधये कर्मण्यपि कृतैरक्षैश्च कृतस्य सं-
न्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं पृथक्वेदितुमिच्छामीति ध्वनयति । सर्वेन्द्रियनियन्तुरन्तर्भावमिणः सर्वज्ञस्य सद्-
भिप्रायानुसारेणैतत् कथनं सुकरमिति घोषयन्नाह—द्वयीकेशेति । स्वप्नसुखायै केदयादिदुष्टनिवृत्तस्य तव
स्वभक्तस्य ममाप्यज्ञाननिवृत्तं सुकमेवेति सूचयन्संवोधयति—केशिनिवृत्तेति ॥ १ ॥

प० टी०—अन्तर्ध्यामिस्वरूपेण गुरुणा येन दर्शितम् । निजस्वरूपं वं बन्धे गोविन्दमजमद्वयम् ॥ १ ॥
पूर्वं पश्चिमाध्याये 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य' इति तथा 'संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि'
इत्यादिवाक्यैः कर्मसंन्यासः प्रशंसितोऽनन्तरं सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुर्वित्यादिना फलप्राप्त्यग्रेण कर्मानु-
ष्ठानमुपदिष्टम् । तत्परस्परविरुद्धमिति संदेहे तयोस्तत्त्वं जिज्ञासुर्जुनः पुनः पृच्छति स्म—संन्यासस्येति ।
भो द्वयीकेश सर्वेन्द्रियेश स्वामिन् संन्यासस्य फलत्यागस्य च तत्त्वं रहस्यं पृथक्वेदितुं पृथक्प्रकारेण
ज्ञातुमिच्छामि । केशिनाम्नो हयाकृतेर्देवस्य युद्धे वर्तमानवामबाहुप्रसारप्रवेशनेन च निषिद्धितवान् नाशित-
धानत एव महाबाहो इति संबुद्धिः । केदयादिसद्वादेत्यवारणसमर्थस्य तवास्मत्संदेहाप्रकरणे कियाना-
यास इत्यर्थः ॥ १ ॥

रा० टी०—पूर्वाध्यायेषु सर्वेषु 'त्रैगुण्यविषया वेदा' इत्यादिना यत्पुण्यहेतुज्ञानसाधनं विप्रकीर्णतथोक्तं
तद्विद् मन्दानां बुद्धयारोहाय संक्षिप्य निरूप्यते । तथा चतुर्दशाध्यायोक्तं त्रिगुणकार्त्तं चोच्यते । संन्या-
सश्चैव योगश्चेत्यादिना पञ्चमादौ संन्यासस्य त्यागाच्छान्तिचरनन्तरमिति द्वयशे त्यागस्य च पुनर्हेतुत्वमु-
क्तम् । तयोः स्वरूपनिर्णयाय पृच्छति—संन्यासस्येति । हे द्वयीकेश सर्वेन्द्रियप्रभामिन् । केशिनामकामुर-
मर्दन । संन्यासस्य त्यागस्य च पृथक् तत्त्वं स्वरूपं वेदितुं ज्ञातुमिच्छामि । द्वयोःपि शब्दयोरुपायवोऽर्थस्य-
प्रतीतिरिति भावः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ॥

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

त० टी०—अथैतयोः स्वरूपैक्यं यथा स्यात्तथा वक्तुं तावदस्मिन्विषये मतान्तराणि दर्शयन् श्रीभगवानुवाच—काम्यानामिति । “स्वर्गकामो यजेत । पुत्रकामो यजेत । वापयं श्वेत-
मालभेत् भूतिकांमः” इत्यादिभिर्वाक्यैः सकाममधिकृत्य विहितानां पशुभागपुत्रेष्ट्यादीनां कर्मणां
न्यासं त्यागमनुष्ठानं संन्यासं संन्यासशब्दार्थं कवयः केचित्प्रष्टिता विदुर्जानन्ति । तथाऽऽह मनुः—
“मोक्षार्थं न प्रवर्तेत तत्र काम्यानिषिद्धयोः । नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया ।” इति
नित्यनैमित्तिकानामनुष्ठीयमानानां सर्वेषां कर्मणां फलत्यागं त्यागशब्दार्थं प्राहुर्विचक्षणा विवेकिनः ।
फलत्यागेनापि त्यागशब्दस्य मुख्यार्थत्वात् । ननु “अहरहः सन्ध्यामुपासीत । यावज्जीवमग्निहोत्रं
जुहोति” इत्यादिषु फलश्रवणाभावाद्येषां फलमेव नास्ति कथं तत्त्यागवचनमिति चेन्न “धर्मेण
पापमपनुदति । कर्मणा विद्वेकोः” इत्यादिश्रुतिषु श्रवणमत्र तत्त्यागस्य संभवत् । किंच “अवि-
द्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायाऽमृतमश्नुते” इति श्रुतौ अविद्याशब्दनिर्दिष्टस्ववर्णाश्रमोचितकर्मणो मृत्यु-
शब्दनिर्दिष्टप्रमादतरणोपायस्वरूपफलस्यापि सत्त्वात् । “स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते
नरः” इति भवता वक्ष्यमाणत्वाच्च । तदत्यागे दोषाभावात् । काम्यकर्मणां तु “गतागतं कामकामा
लभन्ते” इति संसरणहेतुत्वाभिधानाच्च मृत्युतरणोपायसिद्धिहेतुत्वसंभावनाऽपीत्यलं विस्तरेण ॥ २१ ॥

म० टी०—तत्रानित्यस्य सूचीकटाह्न्यायेन निराकरणाद्योत्तरम्—काम्यानामिति । काम्यानां फलकाम-
नया चोदितानामनन्दकरणशुद्धावतुषुकानां कर्मणामिति पशुसोमादीनां न्यासं त्यागं संन्यासं विदुर्जा-
नन्ति कवयः सूक्ष्मदर्शिनः केचित् । “तमेवं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविर्दिपन्ति यस्मै वदनेन वपसाऽनाश-
केन” इति वाक्येन वेदानुवचनशब्दोपलक्षितस्य ब्रह्मचारिधर्मस्य यज्ञशान्तिशब्दाभ्यामुपलक्षितस्य गृहस्थ-
धर्मस्य तपोऽनाशकशब्दाभ्यामुपलक्षितस्य वानप्रस्थधर्मस्य नित्यस्य नित्येहितेन पापक्षयेण द्वारेणात्मज्ञा-
नार्थत्वं बोध्यते । न च विनियोगवैयर्थ्यं “ज्ञानमुत्पद्यते पुंसा क्षयात्पापस्य कर्मणः” इत्येतेनैव लक्ष्यत्वा-
दिति वाच्यम् । विनियोगाभावे हि सत्यपि नित्यकर्मस्तुष्ट्याने ज्ञानं स्याद्वा न वा स्यात्, सति तु विनियोगे
ज्ञानमवश्यं भवेदेवेति नियमार्थत्वात् । तस्मात्प्रित्यकर्मणामेव वेदने विविदिषाया वा विनियोगात् सत्त्वशु-
द्धिविविविषोत्पत्तिपूर्वकवेदनाधिना नित्याभ्येव कर्माणि भगवदर्पणपुद्गलाऽनुष्ठेयानि । काम्यानि तु सर्वाणि
सफलानि परित्याग्यानीत्येकं मतम् । अपरं मतं सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्याग विचक्षणा, सर्वेषां काम्या-
नां च प्रतिप्रदोषफलत्यागं सत्त्वशुद्धपथितया विविदिषासंयोगेनानुष्ठानं विचक्षणा विचारकुशलास्यतां
प्राहुः । “स्मादिदो यूपो भवति” “स्मादिदं वीर्यकामस्य व्यूषं करोति” इत्यत्र व्यैकस्य स्मादिदेवत्वस्य क्रतुप्रकरण-
पाठात् फलसंयोगाच्च क्रत्वर्थत्वं पुरुषार्थत्वं च प्रमाणभेदात् यथाऽग्निहोत्रेष्टिपशुसोमानां सर्वेषामपि शवप-
थपाठितानां चोत्सृष्टिविधिः सद्धानां तत्फलसंयोगा प्रत्येकवाक्येन विविदिषासंयोगश्च यथादिवाभ्येन क्रियत
इत्युपपन्नम् “एकस्य तुभयत्वे संयोगपुन्यत्वम्” इति न्यायात् । बहुक्तं सक्षेपशरीरे—यस्मैनेत्यादिवाक्यं शतप-
थविरहितं कर्मवृन्दं गृह्णीत्या स्वोत्पत्त्याज्ञानसिद्धं पुरुषविविदिषामात्रस्याप्ये युनक्ति ॥” इति । तस्मात्काम्यानामपि
फलभिसंभिन्नमृत्वाऽनन्दकरणशुद्धये कर्तव्यमानि । न ह्यग्निहोत्रादिकर्मणा स्वतः काम्यत्वनित्यत्वरूपो विशेषो-
ऽस्ति । पुरुषाभिन्नपदभेदकृतस्तु विशेषे फलभिसन्निधत्वागे कुतस्त्यः । नित्यकर्मणा च प्राविशिरूपफलसद्भावम्
“अनिष्टमिष्टं मित्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्” इत्यत्र वक्ष्यति । नित्यानामेव विविदिषासंयोगेन काम्यानां
कर्मणा फलेन सह स्वरूपतोऽपि परित्यागः पूर्वार्थस्यार्थः । काम्यानां नित्यानां च संयोगवृथ्यत्वेन
विविदिषासंयोगवृथ्यं स्वरूपतोऽनुष्ठानेऽपि प्राविशिरूपफलाभिसंभिन्नापरित्याग इत्युत्तरार्थस्यार्थः । तदेतदा-
दुर्वातिरुद्धवे—“वेदानुवचनादीनामेष्टम्यज्ञानजन्मने । समेतमिति वाक्येन नित्यानां वक्ष्यते विधिः ॥ यद्वा

विविदिषार्थत्वं सर्वेषामपि कर्मणाम् । तमेवमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः । इति । तदेवं सफलकाम्य-
कर्मत्यागः संन्यासशब्दार्थः । सर्वेषामपि कर्मणां फलमिसंधित्यागस्त्यागशब्दार्थः इति न धटपटशब्दयोरिव
संन्यासस्त्यागशब्दयोर्मित्रजगदीयार्थत्वं किं त्वन्तःकरणशुद्धयर्थकमनुष्ठाने फलमिसंधित्याग इत्येक एवार्थ
उभयोरिति निर्णयत एव, प्रश्नोऽर्जुनस्य ॥ २ ॥

श्लो० टी०—एतद्वचनमुनप्रशस्तत्वात्सर्वं विद्वत् “संन्यासस्योपायतय इति” “त्यागोनेके अमृतत्वम्” इति
अवघात् मयेदं संन्यस्तं त्यक्तमिति संन्यासस्यागशब्दयोर्येके वेदे च विसर्ग एक एवार्थो न स्वयान्तर-
मस्ति, तथापि गृहिर्विषये तयोरर्थे केचिदन्यथा वर्णयन्ति तेषां मतमिमं वक्ष्यामि शृण्वति श्रीभगवानुवाच—
काम्यानामिति । पुत्रकामो यजेत, स्वर्गकामो यजेत, पशुकामो यजेतेति एवं कामोपवन्द्येन विद्वानां
काम्यानां ज्योतिष्टोमादिकर्मणां न्यासं परित्यागमेव गृहस्थस्य संन्यासमिति केचिरुपपद्यते विद्वांसो विदु-
र्जानन्ति । काम्यकर्मपरित्याग एव मुमुक्षोर्गृहिणः संन्यास इति वदन्तीत्यर्थः । केचित्पदं सर्वत्रान्येति ।
केचिद्विचक्षणः पण्डिताः सर्वकर्मफलत्यागं सर्वेषां काम्यानामकाम्यानां नित्यनैमित्तिकानां च कर्मणां
फलत्यागं फलमात्रस्य परित्यागं त्यागं संन्यासं प्राहुः । कामेन वाऽकामेन वा विविना कर्मव्यवत्वेन प्राप्तानि
वैदिकानि कर्माण्यनुष्ठेयश्रार्षणयुद्धा वत्फलपरित्याग एव गृहिणोऽधिष्ठितस्य संन्यासो न तु कर्मत्याग
इति केचिद्वदन्तीत्यर्थः । ननु यः पशुकामः स्यात्स एतं प्राजापत्यमगं तूवरमालमेव स वा एतस्मै प्रजा
पशून् प्रजनयति” इति काम्यकर्मणां यथा फलं व्यूषे, न तथा “अहरहः संन्यामुपासीत । सायं प्रातर-
मिहोत्रं जुहोति । अहरह्यंजमानः स्वपमेवामिहोत्रं जुहोति” इत्यादिषु नित्यानां कर्मणां फलं व्यूषे । कव-
मविद्यमानस्य फलस्य त्याग उपपद्यते ब्रह्मचारिणो भार्यात्यागवदिति चेन्न ‘कर्मणा पितृलोकः’ इति ‘धर्मेण
पापमपनुवति’ इति ‘सर्वे एते पुण्यलोकं भवन्ति’ इति ‘अग्नेर्नुत्वा विभानेन यत्पुण्यं फलमाप्नुयात्’ इति
नित्यानामपि फलप्रवणत्वात् । ‘अनिष्टमिष्टं मित्रं च’ इति सगवतापि नित्यानां फलमुच्यते, ततोऽस्त्येव नित्या-
नामपि फलमन्यथा फलत्यागविधानायोगात्सामुक्तमेवोक्तं ‘सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणा’ इति ।
ततः सिद्धं गृहिणां कर्मफलत्याग एव त्यागः संन्यासो न तु सर्वकर्मत्याग इति ॥ २ ॥

श्री० टी०—उत्रोत्तरं श्रीभगवानुवाच—काम्यानामिति । “पुत्रकामो यजेत । स्वर्गकामो यजेत”
इत्येवमादिकामोपवन्द्येन विद्वानां काम्यानां कर्मणां न्यासं परित्यागं संन्यासं कवयो विदुः—सम्पत्फलैः
सह सर्वकर्मणांमपि न्यासं संन्यासं पण्डिता विदुः जानन्तीत्यर्थः । सर्वेषां काम्यानां नित्यनैमित्तिकानां
च कर्मणां फलमात्रत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणो विपुष्ठाः न तु स्वरूपतः कर्मत्यागम् । ननु नित्यनैमित्तिक-
कानां फलप्रवणत्वादिविद्यमानस्य कर्म त्यागः स्यात् ? नहि वन्त्यायाः पुत्रत्यागः संभवति । उच्यते, यद्यपि
स्वर्गकामः पशुकाम इत्यादिवत् “अहरहः संन्यामुपासीत । यावज्जीवममिहोत्रं जुहोति” इत्यादिषु
फलविशेषो न व्यूषे तथाप्युपपत्त्यर्थं व्यापारे प्रेक्षावत्त्वं प्रवर्तयितुमशक्तुवत् विधिर्विश्रजिता यजेतेत्या-
दिविव सामान्यतः किमपि फलमाधिपत्येव । नचावीवशुकमतश्रद्धया स्वचिद्धिरं विवेके प्रयोजन-
मिति मन्तव्यं, पुरुषाश्चतुषपचर्तुषपरिहरित्यात् । व्यूषे च नित्यादिष्वपि फलम् “सर्वे एते पुण्यलोकं
भवन्ति” इति “कर्मणा पितृलोकः” इति “धर्मेण पापमपनुवति” इत्येवमादिषु, तस्माद्युक्तमुक्तम्
‘सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणा’ इति । ननु फलत्यागेन पुनरपि निष्फलेषु कर्मत्वप्रवृत्तिरेव
स्यात्तत्र सर्वेषामपि कर्मणां संयोगशून्यत्वेन विविदिषार्थतया विनियोगात् । तथाच श्रुतिः—“उमेतमा-
त्मानं वेदानुबचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन हानेन वषसाऽज्जशकेन” इति । अतः प्रतिपदोक्तं सर्वं
फलं वन्द्यकत्वेन त्यक्त्या विविदिषार्थं सर्वकर्मलुप्त्यां पटत एव । विविदिषा च नित्यानित्यवस्तुविवेकेन

निवृत्तदेहाभिमानंतया बुद्धेः प्रत्यक्षप्रवणता । तावत्पर्यन्तं च सत्त्वशुद्धयर्थं ज्ञानाविरुद्धं यथोचितमाव-
श्यकं कर्म कुर्वतस्तत्फलत्याग एव कर्मत्यागो नाम न स्वरूपेण । तथाच श्रुतिः “कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजी-
विषेच्छतं समाः” इति । ततः परं तु सर्वकर्मनिवृत्तिः स्वत एव भवति । तदुक्तं नैषधसिद्धौ—‘प्रत्यक्षप्रव-
णतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य श्रुतिः । कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृढन्ते घना इव ॥’ इति । उक्तं च भगवता
‘यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मनृपश्च मानवः । आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥’ इति । वसिष्ठेन
‘चोक्तम्’ न कर्माणि त्यजेयोगो कर्मभिस्त्यज्यते हासौ । कर्मणो मूलभूतस्य संकल्पस्यैव नाशतः ॥’ इति ।
ज्ञाननिष्ठाविशेषकस्वमात्रस्य त्यजेद्वा । तदुक्तं भगवता भागवते—‘राष्ट्रकर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येव
यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा अत्रा यावन्न जायते ॥ ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मन्नक्तो वाऽनपेक्षकः ।
सल्लङ्घानाश्रमांस्त्यक्त्वा शरेरेविधियोचरः ॥’ इत्यादि । अलमतिप्रसङ्गेन प्रकृतमनुसरामः ॥ २ ॥

स० टी०—सूचीफटाहनीत्यादौ पत्रान्त्वस्योच्चरं हरिः ॥ उवाच शृणु काम्यानां चोदितानां फलेभ्यसा
॥१॥ शुद्धबन्धुवृत्तानां पशुसोमादिस्वपिणाम् ॥ त्यागं ज्ञानान्ति संन्यासं कवयः सूक्ष्मदर्शिनः ॥२॥ अन्ये-
ऽनुष्ठीयमानानां सर्वेषामेव कर्मणाम् ॥ धीशुद्धयर्थं फलत्यागं प्राहुस्त्यागं विदा वराः ॥३॥ संयोगस्य
पृथक्त्वेन सर्वेषामपि कर्मणाम् ॥ तमेतमित्तिवाक्येन युष्मत्साया नियोगतः ॥४॥ वेदानुवचनादीनामैका-
त्म्यज्ञानजनने ॥ तमेतमित्तिवाक्येन नित्यानां वक्ष्यते विधिः ॥५॥ यद्वा विविदिषार्थं सर्वेषामपि
कर्मणाम् ॥ तमेतमित्तिवाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः ॥६॥ इत्युक्तं वार्तिके वस्मादेवं सिद्धं विभागशः ॥
काश्यकर्मपरित्यागः संन्यास इति श्रुतिरिति । ७ ॥ “फलमिसंधिसंस्त्यागसंस्त्यागश्चार्थको मतः ॥ धीशुद्ध-
यर्थमनुष्ठाने कर्मणा फलवर्जनम् ॥८॥ वमबोरेक एवार्थः संन्यासत्यागश्चद्वयोः ॥९॥ २ ॥

भा० टी०—एवं पृथो शताजुनाभिप्रायः सर्वेष्वध्यायेषु तत्र वक्ष्यंति विविष्टौ संन्यासत्यागश्चद्वौ न विविक्ता-
र्थावित्यतः प्रसौचित्यं मत्वा वस्मिन्वाच्य श्रीभगवानुवाच—ज्ञास्यानामिति । काम्यानां स्वर्गादिकामनाप्रयुक्ता-
नामश्वमेधादीनां कर्मणां त्यासं परित्यागं संन्यासं संन्यासशब्दार्थमनुष्ठेयत्वेन प्रातानामनुष्ठानं कवयः
पण्डिताः केचिद्विदुः विज्ञानन्ति । नित्यनैमित्तिकानामनुष्ठीयमानानां सर्वकर्मणामात्मसंयन्धितया प्राप्तस्य
फलस्य परित्यागः सर्वकर्मफलत्यागः सं त्यागं त्यागशब्दार्थं विचक्षणः निपुणाः पण्डिताः कथयन्ति ।
तनु नित्यनैमित्तिकानां कर्मणां फलभावात् बन्ध्यापुत्रस्य लाभ इव तेषां फलत्यागासंभवान् उक्तस्यागश-
ब्दार्थो न युक्त इति चेदुच्यते—यद्यपि स्वर्गादिकः पशुकाम इत्यादिवत्संभ्यानुपासीत यावज्जीवमभिहोत्रे
जुहोतीत्यादिषु फलविशेषे न श्रूयते तथाप्यपुरुषार्थव्यापारे प्रेक्षापन्तं प्रवर्षचितुषश्चक्रवर्ण विधिविध्वजि-
न्यायेन किमपि फलमाक्षिपत्येव । श्रूयते च नित्यादिषु फलम् “सर्वं एते पुण्यलोकं भवन्ति । कर्मणा विमृ-
शोक्तः । धर्मेण पापमनुदति ॥” इत्येवमादिषु । वक्ष्यति च भगवान् “अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः
फलम् । भक्त्यत्यागिना प्रेत्य न तु संन्यासिनां कश्चित् ॥” इति । वस्माद्युक्तमुक्तं “सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं
विचक्षणः” इति । नचैवमपि निष्फलेषु कर्मस्वप्रवृत्तिरेव प्रोक्षति वाच्यं, सर्वेषामपि कर्मणां संयोगपृथक्त्वेन
‘तमेतमित्तिवाक्येन वेदानुवचनेन प्राहणा विविदिषन्ति यक्षेन दानेन वपसाऽनाशकेन” इति श्रुत्या विविदि-
षाप्यतया विनियोगात् । तदुक्तं सुरेसरत्नचौरेः ‘वेदानुवचनादीनामैक्यात्म्यज्ञानजनने । तमेतमित्तिवाक्येन
नित्यानां वक्ष्यते विधिः ॥ यद्वा विविदिषार्थं सर्वेषामपि कर्मणाम् । तमेतमित्तिवाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः ॥
इति । वयाच चतुर्थार्थाप्यस्य पारमर्स्यूरं ‘एकस्य लूणपत्ने संयोगपृथक्त्वम्’ इति । ‘सादिरो व्यो
भवति । सादिर् ईर्ष्याकामस्य रूपं कुर्वीत’ इत्यत्रैकस्य सादिरत्यस्योभयत्वे फलवर्षपुरुषार्थत्वरूपोभया-
त्मकत्वे अपनद्वयेन ऋतुशेषत्वपृथुशेषत्वसंयोगभेदावगमात् नित्यानित्यसंयोगविरोधः । तथा सर्वेषां

कर्मणां स्योत्पत्तिविधिसिद्धान्तां प्रत्येकं नाम्येन तत्तत्फलसंयोगः तमेतमितिवाम्येन विविदिषासंयोगश्च सिध्यत इति ॥ २ ॥

प० टी०—एतत्प्रश्नोत्तरं सगवाचनम्—काम्यानामिति । काम्यानीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि तेषां सम्यक् फलैः सह न्यासः परित्यागस्तं कवयः पण्डिताः संन्यासं विदुर्जानन्ति । तथा काम्यातिरिक्तानां सर्वेषां कर्मणां नित्यनैमित्तिकानामवन्तरफलत्वात् विषयः कुशलास्त्यागं प्राहुः । अत्रैतदुक्तं भवति । नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि संन्यासवन्दादीनि । नैमित्तिकानि पुत्रवन्माधतुवन्धीनि जातिप्रादीनि । प्रायश्चित्तानि, पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि । उपासनानि सुगुणब्रह्मविषयमानसध्यापारूपाणि शाण्डिल्यधियादीनि । एतेषां नित्यादीनां युक्तिश्रुतिः परम्प्रयोजनम्, उपासनानां तु तदैकाग्र्यम् “विविदिषन्ति यज्ञेन” इत्यादिश्रुतेः ‘तपसा कल्मषं हन्ति’ इत्यादिस्मृतेश्च । नित्यनैमित्तिकयोरुपासनानां चावान्तरफलं पितृलोकस्यलोकप्राप्तिः “कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोकौ वै लोकानां श्रेष्ठः” इति श्रुतेः । सर्वकर्मफलत्वात् प्राहुः ॥ २ ॥

र० टी०—अथाप्यसितं विवक्षाभेदेन येदं इतिभावेनोत्तरमाह—काम्यानामिति । वैकल्पिककाम्यानां ज्योतिष्टोमादीनां स्वर्गादिफलानिच्छया विशेषणत्वात्तमेन काम्यानां कर्मणां त्यागं नियतकाम्यानां कारीर्यादीनां स्वरूपाकरणेन त्यागं संन्यासं ज्ञानिभ्यो विदुः जानन्ति । विषयः कुशलाः सर्वकर्मणां भाग्यव्यत्ययफलत्वात् त्यागशब्दार्थमाहुर्विचर्यः ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

त० टी०—पुनर्पतान्तरमाह—त्याज्यमिति । एके मनीषिणः सांख्याचार्या दोषवत् हिंसादोषवत्पेन बन्धकमिति हेतोः सर्वं यज्ञादिकं कर्म मुमुक्षुणा त्याज्यमिति प्राहुः । तत्र यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे पण्डिताः कर्मनिष्ठाः प्राहुः ॥ ३ ॥

म० टी०—अधुना द्वितीयप्रश्नप्रतिवचनाय संन्यासत्यागशब्दार्थस्य त्रैविध्यं निरूपयितुं तत्र प्रतिपत्तिमाह—त्याज्यमिति । सर्वं कर्म बन्धहेतुत्वात् दोषवत् दुष्टम् । अतः कर्माधिकृतैरपि कर्म त्याज्यमेवेत्येके मनीषिणः प्राहुः । यद्वा दोषवत् दोष इव यथा दोषो रागादिस्त्यज्यते तद्वत्कर्म त्याज्यमनुत्पन्ननोपैरनुत्पन्नविधिद्विषः कर्माधिकारिभिरपीत्येकः पक्षः । अत्र द्वितीयः पक्षः कर्माधिकारिभिरन्तःकरणशुद्धिद्वारा विविदिषोत्पत्त्यर्थं यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे मनीषिणः प्राहुः ॥ ३ ॥

शं० टी०—एवं संन्यासत्यागयोर्येकत्वेऽपि नक्तमेवेन कार्यकर्तृत्यागास्य सर्वकर्मफलत्वासाय डा संन्यासशब्दार्थस्य प्रतिपाद्य पुनरपि त्यागशब्दस्य मत्तान्तरेणार्थान्तरं वर्णयति—त्याज्यमिति । एके केचन मनीषिणो विद्वांसः दोषवदोषो दूषणं निषेधलक्षणमस्यास्तीति दोषवदोपयुक्तं ‘न कलत्रं भक्षयेत् । न सुरां पिबेत् । इत्यादिशास्त्रप्रतिषिद्धं दुर्गतिदुर्वर्त्येति प्रापकं कलत्रभक्षणमादिलक्षणं पातकं यत्तत्कर्म त्याज्यं त्यक्तव्यमिति प्राहुः । दोषवत्कर्मणस्त्याग एव त्यागो न तु काम्यानां नापि कर्माफलस्य च त्यागशब्दार्थस्तेषां दुर्गतिदुर्वर्त्येतिप्रापकत्वात्मावातफलाभावे प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यसंभवाच्च “यत्कर्म कुरुते यद्विभ्रंषयते” इत्यादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गाच्च । “आन्यनवद्यानि कर्माणि दानि सेवितव्यानि” इत्यदुष्टकर्मणां वैदिकानां कर्तव्यरभ्रवणाच्च । तस्मादोषवत्कर्मणस्त्याग एव त्यागः संन्यास इति केचिद्वदन्तीत्यर्थः । यद्वा मनीषिणः प्रकृतिविकृतिविलक्षणमाप्तानमसङ्गविद्वद्भ्यः सन्तु शीलं वेदमासितं ते मनीषिणः केचित्पण्डिताः भाव्याः—दोषवत् “न हिंसास-

र्वा भूतानि” इति प्राणिमात्रस्य हिंसानिषेधके श्रुतिवचने जायति सति ‘प्राज्ञाणो न हन्तव्यः’ इति निषेधो बुद्धिपूर्वकहिंसाया दोषाधिकत्वबोधनार्थ एव भवति, न तु बुद्धिपूर्विका भूतहिंसा दोषहेतुर्न कर्तव्येत्येवमर्थो भवति । तथात्वे त्वबुद्धिपूर्विकाया हिंसाया दोषाभावप्रसङ्गाद्विशेषविषयनर्थत्वप्रसङ्गश्च । ततो दोषाधिकत्वबोधकत्वमेव विशेषविधेरभ्युपगन्तव्यम् । तेनाप्रीपोमीयपशुहिंसायामपि बुद्धिपूर्वकत्वादोषाधिकत्वमेव भवति । उभयत्रापि बुद्धिपूर्वकत्वाविशेषात्तद्विप्रीपोमीयं पशुमालभेतेतिविधेर्व्यर्थत्वमेव स्यादिति चेन्न । प्रकारान्तरेणार्थवत्तासिद्धेः । रागतः प्राप्तामिपसेवाया अप्रीपोमीयजननव्याजेनाककाशप्रदानपरत्वाद्धिः सार्थ एव भवति । यथा रागतः प्राप्तव्यवायस्य धर्मप्रज्ञासंपत्त्यर्थं स्त्रियमुद्वेहित्येपत्तिः कर्माङ्गव्या सौपरिग्रहविधानव्याजेनावकाशं प्रयच्छन्नर्थवान् भवति तद्वत् । यत एवमतः ‘स्वार्थं हि दोषेण धूमेनाप्रिवावृताः’ इति न्यायेन सर्वमपि कर्म ब्रह्मसाध्यत्वेन हिंसाप्रधानत्वादोषवदेव भवति । दोषवत्त्वेन बन्धकत्वाच्छ्रौतं स्मार्तं च वैदिकं कर्म सर्वमपि स्यादयमेवेति सर्वकर्मत्यागमेव त्यागं प्राहुरित्यर्थः । ननु विहिताकरणे प्रत्यवायः स्यादिति चेन्न । दोषवत्कर्मानुष्ठाने ततोऽधिकतरः प्रत्यवायः स्यादित्याहुः । ततः कलत्रभक्षणक्रियावत्सर्वस्यापि कर्मणो दोषवत्त्वेन तत्प्राप्त्यो न दोषायेति च ते मन्यन्त इत्यभिप्रायः । एवं सांख्यमतभेदेन त्यागशब्दस्यार्थभेदयुक्त्वा मीनांसकर्मवत्त्वेनान्यर्थभेदं सूचयितुमाह—यत्नेति । “अकृत्वा वैदिकं नित्यं प्रत्यवायी भवेन्नरः” इति “यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति” इति “कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतत् समाः” इति “सत्यं वद धर्मं चर” इति “सत्यान्न प्रमदितव्यं धर्मान्न प्रमदितव्यम्” इत्यादिश्रुतिभिः, “श्रीं चापि तथा स्मार्तं कर्मान् लभ्य वसेद्विजः । सद्धिहीनः पतयेव” छालम्बरहितान्धवत् ॥” इत्यादिसृष्टिनिमित्तं वैदिककर्मणो नित्यस्यावश्यकरणायत्वविधानादकरणे प्रत्यवायविधानाच्च ब्राह्मणस्य यज्ञदानतपः यज्ञो दानं तप इत्येवंलक्षणं वैदिकं कर्म न त्याज्यं न कदापि च त्यक्तव्यं, किंतु निरुक्तश्रुतिस्मृतियलायावज्जीवं कर्तव्यमेव । एकाहं जपहीनस्तु संघ्याहीनो दिव्ययम् । द्वादशाहमग्निश्च शूद्र एव न संशयः ॥ अयहं संघ्याविरहितो द्वादशाहं निरमिकः । चतुर्वेदशरो विप्रः शूद्र एव न संशयः ॥ तस्मान्न लङ्घयेत्संघ्यां सार्थं प्रावः समाहितः । वल्लभयति यो मोहात्स याति नरकं ध्रुवम्” इति । संघ्यावदनौपासनाग्निहोत्रादेरुपलक्षणम् “वीरहा वा एष देवानां योऽस्मिन्नासत्ये” इत्यादिश्रुतिस्मृतियुक्त्योऽप्यग्निहोत्रादेः कर्मणः परित्यागे प्रत्यवायाधिक्यश्रवणाद्ब्राह्मणादीनां यज्ञदानत्रिवर्गं वैदिकं कर्म नित्यं नियमेन कर्तव्यमेव । ननु ब्रह्मसाध्यस्य यज्ञदानादेः कर्मणो हिंसावत्त्वेन दोषवत्त्वादोषवत् कर्मणः कथमतुष्टानमुपपद्येत इति चेदुच्यते—‘प्राज्ञाणो न हन्तव्यः’ इत्येतद्वचनं क्रोधतः प्राप्तं ब्राह्मणवधं दोषाधिकत्वं वदन्निषेधयति, न तु बुद्धिपूर्वकहिंसामात्रे सर्वत्र दोषाधिकत्वं बोधयति, विशेषविधेः स्वविधेयमात्रविषयत्वात् । ब्राह्मणान् सर्वान् भोजयेदेवदत्तं न भोजयेदित्यत्र निषेधस्य स्वविधेयमात्रविषयत्वदर्शनाच्चोऽप्रीपोमीयपशुहिंसामौ दोषाधिकत्वं बोधयितुं न शक्नोति स्वविधेयमात्रोपलक्षणस्याद्विशेषस्य । नापि ‘न हिंसात्सर्वा भूतानि’ इत्यर्थं निषेधोऽपि यागीयपशुहिंसायां सामान्यतोऽपि दोषमात्रं ज्ञेयं कल्पते सामान्यतो विशेषतः वलीयत्वात् । ‘अन्नं न प्रतिगृहीयात् प्राणिः कण्ठादेरपि’ इत्येतां निषेधप्रोक्षणा ‘याधयेच्छ्रेणियस्यान्नम्’ इत्येतस्य विधेयस्यैव सत्त्वावगमात् । ब्राह्मणान् सर्वान्नारय, देवदत्तं भोजयेत्तत्र विशेषस्य वलीयत्वदर्शनाच्च सामान्यस्य वृणुगुत्तमच्छेदो सायकाशत्वाच्च । ‘सायकाशनिरवकाशोर्निरवकाशं वलीयः’ इति निरवकाशस्य वलीयस्वरूपमरणाच्च । ततो यागीयपशुहिंसायाः सामान्यतो विशेषतश्च दोषान्धः संपादयितुं न शक्यते । किंच ‘मनुष्यं च यज्ञे च फिये देवे च कर्मणि । अत्रैव पशवो हिंसा नान्यत्रैव श्रणीन्तुः’ इति ‘अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र वीर्येभ्यः’ इति उपनिषो यज्ञादिभ्योऽन्यत्र भूतान्यहिंसाभिवि भूतहिंसानिषेधस्य यागीयव्यतिरिक्तहिंसाविषयत्वश्रवणाद्विधेयाव्यतिः ‘या-

चयेच्छ्रोत्रियस्यान्नं तदभावे जलं पिबेत्' इतिविध्युक्तायाः श्रोत्रियाब्राह्मणकियाया निर्दुष्टत्वं पात्रकृत्वं च यथा, तथा चार्गीयपशुहिंसाया अपि विध्युक्ताया निर्दुष्टत्वं पावनत्वं चावगम्यते । तथैव श्रूयते "धर्मेण पाप-
मर्त्यनुदति । उत्साद्धर्मं परमं वदन्ति । तपसा कर्मणं हन्ति । प्राद्वणा विविदिषन्ति यक्षेन वानेन तपसा' इति ।
तस्माद्प्राद्वणादेर्यज्ञज्ञानादित्यक्षेणं नित्यं वैदिकं कर्मावयकमनुप्राप्तव्यमेव न कदा पित्याज्यम् किंतु 'न तु
काम्यं समाचरेत् । न कलञ्चं भक्षयेत्' इत्यादिवचनात्काम्यं निषिद्धं चैतद्व्ययमेव त्याग्यमिति काम्यनिषि-
द्धत्या एव त्यागो न तु कर्मफलत्यागमत्याग इत्यपरे केचन मनीषिणो वैदिकश्रोमणयो मीमांसकाः प्राहु-
रित्यर्थः । ननु 'संन्यासस्य मदानाहो वस्त्रमिच्छामि वेदितुम्' इत्यर्जुनकृत्प्रभस्य विषयो मृत्युसंन्यासो वा
उद गौणसंन्यासो वा । आद्ये स विद्वत्संन्यासो वा किं विविदिषासंन्यासो वा । नाद्यः विद्वत्संन्यासस्य
निहण्टमिकस्यासंभवात्तामसः परिकीर्तित इति वक्ष्यमाणचामसादिभेदानुपपत्तेः । सति विदुषः कर्मणि कर्तव्ये
तत्संन्यासस्य विकल्पाः स्युः नास्ति । "तस्य कार्यं न विद्यते" इति "चैवास्ति किंचित्कर्तव्यम्" इति विदुषः
सर्वकर्माभावश्रवणात् । ज्ञानयोगेन साध्यानामपि प्रज्ञाविदा यतीना ज्ञाननिष्ठापरत्वविधानाच्च नास्ति विरु-
त्पावकाशः । ननु यावज्जीवमभिहोत्रं जुहोतीत्यादिविधिष्वित्यादिदुषोऽपि कर्म कर्तव्यमेवेति चेन्न, विधेमिध्या-
स्त्रोपपत्तेः । 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' इति द्वैतस्य सर्वस्य मायामात्रत्वेन मिध्यात्वे सिद्धे तदन्तःपातितः कर्मवि-
धेरापि शुक्तिजतवन्मिध्यात्वेन यत्तासंभवात् स्वसिध्यात्वं दर्शितं प्रवि नियोक्तव्ययोगात् । तदिह मिध्याभूतं
रजतं स्वस्त्वधेदिनं पुरुषमादानाद्दोषं प्रवर्तयितुं शक्नोति । तद्वन्मिध्याभूतः कर्मविधेरापि विद्वत्सं न प्रवर्तयितुं
शक्नोतीत्यर्थः । न द्विवीच्यः । सर्वतो विरक्तस्य विदुषः कर्मणा साध्यमपश्यतः काम्यकर्मपरित्यागेन वा
कर्मफलत्यागेन वा कर्मानुष्ठानानुपपत्तेः । चित्तशुद्धये कर्म कर्तव्यमेवेति चेन्न । सर्वतो विरक्त्यतिरिक्तचित्तशु-
द्धपन्तराभावात् । विधिबलादौश्वर्यास्त्यै कर्म कर्तव्यमेवेति चेन्न 'यदहरेव विरजेच्छदहरेव प्रजजेत्' इति त्याग-
विधेस्तथोऽपि प्रनस्तत्वात् । 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न विधिष्वेत यावत् । मत्कृपाश्रवणादौ वा ब्रह्मा यावन्न
आये ॥ जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्वैतकर्मचोदनाम्' इतिश्वरेणैव जिज्ञासोर्वैद्युपेक्षाविधानात् । दूरेण
ह्यवरं कर्मेति मुमुक्षोर्विरक्तस्य कर्मनिन्दापूर्वकं श्रवणपरत्वविधानाच्च । 'आत्मन्यमीनं समारोप्य प्राद्वण-
प्रघ्ननेदृहान्' इति विविदिषोः सर्वकर्मसंन्यासस्मरणात्ततो विविदिषोरपि कर्मसंबन्धासंभवेन निहकविरु-
त्पानामवकाशः संभवति । ततो गौण एव संन्यासो गृहीतनिष्ठः प्रभस्य विषयो, न तु मुख्य इति सिद्धम् ।
जिज्ञासिवो गौण एव संन्यास इत्यत्र प्रमाणं पूर्वोक्तगीवाचनान्येवेति योज्यम् ॥ ३ ॥

श्री० टी०—अविदुषः फलत्यागमात्रमेव त्यागशब्दार्थो न कर्मत्याग इत्येतदेव मतान्तरातिरासेन दृढी-
कर्तुं मवमेवं दर्शयति—त्याज्यमिति । दोषवद्विंसादिदोषवत्केवलं वन्वकमिति हेतोः सर्वमेव कर्म त्याज्यमि-
त्येके साध्याः प्राहुर्नमीपिण इति । अस्यायं आक्षेपः न हिंस्यात्सर्वं भूषानीति निषेधः पुरुषस्यानर्पहेतुर्हिंसेत्याह ।
"अप्रोपोमार्त्यं पशुसालमेव" इत्यादिप्राकरणीको विधिस्तु हिंसायाः कतूपकारकाचमाह । अतो भिन्नविषयत्वेन
क्षान्ताम्यविशेषन्याययोगोचरत्वाद्वाप्यनाशकता नास्ति । इज्यसाध्येषु च सर्वेष्वपि कर्मसु हिंसादे संभवात्सर्वमपि
कर्म त्याज्यमेवेति । तदुक्तम् 'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविमुद्दिक्षयातिशययुक्तः' इति । अत्यार्थः—उपायो ज्येष्ठ-
विशेषमादिः सोऽपि दृष्टोपायवत्, शुरुषाष्टदनु श्रूयत इत्यनुश्रवो वेदस्तद्विशेषितः । तत्राविमुद्दिहिंसा तथा क्षयो
विनाशः । अप्रिहोत्रज्योपिष्टोमादिजन्मस्वर्गेषु तारवस्थं च वर्जितं । परोत्कर्षस्तु सर्वान्दृष्टुं लोकोरोति । अपरे तु
मीमांसका यथादिक कर्म न त्याज्यमिति प्राहुः । अयं भावः—कृत्यर्थापि सर्वत्र हिंसा पुरुषेणैव कर्तव्या । सा
त्याज्येतिशेतापि कृत्वा पुरुषस्य प्रत्ययापेक्षेतुरेष । यथाहि विधिर्विधेयस्य तदुद्देशेनानुष्ठानं विधत्ते तदर्थं त-
क्षणात्वाच्छेषत्वस्य न स्वेवं निषेधो निषेधस्य तादर्थ्यमपेक्षते प्राप्तिमात्रलोक्षितत्वात् । अन्यथा । ज्ञानप्रसादा-

विकृते दोषाभावप्रसङ्गात् । तदेवं समानविषयत्वेन सामान्यशास्त्रस्य विशेषेण वाधाज्ञास्ति दोषवत्त्वमतो नित्यं यद्वादि कर्म न त्याज्यमिति । अनेन विभिनिपेक्षयोः समानव्यवहारायार्थं सामान्यविशेषन्यायं संपादयितुम् ॥ ३ ॥

स० टी०—अथ द्वितीयप्रश्नस्य परिहाराय केशवः ॥ संन्यासस्यागमोऽस्त्वत्वं वक्तुं त्रैविध्यमेव हि ॥ १ ॥ विप्रतिपत्तिमाहादौ त्याज्यमित्यादिना स्फुटम् ॥ बन्धहेतुतया सर्वं कर्म दुष्टमतो बुधैः ॥ २ ॥ त्याज्यमेके बुधाः प्राहुः कर्मण्यधिकृतैरपि ॥ इत्येकं भवमत्रोक्तं द्वितीयं प्राह केशवः ॥ ३ ॥ कर्माधिकारिभिः पुंभिर्धीशुद्धया योषस्तुभ्ये ॥ यद्वदान्ततः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ४ ॥ ३ ॥

भा० टी०—ज्ञान्यानि वर्जयित्वा नित्यनैमित्तिकानि कलाभिसंधिं विना कर्तव्यानीत्युक्तं पक्षं प्रति-
पक्षनिरासेन द्रष्टव्यं विप्रतिपत्तिमाह—त्याज्यमिति । दोषोऽस्यास्तीति दोषवत् बन्धहेतुत्वात् सर्वमेव
कर्म त्याज्यं त्यक्तव्यं दोषो रामादिवर्षा त्यज्यते तद्वत्याज्यमिति वा । एके मनोविणो बुद्धिमन्तः परिहृताः
सांख्यदृष्टिमाश्रिताः अधिकृतैः कर्मिभिरपि सर्वं कर्म त्याज्यमिति प्राहुः कथयन्ति । ननु अधिकृतानां
कर्माणां कर्मत्यागं प्रत्यवायजनकं कथं प्राहुरिति चेत्, हिंसादिषु कर्मत्यागे तेषामपि प्रत्यवायाभावो तद-
नुष्ठाने परं प्रत्यवायं चाभिप्रेत्येति गृह्यते । परे श्रीमांसकदृष्टिमाश्रिता यद्वदान्ततः कर्म न त्याज्यम् 'अग्नीपो-
नीयं पशुमाहमेव' इत्यादिविशेषो धित्वहिंसातिरिक्तहिंसानिषेधे 'न हिंसात्सर्वा भूतानि' इति वाक्यस्य सार्थक्या-
द्विविधो धितं कर्म न प्रत्यवायावहं प्राप्तुं विहितस्याग एव प्रत्यवायावह इत्यतः सर्वं कर्म न त्यक्तव्यमिति
प्राहुः । अधिकृतान् कर्मिण एवापेक्ष्यैते विकल्पाः न तु ज्ञाननिष्ठान् स्वकसर्वपरिग्रहान् । ज्ञानयोगेन सांख्यानां
निष्ठा मया प्रोक्तसि कर्माधिकारिनिर्मुक्तान् संन्यासिनोऽपेक्ष्य । ननु 'कर्मयोगेन योगिनामित्यधिकृतताः
कर्म कुर्वन्तः पूर्वं विभक्तनिष्ठा अपि इह शास्त्रोपसंहारप्रकरणे यथा विचार्यन्ते तथा सांख्या अपि ज्ञान-
निष्ठा विचार्यन्तान् । एवं च संन्यासिनोऽपेक्ष्य न त्वेते विकल्पा इत्युक्तमनुपपन्नमिति चेन्न । गुणानां कर्म—'नैव
किंचित्करोमि' इति कर्माण्यस्त्यज्यपश्यन्त इच्छादीनि च श्रेयसमत्वेनैव पश्यन्तो नियतं कर्म मोहात्सरित्य-
जन्ति कायकेशदुःखभागाद्वा कर्मपरित्यजन्तीति वक्तुमशक्यत्वेन 'तेषां मोहदुःखनिमित्तस्यागानुपपत्तेः,
'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुपुं पशोः । न वद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्' इत्यादिभिस्तत्त्वविदा
संन्यासप्रकाररूपोक्त्या च । ननु दृष्टव्यं चने मनसेत्युक्तत्वात् न कायिकादीनां संन्यासः । सर्वकर्माणीति वि-
शेषितत्वात् सर्वेषामिति चेन्न, ज्ञानसामान्ये सर्वेषामिति तदर्थत् । कायादिज्यापाराणां कार्यानि वर्ज-
यित्वाऽन्यानि सर्वाणि कर्माणि मनसा संन्यस्येति तदर्थं प्राह इति चेन्न, वक्तुकल्पनया नैव कुर्वन्न
कारयन्निति विशेषणार्थक्यप्रसङ्गात् । ननु सर्वकर्मसंन्यासोऽयं सरिष्यतो भगवतोक्तो न जीवतः इति चेन्न,
न वद्वारे पुरे देही आस्त इति विशेषणानुपपत्तेः । तस्मादुदाहृतवचनादिभिस्तत्त्वविदः संन्यासप्रकारस्योक्त-
त्वात् तेषां मोहादिनिमित्तत्यागानुपपत्तेः कर्मिणामनात्मज्ञानां कर्मफलत्यागस्तु त्वर्थं ये कर्मव्यवहृता
अनात्मविदो येषां च मोहाद्व्याकुलभयाद्य त्यागः संभवति त एव तामसास्त्रागिणो राजसाश्चेति निन्दन्ते
'ज्ञानात्पमानयोस्तुत्यस्तुत्यो मिप्रारिपक्षयोः । सर्वारम्भपरित्यागो गुणाधीतः ॥ उच्यते ॥ तुल्यनिन्द्यास्तु-
विर्मोनी संतुटो येन केनचित् । अनिष्टैवः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥' इत्यादिना चतुर्दशदाशदादि-
परमार्थसंन्यासिनो चिदोपेतत्वात्, ज्ञानस्य वा परा निष्ठेति वक्ष्यमाणत्वाच्च । ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनो नेह
वियथिताः किं त्ववस्थाविदः संन्यासिनस्तमस्तत्वाद्यपेक्षया सात्त्विककृत्त्रेभ गुणेन सृज्यन्ते । न च 'न हि
देहभृदा ज्ञेयं त्यक्तुं कर्माण्यदोषतः' इति हेतुपचनेन शूरय एवमयं संन्यास इति अभिव्यक्त्यं त्यागाच्छान्ति-
रनन्तरमिति वक्तुं हेतुपचनस्त्यर्थत्वादिति संक्षेपः ॥ ३ ॥

प० टी०—अथास्मिन्नर्थे मतान्तरमुपन्यस्यति—त्याज्यमिति । यस्मै हि सादृशदोषवत्कर्म बन्धकं भवतीति त्याज्यमित्येके मनीषिणः सांख्या वदन्ति । तथाऽपरे भीमांसका “अग्नीषोमीयं पशुमालभेत” इत्यादिश्रुति-यत्नाद्यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति वदन्ति ॥ ३ ॥

रा० टी०—सर्वकर्मफलत्यागमिति स्थोक्त्यागस्वरूपावधारणाय प्रातीतिर्को विद्वन्मतविप्रतिपत्तिमुद्गा-
वयति—त्याज्यमिति । एके मनीषिणो ज्ञानिनः दोषवत् बन्धकत्वदोषयुक्तं कान्यकर्म त्याज्यम् अकार्य-
माहुः । अपरे च मनीषिणः यज्ञादि न त्याज्यमिति प्राहुः । तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादिकर्म यज्ञाङ्गानि ।
यद्वा नित्यनैमित्तिकानि । मनीषिण इति विशेषणात्प्राचीनपक्षेऽपि फलत्याग एवाभिमतो न स्वस्मत्त्यागः ।
अतो न मतयोर्विरोधः ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ! ॥

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

त० टी०—एवं मतान्तराण्युक्त्वा त्यागविषयं निर्णयमाह—निश्चयमिति । तत्रैवं चादिविप्रतिपत्ते
त्यागे निश्चयं सर्वोविरुद्धफलं मे मत्तः शृणु । हे भरतसत्तम ! नहि त्यागः सर्वैरवगन्तुं शक्यः । हे
पुरुषव्याघ्र ! हि यस्मात्त्यागस्त्रिविधस्तन्मासादिभेदेन संप्रकीर्तितस्तत्रैव त्रिविधेकेन कथित इत्यर्थः ॥ ४ ॥

म० टी०—एवं विप्रसिपत्तौ निश्चयमाह—निश्चयमिति । तत्र स्वयां शृष्टे कर्माधिकारिकर्तृके संन्यास-
त्यागशब्दाभ्यां प्रतिपादिते त्यागे फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्यागे मे मम वपन्नाश्रित्यं पूर्वाचार्यैः कृतं शृणु हे
भरतसत्तम । किं तत्र दुर्ज्ञेयमस्तीत्यत आह—हे पुरुषव्याघ्र पुरुषश्रेष्ठ हि यस्मात् त्यागः कर्माधिकारिकर्तृकः
फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्यागः त्रिविधश्चिप्रकारस्तामसादिभेदेन संप्रकीर्तितः । अथवा विशिष्टाभावरूपत्वागो
विशेषणमावादिशेष्याभावाद्बुभयाभावाच्च त्रिविधः संप्रकीर्तितः । तथाहि फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्यागः सत्यपि
कर्मणि फलाभिसंधित्यागाद्येकः । सत्यपि फलाभिसंधौ कर्मत्यागाद्वितीयः । फलाभिसंधेः कर्मणश्च त्यागा-
न्तर्वीयः । तत्र प्रथमः सात्त्विक आदेयः । द्वितीयस्तु हेयो द्विविधः—दुःखदुःखा क्लेशे राजसः, विषयसिने
कृतस्वामसः । एतावान् कर्माधिकारिकर्तृककर्मत्यागोऽर्जुनस्य प्रभविययः । तृतीयस्तु कर्माधिकारिकर्तृके नैर्मु-
ष्यरूपो नार्जुनप्रभविययः । सोऽपि साधनफलभेदेन द्विविधः । तत्र सात्त्विकेन फलाभिसंधित्यागपूर्वक-
कर्मानुष्ठानरूपेण त्यागेन शुद्धान्तःकरणस्योत्पन्नस्वविशिष्टस्यात्मज्ञानसाधनश्रवणाद्यवदान्तरविचाराय फला-
भिसंधिपरित्यक्त्यान्तःकरणशुद्धौ स्वर्गाय तत्साधनस्य कर्मणो वैतुष्ये जात इवावहननस्य परित्यागः । स एकः
साधनभूतो विविदिपासंन्यास उच्यते । तस्मै नैष्कर्म्यसिद्धिं यस्मादिति वदन्ति । द्वितीयस्तु जन्मान्तरकृ-
तसाधनाभ्यासपरिष्कारादस्मिन्नन्मन्यादावेवोत्पन्नात्मबोधस्य कृतवृत्तस्य स्वत एव फलाभिसंधेः कर्मणश्च
परित्यागः फलभूतः । स विद्वत्संन्यास इत्युच्यते । स तु यस्यात्मस्मिन्निरेव त्यागित्यादिवैश्वक्याभ्यां प्राग्ग्या-
न्यातः । स्थितप्रज्ञलक्षणदिभिश्च बहुधा प्रपाञ्चितः । यस्मादेवं त्यागस्य तत्त्वं दुर्ज्ञेयं तस्य चोक्तं तत्त्वं पेदि-
तुमिच्छामितीति, अतो मम सर्वज्ञस्य वपन्नाद्विद्वीत्यभिप्रायः । संवोधचक्षुषेन कुलनिमित्तोत्कर्षः पौरुषविभि-
चोत्कर्षश्च योग्यवातिशयसूचनायोक्तः ॥ ४ ॥

शं० टी०—त्यागगुणेन मुख्यसंन्याससादृश्यसंभवाद्ब्रह्मिणः कान्यकर्मत्याग एव संन्यास इति, सर्वकर्म-
फलत्याग एव संन्यास इति, दोषवत्कर्मत्याग एव संन्यास इति, कान्यनिषिद्धकर्मपरित्याग एव संन्यास इति
त्यागशब्दार्थं संन्यासं पण्डिताः स्वस्वभावानुसारेण बहुधा वर्णयन्ति । इत्येवं मतभेदेन त्यागशब्दस्यार्थभेदं
प्रतिपाद्य स्वाभिमतमर्थं वक्तुं स्वमतसिद्धस्य त्यागस्याभिव्यक्तिभेदेन त्रैविध्यमाह—निश्चयमिति । उक्तरीत्या

च बहुधा विकल्पिते तत्र तस्मिन् त्वत्प्रविषयभूते त्यागे त्यागशब्दार्थे संन्यासे मे निश्चयं मया निश्चि-
मर्थं मत्तः शृणु । श्रुतार्थप्रवृत्तिसिद्धये ओतारं स्तौति—हे भरतसत्तम हे पुरुषन्यासेति । हि यस्मात्कारणा-
त्यागं पण्डिता अपि बहुधा वर्णयन्ति तस्मात्त्यागो बुद्धिमतामपि दुर्विज्ञेयः । सर्वकर्मफलत्यागं ततः
कुर्वित्यत्र नित्याना नैमित्तिकानां च सर्वेषां कर्मणा फलमात्रपरित्याग एव यथा विवाहितस्तथा मयि
सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य योगसंन्यस्तकर्माणमित्यादावपि कर्मसंन्यासपदस्य कर्मफलत्याग एवार्थो विव-
क्षितो भवति, न तु कर्मसंन्यासः कर्माधिकारे कर्मसंन्यासविधानायोगात् । य उक्तलक्षणस्यागः स एव
त्रिविधस्तामसादिभेदेन त्रिप्रकार इति मुनिभिः संप्रकीर्तितो भवति—तं मयोच्यमानं शृण्वित्यर्थः ॥ ४ ॥

श्री० टी०—एवं मतभेदमुपन्यस्य स्वमतं कथयितुमाह—निश्चयमिति । तत्रैवं विप्रतिपक्षे त्यागे
निश्चयं मे वचनाच्छृणु । त्यागस्य लोकप्रसिद्धत्वात्किमत्र श्रुतव्यमिति साऽवमंस्था इत्याह—हे पुरुषन्यास
पुरुषप्रेष्ठ, त्यागोऽयं दुर्विज्ञः । हि यस्मादयं कर्मत्यागस्तत्त्वविद्विस्तामसादिभेदेन त्रिविधः सन्प्रतिवेकेन
प्रकीर्तितः । त्रैविध्यं च 'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणः' इत्यादिना वक्ष्यति ॥ ४ ॥

स० टी०—तत्र त्यागे त्वया शृष्टे कर्माधिकृतकर्तृके ॥ संन्यासस्यागशब्दाभ्यामृपिभिः प्रतिपादिते ॥ १ ॥
निश्चयं मद्बुद्धौभित्तं पूर्वाचार्यैः कृतं शृणु ॥ कर्माधिकारिणो यस्मात्त्यागः सफलकर्मणः ॥ २ ॥ ताम-
सादिकभेदेन त्रिप्रकार उदाहृतः ॥ फलाभिसंधिसंन्यागो विद्यमानेऽपि कर्मणि ॥ ३ ॥ सात्त्विकोऽयं
परित्याग उपादेयो मुमुक्षुभिः ॥ फलाभिसंधौ सत्येव कर्मत्यागस्तु राजसः ॥ ४ ॥ अज्ञानतो द्वयो-
रेव प्रमादादिभिरेव यः ॥ त्यागः फलाभिसंधेः कर्मणश्च तामसः ॥ ५ ॥ हेत्यनेन मतवेत्तौ
त्यागौ राजसतामसौ ॥ मुख्यो यः कर्मसंन्यासो निष्कैगुण्यः स नेह वै ॥ ६ ॥ अर्जुनप्रभविषयो न वा
तस्य विवेचनम् । यतस्त्यागस्य दुर्विधं तत्त्वं तस्यान्वमेक्षितुः ॥ ७ ॥ वाक्याद्विद्वद्विप्रप्रायः संवोधन-
द्वयेन तु ॥ कुलौल्लाप्यास्तवकीलकभ्यायोग्यत्वं सूच्यतेऽर्जुने ॥ ८ ॥ ४ ॥

भा० टी०—एवं मतभेदेन संन्यासत्यागशब्दार्थयोस्तत्त्वं पृथगुक्तवा स्थाभिमतं तयोरेक्यं दर्शयितुमाह—
निश्चयमिति । तत्र त्यागे त्यागसंन्यासविकल्पे मे मम वचनानिश्चयं शृण्ववधारय । त्यागसंन्यासवाच्यो
योऽर्थः स एक एवेत्यभिप्रेत्याह—त्यागत्रिविधः त्रिप्रकारः तामसादिप्रकारैः संप्रकीर्तितः सत्यक्षात्तेषु
कथितो हि यस्मात्त्यागसंन्यासशब्दवाच्योऽर्थोऽधिकृतवत्स्य कर्मिणोऽन्तात्मज्ञस्य तामसादिभेदेन त्रिविधः
शालेषु संप्रकीर्तितः सर्वशास्त्रादीश्वराद्व्यनेन बहुमशक्यः तस्मादत्र दुर्विज्ञानेऽर्थे परमार्थशास्त्रार्थविषय-
मेश्वरं निश्चयमन्यवसार्यं शृणु । भरतानां क्षत्रियवराणां मध्ये सत्तम सापुत्रमेव संवोधयन् क्षत्रियवैरैः कर्ष-
ण्ये त्यागे संन्यासे च मयोच्यमानं निश्चयं शृण्वति ध्वनयति । न केवलं क्षत्रियवरैरेव कर्तव्ये त्याग-
संन्यासशब्दार्थे निश्चयो मयोच्यतेऽपि तु पुरुषप्रेष्ठेत्यैरापि कर्माधिकृतैरज्ञैः कर्तव्ये तस्मिन्निदि ध्वनयन्
संवोधयति—पुरुषन्यासेति ॥ ४ ॥

प० टी०—एवं मतभेदमुपन्यस्य स्वमतं कथयितुमाह—निश्चयमिति । तत्रैवं विप्रतिपक्षे त्यागे मे वच-
नानिश्चयं शृणु । हि यस्मात् कारणाग्रे पुरुषन्यास पुरुषार्थसाधनशील इति निश्चयेन त्यागत्रिविधः
संप्रकीर्तितस्तामसादिभेदेन सम्यक्प्रकरणेणैव निरूपितोऽस्ति ॥ ४ ॥

रा० टी०—अभिप्रेषप्रकारं प्रविष्टापूर्वमुपपादयति—निश्चयमिति । तत्र विप्रतिपक्षे त्यागे विषये निश्चयं
मम मे सफाशाहं शृणु श्रुत्या निष्ठा उरु । त्यागो हि फलत्यागः । कर्माणि ममवात्स्यागः । भगवति कर्त-
वानुसंधानपूर्वं तस्य कर्तृत्वभिमानीत्याग इति त्रिविधः संप्रकीर्तित इत्येके । यद्यमाणसात्त्विकादि-

*यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ॥

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

त० टी०—कोऽसौ निश्चय इत्यत आह—यज्ञदानेतिद्व्याभ्याम् । यज्ञदानतप इति वैदिकं कर्म मुमुक्षुणा न त्याज्यम्, अपि तु कार्यं कर्तव्यमेव तत् । यज्ञो दानं तपश्चैव मनीषिणां मननशीलानामनभिहितफलानां पावनानि मनःशुद्धिकराणि ॥ ५ ॥

म० टी०—कोऽसौ निश्चयो विप्रतिपक्षिकोटिभूतयोः पक्षयोर्द्वितीयः पक्ष इत्याह—यज्ञ इति द्वाभ्याम् । चो हेतौ । यस्मात् यज्ञदानतपासि मनीषिणामकृतफलभित्तधीना पावनानि ज्ञानप्रतिपक्षकपापमलशालनेन ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपपुण्यगुणाधानेन च शोधकानि । अकृतफलभित्तधीनामेव यज्ञदानतपास्येव शोधकानि भवन्त्येव । उपाधिमुक्त्यैवोपहितशुद्धिराभिप्रेता । तस्मादन्तरकरणशुद्धयर्थिभिः कर्माभिर्भूतैर्यज्ञो-दानं तप इति यत् फलाभिसंधिरहितं कर्म तत्र त्याज्यं किंतु कार्यमेव तत् । अत्याज्यत्वेन कार्यत्वे लब्धेऽप्यत्यादरार्थं पुनः कार्यमेवेत्युक्तम् । यस्मात्कार्यं कर्तव्यतया शास्त्रविहितं तस्मात् त्याज्यमेवेति वा ॥ १॥

शं० टी०—यत्प्रतिज्ञातं मे निश्चयं शृण्वीति तं स्वनिश्चयं प्रतिपादयति—यज्ञेति द्वाभ्याम् । यज्ञः श्रोतः स्मर्तव्यः, दानं पात्रेर्धर्मसमर्पणं, तपः स्वाध्यायः, त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति । अध्ययनस्य धर्मस्कन्धत्वेन गृहिधर्मस्वध्वषणात् 'तपो हि स्वाध्यायः' इति स्वाध्यायस्य तपस्त्वध्वषणाच्च, शब्देनाध्ययनमुच्यते । एवं यज्ञदानतपोलक्षणं त्रिविधं नित्यं वैदिकं कर्म मुमुक्षोर्गृहिणो विरक्तस्य न त्याज्यं न कदाचित्स्य कर्तव्यं किंतु नित्यत्वात्पुरुषार्थहेतुत्वादकरणे प्रत्यवायाच्च यज्ञोऽध्ययनं दानमिति । "अहरहः संन्यामुपासीत । उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति" इत्यादिश्रुत्युक्तं कर्म नित्यं मुमुक्षोः कार्यं अद्याभक्षिभ्या निवर्तमेन कर्तव्यमित्यर्थः । उक्ते कर्मणि प्रवृत्तिसिद्धये फलमाह—यज्ञ इति । मनीषिणामधीतविद्वेदवेदवेदाध्यानां सत्सद्भि-वेकत्वा मुमुक्षूणां परमेश्वरार्पणबुद्ध्या कृतानि यज्ञो दानं तपः । चकारोऽन यज्ञशानादीनामुक्तानामनुक्तानां श्रीवानां स्मर्तव्या च कर्मणा समुच्चयार्थः । एवकारो यज्ञदानादेर्वैदिकस्यैव कर्मणो वर्णाश्रमिणा विहितस्य पावनत्वनिर्धारणार्थः । यज्ञदानतपोलक्षणानि श्रीतानि स्मर्तव्येव कर्माणि पावनान्युपाससर्वदुरितक्षयकराणि सत्तशोधकानि तद्वारा ज्ञानस्य उत्कलस्य च कारणातीत्यर्थः ॥ ५ ॥

श्री० टी०—प्रथमं तावन्निश्चयमाह—यज्ञदानेति द्वाभ्याम् । मनीषिणां विवेकिना पावनानि चित्तशुद्धिकराणि ॥ ५ ॥

स० टी०—कश्चासौ निश्चयस्तत्र द्वाभ्यामाह रमाधरः ॥ फलाभिसंधिहीनानां यज्ञदानतपासि हि ॥ १ ॥ शोधकान्यात्मविज्ञानप्रतिपक्षमलक्षणात् ॥ तस्माच्चित्तशुद्ध्यात्मविज्ञानायाधिकारिभिः ॥ २ ॥ फलाभित्त-विहीनं यत्कर्म त्याज्यं न तदुच्यते ॥ यस्माच्च शास्त्रिकं कर्म कर्तव्यत्वेन चोदितम् ॥ ३ ॥ तस्मात् त्याज्यमेवेति किं तु कार्यं प्रत्यक्षम् ॥ ४ ॥ ५ ॥

भा० टी०—प्रतिज्ञातं निश्चयं प्रदर्शयन् तत्र हेतुमाह—यज्ञ इति । यज्ञो दानं तप इत्येतन्निमित्तं कर्म न त्याज्यं न त्यक्तव्यम् । व्यतिरेकेणोक्तमर्थमन्येन द्रष्टव्यं । कार्यमेव तत् त्रिविधं कर्म करणीयमेव । चो हे-
तो । यस्माद्यज्ञदानतपास्येव पावनानि विशुद्धिकराणि, पावनान्येवेति वा । मनीषिणां कुशलानां फलाभिसंधिरहितानाम् ॥ ५ ॥

प० टी०—तत्रादौ त्यागस्य स्वरूपं दर्शयति—यज्ञदानतप इति द्वाभ्याम् । यज्ञदानतपोरूपं कर्म न त्याज्यं किं तु उत्कार्यमेव । कुतः ? यज्ञो दानं तपश्च मनीषिणां ज्ञानवता कर्तुं पावनानि चित्तशोधकानि ॥ ५ ॥

* यज्ञो दानं तप इति मनुष्यवर्णाश्रममतः पक्षः ।

रा० टी०-निश्चयं शृण्वति प्रतिज्ञातमाह-यज्ञेति । द्वन्द्वैकवद्भावः । कुतः कार्यमित्यत आह-यज्ञ इति । पावनानि पावित्र्यकरणानि अबन्धकार्णातिव्याक्त् । यद्वा मनीषिणा ज्ञानिनां मुक्तावानन्दातिशयकराणि । अतः सर्वेषां वर्णाश्रमोचितकर्माणि कार्याण्येवेति । यतीनामपि ज्ञानयज्ञविद्याभयदानप्रह्लादचर्यादिवपासि च सन्त्येव । श्रीगृहादीनामपि विष्णुनामाध्ययनरूपो यज्ञः सत्यवचनमुपवासादि तपश्चास्त्येवेति भावः ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ॥

कर्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

त० टी०-ननु " मोक्षयसे कर्मबन्धनैः " इति कर्मणां बन्धनत्वाभिधानात्कथमेषां पावनत्वमित्यत आह-एतानीति । यानि यज्ञादीनि कर्माणि पावनान्युक्तानि एतान्यपि सङ्गमहमेवं करिष्यामीत्यभिनिवेशं त्यक्त्वा, फलानि च ममैतत्फलसाधनानीति फलोद्देशं विहाय केवलमीश्वराज्ञापालनात्यक्तया कर्तव्यानि हे पार्थ, इति मे मम निश्चितमुत्तमं श्रेष्ठं मतम् ॥ ६ ॥

भ्यो मतेभ्य वत्कृष्टतमं प्रत्यवायराहितत्वेन नरकाद्यानिष्ठनिवृत्तिहेतुत्वात्सर्गमागमकृशनिवर्तकत्वाच्चित्तशुद्धि-
द्वाराऽभीष्टमुक्तिहेतुत्वाच्च तेभ्यः श्रेष्ठतममित्यर्थः ॥ ६ ॥

श्री० टी०-येन प्रकारेण कृतान्येतानि पावनानि भवन्ति तं प्रकारं दर्शयन्नाह-एतानीति । यानि
यज्ञादिकर्माणि मया पावनानीत्युक्तम्, एतान्येव कर्तव्यानि । कथम् ? सङ्गं कर्तव्याभिनिवेशं त्यक्त्वा केव-
लमीश्वराराधनतया कर्तव्यानीति फलानि च त्यक्त्वा कर्तव्यानीति च निश्चितं मे मम मतम् । अत
पक्षोत्तमम् ॥ ६ ॥

स० टी०-धीशोधनेऽस्ति सामर्थ्यं यदि यज्ञादिकर्मणाम् ॥ शोधकान्येव तर्हि स्युः कृतान्यपि फले-
ष्मुना ॥ १ ॥ कृतं फलभिसंध्येकत्यागेनेत्येव चेच्छ्रूयुः ॥ धर्मस्वाभावाच्चः शुद्धिः काम्यान्तामपि संभवेत्
॥ २ ॥ तथापि कामिना सा वत्फलभोगोपयोगिनी ॥ ज्ञानोपयोगिनी नास्ति तदुक्तं वार्तिके शुद्धम् ॥ ३ ॥
कान्येऽपि शुद्धिरस्येव भोगसिद्धयपेक्षेव सा । विष्णुराक्षविदेहेन नहोन्द्रं मुण्यते फलम् ॥ ४ ॥ ज्ञानो-
पयोगिनी शुद्धिमादधत्यत्र यानि तु ॥ यज्ञार्थान्येव कर्माणि बन्धकान्यपि कामिनाम् ॥ ५ ॥ मुमुक्षुभिः
परित्यज्य कर्तव्याभिमर्ति तथा ॥ अभिसंपादयन्तानि त्यक्त्वा कर्मफलानि च ॥ ६ ॥ कर्तव्यानि धियः
शुद्धये इति मे निश्चितं मतम् ॥ अत एव हि हे यार्थं न त्याग्यानि मुमुक्षुभिः ॥ ७ ॥ कर्माधिकारिभिर्धारैः
कर्माणीत्युत्तमं मतम् ॥ ८ ॥ ६ ॥

भा० टी०-प्रविज्ञातमर्थमुपसंहरति-एतानीति । एतानि यज्ञदानवप्रांसि सप्तङ्गस्य फलार्थिनो बन्ध-
हेतवोऽपि कर्माणि मुमुक्षुभिः सङ्गं कर्तव्याभिनिवेशं फलानि च त्यक्त्वा परित्यज्य चित्तशुद्धयर्थं कर्तव्या-
नीत्वेतन्निश्चितं मम परमेश्वरस्य चांशुदेवस्य, मतम् । यतो ममेदं निश्चितमत उच्यते सर्वोत्कृष्टम् । उत्तमत्वा-
न्मम निश्चितमिति वा । त्वया तु मत्संप्रस्थिता मूर्खीयं निश्चितं मतमेवोपादेयमिति सूचनाय संबो-
धतं यथेति । यत्तु अपिशब्द एवंप्रसङ्गार्थ इति भाष्यविरुद्धमन्ये वर्णयन्ति तन्नाद्वैतस्य, सति संभवे
स्वार्थत्यागस्यान्याय्यत्वात् ॥ ६ ॥

प० टी०-केन प्रकारेण कृतानि पावनानि भवन्तीत्याह-एतानीति । एतानि यज्ञदानवपौराणिक
कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि चैदिकामुष्मिकाणि त्यक्त्वा केवलमीश्वराराधनतया कर्तव्यानीति मे मतं निश्चि-
तमसंदिग्धम् । उत्तमत्वादेवोपादरणीयमित्यर्थः ॥ ६ ॥

रा० टी०-यज्ञादि न त्याज्यं कार्यमेव तदित्युक्तमुक्तं, त्याज्यं कर्मैत्युक्तमसीपिमवविरोधादित्यवः
सङ्गादित्यागरूपविशेषणत्वात् एव तेषामभिमतः । न त्वैकतया इतिभावेन यज्ञादेः करुणप्रकारमाह-
एतानीति । प्रागुक्तयज्ञादिरूपकर्माणि ममताभिमानरूपस्तेह्यसङ्गं त्यक्त्वा स्वर्गादिफलानि च त्यज्या
कर्तव्यानि इति निश्चितं मे उत्तमं मतम् ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ॥

मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

त० टी०-‘त्यागो हि पुरुषस्याग्र ! निविधः संप्रकीर्तितः’ इत्युक्तं त्रैविध्यपेव दर्शयति-
नियतस्येति । काम्यस्य कर्मणो कथंहेतुत्वेन दोषवत्त्वात्त्याग उपपद्यते । नियतस्य तु नित्यकर्तव्य-
तया विदितस्य महायज्ञादेस्तु कर्मणः संन्यासस्यागो नोपपद्यते । अन्तःकरणशुद्धिरित्येन मुमुक्षुप्रादे-
यत्वात् । एवं मोहात् कर्तव्यावर्तय्याविज्ञात् तस्य नित्यस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः । “यदा-
दमोहो तमसो भवतोऽज्ञानमेव च” इति तमोजन्ममोहहेतुत्वेन तामसत्वमित्यर्थः ॥ ७ ॥

म० टी०—तदेवं “यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे” इति स्वपक्षः स्थापितः । इदानीम् “त्याज्यं दोषवदित्येकं कर्म प्रादुर्गन्भीषणम्” इति परपक्षस्य पूर्वोक्तस्यागत्रैविव्यव्याख्याननेन निराकरणभारमते—नियत-
स्येति । काम्यस्य कर्मणोऽन्तःकरणशुद्धिहेतुत्वाभावेन बन्धहेतुत्वेन च दोषवत्त्वाद् बन्धनिवृत्तिहेतुबोधार्थिना
क्रियमाणस्त्याग उपपद्यत एव । नियतस्य तु नित्यस्य कर्मणः शुद्धिहेतुत्वेनादोषस्य संन्यासस्त्यागो मुमुक्षु-
णाऽन्तःकरणशुद्धयर्थिना नोपपद्यते, शास्त्रयुक्तिभ्यां तस्यान्तःकरणशुद्धयर्थमवश्यातुष्टेयत्वात् । तथा चोक्तं
प्राक्—“आरुह्योर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते” इति । ननु दोषवत्त्वं काम्यस्येव नित्यस्यापि दर्शपूर्णमास-
ज्योतिष्टोमादेर्गोविधिपश्चाद्विहिंसामिथितत्वेन साक्यैरभिहितम् । न च “धीहिनिबहन्ति” “अग्नीषोमीयं पशुमाल-
भते” इत्यादिविशेषविधिगोचरत्वात् क्लृप्तहिसाया “न हिंस्यात् सर्वा भूतानि” इति सामान्यनिषेधस्य तदि-
तरपरत्वमिति, सांप्रतं भिन्नविषयत्वेन विधिनियेधयोरवाचनैव समवेदशसंभवात् । निषेधेन हि पुरुषस्यानर्थ-
हेतुहिंसेत्यभिहितं च क्लृप्तार्थां सेति । विधिना च क्लृप्तार्थां सेत्यभिहितं न स्वनर्थहेतुर्नेति । तथा च
क्लृप्तकारकत्वपुरुषानर्थहेतुत्वयोरैकत्र संभवात् क्लृप्तार्थापि हिंसा निषिद्धेति हिंसायुक्तं दर्शपूर्णमासज्योतिष्टो-
मादि सर्वं दुष्टमेव । विहितस्यापि निषिद्धत्वं निषिद्धस्यापि च विहितत्वं येनादिवदुपपन्नमेव । यथा हि
“इत्येनामिचरन्त्यजेत” इत्याद्यभिचारविधिना विहिषोऽपि इत्येनादिर्न हिंसात्सर्वाभूतानीति निषेधविषयत्वाद्-
नर्थहेतुरेव । तद्वदोपसहिष्णोरेव च रागद्वेषादिवर्गीकृतस्य तत्राधिकारः । एवं ज्योतिष्टोमादावपि । तथा चोक्तं
महाभारते—“जपस्तु सर्वधर्मैभ्यः परमो धर्म उच्यते । अहिंसया हि भूतानां जपवशः प्रवर्तते” इति । मनु-
नापि “अयेनैव तु संसिधेद्वाङ्मनो नात्र संशयः । कुर्यादन्यत्र तत्र कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥” इति
च दद्यात् मैत्रीमहिंसां प्रशंसता हिंसाया दुष्टत्वमेव प्रतिपादितम् । अन्तःकरणशुद्धिश्चेष्टयेन गायत्रीजपदिना
सुवरासुपस्थस्य इति हिंसादिदोषदुष्टं ज्योतिष्टोमादि नित्यं कर्म दोषासहिष्णुना येनादिकमिव कर्मा-
धिकारिणापि त्याज्यमिति प्रति वृत्तः—न क्लृप्तार्था हिंसाऽनर्थहेतुः, विधिरष्टुपे निषेधानवकाशात् । तथाहि
विधिना पलवदिच्छाविषयसापनतापोधरूपां प्रवर्तनां पुर्वत्ताऽनर्थसाधने तदनुपपत्तेः स्वविषयस्य प्रवर्त-
नामोचरस्यानर्थसाधनत्वाभावाज्ज्योत्थार्थादाक्षिप्यते । तेन विधिविषयस्य नानर्थहेतुत्वं युज्यते । न हि क्लृप्त-
वर्धत्वं साक्षाद्विषयार्थः, येन विरोधो न स्यात्, किंतु प्रवर्तनैव । प्रवर्तनाकर्मभूता तु पुरुषप्रवृत्तिः पुरुषार्थ-
मेव विषयहेतुर्लक्ष्यं चित्तं क्रतुमपि पुरुषार्थसाधनत्वेन पुरुषार्थसाधनपन्नं विषयीकरोतीत्यन्यत् । पुरुष-
प्रवृत्तिश्च यत्तद्विच्छेदोपधानदृष्ट्यां जायमाना न भाव्यस्यार्थहेतुतामाक्षिपति न वाऽनर्थहेतुतां प्रतिक्षिपति ।
किंतु यथाप्राप्तमेवाकल्पयते, यत्तद्विच्छेदाविषये स्वतः एव प्रवृत्तेः स्वर्गादी विषयपेक्षणात् । अत एव विहित-
इत्येनकल्पस्यापि शत्रुवधरूपस्वामिभारस्यानर्थहेतुत्वमुपपद्यत एव, फलस्य विधियन्यप्रवृत्तिविषयत्वाभावात् ।
विधियन्यप्रवृत्तिविषयं तु धात्वर्थरूपं करणं प्रवर्तनाऽवलम्ब्यते । सा चावर्थहेतुं न विषयीकरोतीति विशेष-
पविधिवार्थितं सामान्यनिषेधवाक्यं रागद्वेषादिमूलाक्लृप्तार्थलीकिकहिंसाविषयम् । तेन येनाग्नीषोमीययोर्वि-
षयादुपपन्नमुष्टत्वं ज्योतिष्टोमादेः । विधिरष्टुपस्यापि निषेधविषयत्वे पोष्टस्तिग्रहणत्वाप्यनर्थहेतुत्वापत्तिर्नाति-
राग्रे पोष्टशिनं गृह्णातीति निषेधात् । तस्मात् किंचिदेतद्विधिं भाट्टं दर्शनम् । प्राभाकरं तु दर्शनं फलसाधने
रंगत एव प्रवृत्तिचिद्वेन नियोगस्य प्रवर्तकत्वम् । तेन इत्येनस्य रागजन्यप्रवृत्तिविषयत्वेन विधेरीदासीन्यात्
वस्थानर्थहेतुत्वं विधिना प्रतिक्षिप्यते । अग्नीषोमीयहिंसायां तु क्लृप्तभूतार्थां फलसाधनत्वाभावेन रागा-
भावाद्भिरैव प्रवर्तकः । स च स्वविषयस्यानर्थहेतुता प्रतिक्षिप्यतीति प्रधानमुत्र हिंसानर्थ (भावेन) जनयति न
क्लृप्तार्थित्वं हिंसामित्रत्वेन ज्योतिष्टोमादेर्दुष्टत्वमिति सममेव । एतान्मात्रे तु विशेषः—“चोदनालक्ष्णोऽयं धर्मः”
इत्यप्राप्यद्वयार्थत्वेनापार्थित्वं इत्येनादेः प्राभाकरमते । भाट्टमतु तु इत्येनकल्पस्यैवामिचारास्थानर्थहेतुत्वादथ-

मर्त्तवं, श्येनस्य तु विहितस्य समीहितसाधनस्य धर्मत्वमेव । अर्थपदव्यावर्त्यत्वं तु कलत्रभक्षणदेर्निषिद्धस्यैवेति फलतोऽनर्थहेतुत्वेन (तु) सिद्धान्तं श्येनावौ न धर्मत्वेन न्यवहारः । तदुक्तम् 'फलतोऽपि च यत्कर्म नान-
यैतानुपपद्यते । केवलमितिहेतुत्वात्तदर्थं इति कथ्यते' इति । तार्किकाणां तु दर्शनं कृतिसाध्यत्वमर्थहेतुत्वम-
नर्थाहेतुत्वं चेति त्रयं विषयार्थः । तत्र कर्त्तव्यहिंसायां साक्षान्निषेधाभावात्प्रायश्चित्तानुपदेशाच्च कृतिसाध्य-
त्वाद्यहेतुत्ववदनर्थहेतुत्वमपि विधिना बोध्यत इति न तस्या अनर्थहेतुत्वम् । श्येनादेस्त्वभिचारस्य साक्षादेव
निषेधात्प्रायश्चित्तोपदेशावानर्थहेतुत्वाकामात्तावन्मात्रं तत्र विधिना न बोध्यत इत्युपपन्नं, श्येनाप्रीपोर्माययो-
बैलक्षण्यम् । औपनिषदसु आहूमेव दर्शनं न्यवहारे प्रायेणावलम्बितम् । तथा च भगवद्वाङ्मयप्रणीतं
सूत्रम्—'अहुद्धमिति चेन्न शब्दात्' इति । ज्योतिष्टोमादिकर्म ज्योतिषोर्मायहिंसादिमिश्रितत्वेन दुष्टमिति
चेत्, न । "अप्रीपोर्मायं पशुमालभेत्" इत्यादिविधिशब्दादित्युक्तार्थः । अप्रशंस्यपरं तु वाक्यं न कर्त्तव्यहिंसाया
अधर्मत्वबोधकं, तस्य तत्रावात्सर्थात् । तथाच सांख्यानं विहिते निषिद्धत्वज्ञानमनर्थहेतुत्वज्ञानं,
धर्मं चाधर्मत्वज्ञानमनुपेक्षे चाननुपेक्ष्यत्वज्ञानं विपर्यासरूपो मोहः । तस्मान्मोहान्नित्यस्य कर्मणो यः परि-
त्यागः स क्षामसः परिकीर्तितः । मोहो हि तमः ॥ ७ ॥

श्ल० टी०—'निश्चयं क्षण मे तत्र' इत्युपक्रान्तं स्वसिद्धान्तमुक्तत्वाऽमुना मुमुक्षोरविरक्तस्य कर्मसंन्यासं
नियेषयत् "निविशः संप्रकीर्तितः" इत्युक्तं त्यागस्य त्रैविध्यं प्रतिपादयति—नियतस्येति । नियतस्य श्रुति-
स्मृतिनिर्दिष्टस्य संध्योपासनाग्निहोत्रादेः कर्मणः संन्यासः काम्यकर्मव्यतिरिक्त्यागो मुमुक्षोरशुद्धचित्तस्य नोप-
पद्यते, नित्यस्य कर्मणः सत्त्वशोधकत्वादकरणे प्रत्यवायाच्चाक्षस्य कर्मसंन्यासो न कर्त्तव्य इत्यर्थः ।
कर्मणस्तत्त्वमविद्यापापवदृष्ट्या 'दोष इति त्यागोऽविवेकेन कृतश्चेत्कथमित्यत आह—मोहादिति । कृत्या-
कृत्यज्ञानाभावो मोहोऽविवेकस्तस्मान्मोहाक्षस्य नियतस्य स्वाप्तप्राप्तजनन्याचिच्छुद्धिद्वारा मोक्षहेतुत्वेनोपादे-
यस्य नित्यस्य कर्मणः परित्यागस्तामसस्तमोऽणुकार्यत्वात्तामस इति सङ्गः परिकीर्तितः । तयोगुणादेव
मोहो वैचित्त्यमनिष्टादिकर्मफलज्ञानं तस्मादेवोपादेयमपि नित्यं कर्म त्यजति, त्यक्त्वाऽकारणदोषनं फलं
नरकं च प्राप्नोतीत्यर्थः । एतेनाक्षय्यानिर्बिण्णस्य च कर्मत्यागो न कर्त्तव्य इति सूचितं भवति ॥ ७ ॥

श्री० टी०—प्रतिज्ञात्वं त्यागस्य त्रैविध्यमिदानीं दर्शयति—नियतस्येति त्रिभिः । काम्यस्य कर्मणो
बन्धकत्वात् संन्यासो युक्तः । नियतस्य ॥ नित्यस्य पुनः कर्मणः संन्यासस्त्यागो नोपपद्यते सत्त्वशुद्धिद्वारा
मोक्षहेतुत्वात् । अवस्तस्य परित्यागः उपादेयेऽपि त्याग्यमित्येवंलक्षणान्मोहादेव भवेत् । स च मोहस्य
तामसत्वात्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

स० टी०—तदेवं कर्म न त्याज्यं स्वात्मनः स्थापितं मतम् ॥ त्याज्यं शोधकत्वादिपरपक्षनिराकृतम्
॥ १ ॥ कर्तुमारभते त्यागत्रैविध्यममुना हरिः ॥ काम्यस्य शोधकत्वात्त्यागः शुद्धपार्थिवो नृणां ॥ २ ॥
नित्यस्य कर्मणः शुद्धिहेतुत्वेनानपस्य तु ॥ चित्तशुद्धपार्थिवेनस्त्यागो मुमुक्षोर्नोपपद्यते ॥ ३ ॥ धीशुद्धये शास्त्र-
युक्तिन्यायानुपेयं मुमुक्षुणा ॥ काम्यस्येवास्त्य नित्यस्य शोधकत्वं न संभवेत् ॥ ४ ॥ पावनत्वापरिज्ञाना-
त्त्यागो नित्यस्य कर्मणः ॥ अवश्यमेव कर्त्तव्यं यच्चित्रित्यमितीये ॥ ५ ॥ ज्ञानात्तत्परित्यागस्तामसः
परिकीर्तितः ॥ ६ ॥ ७ ॥

भा० टी०—स्वायत्नसाध्यवस्तुत्वा त्यागस्य त्रैविध्यं दर्शयितुमारभते—नियतस्येति । नियतस्य
तु कर्मणः मुमुक्षोरक्षत्याभिहृतस्य संन्यासः परित्यागो नोपपद्यते नोपपन्नो भवति नियतमुपश्रयकर्त्तव्यं
त्यज्यते चेति विप्रतिषिद्धत्वात् । मोहात् पावनत्वापरिज्ञानात्तस्य निवर्तयवश्यकर्त्तव्यतया वेदविहितस्य
परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः । मोहश्च तमस्तन्निमित्तत्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥

प० टी०—अथ त्यागत्रैविभ्यमाह—नियतस्येति । काम्यस्य कर्मणो वन्वत्कत्वात्तत्संन्यासो युक्तः, नियतस्य नित्यस्य तु कर्मणः संन्यासस्त्यागो नोपपद्यते न युज्यते सत्त्वशुद्धिद्वारा मोक्षहेतुत्वात् । मोहादज्ञानात्तस्य नित्यस्य कर्मणो यस्त्यागः स तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

रा० टी०—स्वरूपत्यागो नेत्येवदुपपादयन् त्यागो हि त्रिविध इत्युक्तं प्रपञ्चयति—नियतस्य त्विति । वर्णाश्रमोचितस्य तु कर्मणः संन्यासस्त्यागो नोपपद्यते युक्तो न भवति, 'स्वयन्नादीन्परित्यज्य' निरयं यात्यसंशयम्' इति पादो प्रत्यवायस्मरणात् । स्वरूपत्याग एव त्यागशब्दार्थो न सङ्गफलयोस्त्याग इति मिथ्याज्ञानाख्यमोहात्तस्य यज्ञादिकर्मणः परित्यागः तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्यजेत् ॥

स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

त० टी०—राजसं त्यागमाह—दुःखमिति । कर्मफले वैराग्याभावात् केवलमनुष्ठाने दुःखमिति मत्वा यत्कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत् स त्यागकर्ता एवाहं राजसं त्यागं कृत्वा नैव त्यागफलं लभेत् । यथावस्थितवस्तुज्ञानं शास्त्रीयत्यागफलं न प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ८ ॥

प० टी०—पूर्वोक्तमोहाभावेऽपि—दुःखमिति । दुःखमिति अनुपजातान्तःकरणशुद्धितया कर्माधिकृतोऽपि दुःखमेवेदमिति मत्वा कायक्लेशभयान्नित्यं कर्म त्यजेदिति यत् स त्यागो राजसः । दुःखं हि राजः । अतः स मोहरहितोऽपि राजसः पुरुषस्तादृशं राजसं त्यागं कृत्वा नैव त्यागफलं सार्विकत्यागस्य फलं ज्ञाननिष्ठाक्षणं नैव लभेत् लभेत् ॥ ८ ॥

शं० टी०—राजसत्यागस्य लक्षणं फलं चाह—दुःखमिति । यथोक्तनियमेन यन्नित्यं कर्तव्यं तदकर्म श्रमसान्त्वनादुत्पद्यमानात्क्रमायाससाध्यमित्येवं निश्चित्यालसत्वदोषेण कर्मणः कर्तव्यत्वं विज्ञानमपि यः कायक्लेशभयादिहेन्द्रियादिक्लेशो भक्त्यस्थानुष्ठानेनेति भयात्यजेत्त्यजति, स पुरुषो देशानुगतरागाविशिष्टत्वाद्वा राजसं रजोदूषितशुद्धिदोषादागतं राजसं त्यागं कर्मसंन्यासं कृत्वापि त्यागफलं त्यागस्य कर्मसंन्यासस्य फलं चित्तशुद्धिं वज्रन्यज्ञानं तत्फलं मोक्षं च न लभेत् न लभेत् । किंतु स्ववश्वनात्मनस्य राजसत्यागप्रयत्नरूपं विहिताकरणप्रत्यवायतः प्राप्तं फलं नरकमेव प्रतिपद्यत इत्यर्थः । एतेन 'न गुणाद्धभ्यसे सुखम्' इतिन्यायेन स्वर्गमनुष्ठानहेतुसहिष्णोरेव पुरुषार्थः सिध्यतीति सूचितम् ॥ ८ ॥

श्री० टी०—राजसं त्यागमाह—दुःखमिति । यः कर्वाऽऽत्मनोर्धं विना केवलं दुःखमित्येवं ज्ञात्वा शरीरायात्मयान्नित्यं कर्म त्यजेदिति यथादृष्टत्वागो राजसः, दुःस्वस्य राजसत्वात् । अतस्त्वं राजसं त्यागं कृत्वा राजसः पुरुषस्यागस्य फलं ज्ञाननिष्ठाक्षणं नैव लभेत् इत्यर्थः ॥ ८ ॥

स० टी०—चित्तशुद्धिं विना यस्तु कर्मण्यधिकृतः पुमान् ॥ दुःखमित्येव देशदावतिरागीत्यत्र' जड ॥ १ ॥ मत्वा कर्म त्यजेत्कायक्लेशभयात्प्राप्नुमोदिवम् ॥ पूर्वोक्तमोहदृष्ट्योऽपि राजसः स च पुरुषः ॥ २ ॥ आहं राजसं त्यागं कृत्वाऽज्ञानयोग्यताम् ॥ चित्तशुद्ध्या न चाश्रोति सार्विकत्यागं फलम् ॥ ३ ॥ प्रत्युप त्यागोऽवश्यं फलं त्यजेत् कर्मणः ॥ प्रत्यवेति सतो मूढः संसर्गं नरकं व्रजेत् ॥ ४ ॥ अतो मुमुक्षुर्भित्तं न त्याज्यं भीतिदोषकम् ॥ किं तु कार्यं स्वकर्मवि श्रीहरेरयमाश्रयः ॥ ५ ॥ ८ ॥

भा० टी०—यत् तामसत्यागप्रकारमुच्यते राजसं तमाह—दुःखमिति । मोहाभावेऽपि दुःखमेवेति मत्वा यत्कर्म कायक्लेशभयात् शरीरदुःखभयात् त्यजेत्—यदित्यन्यथं च, यस्त्यजेदित्यर्थः । स राजसं रजोनिर्मुक्तं

त्यागं कृत्वा त्यागस्य ज्ञानपूर्वकस्य सर्वकर्मत्यागस्य फलं मोक्षारम्भं नैव लभेत् । एककारणेतादृशत्यागावत्वा
मोक्षाशापि न कर्तव्येति सूचयति ॥ ८ ॥

प० टी०—राजसं त्यागमह—दुःखमिति । अथ कर्ता कर्म दुःखं दुःखसाध्यमिति मत्वा कायेऽशम-
याद्यस्यजेत् स राजसं त्यागं कृत्वा ज्ञानविशिष्टालक्षणं त्यागफलं नैव लभेत् ॥ ८ ॥

रा० टी०—दुःखमिति । दुःखं प्रविशूलेदनीयरूपदुःखकरणमित्येव कायेऽशमयाद्य कर्म त्यजेदिति
यत्स राजसत्यागः । तं राजसत्यागं कृत्वा त्यागफलं भगवत्प्रीतिरूपं नैव लभेत् ॥ ८ ॥

कार्यमित्येवं यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ! ॥

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

त० टी०—सात्त्विकं त्यागमाह—कार्यमिति । कार्यं कर्तव्यमेवेति बुद्ध्या नियतमवश्यकर्तव्यतया
विहितं नित्यनैमित्तिकं कर्म सङ्गं स्वकर्तृत्वाभिविवेशं फलं चैव त्यक्त्वा यत्क्रियते स त्यागः सात्त्विको
मतः । भगवदारविधिरूपतया सत्त्वशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पादक इत्यर्थः ॥ ९ ॥

म० टी०—कर्मत्यागस्तामसो राजसश्च हेयो दर्शितः । कीदृशः पुनरुपादेवः सात्त्विकस्त्याग इत्युच्यते—
कार्यमिति । विध्युद्देशे फलाश्रयणेऽपि कार्यं कर्तव्यमेवेति बुद्ध्या नियतं नित्यं कर्म सङ्गं कर्तृत्वाभिविवेशं
फलं च त्यक्त्वेव यत् क्रियतेऽन्तःकरणशुद्धिपर्यन्तं स त्यागः सात्त्विकः सत्त्वनिर्मुक्तो मत आदेयत्वेन संमत्तः
शिष्टानाम् । ननु नित्यानां फलमेव नास्ति कथं फलं त्यक्त्वेत्युक्तम् । उच्यते—अस्मादेव भगवद्भचनाश्रित्यानां
फलमस्तीति गम्यते, निष्कलस्यानुष्ठानार्थं भवात् । तथा चाऽऽपस्तम्बः—‘तद्यथाऽऽन्ने फलायै नित्ये छाया-
गन्धावनूत्ययेते एवं धर्मं चर्यमाणमर्थं अनूत्यन्ते’ इत्यानुपदिष्टं फलं नित्यानां दर्शयति । अकरणे प्रत्य-
वायस्त्वित्थं नित्यानां प्रत्यवायपरिहारं फलं दर्शयति । धर्मेण वापमपनुद्विगं । तस्माद्वर्ग परमं वदन्ति,
‘येन केन च यजेतापि वा दर्शितेमेनानुपहतमना एव भवति’, ‘तदानुर्देवयाजी श्रेयानात्मयाजीत्यात्मया-
जीति इ द्रव्यात् । स इ वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाहं संस्मरय इदं मेऽनेनाहं मुपधीयते’ इत्यादिश्रुत-
यश्च ज्ञानप्रतिबन्धकषापक्षयलक्षणं ज्ञानयोग्यत्वरूपमुप्योत्पात्तिलक्षणं चात्मसंस्कारं नित्यानां कर्मणा
फलं दर्शयन्ति । तदभिसन्धिं त्यक्त्वा तान्यनुष्ठेयानोत्तर्यः । यत्तुलं त्यागसंन्यासशब्दौ घटपटशब्दाविव
न भिन्नजातीयौ, किंतु फलाभिसंनिवृत्तकर्मत्याग एव तयोरर्थ इति वक्ष्यते । वक्ष्यते । वक्ष्यते । वक्ष्यते ।
फलाभिसंनिवृत्तौ मोहाद्वा कायेऽशमयाद्वा यः कर्मत्यागः स विशेष्याभावकृतो विशिष्टाभावस्त्वानसत्त्वेन राज-
सत्त्वेन च निन्दितः । यस्तु सत्यपि कर्माणि फलाभिसंभित्यागः स विशेष्याभावकृतो विशिष्टाभावः सा-
त्त्विकत्वेन स्तूयत इति विशेष्याभावकृतो विशेष्याभावकृतो विशेष्याभावकृतो विशेष्याभावकृतो विशेष्याभावकृतो
रोधः । उभयाभावकृतस्तु निर्गुणत्वात् त्रिविधमध्ये गणनीय इति चाबोधात् । एतेन ‘त्यागो हि पुरुषस्यापि
त्रिविधः संप्रकीर्तितः’ इति प्रतिज्ञाय कर्मत्यागलक्षणे द्वे विधे दर्शयित्वा प्रविज्ञानतुल्यं कर्मानुष्ठानलक्षणा
तृतीयां विधा दर्शयतो भगवतः प्रकटमकौशलमापावितम् । न हि अभावे त्रयो ब्राह्मणा भोजयितव्याः, द्वौ
कटकौण्डिन्यौ तृतीयः क्षत्रिय इति तद्वदिति परास्तम् । विद्युतामापि विधाना विशिष्टाभावरूपेण त्यागसामान्ये-
नेकजातीययथा प्राग्गत्याख्यातवता । तस्माद्भगवदकौशलोद्भावनमेव महद्दोषलक्षितं इष्टं यम् ॥ ९ ॥

शं० टी०—फलमेव विवक्ष्य सात्त्विकत्यागमाह—कार्यमिति । विध्युद्देशेनमोत्या मुमुक्षुश्च च कार्यं
ममेदमवश्यं कर्तव्यमित्येव । कर्तव्यतापुद्गेर्विकल्पान्तरनिमित्तार्थं एवकारः । मयेदं कर्मधरमीत्ये, करणीय-
मेवेति दृढनिश्चयवया मुमुक्षुणा नियतं विध्युक्तं यत्तत्तत्तत्तत्तत्, सङ्गं कर्तृत्वाभिविवेशं कामं वा फलं च ।

चः समुच्चयार्थः । यद्यपि “स्वर्गकामः पशुकामः” इति वञ्चितस्य कर्मणः फलं न श्रूयते, यद्यपि फलाभावे
 “अहं हः संख्यामुपासीत” इत्यादिकर्मविषेकमन्तवाच श्रवानर्थस्य स्यात्ततो यत्किंचित्फलं कल्पनीयमुपासद्दुरि-
 तक्षयलक्षणम् । तादृशफलं ॥ फलकामतां च त्यक्त्वा परित्यजेत्यर्थः । ननु फलानपेक्षायां सत्यां पुंसः प्रवृ-
 त्तिरेव न स्यादिति चेन्न । साधोर्विष्णुद्वन्द्वनवीत्यैव प्रवृत्तिसंभवात्, “श्रुतिस्मृतिभ्यां मुनिनो नियम्यते”
 इति स्मृत्यैः । वैष्णवे दन्तभावेन कृते मुसशुद्धिवादिना फलकामनया कर्मणि कृते कर्तुः “आपः शुभ्यन्तु मेनतः”
 “पापेभ्यो रक्षन्ताम्” इत्यादिमन्त्रप्रियाशक्तिरलेन सत्त्वशुद्धिलक्षणं फलमर्थस्त्वयमेव सिध्यति । तत्फलं
 मोक्षश्च । अतस्तत्र कामसंफलत्वादि न कर्तव्यं, किंतु सत्त्वं फलं च त्यक्त्वा । एवं नित्यं यत्कर्म कुरुते स त्यागः
 सात्त्विकः सत्त्वगुणनिष्पन्नत्वात्सात्त्विक इति मतः सतामिदं स्वेनामिमत्, कर्मफलप्रज्ञाभावात्प्रत्ययापकृता-
 नार्थाभावाच्च पूर्वोक्तस्यागद्वयापेक्षया सात्त्विककर्मफलत्यागः श्रेष्ठ इत्यर्थः ॥ ९ ॥

श्री० टी०—सात्त्विकं त्यागमाह—कार्यमिति । कार्यमित्येवं युद्धा निपद्यमानस्य कर्तव्यतया विहितं
 कर्मसङ्गं फलं च त्यक्त्वा क्रियते इति यत् स तादृशत्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

स० टी०—वामसो राजसो हेयः कर्मत्यागश्च दर्शितः ॥ श्रीदृशः पुनरादेयः सात्त्विकस्याग उच्यते
 ॥ १ ॥ अत्र श्यं कार्यमेवेति युद्धया शास्त्रविधेर्वात् ॥ कर्तृत्वाभिनिवेशात्कर्मं सङ्गं त्यक्त्वा फलं तथा
 ॥ २ ॥ नित्यं नैमित्तिकं कर्म क्रियते सत्त्वशुद्धये ॥ आदेयत्वेन शिष्टाणां स त्यागः सात्त्विको मतः
 ॥ ३ ॥ ननु नास्त्येव नित्यानां फलं त्यक्त्वाति तत्कथम् । उक्तमिदम् च ब्रूमः श्रीमत्सूत्रतो हरेः ॥ ४ ॥
 वाक्यादेव फलं तेषामस्तीत्येवं हि गम्यते ॥ यतो न निष्फलस्यास्तु तद्विपूर्वमनुष्ठितिः ॥ ५ ॥ कर्मणा
 पितृलोकाः स्यादित्यादिश्रुतिवाक्यतः ॥ अत्र श्यं फलमस्त्येवानुनिष्पादि च कर्मणाम् ॥ ६ ॥ नित्यानामन-
 तुष्टाने प्रत्यवायस्तुतिस्तथा ॥ प्रत्यवायक्षयं तेषां फलं त्वं दर्शयत्यतः ॥ ७ ॥ यथेन पापमित्यादिश्रुतयो
 दर्शयन्त्यपि ॥ साक्षात्फलं विषयः शुद्धिर्नित्यानामानुपदिशम् ॥ ८ ॥ पितृलोकादिसंप्राप्तिः प्रत्यवायक्षयस्तथा ॥
 मोहाद्वा कुशलात्वा वा फलासङ्गे च सत्यापि ॥ ९ ॥ नित्यकर्मपरित्यागः क्रियते योऽविपश्चिता ॥
 स त्यागस्तामसत्वेन राजसत्वेन निम्नितः ॥ १० ॥ फलमिसंतिष्ठित्यागो यस्तु कर्मणि सत्यपि ॥ स्तूयते
 सात्त्विकत्वेन स त्यागः सत्त्वशोभकः ॥ ११ ॥ ९ ॥

भा० टी०—एवं राजसत्यागप्रकारमुक्त्वा सात्त्विकं वमाह—कार्यमिति । सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं फलं च
 त्यक्त्वा विहाय कार्यं कर्तव्यमित्येव नियतं नित्यं यत्कर्म क्रियते, स त्यागः सात्त्विको मतः । ननु नित्यानां
 विष्णुदेशे फलश्रवणात् तेषां फलं त्यक्त्वाति कथमुक्तमिति चेत्, नित्यानां कर्मणा फलवत्त्वे भगवद्भजनं प्रमाण-
 मिति गृहाण । अन्यथा भगवद्भजनमनर्थकं स्यात् । यद्वा विधिना कृतस्य कर्मण आनन्दक्षये विष्यानर्थक्य-
 प्रसङ्गात् औचित्याभावेऽपि कर्माधिकृतो ह्ये नित्यं कर्मकृतमात्मसंस्कारं प्रत्ययाचपरिहारं च फलं कर्तुः
 करोतीति कल्पयति कामपि कल्पनां निवारयति भगवान्—फलं त्यक्त्वाति । अयमेव त्यागश्च शुद्धिहेतुरिति
 सूचनार्थमनुजेति संशोधनम् । ननु कर्मपरित्यागास्तिविधौ मत इति त्यागस्य त्रैविध्यं प्रस्तुत्य सङ्गफलत्या-
 गस्य तृतीयत्वेन कथनमसुक्तम् । यथा त्रयो ग्राहणा आगतास्तत्र सप्तद्वन्द्ववेदविदो द्वौ क्षत्रियस्तृतीय इति
 वद्वदिति चेन्नैव दोषः । कर्मसंन्यासस्य सङ्गफलत्यागस्य च त्यागसामान्येन राजसतामसत्वेन कर्मत्यागनि-
 न्दया सङ्गफलत्यागस्य तृतीयत्वेन प्रदर्शनस्य सात्त्विकत्वेन स्तूयत्येवमित्येवमाचार्यैः प्रतिज्ञातं त्यागत्रै-
 विध्यं त्रिभिः श्लोकेः प्रदर्शितम् । केचित्तु विदिष्टाभावरूपत्यागो विशेषणभावाद्दिष्टेत्याभावाद्भुभयाभावाच्च
 त्रिविधः संप्रकीर्तितः । तथाहि फलमिसंतिष्ठितपूर्वकर्मत्यागः सत्यापि कर्मणि फलमिसंतिष्ठित्यागदिकः । सत्यापि
 फलमिसंतिष्ठितं कर्मत्यागात् द्वितीयः । फलमिसंतिष्ठितं कर्मणश्च त्यागानुवीयः । तत्र प्रथमः सात्त्विक आदेय-

त्वेनात्रैव विधिरस्तिः । द्वितीयस्तु दुःखदुःख्या कृतो राजसः । विपर्ययसिन् कृत्वास्तमः । इति राजसताम-
सभेदेन द्विविधोऽप्यत्रैव हेयत्वेन निन्दितः । तृतीयस्तु विदुषा कर्मानिधिराणां निमिद्विषुणा च कर्तुं योग्यो
द्विविधः । तत्रासः स्थितप्रज्ञश्चाप्यौ प्राग्व्याख्यातः । द्वितीयस्तु “ नैषकर्म्यसिद्धिं परमां ” इत्यत्र वक्ष्यते
इति वर्णयन्ति । अस्मिन् पक्षे एकस्मिन्महोदन्तर्भावं कृत्वा तृतीयः प्रदेशान्तरे प्रक्षित इति प्रतिज्ञाया
अनिवारि भगवतो महत्कौशलतापादको द्रष्टव्यः ॥ ९ ॥

प० टी०—सात्त्विकं त्यागमाह—कार्यामिति । कार्यमवश्यं कर्तव्यत्वेन प्राप्तमित्येव मत्वा नियतं नित्यं
कर्म सङ्गं फलं च त्यक्त्वा यत्क्रियते स त्यागः सात्त्विको मतः । अत्रैतदुक्तं भवति । वेदयोचितस्य कर्मणः
प्रयोजनद्वयं दर्शितमस्ति स्वर्गादीष्टप्राप्तिः संसाराद्यनर्थपरिहारश्च । तत्रैष्टप्राप्तिर्मानस्य वडिशामिप्राप्तिरिव
दुःखभासित्वेनावस्थानमेवानर्थपरिहारः । तथाचोभयोरन्येऽवश्यकत्वेन किमुत्प्रेषामिति विचारेऽनर्थपरिहार
प्रबोधान्तं श्रेयानिति भगवतो हार्दम् ॥ ९ ॥

रा० टी०—कार्यामिति । कार्यमवश्यं कर्तव्यमन्यथा प्रत्ययायादितिदुःखया सङ्गं मदीयमिति स्तेहं स्वर्गा-
दिफलं च त्यक्त्वेन नियतं वर्णाश्रमोचितं कर्म यत् क्रियते स त्यागः कर्मानुष्ठानसाहितः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुपजते ॥

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

त० टी०—तदेवं सात्त्विकत्यागेनेत्यपन्नज्ञानस्य मुमुक्षोर्वैतनश्चक्रामाह—न द्वेष्टीति । सत्त्वसमा-
विष्टो यदा सत्त्वेनात्मानात्मनिवेकज्ञानहेतुना समाविष्टो व्याप्त अत एव मेधावी मेधा तत्त्वावधारण-
क्षणा बुद्धिस्तद्दानं तत एव छिन्नसंशयः, देहात्मयायात्मनिश्चयेन छिन्नसंदेहः । एवंभूतो यः सात्त्विक-
क्यागी ॥ अकुशलं शरीरदुःखावहं विशिरे प्रातःस्नानमेकादश्युपवासन्यागरणादिकं कर्म न द्वेष्टि
मतिकूलबुद्ध्या न त्यजति । कुशले सर्वजनसामान्यप्रियत्वेनाभिप्रेते श्रोत्र्येऽसकृत्स्नानजलादीनां
स्वापारामादनादौ नानुपजते भीत्यतिशयं न करोति । परिणामे सुखापादकं महदपि दुःखं सहते ।
संसारफलकं महदपि सुखं नेच्छतीत्यर्थः ॥ १० ॥

म० टी०—सात्त्विकस्य त्यागस्याऽऽद्यानाय सत्त्वशुद्धिद्वारेण ज्ञाननिष्ठा फलमाह—नेति । यस्त्यागी सा-
त्त्विकेन त्यागेन युक्तः पूर्वोक्तेन प्रकारेण कर्तृत्वाभिनिवेशं फलाभिधं च त्यक्त्वाऽन्वकरणशुद्धयं वि-
हितकर्मानुष्ठायी ॥ यदा सत्त्वसमाविष्टः सत्त्वेनात्मानात्मनिवेकज्ञानहेतुना चित्तमतेनातिशयेन सन्त्यजान-
प्रतिबन्धकरतन्त्रमोमल्लाहिल्येनात्मसन्वात् फलव्यभिचारेणाविष्टो ब्याप्तो भवति भगवदपि नित्यकर्मलानुष्ठान-
नात् पापमलापकर्षक्षणेन ज्ञानोत्पत्तियोग्यत्वरूपपुण्यगुणाभानलक्षणेन च संस्कारेण संस्कृतमन्त्रकरणं
यदा भवतीत्यर्थः । तदा मेधावी ज्ञानमसर्वकर्मोपरममुख्यसंदानादिसमाधायिकान्द्रयुक्तेन मनननिदिध्यास-
नादयः फलोपकार्यद्रुक्तेन च अत्रागच्छेद्वान्तवाक्यविचारेण परिनिष्पन्नं वेदान्तमहावाक्यकरणं निरस्त-
समस्ताप्रमाणशङ्कं चिद्व्यापिव्ययकमहं ब्रह्मास्मीति प्रकृत्यैक्यज्ञानमेव मेधा, तथा नित्यं युक्तो
मेधावी स्थितप्रज्ञो भवति, यदा छिन्नसंशयः अहं ब्रह्मास्मीति विचाररूपया मेधया तद्विद्योच्छेदे तत्कार्यं
संशयविपर्ययशून्यो भवति, तदा च क्षीणकर्मत्वात् न द्वेष्ट्यकुशलं कर्माश्लेषं कर्म्यं निषिद्धं, वा कर्म न
प्रविकूलवया मन्यते, कुशले शोभने नित्ये कर्मणि नानुपजते न प्रीतिं करोति कर्तृत्वाद्यभिमानहितत्वेन
कृतकृत्यत्वात् । तथा च भुक्तिः—१ नियते हृदयमन्यच्छिन्नयते सर्वसंज्ञायाः । क्षीयन्ते चास्य कर्मणि तस्मि-
न्ष्टे परावरे ॥ इति । यस्मादेवं सात्त्विकस्य त्यागस्य फलं तस्मान्महत्वाज्जि प्रयत्नेन एव एवो-
पादेय इत्यर्थः ॥ १० ॥

श्लो० टी०—एवं सामसादित्यागत्रयस्वरूपं प्रतिपाद्य बहुजनमस्वीश्वरार्पणवुद्धया फलाभिसंधिरहितवया सात्त्विकस्यागनिष्ठया सम्यगनुष्ठितैर्यज्ञदानादिकर्मभिः सम्यक्संस्कृतत्वेन विशुद्धान्तःकरणस्य शमदमादिसत्त्वगुणसंपन्नस्य सात्त्विकस्यागेनान्तःकरणपरिपाकसिद्धेः फलमाह—न द्वेष्टीति । सात्त्विकस्यागनिष्ठया भक्त्याऽनेकजन्मभिः समारापितपरमेश्वरप्रसादसंपन्नस्यागी सात्त्विकस्यागनिष्ठः पुरुषः सत्त्वसमाविष्टः सत्त्वं रजस्वमस्तत्कार्येभिर्निर्मुक्तं आत्मानात्मस्वरूपनिर्धारणसमर्थोऽन्तःकरणपरिपाकविशेषत्वेन समाविष्टः सत्त्वविशिष्टः स एव मेधावी यज्ञविद्वरोः स कृदुपदेशमात्रेण यज्ञोवाहमिति संप्राप्तात्मवत्त्वविज्ञानस्तत एव छिन्नसंशयः छिन्नः स्वस्य कूटस्थसङ्गविदात्मत्वविज्ञानेन बिच्छिन्नः संशयः संचितागामिपर्वमानकर्मभिर्मम सेवोऽस्ति वा न वा, कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणः संसार आत्मनो वाऽज्ञात्मनो वा, मोक्षकारणं योगो वाप्युपातिर्वा कर्म वा ज्ञानं वा राज्ञि वा, मोक्षः सात्त्विक्यादिवर्वा निर्विशेषात्मनावस्थानलक्षणो वा ऽन्यो वा, इत्येवमादिर्यस्य स छिन्नसंशयः स एव पञ्चाकुक्षलं न लभ्यते कुक्षलं निःश्रेयसं येन तदकुक्षलं शरीरारम्भकल्पेनेदं संसारलक्षणं यन्त्रकमिव काम्यं कर्म च नरकहेतुत्वेनेदं दुःखकारणमिति निषिद्धमपि किमनेनेति न द्वेष्टि द्वेषोऽप्रीतिस्वामत्र न करोति । तमःकृतमोहाभावादिदं दुष्टं धन्यकर्म न कर्तव्यमिति बुद्धिं न करोतीत्यर्थः । कुक्षले कुशलसाधने यज्ञदानादौ कर्मणि नित्ये मोक्षकारणमिति नानुपप्लवे । अनुपपन्नः प्रीतिस्तानं न करोतीति मुक्तस्य मोक्षेच्छाऽसंभवे साधनापेक्षाभावाच्च कर्तव्यत्वबुद्धिं न करोति, किंतु 'दोषबुद्धयोभयतीतो निषेवान्न निवर्तते । गुणबुद्धया च विहितं न करोति यथार्थकः' इति न्यायेन कुशलमकुशलं च कर्म सर्वं संन्यस्य ब्रह्मात्मना विप्रवीत्यर्थः । एतेन सर्वकर्मफलकामनात्यागपूर्वकमीश्वरार्पणबुद्धया सम्यगनुष्ठितैरेव यज्ञदानादिकर्मभिः सत्त्वगुद्धिः । शुद्धसत्त्वस्यैव सभ्यज्ञानं ब्रह्मात्मैकवैविषयकमप्रतिबद्धं सत्यरज्ञानवत् एव संशयादिविच्छिन्तः सर्वकर्मसंन्यासः सन्निरा च सिध्यतीति योहितं भवति । सतो ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनंभान इति सिद्धम् । यत्सर्वस्यापि गीताश्रवणस्य सर्वस्यापि च वेदस्य श्रवणस्य चाप्याभिष्कृतं भवतीति वेदितव्यमित्यर्थः ॥ १० ॥

श्री० टी०—एवंभूतसात्त्विकस्यागपरिनिष्ठितस्य लक्षणमाह—न द्वेष्टीति । सत्त्वसमाविष्टः सत्त्वेन संन्यासः सात्त्विकस्यागी अकुक्षलं दुःखादेव शिशिरे प्रातःस्तानादिकं कर्म न द्वेष्टि । कुक्षले च सुखकरे कर्मणि निदाये माष्याह्वानानादौ नातुप्रजते प्रीतिं न करोति । यत्र हेतुः—मेधावी स्थिरबुद्धिः । यत्र परपरिभवादि महदपि दुःखं सद्यवे स्वर्गादिमुखं च त्यज्यते यत्र किमदेवचास्माकलिकं मुखं दुःखं चेत्येवमनुसंधानवानित्यर्थः । अत एव छिन्नः संशयो मिथ्याज्ञानं दैहिकमुखदुःखयोःरूपादित्सापरिजिहीर्षलक्षणे वस्य सः ॥ १० ॥

स० टी०—सात्त्विकस्याग आदेयः सत्त्वशुद्ध्यात्मलब्धये ॥ इत्युक्तं तत्कलं ज्ञाननिष्ठमाहाधुना हरिः ॥ १ ॥ यस्यागी सात्त्विकेनैव त्यागेन बुद्ध उच्यते ॥ त्यक्त्वा फलाभिसंधिं च कर्तृत्वाभिनिवेशान् ॥ २ ॥ भीशुद्धये विहितं कर्म कुर्वन्भगवदुपगम ॥ वलप्रसादासधीशुद्धिस्तया प्राप्तशक्तिरित्याम् ॥ ३ ॥ सत्त्वेन सत्त्वविज्ञानहेतुभूतेन संयुतः ॥ वैराग्यसद्विवेकादियोग्यतापूर्वकेण च ॥ ४ ॥ असंदिग्धानि-पुर्वस्त्वैवान्ववपसां सदा ॥ विचारेण मुनिष्पन्नाहं ब्रह्मास्मीति या मतिः ॥ ५ ॥ सा मेधा यस्तया नित्यं युक्ते मेधाव्युदाग्धीः ॥ मेधाचित्त्वेन संछिन्नः संशयो यस्य मोहजः ॥ ६ ॥ स्वात्मावस्थानमेवार्ति परं मोक्षैकसाधनम् ॥ सैवान्यात्किंचिदित्त्वेवं निश्चयेन प्रमात्मना ॥ ७ ॥ तदैव क्षीयकर्मत्वात्काम्यकर्माद्यक्षो-भनम् ॥ प्रतिकूलतया नैव मन्यते स्वात्मनि स्थितः ॥ ८ ॥ कुक्षले क्षोभने नित्ये न करोति रतिं शुभीः ॥ दुष्कृत्यतया तुल्यस्य च कर्तृत्वमिष्यते ॥ ९ ॥ भिद्यते हृदयग्रन्थिद्वयान्वये सर्वसंशयाः ॥ क्षीयन्वे चास्य कर्मणि यस्मिन्ष्टे पराये ॥ १० ॥ त्यागस्य सात्त्विकस्यास्ति यस्मादेवं फलं वतः ॥ महताऽपि प्रयत्नेन स आदेयो मुमुक्षुषा ॥ ११ ॥ १० ॥

भा० टी०—एवं सात्त्विकं त्यागमुक्त्वा योजयिष्यते; सङ्गं फलाभिसंधिं च त्यक्त्वा कर्म करोति बाहु-
 कर्मानुष्ठानेन संस्कृतात्मा सन् जन्मादिविक्रियारहितत्वेन निष्क्रियमात्मानमात्मत्वेन संयुक्तः सर्वकर्माणि मनसा
 संन्यस्य नैव कुर्वन् कारयन्नासीनो नैष्ठिक्यं लक्षणां ज्ञाननिष्ठां प्राप्तोतीत्येतत्पूर्वोक्तस्य कर्मयोगस्य प्रयोजन-
 माह—न द्वेष्टीति । यस्त्यागी पूर्वोक्तसङ्गफलत्यागवान् नित्यकर्मनुष्ठायी यदा सत्त्वसमाविष्टः सङ्गं फलाभिसंधिं
 च त्यक्त्वा कर्मनुष्ठानतः सङ्गफलभ्यामकलुषीक्रियमाणं नित्यैश्च कर्मभिः संस्क्रियमाणं विशुद्धं समुदुद्ध-
 'स्वभास्मानात्मविवेकविज्ञानहेत्वन्तःकरणं सत्त्वयुक्तं प्राप्तं, तेन समाविष्टः संन्यासः संयुक्त इति यावत् । अतः
 एव मेधावी ब्रह्मात्मज्ञानलक्षणा प्रेक्षा मेधा तद्वन् मेधावी । मेधावित्वादेव ब्रह्मात्मस्वरूपावस्थानमेव परं
 निःश्रेयससाधनं नान्यत् किंचिदित्येव निश्चयेन छिन्नोऽविद्याकृतः संशयो यस्य ॥ श्रिभक्तसंशयः “ तमेव
 विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽन्यथा ” । “ भिराते हृदयप्रभिविश्रित्यन्ते सर्वसंशयाः । सीयन्ते चा-
 र्यकर्माणि वसिष्ठेष्टे परावरे ” इति श्रुतेः स यदा अकुशलमशोभनं कान्यं निषिद्धं च कर्म न द्वेष्टि काम्या-
 दिकर्मशरीराभ्याविद्वारेण संसारकारणमवः किमनेनेत्येवं द्वेषं न करोति । कुशले चिच्छुद्ध्यादिद्वारा मोक्ष-
 हेतुत्वात् शोभने नित्ये कर्मणि नानुपपन्ने सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिप्रतिष्ठेतुल्येन मोक्षकारणमनोऽनेन मदीयं
 प्रयोजनं सेत्स्यतीत्यनुपपन्नमासक्तिं प्रीतिं न करोतीत्यर्थः । एवंभूतसात्त्विकपरित्यागनिष्ठस्य लक्षणमाह—
 सत्त्वसमाविष्टः—सात्त्विकस्यागी भक्तुशले दुःखादं शिशिरे प्रावज्ज्ञानादि कर्म न द्वेष्टि कुशले च सुखक-
 र्मणि निदाये मध्याह्नानादौ नानुपपन्ने प्रीतिं न करोति । तत्र हेतुः—मेधावी स्थिरबुद्धिः । यत्र परपरिभ-
 वादिमहदुःखमपि सङ्गते स्वर्गादिसुखं च त्यज्यते तत्र कियदेतल्लालिषं सुखं दुःखं चैवमनुसंधानवान्
 इत्यर्थः । अत एव छिन्नः संशयो मिथ्याज्ञानं दैहिकमुल्लङ्घ्योपादिसापारिनिर्हीनलक्षणं यस्य स
 इत्यपरे । इदं तु स तु त्यागी सात्त्विकस्यागकर्ता । तुल्यस्वस्वायसराजसत्यागकर्तृत्वे निरोपयौतकः ।
 अकुशलमविवेकिनं मोक्षकथानभिज्ञं देशभिमानिनम् । अत एवान्तःकरणशुद्धिप्रयोजककर्माचरणसिद्ध्यु-
 किमर्थं वा पदस्कर्माचरति किंवा पुत्रदारादिनिर्वाहप्रवृत्तकर्म त्यजसीत्येवमादि जल्पन्वं न द्वेष्टि चिक्त्वा
 परतो गच्छेत्तेवमादिचेष्टाभावात् द्वेषं न करोतीत्यर्थः । तथा कर्मकुशले नित्यनैमित्तिककर्माचरणकुशले
 तन्मात्रासङ्गात्फलत्यागवति स्वसमाने नानुपपन्ने । ‘ ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति वृच्छति । शुद्धे
 भोजयते चैव यद्विषं प्रीतिलक्षणम् ’ इत्युक्तमनुपपन्नं न करोति । ननु वस्योभयविषयिद्वन्द्वानां संशय एव
 किं न स्यादित्यत उक्तम्—छिन्नसंशयः संशयरहितः । तत्रैव हेतुमाह—मेधावीति । स्वीकरणनिश्चयवारणा-
 वान् । कुशोऽयं निश्चयस्तत्स्येत्यत उक्तम्—असमाविष्ट इति । असमे क्षयिकालान्तरादतरे निरविशयानन्वृत्ते
 फले आविष्टो छिन्तवान् अत ईदृग्लक्षणे योगी त्यागी शेष इति भाव इति वर्णयन्ति । एवमुक्त्यं सा-
 त्त्विकं त्यागमुक्त्वा मुख्यं तमाह—न द्वेष्टि सत्त्वेन सम्बन्धविष्टो व्याप्तस्यागी मुख्यः सात्त्विकस्यागी
 संन्यासित्यर्थः । अकुशलमसुखप्रदं कर्म त्रिषण्णरन्तानचतुर्गुणश्रीचमिष्याटनादिप्रयासरूपं न द्वेष्टि । कुशले
 मिष्टान्नभक्षणदौ नानुपपन्ने प्रीतिं न करोति । यदा कर्मकुशले सेवादिकर्मकुशले श्लिष्यादौ नानुपपन्ने तत्रा कुशले
 वा तं न द्वेष्टि । एतेन रागद्वेषभुक्तवमस्य दर्शितम् । तदपि कुल इत्यपेक्षायामाह—मेधावीति । उदापोहकु-
 शलसया नित्यनित्यवस्तुविवेचनार्थं प्रज्ञावान् । अनेन मोदाचस्य परित्याग इत्युक्तात्मसत्त्वायाम् व्यावृत्तिः ।
 मेधावित्वादेव छिन्नसंशयः । किं कर्माप्येवमुक्तिसाधनानि उत संन्यास एवेति संशयरहितः । अनेन कान्यं
 मित्येवेत्युक्तादमुख्यसात्त्विकस्यागमात् व्यावृत्तिरेव । त्यागीत्यनेन यत्ने दानमित्युक्तादस्यागमात् पूर्वोक्तं काये-
 त्युक्ताजसात्यागमात् व्यावृत्तिरित्यन्ये । आपार्योक्त्याख्यानापेक्षयोदाहृतव्याख्यानत्रयेऽप्यधिकं स्वार-
 स्यं चिन्त्यम् ॥ १० ॥

प० टी०—अथैवंभूतसात्त्विकत्यागपरिनिष्ठितस्य लक्षणमाह—न द्वेष्टीति । स्वचरनस्तमरकः सत्त्वेन समाविष्टः प्रविष्ट एवविभक्त्याग्यकुशलं देहपट्टाकरं कर्म न द्वेष्टि पदकार्यमिति न मनुते । तथा कुशले निदापि मध्याह्नानानवदेहसुखावहे कर्मणि नैव सज्जते, एतत्सुखकरमिति प्रीति न कुर्वते । अनेन कायकेशभयात्सजेदित्यादिवन्नजोगद्वित्वं दर्शितम् । यतो मेनामी बुद्धिमान् देहिकमुपादुमे अमन्यमानोऽय एव मनस्तावलम्बनेन छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

रा० टी०—सात्त्विकत्यागिनो विशेषणन्याह—न द्वेष्टीति । अकुशलं तात्कालिकमुपदं न किं तु कायकेशदुःखदं कर्म न द्वेष्टि । कुशले पूर्वार्जितपुण्यफले ननुपज्जते नैरुत्ति । सत्त्वसमाविष्टः सम्यक्सत्त्वगुणेन व्याप्तः मेधावी भगवत्तत्त्वज्ञानी छिन्नसंशयः परापरतत्त्वविषये भगवद्धर्मानुष्ठाने वा संदेहहीना त्यागी भगवति सर्वकर्मसमर्पणान्त्स सात्त्विकत्यागीत्यर्थः ॥ १० ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ॥

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

त० टी०—ननु सत्त्वसमाविष्टः कुशलाकुशलयोः कर्मणोर्देहि प्रीतिद्वयी न करोति, तर्हि किमर्थं तदनुष्ठानं फलाभावात् । फलाभिसंभितानुष्ठितस्य च वन्धकत्वमसङ्गदुक्तमेव । तस्मान्मुमुक्षुणा सर्वमेव कर्म त्याज्यमित्याशङ्क्याह—न हीति । देहं विभर्ताति देहभृत् तेन देहभृता उत्पन्नज्ञानेनाहु-त्पन्नज्ञानेन वा कर्माण्यशेषतस्त्यक्तुं नैव क्षमयानि । देहनिर्वाहहेतूनां भोजनाच्छादनाद्यर्थकर्मणाम् यर्जनीयत्वात् । तस्माद्यस्तु कर्मफलत्यागी कर्मफलनपेक्षी स त्यागीत्यभिधीयते निरूप्यते ॥ ११ ॥

म० टी०—तदेवमात्मज्ञानवतः सर्वकर्मत्यागः संहान्यते कर्मप्रशृङ्खित्वेन रागद्वेषयोरभावादित्युक्तम् । संप्रत्यक्षस्य कर्मत्यागासंभवे हेतुकच्यते—नहीति । मनुष्योऽहं ब्राह्मणोऽहं गृहस्थोऽहमित्याद्यभिमानेनानाधितेन देहं कर्माधिकारेहेतुवर्णाश्रमादिरूपं कर्तृसौकर्यत्वाद्यश्रयं स्थूलसूक्ष्मसरीरेन्द्रियसंघातं विभर्ति अनाद्यविद्यावा-सनापशाङ्कपवहारयोग्यत्वेन फटिष्वतमसारयमपि सत्यतया स्वभिन्नमपि स्वाभिन्नवत्वा पश्यन् थारयति पोषयति चेति देहभृद्व्याधिसर्वाधिकारहेतुर्देहाभिमानस्तेन विवेकज्ञानशून्येन देहभृता कर्मप्रशृङ्खितेह्येतरागद्वेष-पौकल्येन सततं कर्मसु प्रवर्तमानेन कर्माण्यशेषतः निःशेषेण त्यक्तुं हि यस्मान्न शक्यं न क्षम्या-नि सत्या कारणसाम्यया कार्यत्यागस्याशक्यत्वात् । तस्मात् यस्त्वज्ञोऽधिकारी सत्त्वबुद्धयर्थं कर्माणि कुर्वन्नपि भगवदनुकम्पया तत्फलत्यागी । गुणव्दस्तस्य दुर्लभस्वबोधितार्थः । स त्यागीत्यभिधीयते गौण्या वृत्त्या स्तुत्यर्थमत्याग्यमपि सन् । अक्षेपकर्मसंन्यासस्तु परमार्थदर्शित्वेन देहभृता शक्यते कर्तुमिति स एव मुख्यया वृत्त्या त्यागीत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

श्री० टी०—इदानीं नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेष्वधिकृत्यो देहात्मबुद्धिः पुरुषस्तस्याक्षेपकर्मपरित्याग-स्याशक्यत्वात्कर्मफलत्यागेन कर्मानुष्ठानं एवाधिकारो न तु कर्मत्याग इति प्रतिपादयति—न हीति । हि यस्मात्कारणदेहभृता देहमयमेवाहमिति स्वात्मना विभवीति देहभृत् देहात्मबुद्धिरज्ञ एव कर्माधिकारी न स्वात्मज्ञातस्य कूटस्थमेवात्मानं सर्वदृश्यविलक्षणं पश्यतो विदुषो देहात्मत्वबुद्धयसंभवात्कर्माधिकारानु-पपत्तेरहं कर्तृत्वविभ्रमाभिनिनः । एवं देहाद्यहंयुद्धेः कर्मण्यविकारस्ततो देहभृताऽनात्मज्ञेन अक्षेपतोऽक्षेपा-णि नित्यनैमित्तिककान्यप्रतिषिद्धान्यन्यान्यापि च कर्माणि त्यक्तुं संन्यसितुं न शक्यं तस्याकर्त्रात्मज्ञानाभा-वात् । यस्त्वेवमज्ञानवान् भवति तस्यैवाक्षेपकर्मसंन्यास उपपद्यते न तज्यस्य । तस्माद्यस्त्वनात्मज्ञः कर्म-ण्यधिकृतः सन् कर्मफलत्यागी भवति स एव त्यागी सर्वकर्मसंन्यासी निष्काम इत्यभिधीयते । सर्वेषामपि

तामिमानेन देहं पर्णाश्रमाश्रयम् ॥ कर्तृत्वाद्याश्रयं स्थूलसूक्ष्मसंपातमाश्रयम् ॥ १ ॥ निर्भयनाशविधादि-
वशादात्मतया स च ॥ देहभूतेन कर्माणि कर्मण्येषाधिकारिणा ॥ ४ ॥ विवेकज्ञानशून्येन रागद्वेषपत्रा
सदा ॥ त्यक्तुं निःशेषतो यस्मात्प्र शक्यमिति कथं न ॥ ५ ॥ सत्यां कारणसामान्यां कार्यत्यागोऽतिदुष्करः ॥
तस्मादशोऽधिकारी यः कुर्वन्कर्माणि शुद्धये ॥ ६ ॥ फलभिसंश्लिष्टायां तु शक्येनातिदुर्लभः ॥ अ त्यागीत्युच्यते
गौण्या वृत्त्या मुरयस्तु तत्त्वचित् ॥ ७ ॥ ईश्वरानुग्रहात्कर्मफलत्यागितया सुधीः ॥ युज्यते तत्त्वबोधेन
नान्ययेत्याशयो हरेः ॥ ८ ॥ ११ ॥

भा० टी०-तदेवं सात्त्विकत्यागवतः शुद्धचित्तस्य सर्वकर्मत्यागे मुख्यसंन्यासेऽधिकारं प्रदर्शयति-
तस्य देहाभिमानित्वेन देहभूतोऽन्त्यायायाधितात्मकर्तृत्वविज्ञानवयाहं कर्तेति निश्चितबुद्धेरशेषकर्मपरित्याग-
स्याशक्यत्वात् कर्मफलत्यागेन विहितकर्मानुष्ठाने एवाधिकारो न त्याग इत्येवमर्थं दर्शयितुमाह-नहीति ।
हि यस्मादेहभूता देहं स्यात्सत्त्वेन निर्भावं पारयतीति देहभूत देहाभिमानवान् तेनाक्षेनाशेषतः निःशेषेण
सर्वाणि कर्माणि त्यक्तुं संन्यासितुं न शक्यते । तस्माद्यत्तदशो देहभूतचित्ततो विहितानि कर्माणि कुर्वन्
तत्फलत्यागी कर्मफलभिसंश्लिष्टमात्रसंन्यासी स त्यागीत्यभिधीयते । कर्मपि सन् त्यागीति स्तुत्यभिप्रायेणो-
क्तम् । यथाच परमार्थदर्शिना देहाभिमानशून्येनाशेषकर्मसंन्यासः शक्यते कर्तुमिति भावः ॥ ११ ॥

प० टी०-तदेवाह-न हीति । देहभूता देहाभिमानयता वैदिकव्यवहाराय करणकारणव्यापारं कुर्वता-
शेषतः कर्माणि त्यक्तुं न हि शक्यम् । फलशेषशक्यत्वं त्यक्तुं शक्यत्वं इत्यर्थः । न हि कश्चित्क्षणम-
पीति पूर्वमेवोक्तम् ॥ ११ ॥

रा० टी०-पूर्वं कर्तव्यानीति मे पार्थेयम् सङ्गफलत्याग एव त्यागशब्दार्थ इति स्पष्टिद्वान्तो निर्णीतः ।
अधुना त्याग्यं होपवदित्यस्य योजनशङ्कनाय सर्वकर्मपरित्यागो वा विहितकर्मत्यागो वा न त्यागश-
ब्दार्थः । येन त्याग्यं होपवदित्यस्य सर्वकर्मत्यागोऽर्थ इत्युच्यत इति भावेनाह-न हीति । अशेषतः कर्माणि
त्यक्तुं न शक्यम् 'नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' इत्युक्ते । नापि विहितशेषत्यागः 'त्वय्यज्ञादीन्प-
रित्यज्य निरप्य यान्ति' इति प्रत्यवायस्मरणादिति भावः । हि यस्मादशक्यं तस्माद्यस्तु कर्मफलत्यागी स
एव त्यागीत्यभिधीयते । अतस्तस्यापि पक्षस्यापि फलत्याग एवार्थ इति भावः ॥ ११ ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ॥

भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां कश्चित् ॥ १२ ॥

त० टी०-ननु यथा देहपुष्ट्युद्देशाभावेनापि कृतस्य दधिदुग्धमिष्टानादिभोजनस्य पुष्टिफलत्व-
दर्शनात् तथा विधिनाऽनुष्ठितकर्मणामिह फलोद्देशाभावेऽपि प्रेत्येष्टानिष्टं फलं स्यादेवातो मोक्षविरो-
धित्वान्मुमुक्षुणा हेयमेव सर्वं कर्मेति चेत् तत्राह-अनिष्टमिति । अनिष्टं चरकतिर्यगादिप्राप्तिफलम्,
इष्टं दिव्यभोगप्राप्तिलक्षणं, मिश्रमिष्टानिष्टं मनुष्यसंवन्धिपुनरुपपन्नादीति त्रिविधं कर्मणः शुभाशुभस्य
फलमत्यागिनां फलत्यागरहितानामेव प्रेत्य देहत्यागादूर्ध्वं देहान्तरे भवति । न तु संन्यासिनां सम्पक्-
त्यक्तफलानां कश्चिदपि मोक्षविरोधफलं भवति । एवं च सात्त्विकानां पापाचारासंभवान्नानिष्टो-
त्पत्तिः । सुकृतानां तु भगवत्प्राप्तित्वान्न तद्गोमोत्पत्तिरत एव मिश्रमपि न भवति । तस्मान्नोक्त-
शङ्काऽवकाशः ॥ १२ ॥

म० टी०-ननु देहभूतः परमात्मज्ञानशून्यस्य कर्मिणोऽपि कर्मफलभिसंश्लिष्टागित्वेन गौणसंन्यासिनः
परमात्मज्ञानवतो देहाभिमानरहितस्य सर्वकर्मत्यागिनो मुख्यसंन्यासितस्य क. फले विशेषो यदलाभेन गौण-

त्वमेकस्य यद्वाभेन च मुख्यत्वमन्यस्य, कर्मफलत्यागित्वं तु द्वयोरपि तुल्यमित्यन्यो विशेषो वाच्यः । उच्यते—
 अनिष्टमिति । अत्यागिनां कर्मफलत्यागित्वेऽपि कर्मानुष्ठानिनामज्ञाना गौणसंन्यासिनां प्रेत्य विविदिषापर्यन्त-
 सत्त्वशुद्धेः प्रागेव मृतानां पूर्वकृतस्य कर्मणः फलं शरीरग्रहणं भवति आध्यात्म्यं फलश्रुत्या लयमदर्शने गच्छतीति
 निरुक्तः । कर्मण इति जात्यभिप्राययोगेन च, एतस्य त्रिविधफलत्वानुपपत्तेः । तत्र फलं कर्मणोऽपि विविदत्वात्
 त्रिविधं पापस्यानिष्टं प्रतिफूलवेदनीयं नारकविषयादिलक्षणं, पुण्यस्य इष्टमनुकूलवेदनीयं देवादिलक्षणं,
 मिश्रस्य तु पापपुण्ययुगलस्य मिश्रमिष्टानिष्टसंयुक्तं मानुष्यलक्षणमित्येवं त्रिविधमित्यनुवादो हेयवार्थः ।
 एषं गौणसंन्यासिनां शरीरपादादूर्ध्वं शरीरान्तरग्रहणमावश्यमेतल्लुक्त्वा मुख्यसंन्यासिनां परमात्मसाक्षात्का-
 रेणाविद्यावत्कार्यनिवृत्तौ विद्वद्भैरवस्यमेवेत्याह—तत्तु संन्यासिनां कथितं । परमात्मज्ञानवतां मुख्यसंन्यासिना
 परमहंसपरिब्राजकानां प्रेत्य कर्मणः फलं शरीरग्रहणमनिष्टमिष्टं मिश्रं च कचिद्देशे काले वा न भवत्येवेत्यव-
 भाणार्थस्तु शब्दः, ज्ञानेनाज्ञानस्योच्छेदे वत्कार्याणां कर्मणामुच्छिन्नत्वात् । तथा च श्रुतिः—‘मिद्यते तु त्वयम-
 न्धिश्छिद्यन्ते सर्वसंज्ञायाः । क्षीयन्ते चास्य कर्मणि वस्मिन्ष्टे परावरे ’ इति । पारमर्ष्यं च सूत्रम्—‘तद-
 धिगम उत्तरपूर्वाधियोरुत्प्रेषितानौ तद्वर्षपेषितात् ’ इति परमात्मज्ञानादशेषकर्मस्य दर्शयति । तेन गौणसंन्या-
 सिनां पुनः संसारः मुख्यसंन्यासिनां तु मोक्ष इति फले विशेष उक्तः । अत्र कश्चिदाह—‘अनाश्रितः कर्मकर्म-
 कार्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च’ इत्यादौ कर्मफलत्यागिषु संन्यासिशब्दप्रयोगात् कर्मिण एवात्र फल-
 त्यागस्यामात् संन्यासिशब्देन गृह्यन्ते । तेषां च सात्त्विकानां नित्यकर्मानुष्ठानेन निषिद्धकर्मानुष्ठानेन च
 पापासंभवात्तानिष्टं फलं संभवति नापीष्टं कान्यान्नुष्ठानात्, ईश्वरार्पणेन फलस्य त्यक्तत्वाच्च । अत एव
 मिश्रमपि नेति त्रिविधकर्मफलासंभवेः । अत एवोक्तम् ‘मोक्षार्थी न प्रवर्तत तत्र काम्यनिषिद्धयोः । नित्यनेमि-
 सिके कुर्यात्प्रत्युपायसिद्धासया’ इति । स नक्तयः शब्दस्यार्थस्य च सर्वार्था न निर्धार्य भवेवेति । तथाहि—
 “गौणमुख्ययोरुक्त्ये कार्यसंप्रत्ययः” इति शब्दमर्यादा । यथा “अनावास्यायामपराधे विण्ढवितृयक्षेन चर-
 न्ति” इत्यत्र अनावास्याशब्दः काले मुख्यः । तत्कालोत्पन्ने कर्मणि च गौणः ‘य एवं विद्वाननावास्यायां यजते’
 इत्यादौ । तत्रानावास्यायामिति कर्मग्रहणे पितृयज्ञस्य तदङ्गत्वाच्च फलं कल्पनीयमिति विधेलाघवमिति पूर्व-
 पक्षितं कालायनेन—“अङ्गं वा समभिव्याहारात्” इति । गौणार्थस्य मुख्यार्थोपस्थितिविपूर्वकत्वान्मुख्यार्थस्य चेहा-
 वाधादभावात्स्याशब्देन काल एव गृह्यते । फलकल्पनागौरवं तृत्तरकालीनं प्रमाणवत्त्वावच्छिन्नकार्यमिति सिद्धा-
 न्तितं जैमिनिना—“पितृयज्ञः स्वकालस्यादनङ्गं स्यात्” इति । एवं स्थिते संन्यासिशब्दस्य सर्वकर्मव्याप्तिनि
 मुख्यत्वात् कर्मिणि च फलत्यागसाम्येन गौणत्वान्मुख्यार्थस्य चेहावाधातस्यैव संन्यासिशब्देन ग्रहण-
 मिति शब्दमर्यादायाः सिद्धम् । सत्यां कारणसामग्र्या कार्योत्पाद इति चार्थमर्यादा । तथाहि ईश्वरार्पणेन
 त्यक्तकर्मफलस्यापि सत्त्वशुद्धयर्थं नित्यानि कर्माण्यनुविष्टयोऽन्तराले सुतस्य प्रागजितैः कर्मभिरिविधं
 शरीरग्रहणं केन वाच्यं ‘यो वा एतद्वर्षं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकार्थेति ॥ कृपणः’ इति श्रुतेः । अन्वयः
 सत्त्वशुद्धिफलज्ञानोत्पत्त्यर्थं तदधिकारिशरीरमपि वस्त्यनव्यकमेव । अत एव विविदिषासंन्यासिनः अत्रणा-
 दिकं कुर्वतीऽन्तराले मृतस्य योगभ्रष्टशब्दवाच्यस्य ‘शुचीना श्रीमता येहे, योगभ्रष्टोऽभिजायते’ इत्यादिन्य
 ज्ञानाधिकारिशरीरप्राप्तिवशं भाविनीति निर्णीतं पष्ठे, यत्र सर्वकर्मत्यागिनोऽप्यज्ञस्य शरीरग्रहणमाव-
 श्यकं, तत्र किं वक्तव्यमज्ञस्य कर्मिण इति । तस्मादज्ञस्यावश्यं शरीरग्रहणमित्यर्थमपूर्वादया सिद्धं पराकान्तं
 चैकमविकपक्षनिराकरणे सूत्रमिति । तस्माद्यथोक्तं भगवत्पुन्यपादभाष्यकृतं न्यायानुवर्तमानं व्यायः । तदयमत्र
 निष्कर्षः—अकर्तृमोक्षपरमानन्दद्वैतविषयस्वप्नप्रकाशशब्दात्मसाक्षात्कारेण निर्विकल्पेन वेदान्तवाक्यजन्येन
 विचारनिश्चितप्राप्तयेन सर्वप्रकारप्राप्ताव्यवशङ्कान्यूनं ब्रह्मत्वज्ञानेनारमाज्ञाननिवृत्तौ वत्कार्यकृतत्वादिभ्या-

नरहितः परमार्थसंन्यासी सर्वकर्मोच्छेदाच्छुद्धः केवलः सत्त्वाविद्यारूपादिनिमित्तं पुनः शरीरमर्हणमनुभवति, सर्वभ्रमाणां कारणोच्छेदेनोच्छेदात् । यस्त्वविद्यावान् कर्तृत्वादिभ्रमावो देहभूतः स त्रिविधः रागादिशेषप्राप्त-
व्यात् काम्यानिपिडादियथेष्टकर्मनुष्ठायी भोक्षशास्त्राविधायकः । अथस्तु यः प्राक् कृतमुक्तवशात् किंचि-
त्प्रक्षीणरागादिदोषः सर्वाणि कर्माणि त्यक्तुमशक्नुवन्नपिडादिना काम्यानि च परित्यज्य नित्यानि नैमित्तिकानि च
कर्माणि फलभिसंप्रित्यागेन सत्त्वगुद्वयमनुतिष्ठन् गौणसंन्यासी भोक्षशास्त्राविहारी द्वितीयः सः । तवो नि-
त्यनैमित्तिककर्मालुप्तान्तेनान्तःकरणशुद्धया समुपजातविविदिषः अत्रणादिना वेदन्, मोक्षसाधनं संप्रिदा-
यिषुः सर्वाणि कर्माणि विधितः परित्यज्य प्रदानिष्ठं शुद्धमुपसर्पति विविदिषासंन्यासिसमाहृत्यस्तुतीयः ।
तत्राद्यस्य संसारिरस्य सर्वप्राप्तिसूत्रम् । द्वितीयस्य त्वनिष्ठमित्यादिना व्याख्यायम् । तृतीयस्य तु 'अपतिः श्रद्ध-
योपेतः' इति प्रभ्रमुक्तान्य निर्णयं पठे । अद्वय संसारित्वं ध्रुवं कारणसामग्र्याः सत्त्वात् । वस्तु कस्यचि-
ज्ज्ञानाननुगुणं कस्यचिज्ज्ञानानुगुणमिति विशेषः । विश्वस्य तु संसारकारणाभावात् स्वत एव केवल्यमिति
द्वौ पदार्थौ सूत्रितावसिन्मन् श्लोके ॥ १२ ॥

श्लो० टी०—एवं तामसादित्यागवत्तामापाततोऽकर्मिणामपि कर्मित्वं सात्त्विकस्यागितत्त्वकर्मित्वं च
प्रतिपाद्य कर्मिणां कर्मफलमकर्मिणां तदभावं च प्रतिपादयति—अनिष्टमिति । अनिष्टं पापकर्मफलं ताक-
स्यं तिर्यकत्वं वा, पुण्यकर्मफलमिष्टं देवत्वं, मिश्रमुभयमित्यफलं मनुष्यत्वं च “पुण्येन पुण्यलोकं तयति”
इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं त्रिविधं त्रिप्रकारकर्मणः कर्मफलमत्यागिनां कर्मवत्फलस्यागमकुर्वतां तामसादित्यागिनां
प्रेत्य मरणादूर्ध्वं भवत्येव । नाचार्यशेखरेऽपि क्रियायां कर्मणां त्यागाभावात्कृतानां कर्मणां फलान्नश्यंमात्रेणात्र
त्रिविधं कर्मफलमत्यागिनां भवत्येव न तु संन्यासिनां, कर्मफलस्यागलं नावसत्त्वशुद्धिसंभावित्वात्तद्विज्ञानेन
संन्यस्तानुश्लादिसंन्यासकर्मणां पत्नीनां कर्णिकचिदपि संचित्त्यागामित्यो वाऽन्यस्य वा पुण्यापुण्यलक्षणस्य
कर्मणो ज्ञानाग्निदेवध्वस्वरूपस्य फलं न भवति । 'सति कुठ्ये चित्रकर्म' इतिन्यायेन स्वस्थेव सत्त्वाभावे
फलदानसंभवादर्कर्मिणां विदुषां विदेहमुक्तिरेवेति सिद्धम् ॥ १२ ॥

श्री० टी०—एवंभूतस्य कर्मफलस्यागस्य फलमाह—अनिष्टमिति । अनिष्टं नारिकेलं, इष्टं देवत्वं, मिश्रं
मनुष्यत्वं, एवं त्रिविधं पापस्य पुण्यस्य भोभयमिश्रस्य च कर्मणो यत्फलं प्रसिद्धं तत्सर्वमत्यागिना सत्ता-
मानामेव प्रेत्य परत्र भवति तेषां त्रिविधकर्मसंभवात् । न तु संन्यासिनां कचिदपि भवति । संन्या-
सिनाब्देनात्र फलत्यागसाम्यात्प्रकृताः कर्मफलत्यागिनोऽपि गृह्यन्ते । 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म
करोति यः । स संन्यासी च योगी च' इत्येवमादौ च कर्मफलत्यागिषु संन्यासिसम्बन्धयोगदर्शनान्तः । तेषां
सात्त्विकानां पापासंभवात् ईश्वरार्पणेन च पुण्यफलस्य त्यक्त्वात् त्रिविधमपि कर्मफलं न भवतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

सं० टी०—ननु कर्मफलत्यागितया देहाभिमानिनः ॥ गौणसंन्यासिनो ज्ञानबुद्ध्यस्यापि च कर्मिणः
॥ १ ॥ देहाभिमानशून्यस्य मुख्यसंन्यासिनस्तथा ॥ त्यगित्वमुभयत्रापि मुख्यमस्तीति गम्येव ॥ २ ॥
तयोः फले विशेषः को यदलम्भेन गौणता ॥ एकस्यान्यस्य यद्भागे मुख्यत्वमिति चेच्छुभम् ॥ ३ ॥ कर्मा-
नुष्ठायिनां कर्मफलत्यागितयाऽपि च ॥ गौणसंन्यासिनां चित्तशुद्धेः प्रगेव कालतः ॥ ४ ॥ सूत्रानां
प्राकृतस्यास्ति शरीरग्रहणं फलम् ॥ मायिकं फलप्राप्तेनादर्शनं लयमेति यत् ॥ ५ ॥ एकत्वं कर्मणश्चेति
आत्मभिप्रायतः स्मृतम् ॥ अन्यथा त्रिविधं तत्स्यत्कथमेकस्य कर्मणः ॥ ६ ॥ कर्मणास्त्रिविधत्वात्त्रिविधं
फलमस्ति ॥ पापस्यानिष्टमात्रं च तिर्यगाविकलक्षणम् ॥ ७ ॥ देवादिलक्षणं चेष्टं पुण्यस्य फलमीरि-
सम् ॥ मिश्रस्य पापपुण्यात्मयुगलस्य नृलक्षणम् ॥ ८ ॥ इष्टानिष्टयुवं प्रोक्तं फलं हेतुतयाऽखिलम् ॥
गौणसंन्यासिनामेवं देहापादानन्तरम् ॥ ९ ॥ देहान्तरस्य ग्रहणमावश्यकमित्यस्ति ॥ मुख्यसंन्या-

सिनां ब्रह्मसाक्षात्कारेण तद्विदुः ॥ १० ॥ अविद्यादिनिवृत्तौ स्यात्कैवल्यात्मकनिवृत्तिः ॥ न देहग्रहणं
तेषां कचिच्छालेऽयथा दिशि ॥ ११ ॥ अनिष्टमिदं मिथं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ॥ ज्ञानेनाज्ञानबाधे हि
तत्कार्याणां च कर्मणाम् ॥ १२ ॥ उच्छिन्नत्वात्पुनर्देहग्रहणं संभवेत्कथम् ॥ क्षीयन्ते चास्य कर्माण्येत्येवं
श्रुत्याऽप्युदीरितम् ॥ १३ ॥ गौणसंन्यासिनां तेन संसारो हरिणैरेव ॥ मुख्यसंन्यासिनां मोक्षो विशेषो-
ऽयं फले तयोः ॥ १४ ॥ अयमत्रास्ति निष्कर्षः पूर्वोक्तस्य विवेचनात् ॥ निसृज्युद्धपरानन्दप्रत्यगवैतव-
स्तुनः ॥ १५ ॥ साक्षात्कारेण वेदान्तवाक्यजन्येन भास्वता ॥ मुनिश्रितप्रमात्मेन तत्त्वज्ञानेन सर्वथा
॥ १६ ॥ अज्ञानध्वान्तबाधे तत्कार्यकर्तृत्वबाधनात् ॥ यः परमार्थसंन्यासिकमोच्छेदात्स निर्मलः ॥ १७ ॥
नाविद्याकासकमादिसिद्धिर्निमित्तं त्रिविधं फलम् ॥ शरीरग्रहणं भूयोऽनुभवत्येव सर्वथा ॥ १८ ॥ कारणोच्छे-
दतः सर्वभ्रमाणां विनिवृत्तितः ॥ यस्त्यक्तो देहभूत्सोऽयं त्रिविधो भवति स्त्रियो ॥ १९ ॥ रागादिदोष-
प्रायल्याघयेष्टाचारसंमुखः ॥ कर्म कल्पनिपिडादि समाचरति मूढवी ॥ २० ॥ एकोऽयं मोक्षशाले यो-
ऽनधिकार्यतिपातरः ॥ अपरः प्राकृतैः पुण्यैः किंचिच्छीणमलः पुमान् ॥ २१ ॥ त्यक्त्वा काम्यं निपिडं
च नित्यं नैमित्तिकं शुभम् ॥ फलाभिसंयसिंस्यागात्सत्त्वबुद्धयर्थाचरन् ॥ २२ ॥ स चायं गौणसंन्यासी
मोक्षशालेऽधिकारयान् ॥ अन्यो धीशुद्धिमासाद्य अवणादिपरायणः ॥ २३ ॥ विवेकी ब्रह्मविन्मार्गे प्रवृ-
त्तोऽयं तृतीयकः ॥ तत्राप्यस्य महानर्थभाक्त्वं प्रत्यक्षमेव हि ॥ २४ ॥ द्वितीयस्याप्यनिष्ठादिफलं तन्नि-
बिधं रमृतम् ॥ तृतीयस्य पुरा षष्ठेऽध्याये संनिर्णयः कृतः ॥ २५ ॥ द्वितीयस्यापि सत्कर्मतारतम्याद्भूते-
रपि ॥ तारतम्यं स्पृष्टौ वेदे निर्णीतं च मनीषिभिः ॥ २६ ॥ संसारित्वं ध्रुवं वेदाद्यभिमानिनि पुरुषे ॥
अविद्याकासकमादिसाम्याः संभवादिति ॥ २७ ॥ सा च संसारिताज्ञानानुगुणा कस्यचिज्ज्ञेत् ॥
कस्यचिन्न तथेत्येवं विशेषतस्तत्र शोभितः ॥ २८ ॥ तत्पक्षस्य तु संसारकारणभाववः स्वतः ॥ सिद्धं
कैवल्यमेवातीत्यन्तार्थं सूचिताशुभौ ॥ २९ ॥ तावत्कर्मफलं नृणामविरतं संसारवशां विधाविधानिष्ठविभि-
न्नजननिविडं भ्रान्त्या कुलां भवेत् ॥ यावत्सत्त्वानवचारीकनिवहत्वाद्ये रसैकात्म्ये श्रीमत्कृष्णपदानुज्ञेन
मनसो वृत्ती रता षट्पदी ॥ ३० ॥ १२ ॥

भा० टी०—अमुख्यसंन्यासापेक्षया मुख्यसंन्यासस्य विशिष्टं प्रयोजनं किमित्याकाङ्क्षायामाह—अनिष्ट-
मिति । अनिष्टं नरकतिर्यागादिलक्षणं, इष्टं देवादिलक्षणम्, मिश्रमिष्टानिष्टसंयुक्तं मनुष्यलक्षणं चैवं त्रिविधं
त्रिप्रकारं कर्मणो धर्माधर्मलक्षणस्य फलं बाह्यान्तरिककारकव्यापारनिष्पन्नत्वाद्भेदेकम्, अविद्याकृतात्वात् मिथ्या-
भूषमिन्द्रजालमायोपमं भ्रमोद्भूतं प्रसंगात्सोपसर्पिकम्—फलमुक्तया लयमदर्शनं गच्छतीति फलशब्दनिर्व-
चनात् । तदेवं त्रिविधं फलसत्यागिनामज्ञानां कर्मिणामपरमार्थसंन्यासिनां प्रेत्य शरीरपासावृत्तिं भवति ।
फलाभिसंधिरहितानां कर्मणां देहपातावृत्तिं संविदादिकर्माद्विरोधिकस्यावश्यंभावादिति भावः । संन्या-
सिनां तु परमार्थसंन्यासिनां परमार्थसपरिप्राजकानां केवलज्ञाननिष्ठानामुन्मूलितविद्यादिसंसारशीजानां क-
चिद्देहो काले वा यथोक्तं फलं न भवति । अतः परमार्थतत्त्वविदः क्रियाकारकफलानामात्मन्यविद्याप्यारोपित-
त्वदर्शित एवाशेषकर्मसंन्यासित्वं संभवति, न त्वज्ञस्याधिष्ठानादिति क्रियाकर्तृणि कारणकाण्यतामत्वेन पश्य-
तोऽशेषकर्मसंन्यासित्वमिति भावः । यत्परं पुनर्भूतस्य कर्मफलस्यागस्य फलगाह—अनिष्टादिरूपं त्रिविधं
फलमागिनां सकामानामेव प्रेत्य परत्र भवति तेषां त्रिविधकर्मसंभवात्, न तु संन्यासिनां कचिदपि
भवति । संन्यासिनान्देनात्र फलत्यागसाम्यात् प्रकृताः कर्मफलत्यागिनो ब्रूयन्ते ‘अनाश्रितः कर्मफलं
कार्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च योगी च’ इत्येवमादौ च फलत्यागिषु संन्यासिनान्देप्रयोगदर्शनात् ।
तेषां सात्त्विकानां पापासंभवात् ईश्वरार्पणेन च पुण्यफलस्य त्यक्त्वात् त्रिविधमपि कर्म फलं न भवति-

त्यर्थ इति वर्णयन्ति । तत्रोपादेयं संन्यासिन्नन्दस्य परमार्थसंन्यासिनि सर्वकर्मत्यागिनि मुख्यत्वात् कर्मिणि च फलत्यागसाम्येन गौणत्वात् मुख्यार्थस्य चेहावाधात्तस्यैव संन्यासिन्नन्देन प्रहणसंभवे गौण-प्रहणस्य 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः' इति शब्दमर्यादाऽपरिज्ञानविजृम्भितत्वात् । सत्यां कारण-सामग्र्यां कार्यात्पाद इत्यर्थं मर्यादाऽज्ञानमूलकत्वाच्च ईश्वरार्पणेन त्यक्तकर्मफलस्यापि सत्त्वशुद्धयर्थं नित्यानि कर्मण्यनुतिष्ठतोऽन्तराले मृतस्य प्राणजितकर्मरूपकारणसामग्र्या त्रिविधस्वरूपकार्यत्वाद् आवश्यक एवेति विष् ॥ १२ ॥

प० टी०—एवंभूतस्य कर्मफलत्यागस्य फलमाह—अनिष्टमिति । अनिष्टं नारक्तिकम्, इष्टं देवत्वम्, मित्रं मनुष्यत्वम् । एवं त्रिविधं पापस्य पुण्यस्य मित्रस्य च कर्मणो यत्फलं प्रसिद्धं तत्सर्वमत्यागिना सकामानामेव प्रेत्य परत्र भवति, तेषां त्रिविधकर्मसंभवत् । न तु संन्यासिना कचिदपि भवति । संन्यास-शब्देनात्र फलत्यागिनो गृह्यन्ते 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः' इत्येवमादौ फलत्यागिणो संन्यासिप्रयोगदर्शनात् ॥ १२ ॥

रा० टी०—अत्यागिनिन्दापूर्वं त्यागिनं स्तोति—अनिष्टमिति । अनिष्टं नरकादि, इष्टं काम्यकर्मिणामिच्छाविपर्यमूतं स्वर्गादि, मिश्रमिष्टानिष्टभेदनरूपं मानुषादि, कर्मणस्त्रिविधं फलमत्यागिना कर्मफल-मत्स्यजता प्रेत्य मृत्या देहाभिर्गत्य स्थितानां भवति । संन्यासिनां तु अनियतकाम्यानां फलत्यागिना निय-तानां स्वरूपत्यागिना कचिदपि इह वा परत्र वा नास्ति । इष्टानिष्टादिरूपं कर्मणः फलमित्यनुपपन्नः । अत्र त्यागिनामित्येकस्य संन्यासिनाभित्युक्तिः, त्यागिनो हि परार्थं कार्यार्थादेरनियतकार्यं कुर्वन्ति, संन्यासि-नस्तु तदपि नेत्येतावन्तं त्यागिभ्यो विशेषं सूचयितुं, फलेच्छाभावेन तेषु त्यागित्वस्यापि सत्यत्वात् । नन्वेति । शुद्धशब्देन त्यागिना ज्ञानमवत्यागिद्वारा अपरोक्षतो मुक्तावानन्दाविशयफलं भवतीति सूचयते । उपपादितमेतत् त्यागाच्छान्तिरनन्तरमित्यत्र द्वादशेऽध्याये भाष्यादौ ॥ १२ ॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ॥

सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्ध्ये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

त० टी०—त्रिविधं कर्मफलं सकामानामेव भवति, न तु त्यागिनामित्युक्तम् । तत्र विवेकाविवेकप्रयु-क्तयोः कर्मण्यहङ्कारानहङ्कारयोरेव हेतुत्वप्रदर्शनाय कर्मसायान्यै प्रति कारणपञ्चकं प्रतिजानाति-पञ्चैतानीति । हे महाबाहो । एतानि बन्धमाष्यानि पञ्च कारणानि कर्मनिवर्तकानि मे मत्तो निबोध जानीहि । कर्मण्यहङ्कारानिष्टचये विवेकार्थं मुमुक्षुणाऽवश्यं ज्ञातव्यानीति प्रशंसति । सांख्ये सम्यक्-ख्यायन्ते निरूप्यन्ते विविच्यन्ते तत्त्वान्यस्मिन्निति सांख्यं तस्मिन् । कार्यभूते कृतान्ते बन्धमोक्षहेतुतया हेयोपादेयविभागेन कृतोऽन्तः कर्माकर्मनिर्णयो यस्मिन् तत्कृतान्तं सांख्यशास्त्रं तस्मिन् । यद्वा सम्यक्-ख्यायन्ते निरूप्यन्ते ज्ञातव्या जीवेश्वरमायादिपदार्था यस्मिन् तत्सांख्यं, कृतोऽन्तो बन्धमोक्षसाध-नादिनिर्णयो यस्मिन् तत्कृतान्तं तस्मिन् सांख्ये कृतान्ते वेदान्तशास्त्रे सर्वकर्मणां सिद्ध्ये बन्धकत्वा-भावेन यथावच्चक्षणातोत्पत्तये प्रोक्तानि प्रकर्षेण संबन्धभावेनोक्तानि ॥ १३ ॥

म० टी०—तत्रात्मज्ञानरहितस्य संसारित्वे हेतुः कर्मत्यागासंभव उक्तः 'नहि देहमृतं शक्यं त्यक्तुं कर्मा-ण्यपेक्षतः' इति । तत्राज्ञस्य कर्मत्यागासंभवे को हेतुः? कर्महेतव्यमिष्टानादिपञ्चके वादस्याभिमान इतीममर्थं चतुर्भिः लोकेः प्रपञ्चयति । तत्र प्रथमेनाभिधानादिति पञ्च वेदान्तप्रमाणमूलानि हेतव्यार्थमवश्यं ज्ञातव्यानी-

त्याह—पञ्चेति । इमानि वक्ष्यमाणानि पञ्च सर्वकर्मणां सिद्धये निष्पत्तये कारणानि निर्वर्तकानि हे महाबाहो, मे मम परमात्मस्य सर्वज्ञस्य च वचनाश्रयोष वोढुं साधयानो भव । न ह्यत्यन्तदुर्ज्ञानम्येतान्यनवहितचेतसा शक्यन्ते ज्ञातुमिति चेत्तःसमाधानविधानेन तानि स्वीति । महाबाहुत्वेन च सत्पुरुष एव शक्नो ज्ञातुमिति सूचयति श्रुत्यर्थमेव । किमेतान्यप्रमाणकान्येव तव वचनाञ्छेयाणि ? नेत्याह—सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि निरतिशयपुरुषार्थप्राप्त्यर्थं सर्वानर्थनिवृत्त्यर्थं च ज्ञातव्यानि । जीवः, ब्रह्म, तत्त्वोपयोगिनश्च श्रवणादयः पदार्थाः संख्यायन्ते व्युत्पाद्यन्तेऽस्मिन्निति साख्यं वेदान्तशास्त्रं, तस्मिन्नात्मवस्तुमात्रप्रतिपादके किमर्थमनात्मभूतान्यवस्तूनि लोकासिद्धानि च कर्मकारणानि पञ्च प्रतिपाद्यन्त इत्यतः शास्त्रविशेषणं कृतान्त इति । कृतमिति कर्मोच्यते, तस्यान्तः परिसमाप्तिस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्या यत्र तस्मिन् कृतान्ते शास्त्रे प्रोक्तानि प्रसिद्धान्येव लोकेऽनात्मभूतान्येवात्मतया मिथ्याज्ञानारोपेण गृहीतान्यात्मवत्त्वज्ञानेन बाधसिद्धये हेयत्वेनोक्तानि । यदा ह्यन्यधर्म एव कर्मात्मन्यविद्ययाऽभ्यारोपितमित्युच्यते सदा शुद्धात्मज्ञानेन तद्व्याप्तकर्मणोऽन्तः कृतो भवति । अत आत्मनः कर्मासंबन्धप्रतिपादनायानात्मभूतान्येव पञ्च कर्मकारणानि वेदान्तशास्त्रे मायाकल्पितान्यनूदितामिति नाद्वैतात्ममात्रतत्पर्यहानिस्तेषां तदङ्गत्वेनैवेतरत्र प्रतिपादनात् । इहापि च सर्वकर्मनिवृत्तत्वं ज्ञानस्य प्रतिपादितम् 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इति । तस्माज्ज्ञानशास्त्रस्य कर्मन्तस्त्वमुपपन्नम् ॥ १३ ॥

श्लो टी०—ननु विदुषामपि संन्यासिनामकर्मिस्त्वं न भवति । शिष्यादीनां तत्त्वोपदेशेन हितोपदेशेन वा पुण्यक्रियासंभवात्तथाऽहारादिषु कचिदुष्टाश्रमभक्षणेन वा संचारादिषु प्राणिपीडया बान्धवा वा पापक्रियासंभवाच्च तत्तत्क्रियाफलमिष्टानिष्टादिलक्षणं स्यादेवेति चेत्सत्यम् । महान्तो ब्रह्मविदो जीवन्मुक्ताः शिष्येभ्योऽन्येभ्यश्च वा साधुभ्यो नृपतत्त्ववस्तुप्राप्नुवन्ति हिंसां च तेषां कचिदाहारादिषु दुष्टानसेना च संभवति, भ्रमप्रमादादिवना कचित्प्राणिपीडा च । तथापि निरन्तरब्रह्मनिष्ठासंपन्नसम्यग्ज्ञानेन निष्कलं निष्क्रियं नित्यकूटस्थसङ्गचिद्रूपमेव परं ब्रह्मविद्भवेति स्वात्मना साक्षात्कृतवत् सत् तदात्मनैव विष्टवामधिष्ठानादिभ्यः क्रियाकर्तृकारकादिभ्यो भिन्नमेवास्मानमकर्तारमोक्षरमाकाशवदक्रियं परिपूर्णमेव सर्वदा पश्यतां परमईसवरीप्राजकानां स्वतो भिन्नैरेवाधिष्ठानादिभिः क्रियमाणपुण्यपापादिक्रियाश्लेशसंन्यासंभवात्तन्निमित्तकैष्टानिष्टफलं कल्पयितुं न शक्यते इति बोधयितुमाहौ कर्मनिष्पत्तेः कारणाभ्याह—पञ्चैतान्येति द्वाभ्याम् । सांख्ये सम्यक्प्राप्यते निरुच्यते आत्मानात्मनोस्तत्त्वं प्रकाश्यतेऽनेनेति साख्यं वेदान्तशास्त्रं, तस्मिन् साख्ये कृतान्ते 'निष्कलं निष्क्रियम्' इति, 'उपशान्तोऽयमात्मा' इति, 'शिवं ज्ञानत्वम्' इति, 'स्वाभाविकी ज्ञानवृत्तिरिति' इति, 'नवद्वारे पुरे देशे नैव कुर्वन्न कारयन्' इति, 'नित्यः सर्वगतः स्थणुः' इति, 'प्रकृष्टैर च कर्माणि' इति, 'प्रकृतेः क्रियमाणानि' इति, 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' इत्येवं कृतः स्पष्टीकृत आत्मानात्मनोऽन्तस्तत्त्वविशेषो यत्र तत्कृतान्तम् । यद्वा क्रियत इति कृतं विहितप्रतिपिद्धादिलक्षणं कर्म, तस्यान्तः समाप्तिर्येन 'न तेषां धर्माधर्मो' 'त्यज धर्ममवधै च' इत्यादिश्रवणेन, तत्कृतान्तम् । यद्वा कृतस्य कर्मणो वेदिकस्य नित्यनैमित्तिकोदः सन्त्यस्य श्रवणं कुर्यादित्यन्तः समाप्तिर्यच्छ्रवणनिमित्तं तत्कृतान्तम् । तस्मिन् कृतान्ते सर्वकर्मसमाप्तिकारणे साख्ये वेदान्ते सर्वकर्मणा सिद्धये यावन्ति कर्माणि चलनात्मकानि तेषां सर्वेषां कर्मणो निष्पत्तये क्रियामात्मस्य सिद्धये इत्यर्थः । एतानि वक्ष्यमाणानि पञ्चकारणानि प्रोक्तानि क्रियासंभूतिप्रकारचिन्तिः ऋषिभिः कथितानि वक्ष्यामि । मे मम वचनाश्रयोष अधिष्ठानादिस्वरूपं क्रियानिष्ठचिन्तारसात्ततोऽकृतत्वं च पण्डितानामपि दुर्बलस्य मशोच्यमानं नितरां युपपन्नम् । क्रियानिष्ठचित्तकारणसामर्थ्यादुक्तं कर्मणस्तत्कृतत्वनिश्चयेनात्मानं कर्तृत्वधर्मं परित्यजेत्तर्थाः ॥ १३ ॥

श्री० टी०—न्तु कर्म कुर्वतः कर्मफलं कथं न भवेदित्याह पञ्चसङ्ख्यागिनो निरदंकारस्य सतः कर्म-
फलेन लेपो नास्तीत्युपपादयितुमाह—पञ्चेयानीति पञ्चभिः । सर्वकर्मणां सिद्धये निष्पत्तये इमानि वक्ष्यमा-
णानि पञ्च कारणानि मे वचनाश्लेषोप जानीहि । आत्मनः कर्तृत्वमिमाननिवृत्त्यर्थमप्रदयमेवानि ज्ञात-
व्यानीत्येव तेषां स्तुत्यर्थमाह—संस्तुय इति । सम्यक् स्तुत्याये ज्ञायते परमात्माऽनेनेति साध्यं तत्त्वज्ञानं तस्मिन्,
कृतं कर्म तस्यान्तः समाप्तिरस्मिन्निति कृतान्तस्तस्मिन्नेदान्तसिद्धान्त इत्यर्थः । यद्वा संख्यायन्ते गण्यन्ते
तत्त्वानि यस्मिन्निति साध्यं, कृतः अन्यो निर्णयो यस्मिन्निति कृतान्तं साध्यशास्त्रमेव तस्मिन्प्रोक्तानि । अतः
संख्याङ्कित्येत्यर्थः ॥ १३ ॥

स० टी०—समाप्तमज्ञानशून्यस्य संसारित्वेऽस्ति कारणम् ॥ प्रौढं स्वकर्मणा त्यागासंभवे हरिणा
वक्ष्यम् ॥ १ ॥ न हि वेदभूतेत्यनेदानीं वक्ष्येव देहिनः ॥ उच्यते कर्मणां त्यागासंभवे संस्तुतौ तथा
॥ २ ॥ तादात्म्याभासको हेतुरपिष्टाभाविपक्षके ॥ इमं प्रपञ्चयत्यर्थं श्लोकेऽतुर्भिर्बोधः ॥ ३ ॥ इमानि
वक्ष्यमाणानि पञ्च निर्घर्तकानि च ॥ सर्वेषां कर्मणां यैव निष्पत्त्यर्थं महाभुज ॥ ४ ॥ समेश्वरस्य वचना-
द्गोष्ठौ भव समाहितः ॥ समाधानं विना ज्ञातुं न शक्यं त इमान्यपि ॥ ५ ॥ सर्वार्थनिवृत्त्यर्थं ज्ञातव्यानि
प्रमाणतः ॥ जीव प्रज्ञ तयोरेक्यं तद्विज्ञानोपयोगिनः ॥ ६ ॥ अक्णावाः पदार्थाश्च व्युत्पाद्यन्तेऽन-
शास्त्रे ॥ तत्साध्यं नाम वेदान्तशास्त्रं तस्मिन्कृतस्य ॥ ७ ॥ कृतमित्युच्यते कर्म तस्यान्तस्तत्त्वबोधोपः ॥
स बोधो जायते येन स कृतान्तोऽस्ति तत्र च ॥ ८ ॥ प्रोक्तान्यनात्मभूतानि भ्रान्त्यात्मत्वेन लौकिके ॥
गृहीतान्यात्मबोधेन वाचसिद्धयर्थमेव हि ॥ ९ ॥ यतो हेतवोक्तानि ज्ञातव्यानीत्येतो विद्या ॥ अन्यधर्मो-
ऽस्ति कर्मैवन्मायया प्रत्यक्षमात्रेण ॥ १० ॥ आरोपितमतो बोधोऽहमिदं त्वः कृतो भवेत् ॥ अत एवात्मनः
कर्मसंबन्धज्ञानसिद्धये ॥ ११ ॥ अधिचारोपिता एव देवः पञ्च कर्मणाम् ॥ अनूदितास्ते वेदान्तशास्त्रे
अद्वैतबोधके ॥ १२ ॥ अद्वैतमात्रवाच्यार्थज्ञानेन वास्तवो यवः ॥ तद्वद्वत्वेन तेषां च प्रविषादनमागमे
॥ १३ ॥ फलवर्तन्निभो यच्चचक्षुर्मफल श्रुतम् ॥ इति न्यायेन चैतेषामद्वयं प्रज्ञबोधने ॥ १४ ॥ १५ ॥

भा० टी०—एवं परमार्थसंन्यासिना त्रिविधकर्मफलभावमुक्त्वा परमार्थसंन्यासाधिकारकारणस्यातन्मय-
कर्तृत्वज्ञानस्यावश्यकता बोधयितुमाह—पञ्चेयानीत्यादिना । यस्मिन् वक्ष्यमाणानि कारणानि निर्बलकानि
निर्बोधं मदृशनाजानीहि । ज्ञात्वा च महाबाहुसाध्ये कायिके युद्धे कर्मणि कर्तृत्वमिमानं परित्यजेति
वदयन्संयोगयति महाबाहो इति । तेषामवश्यज्ञावव्यवस्थापनाय यानि स्तोति—संस्तुय इति । त्वंपदार्थ-
आत्मा तत्त्वार्थो प्रज्ञ तयोरेक्ययोः तदुपयोगिनश्च शमदमादयो ज्ञातव्याः पदार्थाः संख्यायन्ते व्युत्पाद्यन्ते
यस्मिन् वेदान्तज्ञाने तत्साध्यम् । साध्यं विस्मिन्निति—कृतान्ते । कृतस्य कर्मणोऽन्तः परिसमाप्तिर्यत्र तस्मिन्क-
रान्ते 'वाचानर्थ उदधाने सर्वतः संश्रुतोदके' वाचान्तर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विज्ञानतः ॥ सर्वं कर्मोच्छिद्यं
पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इत्यात्मज्ञाने जाते सर्वकर्मणां निवृत्तेर्दीर्घतत्वात् आत्मज्ञानार्थकस्य साध्य-
त्वापि कृतान्तत्वं, तस्मिन्प्रोक्तानि सर्वेषां कर्मणां सिद्धये निष्पत्त्यर्थं कथितानीत्यर्थः । संख्या मोक्षकं ज्ञानं
कृतान्तिनि तत्रानेकं साध्यैऽकृतान्तैऽकृतो वेदोऽप्यैक्येयत्वात् तस्यान्ते वेदान्ते इत्यर्थस्तु प्रश्नेषु विज्ञे-
यार्थसंभवमभिप्रेत्याचार्येण प्रदर्शितं । यत्तु संख्यायन्ते गण्यन्ते तत्त्वान्यस्मिन्निति साध्यं, कृतोऽन्तो निर्णयो
यस्मिन्निति कृतान्तं साध्यशास्त्रमेव तस्मिन्नित्यपरे वर्णयन्ति वज्रोपादेयम् । साध्यशास्त्रे अपिष्टाभादीनां
कारणत्वेनानुक्तत्वात् । भिन्ना भोक्ता आत्मान इति प्रविषादकस्य साध्यशास्त्रस्य कर्तृत्वमोक्तत्वं शून्य एक
पक्षात्मेति त्वसिद्धान्तविरुद्धस्य स्वोक्तैर्धर्मं प्रमाणत्वेनोपन्यासायोगाच्च ॥ १३ ॥

प० टी०—न्तु भुजिन्द्रिया कुर्वन्तुतिर्भवीत्यनुभवे कर्म कुर्वतः फलं कथं न भवेदित्याह पञ्चसङ्ख्या-
गिनो

गिनो निरहंकारस्य सक्तः कर्मलोपो नास्तीत्युपपादयितुमाह—पञ्चेष्टानीति । सर्वकर्मणां सिद्धये निष्पत्तये इमानि वक्ष्यमाणानि पञ्च कारणानि मे सक्तः सकृदाज्ञिगोष्ठो जानीहि । आत्मनः कर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्यर्थमेतानि ज्ञातव्यानीत्येवं तेषां स्तुत्यर्थम्याह—सांख्य इति । किंभूतानि? सांख्ये कृत्वान्वे प्रोक्तानि । संख्या-यन्त्रे परिगण्यन्ते तत्त्वानि यस्मिन्निवि सांख्यं, कृत्वातः सिद्धान्तः, तस्मिन् वेदान्तसिद्धान्ते इत्यर्थः ॥१३॥

रा० टी०-काम्यानामित्यत्रोक्तदिशा वैकल्पिककाम्यानां फलत्यागाः, नियतकाम्यानां स्वरूपत्यागाः, न तु संन्यासिनामित्यत्रोक्तदिशा परार्थमपि नियतकाम्यानामननुष्ठानमित्येवावगमनात् न संन्यासशब्दार्थः, किंतु कर्माणि कर्तव्याभिमानत्वमोक्षोपायं वक्तुं कर्मकारणानि प्रसिद्धापूर्वमाह-यथेत्यादिभिभिः । एतानि यद्यप्यभाषाणि कारणानि कर्मकारणानि नैव सकाशात् भिन्नोप युज्यन्ते । सांप्रये कृतान्ते सिद्धान्ते कपिला-स्वधियुक्तसांख्यनामरुद्राख्ये सर्वकर्मसिद्धयर्थे प्रोक्तानि । श्रोतुमिदं सावैतदुक्तिः ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ॥

विविधाश्च पृथक्केष्ट दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

त० टी०-तान्वेवाह-अधिष्ठानमित्यादिचतुर्भिः । अधिष्ठानमधिष्ठायते भोक्तृतया पुरुषेणा-
स्मिन्नित्यधिष्ठानं पञ्चमश्रवत्सङ्गतत्वरूपं शरीरं, तथा कर्ता जीवपुरुषश्चेन्नृणादिशब्दाभिषेपं आत्मा,
तस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं ज्ञातृत्वं च शास्त्रसिद्धम् “मन उत्क्रामन्नीलित इवाश्वग्नियन्मास्ते” इति श्रुतौ
मनस उत्क्रामन्त्यनन्तरमपि कर्तृत्वाभिधानात् “कर्ता शस्त्रार्थवच्चात्” इति सूत्राच्च । तथा “मनः
पृथानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति” इत्यापि । तथा भोक्तृत्वमपि “तयोरेवः पिण्डं स्वाद्विचि ।
“उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्” इत्यादिशास्त्रसिद्धम् । अत्र केचित्कर्ताऽविज्जडग्र-
न्थिरहंकार इति वदन्ति, तदुदाहृतशब्दाविरोधादुपेक्षणीयम् । पृथग्विषयमेकभकारं कर्तॄणं वाक्वाग्यादि-
पञ्चेन्द्रियं, विविधाश्च पृथक्प्रेक्षाः प्राणापानादयो वायुव्यापाराः । दैवं चैवान् पञ्चभम् । अत्र कारणसमुदाये
पञ्चमं दैवं देवानामप्यन्तर्धामां परमात्मा कर्मनिष्पत्तौ प्रधानहेतुरित्यर्थः । “सर्वस्य चाहं हृदि
संनिविष्टः । ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति” इत्युक्तवद्वयमाणात्वात् । “परञ्च तच्छ्रुतेः”
इति सूत्रकारनिर्णयाच्च ॥ १४ ॥

॥ ३० ॥ टी०—प्रज्ञापमूलानि कर्मकारणानि पञ्चात्मनो कर्तृत्वसिद्धयर्थं हेतवेन ज्ञातव्यानात्युक्ते कानि
तानित्यपेक्षायां तत्तद्वत्पमाह द्वितीयेन—अधिष्ठानमिति । इच्छाद्वयसुखदुःखपेक्षनाद्यभिष्येकैराश्रयोऽधिष्ठानं
शरीरम् । तथा कर्ता । यथाधिष्ठानमनात्मा भौतिको मायाकल्पितं स्वाप्नगृहस्यादिवत्, तथा कर्ताऽहं करोतीत्याद्य-
भिमानवान् ज्ञानशक्तिप्रधानापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्योऽहङ्कारोऽन्तःकरणं बुद्धिर्ब्रह्मान्तमित्यादयपर्यायशब्दवा-
च्यत्वादास्याप्यासेनात्मनि कर्तृत्वनिर्दिष्टमात्रोपेतुं शक्यतामा भौतिको मायाकल्पितश्चेति वक्ष्य शब्दार्थः । स्थूल-
शरीरस्य लोकापचितैकारात्मत्वेन परिगृहीतस्याप्यन्यैः परीक्षैकेरनात्मत्वेन निष्प्रायात्तद्वृत्तान्तेन तार्किकादिभि-
रात्मत्वेन परिगृहीतस्य कर्तुरप्यनात्मत्वनिश्चयः सुकर इत्यर्थः । कारणं च ओषादि शब्दानुपलब्धिसाधनम् । च-
शब्दस्त्येत्यनुकर्षार्थः । पृथग्विवेकं नानाप्रकारं पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति द्वाप्त-
संख्यम् । कारणवर्गे मनो बुद्धिश्चेति वृत्तिविशेषो । वृत्तिमालम्बहंकारः कर्तृव्यं । विदामाप्तस्य सर्वत्रैवाविशिष्टः ।
विविधा नानाप्रकाराः पञ्चा दशधा वा प्रसिद्धाः । चक्षुरन्तस्त्येत्यनुकर्षार्थः । पृथक् अंशकीर्णाः, चेष्टाः क्रिया-
रूपाः क्रियाशक्तिप्रधानापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्याः क्रियाप्राधान्येन वायवीयत्वेन व्यपदिश्यमानाः, प्राणा-
यानव्यानोदानसप्तसन्तः नागकूर्मककलदेवदत्तमनोजयाद्याश्च तदनुवर्तया एव । अत्र च सुसुप्तसन्तःकरणस्य

कर्तुंलयेऽपि प्राणन्यावारदर्शनाद्देव्यपदेशाच्चान्तःकरणादत्यन्तमित्र एव प्राण इति चेत् । क्रियाशक्ति-
ज्ञानशक्तिमदेकमेव जीवत्वोपाधिभूतमपञ्चितवृत्तमहामृतकार्यं क्रियाशक्तिप्राधान्येन प्राण इति ज्ञानशक्ति-
प्राधान्येन चान्तःकरणमिति व्यपदिशत इत्यभियुक्तः । 'स ईशा चक्रे कस्मिन्महामुक्तान्ते उत्क्रान्तो
भविष्यामि कस्मिन्वा प्रसिद्धिरे प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसूत्रम्' इति श्रुतायुक्तान्त्यायुपाधित्वं प्राणस्यो-
क्तम् । तथा 'सर्षोः रम्भो भूत्वेनं लोकात्मिकांमति मृत्यो रूपाणि ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यादिश्रुतायु-
क्तान्त्यायुपाधित्वं बुद्धेरुक्तम् । स्वतन्त्रोपाधिभेदे च जीवभेदप्रसङ्गः तस्मात् सुदिप्राणयोरेकत्वेनैवोक्तान्ता-
न्यायुपाधित्वं युक्तं भेदव्यपदेशश्च शक्तिभेदात् । सुप्तो च ज्ञानशक्तिभागलयेऽपि क्रियाशक्तिभाग-
दर्शनमेकत्वेऽपि न विरुद्धमनुभयसिद्धत्वात् । दृष्टिसूट्टिनये सर्वलयेऽपि प्राणन्यावारवच्छरीरस्य सुप्तोऽय-
मित्येवंरूपेण परैः कल्पितत्वाच्च । तस्मादनुभययापि व्यपदेशभेद उपपन्नः । देवं च अनुमाहकदेवताभावात् ।
यथाद्वैतस्येत्यनुकर्णार्थः । अत्र कारणवर्गं पञ्चमं पञ्चसंख्यापूरणम् । एतद्वत्संख्याशब्देन संन्यमानो-
ऽनात्मत्वभौक्तिकत्वकल्पितत्वाप्यपारणार्थः पञ्चानामपि । तत्र शरीरस्य कर्तृकरणक्रियाधिष्ठानस्य देवता
पृथिवी । 'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणधक्षुरादित्यं दिशः ओत्रं मनश्चन्द्रं पृथिवीं
शरीरम्' इति श्रुतौ वागाद्यधिष्ठानव्यग्यादिभिः सह शरीराद्यधिष्ठानत्वेन पृथिवीपाठात् । कर्तृहकारस्या-
धिष्ठानी देवता । रुद्रः पुराणादिप्रसिद्धः । करणानां चाधिष्ठानयो देवताः सुप्रसिद्धाः । श्रोत्रत्वकृष्णरसन-
प्राणानां दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विनः । वायुपाणिवाद्वायुपस्यानां बह्वीन्द्रोऽनेन्द्रमित्रप्रजापत्यः । मनोबुद्धिपोक्षन्त्र-
बृहस्पती इति । पञ्चप्राणानां क्रियारूपाणां सद्योजातवामदेवापोरवत्युत्प्रेक्षानां पुराणप्रसिद्धाः । भाष्ये
देवतादित्यादि चक्षुरायनुमाहकमित्याधिष्ठानादिदेवतानामप्युपलक्षणम् ॥ १४ ॥

श्री० टी०—तानि कानीत्याकाङ्क्षायामाह—अधिष्ठानमिति । अधिष्ठानं सुप्रसिद्धमोगायतनं करणानामा-
श्रयो वा शरीरम् । यथाशब्दार्थः—कर्ता प—कर्ता भोकाहमिति सर्वत्राहंमानी सामासाहंकारो यिज्ञानात्मा ।
पृथग्विधं द्यावाभ्यन्तरभेदेन द्विधा विभक्तं करणं ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि मनोबुद्धिश्चैव द्वादशविधं करणं
च, पृथक् दशधा भिन्ना चोर्वादिगतिभेदेन विविधा नानाप्रकारा चेष्टा वायुचेष्टाविशेषाः प्राणाद्यो नागाद-
यश्च दश । अत्रैतेषु क्रियानिष्पत्तिकारणत्वेन प्रोक्तव्यमधिष्ठानातिपु पतुर्पु चकारस्त्यर्थः । एवकारोऽविरक्तव्यन-
च्छेदार्थः । पञ्चमं तु देवमेव श्रोत्रादीन्द्रियप्रवर्तकं, दिग्वाताकादिलक्षणं सर्वकर्मसिद्धिकारणं देवमेव नान्य-
दस्तीत्यर्थः । यद्यपि पञ्चैतानीति पञ्चत्वसंख्येयैव कारणान्तराभावः सिध्यति, तथापि पुनरेवकारः पुरुषस्य
मयेदं क्रियत इति बुद्धेऽप्युत्प्रेक्षेऽपि च कर्मणि कर्तृत्वप्रमापनोद्धारः । नन्वेतदेवशरीरानामपि क्रियासिद्धिका-
रणत्वसंभवात्पञ्चैतानीति पञ्चसंख्यावधारणाभ्यामविरैक्यवच्छेदोऽनुपपन्न एवेति चेत्तस्यम् । 'यदाहंवेन
नीयते' इति, 'एष एव साधु कर्म कारयति' इति श्रवणादस्यैवाट्टेश्वरादेरपि कारणत्वं, तथापि—'यो दिक्षु
विष्टम् दिग्मोऽवरः' इतीद्वरस्य दिगादीनामन्तर्गमित्वश्रवणात्तदन्वयतया तेष्वेव दिग्वाद्यधिदेवत्वान्त-
र्भावः । कर्त्राश्रयत्वदृष्टस्य कर्तृयन्तर्भावस्ततो न काचिदनुपचित्तोऽधिष्ठानादीनमेव पञ्चानां सर्वकर्म-
निष्पत्तिकारणत्वमिति सिद्धम् ॥ १४ ॥

श्री० टी०—तान्येवाह—अधिष्ठानमिति । अधिष्ठानं शरीरं, कर्ता चिज्जडमन्विरहंकारः, पृथग्विधमने-
कप्रकारं करणं पञ्चःश्रोत्रादि, निविधाश्च कार्बत. स्वरूपतश्च पृथग्भूताश्चेष्टाः प्राणापानादीनां व्यापाराः ।
अत्र चैतेष्वेव पञ्चमं देवं च कारणं, चक्षुरायनुमाहकमादित्यादिसर्वपरकोऽन्तर्गामी च ॥ १४ ॥

स० टी०—कर्मणि तानीत्यपेक्षया वत्स्वरूपनिर्होच्यते ॥ इच्छाद्वेषाद्यभिव्यक्तेरधिष्ठानं शरीरकम् ॥ १॥
दृष्टान्ताद्यैस्तथाशब्दो विज्ञेयोऽत्र मनोपिभिः ॥ यथाधिष्ठानमभ्यसवं शरीरं भोक्तिकं जडम् ॥ २ ॥

तथैवाहं करोमीति कर्ताहंकार आत्मनि ॥ कल्पितो मायया सूक्ष्ममूलकार्यतया जडः ॥ ३ ॥
 यथा स्थूलशरीरस्य चावाकैरात्मताधिया ॥ गृहीतस्यापि वेदहैरनात्मत्वेन निश्चयात् ॥ ४ ॥
 तद्गुणान्तेन कर्तुश्च तावकैरात्मताधिया ॥ गृहीतस्याप्यनात्मत्वेन निश्चयः सुकरो भवेत् ॥ ५ ॥
 श्रोत्रादिकरणं चैव शब्दादिज्ञानसाधनम् ॥ दशेन्द्रियमनोबुद्धिरूपेणास्ति पृथग्विधम् ॥ ६ ॥
 वृत्तिभेदे मनोबुद्धौ अहंकारस्तु वृत्तिमान् ॥ क्रियाशक्तिप्रधानाश्च प्राणा नानाविधाः क्रियाः ॥ ७ ॥
 दशधा पञ्चधा वापि प्राणापानादिरूपतः ॥ असंकीर्णाः क्रियारूपा भौतिकाः कल्पिताः परे ॥ ८ ॥
 अनुग्राहकमर्मादि दैवं चक्षुर्मुखस्य च ॥ अत्र कारणवर्गे तत्पञ्चसंख्याप्रपूरकम् ॥ ९ ॥ तथेत्यनुकर्ष-
 णार्थश्च शब्दोऽस्ति स्थलत्रये ॥ तेनाप्यस्तत्त्वभेदेषां भौतिकत्वमनात्मनम् ॥ १० ॥ प्रत्यगारमन्यसङ्केऽस्मि-
 न्पञ्चानामोद्भवो जयौ ॥ ११ ॥ १४ ॥

भा० टी०—कानि तानीत्यपेक्षायामाह—अधिष्ठानमिति । अधिष्ठानं इच्छद्देवमुखदुःखज्ञानादीनामभिव्य-
 क्तेराजयो देहः, तथा कर्ता उपाधिलक्षणो बुद्ध्याद्युपाध्यनुविधायी तद्वर्तमानात्मनि पश्यनुपहित उपाधिप्रधानो
 भोक्ता, कर्णं च श्रोत्रादिशब्दाद्युपलब्धये पूर्ववैयर्थ्यं नात्माप्रकारं ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च मनो
 बुद्धिश्चेति द्वादशसंख्यम् । विविधाश्च पृथक्चेष्टाः प्रायवत्याः प्राणापानायाः । अत्र चक्षुर्देवमेव पञ्चमं चक्षुराद्य-
 नुग्राहकनादित्यादिवैयर्थ्यं सर्वप्रेरकोऽन्तर्यामीति त्वात्मनः कर्तृत्वव्यावृत्तये परमात्मनः कर्तृत्वप्रतिपादनमयुक्त-
 मित्यभिप्रेत्याचार्यैर्न प्रवृत्तितम् ॥ १४ ॥

प० टी०—तान्याह—अधिष्ठानमिति । अधिष्ठानं शरीरं, कर्ता जडप्रत्यिरहंकारः, पृथग्विधं बहुविधं
 कर्णं चक्षुरादि, विविधा अनेकप्रकाराश्चेष्टाः प्राणापानादिव्यापाराः । एतेष्वेव पञ्चमं दैवं चक्षुरादीनामभिदैवं
 सूर्यादिसर्वप्रेरकोऽन्तर्यामी वा ॥ १४ ॥

रा० टी०—प्रतिज्ञादमाह—अधिष्ठानमिति । अधिष्ठानं देहभूत्यादिः, कर्ता विष्णुः, पृथग्विधं कारणम्
 इन्द्रियभूतबुद्ध्यादि । विविधा नानाप्रकारा पृथक् परस्परभिन्ना, चेष्टा दत्तादिक्रिया व्यनत्तुमानसक्रिया
 च प्रधानक्षोभादिक्रियाहेतुभूता कारकाश्रिता वान्तरक्रिया वेत्यर्थः । देवमदृष्टं अत्र कर्माविषये पञ्चमं
 कारणम् । यद्वा कर्तृपदेन पराधीनकर्ता जीवः । देवपदेन विष्णुः । कर्मणां कर्तादिकारकयुद्धात्पञ्चत्वेऽपि इह
 कर्मापादानादिरनुक्तिः, असावेन्निकत्वात्तस्येति ज्ञेयम् ॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ॥

न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

त० टी०—इमान्येव सर्वकर्महेतव इत्याह—शरीरेति । शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म नरः
 प्रारभते निर्वर्त्यति न्याय्यं शास्त्रविहितं धर्मं, विपरीतं वा शास्त्रनिषिद्धं वा । न्याय्यविपरीतयोर्मध्ये
 प्राणापानाद्यन्यत्सर्वमन्तर्भवति । तस्य सर्वविधस्य कर्मणः पञ्चैते यथोक्ता हेतवः कारणानि
 भवन्ति ॥ १५ ॥

प० टी०—स्वरूपमुक्त्वा तेषां पञ्चानां कर्तृत्वमाह तृतीयेन—शरीरेति । शरीरं वाचिकं मान-
 सिकं च—विधिप्रतिषेधलक्षणं त्रिविधं कर्म यमशास्त्रेषु प्रसिद्धम् । अक्षयादेन चोक्तम् ‘प्रवृत्तिर्वागु-
 द्दिशरीरारम्भः’ इति । बुद्धिर्मानसः । अतः प्राधान्याभिप्रायेणोच्यते शरीरेण वाचा मनसा वा दत्तकर्म
 प्रारभते निर्वर्त्यति नरः मनुष्याधिकारित्वाच्छास्त्रस्य । कीदृशं कर्म ? न्याय्यं वा शास्त्रं धर्मं, विपरीतं वा
 अशास्त्रमधर्मं यच्च निमित्तपि चेष्टितादि जीवनहेतुरन्यद्वा विहितप्रातिपक्षसमं तत्सर्वं पूर्वकृतधर्मार्थमशरीरं

सुकृतागतं गतमिति - दुष्टमदुष्टं कर्म कृतमिति वाऽऽकृतश्रवणादिः सन् य आत्मानं तत्तत्कर्मणां कर्तारमेव पश्यति मन्यत इत्यर्थः । स एवं निष्क्रिय एवात्मन्यकर्तारं स्वे कृष्टत्पातद्विचित्रपे कर्तृत्वभोक्तृवादन्यधर्मा-
 रोपयिता पुरुषः स्वयमकृतबुद्धिर्नित्यनिरन्तरश्रवणमननादिसंस्कारैः सुसंस्कृता निष्क्रियो नित्यशु-
 द्धबुद्धिसुकृतभावोऽयमात्माहंपदार्थ इत्येवमाकारेण सम्यग्विषयोक्तृवात्मावत्त्वा बुद्धिर्यस्य स कृतबुद्धिः
 प्रबुद्धात्मतत्त्वस्तद्विषयीतस्त्वकृतबुद्धिश्च । यथा कृतश्रवणोऽपि सम्यङ्नापरोक्षीकृतात्मरूपतस्तस्य भावो-
 ऽऽकृतबुद्धिरिव तस्मादेव दुर्मतिरविचाकोर्यत्वेन सुष्टे देहेन्द्रियादावेवाहमिति मयिर्यस्य स दुर्मतिः । यद्वा
 रजस्तमोवासनात्मिकयाऽविचया दूषिता मयिर्यस्य स दुर्मतिः पशुर्दिहमबुद्धिरिव भवति, यतोऽनात्मान-
 मेवाधिष्ठानादिकं सक्रियमात्मनं पश्यत्यहं कर्ता भोक्तृ गच्छाम्यागच्छामि कुवं मुञ्ज इति । यथाश्रेषु धावत्स्व-
 धावन्तं चन्द्रं धावन्तं पश्यति, यथा नापि गच्छन्त्यागच्छन्तं त्वं गच्छन्तं पश्यति मूढस्तदमक्रियं
 बुद्ध्यापि सक्रियमेव पश्यति यथा, तथायमात्मनमकर्तारमेव श्रुत्वा मत्वा च पुनरपि कर्तारं मोक्षारमेव
 पश्यत्यतः स आत्मस्वरूप 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इति, 'निरयं शुद्धं शुद्धं शुक्तं सत्यं सूक्ष्मं परिपूर्णमद्वयं
 सदानन्दचिन्मात्रम्' इति, 'नित्यः सर्वगतः स्याणुरचलोऽयं सनातनः' इति श्रुतिसिद्ध्युत्पादाचार्योपनिषत् न पश्यति
 न विज्ञानातीत्यर्थः । नन्वयं पुरुष आत्मानमकर्तारमेव कर्तारं पश्यतीति यदुक्तं तदनुपपन्नमेव, सर्वप्रमाण-
 विरोधाद्देहं करोमीत्यहंभावस्य कर्तृधर्मस्य प्रत्यक्षत्वात् । न त्वयं देहधर्मः सुतदेहस्याहंभावाभावाद्भूतनादिक्रिया-
 भावाच्च । वेदचेष्टा सर्वप्यात्मकर्तृका सायात्मन्युक्तभ्यमानत्वात्सवि बाधौ शृङ्खलेष्टापविति सर्वस्यापि कर्मण
 आत्मकर्तृकत्वेनैवानुमीयते । "स एव मायापरिभोर्हीतात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम्" इति श्रूयते च ।
 ततः कर्तृत्वमात्मधर्म एवेति चेत्तस्य, कर्तृत्वमात्मनः श्रूयते सुतदेहस्य च तत्र दृश्यते । तथापि श्रुतियुक्तिभि-
 र्विचार्यमाणे निरवयवस्य व्योमवद्विक्रियस्यात्मनःप्रलनाक्रियाऽसंभवात्कर्तृत्वं न सिध्यति सुपुत्रात्मात्मनः कर्तृ-
 त्वाभावस्य सर्वप्रत्यक्षत्वात् । ननु सुपुत्रावत्प्रमोपलम्भाभावाच्चदत्तत्वे तत्कर्तृत्वाभावो युक्त एवेति चेन्न । 'सु-
 खमहमस्माप्तं न किंचिद्वेदिषम्' इति सुपुत्रात्मात्मसद्भावस्य प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्चदत्तत्वासिद्धेः । 'स्वप्नम-
 हसद्वाक्षम्' इति स्वस्य स्वप्रदर्शनवत्सुपुति सुपुत्र्यानुभूयमानत्वात्स्वप्न इव सुपुत्रावत्माऽरूपेणाहंपदार्थसदत्तत्वे
 सुपुतितत्सुखज्ञानाभावप्रसङ्गात् । सुपुतितत्सुपुत्रज्ञातुः स्वस्य सद्भावोऽभ्युपगन्तव्यस्तत्र सत्यात्मसद्भावेऽप्या-
 त्मनः कर्तृत्वं न दृश्यते । ननु सुपुत्रावप्यात्मनः सुखमस्वाप्समिति स्वापक्रियाकर्तृ-वास्त्येवेति चेन्न । निरवयवस्य
 क्रियानुपपत्तौ सिद्धत्वात् इत्यत्र यथा तथा स्वपितीति व्यपदेशमात्रमेव नात्र पुरुषव्यापारः सैवमिति कर्णा-
 भावाभिप्रायवत्त्वाच्चात्मनः । किञ्च "स्वमपीतो भवेति" इति श्रवणाच्चत्रात्मा स्वस्य निरुपाधिकस्वरूपप्राप्तिं
 प्रकाशयत्येषाप्समिति न तु बुद्ध्यादिवत्स्वपितीति "अमुतः मुक्तानभिचाकशीति । एष मुनेषु जगति" इति च
 श्रुतेः । यत् एवमवः कर्तृत्वमन्यधर्मः । एव न त्यागधर्मः 'निष्कलं निष्क्रियम्' इति, 'नार्यं हन्ति न हन्यते' इति,
 'अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यर्का' इति, 'वृक्ष इव सत्त्वः' इति, 'नित्यः सर्वगतः स्याणुः' इत्यादिश्रुतिसिद्ध्युत्पादा-
 त्मनः कर्तृत्वाभावमेव बोधयति । न किंचिदात्मा चेष्टते निरवयवत्वात्परिपूर्णत्वादित्यादियुक्तयश्चाक्रियत्वमेव
 साधयन्ति । वरिं कस्य धर्मः कर्तृत्वमिति चेदुच्यते—पुनरपि सता मुमुक्षूणात्मात्मनि कर्तृत्वधर्मविक्रिच्छये जाप्र-
 रत्नप्रयोगेदेहं चान्यत्राहंमेतन्निमानवबो विज्ञानात्मन एव सामास्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च जाप्रत्स्वप्रयोः स्वस्वहं-
 मेत्यभिमानौ विज्ञानात्मा सर्वाणि कर्माणि करोति, उभयत्रापि तस्यैव कर्तृत्वं विद्वत्प्रत्यक्षं सुपुतौ तद्भावा-
 त्कर्तृत्वधर्मपरीत्यमावस्ततोऽन्यव्यतिरेकाभ्यां विज्ञानात्मन एव कर्तृत्वं, यस्मादिदमहं करोमीत्यभिमानेन
 सामान्यं विशेषं च कर्म करोति । तथाच श्रुतिः—'विज्ञानं यत्तं वनुवे कर्माणि कृतेऽपि च' इति, 'मन्ता बोद्धा
 कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' इति सर्वप्रमाणैर्विज्ञानात्मन एव कर्तृत्वव्यापारणाञ्च त्यात्मा कर्ता भोक्तेति सिद्धम् ।

शरीरमास्थाय करोति सर्वमित्यत्र भावापरिमोहितात्मेति लिङ्गान्माययाऽन्यदित् “स एष आत्मा” इति, “व्या-
यतीव लेखयतीव” इति च श्रवणाद्व्याख्ये राजानि राजार्यं गच्छतीति गमनक्रियाकर्तृत्वं यथाऽऽरोपितं, तथा
माययाऽविद्यया मूढैरात्मन्यारोपितं कर्म करोतीवेत्यनुवृत्तिं करोति सर्वमिति श्रुतिः, नतु सत्यमिति द्रष्टे,
तत्तत्सत्ये संसारित्वादात्मनो मोक्षाभावप्रसङ्गात्तत्त्वचनन्यापावप्रसङ्गाच्च । यतः स्वयमेव मोक्षं वक्ति
‘विमुक्तश्च विमुच्यते’ इति । तस्मादात्मनो न कर्तृत्वमिति व्यवस्थितम् । ननु ‘तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं
तु’ इति तुदाध्दयोगात्केवलद्वन्द्वस्वारास्याच्चात्मनः केवलस्य तु कर्तृत्वाभावेऽप्युपाधिविशिष्टस्य कर्तृत्वमस्येवेति
चेद्विज्ञानत्र प्रष्टव्यः । आत्मन उपाधिवैशिष्ट्यासिद्धेः संबन्धः संयोग उच्यते उत समवायो वा ? आद्ये संयोगः
सर्वत उच्यते, किमेकदेशेन वा ? न द्वितीयः, निरवयवस्य देशकल्पनायोगात् । नाद्यः, परिच्छिन्नस्योपाधेः
पूर्वेन सह सर्वतः संयोगायोगाद्विरवयवसावयवयोः संयोगसंभवाच्च । सत्यपि सर्वतः संयोगसंघने त्वात्म-
नोऽपि जलरश्मं जगदान्ध्र्यं च श्यात् । न त्रितीयः, समवायसमवायिनोर्द्वयोः संबन्धसिद्धौ समवायान्तरा-
पेक्षायामनवस्थाप्रसङ्गात्तथोक्त्युत्तसिद्धत्वाभावाच्च च समवायः सिध्यति । “कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही” इत्यात्मनो
देहित्वश्रवणादुभयोर्देहदेहिनोरवयवावयविभावसंभवादस्येवायुत्तसिद्धत्वाविति चेन्न । यत्राऽवयवौ यत्राऽवयव
इतिवद्यत्रात्मा तत्र देह इति व्याख्येयाभावाद्युत्तसिद्धत्वाऽसिद्धेः । तर्हि देहीति कथमिति चेद्विद्याद्वयाया-
मध्यसंसर्गधेनात्मनो देहित्वसंभवादेहीत्युक्तिराभ्यासिकी, न तु वास्तवी । संयोगसमवाययोर्-
न्यतरसंबन्धाङ्गीकारेऽपि विशेषणनाशान्निविष्टस्यापि न्यास इतिन्यायेनोपाधिनानाशादात्मनोऽपि नान्नाप्रसङ्गा-
दस्य नित्यत्वप्रतिपादकयुतिविरोधप्रसङ्गाच्च, संसारित्वमौक्षरहितवाचनार्थप्रसङ्गाच्च । “न वदभाति किंचन ।
असङ्गोऽहं ह्ययं पुत्रयः” इतिश्रवणादसङ्गत्य निरवयवस्यात्मनो निर्विशेषस्योपाधिना वदन्तेन तत्कर्मिर्भावं
संबन्धः कल्पयितुं केनापि न शक्यते । तस्मादात्मनः क्रिया वा क्रियाश्रयत्वं वा क्रियाविपयत्वं वा
कचित्कदाचित्किंचिदपि न संभवति । उत एवोच्यते भगवताऽविद्यां तत्कर्तृं च मोक्षयित्वा भक्त्या
रक्षितुमिच्छता सर्वज्ञेतात्मानं केवलं विवति । तुदाध्द आत्मन उपाधिमित्रत्वदट्टकारणार्थः । सावयवं सक्रिय-
मुपाधिं कर्तारं भोक्तारं च पश्यतु, न तु केवलं निष्कलं निष्क्रियमात्मानं प्रमादेनापि कर्तारं पश्येत् । निर-
वयवस्यासङ्गस्यात्मनः क्रियाश्रयत्वादेरसंभवाच्च एवंलक्षणमात्मवत्त्वं सद्गुरोर्मुहुः दृष्ट्वा भग्न आत्मानं
पुण्यपापक्रियाकर्तारं भोक्तारं वा पश्यति स एव दुर्मतिरविवेकी न त्वज्जाविपाल इत्यर्थः ॥ १६ ॥

श्री० टी०—उतः किमत आह—तत्रेति । तत्र सर्वस्मिन्कर्मणि एवे पञ्च हेतवः इत्येवं सति केवलं
निरुपाधिकमसङ्गमात्मानं यः कर्तारं पश्यति साक्षात्पार्थोपदेशाभ्यामसंस्कृतबुद्धित्वाद्युर्मतिरसौ
सन्पश्यति ॥ १६ ॥

स० टी०—एतेषामेव कर्तृत्वं सर्वस्यापीह कर्मणः ॥ आत्मनो नास्ति कर्तृत्वमित्याह भगवन् हारिः
॥ १ ॥ यत्र कर्मणि पूर्वोक्ते सर्वस्मिन्पञ्चहेतुभिः ॥ निर्वर्त्यमाने स्थिते वा आत्मानं सर्वसाक्षिणम् ॥ २ ॥
स्वप्रकाशपरानन्दमगार्यं केवलं परम् ॥ उदासीनमकर्तारमद्वितीयमविक्रियम् ॥ ३ ॥ वस्तुतोऽसाक्षिं सन्त-
मधिष्ठानादिकर्मणः ॥ कर्ताहमिति चाभ्यासात्कर्तारं हि क्रियाश्रयम् ॥ ४ ॥ पश्यत्याविद्यया रजतं भुजङ्ग-
मिव मूढधीः ॥ महामोहादृत्तत्वेन पश्यन्नप्यन्यथावतिः ॥ ५ ॥ शास्त्राचार्योपदेशाभ्यामसंस्कृतमतिः कुभीः ॥
प्रविबन्धकपापेन दुष्टा यस्य मतिः स च ॥ ६ ॥ न पश्यत्येव विद्वान्तो ह्यन्यज्ज्ञायभासतः ॥ अतो-
ऽशुद्धमनस्कत्वादिप्रिप्रतिरागबन्ध ॥ ७ ॥ ज्ञानायोग्यतया सन्तमकर्तारमविक्रियम् ॥ कर्तारं विक्रिया-
यन्तं कल्पयन्मायया परम् ॥ ८ ॥ संसारी देहभूत्कर्माभिन्नाय कर्मकर्तृषु ॥ यदात्मप्राप्त्यसदः कर्म प्रदु-
र्गसंसाररथः ॥ ९ ॥ एतेन तार्किके यस्तु देहादिभ्यो विलक्षणम् ॥ आत्मानं केवलं युक्त्या कर्तारं

कार्यामिति न्याय्यविपरीतयोरेवान्तर्भवत् । पञ्चैते यथोक्ता अधिष्ठानाद्यस्तस्य सर्वस्यैव कर्मणो हेतवः कारणानि ॥ १९ ॥

शु० टी०—उक्तमेवार्थं विस्पष्टयति—शरीरेति । नरो बाह्यदृष्ट्या कर्मकर्ता पुरुषः “शरीरबाहुमानोभिः तत्कर्मणा करोति” इति श्रवणादत्र शरीरपदेन वाग्यविरिकानीन्द्रियाणि गृह्यन्ते । शरीरेणेन्द्रियैर्वाचा मनसा च बुद्धिपूर्वकं न्याय्यं शास्त्रीयं वा विपरीतं प्रतिपिद्धं वा यत्कर्म प्रारभते करोति तस्य कारणत्रय-निर्वर्त्यस्य कर्मणः विहितस्य निषिद्धस्य आन्यस्य वा सर्वस्याप्येते अधिष्ठानादयः पञ्च हेतवः कारणानि भवन्ति । ननु सर्वस्यापि कर्मणः कारणत्रयसाध्यत्वे सिद्धे सत्यधिष्ठानादीनां कारणत्वोक्तिर्यथैवेति चेत्सत्यं, विहितं प्रतिपिद्धं च यत्क्रियते पुरुषेण तत्सर्वं कारणत्रयेणैव सिध्यति, तथापि “यद्वि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति” इति न्यायेन बुद्धिपूर्वकस्यैव कर्मणः कारणत्रयसाध्यत्वं नत्व-बुद्धिपूर्वकस्य क्षुत्जृम्भणादेस्तत्राप्युक्तकृत्स्नसिन्धुत्वोन्मेषादिः स्वाभाविकक्रियात्वेन कारणत्रयसाध्यत्वासंभवा-स्फूर्तेरकाश्यायाः फलानुभूतिप्रक्रियायास्तत्साध्यत्वायोगाच्च कारणत्रयस्य चेष्टामात्रकारणत्वं न संभवति । तत्र एवोच्यते “शरीरबाहुमानोभिर्हस्तैः कर्म प्रारभते नरः । तस्याप्येते पञ्च हेतवः” इति । तेन शरीरादीनां पृथक्कारण-त्वाभावात्तत्कृतकर्मणोऽप्येतान्येव कारणानीति सूचितं भवति । ततः पुरुषाद्विद्यमानस्यैव सर्वकर्मनिष्पादकार्यं पुण्यापुण्यकर्मफलानुभावकत्वमनुभवितृत्वं चाधिष्ठानादीनामेवेति सिद्धम् ॥ १९ ॥

श्री० टी०—एतेषामेव सर्वकर्महेतुत्वमाह—शरीरेति । यथोक्तेः पञ्चभिः प्रारभ्यमाणं कर्म त्रिष्वेवान्त-र्भाव्यं शरीरबाहुमानोभिरित्युक्तं शरीरम् । वाचिकं मानसं च त्रिविधं कर्मैव प्रसिद्धेः । शरीरादिभिर्यथ-कर्म धर्म्यं वाऽप्यन्यं वा करोति नरस्तस्य सर्वस्य कर्मण एवैव पञ्च हेतवः ॥ १९ ॥

सु० टी०—उक्त्वा स्वरूपं पञ्चानामेतेषां कर्महेतुत्वम् ॥ आह—द्वार्यां जगत्त्रयो भगवान्कृष्णानिधिः ॥ १ ॥ देहेन मनसा वाचा निर्वर्तयति कर्म यत् ॥ शास्त्रीयं वाग्यशास्त्रीयं धर्माधर्मात्मकं नरः ॥ २ ॥ निमेषो-न्मेषचेष्टादिनिमित्तं जीवनेऽस्ति यत् धर्माधर्मात्मकत्वेनैवाऽन्तर्भूतं तयोर्द्वयोः ॥ ३ ॥ न्यद्वयाद्वा विपरीताद्वा भिन्नं कर्म न किञ्चन ॥ सर्वस्य कर्मण्येते यथोक्ताः पञ्च हेतवः ॥ ४ ॥ अधिष्ठानादयो नैवो भिन्नः कदाचित् कश्चन ॥ एषो विलक्षणः साक्षी निष्क्रियो निर्विकल्पकः ॥ ५ ॥ कूटस्थः प्रत्यगात्मैव ज्ञेयो ब्रह्माद्वयात्मकः ॥ तेनैव सुमाविबद्धानन्यथा दुर्मतिर्नरः ॥ ६ ॥ यवज्ञानाद्भोकोऽचलवपुषि कू-टस्थश्चक्षुः शृणोर्कर्तास्मीत्यपि वतुयुगाभ्याससापिवात् ॥ प्रकल्पानन्यथा भवति सततं भ्रान्तिगदते विमुक्तो यश्चान्ताद्भवति सुमतिर्नैव तमजम् ॥ ७ ॥ १९ ॥

भा० टी०—पञ्चानां स्वरूपमुक्त्वा कर्महेतुत्वमाह—शरीरेति । यत्कर्म न्याय्यं वा धर्म्यं शास्त्रीयं, वि-परीतं वाऽप्यन्यमश्लाघ्यम् । यथापि निमित्तचेष्टादिजीवनेहेतुः, तर्हि पूर्वकृतधर्मादेष कार्यमितिन्याय्यादि-परीतयोर्महतेन प्राशम्य । यस्याप्यादिकर्म शरीरबाहुमानोभिर्हस्तैः प्रारभते निर्वर्तयति तस्य सर्वस्यैव कर्मणः पञ्चैते यथोक्ता अधिष्ठानादयो हेतवः कारणानि । ननु पञ्चैतान्तीत्यदिनाऽधिष्ठानादीनि सर्वकर्मणा निर्व-र्तकान्युक्तानि, अत्र तु शरीरबाहुमानोभिः कर्म प्रारभत इत्युक्तमत्रः पूर्वापरविरोध इति चेत्, तत्र दोषः । शरी-रुच्चारण्ये त्रिविधं कर्मणि पञ्चाहायधिष्ठानादीनां हेतुत्वस्य विवक्षायात् । दर्शनश्रवणादि च जीवनेष्वप्यं धिविधकर्मण्येवान्तर्भवतीति त्रिष्वैव राशीकृतमुक्तये । ननु फलोपभोगकाले कारणान्तरापेक्षाऽसंभवात्कार्यं पञ्चा-नामेवाधिष्ठानादीनां तत्र हेतुत्वमिति चेत्, अपेक्षितस्य सर्वस्यापि कारणस्यैवेत्येवान्तर्भावमात्रपञ्चानां हेतुत्वं न विरुध्यते ॥ १९ ॥

प० टी०—एतेषामेव सर्वकर्महेतुत्वमाह—शरीरेति । नरः शरीरबाहुमानोभिर्न्याय्यं धर्म्यं विपरीतमप्यन्यं वा यत्कर्म प्रारभते तस्य हेतवः उक्ताः पञ्च ॥ १९ ॥

रा० टी०—सर्हि करणकारकं कुतो नोच्यमित्यतो वा कस्यैतानि करणानीत्यतो वाह-शरीरेति । अत्र शरीरमनोवाचाभेव करणकारकत्वेनोक्त्या कर्मापादानादीनि न सार्वाधिकारिण्येति सूचितम् ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ॥

पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

त० टी०—इदानीमधिष्ठानादिहेतुपञ्चकनिरूपणस्य प्रयोजनमाह-तत्रेति । तत्र एवं यथोक्ते न्याये विपरीते वा कर्मणि अधिष्ठानादिहेतुके निश्चिते सति कस्मिंश्चिदपि कर्मणि कर्तारमात्मानं केवलमदमेव कर्तेति यः पश्यति जानाति, स अकृतबुद्धित्वात् अकृता शास्त्राचार्योपदेशसंस्कार-रहिता बुद्धिर्यस्य स तथाभूतत्वाच्च पश्यति । यथाऽवस्थितात्मनः कर्तृत्वं परमेश्वरानियम्यशरीरेन्द्रियाधीनमिति न पश्यति, अतो दुर्मतिः दुष्टाऽप्रथार्यप्राहिणी मतिर्यस्य स विपर्ययज्ञानात्संसारे बन्धं मामोतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

प्र० टी०—इदानीमेतेषामेव कर्मकर्तृत्वादत्मानो न कर्तृत्वमित्यधिष्ठानादिनिरूपणफलमाह-तत्रेति । तत्र कर्मणि प्रागुक्ते सर्वस्मिन् एवं सति अधिष्ठानादिपञ्चहेतुके सति तैर्निर्वर्त्यमान आत्मानं सर्वत्राप्यवश्यं भासकं सत्तात्कालिकं स्वप्रकाशपरमानन्दमग्राह्यं केवलमसद्गोदासनमकर्तारमविक्रियमद्वितीयं तु एव परमार्थतः । अधिष्ठानादिधिष्ठानादौ प्रक्षिप्तमित्यस्यैव ज्ञेये वज्रासकमन्यत्वेन परिकल्प्य तोयचलनेनादि-त्यञ्जलीतियदधिष्ठानादिर्मणोऽद्भुतेव कर्तेति साक्षिणमपि सन्तं कर्तारं क्रियाश्रयं यः पश्यत्यधिष्ठानादिकल्पयति रज्जुमिव भुजङ्गं, स एव पश्यन्नपि न पश्यत्यात्मानं तत्रेव त्वरूपाज्ञानकृतत्वादप्यासद्य । स भ्रान्त्या विपरीतमेव पश्यति न यथावत्त्वमित्यत्र को हेतुरत्र आह-अकृतबुद्धित्वात् । शास्त्राचार्योपदेश-न्यायेरनुपपन्नितयिनेकबुद्धित्वात् । नहि रज्जुवत्संसाक्षत्काराभावे भुजङ्गभ्रमे कश्चन बाधते । एवं शास्त्राचार्योपदेशन्यायेः परिनिष्ठितेऽष्टमसि सत्यं ज्ञानमनन्तमकर्तृभोस्तु परमानन्दमनपस्थमद्वयं प्रक्षेपेति साक्षात्कारेऽनुपपन्निते कुतो निव्याधानतत्कार्यप्रापः ? एतादृशं साक्षात्कारमेव शुरुद्रुपतुल्य वेदान्तवाक्य-विचारेण कुतो न जनयतीत्यत्र आह-दुर्मतिः । दुष्टा विवेकमतिथन्यरूपापेन खलिता मतिर्यस्य सः । अतोऽकृतबुद्धित्वाभिलानित्यस्तुविनेकादिभूतत्वेन वत्सज्ञानायोग्यत्वादकर्तारमपि कर्तारं केवलमप्येक-लमात्मानमधिष्ठानादिकल्पयन्संसारी कर्माधिकारी देहभूदकृतबुद्धिः कर्मकर्तृषु तादात्म्याभिमानात्कर्माद्यागासमर्थः सर्वदा जननमरणप्रवन्धेनानिष्टमिष्टं मिथं च कर्मफलमनुभवति । एतेन यस्माकिञ्चो देहादित्यतिरिक्त आत्मानमेव कर्तारं केवलं पश्यति सोऽप्यकृतबुद्धित्वेन व्याख्यातः । अन्यत्वाद्-आत्मा केवले न कर्ता निव्यधिष्ठानादिभिः संहतः सन् परमार्थतः कर्तेन । कर्तारमात्मानं केन्द्रे पश्यन् दुर्मतिरिति केवलशब्दप्रयोगादिति । तत्र, 'परमार्थतः सर्वक्रियादून्यस्यासद्दृष्ट्यात्मनोऽधिष्ठानादिभिः संहतत्वातुपपत्तेः । जलसूर्यकादिवत् आबिरागेन संहतत्वेन कर्तृत्वमपि सादृशमेव, अधिष्ठानादीनामप्या-विद्यत्वात् । केवलशब्दस्तु स्वभावसिद्धमात्मनोऽसद्भाविबोध्यस्वरूपमनुद्गीते । कर्तृत्वस्यैवो दुर्मतित्वं हेतुत्वेनेत्यदोषः ॥ १६ ॥

सं० टी०—'प्रत्यक्षे च कर्मणि' इति न्यायेन अधिष्ठानादिपञ्चकत्वेन प्राकृत्यैव क्रियाभावप्राप्तये सिद्धे फलितमाह-तत्रैवमिति । एतमधिष्ठानादीनामेव पञ्चानां सर्वकर्मनिर्धरकत्वनिष्कृत्य सत्या वा अज्ञा-त्माऽऽत्मानात्मतत्त्वप्रतिपारधन्यः पुरुषस्तत्र प्राकृत्यैवाधिष्ठानादिभिः कृते विहिते निमित्ते वा कर्मण्यद्भुतस्य कर्मणः कर्तारकर्मरेशात्मानं केवलं स्वकर्मोपरसं निष्कृतं निष्कृतं निर्दिष्टं कर्तारं पश्यति, मया एतत्

पश्यतीतरः ॥ १० ॥ अकृतधीतया सोऽपि व्याख्यावोऽनन्तमदृश्यतः ॥ कर्तृत्वं कल्पिते सिद्धं देहादि-
जडपञ्चके ॥ ११ ॥ प्रत्यगात्माऽक्रियः सिद्धो वास्याङ्गवतो हरेः ॥ १२ ॥ सकलजडविकाराध्यासत-
श्चिद्धनेऽप्ये कुनातिरुक्तबुद्धिः कल्पयन्कर्तृभावम् ॥ ध्रुमति भवजलावधौ तर्कविशोऽप्युपेक्ष्यस्त्विति वदति
हरिर्यस्तं प्रपद्ये मुहुन्दम् ॥ १३ ॥ १६ ॥

भा० टी०—एवमभिप्रायानादीनां सर्वकर्मणि हेतुत्वमुत्त्वाऽविदुष आत्मन्यकर्तारं कर्तृत्वदृष्टिमनुषदति—त-
त्रैति । तत्रैव सति एवं यथोक्तैः पञ्चभिः हेतुभिः सर्वस्मिन्कर्मणि निर्वर्त्य सति केवलं शुद्धमसंहृतमकर्तारमा-
त्मानमात्मनोऽनन्त्यत्वेन कल्पितैरभिप्रायानादिभिः क्रियमाणस्य कर्मणोऽहमेव कर्तव्यं कर्तारं योऽकृतबुद्धित्वात्
वेदान्ताचार्योपदेशन्यायैरसंस्कृतबुद्धित्वात् पश्यति अतः ॥ दुर्मतिः नैव पश्यति । योऽपि देहातिरिक्ताज-
वादी तार्किकादिः केवलमकर्तारं शुद्धमात्मानं कर्तारं पश्यति, असावप्यकृतबुद्धित्वात् पश्यति आत्मनः कर्मणो
वा तत्त्वम् । अतः दुर्मति कुत्सिता विपरीता बुद्धाऽनर्थं जननमरणप्राप्तिहेतुभूता मविरस्येति स पश्यन्नपि
न पश्यति । यथा वैमिरिकोऽनेकचन्द्रं, यथा बान्धये घावस्त्वेवासनस्थितमात्मानं घावन् पश्यति तथा-
ऽभिप्रायानादिषु क्रियाकर्तृषु तद्वत् स्वात्मानमकर्तारं कर्तारं पश्यति स दुर्मतिरित्यर्थः ॥ १६ ॥

प० टी०—ततः किमत आह—तत्रैति । तत्र सर्वस्मिन् कर्मण्येव पञ्च हेतव इत्येवं सति केवलं निरुपा-
यिमसङ्गमात्मानं यः कर्तारं पश्यति ॥ शास्त्राचार्योपदेशाभ्यामकृतबुद्धित्वाद्दुर्मतिरसौ सम्बद्ध पश्यति ॥ १६ ॥

रा० टी०—ततश्च किमित्यव आह—तत्रैवं सतीति । तत्र कर्मणोऽप्युपेक्ष्यैव करणत्वे सति
जीवस्य स्वातन्त्र्याभावेन केवलं परंप्रेरणा विना स्वतः क्रियाहीनमात्मानं कर्तारं स्वातन्त्र्येण कर्मकर्तारं
यस्तु पश्यति मन्यते सोऽकृतबुद्धित्वात् अवगाद्यसंस्कृतबुद्धिस्तु दुर्मतिः दुष्टबुद्धिः सन्न पश्यति, तत्प्राविश
भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ॥

हत्वाऽपि स इमंलोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

रा० टी०—एवमभिप्रेतवान् आत्मनः स्वतन्त्रकर्तृत्वज्ञातुरज्ञत्वं दुर्मतिस्तं च निरूप्य निराकारस्य
मुमुक्षित्वेन कर्मलेशाभावं निरूपयति—यस्येति । यस्य शास्त्राचार्योपदेशसंस्कृतान्तःकरणस्य पुरुषस्य
अहंकृतो भावोऽहं कर्तृत्वेयरूपो भावोऽभिप्रायो न भवति । परमेश्वराधीनदेहेन्द्रियनिमित्तकर्तृत्वनिश्च-
यात् । अत एव बुद्धिर्यस्य न लिप्यते, भ्रमेहं कर्म मदीयमिष्टं साधयेदित्येतादृशान्त्वेन तत्राभिनिवेशं न
करोति । स एवंभूतो विविक्तात्मस्वरूप इमंलोकान् प्राणिनो हत्वाऽपि न हन्ति, हननक्रियाऽऽश्रयी
न भवति । यद्यप्येवंभूतस्य न हिसादिकर्म संभवति, तथाऽपि कथंचित्स्यात्तर्हि अहं कर्तते न
मन्यते इत्यर्थः । तत एव न निबध्यते तत्कर्मफलानुभवस्य तत्र तत्र न जायते इत्यर्थः ॥ १७ ॥

म० टी०—तदेवं चतुर्भिः श्लोकैः 'अचिद्विषयं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् । भवत्यत्यगिगतं प्रेत्य' इति
चरणत्रयं व्याख्यातमिदानीं 'न ह्यु संन्यासिना कश्चित्' इति तुरीयं चरणमेकेन व्याचष्टे—यस्येति । यस्य भू-
वोक्तविपरीतस्य पुण्यैः कर्मभिः क्षपितेषु विवेकविरोधाविषयेषु नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधनचतुष्टयं प्राप्तवतः
शास्त्राचार्योपदेशन्यायजनितार्कभोक्तृत्वप्रकाशपरमानन्दद्वितीयब्रह्मात्मसाक्षात्कारव्याहारेन सकाशं बाधिवे
न भवत्यहं कर्तृत्वेयरूपो भावः प्रत्ययः । यस्य भावः सत्तावः अहंकृतोऽहमिति व्यपदेशाद्वा न, अहंकारवाधेन
शुद्धस्वरूपमानपरिशेषादिति वा । अहंकृतोऽहंकारस्य भावः वत्तादात्म्यं यस्य न विवेकेन बाधितत्वादिति
॥ । बाधितानुवृत्तावपि एत एव पञ्चाभिप्रायानादयो मायया मयि सर्वात्मनि कल्पितां सर्वकर्मणां कर्तारी

मया स्वप्रकाशचैतन्मेनासङ्गेन कल्पितसंक्थेन प्रकाशयमानः, अहं तु न कर्ता किंतु कर्तृत्वद्वयापराणां साक्षिभूतः क्रियाज्ञानशक्तिप्रदुपाधिद्वयनिर्मुक्तः शुद्धः सर्वकार्यकारणासंभूतः कूटस्थनित्यो निर्द्वयः सर्ववि-
कारशून्यः 'असङ्गो ह्ययं पुण्यः । सखी चेता केवलो निर्गुणश्च । अप्राणो ह्यमनः शुभ्रो अक्षरात्परतः परः ।
अज आत्मा महान्ध्रुवः सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतः । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः । निष्फलं निष्कर्मं
ज्ञानं निरवयं निरञ्जनम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः, 'अविकार्योऽयमुच्यते' 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि
सर्वशः । अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥' 'तत्त्ववित्तु न प्रज्यते' 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति
न लिप्यते' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । तत्प्रभाहं कर्तव्येवं परमार्थदृष्टेः सुखिरन्तःकरणं यस्य न लिप्यते नानु-
श्रयिनी भवति, इदमहंकारमेतत् फलं भोक्ष्य इत्यनुसंधानं कर्तृत्ववासनानिमित्तं लेपोऽनुदायः । स च पुण्ये
कर्मणि हर्परूपः पापे पश्चात्तापरूपः । ईदृशेन द्विनिषेनापि लेपेन बुद्धिर्न युज्यते कर्तृत्वभिमानवाभात् ।
तथा च ज्ञानिनं प्रकृत्य श्रुतिः—'एतम् हैवेते न उरत इत्यतः पापमकरबन्धिइत्यतः कल्याणमकरबन्धित्युभे
व हैवैव एते तरति नैनं कृताकृते तपतः । तदेतदृचाभ्युत्तम् । एवं नित्यो महिमा प्राज्ञणस्य न धर्षते कर्मणा
नो कनीयान् । तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्य न लिप्यते कर्मणा पापकेनेवि' । पापकेनेति पुण्यस्याप्युल-
क्षणम् । वर्धते कनीयानिति च पुण्यपापयोः परितोपपारितापाभिप्रायम् । एवं यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्द्वयस्य
न लिप्यते, स पूर्वोक्तदुर्मतिबिलक्षणः सुमतिः परमार्थदर्शी पश्यत्यकर्तारमात्मानं केवलं, स कर्तृत्वभिमाना-
भावावनिष्ठादित्रिविधकर्मफलभागी न भवतीत्येवावति आचार्येऽहंकाराभावबुद्धिलेपाभावौ स्तोतुमाह—इत्या
दिसिद्ध्यापि स इमंलोकान्तरवर्णं प्राणिनः न हन्ति हननक्रियायाः कर्ता न भवति अकर्तृस्वरूपसाक्षात्का-
रात् । न निवध्यते नापि तत्कार्येणधर्मफलेन संवध्यते । अत्र नाहंकृतो भाव इत्यस्य फलं न हन्तीति ।
बुद्धिर्न लिप्यत इत्यस्य फलं न निषण्ध्यति । अनेन च कर्माक्षेपदर्शनेऽतिशयमात्रमुक्तं न तु सर्व-
प्राणिहन्तं संभवति । इत्यापीति कर्तृत्वाभ्यनुज्ञा बाधितकर्तृत्वदृष्टया लोकित्या, न हन्तीति कर्तृत्वनिषेधः
शास्त्रीयया परमार्थदृष्टयेति न विरोधः । शास्त्रादौ नायं हन्ति न हन्यते इति सर्वकर्माधिकारनिवृत्तिः
प्रतिज्ञाय त आद्यत इत्यादिहेतुवचनेन साधयित्वा वेदाविनाशिनमित्यादिना विदुषः सर्वकर्माधिकारनिवृत्तिः
संक्षेपेणोक्तः । मध्ये च तेन तेन प्रसङ्गेन प्रसारिता, इह शास्त्रार्थतावत्प्रदर्शनायोपसंहारा—न हन्ति न निष-
ध्यत इति । एवं बाधितकल्पितानामधिष्ठानाद्यनात्मकृतानां सर्वेषामपि कर्मणामात्मविषया समुच्छेदो-
पपत्तेः परमार्थसंन्यासिनामनिष्ठादिनिविधं कर्मफलं न भवतीत्युपपन्नम् । परमार्थसंन्यासस्याकर्तृत्वसंज्ञात्कार-
णत्वं । जनकादीनामेतादृशसंन्यासित्वेऽपि बलमप्राप्त्युपपन्नं बाधिततुल्यत्वात् परपरिकल्पनया वा कर्म-
दर्शनं न विदुः परमईसानामीहज्ञानं भिक्षाटनादिवत् । अत एव ज्ञानफलभूतो विद्वत्संन्यास उच्यते ।
साधनभूतस्तु विकिर्दिपरसंन्यासोऽनेवंविधोऽपि प्रथममुत्तरकाळे ज्ञानोत्पत्तावेवंविधो भवतीति वक्ष्यते ॥१७॥

श्लो० टी०—एवमनात्मकर्तृके कर्मण्यकर्तारमेवात्मानं मयेवं कृतमिति, यः कर्तारं पश्यति स ज्ञातेवा श्रुत-
आवितवेदान्तोऽप्यविदितान्तरस्वरूपत्वेन दुर्मतिरिति प्रतिपाद्य, यस्तु श्रुत्याचार्यश्रवणसोदसंपन्नः सततश्र-
वणमनननिदिप्यासादिसमुत्पन्नज्ञानेनात्मयात्स्यदर्शी विद्वाननात्मकर्तृके दुष्टे शिष्टे वा कर्मण्यात्मानमक-
र्तारमेव पश्यति स एव सुमतिः पण्डितोत्तमः शरीरयानादिलक्षणं वाऽन्यद्वा कर्म दुष्टमदुष्टं कृत्वापि स्वय-
मकर्तृव भवति न किञ्चिदप्युपाधिकृतेन कर्मणा लिप्यत इत्याह—यस्येति । ब्रह्मविदाचार्यप्रसादप्राप्ते-
ज्ञानेन 'क्षीरनीरकदात्मनान्तरात्मनोः स्वरूप ज्ञातृज्ञेयलक्षणं सम्पन्निवभ्य तत्रात्मन्येवात्मभाषमापद्य
सदा तदत्मनेव ज्ञेयतो यस्य महात्मनो ब्रह्मनिष्ठासामिष्ठानादिभिरेव स्वयैवविद्याकार्यविधिरेव

प्रतिष्ठे धान्यास्मिन् वा कर्मणि क्रियमाणे सति भावः भाव्यते अहमिति गृह्यतेऽनेनेति भावोऽन्तःकरणं प्रज्ञैवाहमिति स्वस्वरूपे प्रज्ञाप्येवाहंभावमुपेत्य सदा तदात्मनैव वर्तमानोऽहमात्मनो बुद्धिविशेषो नाहंकृतः कर्मकर्तृरुपाधावहंकरणमहंकृतं प्रज्ञाकारवासुस्तस्य कर्ताकोरेणाहमित्यवस्थानं न विद्यते यस्य भावस्य स नाहंकृतः अधिष्ठानादिलक्षण उपाधिरेव स्वासन्नानुरूपेणेदं कर्म करोतीत्यहं तूपाधितत्कर्मणो-
 रुभयोः साक्षी तदस्यो निष्क्रिय एवास्मीति प्रज्ञात्मनैव स्थितः सन् चिरकालं नित्यनिरन्तरसमाध्यासासयले-
 नाहारादिकर्मकालेऽपि कर्तयहंभावराहित इत्यर्थः । तथा यस्योक्तलक्षणस्य प्रज्ञाविज्ञे बुद्धिर्वृत्तित्वा न लिप्यते मयेदं सुप्तं दुष्टं च कर्म कृतमित्येवंभावनावती न भवति धर्मशीलस्य बुद्धिर्मयायं धर्मः कृतोऽमयधर्मः कृत इति तेन कर्मणा यथा लिप्यते धर्माधर्मसंस्कारवती भवति तथा मयेदं दुष्टमदुष्टं कृतमिति सामान्येन वा विशेषेण वा तत्संस्कारवती न भवति प्रविच्छायापत्त्यभिज्ञेनैवोपाधिना कृते कर्मण्यहं करोमि मयेदं कृतमिति प्रत्ययो ब्रह्मविदुद्धेतैवेति कर्तृत्वकर्मतादात्म्यसंयन्माभावात् । येनाहमिदं करोमीति परकर्म क्रियते तदुद्धरेय मयेदं कृतमिति कृतत्वभावनारूपेण विध्यति नान्यस्य युद्धे, यथा स्नानमहं करोमीति स्नानं कृतवतो देवदत्तस्य युद्धेरेव मया स्नानं कृतमिति कृतत्वभावनया तेन कर्मणा लेपध, न तु तदस्ययद्दत्तस्य युद्धे-
 रस्ति तद्वत् । मन्वन्तरूपदृष्टान्तोपन्यासेनेदं विपरीतमुच्यते, प्रज्ञाविदः स्वदेहे तत्कृते च कर्मण्यहमिति मयेवं कृतमिति च प्रत्ययो न जायते इति विदुषोऽपि स्वदेहे स्नाते सत्यहमिति गया स्नात-
 मिति च प्रत्ययो जायत एव विद्वच्छरीरयोः परस्परविभागान्भावविवि चेत् । तयोर्ज्ञातृज्ञेयत्वलक्षणेन परस्पर-
 भिन्नत्वभावादेकत्वानुपपत्तेः । सत्येकत्वे तथाविधः प्रत्ययः प्रसज्येव । न हि देह एव विद्वान्नापि विद्वानेव हि देहो भवति । तयोर्ज्ञातृज्ञेयत्वधर्मेण पटवज्ज्ञातृपद्भिन्नत्वभाववात्किमकारयमेव युक्तं, नत्वेकत्वं प्रत्यक्षादि-
 प्रमाणविरोधान् । ततोऽधिष्ठानादिलक्षणापाधौ वासनया तत्कर्मणि प्रवृत्ते सति तत्राहं करोमीत्यहंप्रत्ययो नोवेति कर्तृवादास्याभावात् । तत एव मयेदं कृतमिति तदुद्धेः कृतत्वभावनया च तत्क्रियालेपध न संभवति । तत एवोच्यते 'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते' इति । यदुक्तमनुरूपदृष्टान्तोपन्यासेनेति तन्न । विद्वच्छरीरयोर्ज्ञातृज्ञेयत्वधर्मेण विलक्षणतया परस्परभिन्नत्वे सति शरीरे तत्कृते च कर्मणि तद्विज्ञस्य विदु-
 पस्यहमिति मयेदं कृतमिति प्रत्ययानुरूपतौ युक्त एव दृष्टान्तः । एवं प्रज्ञाविदः स्वस्योपाधितत्कर्तृत्वकर्मसंय-
 न्यलेखाभावज्ञानमेवाप्रतिपदं नैष्कर्म्यसिद्धेः परमकारणमिति सूचयित्वा वाटशज्ञानसिद्धेः फलमाह-
 हत्वापीति । य एवमधिष्ठानादिभिरेव पञ्चभिरनात्मकैर्दृश्यभूतैः क्रियमाणे कर्मणि चेष्टामात्रे वाऽहंकार-
 ममकारश्चून्यो भवति स विद्वानिमान् श्रीन् लोकान् लोकस्थान् देवर्षिप्राज्ञापादीन् सर्वप्राणिनो हत्वापि स्वह-
 स्तेन सर्वसंहारं कृत्वापि न हन्ति । न किञ्चिदपि दिनस्ति-स्वयं तद्धननक्रियायाः कर्ता न भवतीत्यर्थः । नन्विदमविशिष्टमुच्यते प्रज्ञावित्स्वयं लोकत्रयं हत्वापि न हन्तीति, येन यत्कर्म क्रियते स तस्य कर्मणः कर्ता भवन्नैव दृश्यते कुलालादिः । कथं ब्रह्मवित्स्वयं सर्वप्रपञ्चसंहारं कृत्वाप्यकर्तृव भवतीति ? किमन्यं प्रयो-
 जयति वा स्वयमेव न करोति वा ? नाहः, अन्यप्रयोगेऽपि राज्ञ इवैतस्यापि हननक्रियासंभवात् । न द्विती-
 यः, हन्तापीत्युक्तिविरोधप्रसङ्गात् । ततोऽस्त्येव हननक्रियाकर्तृत्वं विदुष इति चेत्तत्स्वयं, यो यत्कर्म करोति कारयति वा स तस्य कर्मणः प्राज्ञात् कर्मण वा कर्तृव भवति । न तथायं विद्वान् स्वान्यत्करणजातं प्रयोज-
 यति, नापि स्वयं च करोति, किं तु मेघस्यध्वन्द्वो मेघकर्मणीव देहस्यो विद्वान् देहेन्द्रियादिभिः कृते कर्मणि कर्तृव दृश्यते । सम्यग्मुदुर्धा विचार्यमाणे मेधानामेव धावनाक्रियाकर्तृत्वं, न तु विदुषः । नहि कृतस्यासङ्गविदुषेणैव लिप्तो विदुषस्त्वधिष्ठाना-
 दिभिः संयोगः समवायो वा संभावयितुं शक्यते, तदसंभवे तत्कर्तृत्वं कर्मणि कर्तृत्वं च न संभवति । तत एवो-

च्यते परमेश्वरेण इत्यापि स इमंल्लोकान्न हन्तीति । मृददृष्ट्या चन्द्रबद्धहि क्रियावानिव प्रतीयमानोऽपि वस्तुतो ब्रह्मविद्ब्रह्मभावापन्नत्वात् क्रियामात्रस्य तु कर्ता न भवति, तत एवाकर्तृब्रह्मविदस्तत्कर्मफलसंनर्थ निषेधति न निवध्यत इति । यस्मान्निष्क्रियब्रह्मभावापत्त्या ब्रह्मविचक्षुः उपाधिसंबन्धरहितत्वेन स्वयमुपाधिकृतस्य कर्मणः पुण्यस्य पापस्यान्यस्य वा कर्ता न भवति, तस्मादेव न निवध्यते तत्कार्येण फलेन दुष्टेन वाप्यदुष्टेन च न सेयुज्यते, कर्मणामन्यकर्तृकत्वात् । नैवान्यकर्तृकर्माण्यस्य लेपाय फलाय च भवति । नहि देवदत्तकृतेन कर्मणा यज्ञदत्तो लिप्यते वष्यते वा, तद्वन्मयेदं कृतान्त्यात्मन्यविद्ययाऽप्यस्य पूर्वमिदानीं वा न तदात्मनोऽपि क्रियस्याकाशकक्षस्य लेपाय फलाय च भवति । नहि नीलं नभ इत्यस्यैरारोपितेन नीलिना नभो लिप्यते न नीलं च भवति । नापि चेदं जलमित्यप्यस्तजलेन महर्जलवान् भवत्यार्द्रश्च । बद्धवारोपितेन कर्मणा दुष्टेनाप्यदुष्टेन वाक्सा निरवयवः फूटस्यः क्रियावान्न भवति, नापि च तत्फलवान् । यस्मादेवं तस्मादात्मन्येवात्म-
तामापन्न आत्मविद्यतिः स्वस्याधिक्रियात्मत्वदृष्ट्या स्यादकूटस्थेन पूर्वं चाधुना च नैव किञ्चित्कृतमिति सुहृत्सुः स्वयायात्मनविषयोकरणसमुत्पन्नविज्ञानबलात्सां चित्तादिभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्यो विनिष्कस्य तत्फलेन जन्मादिना दुःखादिना च न किञ्चित् सृष्टव्यं इत्यर्थः । एतेन लोकत्रयस्थिताक्षेपप्राणिस्वभावात्तथावे कृते सत्यपि ब्रह्मविदस्तद्वत्तनक्रिया च तत्कृतप्रत्यवायकेश्च न संभवतीत्येवंलक्षणो ब्रह्मज्ञानस्य सहिमा महा-
द्भुतवरः संसारवन्धमिच्छेदहेतुरिति ज्ञानस्य माहात्म्यं स्वाभाविकमेव स्तूपदे-हत्वापि स इमंल्लोकान्न हन्ति न निवध्यत इति । ननु नित्यनिरन्तरसमाधिनिष्ठा निर्द्वन्द्वसर्वज्ञासनात्मन्महात्मनः स्वात्मारामस्य स्वानन्दानु-
सारसाधिनो नित्यवृत्तस्य सर्वात्मदर्शिनो विदुषः प्रवृत्तिरस्तीति सूच्यते । प्रवृत्तिहेतोरधिवाक्यामादेः सनाधिना निर्मलितत्वात् । किंतु पराचरैकत्वविज्ञानमिदं धर्मेव सर्वज्ञस्य ब्रह्मविद्यतेः क्वचिद्वारहारविहारदिलक्षण-
शरीराद्यात्रामात्रैकप्रयोजनेन कर्मणा दुष्टेन वाप्यदुष्टेन श्रेयो नास्तीत्युच्यते । तथैव श्रूयते ‘सं विदित्वा त
लिप्यते कर्मणा पापकेन’ इति, ‘यथा पुष्करपलाश आपो न क्लिष्यन्त्य एवमेवंविदि पापं कर्म न
क्लिष्यते’ इति ॥ १७ ॥

श्री० टी०—कर्तृहि सुमतिः यस्य कर्तृत्वेन नास्तीत्युक्तमित्यपेक्षायामाह—यस्येति । अहमिति कृतोऽहं
कर्तृत्वेर्बभूवो भावोऽभिप्रायो यस्य नास्ति । यद्वा अहंकृतोऽहंकारस्य भावः स्वभावः कर्तृत्वाभिनिवेशो यस्य
नास्ति शरीरादीनामेव कर्मकर्तृत्वालोचनादित्यर्थः । अत एव यस्य बुद्धिर्न लिप्यते इष्टानिष्टयुद्धया कर्मसु न
सज्जते स एवभूतो देहादिव्यतिरिक्तात्मदर्शी इमंल्लोकान्सर्वानपि प्राप्तिनो लोकदृष्ट्या हत्वाऽपि विविक्तया
स्वहृष्टया न हन्ति । न च तत्फलैर्निवध्यते बन्धं न प्राप्नोति । किं पुनः सत्त्वशुद्धिद्वाराऽपरोक्षज्ञानोत्पत्तिहे-
तुभिः कर्मभिस्तस्य वन्धश्छेदित्यर्थः । तदुक्तम्—‘ब्रह्मण्याभाव कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः । लिप्यते
न स पापेन’ इति ॥ १७ ॥

स० टी०—तदेवं चतुर्भिः श्लोकेर्मोक्षणस्यासिनां फलम् ॥ अनिष्टादिनिपायोक्तं व्याख्यातं हेतुभिः
सह ॥ १ ॥ इदानीं तुर्यपदं वदयाचष्टे सुख्यतत्परम् ॥ पूर्वोक्तविपरीतस्य यस्य ब्रह्मविदः सतः ॥ २ ॥
शास्त्राचार्योपदेशाभ्या संस्कृतात्मैवयसन्मतेः ॥ स्वप्रकाशचिदानन्दाकर्त्रमोक्षात्मवेदिनः ॥ ३ ॥ सकाशं
वाधिदेऽक्षाने नास्त्येवाहंकृता मतिः ॥ अहं कर्तृत्वरूपो यः प्रत्ययस्तस्य नास्तिवा ॥ ४ ॥ नास्त्यहंकारता-
दात्म्यं यस्य शुद्धात्मदर्शिनः ॥ अधिपानादयः पञ्च मायया मयि कल्पिताः ॥ ५ ॥ कर्तारः कर्मणां
नाहं कर्तादासीनभावतः ॥ किं तु-साक्षितया तेषां व्यापूरेवर्मासकः ॥ ६ ॥ इत्येवं यस्य शुद्धात्मम-
तेर्नाहंकृतिर्जडे । यस्यान्व-करणं बुद्धिर्नवानुशयिनी फले ॥ ७ ॥ अकार्यमिदमराहं भोक्ष्य एतत्फलं
विदि । कर्तृत्ववासनाहेतुर्जेषो नानुशयात्मकः ॥ ८ ॥ स परमार्थदर्शीत्यं पश्यन्नात्मनमक्रियम् ॥ हिंस-

त्वाप्यखिलोऽहोकांश्चाणिनः कालपरिणः ॥ ९ ॥ हननक्रियायाः कर्ता न भवत्यनर्हकृतिः ॥ न चाधर्मफले-
नासौ संवध्यत उदारधीः ॥ १० ॥ अत्र नाहंकृतो भावो न हन्तीत्यस्ति तत्फलम् ॥ बुद्धिर्न लिप्यते
त्वस्य न निवध्यत इत्यपि ॥ ११ ॥ अनेनातिशयोकेन कर्मलिपिः प्रदर्शितः ॥ हत्वापीति तु लौकि-
क्या दृष्ट्या बाधितचेरितम् ॥ १२ ॥ शास्त्रीयया न हन्तीति न विरोधो मत्तमापि ॥ एवं मायाकृतं
सर्वं बुद्ध्या कर्तुमुसं जगत् ॥ १३ ॥ मुख्यसंन्यासिनां नास्ति त्रिविधं कर्मणः फलम् ॥ स परमार्थसं-
न्यासो ब्रह्मयोगो न चापरः ॥ १४ ॥*ब्रह्मात्मैक्ये परित्राते नष्टेऽज्ञाने सकार्यके ॥ स्वतः सिद्धोऽस्ति
संन्यासः सर्वपापेषु कर्मणाम् ॥ १५ ॥ संन्यासित्वेऽपि पूर्वेषां जन्मकादिमहीक्षिताम् ॥ प्रारब्धकर्मणां
तेषां लोकदृष्ट्या क्रियावताम् ॥ १६ ॥ स्वदृष्ट्या न क्रिया काचिन्न कर्ता कर्म वा कश्चित् ॥ भिक्षा-
दनादिकं कर्म यथा संन्यासिना धिया ॥ १७ ॥ बाधितं सन्न वन्द्यस्य कारणं सर्वथा भवेत् ॥ तथा
तत्त्वविदा सर्वं कर्म श्रौतं च लौकिकम् ॥ १८ ॥ गृहस्थानामपि स्वीयदृष्ट्या बाधितमेव सत् ॥ न वन्द्यकं
यतस्तेषां प्रत्यगात्मानि केबले ॥ १९ ॥ सदा स्थितिरं देहाद्यै जडवर्गं विनश्यते ॥ अतो निरुद्धा
तुमिः कृतकृत्यतया विदाम् ॥ २० ॥ यस्यादाभ्युन्नपटुर्दामतिरिरियं त्यक्त्वाऽस्मिन्नाहंकृतं स्वात्मानन्दमृते न
कुत्र विषये रन्तुं मनागीप्ससि ॥ यद्वोधाभूतपूरपूरितवियं काचिन्नक्रिया न स्पृशेत्तं श्रीकान्तमनर्थधामविपुर्
नित्यं सुकुन्दं भजे ॥ २१ ॥ १७ ॥

भा० टी०—क. पुनः सुमतिः यः सम्यक् पश्यतीत्यपेक्षायामाह—यस्येति । यस्य ज्ञानाचार्योपदेश-
न्यायसंस्कृतबुद्धिवाद्दृष्टोऽहंकृतैरित्येवमज्ञानो भावो भावनाप्रत्यय, एवे एव पञ्चाभिधानादयोऽविद्यायामनि-
कल्पिताः सर्वकर्मणा कर्तारः, नाहम्, अहं तु तद्व्यापारणां साक्षिभूतो 'अप्राणो ह्यमनाः बुध्नो ह्यक्षरात्परतः
परः' केवलोऽविक्रियश्च इत्येवं पदयवोऽहंकृतो भावो नास्त्यस्यार्थः । बुद्धिरित्यस्य न लिप्यते—बुद्धिरित्य, करणं यस्या-
त्मन उपाधिभूता न लिप्यतेऽहमकार्यं तेनाहं सरकं गमिष्यामीति क्लेशशालिनी न भवतीत्यर्थः । न सुमतिः
कृतबुद्धिः सम्यग्भ्रष्टा इमान् प्रत्यक्षदिनानुमूयमानान् लोकान्प्राणिनो हस्यापि न हन्ति हननक्रिया न करोति,
कर्तृत्वाभिमानरहितत्वात् । न निवध्यते—नापि तत्कार्येण हननक्रियाफलेन संवध्यते निर्लितबुद्धित्वात् ।
भावः सज्जायः अहंकृतोऽहमेति व्यपदेशाहो न, अहंकारवासेन शुद्धस्वरूपमात्रपरिशेषात् । अहंकृतोऽहंकारस्य
आधस्तत्तादात्म्यं यस्य न विवेकेन बाधितत्वादेति वेति केचित् । यस्य नाहंकृत इति समानाधिकरणे पटवौ ।
ततश्च यस्य छिद्रलक्षणस्योपाधेरहंकारास्मिन्ना वृत्तिमनुत्पादयतोऽहमध्यासश्चान्यस्य भावः सत्ता । यद्वाहमहं-
कृतिं करोतीत्यहंकृत्यन्त, करणं यस्य संवन्धिनोऽहंकृतोऽन्त, करणस्य न भावः न स्थितिः, अहंकृतिशून्यं यस्या-
न्त, करणनित्यार्थः । तवाहमा कृतोऽहमध्यासमूलक इति यावत् । एवंविधो भावः पदार्थो ममेत्यध्यासरूपो
यस्य छिद्रमनो नास्तीत्युभयविधाध्यासश्चान्यावमुक्तं भवति । यस्य प्रमातृभावः प्रत्ययमात्रस्वरूप आत्मा ता-
हंकृत,—अहमेव कृतोऽहंकारतादात्म्यं प्रापितोऽहंकृतस्तथा न । यस्य बुद्धिर्न लिप्यते आत्मभावेन रक्षिता न
भवति, यस्य बुद्धेर्याविरक्तमात्मानं पश्यतो बुद्धिधर्माः कर्तृत्वादयो नात्मनि प्रतीयन्ते इति कर्मात्मवादिता-
र्किकनिरासः । यस्य ॥ आत्मधर्माश्चित्तन्यादयो बुद्धौ न संसृज्यन्ते इति बुद्धियेन चेदना वदतो योद्धव्य,
निरासः । चिदपि तेषां न्योन्यपरिमन्त्रन्योन्यधर्माध्यासो यस्य नास्त्येत्यर्थ इत्यन्ये । यस्य बुद्धिः शास्त्राचा-
र्यसमादिता वैलघ्यरेवातिरिक्ताऽना न लिप्यते विज्ञातव्यप्रत्ययलेपं न प्राप्नोति स पश्यतीति स निद्वानिति
पूर्वस्येभ्यः पश्यतिपदानुपद्वेण योग्यम् । कर्म पुनरयमेवंविध इति क्षेयमित्यादौ चेष्टाछिद्रकृतमनुमानमाह—
हत्वापीति । हन्वानुनाऽत्र वदुष्या लक्ष्येण, अस्मिन्नापि चिन्ताछिद्रकृतमनुमानमाह—
पापग्रहणादीनुष्यान् मूत्राऽऽदित्यानिमान् त्येछन् ररयं न हन्ति अहंमाभिमानान्यत्वात् इत्यर्थः ।

अतश्च न निवध्यते नास्य वन्तो जीवन्मुक्त्वादितरे । हत्वापि न हन्ति न निन्यत इति वाच्यस्यै
हेतुत्वेन प्रतीयमानस्य यस्येत्यादेः, एतत्फलभूतेन प्रतीयमानस्य हत्वापीत्यादेश पूर्वपरातुगुण्येन व्याख्यानं
कृतत्वं सर्वज्ञानां मार्गप्रदर्शकानां भाष्यकृतमुदाहृतयतिः चित्स्वरूपनाकरणेन न्यूनता नापादनीया । ननु
यद्यपि स्तुतिरियं तथापि हत्वापि न हन्तीति विप्रतिपिदमुच्यमानं कथमुपपद्यत इति चेत् देहाद्यत्मबुद्ध्या
हन्ताहमिति हि लोकैर्दृश्यते, नाहं कर्ता किं तु तदन्यापारसाक्षी क्रियाज्ञानशक्तिमदुपाधिद्वयविनिर्मुक्तः शुद्धः
सन् कार्यकरणासंबन्धोऽद्वितीयोऽविक्रिय इत्येवं हि विद्वान्पश्यति लौकिकीं पारमार्थिकीं च दृष्टिमाश्रित्य, तदु-
भयमुपपद्यत एवेति गृहाण । तथाच यः केवलमात्मानमकर्तारं कर्तारं पश्यति स दुर्मतिः । यस्तु यथाभूत्मा-
त्मानमकर्तारं पश्यति स सुमतिरिति द्वयोः संपिण्डितार्थः । ननु आत्मानं केवलं तु यः इति केवलप्रयोगान्
अधिष्ठानादिविशिष्टः करोत्येव आत्मा । एवं विशिष्टस्य कर्तृत्वे सति केवलमात्मानं यः कर्तारं पश्यति स
दुर्मतिरिति चेन्न, श्रुतिस्मृत्यादिभिरात्मनोऽविक्रियस्वभावत्वप्रतिपादनात् । तथा च श्रुतिः—“असृजो
ह्ययं पुरुषः । साक्षी चेत्ता केचलो निर्गुणश्च । अप्राणो ह्यमनः शुद्धो ह्यक्षरात्परः परः । अज आत्मा महान्
ध्रुवः निष्कलं निष्कलम् । ध्यायीव लेलयतीव” इत्येवमाद्याः । स्मृतयश्च ‘कथं स पुरुषः पार्थ कं धावति
हन्ति कम् । अविकार्योऽयमुच्यते । प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमि-
ति मन्यते ॥ शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते’ इत्येवमाद्याः । न्यायाश्च न तावदात्मा स्वतो विक्रि-
यते निरवयवत्वादाकाशवत्, नापि परतोऽसङ्गस्याविकार्यस्य स्वतन्त्रस्य परतो विक्रियावत्तायोगात् ।
किंचात्मनो विक्रियावत्त्वाम्युपगमे तस्य स्थानिष्ठाविक्रिया अधिष्ठानादिनिष्ठा वा । नायः, श्रुत्यादिभिरात्म-
नोऽविक्रियत्वप्रतिपादनात् । न द्वितीयः, अन्यनिष्ठाविक्रियाऽन्यस्मिन्निति विप्रतिपिदत्वात् । अविधया
गमितमपि नान्यनिष्ठत्वमन्यस्य, यथा रजतत्वं न शुक्तिकाया, यथा तलमलितत्वं बाल्यमित्यदिदृश्या
नाकाशस्य । तथाधिष्ठानादिविक्रियापि तेषामेव नात्मनस्तास्मादविक्रियस्यात्मनः केनचित्संज्ञनं संहत्य वा
कर्तृत्वं संभवतीति केवलत्वमात्मनः स्वाभाविकं केवलशब्दोऽनुवदति । नायं हन्ति न हन्यते इति प्रदिक्ष्य
न जायत इत्यादिना हेतुवचनेनाविक्रियत्वमुक्त्वा वेदाविनाशिनमिति विदुषः कर्माधिकारनिवृत्तिं श्लाघादौ
संक्षेपत उक्त्वा तत्र तत्र प्रसङ्गं कृत्वा प्रसारितं ‘न हन्ति न निवध्यते’ इत्युपसंहरति । एवं सति देहमुक्त्वा-
भिमानानुपपत्ताविविधाकृतार्थेपकर्मसंन्यासोपपत्तेः परमार्थसंन्यासिनामीनिष्ठादि श्रित्वं कर्मणः फलं न
भवतीत्युपपन्नम् । तद्विपर्ययश्चेतरेषा भवतीत्येतापरिहार्यमित्येष गीताशास्त्रत्यायं संपर्यट्टतः । स एष वेदा-
र्थेस्तारो निपुणमतिभिः पण्डितैः विचार्य प्रतिपत्तव्यं इति ॥ १७ ॥

बोध्यम् । अन्यस्य त्वपरोक्षिणोऽपि दोषकृदेवेति वृत्रहत्यादिनेन्द्रादिरपि ईषद्वन्धोषोपदहंकारकृत एवेत्या-
कर एव व्यष्टम् । एवं कर्तृत्वाभिमान्यनभिमानिनोः सहेतुकं निन्द्यास्तुत्योरुक्त्या कर्मणि कर्तृत्वाभिमान-
यागोऽपि संन्यासशब्दार्थं इत्युक्तं भवति ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ॥

करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

त० टी०—कर्मण्यभिमानरहितः कर्मभिस्तत्फलैश्च न क्लिप्यते इत्युक्तं, सा निरभिमानता सत्त्व-
गुणद्वयधा भवत्यतः सत्त्वस्थोपादानाय सत्त्वादिगुणकृतं ज्ञानादिभेदं वक्तुं तावत् कर्मविधेः कर्मणश्च
त्रैविध्यमाह—ज्ञानमिति । तत्र ज्ञानं कर्मकर्तृविधिदेवताविषयं, ज्ञेयं ज्ञातव्यं साङ्गं कर्म, परिज्ञाता तस्य
कर्मणो बोद्धा, एवं त्रिविधा कर्मचोदना प्रवर्तनोपदेशादिशब्दाभिधेयः कर्मविधिरित्यर्थः । “चोदना
चोपदेशश्च विधिशैक्यार्थवाचिनः” इतिभट्टैरुक्तत्वात् । तत्र ज्ञेयं कर्म त्रिविधं—करणं कर्म कर्तेति ।
साधकतमं करणं वाक्पाण्यादीन्द्रियं सुभादि च, कर्म कर्तुरीप्सिततमं कर्तुः क्रियया प्राप्यमाणं
ज्योतिषोमादिकं, कर्ता क्रियानिर्वर्तकः स्वतन्त्रः, त्रिविधः कर्मसंग्रहः कर्म संग्रहोऽस्मिमिति कर्म-
संग्रहः करणकर्मकर्तेति त्रिविधो ज्ञेय इत्यर्थः ॥ १८ ॥

म० टी०—पूर्वमभिधानाद्विषयकस्य क्रियाहेतुत्वेनात्मनः सर्वकर्मासंग्रहस्यैवमुक्तम् । संप्रति समेधार्थं
ज्ञानज्ञेयाद्विप्रक्रियाचरनया त्रैगुण्यमैकन्यास्यया च विवरीतुमुपक्रमते—ज्ञानमिति । ज्ञानं विषयप्रकाशक्रिया,
ज्ञेयं तस्य कर्म, परिज्ञाता तस्याश्रयो भोक्तान्तःकरणोपाधिरिकतिष्ठः । एतेषां त्रयाणां संनिपाते हि ज्ञानोपादा-
नाद्विषयकमरिम्भः स्यादत एतत् त्रयं सर्वेषां कर्मणां प्रवर्तकम् । तदेतद्वाह—त्रिविधा कर्मचोदनेति । चोदनेति प्रव-
र्तकमुच्यते । चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुरिति शायरे । “चोदना चोपदेशश्च विधिशैक्यार्थवाचिनः” इति ।
भट्टे च वचने क्रियाप्रवर्तकवचनत्वं यद्यपि चोदनापदशक्यतया प्रतीयते तथापि वचनसर्वं विहाय प्रवर्तक-
मात्रमिह लक्ष्यते ज्ञानादिषु वचनत्वाभावात् । एवं च प्रेरणीयत्वं प्रेरकत्वं चानात्मन एव नात्मन इत्यभि-
प्रायः । तथा करणं साधकतमं बाह्यं श्रोत्रास्त्रान्तस्थं युद्धादि । कर्म कर्तुरीप्सिततमं क्रियया व्याप्यमानम्
उत्पादानाय विकार्यं संस्कार्यं च । कर्ता च हतृकारकाप्रयोज्यत्वे सति सकलकारकाणां प्रयोक्ता क्रियायां
निर्वर्तकश्चिद्विषयान्तररूप इति त्रिविधस्त्रिप्रकारः, कर्म संग्रहो समेत्यत्रेति कर्मसंग्रहः कर्माश्रयः । चका-
रार्थादिति शब्दात् संग्रहमनपानादानमधिकरणं च राशित्रयान्वर्तकम् । एवं कारकपदकमेव त्रिविधं क्रियायां
आश्रयो ननु दृढस्थ आत्मेत्यर्थः । कर्मप्रेरकस्य कर्माश्रयस्य च कारकरूपत्वात्तैगुण्यात्मकत्वाच्चाकारकत्वं
भावो गुणगोचरत्वात्मा सर्वकर्मासंग्रहस्यैवमभिप्रायः । अथवा ज्ञानं प्रेरणारूपं लिङ्गविशब्दजन्यं, ज्ञेयं तस्य
ज्ञानस्य विषयत्वेन लिङ्गविशब्दस्वरूपं प्रेरकं, परिज्ञाता तस्य ज्ञानस्याश्रयः प्रेरणीय इत्येवं त्रिविधा कर्म-
चोदना कर्म क्रियापुरुषन्यापाररूपार्थाभावना, तद्विषया चोदना प्रेरणा विधिरूपा शाब्दी भावेनेत्यर्थः । तथा
करणं सेविकवैय्यार्थं साधनं फलवर्त्यः, कर्म मान्यं स्वर्गादिफलं, कर्ता फलकामनावान् पुरुषः क्रियायां
निर्वर्तक इत्येवं त्रिविधः कर्मसंग्रहः कर्मणः पुण्यापाररूपस्यार्थभावनायाः संग्रहः संक्षेपः । तदेवमर्थ-
मावनारूपपुण्यप्रत्ययः विधेयस्याभावाच्चब्दमावनारूपे विभिन्नं शुद्धमात्मनं गौचरयति कारकाश्रयत्वा-
द्विधिविधेयोः । तदुक्तम् त्रैगुण्यविषया वेदा निष्कैगुण्यो भवानुन । इति । कारकाणां च त्रैगुण्यरूपत्व-
मनन्तरमेव व्याख्यास्यत इत्यभिप्रायः । अत्र प्रसङ्गाद्विधिश्चित्त्ये—प्रवृत्तिहेतुत्वेन प्रेरणा तावत्सर्व-
लोकानुभवविद्धा । राज्ञा प्रेरितो वालेन प्रेरितो ब्राह्मणेन प्रेरितोऽहमिति हि प्रवर्तमाना वक्तारो

भवन्ति । सा च प्रवर्तना प्रवर्तकराजादिनिष्ठा । तत्रोक्तस्य निवृत्तं प्रति प्रवर्तना आसा प्रेपणेति चोच्यते । निवृत्तस्योक्तं प्रति प्रवर्तना याचनाऽप्येपणेति चोच्यते । समस्य समं प्रत्युत्कर्षनिर्कर्षादसन्निधेन प्रवर्तनाऽनुशास्नुमतिरिति चोच्यते । ते चाज्ञादयो ज्ञानविशेषा इच्छाविशेषा वा चेतनमर्मा एव श्लोके प्रसिद्धाः । वेदे तु विधिनाऽहं प्रेरितः करोमीति व्यवहारी भवन्ति । तत्र स्वयमेवेतनत्वादपौरुषेयत्वाच्च वैदिकस्य विधेर्न चेतनमर्थेणाज्ञादिना प्रेरकता संभवति । अतः स्वधर्मेणैव साऽभ्युपगन्तव्या गत्यन्तरासंभवात् । स एव च धर्मशोदना प्रवर्तना प्रेरणा विधिरूपदेशः शब्दभावनैति चोच्यते । तत्र केचिद्लौकिकमेव शब्दव्यापारं कल्पयन्ति । अन्ये तु "वृत्ततेनैवोपपत्तौ" नालौकिककल्पनां सहन्ते । प्रवर्तना हि प्रवृत्तिहेतुव्यापारः । विधिशब्दस्य चाख्यातत्वेन दृशककारसाधारणेनोपाधिना पुरुषप्रवृत्तिरूपाभावनां प्रति वाचकत्वं तज्ज्ञानहेतुत्वमिति यावत् । सा च ज्ञानवानुष्ठानं शक्यव इति उक्तेहेतोरपि दादृश्य उदेतुत्वं परंपरया भवत्येव । तत्र विधिशब्दस्य पुरुषप्रवृत्तिरूपभावनाज्ञानहेतुव्यापारस्वरूपाकशकिमत्तया विधेशब्दज्ञानम् । स एव च तस्य प्रवृत्तिहेतुव्यापार इति प्रवर्तनाभिधानीयकं उभये ज्ञानहारेणैव शब्दस्य प्रवृत्तिजनकत्वात्, ज्ञानजनकव्यापारातिरिक्तव्यापारकल्पने मानाभावात् । ज्ञानजनकश्च व्यापारस्तस्य स्वज्ञानं, शक्तिज्ञानं, शक्तिविशिष्टस्वज्ञानं च । तत्रावयोरन्यतरस्य शब्दभावनात्वम् । तृतीयस्य तु तत्र करणत्वमिति विवेकः । एवं स्थिते निष्कर्षः—विधिना स्वज्ञानं जन्यते प्रवर्तनात्वेनाभिधीयतेऽपीति विधिज्ञानमेव शब्दभावना । तस्यां च पुरुषप्रवृत्तिरूपाभावनेव भाग्यवयान्वेति । करणतया च प्रवृत्तिवाचकशक्तिमभिधानमेव । भावनासाध्यस्यापि फलापेक्षया भावनां प्रति करणत्वं फलकरणत्वादेव यागस्येव स्वर्गभाषनां प्रति न विरुध्यते । तथा च पुरुषः स्वप्रवृत्तिं भावयेत् । केनेत्यपेक्षायां पुरुषप्रवृत्तिवाचकशक्तिमत्तया ज्ञानेन विधिशब्देनेति करणाश्रयणम् । कथमित्याकाङ्क्षायामर्थवादैः स्तुत्वेति कर्तव्यताश्रयणम् । इयं गौः क्रूयेति लौकिके विधौ बहुधीरा जीवद्वरा रुदपत्या समांसमनेत्यादि लौकिकार्थावदवत् (समां समां प्रतिवर्षं प्रसूयते सा गौः) । नन्वाख्यातत्वेन विधिशब्दादुपस्थिता पुरुषप्रवृत्तिर्भाष्यतयान्वेत् । करणं तु कथमनुपस्थितमन्वेति । उच्यते—विधिशब्दज्ञानश्च ब्रह्मणेनोपस्थापितस्तस्य पुरुषप्रवृत्तिवाचकशक्तिरपि स्मरणेनोपस्थापिता । वदुभयवैशिष्ट्यं तस्मिन् ज्ञापता च मनसोति वाचकशक्तिमत्तया ज्ञातो विधिशब्द उपस्थित एव । अनेन यच्छ्रुत्यात्तत्रावपेक्षिति प्रतिशब्दं स्वाध्यायविधितात्पर्याच्छ्रुत्यातिरिक्तोपस्थितमपि शब्दबोधे भासत एव । यथा ज्योतिष्टोमादि नामधेयं यथा वा इन्द्रविनियोजो मन्त्रः । तदुक्तमाचार्यैर्द्विद्विंशिकेण "अनुपस्थितविशेषेणा विशिष्टेषु द्विर्न भवति न स्वतन्त्रमिदं विशेषेणा" इति । एवमर्थवादानामुपस्थितिः श्रोत्रेण । प्राज्ञस्तस्य तु त्रैरेव लक्षण्या तदुभयनिष्ठज्ञातवादास्तु मनसैर्यथावदैः प्रज्ञात्वेन ज्ञातेति कर्तव्यताश्रयणव्योऽभ्युपगम एव । ननु किं प्राज्ञस्य ? न वावत् फलसाधनत्वं, तस्य यागेन भावयेत् स्वर्गमित्यर्थभावनान्धवशेन विधिवान्वादेव लब्धत्वात् । नान्यन्त, प्रवृत्तावनुपयोगात् । उच्यते—अवदन्निष्ठाननुबन्धित्वं प्राज्ञस्तस्य । तत्र नेष्टहेतुत्वज्ञानाकृष्ये, इष्टहेतावपि फलजन्मश्रणादावनिष्ठहेतुत्वस्यापि दर्शनात् । विहितवयेन फलस्य च शत्रुवधपर्यानिष्टादुपस्थितं दृष्टम् । अतो यावत्साधनस्य फलस्य चानिष्टाहेतुत्वं नोच्यते तावदिष्टहेतुत्वेन ज्ञातेऽपि तत्र पुरुषो न प्रवर्तते । अत एवोक्तम् 'फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते । केवलप्रतिहेतुत्वमुत्तमं' इति कथ्यते ॥ इति । अतः स्वतः फलतो वानर्थाननुबन्धिवरूपप्राज्ञस्त्यवोधनेनार्थवादा विधिशक्तिमुत्तमयन्ति । क उक्तम् : स्वतः फलतो वानर्थाननुबन्धित्वशङ्कायाः प्रवृत्तिप्रतिबन्धिकाया विगमाः । इदमेकं च विधेः प्रवृत्तिजनने साहाय्यमर्थवादैः क्रियत इति विधिर्यत्वादसाक्षात् । एवमर्थवादा अध्यामिषया गोण्या या श्रुत्या भूवमर्थं यदन्तो-

अपि स्वाध्यायविध्यापादितप्रयोजनवत्त्वलाभाय विधिसाक्षात्ताः । सोऽयं नष्टाश्वदग्धरधवत्संप्रयोगः । यथेरु-
ह्य दग्धस्य रथस्य जीवव्रिहिरन्यस्य विद्यमानस्य रथस्याविद्यमानाश्वस्य संप्रयोगः परस्परस्यार्थवत्त्वाय
तथार्थवादानां प्रयोजनांशो विधिना पुर्यते । विधेश्च शब्दभावनाया इतिकर्तव्यतांशोऽर्थवादौरेरिति । तदिद-
मुभयोः श्रवणे पूर्णमेव वाक्यमेकस्य श्रवणे त्वन्यस्य कल्पनया पूरणीयम् । तथा 'वसन्ताय कपिअ-
लानालभेत' इति विधिवर्थादाशोऽश्रुतोऽपि कल्प्यते । 'प्रवितिघ्नन्ति ह वा य एषा रानीरुपयन्ति' इत्याद्यर्थ-
वादे विध्यंशः । तथा च सूत्रम् 'विधिना त्येकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति । विधिना
स्तुतिसाक्षात्केण प्रयोजनसाक्षात्त्वानामर्थवादानामेकवाक्यत्वाद्विधीनां विधेयानां स्तुत्यर्थेन स्तुतिप्रयोजनेन
स्तुतिरूपेण प्रयोजनसाक्षात्केण लक्षणिकेनार्थेन यानर्थस्याभावाद्यर्थवादा भ्रमं प्रमाणानि स्युरिति
सरयार्थः । ननु 'य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एव चामोपासम्याः' इति न्यायाद्विशिष्टादस्य
लोके यत्र शक्तिर्गृहीता वेदेऽपि तदर्थकेनैव तेन भाषितव्यम् । लोके च प्रेरणादौ पुरुषभर्तृवाचित्वं क्लृप्त-
मिति वेदे शब्दभावनाभाषित्वं कथमुपपद्यते । उच्यते—ल्लोकवेदयोरैकरूप्यमेव । तथा हि—लोके प्रेरणादिकं
न तेन तेन रूपेण विधिपदवाच्यम्, अस्तुमेतन् नानार्थत्वप्रसङ्गात् । तद्वदेव भावनाभाषित्वोपपद्यते । किंतु
प्रेरणायपेक्षानुहास्यसि प्रवर्तनात्यमेकम् । तत्र शब्दव्यापारोऽपि तुल्यमिति तदेव लिङ्गादिपदवाच्यम् । तत्र
लौकिकशब्दे नास्त्येव । तत्र राजादीनामेव प्रवर्तकत्वात् । प्रवर्तकव्यापार एव हि (प्रेरणत्वेन इत्यादिना न
विधिपदवाच्यं किंतु प्रवर्तनात्वेन वाच्यं) प्रवर्तना प्रवर्तकत्वं च राजादेरिव वेदस्याप्यनुभवसिद्धम् । ननु
वेदेऽपि प्रवर्तनावागीश्वरः कल्प्यतांलोके राजादिवत् । तदुक्तम् 'विधिरेव तावद्भ्रमं श्रुतिशुभायाः पुंयोगे मानम्'
इति । न, वेदस्यापीरुपेयत्वात् । न हि वेदस्य कृतां पुरुषो लोके वेदे वा प्रसिद्धः । तत्कल्पने च तज्ज्ञानप्राप्ता-
प्यापेक्षया वेदप्रमाण्ये निरपेक्षत्वेन स्थितं स्वतःप्रामाण्यं भ्रमं स्यात् । बुद्धवाक्येऽपि प्रामाण्यप्रसङ्गाच्च । ईश्वर-
वचनत्वे समानेऽपि बुद्धवाक्यं न प्रमाणं वेदवाक्यं तु प्रमाणमिति सुभगाभिस्तु कन्यायप्रज्ञः । महाजनानामु-
भयसिद्धन्ताभावेन तत्पारिप्राहापारिमहाभ्यामपि विशेषानुपपत्तेः । ईश्वरप्रेरणाया लोकेवेदसाधारणत्वेन लोकेऽपि
राजादीनां प्रेरकत्वं न स्यात् । ईश्वरप्रेरणायां स्थितायामेव राजादिरप्यसाधारणतया प्रेरक इति चेत्, इत्त सा
विप्रतु न मा, किं त्विहाप्यसाधारणः प्रेरको वेद एव राजादिस्थानीय इत्यत्रात्रं मर्गे । ईश्वरप्रेरणायाः साधा-
रणाया असाधारणप्रेरणसहकारेणैव प्रवर्तकत्वात् । किंच ईश्वरप्रेरणाया सर्वोऽपि विहितं कुर्यादेव न तु
कश्चिदपि लङ्घयेत्, निमित्तेऽपि ऐश्वरप्रेरणास्त्येव । अन्यथा न कोऽपि तत्र प्रवर्ततेति तदपि विहितं स्यात् । तथा
चोक्तम् 'भक्तो जन्तुर्नोशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्सर्वं वा शब्दभवेन वा ॥' इति । तस्माद्रा-
जादिरिव वेदोऽपि स्वप्रवर्तनां ज्ञापयन्निच्छोपहारमुत्प्रेन प्रवर्तयतीति सिद्धं ल्लोकवेदयोरैकरूप्यम् । पूर्वमीमा-
सकानां स्वतन्त्रो वेदो ब्रह्ममीमासकानां तु अक्षुविचरितस्वतन्त्रो वेद इति यद्यपि विशेषतथापि श्रुतिवस्तुत्प-
त्वेन वेदस्यापीरुपेयत्वमुभयेषामपि समानम् । अत्र च प्रकृत्यनुकूलव्यापारवत्त्वं प्रवर्तनात्वं संखण्डोऽखण्डो
वोपभित्तिस्मिन् विधिपदशब्दयोः तत्राश्रयविशेषोपस्थितिर्निर्वादितास्त्येव । अनुकूलव्यापारत्वं वा शक्यं प्रवृत्त्ये-
वासत्वात्पातत्वेन शक्यन्त्यन्तरलम्प एव । तण्डीत्यत्र संवन्निवि मनुवर्षे प्रकृत्यर्थदण्डसंज्ञक । फलसाधनतायोष
एव प्रेरणा तामेव कुर्वन् प्रेरको विधिः । अतः फलसाधनतैव प्रेरणात्वेन विधिपदशब्दयोः मण्डनार्थाः । फल-
साधनता चार्थभावनाद्वयलभ्येत्युक्तं प्राक् । इममेव च पक्षं पार्थसारथिप्रवृत्तयः पण्डिताः प्रतिपन्नाः । औप-
निषदात्मनि केपादिदिष्टसाधनतावावोऽनेनैव मतेनोपपादनीयः । इष्टसाधनत्वं स्वरूपेणैव लिङ्गादिपदशक्यं
न प्रेरणात्वेनेति सार्किकाः, तत्र । गौरवान्दन्त्यलभ्यत्वादन्यथायोग्यत्वाच्च । इच्छाविषयसाधनतापेक्षया प्रवर्तना-
व्यमविलम्ब इच्छावादिप्रययोरप्रवेशात् । इच्छाज्ञानस्यपि प्रवृत्तिज्ञानवत् प्रवृत्तिहेतुत्वाभावात्, वस्तुगत्या य

इच्छाविषयस्तत्साधनमिति शब्देन प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् । साधनत्वमाश्रयेन शक्यत्वे च तेनैव प्रत्यये-
नोपस्थापितया प्रवृत्त्या सह श्रुत्या तदन्वयसंभवे पदान्तरोपस्थापितस्वर्गेण सह वाक्येन तदन्वयासंभ-
वात् प्रवर्तनात् एव पर्यवसानं श्रुत्या वाक्यस्य बाधनात् । प्रत्ययश्रुतेः पदश्रुतिवोऽपि वलीयस्त्वेन पशुना
यजेतेत्यन प्रकृत्यर्थं पशुं विहाय प्रत्ययार्थेन करणेन सहैवैतन्नवस्यान्वयादेकं करणं पशुरिति वचनव्युत्पत्त्या
कृत्यद्भवेत्कस्वरय स्थितं किमु वक्तव्यं पदान्तरसमभिव्यह्यारूपवादाभ्याम्वलीयस्त्वमिति । वान्याथान्वय-
छायात्वाच्च नेष्टसाधनत्वं पदार्थः । यथा हि प्रवर्तनाकर्मभूता पुरुषप्रवृत्तिस्त्वावभावा किं केन कथ-
मित्यंशप्रयवती विविनालम्बत्वेन प्रतिपाद्यत इत्युक्तं प्राक् । अपुरुषार्थकर्मिकत्वात् च तस्या प्रवर्तनानु-
पपत्तेरकपक्षोपस्थापितमप्यपुरुषार्थं धात्वर्थं विहाय भिन्नपदोपात्तमन्यविशेषणमपि कमिषदसंदग्धेन साध्य-
वान्वययोग्यं स्वर्गमेव पुरुषार्थं साभान्यवयात्मक्यते । इच्छाविषयैव कृतिविषयत्वनियमात् । स्वर्गं कामयते
स्वर्गकाम इति कर्मणि द्विवीयाया अन्तर्भूतत्वात् । यजेतेरकर्मकत्वेन स्वर्गमित्युक्तेऽनन्वयाच्च । अत एव यत्र
कमिषदं न श्रूयते तत्रापि वक्तव्यते । यथा प्रतिपिष्टान्ति द्वाच य एवा राज्ञीकपयन्तीत्यादौ प्रतिपिष्टाकामा राविस-
प्रमुपेयुरित्यादि । एवं च लब्धभाभ्याया वस्या समानपदोपस्थापितो धात्वर्थ एव करणतयान्वेति, भाभ्याशस्य
कमिषदिविषेणावकृष्टत्वात् । सुक्तिवभाक्तियोग्ये वात्त्वर्थनामभेदे ज्योतिष्टोमादौ तृतीयाश्रवणात् । यत्रापि नामभेदे
द्विवीया श्रूयते तत्रापि व्यत्ययानुशासनेन तृतीयाकल्पनत् । तदुक्तं महाभाष्यकारैरितिहोत्रं जुहोतीति तृतीयाथे
द्विवीयाथेति । अत एव तेः प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्राधाप्येन प्रकृत्यर्थे गुणत्वेनेति
प्रत्ययार्थभावना प्रति धात्वर्थस्य गुणत्वेन करणत्वमुक्तम् । आप्यातं क्रियाप्रधानमिति वदन्निर्दिष्टकाम-
रैरप्येतेद्वेष्टेष्टम् । मानवार्थाधिकरणे च तथैव स्थितम् । तेन सर्वत्र प्रत्ययार्थं प्रति धात्वर्थस्य करणत्वेनैवान्वय-
नियमः । अत एव गुणविशिष्टधात्वर्थविधौ धात्वर्थानुवादेन केवलगुणविधौ च सत्त्वर्थलक्षणा विधेर्विप्रकृष्टवि-
षयत्वं च । यथा सोमेन धमेतेति विशिष्टविधौ सोमपया यागेनेति दक्षा जुहोतीति गुणविधौ दधिमता
होमेनेति । नामधेयान्वये तु सामानाधिकरण्योपपत्तेर्धात्वर्थमात्रविधानाच्च न सत्त्वर्थलक्षणा न वा विधिवि-
प्रकर्षः । तदेवं ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यत्राक्याताथो भावयेदिति किमित्याकाङ्क्षायां कमिषदिव्यं
स्वर्गमिति विधिश्रुतेर्द्विवीयात्वादाकाङ्क्षाया उत्कटत्वाच्च । तथा च स्थितं पञ्चाप्याये । ततः केनेत्यपेक्षिते यागे-
नेति तृतीयान्तपदसमानाधिकरणत्वात् करणत्वेनैवान्वयनियमाच्च । किन्ताग्रेत्यपेक्षिते योनेतिष्टोमेनेति
तत्रान्तेत्यर्थः । शब्दादनुपस्थितोऽपि ज्योतिष्टोमशब्दो भासत एव शब्दे योधे श्रवणेनोपस्थापितस्तात्पर्यवशात् ।
नामधेयान्वये च न विभक्त्यर्थो द्वारं नजिवायथान्वय इव । तेन सत्त्वर्थलक्षणामन्तरेणैव ज्योतिष्टोमशब्द-
वहेत्यन्वयलाभः । तथाच कविप्रयोगः 'हिमालयो नाथः नगाधिराजः' इति, हिमालयनाथवानित्यर्थः ।
एवमिदं 'प्रमित्रकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' इत्यादावगृहितसङ्कलितैकपदवति वाक्ये मधुकरादिपदं
स्वरूपेणैव भासते नामधेयवत् । नाथमुपस्थापयति प्रागगृहीतसङ्कलितकत्वात् । अत एव मधुकरं शब्दवाच्य
इत्यपि लक्षणया नान्वयः शक्यज्ञानपूर्वकत्वात्तद्व्यञ्जानस्य । स्वरूपस्तु ईदं भाते वाच्य-
वाचकसंवन्धः पश्चात्कल्प्यते संसर्गनिर्वाहयेति । तदर्थं वाक्यार्थः-ज्योतिष्टोमनान्ता यागेन स्वर्गमिष्टं
भावयेदिति । कथमित्यपेक्षिते श्रुतिविद्वत्वाक्यमकरणस्थानसमाख्याभिः सामवायिकारादुपकारकाद्गमान-
पूर्त्वेति विद्वतोः प्रकृतिवदित्युपपत्त्येन नित्ये यथासक्त्युपपन्नेन मुख्यलाभे प्रतिनिधायीतीति
यावन्न्यायलभ्यं तत्पूरणम् । एवं च यामस्य स्वर्गवर्तिष्ठान्नभावनाकरणत्वेन स्वर्गकरणत्वं करणत्वेन च
साक्षात्कृत्यापाराविषयत्वरूपं कृतिसाध्यत्वं सुत्यर्थभ्या लभ्यत इति तदुभयमपि न लिङ्गमिदपदवाच्यम्, अप्राप्ते
शास्त्रमर्थवदिति न्यायः । अनन्वयाच्च, श्दसाधनमिति समासे गुणभूतमिष्टपदं स्वर्गकाम इति समासान्तपदगुणभ-

तेन स्वर्गपदेन कथमन्विता इष्टस्वर्गसाधनमिति । नहि राजपुरुषो वीरपुत्र इत्यत्र वीरपदराजपदोऽन्वयो-
ऽस्ति पदार्थः पदार्थेनान्वेति नतु पदार्थकदंशेनेति न्यायात् । करणविमर्त्यन्तज्योतिष्टोमादिनामेधेयानन्वयप्र-
सङ्गादिदोषाश्चास्मिन् पक्षे द्रष्टव्याः । एतेनेष्टसाधनत्वमनिष्टासाधनत्वं कृतिसाप्यत्वमिति त्रयमपि विध्यर्थ
इत्यापास्तम् । अतिगौरवाद्वाद्वादानां सर्वथा वैयर्थ्यापत्तेश्च । अत्र एव कृतिसाप्यत्वमात्रं विध्यर्थ इत्यपि न
भावनाकरणत्वेनार्थलभ्यत्वादित्युक्तेः । अलौकिको नियोगस्त्वलौकिकत्वादेव न विध्यर्थः । पराक्रान्तं चात्र
सूरिभिः । तस्मादनन्यलभ्या लघुभूत्वा च मेरुनैव लिङादिपदवाच्येति स्थितम् । प्रवर्तकं तु ज्ञानं वाग्यार्थमर्या-
दालभ्यमेव सर्वेषामपि वादिनाम् । आख्यातार्थं एव च विशेष्यवत् आसत्ते न घातव्यं न नामार्थः स्वर्ग-
कामो वेति चोक्तप्रायमेव । तेन च यागालुङ्गलकृतिमान् स्वर्गकाम इति तार्किकमतं पुरुषनिर्दोष्यकवाक्यार्थ-
ज्ञानमपास्तम् । संक्षेपेण मतं भाट्टमिदमत्रोपपादयिष्ये । यद्ब्रह्मविद्वानन्यत्तदनुसन्धेयमाकरात् ॥ १८ ॥

श्री० टी०—एवं विहितप्रतिपिदादीनां कर्मणां सर्वेषामपिष्टानादिपञ्चकैकनिर्वर्त्यत्वं, तत्कृते कर्मणि कर्तृ-
त्वाभिमानिनो दुर्मतेः कर्मभिर्ब्रह्मत्वं, कृतयुद्धेर्विदुषस्तत्कर्तृत्वसङ्गदित्यर्थं च प्रतिपाद्याय निवृत्तलक्षणं निष्कर्म-
त्वज्ञानमेवाप्रतिबद्धं कैवल्यसिद्धेः परमकारणमित्यासक्तोर्मौलैककामस्य तादृशज्ञानसिद्धेः कारणं
सत्त्वशुद्धिस्तत्सिद्धेः कारणं तु कर्मैव सात्त्विकं तदेव कर्षयामिति बोधयितुं कर्मप्रयुक्तिहेतुं कर्माश्रयं च
ज्ञानकर्मकर्तृयुद्धादीनां सात्त्विकस्वरजस्तत्त्वादिभेदं च प्रतिपादयितुमुत्तरमन्य आरभ्यते । यद्यपि सप्तदशे
आहारादीनां सात्त्विकादिभेदः प्रतिपादितस्तथापि तत्र श्रद्धादीनामेव पञ्चानां सात्त्विकादिभेदः प्रतिपा-
दितो न तु ज्ञानादीनाम् । तेषां सात्त्विकादिभेदे विज्ञाते हेतयामां राजसं तामसं च स्वयम्भवा सात्त्विके ज्ञानादौ
प्रवृत्तस्य सत्त्वं भुज्यते । तेन ज्ञानं तत्फलं च सिध्यति । तदर्थमत्र 'चोदनायाः कर्माश्रयस्य च स्वरूपज्ञाना-
दीनां गुणभेदेन भेदं च प्रतिपादयति द्वाविंशत्या । ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनभावमेव सर्ववैद्यार्थं गीतार्थं च
दृढीकर्तुम्—ज्ञानमिति । ज्ञानमिष्टानिष्टादिरूपं द्रव्यगुणकर्मादिपदार्थजातम् । ज्ञाप्यतेऽनेनेति ज्ञानं साधारणः
सर्वपदार्थविषयको बोधः, हातव्यं द्रव्यगुणादिपदार्थजातं सर्वं ज्ञेयमित्युच्यते, परिज्ञाता ज्ञेयस्य ज्ञानस्य च
ज्ञाता प्रमाता साभासो निज्ञानात्मा । इत्येवंप्रकारेण चोदना चोद्यते प्रवर्ततेऽनेनेति चोदना सामान्येन
सर्वपदार्थानां हानोपादानादिक्रियाहेतुखिविधा त्रिप्रकारा प्रमाणप्रसेयप्रमातृलक्षणस्य यस्य सौनिविधानेन
ज्ञानादिक्रिया ज्ञायते सा चोदना त्रिविधेत्यर्थः । एवं प्रवृत्तेः कारणस्य त्रैविध्यमुक्त्वा कर्माश्रयस्यापि
त्रैविध्यमाह—करणमिति । क्रियतेऽनेनेति करणं ब्रह्माभ्यन्तरं च । श्रोत्रादिबाणादिबुद्ध्यादिद्वादशविधं
कर्मैतत्तत्तत्कर्तृशक्तिक्रियाविषयभूतं यद्ब्रह्म द्वितीयान्तं तत्कर्मैत्यर्थः । कर्ता करणान्त प्रयोक्ता न तु स्वयं
तत्प्रयोज्यः स्वतन्त्रः कर्ता विज्ञानात्मा । एवं कर्मसंग्रहः कर्म सम्यग्गृह्यतेऽस्मिन्निति कर्मसंग्रहः क्रियाश्रयः
करणविधिविधित्रिप्रकार इत्यर्थः । नतु संप्रदानादेः क्रियाश्रयत्वसंभवे कवं क्रियाश्रयस्य त्रैविध्यमिति चेन्न ।
संप्रदानादेः परंपरया विना साक्षात्क्रियाश्रयत्वासंभवात् न यथा कर्मणः साक्षात्क्रियाश्रयत्वं न यथा
संप्रदानादेः संभवति ततो गुणं क्रियाश्रयस्य त्रैविध्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

श्री० टी०—हत्वापि न हन्ति न निवध्यत इत्येतदेवोपपादयितुं कर्मचोदनायाः कर्माश्रयस्य च कर्म-
फलदीनां च त्रिगुणात्मकत्वात्त्रिगुणस्यात्मनस्तत्संबन्धो नास्तीत्यभिप्रायेण कर्मचोदना कर्माश्रयं चाह—
ज्ञानमिति । ज्ञानमिष्टसाधनमेतदिति बोधः, ज्ञेयमिष्टसाधनं कर्म, परिज्ञाता एवभूतज्ञानाश्रयः, एवं
त्रिविधा कर्मचोदना चोद्यते प्रवर्तते जनयेति चोदना, ज्ञानादित्रितयं कर्मप्रवृत्तिहेतुरित्यर्थः । यद्वा चोद-
नेति विधिंरुच्यते । तदुक्तं भट्टैः—'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्वाचिनः' इति । तदत्रायमर्थः—उक्तलक्षणं
त्रिगुणात्मकं ज्ञानादिवयसबलमन्य कर्मविधिः प्रवर्तत इति । तदुक्तम्—'त्रैगुण्यविषया चोदा' इति । तथाच

करणं साधकतमं, कर्म च कर्तुरभिहिततमम् । कर्ता क्रियानिर्वर्तकः । कर्म संगृह्यते अस्मिन्निति कर्मसंग्रहः ।
करणादिविधिं च कारकं क्रियाश्रय इत्यर्थः । संप्रदानादिकारकत्रयं ॥ परंपरया क्रियानिर्वर्तकमेव केवलं न तु ।
साक्षात् क्रियाया आश्रयः । अतः करणादित्रयमेव क्रियाश्रय इत्युक्तम् ॥ १८ ॥

स० टी०—क्रियादेस्तुत्या प्रोक्तमधिष्ठानादिवचनम् ॥ कर्मासंस्पर्शतया तद्वदात्मनस्तद्विदस्तथा ॥ १ ॥
प्रोच्येदानीं तमेवार्थं ज्ञानत्रयेयादिभेदतः ॥ त्रैमुण्यमेदाद्व्याख्यातुं समुपक्रमते हरिः ॥ २ ॥ वस्तुभान-
क्रियाज्ञानं त्रैयं तस्यास्ति कर्म च ॥ तस्याश्रयः परिज्ञाता मोक्षां बुद्ध्याद्युपाधिकः ॥ ३ ॥ त्रयाणां
संनिपातेन प्रारम्भः सर्वकर्मणाम् ॥ अत एव तत्रयं ग्राह्य सर्वकर्मप्रवर्तकम् ॥ ४ ॥ चोदनेति क्रियायाश्च
ग्राहुरत्र प्रवर्तकम् ॥ चोदना चोपदेशश्च विधिश्रैकार्यवाचिनः ॥ ५ ॥ इत्येवं ज्ञातरे भाष्ये चोदनातिरिक्तः
कृतः ॥ एवं च प्रेरणीयत्वं प्रेरकत्वमनात्मनः ॥ ६ ॥ नात्मनस्त्रैयमधिष्ठानादिविधेस्तु कृतो हरेः ॥ याद्यं
श्रोत्रादिकरणं तत्साधकतमं स्मृतम् ॥ ७ ॥ अन्तःस्थं तच्च बुद्ध्यादिकरणं द्विविधं स्मृतम् ॥ क्रियाया
व्याप्यमानं यत्कर्तुरव्यन्तमोक्षितम् ॥ ८ ॥ तत्कर्माश्रित्येव ततोत्पाद्यादिकं चतुर्विधम् ॥ स्वतन्त्रः
कारकैरन्यैरप्रयोज्यः स्वयं हि कः ॥ ९ ॥ समस्वकारकाणां च कर्ता स स्वात्मप्रयोजकः ॥ निर्वर्तकः
क्रियायाश्च चिदचिद्बन्धिरूपधृक् ॥ १० ॥ कर्म संगृह्यते चास्मिन्समवैतीति संग्रहः ॥ कर्माश्रयोऽस्ति
त्रिविधश्चाधीदिति प्रयोगतः ॥ ११ ॥ संप्रदानमपादानमाधारश्च त्रयं त्रिषु ॥ अन्तर्भूतमनेनोक्तं कारक-
पङ्क्त्या क्रिया ॥ १२ ॥ न स्वात्मनि क्रियातीते स कृदस्यो यवस्त्विति ॥ कर्माश्रयस्य कर्मानुप्रेरकस्य च
सर्वतः ॥ १३ ॥ कारकात्मकया तद्वत्त्रैमुण्यात्मकतया तथा ॥ अकारकत्वंभावोऽयं गुणातीतोऽक्रियोऽचलः
॥ १४ ॥ सर्वकर्मण्यसंस्पृशीत्यभिप्रायो हरेर्विभोः ॥ १५ ॥ १८ ॥

भा० टी०—आत्मनः कर्तृत्वं फलसंबन्धित्वं च नास्तीत्युक्तं तदेवोपपादयितुं कर्मणां प्रवर्तकमाह—ज्ञा-
नमिति । ज्ञायतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्याऽविशेषेण सर्वविषयं ज्ञानमात्रमुच्यते । तथा ज्ञेयमपि सामान्येनैव,
ज्ञातव्यं सर्वमुच्यते । तथा परिज्ञाताऽविद्याकल्पितोपाधिप्रधानो मोक्षेत्येवं विविधा कर्मचोदना कर्मणां,
प्रवर्तकं त्रिविधमित्यर्थः । कर्णं क्रियतेऽनेनेति दाहां श्रोत्राद्याभ्यन्तरं बुद्ध्यादि, कर्मेप्सिततमं कर्तुः क्रियाया
व्याप्यमानम् । कर्ता स्वतन्त्रः, स्वातन्त्र्यं च कारकाप्रयोज्यस्य तत्प्रयोक्तृत्वम् । अविद्याकल्पितोपाधिप्रधानो
व्यापारयिता—इति त्रिविधः कर्मसंग्रहः संगृह्यतेऽस्मिन्निति संग्रहः कर्मणस्तु समवेतत्वात् । अयं त्रिविधः
कर्मसंग्रहः । ज्ञानादीनां हि त्रयाणां संनिपाते ज्ञानोपादानोपेक्षाप्रयोजनः सर्वकर्मारम्भो भवतीति ज्ञानादिरू-
पा त्रिविधा कर्मचोदनीच्यते । तत्रश्च पञ्चभिरधिष्ठानादिभिरारब्धं बाह्यमन्त्राकाशश्रयभेदेन त्रिधा राशी-
भूतं त्रिषु करणादिषु संगृह्यत इति करणादिरूपस्त्रिविधः कर्मसंग्रह उच्यते इति भावः । अत्र भाष्यस्यास्य
सामान्यरूपत्वात् तद्विरोधेन व्याख्यानान्तरास्यापि निर्दुष्टान्युपादेयानि ॥ १८ ॥

प० टी०—प्रज्ञाप्यापाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः । इत्यादि पूर्वोक्तमस्ति, तदेवोपपादयितुं
कर्मचोदनायाः कर्माश्रयस्य च कर्मफलना त्रिगुणात्मकत्वात्त्रिगुणस्यात्मनस्तत्संयन्तो नास्तीत्यभिप्रेत्याह—
ज्ञानमिति । ज्ञानमिष्टसाधनमिति बोधः, ज्ञेयमिष्टसाधनं कर्म, परिज्ञाता एवभूतज्ञानाश्रयः, एवं त्रिविधा
कर्मचोदना चोद्यते प्रवर्तयतेऽनेनेति चोदना ज्ञानादित्रयं कर्मप्रवृत्तिहेतुरित्यर्थः । यद्वा चोदनोपदेशः । तदुक्तम्—
‘चोदना चोपदेशश्च विधिश्रैकार्यवाचिनः’ इति । तत्राश्रयमर्थः—उच्छलक्षणं त्रिगुणात्मकं ज्ञानादित्रयमवलम्ब्य
कर्मविधिः प्रवर्तत इति ज्ञानं करणं साधकतमं कर्म च कर्तुरभिहिततमम् । कर्ता च क्रियानिर्वर्तकः । कर्म
संगृह्यतेऽस्मिन्निति कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

रा० टी०—ननु जीवस्य स्वतः कर्तृत्वाभावे यजेतेत्यादिविधीनां वैयर्थ्यं स्यात् जडेश्वरमुक्तातां तद-
 विषयत्वादित्यत आह—ज्ञानमिति । विधिभ्योदना प्रेरणेति पर्यायः । कर्मचोदना यजेतेत्यादि कर्मसु
 प्रेरणा । ज्ञानं ज्ञेयं परिहृतेतिविशेषो योज्यः । त्रिविधा ज्ञानादिरूपेण त्रिविधा । ज्ञानं विधिविषयं
 ज्ञेयं चेष्टाप्रयत्नरूपप्रवृत्तिलक्षणमधिष्ठानादिलक्षणं पुरुषार्थलक्षणं च । परिहृता तु सर्वज्ञसर्वप्रेरकेश्वर-
 संनिहितो जीवराशिः । अतित्यनिमित्तं कर्म चोदना प्रवर्तत इति । 'द्वित्रिपुंसं प्रत्यक्षो ववरः' इत्यादाविव
 निमित्तानि निमित्तानोरभेदोपचारेण निमित्तत्रैविध्येन नैमित्तिकचोदनापि त्रिविधेत्युपचर्यते । यजेतेत्यादिश्रौत-
 स्मार्तविधौ सति स्वप्रवृत्तिविषयप्रेरणाज्ञानं भवति । तत्रत्येच्छाप्रयत्नरूपप्रवृत्तिरात्मसंनिहितेश्वरप्रेरणया
 पुनर्यमुदित्य कर्मणि जीवस्य भवति । इति विधिज्ञानादेः कर्मचोदनायाश्च निमित्तानि निमित्तभावावौ व्येयः ।
 न च स्वतः कर्तृत्वाभावात्पराधीनकर्तृजीवस्य विधिज्ञानद्वारा कथं प्रवृत्त्याख्यं विधिविषयत्वमिति शङ्क्यम् ।
 अपराधीनकर्तृत्वस्य विधिविषयतायां प्रयोजकत्वेन कल्प्यनुपलब्धेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां पराधीनकर्तृशक्ति-
 कस्यैव विधिविषयत्वावश्यंभावात् । जडेश्वरमुक्तानां विषयविषयत्वेन प्रमाणभूतविधेर्वैयर्थ्यायोगाच्च ।
 पराधीनकर्तृत्वे परिशेषप्रमाणेऽपि विधिविषयत्वस्यावश्यकत्वाच्च । तस्माज्जीवे विध्यविषयेभ्यो जडेश्वरमुक्तेभ्यो
 व्यावृत्तस्य स्वसंनिवृत्तया विधितानस्य तज्जन्यायाः फलवत्साधनेच्छायाः साधनविषयकृतेष्वनुभवसिद्धत्वात् ।
 तस्य च ज्ञानादेः न कृते त्वदिज्ञादियुतिभिरोपराधीनत्वेऽप्यस्वतन्त्रकर्तृत्वमात्रेण विधिविषयत्वं कर्मफल-
 भासत्वं च युक्तम् । तदुक्तं गीताभाष्ये—अकर्तृत्वेपि विधिद्वारा ईश्वरसमादादिच्छोत्पद्योक्तकारणैः कर्म-
 द्वारा पुनरपार्थं भवतीति न प्रवृत्तिविधिवैयर्थ्यमिति । यदा देवं धेवेति पूर्वत्र देवपदेनेश्वरस्य कर्मसु प्रेरकत्व-
 मुक्तं, तद्वरेणास्वरूपमुच्यते—ज्ञानमिति । कर्मचोदना कर्मसु जीवानामेश्वरप्रेरणा ज्ञानं ज्ञेयं परिहृतेति
 त्रिविधा । ज्ञानज्ञेयपरिहृतरूपत्रिविधमभगवत्स्वरूपेत्यर्थः । विशेषेण लक्षणमर्थसंभावः । तस्यैव प्रेरणेत्याहुकि-
 श्च युज्येति भावः । पूर्वोक्तमन्त्रकर्मकारणानि संक्षिप्याह—करणमिति । करणम् इन्द्रियसुकृत्सुखादि । अधि-
 धानपदोक्तदेहादिकमदृष्टं च । कर्म हस्त्यादिचेष्टा कर्तृपदेन जीवेश्वरावुभावपि ग्राह्याविति त्रिविधः कर्मसंग्रहः
 कर्मकरणसंग्रहः पञ्चकारणानां संक्षेप इति ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ॥

प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

त० टी०—अधोपादेयसात्त्विकज्ञानकर्मकर्तृस्वरूपज्ञापनाय तेषां सात्त्विकादिभेदं वक्तुं प्रतिजा-
 नीते—ज्ञानमिति । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं सर्वकर्मविषयं, कर्म कर्तारुपेयं, कर्ता तस्यानुष्ठाना, करणा-
 धन्यकारकमर्थवान्तर्भूतामिति सत्त्वादिगुण (भेद) तत्त्रिधैव प्रोच्यते । कः गुणसंख्याने—गुणाः सत्त्वा-
 दयः सम्यग्ख्यायन्ते स्वरूपतः कार्यतया यस्मिन्निति गुणसंख्यानां सांख्यसाङ्ख्यं, तस्मिन् तान्यपि
 ज्ञानादीनि वक्ष्यमाणानि यथावच्छृणु अवधारय ॥ १९ ॥

म० टी०—इदानीं ज्ञानधेयहातुरुपस्य करणकर्मकर्तृरूपस्य च निरुद्धयस्य त्रिगुणात्मकत्वं वर्कन्धमिति
 बहुमयं संक्षिप्य त्रिगुणात्मकत्वं प्रतिजानीते—ज्ञानमिति । ज्ञानं प्राग्व्याख्यातम् । सेयमप्यत्रैवान्वर्तुं ज्ञानोपा-
 धिकत्वाज्ज्ञेयत्वस्य । कर्म क्रिया त्रिविधः कर्मसंग्रह इत्यत्रोक्ता । पराधारात् करणकर्मकारकयोरप्रेरणात्तत्तत्तः क्रि-
 योपाधिकत्वात् कारकत्वस्य । कर्ता क्रियायाः निर्वाहकः । यकारात् ज्ञाता च । कर्तुः क्रियोपाधिकत्वेऽपि पृथक्
 त्रैगुण्यकथनं सुवार्तिकधनरहिततात्मन्यनिवारणार्थम् । ये हि कर्तृत्वमेति मन्यन्ते । गुणाः सत्त्वरजस्तमसां
 सम्यग् कार्यभेदेन ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्तेऽस्मिन्निति गुणसंख्यानां काविलम् उच्यते, ज्ञानं क्रिया च कर्ता

च गुणभेदतः सत्त्वरजस्तमोभेदेन त्रिवैधं प्रोच्यते । एवकारो विधान्तरनिवारणार्थः । यद्यपि कापिलं शास्त्रं परमार्थप्रज्ञैकत्वविषये न प्रमाणं, तथाप्यपरमार्थगुणगौणभेदनिरूपणे व्यावहारिकं प्रामाण्यं भजत इति वक्ष्य-
माणार्थस्तुत्यर्थं गुणसंख्याने प्रोच्यत इत्युक्तम् । तन्मान्तरेऽपि प्रसिद्धमिदं न केवलमस्मिन्नेव तन्त्र इति स्तुतिः ।
यथावत् यथाशास्त्रं शृणु श्रोतुं सावधानो भव तासि ज्ञानादीनि । अपिशब्दात्तद्भेदज्ञातानि च गुणभेदकृतानि ।
अत्र चैवमपौनरुक्त्यं द्रष्टव्यं चतुर्दशेऽध्याये तत्र सत्त्वं निर्मलत्वादित्यादिना गुणानां वन्धहेतुत्वप्रकारो निरु-
पितो गुणातीतस्य जीवन्मुक्तत्वनिरूपणाय । सप्तदशे पुनः “यजन्ते सात्त्विका देवान्” इत्यादिना गुणकृत-
त्रिविधस्वभावानिरूपणेनाऽऽसुरं रजस्तमःस्वभावं परित्यज्य सात्त्विकाहारादित्येवार्थः सात्त्विकः स्वभावः
संपादनीय इत्युक्तम् । इह ॥ स्वभावतो गुणावीतस्यात्मनः क्रियाकारकफलसंबन्धो नास्तीति दर्शयितुं तेषां
सर्वेषां त्रिगुणात्मकत्वमेव न रूपान्तरमस्ति येनात्मसंबन्धित्वा स्यादित्युच्यते इति विशेषः ॥ १९ ॥

श्री० टी०—यद्विषयिष्ठं सत्त्वादिगुणभेदेन ज्ञानादीनां त्रैविध्यं त्वदेव विदधयति—ज्ञानमिति । ‘गुण-
संख्याने गुणाः सत्त्वादयस्तत्कार्याणि च सम्यक्ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्ते यत्र तद्वृणसंख्यातं सांख्यशास्त्रं
‘तस्मिन्गुणसंख्याने कापिले शास्त्रे । ज्ञानमुच्छलक्षणं पदार्थबोधः, कर्म च श्रोतस्मार्तादिलक्षणं, कर्ता कर्मनिर्वर्त-
कश्चेत्येतद्वर्णं गुणभेदतः सत्त्वादिगुणभेदेन त्रिवैधं त्रिविधमेव भवति । ज्ञानादीनां सत्त्वादिगुणकृतत्रैविध्यव्य-
तिरेकेण विधान्तराभावनिर्धारणार्थं एवकारः । चकारो समुच्चयार्थः । षटः पट इत्यादिज्ञानस्य तामसज्ञानं
पश्यान्तर्भावान् । ज्ञाप्येऽन्नेनेति ज्ञानं साधारणं सत्त्वादिगुणभेदात्तात्त्विकं राजसं तामसमिति त्रिवैधं भवति ।
तथैव कर्माणि कर्ताणि त्रिवैधं भवेतीति, कापिलादिभिः प्रोच्यत इत्यर्थः । यथावद्यथाशास्त्रं सांख्यशास्त्रे यथा
प्रोक्तं तथा गुणभेदेन भिन्नानि । ज्ञानादिन्यपि ज्ञया च वक्ष्यमाणानि शृणु, श्रुत्वा सारप्रद्वेऽतितत्त्वरो
भवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

श्री० टी०—यतः किमत आह—ज्ञानमिति । गुणाः सम्यक्कार्यभेदेन ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्ते तस्मिन्मिति
गुणसंख्यातं सांख्यशास्त्रं तस्मिन्, ज्ञानं च कर्म च क्रिया कर्ता च प्रत्येकं सत्त्वादिगुणभेदेन त्रिवैधोच्यते । वा-
न्यपि ज्ञानादीनि वक्ष्यमाणानि यथावच्छृणु । त्रिवैधेत्येवस्मरौ गुणत्रयोपाधिब्यतिरेकेणरसनः स्वतःकर्मादि-
प्रतिषेधार्थः । चतुर्दशेऽध्याये तत्र सत्त्वं निर्मलत्वादित्यादिना गुणानां वन्धकत्वप्रकारो निरूपितः ।
सप्तदशेऽध्याये यजन्ते सात्त्विका देवानित्यादिना गुणकृतत्रिविधस्वभावानिरूपणेन रजस्तमःस्वभावं परि-
त्यज्य सात्त्विकाहारादित्येवार्थः सात्त्विकः स्वभावः संपादनीय इत्युक्तम् । इह तु क्रियाकारकफलादीनामात्म-
संबन्धो नास्तीति दर्शयितुं सर्वेषां त्रिगुणात्मकत्वमुच्यत इति विशेषो ज्ञातव्यः ॥ १९ ॥

स० टी०—ज्ञानादिकत्रिकस्याप्य करणादिक्रिकस्य च ॥ वच्छ्रयं त्रिगुणात्मकत्वमित्युरक्रमेण हरिः ॥ १ ॥
ज्ञानं प्रागेव व्याख्यातं ज्ञेयमन्तर्गतं विह ॥ ज्ञानोपाधिकत्वा यस्माद्धेत्येतस्य ततस्तथा ॥ २ ॥ कर्मशब्दा-
क्रिया प्राज्ञा चकाराहुर्मयोरपि ॥ अन्तर्भावः क्रियायां स्वात्करणस्य च कर्मणः ॥ ३ ॥ त्रिविधोपाधिकत्वा
यस्मात्कारकत्वस्य सर्वथा ॥ निर्वर्तकक्रियायाश्च कर्ता ज्ञाता च चात्तथा ॥ ४ ॥ गुणाः सत्त्वादयः स-
म्यक् ख्यायन्ते तस्मिन् हि कापिले ॥ शास्त्रे त्रिवैधं भेदेन सत्त्वादेः प्रोच्यते यतः ॥ ५ ॥ यथाशास्त्रं शृणु
श्रोतुं सावधानो भवेति च ॥ यद्यपि कापिलं शास्त्रं प्रज्ञैकत्वनिरूपणे ॥ ६ ॥ अप्रमाणं तथाप्यत्र
गुणगौणनिरूपणे ॥ व्यावहारिकप्रामाण्यं भजते चेत्यद्वोपकृतं ॥ ७ ॥ १९ ॥

भा० टी०—क्रियाकारकफलादीनामात्मसंबन्धो नास्ति इति दर्शयितुं तेषां सर्वेषां त्रिगुणात्मकत्वात् सत्त्वं
रजस्तमोगुणभेदेन त्रैविध्यप्रतिपादनमारभ्यते—ज्ञानमिति । कर्मशब्देन क्रिया प्राज्ञा वक्ष्यमाणानुरोधात् ।
ननु कर्तुरपि सत्त्वतमं कर्मस्ति पारिभाषिकं कर्मकारकं, कर्ता च क्रियाणां निर्वर्तकः, गुणभेदतः सत्त्वादिगुणि-

भेदेन त्रिवेव गुणसंस्थाने प्रोच्यते । अवधारणं गुणव्यतिरेकेण विविधान्तरं ज्ञानादिषु नास्तीति निर्धारणार्थम् । गुणाः सत्त्वाद्यः सम्यक्कार्यभेदेन ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्तेऽस्मिन्निति गुणसंस्थानं कापिलशास्त्रं यद्यपि परमार्थब्रह्मेकत्वविषये विरुध्यते, तथापि तेषां कापिलानां गुणगोणव्यापारनिरूपणेऽभियुक्तत्वात् तच्छास्त्रमपि वक्ष्यमाणस्तत्त्वार्थत्वेनोपादीयते । वक्ष्यमाणार्थस्य तन्त्रान्तरेऽपि प्रसिद्धिकथनं स्तुतिः । सानि ज्ञानादीनि अपिशब्दात्तद्वेदजातानि च गुणभेदकृतानि शृणु वक्ष्यमाणेऽर्थे मन्तुःसमाधानं कुर्वित्यर्थः ॥ १९ ॥

प० टी०—ततः किमव आह—ज्ञानमिति । गुणाः सम्यक्कार्यभेदेन ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्ते यस्मिन्निति गुणसंस्थानं सांख्यशास्त्रं तस्मिन्, ज्ञानं च कर्म च कर्मा च प्रत्येकं सत्त्वादिगुणभेदेन त्रिवेवोच्यते । सान्यपि ज्ञानादीनि वक्ष्यमाणानि यथावच्छृणु । त्रिवेवेत्येवकारेण गुणत्रयोपाधिख्यातिरेकेणात्मनः स्वतः कर्मादिप्रतिपेधार्थम् ॥ १९ ॥

रा० टी०—सात्त्विकज्ञानकमादेः मुक्तिहेतुत्वात्तदनुष्ठानाय सत्त्वादिगुणनिमित्तान्ज्ञानादिभेदान्प्रतिज्ञापूर्वमाह—ज्ञानमिति । सत्त्वादिगुणभेदतः ज्ञानादिकं प्रत्येकं त्रिविधम् । गुणसंस्थाने गुणाः संख्यायन्ते यत्र तस्मिन्वैदिकसांख्यशास्त्रे प्रोच्यते । तान्यपि यथावद्यथास्थितं शृणु ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ॥

अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

त० टी०—तत्र ज्ञानस्य सत्त्वादिगुणतत्त्वैर्विधयमाह—सर्वभूतेष्विति त्रिभिः । सर्वभूतेषु देवमनुष्यपश्यादिषु जातिस्वभावतो विभक्तेषु परस्परं व्याघ्रतेषु एकं ज्ञानैकस्वरूपत्वेन विशेषवर्जितं भावमात्मवस्तु अविभक्तं देवमनुष्यादिवर्गाश्रमादिविभागरहितमन्यत्रैवैकं व्यपशीलेषु क्षीरेषु व्यपरहितं परिणामशून्यं कूटस्थमित्यर्थः, अन्तर्यामिणं भगवन्तं वा कर्मासुष्ठानवेष्टायां येन ज्ञानेन पश्यति तज्ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि ॥ २० ॥

म० टी०—एवं ज्ञानस्य कर्मणः कर्तुश्च प्रत्येकं, त्रैविध्ये ज्ञातव्यत्वेन प्रतिज्ञाते प्रथमं ज्ञानत्रैविध्यं निरूपयति त्रिभिः श्लोकेः । तत्राद्वैतवादिनां सात्त्विकं ज्ञानमाह—सर्वेष्विति । सर्वेषु भूतेषु ज्ञानाच्छास्त्रादिषु विराट्संज्ञेषु बीजसूक्ष्मस्थूलरूपेषु समाष्टिव्यष्टयारम्भेषु । सर्वैकित्येनैव निर्वाहे भूतेष्वित्यनेन भगवन्धर्मकत्वमुच्यते । तेनोत्पत्तिविनाशश्लेषेषु दृश्यवर्गेषु, विभक्तेषु परस्परव्याघ्रतेषु नानारसेषु अव्ययपुरपातिविनाशादिसर्वविक्रियाशून्यमदृश्यमाविभक्तमव्याघृतं सर्वत्रास्तृप्तमधिष्ठानतया बाधावधितया च एकमद्वितीयं भावं परमार्थसत्त्वारूपं स्वप्रकाशानन्दमात्मानं येनान्तःकरणपरिणामभेदेन वेदान्तवाक्यविचारपरिनिष्पन्नैरेक्षते साक्षात्करोति तस्मिन्प्राप्यैवबाधकमद्वैतात्मदर्शनं सात्त्विकं सर्वसंसारोच्छित्तिकारणं ज्ञानं विद्धि । द्वैतदर्शनं तु राजसं च वामसं च संसारकारणं न सात्त्विकमित्याभिप्रायः ॥ २० ॥

श्रु० टी०—तत्र ज्ञानस्य त्रैविध्यं प्रतिपादयन्नादौ बहुजन्मभिः सत्त्ववृत्त्या सर्वकर्मफलपरित्यागपूर्वकमीश्वरार्णवसुद्ध्या समनुष्ठितसात्त्विककर्मसमुत्पादितं यच्छुद्धसत्त्वं सकृच्छ्रवणमात्रेण तत्त्वावधारणशक्तं तस्मादुत्पन्नस्यात्मैकत्वदर्शनलक्षणस्य सात्त्विकज्ञानस्य लक्षणमाह—सर्वभूतेष्विति । विभक्तेषु नामरूपजातिगुणक्रियाविशेषादिविक्रैः परस्परभिन्नेषु सर्वभूतेषु सर्वव्यवस्थादिस्थूलान्तेषु भूतेषु क्षीरेषु स्वातरेषु जडभूतेषु च सर्वत्र घटमठादिप्राकृतशयदायिकं निरवयवत्वात्त्रिविधेपलाय विभागजिविमसण्डात्मना सर्वतः परिपूर्णं भूत एकमेकरूपं वशीपार्श्वकूर्वादिभिरुत्पद्यमानविविधं चित्तेकरसम्बन्धं भूतेषु नश्यत्सु सत्सु हव्यमादिनश्यन्तं भूतानामविर्भावविरोधावागमनिर्गमादिषु स्वयमाविर्भावविरोधावागमनिर्गमादिधर्मनिर्मुक्तमाधिक्यात्मैकरूपेण सर्वदा सिद्ध्यन्तं नित्यं शान्तव्यमित्यर्थः । एवंलक्षणं भावं—नामरूपादिकं सर्वं भावयते यत्र येन

वा स भावः प्रत्यगात्मा तं सन्निदानन्दैकरसमात्मानं त्वं येन शुद्धसत्त्वसंभावितेन “ दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः ” इति, “ अक्षरीरं शरीरेषु ” इत्यादिभूतिवाक्यार्थश्रवणमात्रात्समुत्पन्नेन ज्ञानेनाखण्डाकारवृत्त्या कृतबुद्धिर्विद्वानीक्षते पश्यति सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति, त्वं च सर्वं च ब्रह्मैवेति पश्यति तत्त्वज्ञानमद्वैतात्म-विषयकं द्वैतध्रमाविष्यंसकं सार्विकं बहुजन्मान्जितपुण्यपुण्यपरिपाकसमुद्दिष्टशुद्धसत्त्वसमुत्पन्नत्वात्सार्विकं विद्धि । तदेव विदेहमुक्तिकारणमिति विजानीहीत्यर्थः ॥ २० ॥

श्री० टी०—तत्र ज्ञानस्य सार्विकादित्रैविध्यमाह—सर्वभूतेष्विति त्रिभिः । सर्वेषु भूतेषु ब्रह्मादिस्था-वरान्तेषु विभक्तेषु परस्परं व्यावृत्तेषु अविभक्त्यनुस्यूतयेकमन्ययं निर्विकारं भावं परमात्मवत्त्वं येन ज्ञानेनेक्षते आलोचयति तत्त्वज्ञानं सार्विकं विद्धि ॥ २० ॥

स० टी०—हेयोषाधेयस्त्वेन पुराण्यवत्रये गुणाः ॥ निरूपिता इहेदानीमात्मनस्तेरसङ्गिनः ॥ १ ॥ गुणातीत्यस्य संबन्धः स्वाभाव्याभासिव कारकैः ॥ इति तेषां गुणात्मत्वं पुनरत्र निरूप्यते ॥ २ ॥ ज्ञान-त्रैविध्यमेवादौ त्रिभिः श्लोकेरिहोच्यते ॥ अद्वैतवादिना ज्ञानं सार्विकं हरिरेवेत्ये ॥ ३ ॥ आग्रहस्थावरा-न्तेषु सर्वभूतेष्वनेकधा ॥ दृश्यवर्गेषु चान्योन्यव्यावृत्तेषु विनाशिषु ॥ ४ ॥ ज्ञानादिविनिर्वाशून्यमन्या-श्रुतमदृश्यम् ॥ अधिष्ठानतया बाधवधिसात्मनमक्षरम् ॥ ५ ॥ स्वप्रकाशं परानन्वं येन ज्ञानेन पश्यति ॥ तन्मिध्यादृश्यबाधेन चिद्वद्वैतात्मदर्शनम् ॥ ६ ॥ सार्विकं सर्वसंसारोच्छिष्टिहेतुमवेहि भोः ॥ राजसं तामसं द्वैतदर्शनं युष्मकारणम् ॥ ७ ॥ हेयं ग्राह्यं तु सत्त्वोत्थं ज्ञानं मोक्षरूपाद्यनम् ॥ ८ ॥ २० ॥

भा० टी०—तत्र ज्ञानस्य त्रैविध्यं विभज्यते तस्य सार्विकत्वमाह—सर्वभूतेष्विति । सर्वभूतेष्व-व्यक्तादिस्थावरान्तेषु विभक्तेषु वेदादिभेदेन विभागवत्सु एकमद्वितीयं, भावं परमार्थवत्सु साक्षिज्ञानवृत्त्य-म, अव्ययं स्वात्मना धर्मेण वा न व्येतीत्यव्ययं, कूटस्थं नित्यम्, विभक्तं अप्रतिदेहं विभागाशून्यं ज्योमधश्चिरन्तरं, येन ज्ञानेनोपनिषत्सिद्धान्तजन्येनाद्वैतवादी पश्यति तद्वद्वैतात्मदर्शनं सम्यक् ज्ञानं सार्विकं विद्धि विजानीहि ॥ २० ॥

प० टी०—अयं सार्विकं ज्ञानमाह—सर्वभूतेष्विति । सर्वेषु भूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु विभक्तेषु नामरूपकर्मभिः परस्परं व्यावृत्तेष्वविभक्तमनुस्यूतं घटपटादिष्वाकाशविषैरुमाद्वितीयमन्ययं निर्विकारं भावं सद्रूपं परमात्मतत्त्वं येनेक्षत आलोचयति तत्त्वज्ञानं सार्विकं विद्धि । सार्विकादिसंसादनमाहारादिकं पूर्वं प्रोक्तमेव । भुविरपि ज्ञातयौ—“ यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्तै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्नपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् । न तु दृष्टिरीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ” इति । भाष्यम्—“ अविनाशी वा अरे-ऽयमात्माऽच्छिष्टविषयः मात्रासंसर्गस्यस्य भवति ” इति पूर्वश्रुत्यात्मनोऽविनाशित्वं, वृत्तीनां च तदाश्रयवर्ति-त्वमुक्तं तदेव द्रवयति । एवमात्मानं यद्वा प्रकारान्तरेणेन्द्रियादिना न पश्यति, किं स्वात्मनैवात्मानं पश्यति । अथ तथात्वेनात्मानं पश्यन्नप्येतत्पुरुषार्थपदार्थवद्द्रष्टव्यमित्याकारेण न पश्यति, हि वरमात्कार-णादात्मद्रष्टुः पुरुषस्य दृष्टेर्नपरिलोपो न विद्यते । कुतः ? अविनाशित्वाद् । एकपदार्थज्ञाने न दृष्टे सति पदार्थान्तरज्ञानं भवति । प्रकृतेर्द्वितीयस्याभावाददृष्टेर्नपरिलोपो विपर्यायो न संभवति । यस्तद्वितीयं वरमाद्वितीयं—दृष्टिरीयं नास्ति । यत्—तदात्मनः सकाशाद्विभक्तं यत्पश्येत्समादात्माविरिकं न किमापि पश्येदित्यर्थः ॥ २० ॥

रा० टी०—प्रतिज्ञातं ज्ञानत्रैविध्यं तावदाह—सर्वत्यादियेण । विभक्तेषु परस्परं भिन्नेषु तारतम्यो-पेतेषु च सर्वभूतेषु भवन्ति विच्यन्त इति भूतानि जीवाः प्रकृत्यादिजज्ञानि च । सर्वेषु गोपेषु जलेषु च तदापारकत्वेन तेभ्यो भिन्नत्वेनेति सप्तम्यभिप्रायः । भावं सदा विद्यमानं विष्णुमेकं प्रधानं सर्वोत्तममिति

यावत् । अविभक्तं सर्वत्र स्थितावपि अविघ्नानभेदनिमित्तमेव हानम् । “न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हो” इति सूत्रोक्तदिशा सर्वत्र निर्दोषपक्षेपसद्गुणतया ऐक्येव स्थितामिति यावत् । अन्यथं स्वतोऽधिष्ठानव्ययेन च व्ययहानम् । येन ज्ञानेनक्षते विपर्ययकरोति तज्ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि ज्ञानीहीति ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ॥

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

त० टी०—राजसं ज्ञानमाह—पृथक्त्वेनेति । तुशब्दः पूर्वोक्ताभिरुपलब्धोतनार्थः । पृथक्त्वेन द्वयमानेषु ब्राह्मणादिपूतप्राथम्यतया श्रुतीयमानेषु भूतेषु नानाभावार्जावास्थनः पृथग्विधान् तत्तद्देह-
योगादुत्तमाधमन् सुखदुःखिनः यज्ज्ञानं वेत्ति येन ज्ञानेन पुरुषो जानाति तज्ज्ञानं राजसं विद्धि ॥ २१ ॥

म० टी०—पृथगिति । तुशब्दः प्राणकसान्त्विकव्यतिरेकप्रदर्शनार्थः । पृथक्त्वेन भेदेन स्थितेषु सर्व-
भूतेषु देहादिषु नानाभावान् प्रतिदेहमन्यानात्मनः पृथग्विधान् सुखदुःखित्वादिरूपेण परस्परविलक्षणान्
येन ज्ञानेन वेत्तीति वक्तव्ये यज्ज्ञानं वेत्तीति करणे कर्तृत्वोपचाराद्देशात् पचन्तीतिवत् कर्तुरर्हकारस्य
तद्वृत्त्यभेदाद्वा, तज्ज्ञानं विद्धि राजसमिति पुनर्ज्ञानपदमात्मभेदज्ञानमनात्मभेदज्ञानं च परास्मृतिः । तेनात्मना
परस्परं भेदस्तेषामाश्रयाज्ज्ञेयत्वस्य ईश्वरादन्योन्यतश्चाचेतनवर्गस्य भेद इत्यनौपाधिकभेदपञ्चकज्ञानं कृता-
र्किकाणां राजसमेवेत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

शं० टी०—येनात्मनामनेकत्वं पश्यति तद्वाजसमित्याह—पृथक्त्वेनेति । तुशब्दः पूर्वस्तादृश्यं वैलक्षण्य-
बोधनार्थः । नानाविधमलिनवासनया विशिष्टः पुरुषः सर्वेषु भूतेषु वैधर्म्यमुपचादिशरीरेषु पृथक्त्वेन प्रति-
शरीरं भिन्नत्वेन स्वभावत एव नानाभावाननेकान् क्षेत्रज्ञान् पृथग्विधान् सुखदुःखादिभेदेन परस्परविलक्ष-
णान् । अत्र ज्ञानस्य करणस्त्वैव न तु कर्तृत्वं संभवति । ततः यद्येन ज्ञानेन वेत्ति पश्यति पदमठादिषु स्थि-
सानामाकाशानामनेकत्वं तदीयवक्त्रवादिधर्मैर्वक्त्रवादिमत्त्वं यथा पश्यति तथा देवमनुष्यादिशरीरेषु स्वत एव
जीवात्मनामनेकत्वं जन्ममरणादिविकारविशिष्टत्वं सुखादिभाक्त्वं च येन विज्ञानात् तज्ज्ञानमयथाप्राहक-
त्वाद्वानुसम् । यज्ज्ञानादिकर्मसंभावितरजोदोषविशिष्टान्तःकरणमृत्तित्वाच्च राजसं वन्त्वस्यैव कारणं न तु
मुक्तेरित्यर्थः ॥ २१ ॥

श्री० टी०—राजसं ज्ञानमाह—पृथक्त्वेनेति । पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं इत्यस्यैव विवरणं सर्वेषु भूतेषु
देहेषु नानाभावान्तरुत एवमेकान् क्षेत्रज्ञान् पृथग्विधान् सुखी दुःखीत्यादिरूपेण विलक्षणान्येन ज्ञानेन
वेत्ति तज्ज्ञानं राजसं विद्धि ॥ २१ ॥

स० टी०—तुशब्दः सात्त्विकज्ञानाद्विन्नर्चादि हि राजसम् ॥ भेदेन सर्वभूतेषु स्थितेषु देहनामसु
॥ १ ॥ प्रतिदेहं विभिन्नाश्च प्रत्यगात्मान् आन्तरान् ॥ सुखित्वादिकरूपेण परस्परविलक्षणान् ॥ २ ॥
येन ज्ञानेन जानाति तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ ज्ञानं वेत्तीति करणे कर्तृत्वं श्रौपचारिकम् ॥ ३ ॥
यथेषासि पचन्तीति प्रयोगोऽस्ति तुयैव तत् । अन्योन्यात्मना भेदस्तेषां भेदस्त्वेष्वपत् ॥ ४ ॥ भेदे-
ऽचेतनवर्गस्य वैश्य ईशाच्छा मिथः ॥ इत्यनौपाधिको भेदस्त्वार्किकाणां च पञ्चमा ॥ ५ ॥ संमतो राज-
सत्वेन तज्ज्ञानं हेयमेव हि ॥ ६ ॥ २१ ॥

भा० टी०—एवमर्हत्वयदिनां सात्त्विकमुपादेयमुक्त्वा तार्किकाणां तद्वाजसं हेयमाह—पृथक्त्वेनेति ।
तुशब्दः संसारोन्निच्छित्तेषु भूतलूबोधासात्त्विकान् ज्ञानान् तदुन्निच्छित्तेषु भूतस्य प्रत्युत उत्कारणस्य
वैलक्षण्यबोधनार्थः । पृथक्त्वेन प्रतिशरीरमन्यत्वेन हेतुना पृथग्विधान् भिन्नलक्षणान् नानाभावान्

भिन्नात्मनः सर्वेषु भूतेषु यज्ज्ञानं वेत्ति जानाति । ज्ञानस्य कर्तृत्वासंभवात् येन ज्ञानेन वेत्तीत्यर्थः । एवास्मि पचन्तीतिवत् करणे कर्तृत्वोपचारादेवं प्रयोगः । तज्ज्ञानं राजसं रजोनिवृत्तं विद्धि । यत्पृथक्त्वेन स्थितेषु भूतगणितुं दूरान्वयदोषेणाध्याहारदोषेण च प्रस्तत्वादाचार्यैरुपेक्षितम् ॥ २१ ॥

प० टी०—राजसमाह—पृथक्त्वेनेति । सर्वेषु भूतेषु देहेषु नानामावान् क्षेत्रज्ञानहं सुरयहं दुःखीत्यादिप्रतीत्या वस्तुत एव पृथग्विधान् येन ज्ञानेन वेत्ति तदाजसज्ज्ञानं विद्धि ॥ २१ ॥

रा० टी०—पृथगिति । यज्ज्ञानं सर्वभूतेषु पृथक्त्वेन वेत्ति सर्वजीवजडानि अन्तर्भेदयुतत्वेन विपरीकरोति इत्यस्यैव व्याख्या—नानेत्यादि । नानामावाप्तानाप्रकारभूतजीवजडरूपपदार्थान्पृथग्विधान्परस्परं भिन्नाप्रतीचोक्ततया स्थिताश्च वेत्ति विपरीकरोति । विष्णोरन्यत्र यथार्थमिति यावत् । उपलक्षणमेतत् । संविद्यतया भगवत्स्वरूपविषयकं चातज्ज्ञानं राजसमित्यर्थः । तुल्येन वायमर्थो प्राणः । तेनेश्वरादन्यत्र यथार्थज्ञानस्य सार्विकत्वात्कथं राजसत्त्वमिति तिरस्त्वं बोध्यम् । ईश्वरविषये संशयरूपत्वस्याधिकस्यापि भावात् ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहेतुकम् ॥

अतत्त्वार्थवदत्तं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

त० टी०—तामसं ज्ञानमाह—यत्त्विति । तुल्यस्तस्मादप्यतिनिष्ठं द्योतयति । यज्ज्ञानमेकस्मिन्कार्ये एकस्मिन्प्रान्तिस्मिन् । क्षुद्रदेवतामेतभूतगणाधारापनरूपे कर्मणि अतितुच्छेऽपि कृत्स्नफलवत्सक्तमेतदेव मम सर्वाभीष्टमदमिति अहेतुकं हेतुरहितं निर्गुक्तिकं यतोऽत्रत्त्वार्थवत् शान्तिसिद्धतत्त्वार्थशून्यम्, अत एवादत्तं च अल्पविषयत्वादल्पफलकं तज्ज्ञानं तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

म० टी०—यदिति । तुल्येन राजसंज्ञितम् । बहुषु भूतकार्येषु विद्यमानेष्वेकस्मिन् कार्ये भूतविकारे देहे प्रतिमादौ वा अहेतुकं हेतुरुपपत्तिस्तद्विदितमन्येषां भूतकार्याणामात्मत्वाभावे कथमेकस्य सादृशस्यात्मत्वमित्यनुसंधानशून्यं, कृत्स्नवत् परिपूर्णवत्सक्तम्—एतावानेवांसा ईश्वरो वा नातः परमस्त्वित्यभिनिवेशेन लभम् । यथा विगम्यराणां सावयवो वेदपरिमाण आत्मेति । यथा वा चार्वाकाणां वेद एवास्तेषु । एवं पापपापार्वादिमात्र ईश्वर इत्येकस्मिन् कार्ये सक्तम् । अहेतुकत्वादेवातत्त्वार्थवत्—न तत्त्वार्थात्म्यवत् । अल्पं च नित्यवबिभृत्वा प्रकृतम् । ईदृशं नित्यविभुदेहाविरिचामतद्रूपतिरिक्तेश्वरमाहितार्ककज्ञानविलक्षणमनित्यपरिच्छिन्नदेहावात्माभिमानरूपं चार्वाकादीनां यज्ज्ञानं तत्तामसमुदाहृतं तामसातां प्राकृतजनानामीदृशज्ञानवर्तिभिः ॥ २२ ॥

शं० टी०—तामसं ज्ञानत्वलक्षणमाह—यदिति । तुल्योऽस्य ज्ञानत्वोभयविलक्षणत्वद्योतनार्थः । एकस्मिन् कार्ये भूतकार्ये देहे प्रतिमादौ वा कृत्स्नवत्परिपूर्णवत्सक्तमात्मा परमेश्वरश्च स्वयं स्वरूपेणैतावान् वेदपरिमाण एवात्मा प्रतिमाधरेमाण एवेश्वरो नैसद्रूपतिरिक्तोऽस्तीति निश्चययुक्तम् । यद्वा कृत्स्नवत् एष पद एष पद इति कृत्स्नपदार्थनिश्चयो यथा तथा कार्ये देहे प्रतिमादौ वा सक्तम् । एष देह एवात्माहमिति, एष पापपापादिरेवेधर इति निश्चययुक्तमहेतुकं देहस्यैवात्मत्वनिश्चये प्रविष्टोऽस्येश्वरत्वनिर्धारणे च हेतुसदभाव्यदहेतुकम् । ननु देह एवात्मा अहमर्थत्वादित्यादियुक्तिरस्त्येवेति चेन्न, स्वप्रमहमद्राक्षमित्यादौ न्यभिचारदर्शनादेहदाहे त्वात्मदाहप्रसङ्गाच्च । न देहस्यात्मत्वसाधको हेतुरस्ति नापि प्रतिमादेरीश्वरत्वसाधको हेतुरस्ति । ननु प्रतिमासाधार ईश्वरः कामान् प्रयच्छति तत एष प्रतिमादिरेवेश्वरः कामप्रदत्वादेवित्यादियुक्तिरस्त्येवेति चेन्न, अन्तत्त्वस्याप्यारोग्यप्रदत्वदर्शनाच्चत्रातिव्याप्तेः स्यात् । किंतु तत्र भयशराधितः परमेश्वरः सर्वमतस्वत्र

स्थितः संक्रामान् प्रयच्छति न तु प्रतिमादिस्तस्य नाशे ईश्वरस्यापि नाशप्रसङ्गात् । ततो देहप्रतिमादेरात्मेश्वरत्वसाधक्युक्तिर्नास्ति । अत एवातत्त्वार्थवद्विधितार्थस्तत्त्वार्थः स यस्य ज्ञानस्य नास्ति तदतत्त्वार्थवद्विधितार्थविषयकमत एवालम्—अल्पविषयत्वेनाल्पफलत्वेन चारुपं निरुद्धमित्यर्थः । यदेवंलक्षणं ज्ञानं तत्तामसं बहुजन्म-भिस्तामसजयदानादिकर्मानुष्ठानसंप्राप्तवन्मोगुणकार्यत्वात्तामसमिति कपिलादिभिरुदाहृतमुच्यत इत्यर्थः । जन्मानेकज्ञैः समनुष्ठितसात्त्विकयज्ञदानादिसत्त्विकपरिपाकसमुत्पन्नं सात्त्विकं ज्ञानं मोक्षायैव भवति, राजसं तु स्वर्गाद्यभ्युदयाय निरुक्तलक्षणं, तमसं ज्ञानं तु केवलं मूढन्यक्कारणोच्चरं जननमरणदुःखप्रवाहायैव भवति, न तु स्वर्गाय नाप्यपवर्गायैति सूचितं भवति ॥ २२ ॥ "

श्री० टी०—तामसं ज्ञानमाह—यत्तिविति । एरुस्मिन्कार्ये देहे प्रतिमादौ वा कृत्स्नवत्परिपूर्णवत्सक्तमेतां, वानेवात्मा ईश्वरो वेत्यभिनिवेशयुक्तम्, अहेतुकं निरुपपत्तिकम्, अतत्त्वार्थवत् परमार्थबलम्बनशून्यम् । अत एवालम् तुच्छमल्पविषयत्वादल्पफलत्वाच्च । यदेवंभूतं ज्ञानं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

स० टी०—भूतकार्येषु बहुषु विद्यमानेष्वनेकेषां ॥ एरुस्मिन्भौतिके देहे प्रतिमादौ विकारेण ॥ १ ॥ अन्येषां भूतकार्याणामात्मत्वाभावात् कथम् ॥ एकस्य चाप्युदाहरणमात्रेण इत्यविचारतः ॥ २ ॥ परिपूर्णवदासक्तमेतावान् ईश्वरोऽल्पकः ॥ आत्मा यावत् परं नास्तीत्येवं चाभिनिवेशतः ॥ ३ ॥ दिगम्बरमते यद्वत्सावयवतया मतः ॥ अहम् देहपरीमाणश्चावाकाणां यथा बभूव ॥ ४ ॥ एवं पापाणामावादिमात्र ईशोऽपि संमतः ॥ इत्येकस्मिन्सत्तामसकमेहेतुकवयैव च ॥ ५ ॥ तत्त्वार्थबलम्बनं नास्ति त्रिभुत्वाद्यत्रहात्तथा ॥ अल्पं चाल्पविषयत्वादल्पताल्पफलत्ववत् ॥ ६ ॥ एवं यन्नास्तिकादीनां ज्ञानं तत्तामसं भुवैः ॥ प्राकृतानां विमूढानां हेत्येतेन ह्युदाहृतम् ॥ ७ ॥ २२ ॥

भा० टी०—राजसं ज्ञानमुदाहृत्य तामसं वदाह—यत्तिविति । तुल्यदो राजसाद्वैलक्षण्यद्योतनार्थः । यत् ज्ञाननेकस्मिन्कार्ये देहे वहिर्वा प्रतिमादौ कृत्स्नवत् समस्तवत् परिपूर्णवत् एतावानेवात्मा ईश्वरो नांवः परमस्तीति । यथा चार्वाकादीनां शरीरावयवविदेहपरिमाणो जीवः, ईश्वरो वा पापाणामावादिमात्र इत्येवमभिनिवेशयुक्तं यतोऽहेतुकमुपपत्तिशून्यमहेतुकत्वादतत्त्वार्थवत् यथाभूतोऽर्थस्तत्त्वार्थः सोऽस्य ज्ञेयभूतोऽस्तीति तत्त्वार्थवत् न तत्त्वार्थवद्वत्त्वार्थवत्, तत एवालम् चाल्पविषयत्वादल्पफलत्वाद्वा तत्तामसानां प्राणिनामविवेकिनां परिदृश्यमानमीदृशं ज्ञानं हेत्यं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

प० टी०—तामसमाह—यत्तिविति । एकस्मिन् कार्ये देहे प्रतिमादौ वा सक्तम् एतावान् ईश्वर एवेत्यभिनिवेशयुक्तम् । अहेतुकं निरुपपत्तिकम्, अतत्त्वार्थवत् परमार्थबलम्बनशून्यम् । अत एवालम् तुच्छम् । यदेवंभूतं ज्ञानं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

रा० टी०—यत्तिविति । कार्यशब्दोऽत्र संसारिणं मुक्तत्वेन क्रियमाणत्वेतुना जीवपरः । कृत्स्नशब्दो ब्रह्मपरो जगत्परश्च । अयमर्थः । एरुस्मिन्कार्ये जीवे कृत्स्नवद्ब्रह्मवत् यज्ज्ञानं सक्तम् । कोऽर्थः ब्रह्म यथा स्वात्मानं विषयीकरोति । तथा जीवं प्रवेति यज्ज्ञानं विषयीकरोतीत्यर्थः । जीवे ब्रह्माभेदविषयकं यज्ज्ञानं तत्तामसमिति यावत् । तथा एरुस्मिन्कार्ये जीवे कृत्स्नवज्जगद्ब्रह्मज्ञानं सक्तं प्रपञ्चं यथा विषयीकरोति प्रपञ्चोऽयमिति । तथा जीवं यज्ज्ञानं विषयीकरोति जीवं जगद्ब्रह्मकृत्वेन विषयीकुर्याद्विज्ञानं तत्तामसमिति यावत् । तथा एकस्मिन्कार्ये जीवे कृत्स्नवज्जगद्ब्रह्मज्ञानं सक्तम्—एकमेव जीवं कृत्स्नजगद्ब्रह्मकृत्वेन यद्विषयीकरोति । एकजीवकृत्वेन जगद्विषयं यज्ज्ञानं विषयीकरोतीति त्रिषार्थः । किंच यज्ज्ञानमहेतुकं मुक्तिशून्यम्, अतत्त्वार्थवदल्पविषयकं सदसद्वैलक्ष्ण्यविद्यमानाभ्यरक्षणनायुक्तमिति यावत् । अल्पं बहुज्ञानयुक्तेन भेदेनाल्पज्ञानसदृशं च यच्चतामसम् । अत्र ब्रह्मवद्विषयं जीवं इति च याच्ये कृत्स्नवद्विषयिकः

जगतोऽपि ग्रहणाय । तेनाकार्यत्वादि कृत्स्नगुणपरिपूर्णत्वेन कृत्स्नपदोक्तगणना कार्यत्वादिना तदधीनस्य जीवस्याभेदज्ञानं मिथ्याज्ञानत्वात्कथं न तामसमिति तामसत्वोपपादनायेति । कार्य इत्येव वाच्ये एकस्मिन्नित्युक्तिः एकजीवमत्रस्य संग्रहायेति । अत्र यथाप्येकरिमान्कार्यशब्दे जीवे कृत्स्नवदकार्यत्वादिगुणपरिपूर्णग्रहवज्जगद्वयं यज्ज्ञानं सक्रियस्यैकं जीवं ब्रह्मात्मकत्वेन जगदात्मकत्वेन च विषयीकारि यज्ज्ञानमित्यर्थः । तादृशं च ज्ञानमहेतुकम् । अतस्त्वार्यमत्तं च सवत्येवेति पुनरहेतुफलमित्याहुक्तिः पुनरुक्तिरेव । तथाप्यहेतुकज्ञानादिनिवचनं प्रत्येकमेकैकं तामसं, पूर्वार्थोक्तमिथ्याज्ञानरूपविशेषणसहितमवितामसमिति वक्तुमिति होयम् । यद्वा सामानाधिकरण्येन पदानां विशेषणविशेषणभावः । एवं च कार्ये जीवे कृत्स्नवज्जगद्वयत्सकम् । एकस्मिन्कार्ये जीवे कृत्स्नवद्व्यवस्थात्सकं, यदहेतुकं यथातत्कार्यफलप्राप्तये, यथास्यं, तानि सर्वाण्यपि पट्टिद्याज्ञानानि प्रत्येकं तामसानीति योजना । अतो न पुनरुक्तिशङ्कायका इति ॥ २२ ॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ॥

अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

त० टी०—एवं कर्मानुष्ठातृर्जानां चैव गुणतत्त्वैर्विध्यं प्रदर्श्यं दानीं कर्मण एव गुणतत्त्वैर्विध्यमाह— नियतमिति । नियतं नित्यकर्तव्यतया विहितं, सङ्गरहितम्—सङ्गोऽहमस्य कर्ता फलभोक्तेरभिनिवेशस्तद्रहितम्, अरागद्वेषतः कृतं—रागोऽनेन लोकपूजास्तुत्यादि प्राप्स्यापीति श्रितिविशेषः, द्वेषः शत्रुमरणादिनिष्ठचित्तं, ताभ्यां न-कृतमिति । अफलप्रेप्सुना त्रीपुरुषनादिकलाभिलापरहितेन कर्मा यत्कृतं कर्म तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

म० टी०—तदेवमौपनिषदानामहेतात्मनं सात्त्विकमुपायेयं मुमुक्षुभिः, द्वैतदर्शनां तु नित्यविभुपरस्परविभिन्नात्मदर्शनं राजसम्, अनित्यपरिच्छिन्नात्मदर्शनं च तामसं हेतुकम् । संप्रति त्रिविधं कर्मोच्यते—नियतमिति । नियतं यावदज्ञोपसंहारासमर्थानामपि फलावश्यभावव्यक्तम् नित्यमिति यावत् । सङ्गोऽहमेव महायाज्ञिक इत्यादिभिमारूपोऽहङ्कारपरपर्यायो राजसो गर्वविशेषत्वेन ज्ञान्य सङ्गरहितम् । यावदज्ञानं तु कर्तृत्वभोक्तृत्वपर्वतनोऽहङ्कारोऽनुवर्तत एव सात्त्विकस्यापि । तद्रहितस्य तु सत्त्वविदो न कर्माधिकार इत्युक्तमसकृत् । रागो राजसम्यानाविकमनेन लस्य इत्यभिप्रायः, द्वेषः शत्रुमनेन पराजेय इत्यभिप्रायस्ताभ्यां न कृतमरागद्वेषतः कृतम् । अफलप्रेप्सुना फलाभिलापरहितेन कर्मा यत् कृतं कर्म यागदानहेतमादि तत् सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

श्री० टी०—सर्वत्रादिगुणभेदात्कर्मणो विध्यं प्रतिपादयन्नादौ मुमुक्षूणामनुष्ठेयं सात्त्विकं कर्माह—नियतमिति । नियतं श्रुतिस्मृतिव्याप्तवश्यकर्तव्यत्वेन विहितं यज्ञतपोदानलक्षणं सङ्गरहितं—सङ्गः कर्तृत्वाभिनिवेशोऽहङ्कारस्तच्छून्यमनहङ्कारम्, अरागद्वेषतः सुखसाध्यत्वे तत्फलसाधनत्वे वा कर्मणि रागः दुःखसाध्यत्वे दुःखफलसाधनत्वे वा कर्मणि द्वेषश्च जायते रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषे न रागद्वेषौ यस्येष्टानिष्ठयोः कर्मणोः समबुद्धेरसावरागद्वेषः । तृतीयार्थे तसिः । तेनारागद्वेषेण सात्त्विकेनाफलप्रेप्सुना निष्कामेण कर्मा कृतं यत्कर्म सात्त्विकं सत्त्वशुद्धिकारणमिति महर्षिभिः प्रोच्यते ॥ २३ ॥

श्री० टी०—ददानीं त्रिविधं कर्माह—नियतमिति त्रिविधः । नियतं नित्यतया विहितं, सङ्गरहितमभिनिवेशशून्यं, अरागद्वेषतः पुत्रादिप्रेत्या वा शत्रुद्वेषेण वा यत्कृतं न भवति फलं प्राप्नुमिच्छतीति फलप्रेप्सुत्वादिलक्षणेन निष्कामेण कर्मा यत्कृतं कर्म तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

स० टी०—अद्वैतदर्शना ज्ञानमुपादेयमुदीरितम् ॥ तार्किकाणां तथा हेतुं भेदज्ञानमनर्थकम् ॥ १ ॥

तामसं दुष्टमत्यन्तं हेयं संसृत्तिकारणम् ॥ इत्युक्तं त्रिविधं कर्म प्रोच्यते हरिणाऽधुना ॥ २ ॥ नित्यमाव-
श्यकं कर्म गर्वात्मिकविवर्जितम् ॥ अनेनाहमिदं लप्स्ये राग इत्याशयः स्पष्टः ॥ ३ ॥ अनेनारिं पराजये
द्वेष्ट इत्याशयस्तथा ॥ ताभ्या न कृतमित्युक्तमपराद्वेषतः कृतम् ॥ ४ ॥ फलभिलाषशून्येन कर्त्ता कर्मैव
यत्कृतम् ॥ यागदानादिशार्त्तायं तत्सात्त्विकमुदाहृतम् ॥ ५ ॥ २३ ॥

भा० टी०—एवं ज्ञानत्रैविध्यं विभज्य कर्मत्रैविध्यं विभज्जानादौ सात्त्विकं कर्मैवहरति—नियतमिति ।
नियतं नित्यमवश्यकव्यवस्था विहितं, सङ्गरहितमासक्तिवर्जितमभिनियेशशून्यम्, अरागद्वेषतः कृतं—रागो
विषयप्रेप्सा कारणभूता रज्जननामिका चित्तवृत्तिः तत्प्रयुक्तेन द्वेषप्रयुक्तेन च कृतं रागद्वेषतः कृतं तद्विपरीत-
नरागद्वेषतः कृतं फलं प्रेप्सविति फलप्रेप्सुः फलनृप्सुः तद्विपरीतेनाफलप्रेप्सुना कर्त्ता यत्कर्म कृतं तत्सात्त्विक-
कमुच्यते । फल्यु च लोभते चेति फलं क्रियया प्राप्यमनात्मवस्तु तदन्यदफलमनागन्तुकं परिपूर्णमविनाशि
आत्मतत्त्वं तस्मिन्ना कृतं “विबिदिषान्ति यज्ञेन” इति श्रुत्या आत्मलभार्थं यज्ञादेर्विनियोगादित्यन्ये ।
आचार्यस्तु कामेप्सुमेत्युत्तरानुरोधिष्ठितकल्पनामस्तोऽयं पक्ष इलभित्येवोपेक्षिवः ॥ २३ ॥

प० टी०—इदानीं शिविधं कर्माह—नियतमिति त्रिभिः । १ नियतं नित्यतया विहितं, सङ्गरहितमभिनिये-
शशून्यम्, अरागद्वेषतः कृतं पुनः प्रीत्या तदभ्युदयार्थं शत्रुद्वेषाचदपकर्षार्थं यज्ञ भवति । फलं प्राप्नुमिच्छतीति
फलप्रेप्सुः तद्विलक्षणतः कृतं कर्म सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

रा० टी०—प्राक् प्रतिज्ञातं गुणकृतकर्मत्रैविध्यमाह—नियतमित्यादि त्रिभिः । इत्येः सर्वोत्तमस्वज्ञानम-
क्तिपूर्वकं तदर्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तैवर्ण्यभ्रमोचितं हि नियतमित्युच्यते । मयि सर्वार्थीत्यादौ भगवत्सर्वोत्तम-
स्वज्ञानतद्वक्तिपूर्वकं तदर्पणबुद्ध्या कर्मकरणस्य विधानात् । ये ये मय इत्यादौ तस्यैवमुक्तिहेतुत्वोक्तैः
यत्करणे फलप्राप्तिः यद्करणे च प्रत्यवायः तस्यैव नियतमात्, सङ्गरहितं मदीयतस्तेहृदीनं, कीर्त्यादौ रागा-
दिहानतः अकीर्त्यादौ द्वेषत्यागतः कृतं फलप्राप्तीच्छाहीनेन कृतं यत्तत्कर्म सात्त्विकमुच्यत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ॥

क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

त० टी०—राजसं कर्माह—यत्त्विति । यत्तु कामेप्सुना फलकामनायुक्तेन साहङ्कारेण च । वेति
चार्थः । मत्समो यातिहः ज्ञाता वा कोऽप्य इति गर्वयुक्तेन कर्त्ता यत्कर्म क्रियते पुनर्बहुलायासम्—उप-
क्रमात्समाप्तिपर्यन्तमत्यायासान्वहं तद्राजसमुदाहृतं विवेचकैः ॥ २४ ॥

म० टी०—यदिति । तु सात्त्विकास्तिनिति । कामेप्सुना फलकांशेन कर्त्ता साहङ्कारेण प्रागुक्तसङ्गात्मका-
व्ययुक्तेन च । वाशब्दः समुच्चये । पुनरित्यनियतं यावत्कामतं काम्यायुक्तेः । बहुलायासं सर्वाङ्गोपसंहारेण
द्वेष्टान्वहं यत्काम्यं कर्म क्रियते तद्राजसमुदाहृतम् । अत्र सर्वविक्षेपणैः सात्त्विकसर्वविज्ञेयगव्यतिरेको
दर्शितः ॥ २४ ॥

शं० टी०—राजसं कर्माह—यत्त्विति । तुशब्दो वैलक्षण्यार्थः । वा चार्थः । पुनरप्यर्थः । कामेप्सुना
काम्यत्वं इति कामः कर्मफलं तमामुमिच्छता कामेप्सुना साहङ्कारेणापि च अहमिदं कर्म करोमि फलमेत्य-
भिनियेशोऽहङ्कारस्तद्विहितः सात्त्विकः पूर्वोक्तस्त्वयं राजसस्तेनापि च युक्त्यात्साहङ्कारोऽहमिदं करोमीत्य-
भिमानादभ्यरयुक्तस्तेन साहङ्कारेणापि च कर्त्ता बहुलायासं वाहुभ्यां नदीवरणे यथा तथा बहुलो महाना-
यासः श्रमो यस्मिन्कर्मण्याचमनादौ भवति बहुलायासं यत्तु कर्म क्रियते तत्कर्म राजसं फलकामतया
साहङ्कारेणापि रजःकार्येण युक्तेनाधिकारिणा क्रियमाणत्वाद्वाजसं यत्कर्मैति मुनिभिर्बुदाहृतमित्यर्थः ॥ २४ ॥

श्री० टी०—राजसं कर्माह—यत्त्विति । यत्तु कर्म कामेप्सुना फले प्राप्तिच्छेदा साहंकारेण वा मत्समः कोऽन्यः श्रोत्रियोऽस्तीत्येवं विरुद्धाहंकारयुक्तेन च क्रियते, यच्च पुनर्बहुलायासमविद्वेशयुक्तं तत्कर्म राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

स० टी०—फलकामेन कर्त्रा यद्रव्ययुक्तेन वा कृतम् ॥ यावत्तत्कामना काम्यापृचेरनियतं पुनः ॥ १ ॥ सकलाङ्गोपसंहाराद्वैशेष्यं काम्यमधुवम् ॥ क्रियते कर्म यत्तु राजसं समुदाहृतम् ॥ २ ॥ सर्वविशेषणैरत्र सास्त्रिकाहंसाभिवा भिदा ॥ ३ ॥ २४ ॥

भा० टी०—सास्त्रिकं कर्मोक्त्वा राजसं तदुदाहरति—यत्त्विति । सास्त्रिकादौलक्ष्ययोरवकाशः । कामेप्सुना फलेप्सुना साहंकारेण वा पुनः मत्समः कोऽन्यः श्रोत्रियोऽस्तीत्येवमहंकाराभिविशेषणं । तत्त्वज्ञानवतो निरहंकारस्य कर्मकर्तृत्वमपेक्ष्य साहंकारेणेति न भ्रमितव्यं, तस्य कर्मण्यनभिष्ठितत्वात् । किं तु मत्सङ्गोऽन्यः श्रोत्रियो नास्तीत्यभिमानरहितोऽनारम्भविद्वेषि लोके निरहंकार इत्युच्यमानो यस्तमपेक्ष्य साहंकारेण वा पुनरित्युच्यते । बहुलायासं महवा आयासेन छेदेन निर्वर्त्य यत् कर्म क्रियते तत्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

प० टी०—राजसमाह—यत्त्विति । कामेप्सुना फलप्राप्तिच्छेदा साहंकारेण मत्समः कोऽन्यः श्रोत्रियोऽस्तीति निगू(रित्)डाहंकारेण कर्मा बहुलायासमविद्वेशं यथा भवति तथा यत्कृतं तत्राजसम् ॥ २४ ॥

रा० टी०—यत्त्विति । यत्तु कामेप्सुना फलप्राप्तिच्छेदवा कर्तृत्वाभिमानसहितेन च । पुनःशब्दः सङ्ख्ये । बहुलायासयुक्तं च क्रियते तत्कर्म राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

अनुबन्धं सूर्य हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ॥

मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २५ ॥

त० टी०—तामसकर्माह—अनुबन्धमिति । कृते कर्मण्यनु पश्चाद्व्ययतेऽनिच्छयाऽपि कर्मफलभोगायापद्यते इत्यनुबन्धः दुःखविपादादिस्तं, सूर्यं द्रव्यवलादिनाम्नः(१०), हिंसां प्राणिपीडां, पौरुषं स्वस्य कर्मनिवर्तनसामर्थ्यं च अनवेक्ष्य अपर्यालोच्य मोहात्सर्वकर्मासिद्धिहेतुपरमेष्ठरायतत्त्वज्ञानाभावात् यत्कर्म भारभते तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २५ ॥

म० टी०—अनुबन्धमिति । अनुबन्धं पश्चाद्भाष्यशुभं, क्षयं शरीरसामर्थ्यस्य धनस्य सेनायाश्च ताशं, हिंसां प्राणिपीडां, पौरुषमात्मसामर्थ्यं च अनवेक्ष्य अपर्यालोच्य मोहात्केवलाविवेकादेवारभ्यते यत्कर्म, यथा दुर्बोधनेन युद्धं, तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

श्री० टी०—तामसं कर्माह—अनुबन्धमिति । अनुबन्धः उत्तरभाष्यनर्थस्तत्कर्मणः फलभूतस्वमनुबन्धं पश्चाद्भाष्यनर्थं, क्षयं यरिगन्कर्माणि क्रियमाणे धनक्षयो वा बलक्षयो वा पुण्यक्षयो वा आयुःक्षयो वान्यस्य वा क्षयस्तं सूर्यं, हिंसां प्राणिपीडां, कर्मनिवर्हि स्वसामर्थ्यं च पौरुषमेवं तत्सर्वमप्यनवेक्ष्य बुद्धिवेलेनाविचार्य बालनन्मोहादविवेकात्तत्कर्मारभ्यते तत्कर्म संमोहो विवेकाभावस्ततोऽगुणस्तेन कार्यव इति तामसमित्युच्यत इत्यर्थः ॥ २५ ॥

श्री० टी०—तामसं कर्माह—अनुबन्धमिति । अनुबन्धते इत्यनुबन्धः पश्चाद्भाष्ये शुभाशुभम्, क्षयं विचक्ष्यर्थं, हिंसा परपीडा च पौरुषं स्वसामर्थ्यं वा अनवेक्ष्य अपर्यालोच्य केवलं मोहादेव यत्कर्मरभ्यते तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

१ अनवेक्षेति पाठः । २ यत्र तामसमुच्यत इति भ. पाठः । ३ भारभत इति त. टी. पाठः ।

स० टी०—पञ्चाङ्गाव्ययुक्तं देहसामर्थ्यस्य धनस्य च ॥ विनाशं प्राणिनां पीडासात्समासार्थमेव च ॥ १ ॥ अपर्यालोच्य मोहाद्यत्केवलाविवेकतः ॥ आरभ्यते जडैः कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २ ॥ २५ ॥

भा० टी०—राजसं कर्मोदाहृत्य तामसं उदाह—अनुबन्धमिति । अनुबन्ध इत्यनुबन्धः पञ्चाङ्गावि वस्तु तं, क्षयं शक्त्यर्थादेनांशं, हिंसां प्राणिपीडां च पौरुषं पुरुषकारमारब्धसमाप्तिसामर्थ्यामित्येतान्यनुबन्धादीन्यनवेक्ष्यापर्यालोच्य मोहादविवेकाद्यत्कर्म प्रारभ्यते तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २५ ॥

प० टी०—तामसमाह—अनुबन्धमिति । अनुबन्ध इत्यनुबन्धस्तं भावि शुभाशुभं, क्षयं व्ययं, हिंसां स्वपरपीडनं, पौरुषं स्वसामर्थ्यं चानपेक्ष्याविगण्य केवलं मोहादेव 'यत्कर्म' आरभ्यते तत्तामसम् ॥ २५ ॥

रा० टी०—अनुबन्धमिति । अनुबन्धं कर्मन्वरमेवानुबन्धमानं, क्षयं नाशं, हिंसां परपीडां च अनवेक्ष्य पौरुषमात्मनः कर्म सामर्थ्यं चानवेक्ष्य अनिमृश्य मोहादहं कर्तव्ये मिथ्याज्ञानाद्यत्कर्म आरभ्यते तत्तामसमुच्यत इत्यर्थः ॥ २५ ॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ॥

सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

त० टी०—त्रेयेषु निष्कवशिष्टं कर्म कर्तुं सैविध्यमाह—मुक्तसङ्ग इति त्रिभिः । मुक्तसङ्गः फलाभिलाषरहितः, अनहंवादी कर्तृत्वाभिमानरहितः, धृत्युत्साहसमन्वितः धृतिः कर्मारम्भे यावत्समाप्तिदुःखादिमाप्तावदुद्देशः, उत्साह उद्युक्तचित्तत्वं ताभ्यां समन्वितः आरब्धस्य कर्मणः सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारोऽविकृतचित्तः । एवंभूतः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

म० टी०—इदानीं त्रिविधः कर्ता च्यते—मुक्तेति । मुक्तसङ्गस्त्यक्फलाभिसंधिः, अनहंवादी कर्ता हंमिति वदनशीलो न भवति स्वगुणस्वाभावहीनो वा, धृतिर्विश्रान्त्युपस्थितावपि प्रारब्धापरित्यागहेतुरन्वःकरणवृत्तिविशेषः, धैर्यमुत्साह इदमहं करिष्याम्येवेति निश्चयात्मिका बुद्धिर्धृतिहेतुभूता ताभ्यां संयुक्तः धृत्युत्साहसमन्वितः, कर्मणः क्रियमाणस्य फलस्य सिद्धावसिद्धौ च हर्षशोकाभ्यां हेतुभ्यां यो विकारो वदनविकासम्लानत्वादित्येन रहितः सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः केवलं शास्त्रप्रमाणप्रयुक्तो न फलरागेण, अत एवभूतः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

शु० टी०—गुणभेदेन कर्तृभेदं वदन्सात्त्विककर्तारमाह—मुक्तसङ्ग इति । मुक्तसङ्गः मुक्तो मनसा संत्यक्तः सङ्गः फलाभिसंधिलक्षणः कामो येन स मुक्तसङ्गः निष्काम इत्यर्थः । अनहंवादी संकल्पेऽप्यहमिदं करोमीति वदनशीलो न भवतीत्यनहंवादी । अनहंमानित्वेऽपीदमुपलक्षणम् । धृत्युत्साहसमन्वितः धृतिः अर्थव्ययेदेहायासादेव धैर्यमुत्साहद्विधीयते विगतदुःखानां सम्यगन्वितः । सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः कर्मणः सिद्धावसिद्धौ च निर्विकारः सम्यगोश्चरार्थवतनियन्तृत्वादीश्वरोच्छेति हर्षविषादद्वन्द्वं इत्यर्थः । एवं सत्स्वगुणसंपन्नो यः कर्ता कर्मणां स सात्त्विक इति कर्मिभिरुच्यत इत्यर्थः । एवंगुणविशिष्टस्य सात्त्विकस्य लक्षणमिति सूचितं भवति ॥ २६ ॥

श्री० टी०—कर्तारं त्रिविधमाह—मुक्तसङ्ग इति त्रिभिः । मुक्तसङ्गस्त्यक्फलाभिसंधिः, अनहंवादी गर्वोच्छिदरहितः, धृतिर्वैर्यम्, उत्साह उद्यमः तान्मा समन्वितः संयुक्तः, आरब्धस्य कर्मणः सिद्धावसिद्धौ च निर्विकारो हर्षविषादद्वन्द्वः, एवंभूतः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

स० टी०—इदानीं त्रिविधः कर्ता प्रोच्यते इति त्रिभिः ॥ फलाभिसंधिद्वन्द्वो योऽहं कर्तेति मतिरिति विना ॥ १ ॥ संत्यक्तस्वगुणस्त्रयोऽनहंवादीति बेरितः ॥ विनानुपस्थितौ सत्यां प्रारब्धात्यागकारणम्

॥ २ ॥ चित्तवृत्तिविशेषो हि धृतिर्धैर्यमितीर्यते ॥ अवश्यं साधयिष्यामीत्येवं धीर्निश्चयात्मिका ॥ ३ ॥
धृतिफारणमुत्साहताभ्यां संयुक्त उत्तमः ॥ कर्मणः क्रियमाणस्य सिद्धयसिद्धयोः फलस्य यः ॥ ४ ॥ विकारो
हर्षशोकाभ्यां विकासात्माको मुखे ॥ तेन शून्यश्च शास्त्रेण प्रयुक्तो न तु रागवान् ॥ ५ ॥ एवंभूतो
महाभागः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ ६ ॥ २६ ॥

भा० टी०—अधुना कर्तृत्रैविध्यं विभज्यादौ सात्त्विकं कर्तारमाह—मुक्तेति । मुक्तसङ्गो मुक्तः परि-
त्यक्तः सङ्गः फलाभिसंधिर्न ॥ अनर्हवादी नाहं वदनशीलः कर्ताहमेतादृशगुणसंपन्नः सर्वोत्तम इति
वदनशीलो न भवति, धृतिर्विप्रासुपस्थानेऽपि कथादेर्धारणं धैर्यमिति यावत्, उत्साह उदमस्ताम्यां सन्त्यग-
न्वितः । कदापि कथमपि धृत्युत्साहरहितो न भवतीत्यर्थः । सिद्धयसिद्धयोः क्रियमाणस्य कर्मणः फलसिद्धौ
तदसिद्धौ च निर्विकारः हर्षविपादशून्यः केवलं ज्ञात्प्रमाणप्रयुक्तो न फलरागादिना यः कर्ता स सा-
त्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

प० टी०—अथ त्रिविधं कर्तारमाह—मुक्तसङ्गइत्यादिभिः । मुक्तसङ्गस्त्यक्ताभिनिवेशः, अनर्ह-
वादी गर्वक्याधारहितः, धृतिर्धैर्यमुत्साहोऽनुद्वेगस्ताभ्यां समन्वितः सिद्धयसिद्धौ निर्विकारो हर्षविपादरहितः
एवंभूतः कर्ता सात्त्विकः ॥ २६ ॥

रा० टी०—प्राक् प्रतिज्ञात् गुणरुचकर्तृत्रैविध्यमाह—मुक्तेत्यादिभिः । मुक्तसङ्गः फलरहितोऽन-
सर्वस्य भगवद्धीनस्त्वनिश्चयादेवाहं कर्तेति न वदतीत्यनर्हवादी । आत्मकर्तृत्वामिमानहीन इति यावत् ।
धृतिः कर्मण्यवर्जनीयदुःखसहनम्, उत्साहः कर्मकातरसा ताभ्यां समन्वितः सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः
फलस्य सिद्धयसिद्धौ वा हर्षविपादहीनः स कर्ता सात्त्विक उच्यते इत्यर्थः ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ॥

हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

त० टी०—राजसकर्तारमाह—रागीति । रागोऽस्यास्तीति रागी इन्द्रियावर्धु प्रीतिमान्, कर्मफ-
लप्रेप्सुः प्रकर्षेण कर्मफलाकाङ्क्षी, लुब्धः आवश्यकेऽपि द्रव्यव्यये कर्तुमशक्तः प्रत्युत परस्वाभि-
कापी, हिंसात्मकः परदृष्टिहरणं हिंसा तदात्मकस्तत्स्वभावः, अशुचिः कर्मपेक्षितशौचवर्जितः कर्म-
फलभावाभयोर्हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

म० टी०—रागीति । रागी कामायाकुलचित्तः, अव एव कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलार्थी, लुब्धः परद्रव्याभिलाषी
धर्मीयं स्वद्रव्यज्ञायासमर्थश्च, स्वाभिप्रायप्रकटनेन परवृत्तिच्छेदने हिंसा तदात्मकस्तत्स्वभावः, स्वाभिप्रा-
याप्रकटने तु नष्टकृति इति भेदः, अशुचिः शास्त्रोक्तशौचहीनः, सिद्धयसिद्धयोः कर्मफलस्य हर्षशोका-
न्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

शं० टी०—राजसकर्तारमाह—रागीति । रागी कर्मफलापेक्षत्वात्तत्साधनेषु कर्मसु रागोऽस्यास्तीति
रागी । यद्वा रागो विषयभोगेच्छा सोऽस्यास्तीति रागी, तव एव कर्मफलप्रेप्सुः कर्मणोः फलं पुनरुल्ल-
धनादिस्पृष्टि स्वर्गं च प्राप्नुमिच्छुः, स्वेन्द्रियतर्पणशीलत्वाल्लुब्धः परस्वाभिलाषी देवपितृपदादौ धनत्या-
गासहिष्णुर्वा लुब्धः, हिंसात्मकः परपीडनशीलः, अशुचिः शास्त्रोक्तशौचरहितः, कर्मणः सिद्धयसिद्धयोर्भा-
लाभयोर्वा हर्षशोकान्वितो यः कर्मणां कर्ता स राजसः उक्तलक्षणे रजोगुणैर्विशिष्टवाद्राजस इति मुनिभिः
परिकीर्तित इत्यर्थः । रागिवादि राजसस्य लक्षणमिति सूचितं भवति ॥ २७ ॥

श्री० टी०—राजसं कर्तारमाह—रागीति । रागी पुत्रादिप्रीतिमान्कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलकामी, लुब्धः

परस्वामिलापी, हिंसात्मको मारकस्वभावः, अशुचिर्विदितशौचशून्यः, लाभालाभयोर्हर्षशोकाभ्यामन्वितः, कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

स० टी०—कामाशाकुलचित्तो यः फलार्थं कर्मणः सदा ॥ परद्रव्याभिलाषी स्वं दीर्घेऽपि त्यक्तुमक्षमः ॥ १ ॥ स्वाशयोद्वादेनान्यवृत्तिच्छेदेनशीलवान् ॥ शास्त्रोक्तशौचरहितः सिद्धपसिद्धयोः फलस्य च ॥ २ ॥ हर्षशोकाभ्यामन्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ ३ ॥ २७ ॥

भा० टी०—सात्त्विककर्तारमुदाहृत्य राजसं समाह—रागीति । राग्ये रागवान्, कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफल-पशुस्वार्थार्थी, लुब्धः परद्रव्येषु संजाततृणः दीर्घादौ स्वद्रव्यापरित्यागी च, हिंसात्मकः वृत्तिच्छेदादिना परपीडाकरस्वभावः, अशुचिर्वाङ्मान्तःशौचवर्जितः, इष्टप्राप्तावनिष्टविद्योगे च हर्षः अनिष्टप्राप्ताविष्टविद्योगे च शोकः ताभ्यां हर्षशोकाभ्यामन्वितो युक्तः तस्यैव कर्मणः संपत्तिविपर्ययोर्जाताभ्यां हर्षशोकाभ्यामन्वितः इति वा एवंविधो यः कर्ता स राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

प० टी०—राजसमाह—रागीति । रागी पुत्रादिप्रीतिमान्, कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलकामी, लुब्धः स्वर्ग-सुखलम्पटः सन् हिंसात्मको हिंसायामात्मा मनो यस्याशुचिः शौचरहितः लाभालाभयोर्हर्षशोकाभ्यामन्-
नितः कर्ता राजसः ॥ २७ ॥

रा० टी०—रागीति । रागी कीर्त्यादिकामः । कर्मफलप्राप्तीच्छावान् । लुब्धः कर्मण्यपेक्षितद्रव्यव्यय-
हीनः । हिंसात्मकः हिंसास्वभावः । अशुचिः द्रव्यादिषु शुद्धिहीनः । कार्यसिद्धपसिद्धयोः हर्षशोकाभ्यामन्वितः स
कर्ता राजसः ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ॥

विपादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

त० टी०—तामसं कर्तारमाह—अयुक्त इति । अयुक्तः अनवहिततया कर्मानुष्ठानयोग्यः, प्राकृतः कर्तव्यविवेकहीनः, स्तब्धः आरम्भेऽपि कार्ये शिथिलः, शठः वञ्चनपरः, नैष्कृतिकः परवृत्ति-
च्छेदनाभिप्रायेण धर्मादि प्रदर्श्य स्वार्थसाधकः, अलसः आवश्यकेषु कर्मण्यस्तुद्यमशीलः, दीर्घसूत्री
च एकादिवसेन साध्यं यत्तन्मासेनापि न साधयति । एवंभूतो यः कर्ता स तामस उच्यते ॥ २८ ॥

म० टी०—अयुक्त इति । अयुक्तः सर्वदा विषयापहृतचित्तत्वेन कर्तव्येष्वनवहितः, प्राकृतः शास्त्रासंस्कृतवु-
द्धिर्बालसमः, स्तब्धः शुक्रदेवतादिष्वध्यतनः, शठः परवञ्चनार्थमन्यथा ज्ञानप्रवण्यथावादी, नैष्कृतिकः स्व-
स्मिन्पुण्यकारित्वभ्रममुत्पाद्य परवृत्तिच्छेदेन स्वार्थपरः, अलसः अवश्यकर्तव्येष्वध्यस्तवृत्तिशीलः, विपादी सदा-
वमसंशुद्धस्वभावत्वेनानुशोचनशीलः, दीर्घसूत्री निरन्तरशङ्कासहस्रकवलितान्तःकरणत्वेनातिमन्यप्रवृत्तिर्ध-
कृतव्यं तन्मासेनापि करोति न वेत्येवंशीलश्च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

नं० टी०—तामसकर्तारमाह—अयुक्त इति । अयुक्तोऽस्थिरचित्तश्चञ्चल इत्यर्थः । प्राकृतः पामट-
कार्याकार्यज्ञानविहीन इत्यर्थः । स्तब्धोऽनम्रः महत्सु विनयशून्य इत्यर्थः । शठो गूढविप्रियकारी सर्ववञ्चक
इत्यर्थः । नैष्कृतिकः निकृतिर्मनोवाक्यैः परिवरस्करणं वलवणोऽनैकृतिकः परावमानोऽस्यर्थः । अलसो मन्दः
कार्येष्ववश्यकर्तव्येष्वन्यथा प्रवृत्तिरहितः अलान्य इत्यर्थः । विपादी छिष्टचित्तः इष्टे वस्तुनि लब्धेऽपि
तुमिरादिवत्पादीपदपि संशोषरहित इत्यर्थः । दीर्घसूत्री च सद्यः कर्तव्यमपि कार्यं पक्षेण मासेन वा यः

करोति स दीर्घसूत्री चिरकारीत्यर्थः । य एवंलक्षणः कर्मकर्ता स तामसस्तमोदोषेण जडबुद्धित्वात्तामस इत्युच्यते । अयुक्तत्वादिकं तामसस्य लक्षणमिति सूचितं भवति ॥ २८ ॥

श्री० टी०—तामसं कर्तारमाह—अयुक्त इति । अयुक्तोऽनबद्धितः, प्राकृतो विवेकशून्यः, स्वबोऽनघ्नः, शठः शक्तिगूहनकारी, नैष्कृतिकः परावमानो, अलसोऽनुचमशीलः, विषादी शोकशीलः, यद्य वा श्रो वा कार्यं तन्मासेनापि न संपादयति यः स दीर्घसूत्री, एवंभूतः कर्ता तामसः उच्यते । कर्तृवैविध्येनैव ज्ञातुरपि त्रैविध्यमुक्तं भवति । कर्मत्रैविध्येन च ज्ञेयस्यापि त्रैविध्यमुक्तं वेदितव्यम् । बुद्धेर्वैविध्येन करणस्यापि त्रैविध्यमुक्तं भविष्यति ॥ २८ ॥

स० टी०—विषादकृष्टचित्तत्वात्कर्तृव्येत्वसमाहितः ॥ शाखासंस्कृतबुद्धित्वाद्बालतुल्योऽतिपामरः ॥ १ ॥ अनघो शुद्धेर्वावो परबन्धनवत्परः ॥ स्वस्मिन्नौक्त्यमुत्पाद्य परबुद्धिबिषादकः ॥ २ ॥ अयमयमेव कर्तृ-
व्येऽप्यप्रवृत्तिस्वभावकः ॥ सदा संतुष्टशीलत्वादनुरोचनवत्परः ॥ ३ ॥ सदा शङ्कसहस्रेण मत्स्यचित्र-
याऽलसः ॥ अतिमन्दप्रवृत्तिः श्रो वाद्यकार्यं करोति न ॥ ४ ॥ मासेनापि य एवं स्यात्कर्ता प्रोक्तः
स तामसः ॥ ५ ॥ २८ ॥

भा० टी०—एवं राजसं कर्तारमुदाहृत्य तामसं वमाह—अयुक्त इति । अयुक्तो विषयेषु विक्षितचित्तत्वा-
दसमाहितः, प्राकृतोऽप्यन्वासंस्कृतबुद्धिर्वालिङ्गः, स्तब्धः कस्मैचिदप्यनघ्न समति सर्वदाऽनघ्नो मन्दस्वभावः,
शठः शक्तिगूहनकारी मायावी, नैष्कृतिकः परविच्छेदनुपरः, अलसः कर्तृव्येत्वप्रवृत्तिशीलः, विषादी सर्वदा
लिङ्गस्वभावः, दीर्घं सूत्रावितुं शीलमस्येति दीर्घसूत्री कर्तव्यानां दीर्घप्रसारणस्वभावः—एवं क्रियमाणे
सत्यनिष्ठमिदं कर्मचिदाप्येव, यदा पुनरेकं क्रियते तदा त्वनिष्ठमेव संभावनोपनीयमित्येवं शङ्कसहस्र-
व्यातचित्तत्वेनाविगमनपरप्रवृत्तिशीलः यद्व्य श्रो वा कर्तव्यं तन्मासेनापि न करोति एवंविधो यः कर्ता स
तामस उच्यते ॥ २८ ॥

प० टी०—तामसमाह—अयुक्त इति । अयुक्तो नियमरहितः, प्राकृतो विवेकशून्यः, स्वबोऽविनीतः,
शठो मायावी, नैष्कृतिकः पररन्ध्रसूचकः, अलसः किञ्चिन्न करोति, विषादी क्लेशव्यथादिना पश्चात्तानी,
सूचनास्तुल्यं दीर्घं सूत्रं यस्मिन् देशकालाद्यनेकविना सूचनां कुम्भाद्य श्वः परधः कर्तव्यमिति विलम्बयति
स तामसः कर्ता ॥ २८ ॥

रा० टी०—अयुक्त इति । अयुक्तः भगवदर्पणादिव्योगरहितः । प्रकृतो अकृतः प्राकृतः ‘भगवत्शक्ति-
सामर्थात्प्रकृतो न कृतो हि यः । ॥ प्राकृतः ’ इति स्मृतेः । स्वबोः आत्मसंभावनया कायनक्षः । शठः
गूढद्वेषेण कर्मकारी । नैष्कृतिको नीचकर्मकृत् । प्राप्तकालेऽपि कर्मण्युदासीनोऽलसः । विषादी सर्वव्यापारी-
परविहेतुमनोदौर्बल्यवान्, प्राप्तेऽपि कर्मकाले पश्चात्कुर्यामिति ध्यायन्वा । परकृतदोषं दीर्घकालकृतमप्यनु-
वर्त्तितं सूचयन्वा दीर्घसूत्री । ॥ तामसः कर्तृत्वार्थः ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ॥

प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥ २९ ॥

त० टी०—एवमनुप्रेष्य कर्मणो ज्ञानतः स्वरूपतः कर्तृतश्च गुणतस्त्रैविध्यमुक्तमिदानीं सर्वव्यव-
हारासाधारणकारणभूताया बुद्धेर्भेदश्चैव गुणतस्त्रैविध्यं वक्तुं प्रतिजानीते—बुद्धेरिति । बुद्धिरप्यवसा-
यरूपा या तस्या धृतेश्च उद्देशेनैव प्राप्तावपि चित्तवृत्तेः स्वैर्यं धृतिस्त्वस्याथ सत्त्वादिगुणतस्त्रिविधं
भेदमशेषेण निःशेषेण हे धनञ्जय ! पृथक्त्वेन मया प्रोच्यमानं यथावत्त्वं शृणु ॥ २९ ॥

म० टी०-तदेवं 'ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिवैव गुणभेदतः' इति न्यास्यातम् । संप्रति धृत्युत्साहसमन्वित इत्यत्र सूचितयोरुद्धिधृत्योर्बैविध्यं प्रतिजानीते-बुद्धेरिति । बुद्धेरभ्यवसायादिवृत्तिमत्स्या । धृतेश्च तद्वृत्तेः सत्त्वादिगुणतस्त्रिविधमेव भेदं मया त्वां प्रति त्यक्त्वाऽस्येन परमाप्तेन प्रोच्यमानमशेषेण निरवशेषं पृथक्त्वेन हेयोपादेयविवेकेन शृणु श्रोतुं सावधानो भव । हे धनञ्जयेति दिग्विजये प्रसिद्धं महिमानं सचयन् प्रोत्साहयति । अत्रेवं चिन्त्यते-किमत्र बुद्धिश्चन्द्रेण वृत्तिमात्रमभिप्रेतं किंवा वृत्तिमदन्तःकरणम् ? प्रथमे ज्ञानं पृथङ्गत्वं वक्तव्यम् । द्वितीये कर्ता पृथङ्गत्वं वक्तव्यः, वृत्तिमदन्तःकरणस्यैव कर्तृत्वात् । ज्ञानधृत्योः पृथक्-धनवैयर्थ्यं च । न चेच्छादिपरिसंख्यार्थं तत् । वृत्तिमदन्तःकरणत्रैविध्यकथनेन सर्वासामपि तद्वृत्तीनां त्रैविध्यस्य विवक्षितत्वात् । उच्यते-अन्तःकरणोपाहितविविधाभासः कर्ता । इह तूपहितानिष्कृत्य उपाधिसाम्राज्येण त्वेन विवक्षितं, सर्वत्र कारणोपाहितस्य कर्तृत्वात् । यद्यपि च "कामः संकरो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा-भृतिरभृतिर्हीर्षाभीर्तिरत्येतत्सर्वं मन एव" इति श्रुत्यनुदितानां सर्वासामपि वृत्तीनां त्रैविध्यं विवक्षितं, तथापि धीभृत्योर्बैविध्यं पृथगुक्तं ज्ञानशक्तिस्त्रिधाशक्त्युपलक्षणार्थं न तु परिसंख्यार्थमिति रहस्यम् ॥२९॥

शं० टी०-कर्तृवत्करणस्यापि त्रैविध्यं सूचयितुं बुद्धपादेर्बैविध्यं बोधयितुमाह-बुद्धेरिति । यया पदार्थतरवमध्यवसाय कारणं पुमान्प्रवर्तते तस्या बुद्धेः अन्तःकरणवृत्तिविशेषत्वं धृतेश्च वृत्तिविशेषत्वम् । चकारः समुच्चयार्थः । एवकारोऽन्यव्यवच्छेदार्थः । पृथक्प्रत्येकं गुणतः सत्त्वादिगुणभेदेन त्रिविधं भेदमशेषेण साकल्येन मनोच्यमानं शृणु । यद्यपि पूर्वं ज्ञानस्य त्रैविध्यं प्रतिपादितं, तथापि ज्ञानं वृत्तिसामान्यं बुद्धिस्तु वृत्तिविशेषः भृतिरपि वृत्तिविशेष एव सती न पुनरुक्तिप्रसङ्गः ॥२९॥

श्री० टी०-इदानीं बुद्धेर्धृतेर्भाषि त्रैविध्यं प्रतिजानीते-बुद्धेरिति । स्पष्टोऽर्थः ॥ २९ ॥

स० टी०-ज्ञानं कर्म च कर्ता च तदेवं त्रयमीरितम् । इदानीं प्रतिजानीते त्रैविध्यं बुद्धि-धैर्ययोः ॥ १ ॥ बुद्धेरभ्यवसायादिवृत्तिमत्स्या धृतेस्तथा ॥ सत्त्वादिगुणतो भेदं त्रिविधं त्वां प्रति स्फुटम् ॥ २ ॥ प्रोच्यमानं मयाप्तेन हेयोपादेयविवेकतः ॥ सावधानो भव श्रोतुं साकल्येन धनञ्जय ॥ ३ ॥ बुद्धपुपाधिविविधाभासः कर्ता प्रोक्तः पुरात्र तु ॥ कारणत्वेन निष्कृत्योपाधिसाम्राज्यं विवक्षितम् ॥ ४ ॥ २९ ॥

भा० टी०-एवं ज्ञानस्य बुद्धिबुद्धेः, कर्षणः क्रियात्मा, कर्तुः बुद्धपुपहितस्य च त्रैविध्यमुक्तं वृत्तिमाया बुद्धेस्तद्वृत्तेश्च धृत्यास्वभावाद्बैविध्यं वक्तुमारभते-बुद्धेरिति । बुद्धेर्वृत्तिमत्स्या धृतेश्च तद्वृत्तेर्गुणतः सत्त्वादिगुणतस्त्रिविधमेव मया प्रोच्यमानं कथ्यमानमशेषेण निरवशेषतः पृथक्त्वेन हेयोपादेयविवेकतः शृणु श्रोतुं सावधानो भव । दिग्विजये मनुष्ये दैवं च प्रभूतं धनं यया बुद्धया धृत्या च त्वं जितवानसि सा त्वयाऽन्यैश्च भवादिमत्तपुरुषार्थसिद्धये विजयहेतुभूता उपादेयेति बोधनाय मया प्रोच्यमानं बुद्धेर्धृतेश्च त्रिविधं भेदं शृण्वति द्योतनाय संबोधयति-धनं जयेति ॥ २९ ॥

प० टी०-अथ बुद्धेर्धृतेश्च त्रैविध्यमाह-बुद्धेरिति । स्पष्टार्थम् ॥ २९ ॥

रा० टी०-एवं ज्ञानकर्मकर्तृणां गुणकृतं त्रैविध्यं निरूप्याधुना बुद्धेः धृतेश्च गुणतस्त्रैविध्यं प्रतिक्षापूर्वमाह-बुद्धेरित्यादिभिः सप्ताभिः । गुणतः सत्त्वादिगुणभेदतो निगमितास्त्रिविधमेव बुद्धेर्भेदं धृतेश्च भेदं पृथक्त्वेन मया प्रोच्यमानमशेषेण शृणु । श्रुत्वा निष्ठा कुरु ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये मयाभये ॥

कन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥ ३० ॥

त० टी०-तत्र त्रिविधबुद्धिमध्ये मध्यमं सात्त्विकी बुद्धिमाह-प्रवृत्तिं चेति । प्रवृत्तिं त्रिवर्गसाधनभूतं

धर्मं, निवृत्तिं मोक्षसाधनभूतं धर्ममयवा प्रवृत्तिः स्ववर्णाश्रमोचिते धर्मे, निवृत्तिः परोचिते धर्मे कार्या-
कार्ये इदमस्मिन् देशे काले च कार्यं कर्तव्यमिदमस्मिन् देशे काले च न कर्तव्यमिति । भयाभये अस-
त्कार्यं प्रवृत्तिर्भयं, सत्कार्यं प्रवृत्तिरभयं, वन्धं वन्धोपायं विषयाभिमुख्यं, मोक्षं मोक्षोपायं विषयवैराग्यं,
च या वेति हे पार्थ ! सा बुद्धिः सात्त्विकी । बुद्धेः करणत्वेन यया वेचीति वक्तव्ये तस्या वेदना-
साधारणहेतुत्वात् कर्तृविवक्षया साध्वसिः छिनत्तीतिवत् या वेचीत्यविरुद्धम् ॥ ३० ॥

म० टी०—तत्र बुद्धेस्त्रैविध्यमाह त्रिभिः—प्रवृत्तिमिति । प्रवृत्तिः कर्ममार्गं, निवृत्तिः संन्यासमार्गं, कार्यं
प्रवृत्तिमार्गे कर्मणां करणम्, अकार्यं निवृत्तिमार्गे कर्मणामकरणं, भयं प्रवृत्तिमार्गे गर्भवासादिदुःखं, अभयं
निवृत्तिमार्गे वदभावं, वन्धं प्रवृत्तिमार्गे मिथ्याज्ञानकृतं कर्तृत्वाद्यभिमानं, मोक्षं निवृत्तिमार्गे तत्त्वज्ञानकृत-
मज्ञानतत्कार्याभावं च या वेति करणे कर्तृत्वोपचारात् यया वेति कर्ता बुद्धिः सा प्रमाणजनितनिश्चयवती हे
पार्थ ! सात्त्विकी । वन्धमोक्षयोरेवै कोर्वनात्तद्विषयमेव प्रवृत्त्यादि व्याख्यातम् ॥ ३० ॥

शं० टी०—सत्त्वबुद्धेर्लक्षणमाह—प्रवृत्तिमिति । प्रवृत्तिं च श्रुतिस्मृतिस्थां विहितं धर्मं, निवृत्तिं ताभ्यां
निषिद्धमधर्मं च कार्याकार्ये कथं देशकालादेरीतुकूल्ये कर्तव्यं प्रातिकूल्ये त्यक्तव्यमकार्यम् । भयाभये
भयं भयकारणमनर्थम्, अभयं भयाभावरणमनर्थभावम्, वन्धं वन्धहेतुं मोक्षं मोक्षहेतुं च बुद्धेर्ज्ञानक-
र्तृत्वासंभवात्करणार्थता । यया बुद्ध्या पदार्थतत्त्वनिश्चयकारिण्या धर्मादिकं पुरुषोपिकारी विज्ञानाति
सा बुद्धिः सात्त्विकी । यद्वा वन्धं मोक्षं चेत्यत्र वन्धमोक्षयोरेव प्रविषयत्वेन प्रवृत्त्यादिपदानां तद्विशेषणत्वे-
नान्वयो युक्तः, प्रवृत्तिः—प्रवृत्तिः सत्त्वबुद्धेः कारणभूतः कर्ममार्गः यत्र प्रवृत्तः शुद्धात्मा संनोक्षाय कल्पये
तां प्रवृत्तिं च, निवृत्तिं च—निवृत्तिर्निष्कर्मत्वमार्गः संन्यासो यत्र प्रवृत्तः संसारबन्धान्मुक्तो भवति तां निवृत्तिं
॥ चप्रयं सनुच्यार्थम् । कार्याकार्ये कार्यमाहृदयोः कर्मणि विषये काले काले यत्कर्तव्यं तत्कार्यम्,
तथाऽकार्यमाहृदस्य यदकर्तव्यं त्यक्तव्यं तदकार्यं ते चोभे कार्याकार्ये । भयाभये यस्माद्विभेति तद्वचन-
ज्ञानं संसारकारणं यस्मादभयं भयाभावः सिध्यति तदभयं ज्ञानं मोक्षकारणं ते चोभे भयाभये वन्धम-
ध्यासलक्षणमज्ञानकार्यं मोक्षमध्यासाभायलक्षणं ज्ञानकार्यं च यया बुद्ध्या शुद्धात्मा विचक्षण एतत्सर्वं क्षीर-
नीरवद्विभज्य विज्ञानाति अहस्येदं साधनं तच्छस्येदं साधनमाहृदयोः कर्तव्यमाहृदस्येदं त्यक्तव्यमिद-
मज्ञानमिदं ज्ञानमयं वन्धोऽयं मोक्ष इति स्वाधिकारानुरूपेण साध्यसाधनभेदं, वन्धं मोक्षं च सन्त्यग्यया
वेति पुरुषः सा बुद्धिः सात्त्विकी बहुजनममुकृतपरिपाकसमुत्पन्नमुद्वसत्स्वकार्यत्वात्सात्त्विकी वि बुधेरहच्यवे
इत्यर्थः । एतेन सात्त्विकव्ये बुद्धिर्मुमुक्षुः प्रयत्नेन संपादनीयेति सूचितं भवति ॥ ३० ॥

श्री० टी०—तत्र बुद्धेस्त्रैविध्यमाह—प्रवृत्तिं वेति त्रिभिः । प्रवृत्तिं च धर्मं, निवृत्तिं चाधर्मं परस्मिन् देशे
काले च यत्कार्यमकार्यं च भयाभये कार्याकार्यनिमित्तावधानार्थं कथं वन्धः कथं वा मोक्ष इति या बुद्धिरन्तः-
करणं वेति सा सात्त्विकी । यया पुमान् वेचीति वक्तव्ये करणे कर्तृत्वोपचारः काष्ठानि पचन्तीतिवत् ॥ ३० ॥

स० टी०—तत्रादौ भगवानाह बुद्धेस्त्रैविध्यमादरात् ॥ प्रवृत्तिं कर्ममार्गं च वन्धहेतुं यया मयम् ॥ १ ॥
निवृत्तिं कर्मसंन्यासमार्गं मोक्षैकसाधनम् ॥ प्रवृत्तिमार्गे करणं कर्मणामभिधारणः ॥ २ ॥ निवृत्तौ—कर्मणः
त्यागाः प्रवृत्तौ भयमामृतम् ॥ निवृत्तावभयं वन्धं प्रवृत्तौ भ्रान्तिवजं नृणाम् ॥ ३ ॥ मोक्षं निवृत्तिमार्गे
पै तत्त्वज्ञानप्रसादजम् ॥ वेति बुद्धिर्यथावया सात्त्विकी सा मतिः स्मृता ॥ ४ ॥ या वेतीत्यत्र करणे
कर्तृत्वमुपचारात् ॥ यया वेति प्रमाणोत्पन्नबुद्ध्या कर्तव्ये चार्थतः ॥ ५ ॥ प्रवृत्तावसितं कर्तव्यं विधिक्रि-
रवा पयः ॥ उत्तरासिं भयमत्यन्तं वन्धस्तत्र ददो भवेत् ॥ ६ ॥ निवृत्तौ नास्ति कर्तव्यं विध्यादेरप्यभा-
वतः ॥ अभयं तत्र शान्तस्य मोक्षः स्यादात्मनि स्थितिः ॥ ७ ॥ ३० ॥

भा० टी०—तत्र बुद्धेर्लैविष्यं विभज्जानौ सात्त्विकी बुद्धिमुदाहरति—प्रवृत्तिमिति । प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च यस्मिन्वाक्ये बन्धमोक्षानुच्येते तस्मिन्नेव प्रवृत्तिनिवृत्त्योरुक्तत्वात् । कर्ममार्गस्य बन्धहेतुत्वात् निवृत्ति-मार्गस्य मोक्षहेतुत्वात् च प्रवृत्तिनिवृत्ती कर्मसंन्यासमार्गावित्यवगम्यते । तथाच प्रवृत्तिः प्रवर्तनं बन्धहेतुः कर्ममार्गः, निवृत्तिः संन्यासहेतुर्मोक्षमार्गः, प्रवृत्तिं शास्त्रविहितविषया निवृत्तिं वत्प्रतिषिद्धविषयमित्यपि बोध्यम् । कार्याकार्ये कर्तव्याकर्तव्ये देशकालपक्षेक्षया दृष्टादृष्टार्थानां कर्मणा करणकरणे । विभेत्यस्मा-दिति भयं भयकारणं तद्विपरीतमभयमभयकारणं भयं चाभयं च भयाभये । भयं दुःखमभयं सुखमिति तु सात्त्विक्या बुद्धेर्दुराणुभवस्यायोग्यत्वं, भयं प्रवृत्तिमार्गे अभयं निवृत्तिमार्गे इति विवक्षायामध्याहारदोषं चाभिप्रेत्याचार्येन व्याख्यातम् । बन्धं सहेतुकं मोक्षं च सहेतुकं वा चेत्ति सा बुद्धिः सात्त्विकी, करणे कर्तृ-त्वोपचारात्प्रयत्ना । सात्त्विक्या बुद्ध्या बुद्ध्याः प्रयायाः पुनस्तत्रापि तथैव भवितुं योग्योऽसीति सूचनार्थं पार्थेति संबोधनम् ॥ ३० ॥

प० टी०—तत्र प्रथमं बुद्धेर्लैविष्यमाह—प्रवृत्तिं चेति त्रिभिः । शास्त्रविहितविषया देशकालोचितं च धर्मे प्रवृत्तिं निवृत्तिमधर्मे देशकालानुसारं वचोवृत्तानुसारं वा कार्यमकार्यमिति अकार्ये भयं कार्येऽभयं बन्धं संसारबन्धं मोक्षमुदाहरणकारं च वा चेत्ति सा बुद्धिः सात्त्विकी ॥ ३० ॥

रा० टी०—बुद्धेर्मेदमाह—प्रवृत्तिमित्यादित्रिभिः । प्रवृत्तिं संसारहेतुप्रवृत्तिहेतुं धर्मे च । कार्याकार्ये कर्तव्यमकर्तव्यं च । तन्निमित्तभयाभये बन्धमोक्षप्रकारं च वा बुद्धिर्चेत्ति सा सात्त्विकीत्यर्थः । कर्तृत्वोप-चारात्ता वेत्तीत्युक्तं । यथा चेत्ति पुनानित्यर्थः ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ॥

अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी ॥ ३१ ॥

त० टी०—राजसीं बुद्धिमाह—यथेति । यया पूर्वोक्तं धर्ममधर्मं च कार्यमवश्यकर्तव्यमकार्यमुपे-क्षणीयं च देशकालादिषु यथावन्न जानाति हे पार्थ ! सा बुद्धिः राजसी ॥ ३१ ॥

म० टी०—यथेति । धर्मे शास्त्रविहितं, अधर्मे शास्त्रप्रतिषिद्धं, अनुष्ठानमुभयं कार्यं चाकार्यं च दृष्टार्थानुभ-यमवधारयन् प्रजानाति यथावन्न जानाति, किं त्विदं किं न वेत्ति चात्यवसायं संशयं वा भजते यया बुद्ध्या सा राजसी बुद्धिः । अत्र त्वत्त्वानिर्देशद्वन्द्वत्रयापि करणत्वं व्याख्येयम् ॥ ३१ ॥

शं० टी०—राजसीं बुद्धिमाह—यथेति । धर्मे निहितमधर्मे प्रतिषिद्धं च कार्यं चाकार्यं च देशकालादेरानु-कूल्ये प्रातिकूल्ये च कर्तव्याकर्तव्ये कर्मणि चकारादर्थान्तरनिष्ठान्सर्वानयथावद्व्याप्यार्थवशावदर्थोत्तिर्णयनासा-कल्पेन संदेहेन यया बुद्ध्या प्रजानाति पुरुषः सा बुद्धिः राजसी रजोगुणसंपन्नत्वाद्राजसीत्युच्यते ॥ ३१ ॥

श्री० टी०—राजसीं बुद्धिमाह—यथेति । अयथावत्संदेशात्पदत्वेनेत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ ३१ ॥

स० टी०—दृष्टार्थे विहितं धर्मं चाधर्मं शास्त्रनिन्दितम् । दृष्टार्थं चाप्यदृष्टार्थं करणकरणे तथा ॥ १ ॥ यथावत् विजानातीदमित्यं वा च वेत्ति च ॥ अनिश्चयं संशयं वा यया बुद्ध्या भजत्यसौ ॥ २ ॥ बुद्धिः सा राजसी यत्नाच्छोधनीया मुमुक्षुभिः ॥ ३ ॥ ३१ ॥

भा० टी०—सात्त्विकीं बुद्धिमुत्त्या राजसीं तामाह—यथेति । यया बुद्ध्या धर्मे शास्त्रचोदितम् अधर्मे च वत्प्रतिषिद्धं कार्यं च कर्तव्यमकार्यमेव चाकर्तव्यम् अयथावत् न यथावत्प्रजानाति सर्वतो निर्णयेन न प्रजानाति सा बुद्धिः पार्थ, राजसी । पूयापुत्रस्य तव नेयं युक्तेति संबोधनाश्रयः ॥ ३१ ॥

प० टी०—राजसीमाह—यथेति । अयथावत् संदेशात्पदत्वेनेत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ ३१ ॥

रा० टी०-यथेति । धर्मादिकं यथा बुद्ध्या अयथावत्प्रज्ञानाति नियमेन यथावत् ज्ञाताति । किंचि-
द्यथावत्किंचिदयथावत्ज्ञानातीति यावत् । याथार्थ्यनियमहीना या बुद्धिः सा राजसीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता ॥

सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी ॥ ३२ ॥

त० टी०-तामसीं बुद्धिमाह-अधर्ममिति । या तमसाऽऽवृता तमोव्याप्ता सती अधर्मं धर्मं,
धर्मं चाधर्ममिति मन्यते, सर्वार्थान् विपरीतांश्च मन्यते परतत्त्वपरमपरतत्त्वं च परं, यद्धं जीवं मुक्तं,
मुक्तं पत्येश्वरं मायावच्छिन्नं परिच्छिन्नं प्रत्यात्मानं विमुक्तं, अनन्तकल्याणगुणमीश्वरं निर्विशेषं,
वेदान्तवेद्यं ममाणाधिपत्यं, सत्यं विश्वसत्यं, स्वभावतो जगद्विद्वाभिन्नं ब्रह्म केवलभिन्नमभिन्नं चेत्त्येवं
सर्वान्यदार्थान् विपरीतान्निर्णयेयेण मन्यते सा तामसीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

म० टी०-अधर्ममिति । तमसा विशेषदर्शनविरोधिना दोषेणावृता या बुद्धिरधर्मं धर्ममिति मन्यते,
अदृष्टार्थं सर्वत्र विपर्यस्यति । तथा सर्वार्थान्, सर्वान् दृष्टप्रयोजनानपि ज्ञेयपदार्थान् विपरीतानेव मन्यते
सा विपर्ययवती बुद्धिस्तामसी ॥ ३२ ॥

शु० टी०-तामसीं बुद्धिमाह-अधर्ममिति । धर्ममधर्मं फल्यमकार्यमर्थमनर्थं च यथा तमसा तमोगुणेना-
वृताऽऽस्पष्टप्रकाशया बुद्ध्या सर्वार्थान् वैपरीत्येन मन्यते गृह्णाति पुनः सा तामसी बुद्धिरित्यर्थः ॥ ३२ ॥

स० टी०-तमसा दोषरूपेण मतिर्याच्छादिता सती ॥ अधर्मं धर्ममित्येवं मन्यते विपरीतता ॥ १ ॥
विपर्यस्यति सर्वत्र विशेषादर्शनाद्यथा ॥ दृष्टप्रयोजनान्सर्वान्यदार्थान्मन्यतेऽन्यथा ॥ २ ॥ विपर्ययवतीं
बुद्धिस्तामसी सात्यनर्थदा ॥ १ ॥ ३२ ॥

श्री० टी०-तामसीं बुद्धिमाह-अधर्ममिति । विपरीतग्राहिणी बुद्धिस्तामसीत्यर्थः । बुद्धिरन्तःकरणं
पूर्वोक्तं, ज्ञानं तु तद्बुद्धिः, धृतिरपि तद्बुद्धिरेव । यद्वा अन्तःकरणस्य धर्मिणी बुद्धिरप्यध्यवसायल-
क्षणाद् बुद्धिरेव । इच्छाद्वेषादीनां तद्बुद्धीनां वस्तुलेऽपि धर्माधर्मभयाभयसाधनत्वेन प्राधान्यादेव सा वैविध्य-
मुक्तम् । उपलक्षणं चैवदन्यासाम् ॥ ३२ ॥

भा० टी०-राजसीं बुद्धिमुक्त्वा तामसीं तामाह-अधर्ममिति । अधर्मं प्रतिषिद्धं धर्मं विहितमिति या
मन्यते जानाति तमसाऽविबेकेनावृता भेटिता सती सर्वार्थानेव ज्ञेयपदार्थान् विपरीतांश्च विपरीतानेव विज्ञा-
नाति सा बुद्धिस्तामसी पार्थ ! तत्र नेयमुच्यतेति संबोचनाशयः ॥ ३२ ॥

प० टी०-तामसीमाह-अधर्ममिति । या तमसाऽऽवृता सत्यधर्ममेव धर्मं पश्यति यथा लक्षशो
गोमक्षिकामारणेनेकोऽयः सुखी स्यादिति मन्यते, यद्वा पौंशत्वेन परसंतुष्टिर्मे इति मन्यते, सर्वार्थान् पुत्र-
मित्रादीन् विपरीतान् प्रतिफलकपूर्वम् पश्यति सा तामसी । अत्र बुद्धिरव्यवसायस्मिन्नान्तःकरणवृत्तिर्मे तु
निश्चयात्मिका यतः सैकविधा न त्रिधा । तदुक्तम् 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन' इति । तदि-
कथमन्येषामिच्छाद्वेषादीनामनुदेश इति चेत्सत्यम् । भर्माधर्मप्रवृत्तौ पुनरेवैतेषां प्राधान्यमिति ज्ञेयम् ॥ ३२ ॥

रा० टी०-अधर्ममिति । या च बुद्धिरधर्मं धर्ममिति मन्यते । नैवावन्मात्रं किंतु तमसाऽवृता अज्ञाने-
नावृता सती सर्वार्थान्विपरीतान् येराकारैरर्थाः वर्तन्ते ततो विपरीतैरसत्यज्ञानीभरत्वापरमीनत्वक्षणिक-
त्वादिप्रकारैश्च मन्यते सा बुद्धिस्तामसीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ॥

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

त० टी०—इदानीं धृतेस्त्रैविध्ये प्रथमां सात्त्विकीं धृतिमाह—धृत्येति । अव्यभिचारिण्या नित्यसमाध्यनुगतया यया धृत्या योगेन सात्त्विकविषये चित्तैकाग्र्येण मनसः प्राणस्येन्द्रियाणां च क्रियाश्चेष्टाः पुमान् धारयते धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी त्रैवेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

म० टी०—इदानीं धृतेस्त्रैविध्यमाह—धृत्येति त्रिभिः । योगेन समाधिनाऽव्यभिचारिण्याऽविनाभूतया समाधिख्यातया यया धृत्या प्रयत्नेन मनसः प्राणस्येन्द्रियाणां च क्रियाश्चेष्टा धारयते—उच्छास्त्रप्रवृत्तेर्निरुणद्धि, यस्यां सत्यामवश्यं समाधिर्भवति, यया च धार्यमाणा मनआदिक्रियाः सास्त्रमतिक्रम्य नार्थान्तरमवगाहन्ते धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

शं० टी०—धृतेरपि त्रैविध्यं वदन् सात्त्विकीं धृतिमाह—धृत्येति । योगेन ब्रह्मणि चित्तैकाग्र्यलक्षणेन समाधिना अव्यभिचारिण्या आविनाभूतया धृत्या धारणात्मिकया धृत्वया यया मनःप्राणैन्द्रियक्रियाः मनसः प्राणानामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनां च क्रियाः या याश्चेष्टाः वहिःप्रवृत्तिरूपास्ताः सर्वा धारयते ब्रह्मनिष्ठो धारयति नित्यच्छति ब्रह्मणि चित्तैकाग्रताया स्थिरायां सत्यां मनःप्राणैन्द्रियक्रियाः सर्वाः स्वयमेव स्थिरा भवन्ति, तेनैकाग्रताधारणाशक्त्येयंगान्यभिचारित्वं मनःप्राणैन्द्रियक्रियाधारकत्वं च सर्वैव सिध्यति, अत एवेत्येते योगेनान्यभिचारिण्या । यया धृत्या मनःप्राणैन्द्रियक्रिया धारयते सा धृतिर्धारणाशक्तिः सात्त्विकी शुद्धसत्त्वगुणसंभूतब्रह्मसात्त्विकीत्युच्यते मुनिभिरित्यर्थः । पुण्यकर्मपरिपाकवशात्तत्प्राप्तशुद्धसत्त्वस्य पुरुषस्य ज्ञानं सात्त्विकं बुद्धिः सात्त्विकी धृतिरपि सात्त्विकी मनः प्राणैन्द्रियवृत्तयोऽपि सात्त्विक्य एव भवन्ति । ज्ञानादीनां सात्त्विकत्वं नाम ब्राह्मणालम्बनमेव ततो मुमुक्षोः सर्वबुद्धिरेव संपादनीयेति सिद्धम् ॥ ३३ ॥

श्री० टी०—इदानीं धृतेस्त्रैविध्यमाह—धृत्येति त्रिभिः । योगेन चित्तैकाग्र्येण हेतुना व्यभिचारिण्या विषयान्तरमधारयन्त्या यया धृत्या मनसः प्राणस्येन्द्रियाणां च क्रिया धारयते नित्यच्छति सा धृतिः सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

स० टी०—धृतेरिदानीं त्रैविध्यं प्राहोदारविधौ गतिः ॥ समाधिना विनासूतकूपया तत्र लग्नया ॥ १ ॥ यया धृत्या प्रयत्नेन प्राणस्य मनसः क्रियाः ॥ इन्द्रियाणां तथा चेष्टा निरुणद्धि कुमार्गतः ॥ २ ॥ यस्य सत्यामवश्यं हि समाधिर्जायते सताम् ॥ धार्यमाणा यया धृत्या मनःप्राणैन्द्रियक्रियाः ॥ ३ ॥ नैव शास्त्रमतिक्रम्याऽवगाहन्तेऽन्यगोचरम् ॥ सा धृतिः सात्त्विकी पार्थ महत्युपयुक्ता भवेत् ॥ ४ ॥ ३३ ॥

भा० टी०—एवं धृतेस्त्रैविध्यं विषय धृतेस्त्रैविध्यं विमज्जन्नादौ सात्त्विकी धृतिमाह—धृत्येति । धृत्या यया योगेन समाधिनाऽव्यभिचारिण्या नित्यसमाध्यनुगतया मनःप्राणैन्द्रियाणां क्रियाश्चेष्टा उच्छास्त्रमाप्रवृत्तीर्धारयते—धृत्या हि धार्यमाणा उच्छास्त्रविषया न भवन्ति । एतदुक्तं भवति—उक्तक्रिया धार्यमाणा योगेन ब्रह्मणि समाधानैकैकाग्र्येणान्यभिचारिण्या धृत्या धारयतीत्येवंलक्षणा या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

प० टी०—अथ धृतेस्त्रैविध्ये सात्त्विकीं धृतिमाह—धृत्येति । योगेन चित्तैकाग्र्येण हेतुनाऽव्यभिचारिण्या विषयान्तरमधारयन्त्या यया धृत्या मनसः प्राणानामिन्द्रियाणां च क्रिया धारयते नित्यच्छति सा धृतिः सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

रा० टी०—प्रतिज्ञां धृतेस्त्रैविध्यमाह—धृत्येत्यादित्रिभिः । अव्यभिचारिण्या विहितविषयया योगेन भगवद्भक्तियोगेन युक्त्येति शेषः । यया धृत्या मनसः प्राणस्येन्द्रियाणां च क्रिया धारयते । सा धृतिः सात्त्विकेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ! ॥

प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ ! राजसी ॥ ३४ ॥

त० टी०-राजसीमाह-यया त्विति । फलाकाङ्क्षी पुरुषः प्रसङ्गेनात्मनः कर्तृत्वाभिनिवेशेन यया धृत्या धर्मकामार्थान् धर्म काममर्थं च धारयते प्राप्यतया धारयतेऽवधारयति न तु तद्विच्छस्य मोक्षारूपं कदाचिदपि हे पार्थ ! सा धृती राजसी ॥ ३४ ॥

प्र० टी०-ययेति । तुः सात्त्विक्या भिनचि । प्रसङ्गेन कर्तृत्वाद्यभिनिवेशेन फलाकाङ्क्षी सन् यया धृत्या धर्म काममर्थं च धारयते नित्यं कर्तव्यतयाऽवधारयति न तु मोक्षं कदाचिदपि धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

शं० टी०-राजसी धृतिमाह-ययेति । तुशब्दोऽन्यस्यावृत्त्यर्थः । यया तु धृत्या पुरुषो धर्मकामार्थान् धर्ममर्थं कामं च प्राधान्येन धारयते धरति न विमुञ्चति प्रसङ्गेन धर्मादीनां प्रसङ्गो संपादनकाले फलाकाङ्क्षी भवति सा धर्मादीनां धात्री धृतिः राजसी ॥ ३४ ॥

श्री० टी०-राजसी धृतिमाह-यया त्विति । यया तु धृत्या धर्मार्थकामान् प्राधान्येन धारयते न विमुञ्चति तत्प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी च भवति सा राजसी धृतिः ॥ ३४ ॥

स० टी०-कर्तृत्वाभिनिवेशेन फलाकाङ्क्षी च सन् यया ॥ धर्ममर्थं तथा कामं नित्यं कार्यतया जनः ॥ १ ॥ धृत्यावधारयत्यर्थः न तु मोक्षं कदाचन ॥ सा ध्वी राजसी पार्थ संसारैकफलप्रदा ॥ २ ॥ ३४ ॥

भा० टी०-सार्वभौम धृतिमुक्त्वा राजसी तामाह-ययेति । यया तु धृत्या धर्मार्थकामान् धारयते मनसि नित्यकर्तव्यतात्पर्यं अवधारयति, न तु शुद्धप्रज्ञामोक्षाख्यमिति ध्वनयन्नाह-हे अर्जुनेति । प्रसङ्गेन यस्य यस्य धर्मादिधारणप्रसङ्गत्वेन तेन प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी प्रकर्षेण सङ्गः कर्तृत्वाभिनिवेशेनैव केचित् । प्रसङ्गेन धर्मादेः संबन्धेनेत्यन्ये । आचार्येस्तु प्रसिद्धार्थपरित्यागे विनिगमकविरहसमिपत्येवं न व्याख्यातम् । यः पुरुषः प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी सन् यया धृत्या धर्मादीन्धारयते तस्य सा धृतिः हे पार्थ ! राजसी ॥ ३४ ॥

प० टी०-राजसीमाह-ययेति । यया धृत्या धर्मकामार्थान् प्राधान्येन धारयति न विमुञ्चति तत्प्रसङ्गेन च फलाकाङ्क्षी च भवति सा राजसी धृतिः ॥ ३४ ॥

रा० टी०-ययेति । यया धृत्या धर्मकामार्थान्धारयते । प्रसङ्गेन प्रकृष्टेन कर्मणि सद्योयत्नाज्ज्ञेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा राजसीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विपादं मदमेव च ॥

न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ ! तामसी ॥ ३५ ॥

त० टी०-तामसी धृतिमाह-ययेति । यया धृत्या स्वप्नं निद्रां भयं त्रासं शोकमिष्टवियोगनिमित्तदर्शनजं विपादं खेदं मदं विरुद्धविषयात्मकमज्ज्ञं हर्षम्-यतान् दुर्मेधा दुष्टा निषिद्धार्थधारणावती मेधा बुद्धिर्घस्य स पुरुषो न विमुञ्चति सदा तत्रैव निद्रां करोतीत्यर्थः । धृतिः सा पार्थ ! तामसी भवतीति संनयः ॥ ३५ ॥

म० टी०-ययेति । स्वप्नं निद्रां भयं त्रासं शोकमिष्टवियोगनिमित्तं संतापं, विपादमिष्टवियोगनिमित्तं, मदमशक्तीयविषयसंकोचमुत्पाद्यं च यया न विमुञ्चत्येव किंतु सदैव कर्तव्यतया मन्यते दुर्मेधाः विवेकासमर्थः, धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

शु० टी०—तामसी धृतिमाह—यथेति । दुष्टा तमोदोषदूषिता मेधा बुद्धिर्यस्य स दुर्मेधाः दुर्मेधाः पुरुषः यया धृत्या स्वप्ने निद्रां भयं शोकं विषादं च मदमेव सदा धारयते न तु कचिदपि मुञ्चति सा निद्रापीनां धात्री धतिस्तामसीत्युच्यते । सर्वव्यवहारहेतुर्वृद्धैर्बुद्धिर्विषये सिद्धे तद्धारयतानां ओत्रादिकरणानामपि सात्त्विकत्वादिभेदसद्भावः सूचितः ॥ ३५ ॥

श्री० टी०—तामसी धृतिमाह—यथेति । दुष्टा अविवेकबहुला मेधा यस्य सः दुर्मेधाः पुरुषः यया धृत्या स्वप्नादीन् विमुञ्चति पुनः पुनरावर्तयति । स्वप्नोऽत्र निद्रा सा धतिस्तामसी ॥ ३५ ॥

स० टी०—निद्रां त्रासं च संतापं स्वकीयेष्टवियोगजम् ॥ इन्द्रियाण्यवसादं च भोगासात्तिकं मदम् ॥ १ ॥ न विमुञ्चति किं त्वेवस्कर्तव्यत्वेन मन्यते ॥ निर्विकेयो यया धृत्या सा धृतिः पार्यं तामसी ॥ २ ॥ ३५ ॥

भा० टी०—राजसीं भृतिं व्युत्पाद्य तामसीं वां व्युत्पादयति—यथेति । दुर्मेधाः दुष्टा कुत्सिता मेधा बुद्धिर्यस्य स बुद्धिर्द्विर्यथा धृत्या स्वप्ने निद्रां भयं त्रासं शोकं प्रियवियोगनिमित्तं संतापं विषादं विषण्णता-मिन्द्रियप्रित्तिरा विषयसेवामात्मनो बहुमन्यमानो मद्य इव यो मदमेव च मनसि नित्यमेव कर्तव्यरूपतया कुर्वन् विमुञ्चति धारयत्येव सा धृतिः पार्यं तामसी ॥ ३५ ॥

प० टी०—तामसीमाह—यया स्वप्नमिति । दुष्टाऽविवेकबहुला मेधा यस्यासौ दुर्मेधाः पुरुषो यया धृत्या स्वप्ने स्वप्नस्थपदार्थदर्शनेन भविष्यं चिन्तयति यया भयं शोकं विषादं मदं च न विमुञ्चति स्थिरी-करोति सा तामसी धृतिः ॥ ३५ ॥

रा० टी०—यथेति । यो दुर्मेधाः दुष्टबुद्धिः पुरुषः यया धृत्या स्वप्नमतीव निद्रां भयं शोकं दुःखं विषादं मनोदौर्बल्यं मदं च स्वप्नाद्युपलक्षितं सर्वं निषिद्धं भयवद्वेषादि न विमुञ्चति सा तामसीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भर्तृर्षम ! ॥

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

त० टी०—एवं ज्ञानकर्मकर्तृबुद्धिपूतीनां त्रैविध्यं निरूपितविदानीं सर्वजीवाभिलषितस्य सुखस्य गुणतत्त्वैविध्यं वक्तुं प्रतिजानीते—सुखं त्वित्पर्येन । पूर्वोक्ता ज्ञानकर्मादयो यदर्थकास्तत्सुखं तु इदानीं मे मम वचनात्रिविधं शृणु, हेयोपादेयज्ञानार्थव्यवहारस्य । तत्र सात्त्विकं सुखमाह सार्धेन—अभ्यासा-दिति । यत्र यस्मिन्सुखे अभ्यासाच्चिरकालावर्तनाद्रमते अयापितां रतिं प्राप्नोति दुःखान्तं च निगच्छति, दुःखस्यान्तं च निवरां गच्छति न तु विषयसुख इव दुःखोदकं प्राप्नोति ॥ ३६ ॥

म० टी०—एवं क्रियाणां कारकाणां च गुणतत्त्वैविध्यमुक्त्वा तत्फलस्य सुखस्य त्रैविध्यं प्रतिजानीते श्लोकार्धेन—सुखमिति । सात्त्विकं सुखमाहोर्धेन च मे मम वचनात् दृष्टुं हेयोपादेयविवेकार्थं व्यासङ्गान्तर-निवारणेन मनः स्थिरं कुरु । हे भर्तृर्षमिति योग्यता दर्शयति । यत्र समधिमुखे अभ्यासादतिपरिचयात् रमते परितप्तो भवति न तु विषयसुख इव सद्य एव । यस्मिन् रममाणश्च दुःखस्य सर्वस्याप्यन्तमवसानं निवरां गच्छति न तु विषयसुख इवान्ते मदद्दुःखम् ॥ ३६ ॥

शु० टी०—एवं गुणभेदेन कर्तृणां करणानां कर्मणां च त्रैविध्यमुक्त्वा कर्मफलस्य सुखस्यापि त्रैविध्यं वदन् सात्त्विकसुखस्य स्वरूपमाह द्वाभ्याम्—सुखं त्विति । स्पष्टार्थः ॥ ३६ ॥

श्री० टी०—सुखस्य त्रैविध्यं प्रतिजानीते अर्धेन—सुखमिति । स्पष्टार्थः । यत्र सात्त्विकं सुखमाह—अभ्यासादिति सार्धेन । यत्र यस्मिन्सुखे अभ्यासादतिपरिचयाद्रमते न तु विषयसुख इव तदसा रतिं प्राप्नोति, यस्मिन् रममाणश्च दुःखस्याप्यन्तमवसानं निवरां गच्छति प्राप्नोति ॥ ३६ ॥

स० टी०—क्रियाणां कारकाणां च गुणवैविध्यमीरितम् ॥ त्रैविध्यं प्रतिजानीते तत्कलेऽप्यर्धुना मुखे ॥ १ ॥ हेयादेये विवेकाय वचनान्धे शृणु स्फुटम् ॥ सुखं त्रिविधमत्यन्तं सावधानेन चेतसा ॥ २ ॥ सार्धेन सात्त्विकं प्राह सुखमानन्दवारिभिः ॥ सावधानः सुखे यत्राभ्यासात्परिचयाद्भवति ॥ ३ ॥ प्रपद्येते यथा यत्र रममाणोऽनुभूतितः ॥ सर्वदुःखोपशमनं नितरां गच्छति स्वयम् ॥ ४ ॥ ३६ ॥

भा० टी०—एवं क्रियाणां कारकाणां च गुणवैविध्यो भेद उक्तः । अयेदानीं फलस्य च सुखस्य त्रिविधं भेदं वक्तुमारभते—सुखमिति । सुखं तु इदानीं त्रिविधं मेऽस्मै वचनाच्छृणु अवधारय । त्रिविध-स्यापि सुखस्य सामान्यलक्षणमाह—अभ्यासादादृत्तेर्यत्र सात्त्विकद्विसुखे रमते यत्र रममाणश्च दुःखत्यान्त-मवसानं च निगच्छति निश्चयेन प्राप्नोति । सरवर्षमेति संवोधयन् सुखस्य त्रैविध्यं यम वचनाच्छृणुवा सात्त्विकं सुखमनुभवितुं योग्योऽसीति सूचयति । तत्र सात्त्विकं सुखमाह—सार्धेन । यत्र यस्मिन्सुखेऽभ्यासा-वतिपरिचयाद्भवेत् न तु विषयसुख इव सहस्रं रतिं प्राप्नोतीत्यपरे । भाष्यस्य समानवया न तद्विरोधः ॥ ३६ ॥

प० टी०—अथ त्रिविधं सुखमाह—सुखमिति द्वाभ्याम् । इदानीं त्रिविधं सुखं मे मत्तः शृणु । तत्र सात्त्विकं सुखमाह—अभ्यासादिति । यत्र सार्धेन सुखेऽभ्यासान्तरानुसंधानाद्भवेत् रममाणो दुःखान्तं दुःखावसानं निगच्छति निवरां प्राप्नोति ॥ ३६ ॥

रा० टी०—प्रतिज्ञापूर्वं गुणतः सुखस्य त्रैविध्यमाह—सुखं त्विति । यत्र यस्मिन्सुखे चिरकालमभ्यासा-स्तुनः पुनः रमते, दुःखान्तं दुःखनाशं च नितरां गच्छति प्राप्नोति तत्सुखं त्रिविधमित्यर्थः । यद्वा पूर्वविधेव प्रविज्ञापरम् । उत्तरार्थम्—॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमित्र परिणामेऽमृतोपमम् ॥

तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

त० टी०—तदेव विशिनष्टि—यत्तदिति । यत्तत्किमपि अग्रे वैराग्यासनपमनियमोपवासज्ञानभ्या-नाभ्यासनारम्भे ब्रह्मासत्ताध्यत्वाद्विषमित्रातिदुःखमिव भवति । परिणामे वैराग्यादिपूर्वकोपासनप-रिपाके अमृतोपममतिविशेषं भवति । यत् आत्मबुद्धिप्रसादजम्—आत्मविषया बुद्धिरात्मबुद्धिस्तस्याः प्रसादो रजस्तमःकार्यकामलोभमोहत्यागेन स्वच्छतया निरतिशयानन्दरूपेऽवस्थानं ततो जातं सुखं सात्त्विकं प्रोक्तं तद्विद्वद्भिः ॥ ३७ ॥

म० टी०—तदेव विवृणोति—यदिति । यत् अग्रे ह्यजवैराग्यध्यानसमाधारभूतेऽसन्नायासनिर्वाहत्वाद्भि-पनिव द्वेषविषादवै भवति । परिणामे ज्ञानवैराग्यादिपरिपाके त्वमृतोपमं प्रीत्यतिसखास्पदं भवति । आत्म-विषया बुद्धिरात्मबुद्धिस्तस्याः प्रसादो निद्रालस्यादिराहित्येन स्वच्छतयाऽवस्थानं ततो जातमात्मबुद्धिप्रसा-दजं, ननु राजसमिव विषयेन्द्रियसंयोगात्, न वा घामसमिव निद्रालस्यादिजम् । ईदृशं यदनात्मबुद्धिनिवृ-त्त्यात्मबुद्धिप्रसादजं समाधिसुखं तत्सात्त्विकं प्रोक्तं योगिभिः । अपर आह—अभ्यासादादृत्तेर्यत्र रमते प्रीयते यत्र च दुःखावसानं प्राप्नोति तत्सुखम् । तच्च त्रिविधं गुणभेदेन । शृण्वति, तत्पदाव्याहारेण पूर्णस्य श्लोकस्या-न्वयः । यत्तदम् इत्यादिश्लोकेन तु सात्त्विकसुखलक्षणमिति । भाष्यकाराभिप्रायोऽप्येवम् ॥ ३७ ॥

शं० टी०—यदिति । यद्वाग्ं सुखं निरन्तरं नित्यप्राप्तमप्यग्रे स्वसिद्धेः पूर्वं स्वसिद्धिसाधनस्य वि-पवरवीकृते दुष्करत्वात्त्वयमपि विषमित्रं प्राप्तुमनुभवितुं चादम्यमेव भवति, यतः स्वसाधनं सद्सद्भिषेको दुर्लभो सुसुश्रूतं ततो दुर्लभं वैराग्यं ततो दुर्लभं शमादिसंपत्तिस्ततो दुर्लभा संन्यासस्ततोऽपि दुर्लभः श्रद्धैकमूलः श्रवणादिस्ततो दुर्लभः युक्तैरसाधारणकारणं तज्जन्यं ज्ञानमपरोक्षमतीव दुर्लभतरं तत्परिपाक-

हेतुः समाधिर्दुर्लभतमस्तत एव स्वसिद्धिसाधनस्य समाप्येकमूलस्य ज्ञानस्य प्राच्योद्दीच्याङ्गैस्तीव्रमोक्षेच्छैक-
कारणैः सह दुष्प्रापत्वात्स्वयमपि तद्वदुष्प्रापं भोक्तुमशक्यं च भवतीत्यर्थः । नन्वेवं सति यतीनां मोक्षसु-
खापेक्षवतां का गतिरित्यकाङ्क्षायामाह—परिणामेति । सद्गुरोश्चेन्नस्यानुग्रहात्सिद्धस्य तस्यासिाधनस्य ज्ञानस्य,
नित्यनिरन्तरं समाधिना परिणामे परिपक्त्वे सिद्धे सत्यमसुतोपमं भवति, यथा कालकूटापायेन प्राप्तममृतं
देवानां जरामृत्युनिवर्तकं भवति, तथा करणदोषापायेन प्राप्तं तद्ग्राहं सुखमपि यतीनां महत्तमनां जन्म-
मरणदुःखप्रवाहविभ्वंसकत्वाद्मृततुल्यं परमानन्दकरं च भवति । ततो ब्रह्मविज्ञिः परमहंसमोक्षसुखानुभूति-
कामैः साधनशुद्धिसिद्धावेव प्रयत्नः कर्तव्यो न तु साध्यसिद्धये, साधने सिद्धे साध्यं स्वयमेव सिध्यति ।
यथा चक्षुःसौष्ठवे सिद्धे पूर्णचन्द्रदर्शनाद्वातः सिध्यति, तद्वद्यत्सुखमात्मबुद्धिप्रसादजं यथा बुद्ध्या ज्ञानेना-
ह्मा सच्चिदानन्दैकलक्षणोऽयमहमस्मीति साक्षात्क्रियते, तस्या एव बुद्धेः प्रसादश्चिरकालनित्यनिरन्तरसचि-
त्प्राप्तनिर्विकल्पकसमाध्यमयासातिशयेन रजसो रजःकार्याणां च रागद्वेषलभमोहदम्भद्वेषविषादात्प्रा-
हृकरादीनां तमसश्च तमःकार्याणां संशयासंभावनाविपरीतभावनाजालबालस्यप्रमादादीनां च सम्प्रभारप्रति-
बन्धकानां निःशेषनिवृत्त्या समुत्पन्नः शुद्धस्फटिकवर्णवद्वर्णमात्रमानो यः स्वच्छत्वंगुणः शुद्धसत्त्वाभिधान-
स्तस्माज्जायते चक्षुषो दीपनिवृत्त्या पूर्णचन्द्रित्यद्विद्वत्तेः स्वयमेवातिर्भवतीत्यात्मबुद्धिप्रसादमित्युच्यते ।
न तु विषयसुखवज्जायते, अन्यत्वे तन्नित्यत्वपरिच्छिन्नत्ववसाविशयत्वादिवोपप्रसङ्गान्मुमुक्षूणामनाशास्यत्वो-
पपत्तेश्च । तद्वज्जुषो नैर्मल्यापत्त्या रूपवद्विद्वत्तेः शुद्धसत्त्वापत्त्याऽप्ययनेन स्वयमेव विषयीभवति, नित्य-
सिद्धत्वस्वरूपसुखस्य । ननु ब्रह्मविद्वां ब्राह्मं सुखमतिद्वेष्टसाध्यं, विषयसुखं त्वत्सिद्धं सुखाभिहितत्वेदानुभो-
क्तव्यमिति चेन्नानत्र प्रष्टव्यः । किं वैषयिकं सुखं विषयधर्मो वा करणधर्मो वा कर्मधर्मो वा भोक्तृधर्मो वा
देशधर्मो वा कालधर्मो वाऽऽप्यज्ञानधर्मो वा ज्ञानधर्मो वात्मधर्मो वा स्वयं व्यापाराभावस्वरूपं वा दुःखा-
भावस्वरूपं वेति ? नायं, विषयसन्निधाने पूर्वक्षण इवोत्तरक्षणे सुखादर्शनादुपपन्नकामानां व्यङ्ग्या-
नुदय इति चेन्न, दूरदृष्टत्वे पूर्वक्षणेऽपि सुखानुदयप्रसङ्गात्तादृगिष्टविषयासिद्धेश्च । न द्वितीयः, विषयव्य-
वधाने सुखादर्शनात् । नापि तृतीयः, सुखस्य पुण्यकर्मकार्यत्वेन तद्वर्मेत्वातुपपत्तेस्तथात्वे धर्म्यपत्त्युत्तरक्षणे
एव सुखोदयप्रसङ्गात् । न चतुर्थः, भोक्तुः सर्वदा विक्षेपदर्शनात् । नापि पञ्चमः, सुखार्थितः स्वर्गगतना-
भावप्रसङ्गात्स्वर्गस्थानमपि दुःखश्रवणात् । नापि षष्ठः, शीतातपवत्सार्वत्रिकत्वप्रसङ्गात् । नाप्यज्ञानधर्मः,
वस्तुनो भोग्यत्वाच्चाने सुखादर्शनात् । नापि ज्ञानधर्मः, वस्तुरन्यत्वज्ञानेऽपि विरक्तस्य सुखानुदयात् । सुखं
करणव्यापाराभावस्वरूपं न भवति स्वप्ने सुखादर्शनात् करणव्यापारवति भोजनादौ सुखदर्शनात् । नापि च
दुःखाभावस्वरूपं, दुःखाभाभवति भूयिष्ठे सुखादर्शनात् । अचेतनत्वात्तत्र यदभिव्यक्त्यभाव इति चेन्न, दुःखा-
भाववत्यां बुद्ध्यापस्फूर्तिं सुखादर्शनाद्यदुक्तं मूढवर्गेन दुःखाभावः सुखमिति वन्न सुखस्य भावत्वेनाभावरूपत्वात्तुप-
पत्तेः । नैवेदिते पशुकल्पेन सौप्तिकसुखमनुभूतं निर्विषयमत एवोक्तं दुःखाभावः सुखमिति । तर्हि सुखमात्मन यच्च
धर्म इति चेन्न, सुखमात्मनः स्वरूपं न तु धर्मः, धर्मत्वे धर्मनाशादात्मनोऽपि नाशप्रसङ्गात् । ननु स्वरूपत्वेऽपि
मुक्तस्य क्षणिकत्वात्स्वरूपमृतसुखत्वाच्चेत्त्वात्मनोऽपि नाश एवेति चेन्न, “आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः” इत्या-
त्मनो नित्यत्वधनव्यापत्तत्वरूपभूतसुखस्यापि नित्यत्वसिद्धेः । ननु सुखं यथात्मनः स्वरूपं तथा दुःखम-
प्यात्मन एव स्वरूपं भवतु सुख्यहं दुःख्यहमिति सुखदुःखप्रत्यययोरैकविषयत्वदर्शनादिति चेन्न, मृगोऽस्मी-
विषय दुःख्यहमितिप्रत्ययस्य संभोदकार्यत्वेन मिथ्यात्वोपपत्तेः । न हि पुत्रे भूते मृगोऽहमस्मीति वक्तुमरणमस्ति
मोक्षारोपेण विना, तद्वदुःख्यहमिति दुःखित्वप्रत्ययस्यात्मानि मोक्षद्वारोपितत्वान्निध्यात्वेनैव । दुःखस्या-
त्मनः स्वरूपत्वे सुप्तानुपपत्तेः सुप्तमहमस्याप्यस्माति सुखोपलब्धिवत्तदुपलभ्यभावात् दुःखमात्मनः स्व-

रूपं न भवति । सुखमेवात्मस्वरूपं सुखस्यैवात्मस्वरूपत्वे सुखमह्यस्वाप्समिति प्रत्यक्षं प्रमाणम् । आत्मा सुखस्वरूपः सुपुत्री सुखमात्रोपलम्भात्समाधिबदित्यनुमानं च । सन्निदानन्दमात्रमेकरसं बुद्धसुखस्वरूप आत्मा “सद्वनोऽयं चिद्धन आनन्दजनः” इति श्रुतिश्च । सुसुप्तप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिरपि च प्रमाणम् । तर्हि दुःखं फस्य स्वरूपमिति चेदनात्मन एव स्वरूपमिति ब्रूयः, अतुलजडदुःखात्मकत्वमनात्मनः सर्वप्रसिद्धे । अतोऽन्यदार्थमिति नास्ते सुखमस्तीति । वदेतज्जडं मोहात्मकम् “अन्तवचुचम्” इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धे । ननु सुरस्यात्मरूपत्वे सिद्धे विषयसुरामिव व्यपदेशः कथमिति चेदुच्यते । पुण्यकर्मवशात्पुरुषस्येष्टवार्थसंनिधौ सत्यन्तःकरणे सत्त्वभावविभवति, तत्रानन्दस्वरूप आत्मा प्रतिविम्बवति, प्रतिविम्बनात्मानन्वृत्तिरेव विषयसान्निध्याद्विषयसुखमित्युच्यते । पुण्यकारसम्पत्त्यास्त्वसारस्त्वम्, सत्त्वसारसम्पत्त्याप्रतिविम्बस्त्वर्थे चारवन्त्ये, तेन सुखस्यापि वरतमभावः । तत्र एव श्रूयते “एवस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रासुपजीवन्ति” इति । ततो विषयसुखमाभासिकं महान्तो महाविदो नापेक्षन्ते पुणानन्दाद्युत्तरसपायिनः । नन्वात्मन आनन्दस्वरूपत्वात्परिपूर्णत्वाच्च सदा सर्वत्र सर्वेषामयतनतः सुखानुभूतिः स्वयमेव स्यादिति चेन्न, वृत्तिशुद्धितापेक्षत्वादात्मस्वरूपोपलब्धेः । यद्वाकाचन्द्रचन्द्रिकायाः परिपूर्णत्वेऽपि तद्दर्शनाद्वाद्वाच्यं, सौष्ठवमपेक्षते, तद्वात्मानन्दा-नुभूतिरपि बुद्धिप्रसादमपेक्षते । तत्र एवोच्यते भगवताप्यात्मबुद्धिप्रसादजमिति । एवमात्मबुद्धिप्रसादजं नित्यं निरन्तरं निरपेक्षं निरतिशयं निरवधिकं यद्वाचं सुखं तत्सार्वत्रिकं सत्त्वविभूत्या आर्विभूतत्वात्सार्वत्रिकमिति महर्षयो वदन्तीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

श्री० टी०—कीदृशं तत्-यत्तदिति । यत्तद्विक्रमि अत्र प्रथमं विषयमिव मनःसंयमार्थान्तरादुःखावह-निष्ठ भवति, परिणामे त्वमृतसदृशम् । आत्मविषया बुद्धिरात्मबुद्धिस्तस्याः प्रसादेन रजस्तमोमल्लस्यागेन स्वच्छताप्यवस्थानं ततो जातं यत्सुखं तत्सार्वत्रिकं प्रोक्तं योगिभिः ॥ ३७ ॥

स० टी०—तदेव विबुधोतीशः सुखं ब्रह्मप्रसादजम् ॥ ज्ञानवैराग्यसंख्यातसमाध्यात्म एव यत् ॥ १ ॥ अत्यन्तायाससाध्यत्वाद्भिषग्वैप्रेक्यवेत् ॥ ज्ञानादिपरिपाके तु प्रवैरविशयात्सद्वत् ॥ २ ॥ निद्रास्तस्यादिरा-द्वित्यादुद्धियां स्वच्छता गता ॥ तस्या आत्मबलम्विन्याः प्रसादात्ज्ञातमान्वरम् ॥ ३ ॥ तत्समाधिसुखं प्रोक्तं सात्त्विकं योगिभिर्महैः ॥ ४ ॥ ३७ ॥

भा० टी०—सुखस्य त्रैविध्यं विभज्यते सात्त्विकं सुखमाह-यत्तदिति । यत्सुखममे पूर्वं प्रथमतः निपाते ज्ञानवैराग्यध्यानसमाध्यात्मभेदजन्यतायासपूर्वकत्वाद्विषयिव दुःखात्मकमिव भवति परिणामे ज्ञानादिपरिपाकेऽमृतोपमं तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तं विद्वद्भिः कथितम् । आत्मनो बुद्धिरात्मबुद्धिरात्मबुद्धेः प्रसादो नैर्मल्यं सकार्यरजस्तमोमल्लस्यागेन सल्लिख्यत्स्वच्छताप्यवस्थानं ततो जातमात्मबुद्धिप्रसादजम्, आत्मविषया आत्मालम्बना बुद्धिर्वा आत्मबुद्धिस्तत्प्रसादात्मरूपज्ञा जातम् ॥ ३७ ॥

प० टी०—तथा-यदिति । यदेते प्रारम्भे मनःप्रत्यावृत्तिकरणेन विषयिव दुःखात्मिव लगति, परिणामे त्वमृतोपमं परमानन्दसदृशं भवति, यच्चात्मबुद्धिप्रसादजमात्मविषया व्ययसायात्मिका बुद्धिस्तथा यः प्रसादः प्रसन्नता ततो जातं तत्सार्वत्रिकं सुखम् ॥ ३७ ॥

रा० टी०—यत्तदिति श्लोकश्च सात्त्विकसुखोक्तिपरः । यद्यपि तदं सुखममे पूर्वं विषयिव आयाससं-ध्यत्वात् । परिणामे निपाके अमृतसदृशम् । आत्मबुद्धिप्रसादजम्—आत्मनो विष्णोः प्रसादादनुग्रहात्जातं बुद्धेः प्रसादाच्च । बुद्धेः प्रसादो नाम स्वतो विषयेष्वप्रवृत्तिः, ततो जातं ॥ यत्तत्सुखं सत्त्विकमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ॥

परिणामे विषयमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

त० टी०—राजसं सुखमाह—विषयेन्द्रियेति । विषयाणामिन्द्रियाणां च संयोगाद्यत्तल्लोकप्रसिद्धं स्त्रीसङ्गादिजन्यं सुखमग्रेऽनुभवकाले अमृतोपमममृततुल्यं भवति, मनइन्द्रियादिसंयमकेशाभावात् । परिणामे विषमिव इहामुत्रापि दुःस्वजनकत्वात्तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

प० टी०—विषयेति । विषयाणामिन्द्रियाणां च संयोगाज्जातं, न त्वास्मद्विप्रसादात् यत्तद्यदतिप्रसिद्धं सक्चन्दनवनितासङ्गादिसुखमग्रे प्रथमारम्भे मनःसंयमादिक्लेशाभावादमृतोपमम्, परिणामे त्वैहिकपारत्रिकदुःसावहत्याद्विषमिव—वत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

सं० टी०—राजसं सुखमाह—विषयेति । विषयेन्द्रियसंयोगाद्विषयाणामिन्द्रियाणां च संसर्गाज्जायमानं यद्वैषयिकं सुखमग्रे पूर्वं स्वातन्त्र्यविकाले स्वातन्त्र्येणः पुरुषस्यामृतोपमं सुखमर्थं सद्भूयो भूयो विवर्धत इति न्यायेन स्वविषयकार्येणाविचारकामकर्मणि प्रवर्धयति, परिणामे स्वकार्यफलकाले स्वातन्त्र्यं पुरुषं विषमिव हन्ति 'स्वकार्येण योजयित्वा सकामभिर्जायते तत्र तत्र' इति न्यायेन नानायोगेनैव पातयित्वा मुहुर्मुहुर्मुहुर्गमयतीत्यर्थः । यदेवंलक्षणे वैषयिकं सुखं सद्भूतजसं रजोगुणेन कामेन संभावितत्वाद्भ्राजसमिव मुनिभिः स्मृतमुक्तमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

श्री० टी०—राजसं सुखमाह—विषयेन्द्रियेति । विषयाणामिन्द्रियाणां च संयोगाद्यत्तल्लोकप्रसिद्धं स्त्रीसङ्गादिसुखममृतोपमम् यद्य तादृशं भवत्यग्रे प्रथमं, परिणामे तु विषतुल्यं, इहामुत्र च दुःखहेतुत्वात् । तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

स० टी०—विषयेन्द्रियसंयमाद्यद्वयन्तप्रसिद्धिमतं ॥ सक्चन्दनस्त्रीसङ्गादिसुखं स्यात्प्रथमे क्षणे ॥ १ ॥ धीसंयमादिसंयमकेशाभावाद्यद्वयवन्नगम् ॥ परिणामे तु दुःखानामाकुरत्याद्विषमम् ॥ २ ॥ इहामुत्रावित्सकारजननद्वारतः सदा ॥ संसृतिश्रमदं तत्र सुखं राजसमीरितम् ॥ ३ ॥ ३८ ॥

भा० टी०—सार्वभिकं सुखमुदाहृत्य राजसं वदयुत्वादयति—विषयेति । यत्सुखं विषयेन्द्रियसंयोगात् जायतेऽग्रे प्रथमे क्षणेऽमृतोपमममृतसदृशं, परिणामे तदुपभोगान्ते विषमिव बलवीर्यरसप्रज्ञादिहानिहेतुत्वाद्यधर्मवज्जनितनरकादिहेतुत्वाच्च विषतुल्यं—वत्सुखं हेयं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

ए० टी०—राजसमाह—विषयेति । यद्विषयेन्द्रियसंयोगादग्रे प्रारम्भेऽमृतोपमं, परिणामे विरसत्वादिषोपमं मत्स्यमस्तुरदिशाभिप्रेक्ष्य तत्सुखं राजसम् ॥ ३८ ॥

रा० टी०—विषयेति । विषयेन्द्रियसंयोगात्तद्विषयाणां योवादीन्द्रियाणां संयोगेनोत्पन्नविषयाणुभवेन जायमानं यत्तत्प्रसिद्धं सुखमग्रे प्रथमममृतसदृशं विषाके विषमिव दुःसावहत्वात् । तत्सुखं राजसमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

यदग्रे चातुर्वन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ॥

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

त० टी०—तामसं सुखमाह—यदग्रे इति । यत्सुखमग्रेऽनुभवकाले अनुवन्धे परिणामे चात्मनो मोहनं सर्वरस्तुपाधात्मपञ्चानभ्रंशकं भवति । तदेव दर्शयति—निद्रालस्यप्रमादोत्थम् । निद्रालस्यं प्रसिद्धं, प्रमादः कर्तव्यानवधानं, तेभ्य उचितं तद्वति तथाभूतं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

प० टी०—यदिति । अग्रे प्रथमारम्भे च अनुवन्धे परिणामे च यत्सुखमात्मनो मोहकरम् । निद्रालस्ये प्रसिद्धे, प्रमादः कर्तव्यावधानमन्तरेण मनोरथग्रमात्रम् । सेव्य एवोचितं न तु सार्वभिकमिव मुनिप्रसादं, न वा राजसमिव विषयेन्द्रियसंयोगजं, तन्निद्रालस्यप्रमादोत्थं तामसं सुखमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

श्रं० टी०—तामसं सुखमाह—यद्व्य इति । अग्रे स्वोत्पत्तिकाले चानुबन्धे च परिणामकालेऽवसाने-
ऽप्यात्मनः सदसद्विवेकहेतोर्युद्धेर्भोहनं मोहकारकं विवेकशक्तिविरोधाकारकं, निद्रालस्यप्रमादोत्यं—निद्रा प्रसिद्धा,
आलस्यं बुद्धिजाड्यं, प्रमादो बुद्धिपारवश्यमेवेभ्यः समुत्पन्नं यत्सुखं तत्तामसं तमोगुणनिष्पन्नत्वात्तामस-
मिति ऋषिभिरुदाहृतमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

श्री० टी०—तामसं सुखमाह—यदिति । अग्रे प्रथमक्षणे अनुबन्धे च पश्चादपि यत्सुखमात्मनो मोह-
करम् । तदेवाह—निद्रा आलस्यं च प्रमादश्च कर्तव्यायाविधानराहित्येन मनोराज्यम्—एतेभ्य उच्यते यत्सुखं
तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

स० टी०—आरक्षणे तथा पश्चात्परिणामेऽपि यत्सुखम् ॥ अत्रिवेककरं स्वस्य निद्रादिभ्यः समुत्थि-
यम् ॥ १ ॥ अत्यन्तानर्थहेतुत्वात्तत्सुखं तामसं स्यूयम् ॥ २ ॥ ३९ ॥

भा० टी०—राजसं सुखमुक्त्वा तामसं तदुदाहरति—यदिति । यत्सुखमग्रे च प्रथमे क्षणेऽनुबन्धे चाव-
सानोत्पत्तिकाले; चान्द्र्यां प्रथमक्षणादुत्तरावस्थासु अनुबन्धात्पूर्ववस्थासु चात्मनो मोहनं मोहकरं निद्रालस्य-
प्रमादेभ्यः समुत्पद्यतीति निद्रालस्यप्रमादोत्यं यत्सुखं हेतुं तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

प० टी०—तामसमाह—यद्व्य इति । अग्रे प्रथमे क्षणे अनुबन्धेऽनेनेत्यनुबन्धः परिणामस्त्वस्मिन्नात्मनो-
ऽन्तःकरणस्य मोहनं व्यामोहकरम् । तस्यावस्थानियममाह—निद्रा, आलस्यं, प्रमादोऽनवधानता । निद्रायां
सुपुतिस्तुल्यं स्वाप्रविषयभोगस्तुल्यं आलस्येऽङ्गविमर्दोद्भवं प्रमाद उन्मत्तावस्था—चन्द्रोत्पन्नं यत्सुखं तत्तामसमु-
दाहृतम्, उदाहरणत्वेन निरूपितम् ॥ ३९ ॥

श० टी०—यदिति । यत्सुखमग्रे चानुबन्धे च पश्चात् । विपाककाल इति यावत् । आत्मनः स्वस्य
मोहनं मोहकरं पारवश्यकत्वं निद्रालस्यप्रमादेभ्योऽप्युच्यते । आलस्यं शरीरमान्द्यम् । प्रमादः अधर्मे
बुद्धिः । तत्सुखं तामसमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ॥

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यान्निर्भिर्गुणैः ॥ ४० ॥

त० टी०—इदानीमुक्तं त्रैगुण्यप्रकरणमुपसंहरन्सर्वस्य प्राकृतस्य त्रैविध्यं संक्षिप्य ब्रह्मणो-
न तदस्तीति । प्रकृतिर्भगवतो मायाकृष्या शक्तिस्तत्संभवैरेभिः सत्त्वादिभिस्त्रिभिर्गुणैर्मुक्तं हीनं
यत्सत्त्वं प्राणिजातं स्यात् तत् पृथिव्यां मनुष्यादिषु पुनर्दिवि स्वर्गे देवेषु वाऽन्येषु सुतलादिष्वपि
नास्तीत्यर्थः ॥ ४० ॥

म० टी०—इदानीमुक्तमपि संगृह्यन् प्रकरणार्थमुपसंहरति । भगवान्—नेति । सत्त्वरजस्तमसां, साम्या-
ऽवस्था प्रकृतिस्ततो अपेक्षैर्पञ्चावस्था प्रातैः प्रकृतिजैः, न तु साक्षाद्गुणानां प्रकृतिजत्वमस्ति तदुदाहार ।
तस्माद्वैपन्यावस्थेयं तदुत्पत्तिरुपचारात् । अथवा प्रकृतिर्माया तन्मयैस्तत्कल्पितैः प्रकृतिजैरेभिस्त्रिभिर्गुणैर्नन्ध-
नहेतुभिः सत्त्वादिभिर्मुक्तं हीनं सत्त्वं प्राणिजातमप्राणि वा यत् स्यात् तत्पुनः पृथिव्यां मनुष्यादिव 'दिवि'
देवेषु वा नास्ति, कापि गुणत्रयरहितमनात्मनस्तु नास्तीत्यर्थः ॥ ४० ॥

श्रं० टी०—क्रियाकारकफलाणां विमर्शं त्रिगुणात्मकत्वं प्रतिपाद्याविभागेन सर्वं त्रिगुणात्मकमेवेत्याह—
न तदिति । पृथिव्या मूलेके वाशब्दात्पात्राले दिवि स्वर्गे वा देवेषु ब्रह्मादिव वा । पुनः शब्दो धार्यः । प्रकृ-
तिजैः प्रकृतिवस्तुत्वतैरेभिर्मुक्तं यदेभिः सत्त्वादिभिर्मुक्तं परित्यज्यमसृष्टं यत्तथाप्यज्ञैर्वैतत्सत्त्वं
द्रव्यं प्राणिनां त्रिलोक्या नास्ति त्रिगुणात्मकमायकार्कत्वाज्जगत्सर्वमपि त्रिगुणैर्मयमेवेत्यर्थः ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंत्प ! ॥

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

त० टी०—तदेवं श्रेयस्कापानां श्रेयसे ज्ञानकर्मकर्मादीनां सात्त्विकोपादानायेतरयोः परिहाराय सात्त्विकादिविवेकज्ञापनपूर्वकं त्रिलोकवर्तिप्राणिजातस्य त्रैगुण्यमेव प्रतिपादितमिदानीं सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वे सति राजसतामसपारेहारेण सात्त्विकज्ञानकर्मादिनिष्ठस्यापि अनित्यापायि सातिशयं स्वर्गादिसंवन्धि सूक्ष्मन्दनारामविहारदिव्यविमानसोमपानाप्सरोविहारयेव फलं स्यान्न तु नित्यानप्रायिनिश्चितशुखरूपं मोक्षार्थं फलं, तस्मात् कथं मोक्षो भवेदित्यपेक्षायां स्वस्ववर्णाश्रमाधिकारादुत्तरेण वेदविहितानि सात्त्विकानि कर्माण्येव परंपुराणप्राज्ञान्बुद्ध्या फलकर्तृत्वाभावेनानुष्ठितानि तत्पसादजन्यज्ञानभक्तिद्वारेण भगवत्प्राप्तिलक्षणमोक्षफलकानि भवन्तीति प्रतिपादयितुं कर्माधिकारिणां ब्राह्मणादीनां स्वभावात्तुगुणानि सत्त्वादिगुणभिन्नानि कर्माणि वृत्तिभिः सह विवक्तुं प्रतिजानीते—ब्राह्मणोति । ब्राह्मणक्षत्रियविशामिति त्रयाणां समासकरणं द्विजत्वेन वेदाध्ययनपञ्चाशधिकारज्ञापनार्थम् । शूद्राणां चेति सप्तासात्पृथक्करणमेकजातितया वेदाध्ययनाद्यधिकारवहिर्भूतत्वज्ञापनार्थम् । वेदाध्ययनस्योपनयनसंस्कारतन्त्रत्वात् “तं होषनिन्ये अपीहि भगव इति होषसत्ताव” इति श्रुतेः । शूद्रस्य तु “न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति । शूद्रश्चतुर्यो वर्ण एकजातिः” इति तस्मिन्नेति । साक्षाद्देवाध्ययननिषेधोऽपि “पशु इ वा एतच्छ्रमदानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रस्य समीपे नाध्येतव्यम् । अथास्य वेदमुपशृण्वतस्तु पुनर्भ्यां श्रोत्रपूरणम्, उदाहरणे जिह्वाछेदः, धारणे शरीरभेदः” इति श्रुतिस्मृतिभ्यां शूद्रस्य वेदश्रवणनिषेधादध्ययननिषेधः सुतरां सिद्धः, अध्ययनस्य श्रवणपूर्वकत्वात् । हे परन्तप ! ब्राह्मणादीनां कर्माणि प्रकपेण विभक्तानि इतरेतरविभागेन स्थितानि । कैः स्वभावप्रभवैर्गुणैः । तथा हि ब्राह्मणस्य स्वभावप्रभवो रजस्तयोऽभिभवेनोद्विक्तः सत्त्वगुणः, क्षत्रियस्य स्वभावप्रभवस्तमःसत्त्वाभिभवेनोद्विक्तो रजोगुणः, वैश्यस्य स्वभावप्रभवस्तमउपसर्जनं उद्विक्तो रजोगुणः, शूद्रस्य स्वभावप्रभवस्तु रजउपसर्जनं उद्विक्तस्तमोगुणः । एवमेतैः स्वभावप्रभवैर्गुणैश्चतुर्णां वर्णानां प्रविभक्तानि कर्माणि श्लाघेष्टु प्रतिपादितानि मया वक्ष्यमाणानि त्वमवधारयेत्पर्यः ॥ ४१ ॥

म० टी०—तदेवं सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकः क्रियाकारकफलक्षणः सर्वैः संसारो मिथ्याज्ञानकल्पि-
वोऽनर्थश्चतुर्दशाध्यायोक्त उपसंहृतः । पृथ्वदशे च वृक्षरूपकल्पनया तमुक्त्वा ‘अश्वत्थमेनं सुविस्तृतमूल-
मसङ्गक्षेत्रेण दृढेन धित्वा । ततः पदं तत्परिमाणित्वं यस्मिन् गता न निर्वर्तन्ति भूयः । इत्यसङ्गक्षेत्रेण
विषयवैराग्येण तस्य छेदनं कृत्वा परमात्माऽन्वेष्टव्य इत्युक्तम् । तत्र सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वे त्रिगुणात्म-
कस्य संसारवृक्षस्य कथं छेदोऽसङ्गक्षेत्रस्येवानुपपत्तेरित्याशङ्क्यायां स्वस्वाधिकारविहितैर्वर्णाश्रमधर्मैः परि-
तोष्यमाणात् परमेश्वरादसङ्गक्षेत्रात् इति वदितुमेतान्नेव सर्ववेदार्थैः परमपुरुषार्थमिच्छन्निरनुष्ठेय इति
च गीताशार्त्ता उपसंहृतव्य इत्येवार्थमुत्तरं प्रकरणमारभ्यते । वेदेनं सुत्रम्—ब्राह्मणोति । त्रयाणां समा-
सकरणं द्विजत्वेन वेदाध्ययनादितुल्यकर्मावक्यनार्थम् । शूद्राणांभिति पृथक्करणमेकजातित्वेन वेदानधि-
कारित्वज्ञापनार्थम् । तथा च वसिष्ठः—‘क्त्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां त्रयो
वर्णा द्विजातयो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यासेनाम्—मातुरप्रेऽधिजननं द्वितीयं मौखिनन्धने । अत्रास्य
माता सावित्री पिता स्वाचार्य उच्यते’ इति । तथा प्रतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं स्थानविशेषाच्च—“ब्राह्मणोऽस्य
सुखमासीद्वाहू राजन्यः कृवः । ऊरु उदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत । इत्यपि निगमो भवति ।

गायत्र्या ब्राह्मणमसृजतं, श्रुत्वा राजान्यं, जगत्या वेदयं, न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कारो विज्ञा-
यते इति । 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः' इति च गौतमः । हे परन्तप शत्रुतापन तेषां चतुर्णामपि
वर्णानां कर्माणि प्रक्रमेण विभक्तानि इतरेतरविभागो न व्यवस्थितानि । कैः ? स्वभावप्रभवैर्गुणैः, ब्राह्मण्या-
दिस्वभावस्य प्रभवैर्हेतुभूतैर्गुणैः सत्त्वान्दिभिः । तथाहि ब्राह्मणस्वभावस्य सत्त्वगुण एव प्रभवः प्रशान्तत्वात् ।
क्षत्रियस्वभावस्य सत्त्वोपसर्जनं रजः ईश्वरस्वभावत्वात् । वैश्यस्वभावस्य तमत्त्वोपसर्जनं रजः ईहास्वभावत्वात् ।
शूद्रस्वभावस्य रजत्वोपसर्जनं तमः मुदस्वभावत्वात् । अथवा मायाख्या प्रकृतिः स्वभावः तत उपादानात्
प्रभवो येषां तैः । प्राम्भवीयः संस्कारो वर्तमाने भवे स्वफलाग्निमुखत्वेनाभिव्यक्तः स्वभावः स निमित्तत्वेन
प्रभवो येषामिति वा । शास्त्रस्यापि पुरुषस्वभावसापेक्षत्वाच्छास्त्रेण प्रविभक्तान्यपि गुणैः प्रविभक्तानीत्यु-
च्यन्ते । 'आख्यातानामर्थं बोधयतामाधिकारिणाः सहकारिणी' इति न्यायात् । तथा हि गौतमः—'द्विजा-
तीनामभ्ययनमिज्यादानं, ब्राह्मणस्याधिकः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहः । पूर्वेषु नियमस्तु । राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्व-
भूतानां न्यायदण्डत्वं, वैश्यस्याधिकं कृषिवणिक्पाशुपार्यं कुसीदं च । शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिस्तस्यापि सत्य-
मक्रोधः शौचमाचमनार्थं पाणिपादप्रक्षालनमेवैकं आद्रकर्म भृत्यभरणं स्वदारयुतिः परिचर्योत्तरेपात्रम्' इति ।
अत्र साधारणा असाधारणाश्च धर्मा उक्ताः । पूर्वेषु अध्ययनेज्यादानेषु नियमः अवश्यकर्तव्यस्य नतु प्रव-
चनयाजनप्रतिग्रहेषु वृत्त्यर्थत्वादित्यर्थः । वणिक् वाणिज्यं, कुसीदं वृद्धचै वनप्रयोगः । उत्तरेषामिति
श्रेष्ठानां द्विजातीनामित्यर्थः । वसिष्ठोऽपि 'पट्टकर्माणि ब्राह्मणस्याभ्ययनमध्यापनं यज्ञो याजनं दानं प्रति-
ग्रहश्चेति । श्रीणि राजन्यस्याभ्ययनं यज्ञो दानं च शस्त्रेण च प्रजापालनं स्वधर्मत्वेन जीवेत् । एतान्येव
श्रीणि वैश्यस्य कृषिवणिक्पाशुपार्यं कुसीदं च । तेषां परिचर्या शूद्रस्य' इति । आपस्तम्बोऽपि—'चत्वारो
वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां पूर्वाः पूर्णो जन्मवः श्रेयान् । स्वकर्म ब्राह्मणस्याभ्ययनमध्यापनं यज्ञो याजनं
दानं प्रतिग्रहणं दायार्यं शिल्पेन्द्राद्यन्यत्रापिरिगृहीतम् । एतान्येव क्षत्रियस्याध्यापनयाजनप्रतिग्रहणानीति
परिहाय युद्धदण्डाधिकानि । क्षत्रियवत् वैश्यस्य दण्डयुद्धवर्जं कृषिपौरक्षयव्यापनयाधिकम् । परिचर्या शूद्रस्ये-
तरेषां वर्णानाम्' इति । मनुस्मृत्युक्तं—'अध्यापनमभ्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानाम-
फलप्रयत् । प्रजानां रक्षणं दानमिज्याभ्ययनमेव च । विषयेष्वप्रसक्तिं च क्षत्रियस्य समादिशत् ॥ पशूनां
रक्षणं दानमिज्याभ्ययनमेव च । वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ एकमेव ■ शूद्रस्य प्रभुः
कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां शुभ्रभूषणसुयया' इति । एवं चतुर्णामपि वर्णानां गुणभेदेन
कर्माणि प्रविभक्तानि ॥ ४१ ॥

श्लो० टी०—एवं सर्वस्यापि जगतो गुणत्रयात्मकत्वे सिद्धे गुणत्रयातिक्रम्यं कृतवत् एव मुक्तिरिति
गुणानत्येतुमिच्छोर्मुमुक्षोस्तदतिक्रमसिद्धेः परास्कारणं ज्ञानं तत्सिद्धेः कारणं सत्त्वशुद्धिस्त्वत्कारणं तु कर्मैव
वदेवावश्यं कर्तव्यमिति वैदिकानां कर्मणां सर्वेषां कर्तव्यत्वायां प्राप्तायां ब्राह्मणादीनां मुमुक्षूणां येषां येषां
स्वस्वगुणानुरूपेण यानि यानि कर्माणि विभक्तानि भवन्ति तैरेतत्त्वानि वान्त्येव कर्तव्यानि न त्वितरगुणोति
पियमं दर्शयति—ब्राह्मणेति । ब्राह्मणाश्च क्षत्रियाश्च विद्वाश्च तेषां ब्राह्मणक्षत्रियविश्रामित्यत्र जात्या
विषमत्वेऽपि उपनयनाभ्ययनयजनादिकर्माभिराश्रमेण च सम्प्रसादयैः समानासां समासकरणम-
विरुद्धम् । शूद्राणां चेति पृथक्करणं जात्या धर्मेण क्रियया च विषमत्वाच्च विरुद्धम् । एवं येषां ब्राह्मणादीनां
शूद्राणां च नियमेन कर्तव्यानि कर्माणि स्वभावप्रभवैः स्वभावः प्रकृतिस्त्वप्रभवैर्गुणैः सत्त्वादिभिः प्रविभ-
क्तानि प्रक्रमेण विभक्तानि शुणवता गुणभेदेन कर्माण्यपि भिन्नानि गुणैरसंकीर्णत्वेन व्यवस्थापितानि
भवन्तीत्यर्थः । यद्वा स्वभावप्रभवैः ब्राह्मणस्वभावः केवलसत्त्वगुणप्रभवः, क्षत्रियस्वभावः सत्त्वमिश्रितरजः

प्रभवः, वैश्यस्वभावः रजोमिश्रिततमः प्रभवः, शूद्रस्वभावः केवलतमः प्रभवः, एवं सत्त्वादिगुणभेदेन उत्त-
दुणवतां ब्राह्मणादीनां शूद्राणां च कर्तव्यानि कर्माण्यपि भिद्यन्त इत्यर्थः । यद्वा " ब्राह्मणोऽस्य सुखमा-
सीत् " इति श्रुत्युक्तप्रकारेण चत्वारो वर्णाः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां पूर्वः पूर्वा जन्मतः श्रेयानितिन्या-
येन च भव एव भावो जननं स्वः स्वकीयो भावः स्वभावः । यद्वा स्वेषा भावः स्वभावः सुखवाह्यदिभ्यो
जननं प्रभवः कारणं येषा तैः स्वभावप्रभवैः स्वजन्मनिमित्तकैर्गुणैरुक्तमस्त्वमप्यमत्वेनिकृष्टत्वातिनिकृष्टत्वैरु-
पलक्षितानां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां नियमेन कर्तव्यानि यानि कर्माणि तानि जन्मत उत्कृष्टत्वादिभेदेन
विभक्तानि शास्त्रेण विभज्य विहितानीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

श्री० टी०—ननु च यद्येवं सर्वमपि क्रियाकारकफलादिकं प्राणिजातं च त्रिगुणात्मकमेव कथं तर्हि
अस्य मोक्ष इत्यपेक्षया स्वस्वाधिकारविहितैः कर्मभिः परमेश्वराराधनात्तत्प्राप्तदुलब्धज्ञानेनेत्येवं सर्वगी-
वार्थसारं संगृह्य प्रदर्शयितुं प्रकणान्तरमारभते—ब्राह्मणेत्यादि यावद्व्याप्यसमाप्ति । हे परंतप श्रुत्वा-
पन ! ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां विशा च शूद्राणां च कर्माणि प्रविभक्तानि प्रकर्षेण विभागतो विहितानि ।
शूद्राणां समासात्पृथक्करणं द्विजत्वाभावेन वैलक्षण्यात् । विभागोपलक्षणमाह—स्वभावः सात्त्विकादिः प्रभ-
वसि प्रादुर्भवति येभ्यस्तैर्गुणैरुपलक्षणभूतेः । यद्वा स्वभावः पूर्वजन्मसंस्कारस्तस्मात्प्रादुर्भूतैरित्यर्थः । तत्र
सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणाः, सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानाः क्षत्रियाः, तमत्त्वप्रसर्जनरजःप्रधाना वैश्याः, रजतपस-
जनतमः प्रधानाः शूद्राः ॥ ४१ ॥

स० टी०—तदेवं सर्वसंसारो मिथ्याज्ञानप्रकल्पितः ॥ गुणत्रयात्मकोऽनर्थः क्रियाकारकलक्षणः ॥ १ ॥
उक्तधर्तुवशाध्याये पुनस्तत्रोपसंहृतः ॥ तथा पञ्चदशे दृश्यरूपकेणापि वर्णितः ॥ २ ॥ शितेनासङ्गक्षणे
भोगवैराग्यरूपिण्या ॥ तस्य संछेदने, कृतेऽप्यनेष्टव्यं पदमीरितम् ॥ ३ ॥ सर्वस्य त्रिगुणात्मस्य संसा-
राख्यतरोः कथम् ॥ छेदोऽप्यसङ्गक्षणे संभवेत्त्रिगुणात्मनः ॥ ४ ॥ असङ्गशर्कं वैराग्यं तस्याप्यनुपप-
त्तिरिति ॥ एवं प्राप्ति इतिः प्राह साधनं श्रुतिसमवत् ॥ ५ ॥ स्वस्वाधिकारविहितैर्धर्मैर्वर्णाश्रमोदितैः ॥ परि-
तोष्यमाणादीशाद्वैराग्यप्राप्तिरख्यसा ॥ ६ ॥ ततो वेदान्तवाक्योत्पत्त्यस्योक्त्यनुसन्धानमात्रतः ॥ सकार्याज्ञान-
मायाभ्य कृतकत्वोऽभिजायते ॥ ७ ॥ एतावान्सर्ववेदार्योऽप्यनुष्ठेयो मुमुक्षुभिः ॥ उभेव गीताशास्त्रार्थ-
उपसंहारमर्हति ॥ ८ ॥ इत्येकमर्थमारम्भसंदर्भस्योच्चरस्य च ॥ त्रयाणां हि द्विजस्तेन स्वाध्यायाभ्ययना-
दिना ॥ ९ ॥ तुल्यधर्मत्वबोधार्थं समासकरणं कृतम् ॥ शूद्राणामेकजातिवत्त्वाभ्यायानाधिकारिता ॥ १० ॥
अस्तीति ज्ञापनार्थाय यत्पृथक्करणं कृतम् ॥ तेषां चतुर्णां वर्णानां परस्परविभागतः ॥ ११ ॥ न्यवस्थि-
तानि कर्माणि स्वभावाप्रभेदेर्भूतैः ॥ तत्र सत्त्वगुणो विप्रस्वभावस्यास्ति कारणम् ॥ १२ ॥ प्रज्ञानत्वात्त-
थाभूतस्वभावस्य रजोगुणः ॥ सत्त्वोपसर्जनो यस्मादीश्वरत्वं नृपे भवेत् ॥ १३ ॥ ततो गौणरजो वैश्य-
स्वभावस्यास्ति कारणम् ॥ तस्यापीहास्वभाक्त्वाद्वैराग्यमुत्पत्त्यवस्थितः ॥ १४ ॥ रजो गौणतमः शूद्रस्वभा-
वस्यास्ति कारणम् ॥ तस्य मूढस्वभाक्त्वादित्येवं गुणनिर्णयः ॥ १५ ॥ मायाख्या प्रकृत्यैवैव स्वभावः
वस्यास्ति कारणम् ॥ तस्य मूढस्वभाक्त्वादित्येवं गुणनिर्णयः ॥ १५ ॥ मायाख्या प्रकृत्यैवैव स्वभावः
सर्वगः, स्मृतः ॥ तत एवास्त्युपादानात्तेषां प्रभव इत्यपि ॥ १६ ॥ प्राग्भवीयोऽपि संस्कारो वर्तमानभवे-
त्यत्र ॥ स्वफलाभिमुखत्वेनाभिमुखः प्रभवः स च ॥ १७ ॥ स्वभावः कारणं येषा तैर्विभक्तानि
या गुणैः ॥ आगमेनैव कर्माणि प्रविभक्तानि यद्यपि ॥ १८ ॥ तथाप्यस्त्येव साक्षस्य उत्त्वभावनाय-
नेक्षता ॥ १९ ॥ ४१ ॥

भा० टी०—एवं क्रियादिदृक्षणस्य संसारस्य त्रिगुणात्मकत्वप्रतिपादकेन चतुर्दशतदशाध्यायोक्तोऽर्थ-
उपसंहृतः । पञ्चदशे चोर्वमूलमप्यज्ञानमित्यादिनाऽपि सापरिकल्पितं संसारं दृश्यरूपेणाभिधाय अतस्त-

शस्त्रेण दृढेन छित्त्वा । ततः पदं कृपरिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः^१ इत्युक्तम् । पूर्वोत्तराव्याये-
 पु च स्वस्वाधिकारविहितैर्वर्णाश्रमधर्मैर्निष्कामैरुपासनासमुच्चितैराराधितात्मरमेभ्यराहृद्भवाऽसद्विशेषः आसुर्या
 राक्षस्या च संपदा विनिर्मुक्तः दैव्या तया संपन्नः प्रत्यगभिन्नप्रज्ञविचारजत्परः संसारवृक्षमसद्विशेषेण
 दृढेन छित्त्वा ब्रह्मज्ञानेन विमुच्यत इत्युक्तम् । तमिमं सर्वं गीताशास्त्रार्थमुपसंहरति, एतावानेव सर्वो वेदस्मृत्यर्थः
 पुरुषार्थमिच्छन्निरनुष्ठेय इति बोधनाय ब्राह्मणेत्यादिप्रकरणमारभते—ब्राह्मणेति । ब्राह्मणाश्च क्षत्रियाश्च
 विशाश्च ब्राह्मणक्षत्रियविशः तेषामुपनयनसंस्कारवत्त्वे सति वेदाधिकारित्वं सममिति ब्राह्मणादित्रयाणां
 समासकरणं शूद्राणामुपनयनवर्जितत्वे सति वेदानधिकारित्वमभिप्रेत्य वृथक् निर्दिशति । शूद्राणां च कर्माणि
 शमदमादीनि प्रविभक्तानि इतरेतरविभागेन व्यवस्थितानि । कैरित्यपेक्षायामाह—स्वभावप्रभवेर्गुणैः । ईश्वरस्य
 त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः स्वभावः सः प्रभवः कारणं येषां तैर्गुणैः । यद्वा स्वभावस्य प्रभवस्यैतद्वया च ब्राह्मण-
 स्वभावस्य सत्त्वगुणः प्रभवः कारणम्, तथा क्षत्रियस्वभावस्य सत्त्वोपसर्जनं रजः प्रभवः, वैश्यस्वभावस्य
 तमउपसर्जनं रजः प्रभवः, शूद्रस्वभावस्य रजउपसर्जनं तमः प्रभवः—आन्त्यैश्वर्यं हामृदस्वभाववर्णानाञ्चतुर्णाम् ।
 अथवा जन्मान्तरकृतसंस्कारः प्राणिना वर्तमानजन्मनि स्वकार्याभिमुखत्वेनाभिव्यक्तः स्वभावः सः प्रभवो
 येषां तैः प्रकृत्युद्बोधितैर्गुणैः स्वकार्यानुकूप्येण ब्राह्मणादीनां शमादीनि कर्माणि प्रविभक्तानि । शास्त्रेणापि
 ब्राह्मणादीनां सत्त्वाद्विगुणविशेषपेक्षयेव शमादीनि कर्माणि प्रविभक्तानि, न तु गुणानपेक्षयेति शास्त्रविभ-
 क्तान्यपि तानि गुणविभक्तान्युच्यन्ते । क्षत्रियस्वभावजं शत्रुतापत्तरूपं कर्म त्यक्तुमशक्यमङ्गीकर्तुं योग्यो-
 ऽसीति सूचयति परवपेक्षिसंयोजनेन ॥ ४९ ॥

प० टी०—यद्येवं प्राणिजातं त्रिगुणात्मकं तद्व्यस्य कर्षं मोक्ष इत्यपेक्षाया स्वस्वाधिकारविहितैः कर्मभिः
 परमेश्वराराधनावातज्ञानेन मोक्ष इति सकलगीतार्थं संगृह्य वर्णयितुं प्रकारान्तरमारभते—ब्राह्मणेति । हे
 परंतप शत्रुतापन, ब्राह्मणादीनाञ्चतुर्णां वर्णानां कर्माणि प्रविभक्तानि प्रकरणे विभागतो विहितानि । विभागो-
 पलक्षणमाह—स्वभावप्रभवेर्गुणैरिति । स्वभावः सात्त्विकादिः प्रभवत्यादिर्भवति येभ्यस्तैर्गुणैरुपलक्षणभूतैः ।
 यद्वा स्वभावः पूर्वजन्मसंस्कारस्तस्मात्प्रादुर्भूतैः । तत्र सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणाः, सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानाः
 क्षत्रियाः, तमउपसर्जनरजःप्रधाना वैश्याः, रजउपसर्जनतमःप्रधानाः शूद्राः । तदुक्तम् ‘चातुवर्ण्यं मया सृष्टं
 शुभकर्मविभागम्’ इति ॥ ४९ ॥

रा० टी०—इदानीं ब्राह्मणादधिकारिगुणकृतकर्माणि भिन्नानि सन्तीत्याह—ब्राह्मणेति । त्रैवर्णिकाना-
 मिव द्विजन्मत्वं नेति बोधनाय शूद्राणामिति पृथङ्निर्देशः । स्वभावप्रभवेः ब्राह्मणादेवत्तत्त्वभावानुबन्धि
 भिः । सत्त्वाद्विगुणैः कर्माणि प्रविभक्तानि तानि मे शृण्वति भावः ॥ ४९ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ॥

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

त० टी०—तत्र ब्राह्मणानां स्वभावमवगाणि कर्माण्याह—शम इति । शमो बाह्येन्द्रियसंयमः,
 दमो मनोनियमनं, तपः आसीयव्रतोपवासनियमैः शरीरतापनं, शौचं आसीयकर्मयोग्यतापादनं बाह्या-
 भ्यन्तरं, तत्र वार्तां मृजलादिना, आभ्यन्तरं रागद्वेषभ्रूत्यत्नं, क्षान्तिर्वैषम्यकृतस्याप्यविकृतचित्तत्वम्,
 आर्जवं भावकौटिल्यराहित्यं शरीरवाद्गमनोभिः समानाचरणमित्यर्थः, ज्ञानं परावस्तव्यवाधात्म्यबोधः,
 विज्ञानं परस्परविरुद्धानां वाक्यानामविरोधेन महावाक्यार्थावबोधः, आस्तिक्यं वेदवदनुकूलसृष्टिपु-
 राणेतिहासपञ्चरात्राद्युक्तार्थस्य कृत्स्नस्य सत्पतनान्निवयः—एतद्ब्राह्मणस्य स्वभावजनं कर्म ॥ ४२ ॥

ज्ञानं, विज्ञानं त्वनुष्ठानानुष्ठानपक्षमं निरङ्कुलं आचार्यतत्त्वनिश्चयः, आस्तिक्यमास्तिकत्वमिदमवश्यं कर्तव्यमनेनेश्वरः प्रीयत इति कर्मणि कर्मफले च श्रद्धा । चकारोऽनुक्योराचार्यवेदेश्वरेषु भयभक्तयोः समुच्चयार्थः । एवकार एतदेव ब्राह्मणस्य मुमुक्षोः कर्तव्यं कर्मैत्यवधारणार्थः । स्वभावजं केवलसत्त्वप्रकृतितो मुखादुत्पत्तितो वा प्राप्तं ब्राह्मं ब्राह्मणजातेरहं कर्तव्यं कर्मदे शालेण विदितमित्यर्थः । यद्यपि त्रैवर्णिकानां मुमुक्षूणां सर्वेषां श्रमाद्यास्तित्यान्तं कर्म मोक्षसाधनत्वेन सममेव भवति तथापि केवलं सत्त्वप्रभवानां ब्राह्मणानां गुह्यस्य साधुर्यवन्निरुक्तं कर्म स्वाभाविकं नियतं च भवति तद्विचारेण तु यत्नसाध्यमिति बोधयितुं ब्राह्मं कर्मैत्युक्तम् । तेन ब्राह्मणानामेव सत्त्वाभिर्याच्छमादिसंपत्तिस्त्वदेकसाध्ये ज्ञाने तत्फले मोक्षे चाधिकारो न त्वितरेषामिति सूचितं भवति । एषो मोक्षस्य संनिष्ठं ब्राह्मणजन्यं प्राप्तवज्रिः पण्डितैः क्षिप्रं मोक्षाय यदित्येवमिति सिद्धम् ॥ ४१ ॥

श्री० टी०—तत्र ब्राह्मणस्य स्वाभाविकानि कर्माण्याह—शम इति । शमश्चित्तोपरमः, दमो बाह्येन्द्रियोपरमः, तपः पूर्वोक्तं शारीरादि, शौचं बाह्याभ्यन्तरं, क्षान्तिः क्षमा, आर्जवमवकता, ज्ञानं शास्त्रीयम्, विज्ञानमनुभवः, आस्तिक्यमस्ति परलोक इति निश्चयः—एतच्छ्रमादि ब्राह्मणस्य स्वभावजानि कर्म ॥ ४१ ॥

स० टी०—तत्र ब्राह्मणकर्माणि स्वाभाविकगुणेन वै । कृतान्याह कृपासिन्धुः सर्वकर्मफलप्रदः ॥ १ ॥

शमोऽन्तःकरणे शान्तिर्धाष्टोन्द्रियशमो दमः ॥ तपःस्वधर्मवर्तित्वं प्रागुक्तं वा त्रिधा तपः ॥ १ ॥ बाह्याभ्यन्तरभेदेन शौचं द्विविधमीरितम् ॥ क्षान्तिर्हन्द्रसाहिष्णुत्वमाजर्जवं समचित्तता ॥ ३ ॥ ज्ञानं स्यात्साङ्ख्येदार्थविषयं सत्त्वभागजम् ॥ विज्ञानं कर्मकाण्डे स्यात्कोशिलं यश्चकर्मसु ॥ ४ ॥ ब्रह्मकाण्डेऽपि वेदान्तनिर्णयेऽतिप्रगल्भता ॥ ज्ञानं वेदान्तविषयं प्रोक्तं चैव महर्षिभिः ॥ ५ ॥ यत्पुनर्वेदिकीनां च लौकिकीनां च सर्वशः ॥ धारणं सर्वविद्यानां विज्ञानमिति कैतर्यते ॥ ६ ॥ इत्यर्थं ऋषिभिः प्रोक्तः कर्मप्रस्ताव एतयोः ॥ आस्तिक्यं सार्वत्रिकं श्रद्धा ब्रह्मात्मैक्यादिदर्शने ॥ ७ ॥ एतच्छ्रमादितनवकं शुद्धसत्त्वगुणोद्भवम् ॥ कर्म ब्राह्मणजादेस्तत्त्वत्रैकवशेन वै ॥ ८ ॥ चतुर्णामपि वर्णानां सत्त्वोद्रेकेण यद्यपि ॥ संभवन्ति गुणा एते तथापि ब्राह्मणे त्वमी ॥ ९ ॥ शुद्धसत्त्वस्वभावत्वाद्बहुल्येन भवन्ति ते ॥ साधारणतयाऽप्युक्ता धर्मा एते यतो मृणाम् ॥ १० ॥ “क्षमा सत्त्वं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः ॥ अहिंसा गुरुशुभ्रपा शास्त्रानुसरणं दया ॥ ११ ॥ आर्जवं लोभद्वन्द्वत्वं देवब्राह्मणपूजनम् ॥ अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्यं वच्यते ॥ १२ ॥ तथापि ब्राह्मणानां तु स्वभावात्सर्वदीरिता ॥ आगन्तुर्हीतरेषा स्याद्विशेषोऽयं विचार्यताम् ॥ १३ ॥ शमदमवजगादि प्रद्वकर्मगुणमत्र न हि शरणाभिहासिह प्रद्वन्योर्मिमादा ॥ अशरणशरणं श्रीकृष्ण एवास्तु नित्यं शरणमिह भवात्त्वी मज्जतो भ्रान्त्यगाथे ॥ १४ ॥ ४२ ॥

भा० टी०—ज्ञानं पुनस्तानि कर्माणीत्येपेक्षायाम् तानि व्युत्पादयितुमादौ ब्राह्मणस्य कर्माणि दर्शयति—शम इति । शमः अन्तःकरणोपरमः, दमः बाह्यकरणोपरमः, तपः यथोक्तं, शारीरादिशौचं बाह्याभ्यन्तरभेदेन ब्राह्मणैक्यवत् ॥ क्षमा क्षान्तिः आक्रुष्टस्य वादितस्य वा मनसि विकारराहित्यम्, आर्जवम् अक्रुत्वं, ज्ञानं शास्त्रीयम्—आत्मादिपदार्थज्ञानं, विज्ञानं शास्त्रार्थस्यानुभवारूढतापादनं, आस्तिक्यमास्तिक्यभावः आगमोक्तार्थेषु श्रद्धापातक, ब्रह्मकर्म ब्राह्मणजातेः कर्म स्वभावजं स्वभावप्रभेदेन गुणेन सत्त्वगुणेन प्रविभक्तमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

प० टी०—तत्र ब्राह्मणस्य स्वाभाविकानि कर्माण्याह—शमो दम इति । शमश्चित्तोपरमः, दमश्चेन्द्रियोपरमः, तपः पूर्वोक्तं शारीरादि, शौचं बाह्याभ्यन्तरवत्, क्षान्तिः क्षमा, आर्जवमवकता, ज्ञानं शास्त्रीयं, विज्ञानमनुभवः, आस्तिक्यमस्ति परलोक इति निश्चयः । एतद्ब्राह्मणस्य स्वभावजिदं कर्म ॥ ४२ ॥

रा० टी०—वत्र चतुर्दशकर्मणि कर्मात्रिभिराह—क्षम इत्यादिभिः । शमो भगवन्निष्ठा । दम इन्द्रिय-
निग्रहः । तपो ब्रह्मचर्यादि । शौचं बाह्याभ्यन्तरशुद्धिः । क्षान्तिः कोषानुत्पत्तिः । आर्जवं मनोवाक्य-
कर्मणामवैपरीत्यम् । ज्ञानं सामान्यतः । विद्वानं विशेषतः । आस्तित्वं धर्मादावस्त्यतेन प्रयोजनमिति
भावता । एतत्सर्वं स्वभावजं सहजं ब्रह्म ब्राह्मणसंवन्वि कर्मते ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ॥

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

त० टी०—क्षत्रियस्य स्वभावजं कर्माह—शौर्यमिति । शौर्यं पराक्रमः महत्करानपि रिपून् हन्तुं
निःशङ्कतया प्रवर्तनस्वभावत्वमित्यर्थः । तेजः परैरनभिभवयोग्यत्वे सति पराभिभवनसामर्थ्यं, धृतिः
युद्धादिकर्मण्यारब्धे आपद्यपि अवसादशून्यत्वं, दाक्ष्यं सर्वक्रियासाधनचतुर्थं, युद्धे चाप्यपलायनं
मरणे ज्ञातेऽपि परेभ्योऽपराङ्मुखत्वं, दानमर्थिभ्यस्तत्तदर्थत्यागः, ईश्वरभावः प्रजापालनार्थमुत्पथगा-
मिनां नियमनसामर्थ्यम्, एतत् क्षात्रं क्षत्रियस्य स्वभावजं कर्म ॥ ४३ ॥

म० टी०—क्षत्रियस्य गुणस्वभावकृतानि कर्माण्याह—शौर्यमिति । शौर्यं विक्रमो बलवत्करानपि प्रहर्तुं
प्रवृत्तिः, तेजः प्रागल्भ्यं परैरघर्षणीयत्वं, धृतिर्महत्यामपि विपदि देहेन्द्रियसंवातस्यानवसादः, दाक्ष्यं
दक्षभावः सहसा प्रत्युत्पन्नेषु कार्येष्वग्यामोदेन प्रवृत्तिः, युद्धे चाप्यपलायनमपराङ्मुखीभावः, दानमसंकोचेन
वित्तेषु स्वस्वत्वपरित्यागेन परस्वत्वापादानं, ईश्वरभावः प्रजापालनार्थमोदितव्येषु प्रभुशक्तिप्रकटीकरणं च ।
क्षत्रकर्म क्षत्रियजातेर्विहितं कर्म स्वभावजं सत्त्वोपसर्जनरजोगुणस्वभावजम् ॥ ४३ ॥

शं० टी०—एवं ब्राह्मं कर्मोक्त्वा क्षात्रं कर्माह—शौर्यमिति । शूरस्य भावः शौर्यं पराक्रमो वीराणामपि
संहारणसामर्थ्यं, तेजः प्रागल्भ्यं बलवतामपि दुर्घर्षत्वं, धृतिर्विपदि चित्तस्य वैकल्यराहित्यं धैर्यं, दाक्ष्यं
दक्षस्य भावो दाक्ष्यं प्रातिकूल्यशतेऽपि स्वकार्यनिर्वाहसामर्थ्यं च, युद्धे स्वपलायनं प्राणान्तेऽप्यपराङ्मुखत्वं,
दानं पात्रेभ्यो वित्तसमर्पणं, ईश्वरभावः धैर्यं प्रभावाविशयेन सर्वनियन्तृत्वं धर्मेण प्रजापरिपालनमित्यर्थः ।
चकारोऽपिभ्योक्तसमुच्चयार्थः । शौर्यविश्वर्यान्तं सर्वं कर्म स्वभावजं सत्त्वमिश्रजः प्रकृतितो बाह्योद्वेग-
वो वा प्राप्ते क्षात्रं क्षत्रियजातेरर्हं कर्तव्यं शास्त्रेण विहितमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

श्री० टी०—क्षत्रियस्य स्वाभाविकानि कर्माण्याह—शौर्यमिति । शौर्यं पराक्रमः, तेजः प्रागल्भ्यम्,
धृतिर्धैर्यं, दाक्ष्यं कौशलं, युद्धे चाप्यपलायनमपराङ्मुखता, दानमोदार्यम्, ईश्वरभावो नियमनशक्तिः, एव-
ञ्क्षत्रियस्य स्वभावजं कर्म ॥ ४३ ॥

स० टी०—क्षत्रियस्य स्वाभावोक्तकर्माण्यहोपुना हरिः ॥ शौर्यं पराक्रमस्तेजः प्रागल्भ्यं चान्यद्, सह-
॥ १ ॥ धृतिर्महत्यां विपदि देहाद्यनवसादनम् ॥ उपस्थितेषु कार्येषु दाक्ष्यं सन्त्यवप्रवृत्तिर्वा ॥ २ ॥
युद्धेऽपराङ्मुखीभावो दानं पात्रेषु शाकवः ॥ असंकोचेन वित्तेषु स्वस्वत्वत्यागपूर्वकम् ॥ ३ ॥ पर-
स्वत्वापादनं स्यादीश्वरे भावदर्शनम् ॥ प्रजापत्यार्थमैश्वर्यादीशिवज्येषु जन्तुषु ॥ ४ ॥ उद्धाटनं प्रभोः
शक्तेः क्षत्रियस्य स्वभावजम् ॥ विहितं क्षत्रियात्याया जातेः कर्म गुणागुगम् ॥ ५ ॥ ४३ ॥

भा० टी०—ब्राह्मणस्य कर्मोदाहृत्य क्षत्रियस्य उदाह—शौर्यमिति । शौर्यं शूरस्य भावो विक्रमो बलवत्-
करानपि प्रहर्तुं प्रवृत्तिः, तेजः प्रागल्भ्यं परैरघर्षणीयत्वं, धृतिः धारणं यथा धृत्यात्मिकेन चित्तवृत्त्या सर्वाव-
स्थामु देहेन्द्रियसंवातस्यानवसादो भवति । दक्षस्य भावो दाक्ष्यं सहसा प्रत्युपस्थितेषु कार्येषु अग्यामोदेन
योधकौशल्यं, युद्धे चाप्यपलायनं शत्रुभ्योऽपराङ्मुखत्वं चकारात्पराङ्मुखत्वात्तद्वचनम् । दानं देवेषु वस्तु

मुत्तहस्तता, ईश्वरभावश्च ईश्वरस्य भाव ईशितव्यान् प्रतिप्रभुशक्तिप्रकटीकरणम् । अनुक्तसमुच्चयार्थश्च । क्षत्रि-
क्षत्रियजातेर्विहितं कर्म स्वभावजं स्वभावप्रभवेन सत्त्वोपसर्जनरजोगुणेन प्रविभक्तमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

प० टी०—अथ क्षत्रियाणामाह—शौर्यमिति । शौर्यं पराक्रमः, तेजः प्रागल्भ्यम्, धृतिर्धैर्यम्, दाक्ष्यं
दक्षत्वं कौशलमित्यर्थः । युद्धेऽपलायनमपराह्मुत्सृष्टा, दानमौदार्यम्, ईश्वरभावो नियामकत्वशक्तिरेतत्स्व-
त्वकर्म ॥ ४३ ॥

रा० टी०—शौर्यमिति । शौर्यमभीष्टत्वं । तेजः क्षरीरगतवर्चोविशेषः । धृतिर्धैर्यं । दाक्ष्यं पाटवं । युद्धे
चाप्यपलायनं भीत्या युद्धमनिवर्तनम् । दानं गोमूतिलहिरण्यादेः पात्रे प्रतिपादनम् । ईश्वरभावो दण्ड-
नादिकर्तृत्वम् । 'प्रसह्य विताहरणं शरीरो दण्ड एव च । अक्षिपानां शासनं च तथैवार्थविनाशनम् । एष
ईश्वरभावः स्यान्न कार्यः क्षत्रिण्येतरेः' इति स्मृतेः । एतत्स्वत्वं स्वभावजं क्षत्रियसंयन्धि कर्मेत्यर्थः ।
अत्र ब्राह्मणधर्माः शमाद्योऽपि तेभ्यः किञ्चिद्ना क्षात्रधर्मेष्वपि ब्राह्माः । शमादेर्ब्राह्मणकर्मतोक्तिस्तु क्षत्रि-
यधर्माद्यपेक्षयाऽऽधिक्यविवक्षयैव । येषु चकर्मतेषु विप्रैर्भ्योऽधिकशमादयस्तेऽत्र न विवक्षिताः । किंतु तदन्य
एवेति हेतुः । क्षत्रधर्मा अपि विप्रावितु कमादूना ज्ञेयाः ॥ ४३ ॥

कृपिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ॥

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

त० टी०—वैश्यशूद्रयोः कर्माह—कृपाति । कृपिरत्रोत्पादनार्थं भूमिकर्षणं, गौरक्षस्य भावो
गौरक्ष्यं पशुपालनमित्यर्थः । वाणिज्यं वणिजः कर्म क्रयविक्रयवृत्तयः, अनेन कुसीदलक्षणं च
प्राह्यम्, एतद्वैश्यस्य स्वभावजं कर्म । परिचर्यात्मकं पूर्वोक्तवर्णव्यापारं शूद्रात्मकं कर्म शूद्रस्यापि
स्वभावजम् । एतैरेव त्रयाणां वर्णानां नित्यकर्तव्यतया वेदविद्विभिन्याविभिर्विहितानि अन्यान्यध्य-
यनयज्ञादीनि तान्यप्यनुष्ठेयतया शृण्वन्ते इति हेतुः । तत्राध्ययनयज्ञदानानि त्रयाणां साधारणानि,
ब्राह्मणस्याध्यापनादीनि श्रोण्यधिकानीति विवेकः । तथाऽऽह मनुः—“अध्यापनमध्ययनं यजनं
याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ मजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विपयेष्वमसक्तिं च क्षत्रियस्य समादिशत् ॥ पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । वणिवपयं
कुसीदं च वैश्यस्य कृपामेव च ॥ एकमेव तु शूद्रस्य मनुः कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां शूभ्र-
पामनसूया ॥” इति । शमदमाद्यस्तु यद्यपि सर्वेषां मुमुक्षूणां साधारणास्तथाऽपि ब्राह्मणस्य सत्त्वो-
द्विक्तस्वभावत्वादिशिष्योक्ताः । कदाचिदन्यथापि सत्त्वोद्वेकवशात् भवन्तीति शान्तादेव ह्यायते ।
तथोक्तं विष्णुस्मृतौ—“क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः । अहिंसा मुद्रशुभ्रा सीधौतुसरणं
तथा ॥ आर्जनं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम् । अनभ्यसृष्ट्या च तथा धर्मः सामान्य उच्यते”
इति ॥ ४४ ॥

• म० टी०—कृपाति । कृपिरत्रोत्पादनार्थं भूमिकर्षणं, गौरक्षस्य भावो गौरक्ष्यं पशुपालनं, वाणिज्यं
वणिजः कर्म क्रयविक्रयादिलक्षणं, कुसीदमध्ययनवर्गमनीयं, वैश्यकर्म वैश्यजातेः कर्म स्वभावजं तमउपस-
र्जनरजोगुणस्वभावजम् । परिचर्यात्मकं द्विनामिशूद्रात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजं रजउपसर्जनरजोगुण-
स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

शं० टी०—वैश्यशूद्रयोः कर्माह—कृपाति । कृपिः कर्षणं, गौरक्ष्यं गाः रक्षणीति गौरक्षस्तस्य भावो गौ-
रक्ष्यं, पशुपालनं वाणिज्यं वणिजः कर्म वाणिज्यं क्रयविक्रयवृत्तयश्चैव कर्म स्वभावजं रजोगुणवत्तमम्, शूद्र-

तित ऊर्वोरुपत्तितो वा प्राप्तं वैश्यं विशो आतेरहं कर्तव्यं शास्त्रेण विहितमित्यर्थः । परिचर्यात्मकं त्रैवर्णिकानां शुश्रूषालक्षणं स्वभावजं केवलतमप्रकृतितः फण्यां जन्मतो वा प्राप्तं शूद्रस्य कर्तव्यं कर्म 'शुश्रूषा शूद्रस्य' इति शास्त्रेणोक्तमित्यर्थः । ननु ब्राह्मणक्षत्रियविद्यां नियमेन कर्तव्यानि कर्माणि वक्ष्यामीत्युपक्रम्य शमो दम इति शौर्यं तेज इति प्राकृत एव धर्म उपदिश्यते, न तु वैदिकं कर्म नियमेन कर्तव्यं येन कृतेनेश्वरः प्रीयते । न हि शमशौर्यकृत्यादिकर्मणाऽनुष्ठितेनेश्वरः प्रीयते, कथमिदं विपरीतं कर्मोपदिश्यत इति चेत्सत्यं, शमा-
दिकं शौर्यादिकं च कर्म संस्थादिवदनुष्ठेयं न भवति, नापिदमीश्वरप्राप्तये च भवति, तथापि विशेष उच्यते,
'अहरहः संस्थागुणासीत् । सत्यं प्राप्तसन्निहोत्रं जुहोति । यज्ञोऽप्ययनं दानम्' इति द्विजातीनामध्ययनाभिधान-
दानमिति ब्राह्मणादीनां नियमेन नित्यं कर्तव्यं कर्म यथा शास्त्रेणोक्तं, तथा 'शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति ।
वृमेन दान्ताः किंस्वियमवधुन्वन्ति । वपसा किंस्वियं हन्ति' इति । राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानां न्यायवण्डत्वं
विभूयात्संप्राप्ते संस्थानमनित्युचिञ्चेति । कृपिवाणिज्ये च स्वयंकृते कुसीदं चेति । शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजाति-
स्तस्यापि सत्यनकोधः परिचर्या वेधरेपामित्येवान्यापि कर्माण्यनुष्ठेयत्वेन शास्त्रेणोक्तानि भवन्ति । किं
स्वयमत्र विशेषः—ब्राह्मणादीनां संस्थापसनाग्निहोत्रादिरविभक्तो वर्णाभ्रमधर्मः । शमशौर्यकृत्यादिस्तु प्रत्येकं
विभक्तौ जातिधर्मः । ततो जातिवर्णाभ्रमनिमित्तकौ द्वावप्येतौ धर्मौ नित्यौ श्रौतस्मार्तकर्मवत्प्रवृत्तौ भवतौ
न तु सयोरङ्गाङ्गिमात्रः सिध्यति । उभावपि शास्त्रेण नियतत्वान्मुमुक्षूणां नियमेनानुष्ठानव्यायेव । नैवात्र किं-
चिद्विपरीतमस्ति गृहीतुं बोधयितुं वा । ततो जातिधर्मं नियमेन वर्तमानेर्ब्राह्मणादिभिः स्वस्ववर्णाभ्रमाहं कर्म
वैदिकं नित्यमनुष्ठानं नान्यथा । कर्मणः प्रधानत्येकदेशानुष्ठानेन साकस्यासंभवात् तत्कलं सिध्यति । न
हि श्रौतस्मार्तयोरन्यतस्तदनुष्ठानेन संस्कारसाकस्यं सिध्यति वद्वत् । ततः स्वधर्मे शमादौ शौर्यादी सदा वर्त-
मानैरेव ब्राह्मणक्षत्रियादिभिः संस्थाप्रदोत्रादि नित्यं कर्म नियमेन कर्तव्यमिति सिद्धम् ॥ ४४ ॥

श्री० टी०—वैश्यगृह्योः कर्माह—कृपीति । कृपिः कर्पणं, गाः रक्षतीति गोरक्षस्वस्य भावो गोरक्ष्यं
पाशुपाल्यमित्यर्थः । क्षाणिक्यं क्रयविक्रयादि, एतद्वैश्यस्य स्वभावजं कर्म । त्रैवर्णिकपरिचर्यात्मकं शूद्रस्यापि
स्वभावजं कर्म ॥ ४४ ॥

स० टी०—भूमेर्बिलेखनं सत्यनिष्पत्त्यर्थं कृपिः स्मृतः ॥ गोरक्ष्यं पाशुपाल्यं स्याद्वाणिज्यं क्रयविक्रयो
॥ १ ॥ वैश्यजातेरिदं कर्म गुणनिष्ठस्वभावकम् ॥ द्विजशुश्रूषणं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ १ ॥ ४४ ॥

भा० टी०—क्षाणं कर्म व्युत्पाद्य वैश्यशूद्रयोस्तदर्थयति—कृपिरिति । कृपिर्भूमेर्बिलेखनं, गां रक्षतीति
गोरक्षः तस्य भावो गोरक्ष्यं पाशुपाल्यं, वाणिज्यं क्रयविक्रयादिलक्षणं वणिक्कर्म, कृपिर्गोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्य-
जातेः कर्म स्वभावजं स्वभावप्रसवेन तमवयवसर्जनरजोगुणेन प्रविभक्तम् । परिचर्यात्मकं द्विजातिशुश्रूषा-
स्वभावं कर्म शूद्रस्य शूद्रजातेरपि स्वभावजं स्वभावप्रसवेन रजउपसर्जनतमोगुणेन प्रविभक्तमित्यर्थः ॥ ४४ ॥

प० टी०—अथ वैश्यशूद्रयोराह—कृपीति । कृपिर्लोक्यादिभूमिभूषणं, गां रक्षतीति गोरक्षस्वस्य भावो
गोरक्ष्यं पाशुपालनम्, वाणिज्यं क्रयविक्रयादि, एतद्वैश्यस्य । तथा चित्रास्य परिचर्यात्मकं सेवनात्मकं
शूद्रस्य ॥ ४४ ॥

रा० टी०—कृपिरिति । कृपिः कर्पणेन जीवनं, गां पालनं वाणिज्यं वर्तया जीवनम् । अत्रापिक्षात्रि-
यादूनाः शमादयोऽपि वैश्यकर्मण्येव ब्राह्मणः । परिचर्यात्मकं त्रैवर्णिकसेवाकम् । अत्रापि वैश्यादूनशमादिकं
च ब्राह्मणम् ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिस्तः संसिद्धिं लभते नृः ॥

स्वकर्मनिस्तः सिद्धिं यथा चिन्दति तच्छ्रण ॥ ४५ ॥

त० टी०—एवं नियतस्वस्ववर्णाश्रमादिकर्मणः पुरुषार्थोपायत्वमित्याह—स्वे स्वे इति । स्वे स्वे यथोदितवर्णाश्रमोद्देशेन विहिते कर्मणि अभिरतः सम्यगनुष्ठानपरः नरो मनुष्यः संसिद्धिं सम्यग्ज्ञानयोग्यतां लभते । ननु तर्हि स्वकर्मनिरताः प्रायः सर्वेऽपि दृश्यन्ते, सम्यग्ज्ञानिनः कथं न भवन्ति ? भवन्ति चेत्कश्चिदपि संसारी न स्वादिति चेत्तत्राह—स्वकर्मणि निरतो नितरां रतः श्रद्धयाऽनुष्ठानं कुर्वन् यथा येन प्रकारेण सिद्धिं ज्ञाननिष्ठां विन्दति लभते तत्तत्प्रकारं-शृणु ॥ ४९ ॥

म० टी०—तदेवं वर्णानां स्वभावानु गौणाख्या धर्मा अभिहिताः । अन्येऽपि धर्माः शास्त्रेष्वाज्ञाताः । बहुलं भविष्यपुराणे—‘ धर्मः श्रेयः समुद्दिष्टं श्रेयोऽभ्युदयलक्षणम् । तत्तु पञ्चविधः प्रोक्तो वेदमूलः सनातनः ॥ वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेक आश्रमाणां मतः परम् । वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणो नैमित्तिकस्तथा ॥ वर्णाश्रमैकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते । वर्णधर्मः स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप ॥ यत्स्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः प्रवर्तते । स स्वस्वाश्रमधर्मः स्थात्रिश्चादृष्टादिको यथा ॥ वर्णाश्रमधर्मत्वं च योऽभिहितं प्रवर्तते । स वर्णाश्रमधर्मस्तु मौन्यवाचा मेस्तथा यथा ॥ यो गुणेन प्रवर्तते गुणधर्मः स उच्यते । यथा मूर्धाभिपिक्तस्य प्रज्ञानं परिपालनम् ॥ निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते । नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्धर्मा ॥’ इति । अधिकारोऽत्र धर्मः । चतुर्विधं धर्ममाह हारीवः—‘ अथाश्रमिणां पृथग्धर्मो विशेषधर्मः समानधर्मः कृत्तधर्मश्च’ इति । पृथगाश्रमानुष्ठानात्पृथग्धर्मो यथा चतुर्वर्ण्यधर्मः । स्वाश्रमविशेषानुष्ठानात् विशेषधर्मो यथा नैष्ठिकयाचावरात्र्यादिकचातुराश्रम्यसिद्धानाम् । सर्वेषां यः समानो धर्मः, स समानधर्मो नैष्ठिकः कृत्तधर्म इति । नैष्ठिको प्रज्ञापरिविशेषः, यायावरो गृहस्थविशेषः, आनुज्ञायिको वानप्रस्थविशेषः, चातुराश्रम्यसिद्धो यतिविशेषः । सर्वेषामिति वर्णानामाश्रमाणां च । तत्रत्यो यथा महाभारते—‘ आनुशंस्यमाहिंसा चाप्रमादः संविभागीता । आद्वकर्मवितयेयं च सत्यमक्रोष एव च ॥ स्वेपु दारेषु संतोषः शौचं नित्याऽनसूयता । आत्महानं वितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप’ इति । सर्वाश्रमसाधारणस्तु प्रागुदाहृतः । निष्ठा संसारसमाप्तिस्तत्प्रयोजनो नैष्ठिकः । मोक्षहेत्वात्महानौत्पत्तिप्रतिवन्धकप्रत्यवायपरिहाराय निष्कामकर्मानुष्ठानं कृत्तधर्म इत्यर्थः । आश्रमाश्च शास्त्रेषु चत्वार आज्ञाताः । यथाह गौतमः—‘ वस्याश्रमविकल्पमेके ब्रुवते ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैदानसः’ इति । आपस्तम्बः—‘ चत्वार आश्रमाः गार्हस्थ्यनाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थमिति । तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्ययो वर्तमानः क्षेमं गच्छति’ इति । वसिष्ठः—‘ पत्नार आश्रमा ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थपरिव्राजकास्तेषां वेदमधित्य वैदो वेदान्वाऽविशीर्णप्रज्ञचर्यो भूमिच्छेत्तमावसेत्’ इति । एवं तेषां पृथग्धर्मा अप्याज्ञाताः । तथा फलमप्यज्ञानामानावत् । यथाह मनुः—‘ श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुविष्टम् हि मानवः । इह कीर्तमवब्रूवति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्’ इति । अनुत्तमं सुखमिति यथाप्राप्तवत्तत्फललक्षणार्थम् । आपस्तम्बः—‘ सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परमभारिमितं सुखं ततः परिपृच्छी कर्मफलशोभेण जातिं रूपं वर्णं वर्लं वृत्तं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यन्ते’ इति । गौतमः—‘ वर्णा आश्रमाश्च स्वधर्मनिष्ठा प्रेत्य कर्मफलस्तुभूय एतः शोभेण विशिष्टदेशजविकृष्टरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधतो जन्म प्रविपद्यन्ते प्रियञ्चो विपरीता नश्यन्ति’ इति । अत्र शोभन्तेन मुक्तयोविष्टोन्मादिकर्मातिरिक्तं चित्रादिकर्मानुष्ठायकविरतमुच्यते, नतु पूर्वकर्मण एकदेश इति स्थितम्—‘ कृतात्पयेऽनुसयवान्दृष्टश्रुतिभ्यां यथेदमेतत् च’ इत्यत्र । भट्टारण्यकम्—‘ गौतमीयेऽपि वच्छेत्तस्माच्चित्राचयेक्ष्वा’ इति । विपञ्चः सर्ववर्णमिति यथेष्टेष्टाः ‘विपरीता नरकादौ जन्म प्रविपद्य विनश्यन्ति कृमिर्कीटादिभावेन सर्वपुरुषार्थेभ्यो भ्रमयन्त इवधर्मः । हारीवः—‘ काम्यैः फेपिपुष्टानैस्त्वपोभिर्लज्ज्या लोकानुपरायास्त्रिजन्म । कामैर्मुक्ताः सत्यपक्षाः सुतानास्त्वपोनिष्ठाश्चान्यान्त्यन्ति लोकान्’ इति । अत्र कामनासदसद्भावनिबन्धनः ‘ फलभेदो दाशितः

भविष्यपुराणे—‘फलं विनाप्यनुष्ठानं नित्यानामिष्यते स्फुटम् । काम्यानां स्वफलार्थं तु दोषघातार्थमेव तु ॥
नैमित्तिकानां करणे त्रिविधं कर्माणां फलम् । क्षयं केचिदुपात्तस्य दुरितस्य प्रचक्षते ॥ अनुत्पत्तिं तथा चान्ये
प्रत्यवायस्य मन्वते । नित्यां क्रियां तथा चान्ये अनुपपन्नफलं विदुः ॥’ इति । अन्ये आपस्तम्बादयः—
‘तद्यथा आत्रे फलार्थं निमित्ते’ इत्यादिवचनैरानुपपन्नफलतां नित्यकर्मणो विदुः । श्रुतिश्च ‘त्रयो धर्मस्मरणा
यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव । द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी । तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाच-
र्यकुलेऽवसादयन्’ इति गृहस्थवानप्रस्थब्रह्मचारेण उक्त्वा ‘सर्वं एते पुण्यलोका भवन्ति’ इति तेषामन्तः-
करणशुभ्यामेव मोक्षाभावमुक्त्वा शुद्धान्तःकरणानेपामेव परिब्राजकभावेन ज्ञाननिष्ठया मोक्षमाह—‘ब्रह्म-
संस्थोऽमृतत्वमेति’ इति । तदेवं स्थिते ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थो वा सुमुखः फलभिसंस्थित्यानेन भगवद्-
पूजनुष्ठाना—स्वे इति । स्वे स्वे तत्तद्गुणान्नमविहिते न तु स्वेच्छमात्रतो कर्मणि श्रुतिस्मृत्युदिते अभिरतः
सम्यगनुष्ठानपरः संसिद्धिं देहेन्द्रियसंपातस्याशुद्धिक्षयेन सम्यग्ज्ञानोत्पत्तियोग्यतां लभते नरः वर्णाश्रमाभि-
मानो मनुष्यः, मनुष्याधिकरिक्तात् कर्मकाण्डस्य । देवादीनां वर्णाश्रमाभिमानित्वाभावाद्युक्त एव तद्धर्मवचन-
धिकारः । वर्णाश्रमाभिमानानपेक्षे तूपासनादावधिकारस्तोषामप्यस्तीति साभितं देववाधिकरणे । ननु बन्धहेतूनां
कर्मणां कथं मोक्षहेतुत्वम् ? उपायविशेषादित्याह—स्वकर्मनिरतः सिद्धिमुक्तलक्षणां यथा येन प्रकारेण
विन्दति तच्छृणु, श्रुत्वा तं प्रकारमवधारयेत्यर्थः ॥ ४५ ॥

श्री० टी०—एवं ब्राह्मणादीनां नियमेन कर्तव्यानि ज्ञमादीनि कर्माणि तनुपलब्धितानि ‘यज्ञो दानं तपः
कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्’ इति श्रौतानि स्मृतानि चैषदिश्य सत्त्वशुद्धये तेषामीश्वरार्पणनुष्ठाना कर्तव्यत्वं
बोधयितुं प्रवृत्तिसिद्धये फलं प्रोच्यति—स्व इति । नरो ब्राह्मणादिर्मनुष्यरधिकारी पुरुषः स्वे स्वे ज्ञाने इम
इत्यादिना विमज्ज्य प्रदर्शिते स्वकृते कर्मणि ज्ञमादौ श्रौतस्मार्त्तं चाभिरतो नियमेन परिनिष्ठितो
वगत्याविर्भावयोग्यतालक्षणां विन्दति । ननु बहुभिर्ब्राह्मणादिभिरजलं कर्म क्रियते, न तेषां तत्कर्मानुष्ठानेन
सत्त्वशुद्धिरुक्तलक्षणा दृश्यते, कथं कर्मण्यभिरतः सत्त्वशुद्धिं लभत इत्याकाङ्क्षायाम् ‘यो वा एतदश्वरं गार्ग्य-
विदित्वा अग्निमहोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि कर्षतद्वसाण्यन्तदेवास्य तद्वसति’ इति न्यायेन पूर्वोक्त-
ज्ञमाद्यभावेन कामसंकल्पादकाराभिनिवेशेन च कर्माण्यनुविष्टवः सत्त्वशुद्धिर्न सिध्यतीति बोधयितुमाह—
स्वकर्मैति । शुभशुभ्राह्मणादिवृत्तजलमदमादिसंपन्नः स्वकर्मनिरतः इत्यं श्रुतिस्थविभ्यां विहिते वैदिके कर्मणि
निरतो निष्ठितः, सिद्धिं सत्त्वशुद्धिं यथा येन प्रकारेण विन्दति तं प्रकारं शृणु श्रुत्वा तवानुष्ठाने मतिं
कुर्वित्यर्थः ॥ ४५ ॥

श्री० टी०—एवंभूतस्य ब्राह्मणादिकर्मणो ज्ञानहेतुत्वमाह—स्वे स्व इति । स्वत्वाधिकारविहिते कर्मणि
अभिरतः परिनिष्ठितो नरः संसिद्धिं ज्ञानयोग्यतां लभते । कर्मणां ज्ञानप्राप्तिप्रकारमाह—स्वकर्मैविसाधनं ।
स्वकर्मपरिनिष्ठिता यथा येन प्रकारेण सत्त्वज्ञानं लभते तं प्रकारं शृणु ॥ ४५ ॥

स० टी०—वदेवं स्वत्ववर्णे यो विहितं कर्म शास्त्रतः ॥ अनुविष्टवि । तस्यास्ति सम्यगसिद्धिर्भूतात्मनः
॥ १ ॥ अचान्तरफलं चैव स्वत्वकर्मानुतिष्ठताम् ॥ स्वर्गादि भवतिलेखं पुराणे देव्यावे स्मृतम् ॥ २ ॥
प्राजापत्यं ब्राह्मणानां स्थूलं स्थानं क्रियावताम् ॥ स्थानमेन्द्रं क्षत्रियाणां संयमेष्णुर्गर्जनाम् ॥ ३ ॥
वैश्यानां गारुडं रथानं स्वधर्ममनुवर्तिनाम् ॥ गान्धर्वं यद्राजादीनां परिचर्यानुवर्तिनाम् ॥ ४ ॥ एवं धीनु-
द्धमभावे तत्फलं धर्मानुसारिणाम् ॥ फलभिक्षाभिसंस्थागान्धीशार्पणभिया कृतम् ॥ ५ ॥ विचक्षणप्राप्तमनो-
धेन मोक्षहेतुः स्वकर्म तत् ॥ अवस्तप्यन्त्या फलासक्तिमीश्वरार्पणेवेष्टता ॥ ६ ॥ कर्म कर्तव्यामित्याह इत्यं

श्रीपरमेश्वरः ॥ यथोक्तलक्षणे स्वे स्वे तत्तद्गुणं तथाऽऽश्रमो ॥ ७ ॥ विहिते वैदिके स्मार्ते कर्मण्यभिरतः पुमान् ॥ यथाशास्त्रमुत्तानपरोऽहंकारवर्जितः ॥ ८ ॥ कर्मानुष्ठानतः सिद्धिं चित्तागुद्विपरिक्षयात् ॥ विज्ञानोत्पत्तियोग्यत्वं लभतेऽविक्रमो नरः ॥ ९ ॥ वर्णाश्रमाभिमानित्वान्मुन्येऽजाभिचारवान् ॥ न देवा-
दिर्यतस्तेषां देवादीनां न चास्त्यसौ ॥ १० ॥ वर्णाश्रमाभिमानोऽतो नास्ति कर्माधिकारता ॥ वर्णाश्रमा-
भिमानान्तपक्षे ब्रह्मावबोधने ॥ ११ ॥ तेषामप्यधिकारोऽस्त्युक्तं शारीरके स्फुटम् ॥ नन्वेषां बन्धहेतूनां मोक्षकारणता कथम् ॥ १२ ॥ कर्मणामिति चेदित्यमुपायान्तरतः शृणु ॥ यथोक्तलक्षणां सिद्धिं येनोपा-
येन विन्दति ॥ १३ ॥ तच्छृणु त्वं तर्माकर्ण्य प्रकारमवधारय ॥ १४ ॥ ४९ ॥

भा० टी०—एतेषां जातिविहितानां कर्मणां सन्यगनुष्ठितानां मोक्षपेक्षामन्तरेण विहितत्वादेवानुष्ठाना-
स्त्वरप्राप्तिः फलम् “सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति”, “वर्णा आश्रमा स्वधर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमुभूय, ततः
क्षेपेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुः श्रुतवृत्तचित्तमुखमेवसो जन्म प्रतिपद्यन्ते”, “यस्तु सन्यकरोत्येतं गृहस्थः
परमं विधिम् । तद्वर्णबन्धुकोऽसौ स्वेकानामेत्यनुत्तमान् ॥ यत्स्वेवं नियतं चर्या वानप्रस्थश्चरेन्मुनिः ।
दहत्यग्निहोषाञ्जबेलोकांश्च शाश्वतान् ॥ मोक्षाश्रमं यश्चरते यथोक्तं शुचिः सुसंकल्पितवृद्धियुक्तः ।
अनिन्धनं ज्योतिरिष प्रज्ञान्तं स ब्रह्मलोके श्रयते द्विजातिः ॥” इत्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणेभ्यः । एतेषामेव मोक्षा-
पेक्षया सन्यगनुष्ठितानां यत्फलं तद्वत्कुमारभवे—स्वे स्व इति । स्वे स्वे यथोक्तभेदे कर्मण्यभिरतः तत्सरोऽप्ये-
कतः पुरुषः संसिद्धिं स्वकर्मानुष्ठानादगुद्विष्ये सति कार्येन्द्रियमनसां ज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां लभते
प्राप्नोति । कथं लभते इत्यपेक्षायामाह—स्वकर्मनिरतः । यथा येन प्रकारेण सिद्धिमुक्तलक्षणां विन्दति लभते
तत्तथा शृणु ॥ ४९ ॥

प० टी०—अथ ब्राह्मणादिकर्मणो ज्ञानहेतुत्वमाह—स्वे स्वे कर्माणीति सार्धेन । स्वे स्वे वर्णोचितकर्म-
ण्यभिरतः अथवा प्रवृत्तः सन्नरः संसिद्धिं लभते । स्वकर्मनिरतः पुरुषो यथा येन प्रकारेण सिद्धिं प्राप्नोति
तन्मया बह्यमाणं शृणु ॥ ४९ ॥

रा० टी०—अस्त्वेवं ब्राह्मणादिकर्म प्रविभक्तं ततः किमिष्यत आह—स्वे स्व इति । प्रागुक्तब्राह्मणादि-
स्वकर्मिण्ये कर्मण्यभिरतः स्वस्वकर्मणा भगवदाराधनं कुर्वन्नरः संसिद्धिं मुक्तिं ज्ञानद्वारा लभते प्राप्नोति ।
एवमेव सन्यग्निहावयितुं प्रतिजानीते—स्वकर्मति । विन्दति लभते । तर्प प्रकारं शृणु इति ॥ ४९ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ॥

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

त० टी०—तमेवाह—यत इति । यतः सर्वज्ञात्सर्वज्ञकर्तृत्वमवबो ह्येवोभूतानां ब्रह्मादिकीटान्तानां
प्राणिनां प्रवृत्तिरुत्पत्तिर्येषा वा भवति, येनैकेन सर्वमिदं जगत्तत् व्याप्तं, स्वकर्मणा स्वाभाविकेन वैदि-
केन कौकिकेनापि तमभ्यर्च्य फलकर्तृत्वसम्पण्णेन पूजयित्वा मानवः तत्पसादात् सिद्धिं तत्त्वज्ञाननि-
ष्ठालक्षणां विन्दति लभते ॥ ४६ ॥

म० टी०—यतो मायोपाधिकचैव न्यायानन्दघनात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेरीश्वरादुपादानात् निमित्ताद्य सर्वान्तर्यामिणः
प्रवृत्तिरुत्पत्तिर्मायामयी स्वाप्रयादीनामिव भूतानां मयनधर्मणामाकाशादीनां येन चैकेन सद्भूयेण स्फुरण-
रूपेण च सर्वमिदं दृश्यजावं जिह्वपि कालेषु तवं व्याप्तं स्यात्सन्धेवान्तर्यामिवित् कल्पितस्याधिष्ठानानति-
रेफात् । तथा च श्रुतिः—“यतो इह जगमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्रयन्त्यभिसंवि-
शन्ति । संदिग्निस्मासव । सद्ग्रहोति” इति । अत्र यत इति प्रकृतो पञ्चमी । यतो येनेति चैकत्वं विवक्षितम् ।
“आनन्दो प्रकृतेः व्यञ्जनात् । आनन्दमूढेन सास्त्वमाने भूतानि जायन्ते ।” इति च तस्य निगद्यवाम्यम् ।

‘मायां ॥ प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु भेदधरम्’ इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च मायोपाधिलाभः । “यः सर्वज्ञः सर्व-
वित्” इत्यादिश्रुत्यन्तरात्सर्वज्ञत्वादिलाभः । एवं च यौत एवायमर्थो भगवता प्रकाशितः ‘यतः प्रवृत्तिर्भूतानां
येन सर्वमिदं सतम्’ इति । तन्मन्तर्यामिणं भगवन्तं स्वकर्मणा प्रतिवर्णाश्रमं विहितेनाभ्यर्च्य तोषयित्वा
तत्प्रसादावैकात्म्यज्ञाननिष्ठायोग्यतात्तद्वृत्त्यां सिद्धिमन्तःकरणशुद्धिं विन्दति मानवः । देवादिस्तूपासना-
माश्रेणेति भावः ॥ ४६ ॥

श्री० टी०—‘प्रह्लादविः’ इति ‘कर्ता क्रियाणां स स बुज्यते ऋतुः । स एव तत्कर्मफलं च तस्य ।
कुलादि यत्साधनमप्यशेषम् । हरेर्न किंचित्त्वचविरिक्तमस्ति ॥’ इत्येतच्छ्रुतिस्मृत्युक्तरीत्या मुख्यआधिकारिणी
विदुषः कर्तृकर्मवत्साधनसुखसुखचक्षुरोद्भासाभ्याविषु प्रह्लादस्याऽन्याद्वयया कर्मण्यनुतिष्ठत इष्टानिष्टत्वमि-
त्रामित्रवदुष्टादुष्टत्वादिष्वप्यमुद्धिः क्रमेण विनश्यति । तन्नाशप्रज्ञागद्वेषादिदोषा नश्यन्ति । तन्नाशप्रज्ञाद्वेषमप्यभि-
माना दोषा नश्यन्ति । तेषां रजस्तमोदोषाणां सर्वेषां क्रमेण निःशेषविनाशो सत्त्वं स्वयमेव प्रसीदतीति बोध-
यितुं सर्वस्य सगुणब्रह्ममात्रत्वज्ञानवतः पण्डितस्य तथा चक्षुराधनमेव कुर्वतः सत्त्वशुद्धिः सिध्यतीत्याह-
यत इति । ‘जन्माद्यस्य यतः’, ‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’ इत्युक्तप्रकारेण यतो यस्मान्मायोपाधिका-
द्वेषाणः सदाशाश्रूयान्माकाशादीनां तत्कार्याणां च प्रवृत्तिरत्यन्तिसूक्ष्मासाक्षाद्विवक्ष्यमादिदं सर्वं सत्सुख-
भमित्यर्थः । किंच येन कारणभूतेन ब्रह्मणा तत्कार्यमिदं जगत्सर्वं तत् व्यक्तं सृष्टं पटवद्वहिरन्तश्च पूर्णं
भवति तं सर्वतत्त्वं परमात्मानं सुखसुखामिहोत्रमन्त्रवन्नादेषु सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिर्भूत्वा मानवोऽधिकारी विश्रान्त
स्वकर्मणा श्रौतस्मार्तादिना सात्त्विकेनाभ्यर्च्य श्रद्धाभाकिम्या नियमेनेष्टा सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिं च कृत्वा सिद्धिं
सत्त्वशुद्धिलक्षणं विन्दति—सत्त्वशुद्धिं चत्कलभूतां ज्ञानसिद्धिं च प्राप्नोतीत्यर्थः । यतः प्रवृत्तिर्येन सर्वमिति-
विशेषणद्वयं सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिकर्तव्यत्वबोधनार्थमेवेत्यवगम्यते । अधिकारिणां मध्यमादिभेदे तु “यः सर्वेषु
भूतेषु विद्वन्सर्वेश्वरो भूतेभ्योऽन्तरः” इत्यादिश्रुत्युक्तरीत्या यतो यस्माद्भूतानां ब्रह्मादिस्त्वान्मानानां प्रवृ-
त्तिश्चेष्टा सिध्यति—यः सर्वं प्रवर्तयतीत्यर्थः । सर्वं जगदिदं येन तत् व्याप्तं यः सर्वोपरक इत्यर्थः । तमग्नी-
न्श्रित्यादिविवेकतारुणेण वर्तमानं सर्वनिन्यन्तारं परमेश्वरं स्वकर्मणाऽभ्यर्च्य श्रद्धाभाकिम्यामग्न्यादिदेवान्म-
र्त्तान्परमेश्वरदुष्टा इष्टा तदनुमहेण मानवो मुमुक्षुरधिकारी ब्रह्मणादिः सिद्धिं सत्त्वशुद्धिं तत्कलभूतां ज्ञानसिद्धिं
च क्रमेण विन्दतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

श्री० टी०—तमेवाह—यत इति । यतोऽन्तर्यामिणः परमेश्वरभूतानां प्राणिनां प्रवृत्तिश्चेष्टा भवति,
येन ॥ कारणतमना सर्वमिदं विश्वं तत् व्यक्तं, श्रीमेश्वरं स्वकर्मणाऽभ्यर्च्य पूजयित्वा सिद्धिं ल-
भते मनुष्यः ॥ ४६ ॥

स० टी०—मायोपाधिरुचैवत्यानन्दैकधनरूपतः ॥ सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः श्रीपरमेश्वरतो यतः ॥ १ ॥ उपा-
दानाग्निमिवाद्य सर्वान्तर्यामिणः सतः ॥ मायापयी समुत्पत्तिर्भूतानां जनिधारिणाम् ॥ २ ॥ सादीनां
भौतिकानां च कल्पिमानां गृयात्मनाम् ॥ सत्तास्फुरणरूपेण येन चैकेन सर्वया ॥ ३ ॥ इत्यजगत्सर्वं सर्वं
सदा व्याप्तमसद्विना ॥ नाविरेकोऽस्त्यविष्टानात्कल्पितस्य मनागपि ॥ ४ ॥ यतो ज्ञेयादिनाम्योक्तो दार्ढ्य-
तोऽर्थ इह स्फुटम् ॥ तन्मन्तर्यामिणं विष्णुं स्ववर्णमक्षरकर्मणा ॥ ५ ॥ तोषयित्वाऽऽत्मविज्ञानोत्पत्तियोग्यत्वे-
लक्षणात् ॥ तत्प्रसादाद्धि यः शुद्धिसिद्धिं वा लभते नरः ॥ ६ ॥ वर्णाश्रमं यमविकृत्य धियो विमुक्तये
धर्मः श्रुतो विहित ईशसमर्चनामयः ॥ तेनेश्वरं यमधिकारिजनः समर्च्य प्राप्नोति सिद्धिमनितं .
तमहं प्रपद्ये ॥ ७ ॥ ४६ ॥

भा० टी०—तमेव प्रह्लादं दर्शयति—यत इति । यतः यस्मात् जगज्जननादन्तर्यामिणो भूतानां प्राणिना .

प्रवृत्तिरुत्पत्तिश्चेष्टा वा स्यात्, येनश्वरेण सर्वं कृत्स्नमिदं तत् न्यासं कार्यस्य कारणसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावात् । तं परमात्मानं स्वकर्मणा प्रतिवर्षं पूर्वोक्तं अभ्यर्च्य सम्यक् पूजयित्वा आराध्य मानवोऽधिकृतो मनुष्यः सिद्धिं केवलज्ञाननिष्ठयोग्यतालक्षणा विन्दति लभते ॥ ४६ ॥

प० टी०—यत् इति । यतो यस्मादन्तर्यामिरूपाभूतानां देवानां चेष्टा भवति । येन कारणात्मेनैदं दृश्यमानं सर्वं तत् विस्तारितं तमोश्चरं कर्मणा वर्णाश्रमोचितेनाभ्यर्च्याराध्य मानवः सिद्धिं विन्दति लभते । अस्मिन्नर्थे पूर्वं बह्वच्यः श्रुतय उपन्यस्ताः सन्ति ॥ ४६ ॥

रा० टी०—यत् इति । यतो यस्माद्भगवतो भूतानां प्राणिनां प्रवृत्तिश्चेष्टा भवति । येन च भगवता इदं सर्वं चराचरात्मकं जगत्तत् व्याप्तं तं भगवन्तं स्वकर्मणा समभ्यर्च्य सम्यग्मादिपूर्वकं पूजयित्वा सिद्धिं मोक्षं विन्दति लभते मानवः मनुष्यो ब्राह्मणमदिरित्यर्थः ॥ ४६ ॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ॥

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

त० टी०—यत् परमेश्वरापनलक्षणधर्मस्य तत्पसादात् सिद्धिहेतुत्वपत्तः सर्वजनस्य तथाविधः स्वधर्म एव श्रेयस्कर इत्याह—श्रेयानिति । स्वधर्मः स्वेनोपादातुं योग्यः परमात्मापनरूपो धर्मः विगुणः किंचिदङ्गविहीनोऽपि स्वनुष्ठितात्सम्बन्धानुष्ठितादपि परधर्मात् श्रेयान् प्रशस्यतरः । यत् स्वभावनियतं पूर्वोक्तस्वभावेन नियतं नियमेनोक्तं कर्म युद्धादिकं कुर्वन्नपि किल्बिषं न प्राप्नोति ॥ ४७ ॥

म० टी०—यत् स्वधर्म एव मनुष्याणां भगवत्प्रसादहेतुरतः—श्रेयानिति । परधर्मात्सम्बन्धानुष्ठितादपि श्रेयान् प्रशस्यतरः स्वधर्मो विगुणोऽसम्बन्धानुष्ठितोऽपि । तस्मात् क्षत्रियेण सत्त्वा त्वया स्वधर्मो युद्धादिदेवानुष्ठेयो न परधर्मो भिक्षादनोदिरित्यभिप्रायः । ननु स्वधर्मोऽपि युद्धादिर्न्युवधाविप्रत्यवायेदुत्तमानुष्ठेय इति नेत्याह—स्वभावनियतं पूर्वोक्तं शौर्यं तेज इत्यादि स्वभावजं युद्धादि कर्म कुर्वन् किल्बिषं पापं बन्धुवधादिनिमित्तं न प्राप्नोति । तथा च प्राग्वाक्यार्थं सुखदुःखे समे कृत्स्नश्च विहितवशोविद्योमाङ्गपशुर्हिंसाया इव विहितयुद्धाङ्गबन्धुर्हिंसाया अपि प्रत्यवायेतुंवाभावात् । तथा चोक्तमपस्तम्बेन ॥ ४७ ॥

श्री० टी०—ननु ब्राह्मणस्य भिक्षणे निमित्तमाचार्यो यदो विवाह इति मुमुक्षोश्चिच्छुद्धिं तत्फलं वाऽऽनुमिच्छते यदादिः प्रतिमहद्रव्यैकसाध्यत्वात्प्रतिमहत्स्यैव पापहेतुत्वात् प्रतिगृहीतद्रव्येण क्रियमाणयागपेक्षया ब्रह्मचारिष्वदमिगृह्य शुद्धवृत्त्याऽवस्थानमेव तस्य शोभकं निष्पापकं च भवति । तथा हिंसाप्रधानत्वाद्युद्धस्य तत्साध्येन द्रव्येण क्रियमाणराजसूयादियामाद्यनुष्ठानपेक्षया शुद्धिकामस्य क्षत्रियस्य प्रतिमहद्भीरुब्राह्मणवच्छुद्धवृत्त्याऽवस्थानमेव शोभकं निष्पापं च भवतीत्याशङ्क्यामाह—श्रेयानिति । परधर्मात्परो जात्या वर्गेन वाऽऽश्रमेण वा स्वस्मान्निष्ठः स्वविलक्षणस्तस्य धर्मादाचारात्स्वनुष्ठितादङ्गलोपराहित्येन सम्यगाचरितात् विगुणोऽपि स्वलक्षणगौचर्यहीनोऽपि दोषवानपि ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य वाऽन्यस्य वा स्वधर्म एव श्रेयान् श्रेष्ठो निःश्रेयसस्य साधनं भवति, न तु सम्बन्धानुष्ठितोऽपि परधर्मस्वस्याविहितत्वादित्यर्थः । तदेव विप्रव्यति—स्वभावेति । ब्राह्मणस्याधिकारः प्रवचनयाजनप्रतिपदाः । न दोषो हिंसायामाद्वेऽन्यत्रेत्येवं स्वभावनियतं स्वभावस्वतन्त्रातिस्तमुदिरित्य नियतं शास्त्रेण विहितं कर्म प्रतिमहं तदुपाजित्वद्रव्येण यागाद्यनुष्ठानं च ब्राह्मणः, युद्धादिलक्षणं कर्म तदुपाजित्वद्रव्येण यागाद्यनुष्ठानं च क्षत्रियः कुम्भिकिल्बिषं चित्तशुद्धिप्रतिबन्धकं नाप्नोति । स्वभावेः स्वधर्मस्य स्वाश्रमस्य विहितधर्मानुष्ठानेन पुरुषः पापी न भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

श्री० टी०—स्वकर्मणोविशिष्टेणस्य फलमाह—श्रेयानिति । विगुणोऽपि स्वधर्मः सम्यगनुष्ठितादपि पर-

धर्माच्छ्रेयाच्छ्रेयः । न च बन्धुत्ववादिभिर्युक्ताद्युद्धादेः स्वधर्माद्विश्राटनादिपरधर्माः श्रेष्ठ इति मन्तव्यम्, यतः स्वभावेन पूर्वोक्तेन नियतं नियमेनोक्तं कर्म कुर्वन्किञ्चित् न प्राप्नोति ॥ ४७ ॥

स० टी०—यतः स्वधर्म एवास्ति भगवतोपकारणम् ॥ अतो वरेण्यः स्वो धर्मोऽसम्यक्त्वेनाप्यनुष्ठितः ॥ १ ॥ परधर्माद्विहितस्तस्म्यक्त्वेनाप्यनुष्ठितात् ॥ क्षत्रियेण सता तस्मात्स्वधर्मो भवताऽधुना ॥ २ ॥ संप्राप्तादिरनुष्ठेयो न तु भिक्षादिरन्यथाः ॥ ननु युद्धं स्वधर्मोऽपि बन्धुहिंसादिपापकृत् ॥ ३ ॥ कथं मयाऽत्यनुष्ठेय इत्याशङ्क्याह मापसिः ॥ पूर्वोक्तं शौर्यमुत्तमं यत्क्षत्रियस्य स्वभावजम् ॥ ४ ॥ युद्धादि कर्म कुर्वन् पापं हिंसादिदोषजम् ॥ आत्मप्राप्तत्वाऽप्राप्तौ वैधी हिंसा न पापदा ॥ ५ ॥ ज्योतिष्ठोमाङ्गवभ्रादिहिंसाया इव शास्त्रतः ॥ युद्धाङ्गबन्धुहिंसायाः प्रत्येकायै न हेतुता ॥ ६ ॥ ४७ ॥

भा० टी०—यतः स्वकर्मणा परमात्मानमभ्यर्च्य सिद्धिं लभते तस्मात्—श्रेयानिति । स्वो धर्मः स्वधर्मो विगुणोऽसम्यगनुष्ठितोऽपि परधर्मात्स्वनुष्ठितात्स्म्यगनुष्ठितात् श्रेयान्प्राप्त्यवरः । ननु युद्धादिविद्वत्पुत्रं स्वधर्मं कुर्वन्नि हिंसानिमित्तं पापं प्राप्नोति, तत्कथं स्वधर्मः श्रेयानिति तत्राह—स्वभावनियतं कर्म । 'शौर्यं तेजो धृतिर्दायं युद्धे चाप्यपल्लयनम्' इत्यादि कर्म स्वभावजं कुर्वन् किरिपं न प्राप्नोति । यथा विपजः क्षमिः विपकृतं दोषं न प्रतिपद्यते, तथाऽप्यसाधुः पुरुषो दोषवदपि स्वभावनियतं कुर्वन् पापं प्राप्नोतीत्यर्थः । तदुक्तं 'भैरान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' इति । एवेन तर्हि दोषरहितमेव विश्राटनादि सर्वैरनुष्ठेयतम्, अतो न पापप्राप्त्याशङ्क्येति न शङ्कनीयम् । तर्हि पापप्राप्तिशङ्कां परित्यज्य कर्मनिष्ठत्वेन सर्वैः कृतो न संघायत इति शङ्कापि नै कर्तव्या । 'नहि कश्चित्स्वगमपि जातु विद्वत्कर्मकृत्' । 'नहि वेदभूता शक्यं त्यक्तुं कर्मण्यक्षेपः' इत्यनात्मवेदनाकर्मनिष्ठवायाः संपादयितुमशक्यत्वात् ॥ ४७ ॥

प० टी०—अथ स्वधर्मं प्रवृत्तनाह—श्रेयानिति । सम्यगनुष्ठितात्पि परधर्मात्सकाशाद्विगुणो लौकिकदृष्ट्या गुणरहितोऽपि स्वधर्मः श्रेयान् श्रेयकरः । यथा हिंसाप्रधानत्वेन विगुणोऽपि क्षात्रधर्मः परधर्माद्ब्राह्मणधर्मादुत्कृष्टादपि श्रेयान् । यतः स्वभावेन पूर्वोक्तेन स्वधर्मं नियतं नियमेनोक्तं कर्म कुर्वन् किरिपं पातकं न प्राप्नोति ॥ ४७ ॥

रा० टी०—स्वधर्मनिरतत्वमावश्यकमित्येतदुपपादयति—श्रेयानिति । विगुणोऽङ्गहीनोऽपि स्वधर्मः सभ्यानुष्ठितात्परधर्माच्छ्रेयान्पुमर्थसाधनम् । विगुणः कथं श्रेयानित्यत आह—स्वभावेति । किरिपं वैगुण्यकृतदोषं प्राप्नोति । वैगुण्यसङ्ख्या स्वधर्मत्यागो न कार्यः ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोपमपि न त्यजेत् ॥

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निस्वावृताः ॥ ४८ ॥

त० टी०—ननु यदि कर्मणो ज्ञानोत्पत्तिरेवान्ततः फलं, चेत्तर्हि हिंसादिदोषयुक्तं कर्म परित्यज्य ज्ञानाभ्यास एव यत्नः कर्तव्यः, किमनेन ह्येतेन कर्मणेति चेत्तत्राह—सहजमिति । हे कौन्तेय ! सहजं स्वभावविहितं कर्म सदोपमपि न त्यजेत् । हि यस्मात् सर्वारम्भाः सर्वे परमेष्ठिराश्रयव्यतिरिक्ता आरम्भाः कर्मज्ञानयोगालुपाया दोषेणावृताः । कथम् ? धूमेनाग्निरिव । यथा शीत-तपोनाशकोऽपि अग्निराद्रंभनसंयोगजन्यधूमावृतो न सम्यग्ज्वलति प्रकाशते च, तथा कर्मालुप्तानमन्तरेण सत्त्वशुद्धपभावेन यथार्थतत्त्वज्ञानं न स्यात् । असंभावनाविपरीतभावानुदोषानिदृशैः । तस्या-स्त्वभावविहितं कर्म फलकर्तृत्वत्वागेन यथाशक्ति अनुष्ठाय निर्मलेज्जतःकरणे सति निस्त्रिदशमाद-विहाय तत्त्वज्ञाननिष्ठा स्वयमेव संपद्येत । "अविद्यया मृत्युं जीत्या विद्ययाऽमृतमश्नुते" इति श्रुतेः । तस्मात्स्वाधिकारयोग्यकर्मणा परमात्मानमभ्यर्च्य ज्ञाननिष्ठालक्षणां सिद्धिं प्राप्नोतीति सिद्धम् ॥ ४८ ॥

म० टी०—यस्मादेवं विहितं हिंसादेवं प्रत्यवायहेतुत्वं, परधर्मश्च मया बहः, सामान्यदोषेण च सर्वकर्माणि दुष्टानि, तस्मादहो वर्णाश्रमाभिमानी—सहजमिति । हे कौन्तेय! सहजं स्वभावजं कर्म सदोपमपि विहितं हिंसायुक्तमपि ज्योतिष्टोमयुद्धादि न त्यजेन्तः करणशुद्धेः प्राग्भवानन्यो वा । न ह्यनात्मज्ञ कश्चित्क्षणमपि कर्माण्यकुत्वा स्थातुं शक्नोति । न च परधर्मानुतिष्ठन्नपि दोषान्मुच्यते । सर्वारम्भाः स्वधर्माः परधर्माश्च सर्वे हि यस्मात् दोषेण त्रिगुणात्मकत्वेन सामान्येनावृताः व्याप्ताः सदोषा एव । तथा च प्राग्भवाख्यातम्—‘परिणामतापसंस्कारैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विभेकिनः’ इति । तस्माद्गत्याऽनात्मज्ञः कर्माणि कुर्वन् विपजकुमिरिव विषं सहजं कर्म युद्धादि त्रिगुणात्मकत्वेन सामान्येन बन्धुववादिनिमित्तत्वेन विशेषेण च सदोपमपि न त्यजेत् सर्वकर्मत्यागसमर्थत्वात् । सर्वकर्मत्यागसमर्थस्तु शुद्धान्तःकरणस्य जेदेवेत्यभिप्रायः ॥ ४८ ॥

शं० टी०—प्राज्ञस्य क्षत्रियस्य वा स्वधर्मस्याभिष्टोमादेर्युद्धस्य च बहिर्दोषवत्प्रतीयमानत्वेऽपि विधुक्तत्वेन निर्दुष्टत्वात्तदनुष्ठानं मुक्त्य एव भवति, न तु बन्धायेति बोधयित्वा पुनरपि यागो वा संयागो हिंसाप्रधानत्वेन दोषवानेव भवतीति कथं कर्तुं शक्यत इत्याशङ्क्य सर्वथाऽपि न कर्तव्येऽयुक्तमेवार्थं दृढयितुमाह—सहजमिति । सहजं ‘कर्मणा जायते द्विजः’ इतिन्यायेन सहजं न्मना द्वितीयेन जायत इति सहजं जातितः प्राप्तं, जातं वर्णं च निमित्तीकृत्य शास्त्रेण विहितं कर्म स्वधर्ममित्यर्थः । सदोपमप्युक्तीत्या दोषयुक्तमप्याह बन्धुमैक्षेच्छुर्नाहणादिर्न त्यजेत् संन्यसेदित्यर्थः । ननु दोषवत्कर्मणोऽनुष्ठानाभिर्दुष्टस्य परधर्मस्याभ्यर्णं युक्तमेवेति चेन्नानान्न प्रष्टव्यः—कर्तव्यस्य कर्मणस्त्यागः दुष्टत्वबुद्ध्या वा, किमसाधनत्वबुद्ध्या वा, किमसत्त्वबुद्ध्या वा, परधर्मस्त्वबुद्धः ॥ आभयणीयः इति या ? नयः, विहितस्य परित्यागो प्रत्यवायप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, अविरक्तस्यासाधनत्वबुद्धयनुत्पत्तेः विरक्तस्य त्यक्तव्ये कर्मणि गुणदोषविचारासंभवाच्च । न तृतीयः, अनात्माज्ञस्य कर्मवत्साधनफलेऽप्यसत्त्वबुद्धयनुत्पत्तेः । नापि चतुर्थः, परधर्मस्यापि कर्मत्वेन दोषवत्त्वाभ्यभिचारादिति । कुटीचकस्याप्यविरक्तस्य शिरस्यश्लोषवीतादिमत्त्वेन कर्मत्वात्तत्कर्मणोऽपि साधनसाध्यत्वेन दोषवत्त्वमेव निश्चित्य सर्ववर्णाश्रमिभिः क्रियमाणं कर्म दोषवदेव ॥ न हिंसात्सर्वा भूतानि ॥ इतिभ्रूत्या भूतहिंसाया निषिद्धतात्सर्वस्यापि कर्मणो वैदिकस्य श्रुतसमिधादिदृश्यसाध्यत्वेन हिंसाप्रधानत्वात् सर्ववर्णाश्रमिभिः क्रियमाणं कर्म सर्वमपि हिंसाप्रधानत्वेन दोषयुक्तमेव भवतीति सर्वस्यापि कर्मणो दोषवत्त्वं दर्शयितुमाह—सर्वारम्भाहीति । यद्वा ‘कामस्य एवायं पुरुषः’ इति, ‘यद्यद्वि श्रुते जन्तुस्तत्कामस्य चेष्टितम्’ इति, ‘रजो रमात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् । यजिष्ठापि कौन्तेय कर्मसङ्गेन वैदिनम्’ इतिन्यायेन कर्मणः सर्वस्यापि कामसंक्रयादिरजोगुणकार्यत्वेन दोषवत्त्वात्सर्वारम्भमपि कर्माणि दोषवन्त्येवेत्युच्यन्ते—सर्वेति । हिंसायाः कारणात्सर्वारम्भा आरभ्यन्ते किञ्चन इत्यारम्भाः सर्ववर्णाश्रमिभिः क्रियमाणानि कर्मणि सर्वाण्यपि हिंसादोषेण रजोदोषेण वाऽऽवृता व्याप्ता धूमेनाग्निरिव । यथा अग्नेः स्वोत्पत्तौ धूमेन विना भावाभावावस्थया वैदिकस्य कर्मणोऽपि हिंसया कामेन वा विना भावाभावात्सर्वमपि कर्म दोषवदेव । यस्मादेवं तस्मात्परधर्मोऽपि दोषवानेव भवति । परधर्माचरणेन स्वाभाविक एको दोषः, स्वधर्मत्यागवृत्तौ द्वितीयश्च, अविहिताचरणं तृतीयः, ईश्वराज्ञोद्धतं चतुर्थश्चापवति । तस्मादाहुरक्षोरविरक्तस्य मोक्षैश्चामस्य जातं वर्णमाश्रमं च निमित्तीकृत्य श्रुतिस्मृतिभ्यां विहितं कर्म सदोपमपि सत्त्वबुद्धयेऽवश्यं कर्तव्यम् । स्वधर्माचरणेनैव शुद्धात्मा प्राज्ञणादिर्मुक्तिं गच्छति । तयाच स्मृतिः—वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादवन्निद्रवः । तदि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्’ इति । यत् एवं ततो वर्णाश्रमिणा मुमुक्षुणा पन्थमुक्तये स्वधर्म एव कर्तव्य इति सिद्धम् ॥ ४८ ॥

श्री० टी०—यदि पुनः, बहिर्दृष्ट्या स्वधर्मं हिंसाच्छ्रमं दोषं मत्वा परधर्मं श्रेष्ठं मन्यसे, तर्हि सदो-

पत्वं परधर्मेऽपि तुल्यमित्याशयेनाह—सहजमिति । सहजं स्वभावविहितं कर्म सदोपमपि न त्यजेत्, हि यस्मात् सर्वेऽप्यारम्भा दृष्टादृष्टाविति सर्वव्यापि कर्माणि दोषेण केनापिदावृता न्याता एव, यथा सहजेन धूमेनाग्निरावृतस्तद्वत् । अतो यथाधर्ममूल्यं दोषमपामूल्यं प्रवाप एव तमःशोतादिनिवृत्तये सेव्यते, तथा कर्मणेऽपि दोषांशं विहाय गुणांश एव सत्त्वमुदये सेव्यत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

स० टी०—यतो विदितार्हसादेः प्रत्यवाये न हेतुः ॥ भीतिदः परधर्मश्च सर्वं कर्म कलङ्कवत् ॥ १ ॥ तस्मादज्ञोऽधिकारी यो वर्णाश्रममतिः पुमान् ॥ स्वभावजं त्यजेन्नैव कर्म दोषान्वितं ह्यपि ॥ २ ॥ ज्येष्ठि-
होमादिकं पदुत्तथा युद्धादिकर्म च ॥ अन्तःकरणशुद्धेः प्राग्भवान्वाच्योऽयवा जनः ॥ ३ ॥ नान्यः कश्चिद्वर्ण-
जातु बिना कर्मेद् विद्यते ॥ समुत्पन्नं यतः कर्म सर्वेषां जन्मना सह ॥ ४ ॥ न चान्यधर्ममुप्राप्तो
दोषान्मुच्यत आपहो ॥ स्वधर्माः परधर्माश्च सर्वारम्भपदेहिताः ॥ ५ ॥ यस्माच्चैरण्यदोषेण सामान्येना-
वृताः किल ॥ विहारतापसंस्कारैर्गुणवृत्तिविरोधतः ॥ ६ ॥ दुःखमेव जगत्सर्वं कर्मजन्यं विभेक्षितः ॥
केवलं मूढबुद्धीनां सुखवन्नासते अगत् ॥ ७ ॥ तस्माद्गत्या नात्मज्ञः कुर्वन्कर्माणि शास्त्रतः ॥ तिष्ठेत्या-
गासमर्थश्च यतोऽतो सर्वकर्मणां ॥ ८ ॥ कर्मत्यागसमर्थस्तु शुद्धान्तःकरणः पुमान् ॥ स वेदान्तविचा-
रायै सर्वं विभेक्षकं त्यजेत् ॥ ९ ॥ करोतु कर्माणि स मा करोतु वा मुकुन्दपादाग्नरसमहः सुखी ॥
गृहे वने वा निवसन्भूमिगिहो मुकुन्द एवास्ति स यो हि वदतिः ॥ १० ॥ ४८ ॥

भा० टी०—सहजमिति । अतः सहजं जन्मनैवोत्पन्नं स्वभावजं कर्म न त्यजेत् । कुर्वीतुषेण त्वया
युद्धे अलयाचनादि सहजं कर्म न त्याज्यमिति संबोधनोक्तयः । दोषवत्सहजमपि कर्म परित्यज्य तिर्योपमन्य-
द्वयं कर्म कुतो नाश्रयणीममित्याम्नाङ्क्य दोषरहितस्य कर्मण्यपवाभाववित्याह—सर्वारम्भाः । हि यस्मादरा-
भ्यन्त इत्यारम्भाः सर्वकर्माणि त्रिगुणान्मकत्वात्सहजेन धूमेनाग्निरावृताः न्याताः सदोपा इत्यर्थः ।
तथाच सहजस्य स्वधर्माख्यस्य कर्मणः परित्यागेन परधर्मानुष्ठानेऽपि सर्वकर्माणां दोषवत्सदोपान्नैव मुच्यते
भयावद्वत् परधर्मः । न च क्षणवदेऽहेनादोषतः कर्म त्यक्तुं यत्परस्मिन्त्यजेत्त्यर्थः ॥ ४८ ॥

प० टी०—वेदेवाह—सहजमिति । भो कीन्तेव ! सहजं स्वभावविहितं कर्म सदोपमपि न त्यजेत् ।
हि यस्मात् कारणात् सर्वारम्भाः सर्वकर्माणि दोषेण लौकिकेनावृता न्याताः सन्ति । अत्र दृष्टान्तमाह—
धूमेनेति । यथा प्रकाशके होमादौ नामो धूमलक्षणे दोषोऽस्ति, तथाप्याग्निः “अग्निमीजि” इत्यादिश्रुतिभिः
सूयमानः सेव्यत एव, तथैव ब्राह्मणादिधर्मेषु दैन्यनिष्क्रियत्वगोपातनाभिकार्यरूपा दोषाः सन्ति तथापि
शास्त्रविहितत्वाच्च एवानुष्ठेया नान्य इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

रा० टी०—वैगुण्यदोषस्य सर्वत्रावर्जनीयत्वादित्याह—सहजमिति । हि यस्मात्सर्वारम्भाः सर्वकर्माणि
धूमेनाग्निरावृत इव दोषेणावृता एव । ततः सदोपमपि सहजं कर्म न त्यजेदिति ॥ ४८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ॥

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

त० टी०—तदेवं स्वकर्माणां सरागितपरमपुरुषस्य तत्त्वज्ञाननिष्ठावृत्त्या सिद्धिरुक्ता । इदानीं
तस्या अपि यत्फलं स्याच्चिद्विशति—असक्तबुद्धिरिति । असक्ता सर्वजातकिञ्चन्या बुद्धिर्यस्य
सः, जितात्मा वरीकृतमनाः, यतो विगतस्पृहो विशेषेण गता दूरीभूता स्पृहा फलविषया इच्छा यस्य
॥ संन्यासेन “सद्वत् त्यक्तत्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः” इत्युक्तलक्षणेन नैष्कर्म्यमिति
कर्षणनिष्ठलक्षणां परमां प्रकृष्टां पूर्वोक्तसिद्धेश्च निष्ठाया अपि फलभूता सर्वोत्कृष्टा श्रीभगवत्स्वरूप-
मद्भलविश्रतिपपकथीगद्गाम्नाहवदनचिच्छिन्नस्थितित्वांरूपां परां भक्तिमधिगच्छति मामोति ॥ ४९ ॥

म० टी०—कः पुनः सर्वकर्मत्यागसमर्थः ? यो नित्यानित्यवस्तुविवेकज्ञेनेहामुच्चार्यभोगैरामयेण शमदमा-
दिसंपन्नः कर्मजां सिद्धिमशुद्धिपरिक्षयद्वारा मुमुक्षुः शुद्धब्रह्मात्मैक्यजिज्ञासां प्राप्तः सः स्वैष्टमोक्षहेतुवशा-
त्सैक्यज्ञानसाधनवेदान्तवाक्यश्रवणादि कर्तुं सर्वविक्षेपनिवृत्त्या तण्डेपभूतं सर्वकर्मसंन्यासं श्रुतिसृष्टि-
विहितं कुर्यादेव । “तरमादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तिष्ठिः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्”
इति श्रुतेः ‘सत्यानृतं सुखः दुःखे वेदानिमं ल्येकममुं च परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्’ इति स्मृतेश्च । उपरतस्त्य-
क्तसर्वकर्मा भूत्वाऽऽत्मानं पश्येदात्मदर्शनस्य वेदान्तवाक्यानि विचारयेदिति श्रुत्यर्थः । एतादृश एव “ब्रह्मसं-
न्यासमुत्तमेति” इति श्रुत्या धर्मस्फुट्यप्राप्त्यविलक्षणत्वेन प्रतिपादितः परमहंसपरिप्राजकः परमहंसपरिप्राजकं
कृतकृत्यं मुमुक्षुस्तस्य वेदान्तवाक्यविचारसमर्था यमुद्दिश्य ‘अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा’ इत्यादिचतुर्लक्षणमीमांसा
भगवता वादरायणेन समारम्भः । कीदृशोऽसाविस्वाह—असक्तशुद्धिरिति सर्वत्र पुनरादिषु सक्तिमित्येवमपि
असक्तशुद्धिः अहमेवो गमेत इत्यभिप्रेत्यङ्कारहिता बुद्धिर्यस्य सः । यवो जितारमा विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य वशीकृ-
तान्तःकरणः । विषयरागे सति कथं प्रत्याहर्णं तत्राह—विगतस्पृहः । देहजीवितभोगेष्वपि बाह्यकारहितः
सर्वदृश्येषु दोषदर्शनेन नित्यबोधपरमानन्दरूपमोक्षमुणदर्शनेन च सर्वतो विरक्त इत्यर्थः । य एवं शुद्धान्तः-
करणः ‘स्वकर्मणा समभ्यर्च्य सिद्धिं चिन्तये मानवः’ इति वचनप्रतिपादितां कर्मजातपरां सिद्धिं ज्ञानसाधनवे-
दान्तवाक्यविचाराभिकारलक्षणां ज्ञाननिष्ठायोग्यतां प्राप्तः स संन्यासेन श्रियायुक्तेष्वपीत्यादिज्ञातसर्वकर्म-
त्यागेन हेतुना तत्पूर्वकेन विचारेणेत्यर्थः । नैऋत्यसिद्धिं निष्कर्म ब्रह्म वदित्वयं विचारपरिनिष्पन्नं ज्ञानं
नैऋत्यं तत्रापां सिद्धिं परमा कर्मगाया अपरमसिद्धिः फलभूतामधिगच्छति साधनपरिप्राकेण प्राप्तोति ।
अथवा संन्यासेनेतिर्थाभूतलक्षणे तृतीया । सर्वकर्मसंन्यासरूपां नैऋत्यसिद्धिं ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यतां नैर्गु-
ण्यलक्षणा सिद्धिं परमां पूर्वस्याः सिद्धेः सात्त्विक्याः फलभूतामधिगच्छतीत्यर्थः ॥ ४९ ॥

• शृ० टी०—ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनभावं सर्वदाश्रयसिद्धं बोधयितुमेवमावश्यकोमोक्षैककामस्य कर्तव्य-
स्य कर्मणो दोषवशेषपि चित्तशुद्धेरन्यासाभ्याम्यत्वेनावश्यकरणावयवं, श्रुतिस्मृतिभ्यां विहितत्वेन निहुंष्टत्वं,
श्रेयःसाधनत्वं, तेन सात्त्विकेन कर्मणा बहुजन्मभिः समाराधितपरमेश्वरप्रसादाश्चित्तशुद्धिं च प्रतिपाद्य सा-
त्त्विक्यैव बुद्ध्या सात्त्विकेन च कर्मणा समाराधितपरमेश्वरप्रसादात्सम्यक्सत्त्वशुद्धिं प्राप्तवतः सद्गुरोः सङ्ग-
दुपदेशमात्रेण संप्राप्तात्मज्ञानस्यारूढस्य संन्यासयोगेन ब्रह्मप्राप्तिं निर्दिशति—असक्तैति । असक्तशुद्धिः सर्वत्र
विषयान्तरे कर्मान्तरे देशान्तरे लोकान्तरे देवतान्तरे च भोक्तुं कर्तुं स्थातुं प्राप्तुमुपासितुं च असत्ता-
डनुरक्षा सचक्षिपयैः संपन्नब्रह्मिणा बुद्धिर्यस्य सोऽसक्तशुद्धिः—सर्वदृश्यमिष्यात्वं निश्चित्य सर्वत्र विषयमात्रे
सम्पिबिरक्त इत्यर्थः । सर्वमिष्यात्वनित्ययेन विषयाऽननुपपत्तुल्लिख्येऽपि चलचित्तरय ज्ञाननिष्ठासंभवाद्धिदुपो
पश्चात्सत्त्वेन, भविष्यत्पुनित्याह—जितात्मेति । जितस्वीप्नैरागयेण अद्याप्यैकचिरकालिकनित्यनिरन्तरसत्प्र-
त्ययावस्थभ्यासेन निर्जितो ब्रह्मण्येव स्वरसा गमित आत्मा भनो यस्य स जितात्मा वशीकृतचित्त इत्यर्थः ।
असक्त्युदित्वे जितात्मत्वेऽपि च सिद्धे शरीरसौकर्यपेशावतः परिग्रहवतश्च योगिनो ज्ञाननिष्ठा स सिध्य-
त्ववस्तुव्यतिरेकेन अभितन्यमित्याह—विगतस्पृह इति । देहात्प्रतिग्रहश्च विक्षिप्य गत्वा विगता देहपरिग्रहक्षेम-
वैपया स्पृहाऽपेक्षा यस्य स विगतस्पृहः—कांटे प्रारब्धप्रापितानभोजी कौपीनकन्यादण्डकुण्डकानामाश्रयारी च
भवेदित्यर्थः । एवमुक्तसाधुनसंपन्नः सम्यग्विदितात्मवत्त्वस्वीग्रमुमुक्षुरारूढः संन्यासेन सति ब्रह्मणि स्वात्मना
‘विदिदे निवरातासः संन्यासः सम्भाषिर्निरन्तरब्रह्मनिष्ठा तेन संन्यासेन निरन्तरज्ञाननिष्ठा । ब्रह्मा, ‘सत्यं
ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इत्युक्तश्रुत्यं प्रब्रह्माहमिति स्वस्य प्रब्रह्मकारेण निवराभितरमावापजिहादित्येनावस्थानं
• येन सिध्यति ॥ संन्यासः—स्वीयज्ञानमहोपाधस्तादृशमुपरिष्ठादहमेवेदं सर्वमित्येवंलक्षणं—तेन संन्यासेन

॥ १ ॥ शुद्धब्रह्मविज्ञासां प्राप्नो वेदान्तसद्गिराम् ॥ श्रवणाद्यादरात्कुं निर्दिक्षेयतया सदा ॥ २ ॥
तच्छेषभूतं संन्यासं श्रुत्यादिविहितं चरेत् ॥ स कीदृशोऽस्ति जिज्ञासुरित्यब्राह्म जगद्गुरुः ॥ ३ ॥ सर्वत्र
पुत्रदारादौ ममेत्यासङ्गकारणे ॥ अहोपां ममैवे चेत्यभिप्लविवर्जिता ॥ ४ ॥ बुद्धिर्यस्य यतस्तेन
स्वस्ये स्थापितं मनः ॥ विषयेभ्योऽपि सर्वेभ्यः प्रत्याहृत्य विवेकतः ॥ ५ ॥ सति रागे कथं चेतः
प्रत्याहरणमाचरेत् ॥ तत्राह सर्वद्वयेषु भोगजालेषु सर्वशः ॥ ६ ॥ दोषदृष्ट्या विरक्तः सङ्गातो
यो विगतस्पृहः ॥ नित्यबोधपरानन्दरूपेभ्योभ्यो च तत्परः ॥ ७ ॥ एवंपुरुषश्रेष्ठो विचारैकपरायणः ॥
निष्कर्मप्रज्ञतज्ज्ञानं नैष्कर्म्यं तत्स्वरूपिणीम् ॥ ८ ॥ सिद्धिं साधनसंपत्त्या प्रकृष्टां फललक्षणां ॥
संन्यासेनैव तत्पूर्वविचारेणाधिगच्छति ॥ ९ ॥ यद्वा संन्यासरूपां तां सिद्धिं नैर्गुण्यलक्षणां ॥ उत्कृष्टां
पूर्वसाधिवक्त्याः सिद्धेः फलस्वरूपिणीम् ॥ १० ॥ ब्रह्मात्मैक्यपरानन्दसाक्षात्कारैकयोग्यताम् ॥ प्राप्नो-
तीत्यर्थ एवास्तु चेत्यभावे तृतीयया ॥ ११ ॥ ४९ ॥

भा० टी०-ज्ञाननिष्ठायोग्यताल्लक्षणायाः कर्मजायाः सिद्धेः फलभूतां ज्ञाननिष्ठां लक्षणां नैष्कर्म्यसि-
द्धिमाह-असक्तेति । सर्वत्र साधकनिमित्तेषु पुत्रदारादिष्वसक्तमुद्गिरसका सङ्गरहिता बुद्धिरन्तःकरणे यस्य
स यतो जितो वशीकृत अग्रमान्तःकरणं यस्य स जितवत्मा, अत एव विगता स्पृहा देहजीवनभोगेषु तृष्णा
यस्मात्स य एवंभूत आत्मज्ञः स नैष्कर्म्यसिद्धि-निर्गतानि कर्माणि यस्मात् निष्क्रियात्मसंबोधात् स नि-
ष्कर्मा तस्य भावो नैष्कर्म्यं तच्च तद्विद्विष्य सा, नैष्कर्म्यस्य निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानलक्षणस्य सिद्धिर्नि-
र्गुणिरिति वा, तां परमां कर्मजायाः सिद्धेः प्रकृष्टां सद्योमुत्पद्यमानरूपां संन्यासेन सम्यग्दर्शनेन तत्पू-
र्वकेण वा सर्वकर्मसंन्यासेनाधिगच्छति प्राप्नोति । तदुक्तम् 'सर्वकर्मार्थं मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नाश्वरे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्' इति ॥ ४९ ॥

प० टी०-अथ स्वर्गाचरणेऽपि गुणबोधविवेकमाह-असक्तमुद्गिरिति । असक्त सर्वत्र गृहादिषु
सद्गुण्यया बुद्धिर्यस्य, जितवत्मा निर्द्वन्द्वः, विगतस्पृहः कर्मफलान्वेषः पुरुषः पूर्वां कर्मसाधिवक्त-
त्यागलक्षणेन संन्यासेन नैष्कर्म्यसिद्धिं सर्वकर्मनिवृत्तिलक्षणां सत्त्वमुद्दिगधिगच्छति ॥ ४९ ॥

रा० टी०-स्वकर्मनिरतः सिद्धिं विन्दतीत्यत्रापेक्षितवर्मान्तराण्याह-असक्त इति । सर्वज्ञत्वादिवि-
षयेषु असक्तमुद्गिरि हेतुर्जितवत्मेति । वशीकृतमनस्कः वैयक्तिसुते बुद्धाशुभिरुसुते चापगतेच्छः । परमां
संपूर्णां नैष्कर्म्यसिद्धिं नैष्कर्म्याय मोक्षाय सिद्धिमुपायसिद्धिं प्रारब्धान्यसर्वाविष्टकर्मनशायकां सिद्धिं वा,
संन्यासेन फलमकर्मत्यागेन सर्वकर्मणां भगवति समर्पणेन वाऽधिगच्छति प्राप्नोति ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्नो यथा ब्रह्म तथाऽप्नोति निबोध मे ॥

समासेनैव कौन्तेय ! निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

त० टी०-अधुना नैष्कर्म्यलक्षणा सिद्धिः, प्रेयलक्षणा भक्तिर्भगवत्प्राप्त्यन्तराद्भवेति वक्तुं
कस्याः भाग्यिकारमुपदिशति-सिद्धिमिति । ज्ञाननिष्ठाफलरूपां नैष्कर्म्यसिद्धिं यत्परतत्त्वानिष्ठा-
लक्षणां परां भक्तिं यथा येन प्रकारेण प्राप्तः सन् ब्रह्म प्राप्नोति तथा समासेन संक्षेपेण वक्ष्यमाणं
भारं मे मद्वचनात्रिकोषं निश्चयेन जानीहि । यथा सिद्धिं प्राप्नो ब्रह्म प्राप्नोतीति मतिज्ञातां ब्रह्ममा-
प्स्यसाधारणोपायभूतां पराभक्तिं विचिन्तयि-निष्ठा ज्ञानस्य या परेति । या ज्ञानोत्तरभाविनी
परा भक्तिः सा ज्ञानस्य परा निष्ठा उच्यमानस्थितिः फलमिति यावत् । स्वरूपतो विपश्यतश्च निरतिश-
यत्वात् ज्ञानयोग्यतराणां सनकादिप्रह्लादादीनाम् । तथाच श्रीभागवते भगवता स्वयमेव । "पराया-

न्योग आदिषो मच्छिद्यैः सनकादिभिः । सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्वावेत्येव यथा" इति, "या प्रीति-
रतिप्रेकानां विप्रेष्यनपायिनी । त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्षतु" इति वैष्णवे प्रह्लादोक्तम् ॥१०॥

म० टी०—प्रागुक्तसाधनसंपन्नस्य सर्वकर्मसंन्यासिनो ब्रह्मज्ञानोत्पत्तौ साधनक्रममाह—सिद्धिमिति ।
स्वकर्मजेश्वरमाराध्य कर्मसादृजां सर्वकर्मत्यागपर्यन्तां ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपां सिद्धिमन्व-करणशुद्धिं प्राप्ते
यथा ब्रह्म प्राप्नोति येन प्रकारेण शुद्धमात्मानं साक्षात्करोति तथा तं प्रकारं निबोध मे मद्बचनादवधारयानु-
ष्ठानम् । किमसिद्धिस्तरेण ? नेत्याह—समासेन । संक्षेपेणैव न तु विस्तरेण हे कौन्तेय । तदवधारणे किं
स्यादिव आह—निष्ठा ज्ञानस्य या पथ । ज्ञानस्य विचारपरिनिष्पन्नस्य निष्ठा परिसमाप्तिः यदन्तर्गतं साध-
नान्तर्गतं नातुष्टेयमस्ति । परा श्रेष्ठा सर्वान्था वा साक्ष्यमोक्षदेतुत्वात् । तां सिद्धिं प्राप्तस्य ब्रह्मप्राप्तिरूपां
ज्ञाननिष्ठां परां संक्षेपेण निबोधेत्यर्थः ॥ १० ॥

शं० टी०—ज्ञानकर्मणोः साम्यसाधनभावं सूचयितुं सार्विककर्मानुष्ठानसंभावित्वा सत्त्वशुद्धिरुच्यते । ततः
संप्राप्ततत्त्वविवेकज्ञानासुखस्य यथोद्देशैकैकत्वसिद्धिकारणस्य ज्ञानस्याप्रतिबद्धत्वसिद्धये नियमेन क्रमेण
कर्तव्यां ज्ञाननिष्ठां सप्रकारां ज्ञानफलं च निरूपयितुमाह—सिद्धिमिति । सत्त्वशुद्धया सन्त्यग्बिद्विषय-
तत्त्वो मुमुक्षुरासुखः संन्यासेन सिद्धिं नैकैकत्वसिद्धिं प्राप्नोति सन् यथा येन प्रकारेण सत्तत्साधनानुष्ठानपूर्व-
कज्ञाननिष्ठासिद्धिक्रमेण परिपक्वज्ञानेन ब्रह्मप्राप्तेः ब्रह्मभावं गच्छति । विदुषो ब्रह्माप्तिर्नाम संशयासंभावना-
कज्ञाननिष्ठासिद्धिक्रमेण परिपक्वज्ञानेन ब्रह्मप्राप्तेः ब्रह्मभावं गच्छति । विदुषो ब्रह्माप्तिर्नाम संशयासंभावना-
विपरीतभावनादिविकल्परहितज्ञानेन सन्त्यगपरोक्षीकृते स्वात्मनि नित्यशुद्धशुद्धमुक्तसाधिदानन्वैकरसे निर्दिशे-
ऽद्वितीये परे ब्रह्मणीयभेदाहमिति ज्ञानमन्वुद्धिकरणमेव । यथाऽऽरोपितदोषेण स्वमन्यथा गृहीत्वा देवदत्तस-
जितृया देवस्य पृथग्विधेन स्वात्मनि स्वयुद्धिं करोति । एवं स्वाज्ञानेन स्वं ब्रह्म विस्मृत्य गुरुमसावावृत्त-
विज्ञानेन सजितृया स्वात्मनि ब्रह्मणि सन्वुद्धिं करोति । तत्र स्वयुद्धिकरणमेव विदुषो ब्रह्मप्राप्तिर्न तु भन-
वत्प्राप्तिरुच्यते । देहात् कालतः स्वरूपतश्च प्राप्त्यस्य ब्रह्मणो व्यवधानाभावात् । "अयमात्मा ब्रह्म" इतिन्याये-
नानुबोधः स्वरूपत्वाभित्याप्तस्य वस्तुनः पुनरासिक्त्वनायोगात् । अतो विस्मृतरुणाभरणस्यावमर्शने-
नास्तिस्वावधारणं यथा प्राप्तिः, तथाऽज्ञानेनान्यथा गृहीते स्वात्मनि ब्रह्मणि विचारजन्यज्ञानेन
पुनः स्वभावावधारणमेवास्ति । एवं ब्रह्मविद्यया येन ब्रह्मनिष्ठासिद्धिकारणे विशुद्धबुद्ध्या ब्रह्मोक्तिः, तथा
तं ज्ञाननिष्ठासिद्धिप्रकारं समासेन संक्षेपेणैव न तु विस्तरेण, विशुद्धबुद्धेः सूक्ष्मप्राप्तिर्नो बहुमात्रानुपयोगात्,
स्वल्पमन्येन तं प्रकारं मे निबोध नितरां युद्धपथं, बुद्ध्या वदनुष्ठानपरो भव । श्रुतेर्बोधस्य च फलमनुष्ठान-
मेव, अन्यथाऽऽपन्नवातावदुपदेशो निरर्थक इत्यर्थः । क्लृप्तं सन्त्यगज्ञानं विवेकशुक्तेः परमकारणं, या परा
निरविज्ञायपरिपक्वश्रुत्या निष्ठा परिसमाप्तिर्विकारनिर्मुक्त्य निष्कला स्थितिः । कस्य तिष्ठेत्यत आह—
ज्ञानस्येति । "न ज्ञायते श्रियते" इत्यारम्भ "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेऽनुदाहृतः ।प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥"
इत्यन्तेन निर्दिष्टेपविषयकेण ग्रन्थेन यादृश आत्मा निर्दिष्टो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः परः प्रत्यगे-
कसोऽद्वितीयः सम्यङ्कुरूपितस्तद्विषयं ज्ञानं यादृशम् । यादृशज्ञानेनानुबोधं सर्वमिदं सर्वमहमिति
प्रब्रह्मविद्यैः सर्वोत्कर्षं दृश्यसंबन्धरादिषु चिदेकरसमाकाशवत्परिपूर्णसिद्धिप्रियमात्मानं पश्यति । तादृशज्ञान-
सिद्धौ कार्या या परा निष्ठा सा येन प्रकारेण सिध्यति तं प्रकारं मत्तो निबोधेत्यर्थः । ननु मुमुक्षुरात्म-
ज्ञानमेव न सिध्यति कुर्वतनिष्ठा परा सिध्यते ? कथं ज्ञानस्यासिद्धिरिति चेदुच्यते । यदाकारं क्षेत्रं तदा-
कारमेव भवति वज्रानाम् । नरश्रेष्ठेयज्ञानं च नराकारमेव भवति, पशुश्रेष्ठेयज्ञानं च पशु-
रस्वात्मा, न ह्यात्मन आकारोऽस्ति । "न सत्तत्साधुच्यते" इति दृश्यत्वनिषेधसदसद्विज्ञानस्य वस्तुनोऽपसि-
द्धत्वादानाकारत्वाच्च विषयत्वात्पुण्यतेः । आकारवत्त्वात्मानस्य सा सिध्येद्यथात्मनो गुणमत्ययार्थः स्यात् । न ह्ययं

युष्मत्प्रत्ययो भवति, “अस्थूलमनण्वहृत्स्वम्” इत्यात्मनः सर्वदृश्यवैलक्षण्यश्रवणात् । ननु “तं देवा ज्योतिषा ज्योतिः” इति, “अग्नये पुरुषः स्वयंज्योतिः” इत्यात्मनो ज्योतिःस्वरूपत्वं श्रूयते, कथमनुरूपत्वमिति चेन्न । ‘अस्थूलम्’ इति, ‘यत्तद्देहस्यम्’ इति रूपवद्भूत्यन्विधेये सत्यरूपद्रव्यत्वापत्त्या जडत्वापत्तौ सत्त्वां श्रुत्या तन्नि-
रस्यते—प्रकाशस्वरूप आत्मेति, न तु सूर्यादिवत् ज्योतिःस्वरूप आत्मेत्युच्यते । यथात्वे सत्यात्मनो भौतिक-
त्वक्षेयवज्जडत्वानित्यत्वादिदोषः प्रसज्येत । सूर्यादिवत्प्रयत्नेन विपयत्वं च स्यात्, तदुक्तम् “दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः” इत्यमूर्तत्वश्रवणात् । “न संदृष्टे तिष्ठति रूपमस्य” इति आत्मनो निर्विषयत्वमेव श्रूयते । विषयभूते हि वस्तुनि ज्ञानस्य तदात्मना परिणामो न त्वविषयभूते परिणामः संभवति । ननु “स आत्मा स विशेयः” इत्यात्मा निर्विशेयः श्रूयते । श्रुतार्थाकारेण ज्ञानस्य परिणाम उपपद्यत एवेति चेन्न । “एष बन्ध्यासुतो यति” इत्यादि श्रुतार्थाकारज्ञानप्रसङ्गात्तादृशज्ञानस्य मनोरज्यबन्धिभ्यात्वोपपत्तेः । न हि श्रुतं श्रुतिं वा, मनसा भावितं वा वस्तु तद्विषयकं ज्ञानं च सत्यं भवति, प्रमाणान्तरेण च बाध्यते । यत एवमत आत्मविषयकं ज्ञानमेव न संभवति । तदसंभवे विदुषः कथं वनिष्ठा सिध्यतीति चेन्न । प्रत्यक्षादिप्रमाणगम्यत्वादात्मसत्तायास्त-
ज्ज्ञानासंभवासिद्धेः । कुत्रचित्प्रत्यक्षं प्रमाणं कुत्रचिदनुमानं कुत्रचिद्व्यञ्जनं कुत्रचिदपराधिपत्तिः । आत्मविषये त्वेव सर्वं प्रमाणमेव भवति तदुच्यते—‘देहेन्द्रियादयोऽधिष्ठातृमन्त्रः’, स्वतो जडत्वे सति इष्टानिष्टप्रवृत्तिनिवृत्ति-
मन्त्रात्, यत्रैवं वत्रैवं यथा शक्यः, तदधिष्ठाताऽऽत्मा देहादिभ्यो भिन्नः नियामकत्वात्त्रैकवादिः यद्यनुमानेन ‘नान्तःप्रक्षं न बहिःप्रक्षम्’ इत्यादिशब्देन चात्मावगन्तुं शक्यते पण्डितैः । यथा चाद्यैकादशी शिवरात्रिरिति शालेणोक्तमङ्गीकृत्योपेक्ष्यते, तथा विदुषा ‘नान्तःप्रक्षमित्यादिना प्रपञ्चीपक्षं ज्ञानं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा’ इत्यन्वेन शालेण सकलदृश्यसंयन्तं निषिध्यार्पितं केवलमात्मतत्त्वं स्वात्मनाऽवगम्यम्, उभयोः शालप्रतिपाद्यत्वविशेषात् । ननु “नान्तःप्रक्षम्” इति श्रुत्युक्तार्थस्य निर्विशेषत्वेनोपलब्ध्यभावाद्-
न्यायानुवचनसम्भवेति चेदेकादश्या अपि विशेषाकारादर्शनात्स्वरूपेण तत्तुल्यत्वादननुष्ठेयत्वप्रसङ्गात् । तव उभयोरपि शालैकगम्यत्वं तदुक्तत्वेनाभ्युपगम्यत्वं च सममेव । यन्चेकादशीवदात्मसत्तावः शालेणाङ्गीक्रियत एवेति चेत्तत्र यथा निश्चयेन प्रवृत्तिस्तथा नाहं देहादिरिति निश्चयेनान्तरमन्यहंभावं परित्यज्य ब्रह्मैवाह-
मिति तूष्णीं स्वीयता, न पुनर्निकल्यतामिदमेव प्रामाणिकस्य प्रमाणस्य च फलम् । तन्वरमाकं शालं प्रमाणमेव, यदाप्यविषयत्वादात्मनस्तदनुभवाभावात्प्रवृत्त्यभाव इति चेत्तर्हि एकादश्याः प्रत्यक्षत्वं तदनुभूत्या प्रवृत्तिरित्यहमस्त्वं स्वीयं प्रकटितम् । पण्डितानां शुद्धबुद्धीनामेव अनुभूत्या मोक्षशाले यथाविधादितार्थं च विश्वासे हृदप्रत्ययः प्रवृत्तिश्च सहस्रकोटिजन्माश्चित्तपुण्यपुण्यपरिपाकवशादीशमसादादेव सिध्यति, नान्यथा धृतिः कोटिभिरशुद्धात्मनाम् । यदुक्तम् “अविषयत्वादप्रसिद्धत्वाच्चात्मनस्तदनुभवाभावात्प्रवृत्त्यभावः” इति-
भक्तोच्यते । न तावद्यमात्मन स्वयमेकादशीवदेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययार्थत्वेन नित्यापरोक्षत्वात्प्रकाश-
स्वरूपत्वात्सर्वप्रकाशकत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः । न ह्यात्मा यस्य कस्याचिच्छब्दाविदप्रसिद्धो भवति हातव्यः प्राप्तव्यो वा । सत्यप्रसिद्धते आत्मनो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारस्तत्र न सिध्यति । सर्वेषामात्मानमुद्दिश्यैष्टा-
निष्ठयोः प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च दृश्यते, न त्वनात्मनं देहं प्राणं वा बुद्धिं चान्यं वा । सत्यं रत्नात्मसुखायैव देहस्यारोग्यमिच्छति, पुष्टेः सौष्ठवमाहारास्त्योपशमं च प्राणनिरोधं योगं च करोति, भार्यामुद्रहते, देवान् यजते, हरिं भजति । ततो देहादिविलक्षण आत्मा प्रसिद्ध एवास्मत्प्रत्ययार्थः । न हि नाहमस्मीति कदाऽपि यस्य कस्यापि प्रत्ययोऽस्ति । स्वप्रमहद्व्याक्षम्, सुखमहमस्वाप्तम्, अहं जागर्मीत्यवस्थान्तरेऽपि सर्वैरहम-
स्म्येवेत्यात्मसत्तायाः सदानुभूयमानत्वादात्मनो ज्ञेयत्वानुपपत्तेः सर्वदृश्यभिन्नत्वप्रसिद्धेः । न हि स्वमेकं साक्षादनुभवतः पण्डितस्य स्वसुखासिद्धेः प्रमाणमपेक्ष्यते । सर्वेषां प्रमाणानां प्रामाण्यं यतः सिध्यति तं सर्व-

यथा जायते, तथैव तत्त्वमसीत्युपदेशमात्रेणाहं ब्रह्मेति प्रज्ञात्मत्वापादकं ज्ञानं शुद्धात्मनो जायते एव, नात्र पुनः पुनः प्रत्यवावृत्तिरपेक्ष्यते । नहि चक्षुःसंनिर्कर्ममात्रेण घटज्ञाने जाते घटोऽयं घटोऽयमिति तज्ज्ञानदाढ्याय मुहुर्मुहुरावृत्तिरपेक्षिता भवति, प्रमाणप्रमेयसंबन्धमात्रैकसाध्यत्वाप्रमायाः, न त्वावृत्तिसाप्यत्वमस्ति, वस्तु-
तन्त्रत्वावज्ञानस्य, न पुरुषतन्त्रत्वम् । अतो ज्ञानाभ्यासो निष्प्रयोजन एवेति चेत्सत्यं, प्रमाणप्रमेयसंबन्ध-
मात्रजन्यमेव ज्ञानं वस्तुतन्त्रं, न तु पुरुषतन्त्रं, नापि क्रियातन्त्रं; तथापि स्थोत्पत्तौ प्रमाणसौष्ठवमपेक्षते ।
बास्तवमपि ज्ञानं सति प्रमाणसौष्ठवे समीचीनं जायते, नत्वसौष्ठवे । यथा चक्षुषः काचकामलादिदोषेण तैमिरिकत्वे चन्द्रानेकत्वज्ञानमवास्तवमेव जायते, वस्तुनो विस्पष्टत्वेऽपि । तथैव निरन्तरौपम्यसेवया तदोप-
निवृत्त्या निर्मलत्वे सिद्धे वास्तवमेव चान्द्रं ज्ञानं विस्पष्टं तद्दर्शनाच्छास्त्रं सिध्यति । तथैवानाद्यधियावासना-
कृतैः सत्त्वरजस्तनोबोधैर्प्रेरिते सत्यन्तःकरणे समुत्पद्यमानैरहमिदम् इत्याद्यनात्मप्रत्ययैर्बन्धवीर्यमानमा-
त्मतत्त्वं न विस्पष्टं भवति । तस्यैवान्तःकरणस्य चिरकालनित्यनिरन्तरसमुत्पितवसमाधियोगेन सजातीय-
प्रत्ययावृत्तिलक्षणेन निरुक्तदोषाणां तत्कार्याणां च निःशेषनिवृत्त्या केवलशुद्धसत्त्वभावापत्तौ सर्वमिदमहं
च ब्रह्मेत्यद्वैतात्मविज्ञानं सर्वदृश्यसंबन्धनिर्मुक्तमप्रतिषेद्धं च जायते । ततो ज्ञानपरिपाकैकप्रयोजनत्वात्प्रत्य-
यावृत्तेः, सत्यामेव ज्ञानपरिपाकसिद्धौ, लक्षलक्षणं सत्यज्ञानं केवल्यपदावसानकमखण्डानन्दानुभावकं च
सिध्यति । यथा च श्रुतिः—“समाधिनिर्भूतफलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्” इति,
‘आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः’ इति, ‘अभ्यासात्परमविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः’ इति
च, ‘नास्ति ज्ञानात्परं किञ्चित्पवित्रं पापनाशनम्’ । तदभ्यासादप्ये नास्ति संसारोच्छेदकारणम्” इति ।
ज्ञानस्य परिपाको नाम चिरकालनित्यनिरन्तरसमभ्यस्यमानसज्जातीयप्रत्ययावृत्त्या ‘सम्बन्धान्तोत्पत्तिप्र-
विपन्धकानो सत्त्वरजस्तमोगुणानां तत्कार्याणां चाहमिदमहं इष्टमनिष्टमित्यादिविपरीतप्रत्ययानां रागद्वेप-
सोहादिविकाराणां च निःशेषनिवृत्त्या समुत्पद्यमानोऽन्तःकरणस्य केवलशुद्धसत्त्वभाव एव प्रसादलक्षणः ।
यस्मिन्सति सर्वमिदमहं च ब्रह्मेति स्वस्मिन्सर्वत्र ब्रह्मत्वधीन्यवस्थापकं परावरेकत्वविज्ञानं विकल्पनिर्मुक्तं
श्रुतिव्यापारसमाप्तिरूपं संभवति । तदेवज्ञानं नित्यनिरन्तरसजातीयप्रत्ययावृत्त्येकगन्धं, नत्वयं घट इति
प्रत्यक्षरूपदेशमात्रगन्धं, नापि राजत्वज्ञानवत्पट्वन्धकियासाप्रगन्धं च भवति । तत्र ज्ञेयस्य स्थूलत्वेन तज्ज्ञा-
नस्यापि स्थूलवाग्निप्रतियोगिकत्वाद्धौकिकत्वाच्च प्रत्ययावृत्तिनपेक्षते । “सूक्ष्मात्सूक्ष्मवरं निरव्यम्” इति, “हं
हृदयं गूढमनुप्रविष्टम् । गुह्यमिदं गह्वरेष्ठं पुराणम्” इति श्रवणादप्येतद्वै वस्तु परमसूक्ष्ममलौकिकं दैवाल-
पटलेर्जलवद्विद्यावत्कार्येस्त्रितोदिवं भवति । तदस्त्वज्ञानं, चक्षुः सूर्यालोकादिभ्यः, स्वविषयावरकारणं सद्यस्य-
यावृत्तिलक्षणमपेक्षते । नैतेन ब्रह्मभावः कल्पितो भवति । नाहं मनुष्य इत्यात्मनो मनुष्यत्वमनोक्षते, नत्व-
हमर्षत्वं कल्प्यते, नापि ब्रह्मभावः कल्प्यते । अहमर्षत्वस्य स्वतःसिद्धत्वात् “अयमात्मा ब्रह्म” इति, ‘क्षेत्रज्ञं चापि मां
विद्धि’ इति ब्रह्मभावस्य श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धत्वात् । सति तयोर्भेदे कथमर्हत्वं सिध्येत् ? “एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ।
नेह नानास्ति किञ्चन” । “एको कद्रो न द्वितीयाय तंशुः” इत्यादिश्रुतिभिरद्वैतमेव प्रतिपाद्यते । ततस्तयोर्वैद-
कादमाहकाद्यवोरिव ब्रह्मात्मनोरभिन्नत्वं स्वतःसिद्धं, न तु क्रियाया कल्पयितुं शक्यम् । किं तु सद्यस्यव्या-
पृष्ट्यानादियासनाया प्रवीर्यमानविपरीतप्रत्ययापनोदनमात्रमेव क्रियते ब्रह्मविदा स्वस्य पूर्णत्वज्ञानदाढ्याय ।
यथा स्थूलमपि रत्नज्ञानं स्वदाढ्यार्थं नित्यपरिशीलनमपेक्षते, यथा रत्निविम्वज्ञानं स्थूलमपि सर्वपापपरोक्ष-
त्वाय चिरकालनित्यनिरन्तराभ्यासमपेक्षते, तथैव ब्रह्माभिन्नत्वज्ञानविसृद्धं सप्रतिपक्षं च किमुत स्वस्या-
प्रविपक्षसंसिद्धये सत्यव्यावृत्तिमपेक्षत इति ? “वस्याभिण्यानाद्योजन्यासत्त्वभावात्” इति, “वस्याभिध्या-
नात्तृतीयोद्देहेदः” इति, “निष्कलं ध्यायमानम्” इति, “ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिम्” इत्यादिश्रुति-

प्रकारमाश्रित्य सातुगर्भेण न संवध्यते तन्नियोगेति द्योतनार्थं कौन्तेयेति संबोधनम् । प्रतिज्ञाता प्रज्ञाप्रप्ति-
मिदंतया दर्शयितुमाह-निष्ठेति । या ब्रह्माप्रतिज्ञांगस्यात्मज्ञानस्य परा निष्ठा परा परिसमाप्तिः 'अव्यक्तो-
ऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' । 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' । 'न जायते म्रियते वा' । 'सदेव
सोम्येदमप्रसौदिकमेवाक्षितीयम्' । 'सर्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' । 'तत्त्वमसि' इत्यादिभगवद्वाक्यैरुपनिषद्वाक्यै-
श्रोक्तः 'कूटस्थस्तमसद्वत्त्वम्' इत्यादिन्यायाश्च प्रदर्शितो य आत्मा तस्य ज्ञानं तु न साकारवत्तुविषयकज्ञानव-
त्प्रवृत्तुमर्हति, आत्मन आकारवत्स्वरूपानिष्ठत्वात् । 'न संदृष्टे तिष्ठति रूपमस्य । न चक्षुषा पश्यति कश्चिद-
न्नम्' । 'अशब्दमस्पर्शमरूपम्' इत्यादिश्रुतेः । 'आदित्यवर्णो मारुतः स्मरंज्योतिः' इत्यादिवाक्यानि तु द्रव्य-
गुणाद्याकारप्रतिषेधे आत्मनस्वरूपरूपत्वे प्राप्ते तत्प्रतिषेधार्थानि । नन्वेवं तर्हि कथं निराकारस्यात्मनो ज्ञानम् ?
यतो यद्विषयं भवति यश्च ज्ञानं तत्तदाकारम् । ज्ञानात्मनोऽप्योभयोरनिराकारत्वेन कथमात्मज्ञानस्य पौनःपुन्येना-
नुसंधानात्मिका भावना निष्ठेति चेदुच्यते-आत्मज्ञानमित्यात्मविषयं ज्ञानं न विधीयते, चैतन्यस्वरूपस्यात्मनः
सुप्रसिद्धत्वेनाहातृत्वाभावात् । नहि यस्य चैतन्याभाससत्ता बुद्ध्यादिवेदान्ते आत्मत्वभ्रान्तिकारणं तस्याज्ञा-
तत्वं शक्यं वक्तुम् । तस्माज्ज्ञानरूपाद्यनात्मत्वाप्यारोपणनिवृत्तिरेव प्रवृत्तेन कार्या, बाह्याकारभेदनिवृत्तेरेवात्मस्वरू-
पावलम्ब्यते कारणत्वात् । नात्मचैतन्यविज्ञानं तस्यात्यन्तप्रसिद्धत्वात् । नन्वत्यन्तप्रसिद्धं सुविज्ञेयमासन्नतम-
मात्मभूतमप्यप्रसिद्धं दुर्विज्ञेयमतिदूरमन्यदिन ब्रह्म सर्वेषां कथं प्रतिभावीति चेत्, अविद्याकल्पितनात्मरूपवि-
शेषाकारापहृतबुद्धित्वेनाविषेकित्वात्तेषामिति गृहाण । बाह्याकारनिवृत्तबुद्धीनां विवेकिना तु लघ्वशुभात्मप्र-
सादाना नातःपरं सुप्रसिद्धं सुविज्ञेयं न्वासात्मनस्ति । तथा चोक्तम्-प्रत्यक्षार्थगतं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमन्ययम्
इति । एतेन निराकारत्वादात्मवस्तु नो बुद्धिरूपैत्यतो दुःसाध्या सम्बन्धज्ञाननिष्ठेति केपाचित्पाण्डितंमन्या-
नाशुक्तिरप्राप्ता । शुभसंप्रदायवतां श्रुतवेदान्तानां बहिर्निषेधेनानासंकेतबुद्धीनां सम्बन्धप्रमाणेषु कृतश्रमणां
चैतन्यात्मव्यतिरेकेण वस्तवन्तरस्यामुपलब्धेर्लौकिकप्राज्ञप्राहकद्वैतवस्तुनि सद्बुद्धेरत्यन्तदुःसाधयत्वात् । तदु-
क्तम्-पर्यां जाग्रति भूतानि सा निद्रा पश्यतो मुने, इति । ज्ञानमप्यत्यन्तं प्रसिद्धमेव सुखादिवदभ्युपगन्तव्यम् ।
येषां निराकारं ज्ञानमप्रत्यक्षं तेषामपि ज्ञानवशेनैव ज्ञेयावगतेर्दर्शनात् ज्ञेयवच्चानस्य जिज्ञासातुल्यपक्षेऽपि ।
तथापि ज्ञानस्य ज्ञातुश्चात्यन्तप्रसिद्धत्वादात्मज्ञाने यत्नो न कर्तव्यः किंत्वनतस्मन्यातमबुद्धिनिवृत्ताये-
वेति संक्षेपः ॥ १० ॥

प० टी०-एवंभूतस्य परमईदृश्य ज्ञाननिष्ठया ब्रह्मभावनाप्रकारमाह-सिद्धिमिति पद्मिः । नैष्क-
र्म्यसिद्धिं प्राप्तेः यथा येन प्रकारेण ब्रह्म प्राप्नोति तथा मे तयो विधेय संक्षेपेण जानीहि, या वक्ष्यमा-
णा ज्ञानस्य परा सर्वोल्लेख निष्ठा सर्वथा ॥ १० ॥

रा० टी०-प्रतिज्ञापूर्वं नैष्कर्म्यसिद्धिदायकं विनृण्वंस्तदन्तरफलमाह-सिद्धिमिति । या नैष्कर्म्याय
सिद्धिः ज्ञानस्य परिनिष्ठा सा नैष्कर्म्यसिद्धिं येन प्रकारेण प्रवर्तमानः प्राप्नोति भूत्वा अपरं ब्रह्म लक्ष्मीनामोति
तं प्रकारं संक्षेपतो मे नियोगो बुध्यस्व ॥ १० ॥

बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तो धृत्वात्मानं नियम्य च ॥

शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ११ ॥

त० टी०-प्रतिज्ञातं प्राप्तिप्रकारमेवाह-बुद्धयेत्यादिपञ्चभिः । विशुद्धया यथाऽवस्थितपराव-
रतत्त्वविषयया सात्त्विकया बुद्ध्या युक्तो धृत्वा सात्त्विक्या आत्मानं मनो नियम्य अनात्मनः प्रत्याहारे-
णात्मवर्णोक्त्य च शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा तत्संसर्गं विहाय तद्विषयो रागद्वेषौ च व्युदस्य तत्रेष्टा-
निष्ठबुद्धिमहत्तेर्युक्तः । इत्यादीनाम् " ब्रह्मभूयाय कल्पते " इति तृतीयश्लोकेनान्वयः ॥ ११ ॥

म० टी०—तेषां ज्ञाननिष्ठा सप्रकारोच्यते—बुद्धयेति । विशुद्धया सर्वसंशयविपर्ययशून्यया बुद्धयाऽहं प्रज्ञास्मीति वेदान्तवाक्यजन्यया बुद्धिवृत्त्या युक्तः सदा तदन्वितः भूत्वा धैर्येणात्मानं शरीरेन्द्रियसंघातं नियम्य वर्णमार्गप्रवृत्तेर्निवार्यात्मप्रवर्णं कृत्वा । चक्षुर्देव योगश्चक्षुर्लोकं सावधान्तरं समुचोयते । शब्दादीन् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् विषयान् भोगेन बन्धहेतून्, सामर्थ्यात् ज्ञाननिष्ठार्थशरीरस्थितेमात्रप्रयोजनानुपयुक्तानिपिङ्गलानि त्यक्त्वा शरीरस्थितिमात्रार्थेषु च वेपु रागद्वेषौ व्युदस्य परित्यज्य । चकाराद्वन्द्यदपि ज्ञान-विशेषकं परित्यज्य । विविक्तसेवीत्यत्र स्यादित्यभ्याहृतेन ब्रह्मभूयाय कल्पत इत्यनेन वान्वयः ॥ ५१ ॥

श्री० टी०—तच्चम्रियतसायेनामुपानभूर्वर्कं निष्ठां कुर्वतो ब्रह्मविदो ब्रह्मप्राप्तिमाह—बुद्धयेतिभिः । बुद्धिरभ्य-वसायात्मिका । अभ्यवसायस्तु "सस्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" । "अवसात्मा ब्रह्म" इतिन्यायेन ब्रह्मणः सत्यज्ञानानन्द-रूपत्वनिश्चयः आत्मनो ब्रह्माभिन्नत्वनिश्चयः । 'विकस्यो न हि वस्तुनि' इतिन्यायेन प्रत्यगभिन्ने परे ब्रह्मणि, मरौ जलमूयोमि नैत्यवत्, वेदादिसर्षद्वयप्रपञ्चस्य कल्पितत्वनिश्चयः । एवंलक्षणाभ्यवसायवर्ती बुद्धिरत्र विश्वविद्या, स्वात्मनि ब्रह्मण्यपारोपितानात्मप्रत्ययनिरसने प्रवृत्तत्वाद्बुधः । सा च विशुद्धा श्रुतिपुक्तिभिर्निधितार्पतया संशय-विपर्ययानिर्मुक्ता । तदा विशुद्धया बुद्धया युक्तः संन्यगविनाभूतः सन् ब्रह्मनिष्ठायां प्रवृत्तो ब्रह्मविद्यविपर्यया सा-त्त्विकयोक्तयाऽऽत्मानं चित्तं यद्भिःप्रवृत्तेर्नियम्य चित्तस्य यद्भिःप्रावर्णं निरुप्य, चकारात्प्राणोन्निवक्रियाः सर्वाः सम्यक्क्रियस्य शब्दादीन् शब्दस्पर्शरूपादीन् विषयान् त्यक्त्वा, विषयानुसंधानमश्रुतेत्यर्थः । यद्यपि यद्विर-न्तःकरणनिरपेक्षे कृते सति विबुधः क्षतो विषयसंघर्षो न संभवति, यथाप्यवशात्प्राप्तानामप्यनुसंधानं न करो-वीत्यर्थः । रागद्वेषौ व्युदस्य च भिक्षाकलेऽपि प्राप्तेष्वर्थेऽपि रागमनिर्द्वेषौ द्वेषं च व्युदस्य परित्यजेत्यर्थः । यद्वा व्युत्थानवशायां दृष्टेषु श्रोत्रियेषु द्विचक्षारिषु साधुषु वा रागस्वद्विपरीतेषु द्वेषस्तावुभौ व्युदस्य, चका-रात्समाधिभिन्नकारणं मोहमाहस्यं जाड्यं प्रमादं च परित्यजेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

श्री० टी०—तदेवाह—बुद्धयेति । उक्तेन प्रकारेण विशुद्धया पूर्वोक्तया सात्त्विकया बुद्ध्या युक्तो भूत्वा सात्त्विकया आत्मानं कार्यकरणसंघातं तामेव बुद्धिं नियम्य निश्चलां कृत्वा शब्दादीन्विषयान् त्यक्त्वा तद्विपरीतौ रागद्वेषौ च व्युदस्य बुद्धया विशुद्धया युक्तः । इत्यादीनां ब्रह्मभूयाय कल्पत इति नृवायेनान्वयः ॥ ५१ ॥

स० टी०—सप्रकारोच्यते तेषां ज्ञाननिष्ठा महाफला ॥ ब्रह्मैवास्मीति वेदान्तवाक्यनियन्त्रया धिया ॥ १ ॥ सर्वसंशयविभ्रान्तिशून्ययाऽसिबुद्धया ॥ युक्तो धैर्येण वेदादिसंघातं विनियम्य च ॥ २ ॥ निवार्योन्मार्गवतो ब्रह्मवत्त्वेऽवस्थाप्य बिहृते ॥ ज्ञाननिष्ठारिकृद्वाहं त्यक्त्वा शब्दादिगोचरान् ॥ ३ ॥ शरीरस्थितिसात्रार्थे रागद्वेषौ विहाय च ॥ ज्ञानविशेषकं सर्वं संत्यज्येति चकारवः ॥ ४ ॥ ५१ ॥

भा० टी०—ब्रह्मप्राप्तेः ब्रह्मज्ञानस्य परत्वाः निष्ठायाः प्रमारोपिताऽवद्वर्तानिबृत्तिद्वारा ब्रह्मणि परि-समाप्तेः सुसंपादायाः प्रतिज्ञातं क्रमं दर्शयति—बुद्धयेति । बुद्धया व्यवसायात्मिकया । व्यवसायश्च ब्रह्मात्म-ज्ञानादेव मोक्षः स चावश्यं संपादनीय इति निश्चयः । विशुद्धया साधारणितया युक्तः संपन्नः, भूत्वा धैर्येणात्मानं कार्यकरणसंघातं नियम्य वशीकृत्य पट्यायादावुत्पन्नानामनुक्तानां च साधनानां समुपयार्थ-अकारः । शब्दः आदिर्देवां तान् शब्दादीन्विषयान् त्यक्त्वा सामर्थ्याच्छरीरस्थितेमात्रान् केवलानु-क्त्वा ततोऽधिकान् सुपार्यास्त्यक्त्वेत्यर्थः । विषयमात्रत्यागे देहस्थित्यनुपपत्त्या ज्ञाननिष्ठया असिद्धि-प्रसङ्गात् । शरीरस्थित्यर्थत्वेन प्राप्तेषु च रागद्वेषौ व्युदस्य परित्यज्य, चकाराद्वन्द्यदपि ज्ञाननिष्ठाविशेषकं मात्सर्गादि परित्यज्य, विविक्तसेवी स्यादित्यभ्याहृतेन ब्रह्मभूयाय कल्पत इत्यनेन वा संन्यः ॥ ५१ ॥

प० टी०—तामेवाह—बुद्धयेति । एवंभूतः पुरुषो ब्रह्मभूयाय कल्पत इति नृवायेनान्वयः । किंभूतो

विशुद्धया त्वयसायातिनकया बुद्ध्या युक्तो घृत्या सात्त्विकयाऽऽत्मानं बुद्धिं नियम्य निश्चलां कृत्वा शब्दादीन् विषयान् परगोष्ठीदर्शनादौ स्वयक्त्वा तद्विषयो रागद्वेषौ स्वस्तुषिनिन्दाप्रमुक्तौ न्युदस्य त्यक्त्वा ॥ ५१ ॥

रा० टी०—प्रविज्ञातमाह—बुद्धयेति । विशुद्धया विषयेष्वसक्तया बुद्ध्या युक्तः । घृत्या धैर्येण स्तम्भन-
शक्त्या आत्मानं मनो नियम्य विषयेभ्यो निवर्त्य च शब्दादीन् विषयैस्त्यक्त्वा तदनुभवेच्छां विहायेति
यावत् । यस्य यद्गोद्वेषौ यौ रागद्वेषौ तौ च त्यक्त्वा । न्युदस्येति पाठे न तु छेदः ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लब्धाशी यतवाक्कायमानसः ॥

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

त० टी०—विविक्तसेवी । एकान्तदेशसेवनशीलः, लब्धाशी शुद्धमितभोजी, यतवाक्कायमा-
नसः कवीकृतशरीरेन्द्रियमनः, ध्यानयोगपरो नित्यं अहरहः प्रतिस्त्वनं ध्याननिरतः, तद्विरोविपरि-
हाराय वैराग्यं समुपाश्रितः सम्यगुपाश्रितः सन् ॥ ५२ ॥

प० टी०—विविक्तेति । विविक्तं जनसंसर्गदूरहितं पवित्रं च यद्वर्ण्यगिरिगुहादि वस्तेष्वितुं शीलं यस्य
स चित्तैकाग्र्यसंपत्त्यर्थं तद्विक्षेपकारिरहित इत्यर्थः । लब्धाशी लघु परिमितं हितं मेघं चाशितुं शीलं यस्य
स, निद्रालस्यावि चित्तलघकारिरहित इत्यर्थः । यतानि संयतानि वाक्कायमानसानि येन स, यमनियमास-
नादिसाधनसंपन्न इत्यर्थः । ध्यानयोगपरो नित्यं चित्तस्यात्माकारप्रत्ययाद्युत्थितानि, आत्माकारप्रत्ययेन
निर्वृत्तिकृतापादनं योगः, नित्यं सदैव तत्परस्वयोरनुष्ठानपरो न तु मन्त्रजपदीर्घात्रादीपराः कदा-
चिदित्यर्थः । वैराग्यं दृष्टादृष्टविषयेषु स्पृहाविरोधि चित्तपूरिणामं समुपाश्रितः सम्यक्निश्चलत्वेन
नित्यमाश्रितः ॥ ५२ ॥

शं० टी०—किंच—विविक्तसेवीति । विविक्तसेवी विविक्तान् विजानानेव देशानरण्यनदीपुलिनगिरिक-
न्दरगुहादीन् चित्तप्रसादवदेकामवासिद्धयर्थं सेवितुं शीलमस्यास्तीति विविक्तसेवी सर्वदा भवेन्निदिध्या-
सुर्यतिः । यथा लब्धाशी च स्याल्लघु यथा तथाऽशितुं शीलमस्यास्तीति लब्धाशी, लब्धशानशीलस्यैव
नैश्चल्येन समापिनिष्ठासंभवान् । यद्वा लघु गुणस्वरहितद्रव्यमभीवादिति लब्धाशी । लघुपदं हितमितमेध्या-
नामप्युपलक्षणं, तेन लघु हितं-मितं मेघं चात्रमश्रीवाग्निदिध्यासुर्यतिरिति सिद्धम् । यतवाक्कायमानसश्च
भवेत्—यतानि संयतानि सम्यक् निरुद्धानि बाह्यप्रवृत्तेः सम्यग्विमुखीकृतानि वाक्कायमानसानि येन ॥
यतवाक्कायमानसः, विषयचिन्तनेन मतः स्थूलमेव भवति, न तु तनुत्वं गच्छति, वासना च प्रवर्धते, मनो-
नाशाय वासनाक्षयाय क्रियमाणः समाधिर्गन्तव्यमवशिष्यते एव भवति । ततः सदा विषयचिन्ताराहित्येन
भवितव्यम् । यथा बाक्प्रवृत्त्या स्वमहमिदमद् इत्यादिविषयवैतन्यया न विनश्यन्ति द्वैतमेव प्रवर्धते, रोगिणो-
ऽप्येन रोगवृद्धिपतः । ततः सदा मोनेन भवितव्यम् । कायेन कर्मसु प्रवृत्त्या कर्तृतादात्म्यं कर्मवासना च । समा-
धिकाले कायचलनेन मनस्येन्द्रियाणां च चलनं समाधिविघ्नश्च भवति यतः, ततो वासनाक्षयाय मनोना-
शाय च प्रवृत्तयः यथेतिष्यान्नुसंभानेन मोनेन नैश्चल्येन च सर्वदा भवितव्यमिति युच्यते—यतवाक्कायमानस
शरीरे । एतत्सिद्धये हेतुमाह—वैराग्यमिति । इत्ये मिथ्यात्वबुद्ध्या बुद्ध्यस्तबुद्ध्या च भोक्तृमनुसंभानं च
विषयेभ्यो विगोर्तो निर्गो राग इच्छा यस्य स विरागस्तस्य भावो वैराग्यं सर्वत्रेच्छाराहित्यं नित्यमवि-
च्छिन्नं समुपाश्रितः सन् । एवं शुद्धबुद्ध्यादिसाधनयुक्तो प्रसवित्विनिर्त्यं निरन्तरम् । नित्यमिति विशेषणं
देहदीर्घान्वायेनोभयत्र संशब्धे । नित्यपदं विदिष्यासोरनुष्ठानान्तराभावसूचनार्थम् । ततः सर्वदा ध्यानयो-
गपराः ध्यानं च योगश्च ध्यानयोगौ तत्र परो ध्यानयोगपरः प्रत्यगभिन्ने साधिविज्ञाननैकरसे निर्दिशेतेऽङ्गि-

वीये परे ब्रह्मण्यधिष्ठाने आरोपितनामरूपादिनिजातीयप्रत्ययतिरस्कारपूर्वकं बहिरन्तः सर्वत्र ब्रह्ममात्रैकवि-
प्याणां सत्प्रत्ययानां प्रत्यग्भावापन्नया वृत्त्या निरन्तरतैलपारावदविच्छिन्नया यत्प्रवाहीकरणं तद्वधानम् ।
विजातीयप्रत्ययानन्तरितानां केवलसत्प्रत्ययानामेव चिरकालनित्यनिरन्तराभ्यासवशाद्विशेषकाणां वास-
नानां संक्षये सति वनुवां गताया बुद्धिदृष्टेर्ब्रह्मणि ब्रह्माकारेण निवातस्थलदीपवदो निश्चलीभावः
स एव योगः, तयोर्ध्यानयोगयोरुक्तलक्ष्योर्नित्यं परः सन् तद्वधानयोगनिष्ठासंपन्न एव यतिः परिपक्वानो
भवतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

श्री० टी०—किंच—विविक्तेति । विविक्तसेवी शुद्धदेशावस्थायी, लब्धाशी मितभोजी । एतैरुपायैर्यत्तवा-
क्कायमानसः संयतवाग्देहचित्तो भूत्वा नित्यं सर्वदा ध्यानेन यो योगो ब्रह्मसंस्पृशस्तत्परः सन् ध्यानायविच्छेदार्थं
पुनः पुनर्दृढं वैराग्यं सम्यग्गुणाश्रितो भूत्वा ॥ १२ ॥

स० टी०—विविक्तं जनसंशोदशून्यं गिरिगुहादिकम् ॥ पवित्रं सेवितुं शीलं यस्य लब्धशितं तथा ॥ १॥
यवानि यस्य वाक्कायमानसानि समन्ततः ॥ विक्षेपल्यसाम्प्रतीशून्यो युजो यमादिभिः ॥ २ ॥ ब्रह्मात्मप्र-
त्ययावृत्तिध्वानं योगस्तथाऽऽत्मनि ॥ एकाम्रीकरणं वृत्तेस्तयोरेव परः सदा ॥ ३ ॥ न तु मन्त्रजपादौ
यस्तत्परः सन्कदाचन ॥ दृष्टादृष्टेषु भोगेषु वैतृष्यं नित्यमाश्रितः ॥ ४ ॥ १२ ॥

भा० टी०—तव—विविक्तेति । विविक्तदेशसेवी जनगिरिगुहानदीपुलिनदीप्तिविक्रान्त जनसमुदाय-
शून्यान् देशान्सेवितुं शीलमस्येति विविक्तदेशसेवी । एवादृशस्य चित्तं विक्षेपकाभावादकामं सत्प्रसन्नं भवति ।
निद्राविद्योपनिवन्धनचित्ताप्रसादनिवृत्त्यर्थमाह—लब्धाशी । हितमितनेष्याशनशीलः । यवानि वशीकृतानि वा-
क्कायमानसानि यस्य स ज्ञाननिष्ठं यतवाक्कायमानसः । एवमुपरतसर्बकरणः सन् ध्यानयोगपरः—ध्यानमा-
त्मस्वरूपचिन्तनं मनस आत्मस्वरूपविषयं एकाम्रीकरणं योगः, ध्यानयोगो परत्वेन कर्तव्यो यस्य स नित्यं
सदैव ध्यानयोगपरः । मन्त्रजपप्रदक्षिणाप्रणामाद्यन्यकृत्याभावप्रदर्शनार्थं नित्यमग्रहणम् । ध्यानयोगपरत्वं
सिद्धयर्थमाह—वैराग्यं विरागभावं दृष्टादृष्टविषयेषु वैतृष्यं समुपाश्रितः सम्यक् निश्चलत्वेन नित्यमे-
वाश्रितः ॥ १२ ॥

प० टी०—किं च—विविक्तेति । विविक्तं विवेकहेतुभूतमेकान्तस्थलं सेवते, तथा लब्धाशी सात्त्विकप्रभि-
वाजभोजी । एतैरुपायैर्यत्तवाक्कायमानसः संयतवाग्देहचित्तो भूत्वा ध्यानेन चित्तैकाम्येण वादात्म्येन यो
जीवब्रह्मयोगस्तत्परो भूत्वा वैराग्यं पुनर्विषयविशेषराहित्यं सम्यक्चेष्टिकत्वेनोपाश्रितः ॥ १२ ॥

रा० टी०—विविक्तेति । विविक्तसेवी जनसंसर्गहीनदेशनासी, लब्धाहारवान्, यतवाक्कायमानसः
सद्विषय एव नियमितवाग्द्विः, नित्यं ध्यानरूपोपायपरः, वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ १२ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ॥

विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १३ ॥

त० टी०—अहंकारमिति । अहंकारमनात्मन्यात्माधिमार्गं, बलमनात्मवस्तुविषयं देहेन्द्रिय-
सामर्थ्यं, तन्निमित्तं दर्पं गर्वः, कामं गारब्धवशाद्यहच्छात्रमाप्तेष्वपि विषयेषु स्वीकारेच्छा, तत्प्रतिपत्त्यर्थं
क्रोधं, परिग्रहं वस्त्राच्चादेः सद्ब्रह्मं विमुच्य विज्ञेयेण त्यक्त्वा निर्ममः देहसंवन्निष्ठो ममताशून्यः, अत
एव शान्तः सर्वविशेषवर्जितः । एवंभूतो ध्याननिष्ठो ब्रह्मभूयाय कल्पते । ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभूयं
तस्मै ब्रह्मभूयाय ब्रह्मब्रह्मोपासृष्टस्वरभावतयाऽऽस्थानाय कल्पते योग्यो भवति ॥ १३ ॥

म० टी०—अहंकारमिति । अहंकारं महापृच्छसूत्रोऽहं मह्यं शिष्योऽतिबुद्धोऽस्मि नास्ति द्वितीयो

मत्सम इत्यभिमानं, यत्नमसदाग्रहं न तु सारीरं तस्य स्वाभाविकत्वेन त्यक्तुमशक्यत्वात् । दर्पं हर्षजन्यं मदं धर्माधिक्यकारणम् 'हृष्टो हृष्यति हृष्टो धर्ममतिक्रामति' इति स्थलेः । कामं निषयाभिलाषम् । 'वैराग्यं समुपाधितः' इत्यनेनोक्तस्यापि कामत्यागस्य पुनर्वचनं यत्नाविक्यार्थम् । क्रोधं द्वेषम् । परिग्रहं शरीरधारणार्थमसृष्टत्वेऽपि परोपनीतं बाह्योपकरणं विमुच्य त्यक्त्वा शिरसायज्ञोपवीतादिकमपि, दण्डमेकं कमण्डलुं कौपीनाच्छादनं च श्लाघ्यमुत्तातं स्वशरीरयात्रार्थमादाय परमहंसपरिव्राजको भूत्वा निर्ममो देहजीवनमात्रेऽपि ममकाररहितः । अत एवाहंकारममकाराभ्यावाद्गताहर्षविषादत्वात् शान्तचित्तविक्षेपरहितो यतिर्ज्ञानसाधनपरिपाकक्रमेण ब्रह्मभूयाय ब्रह्मसाक्षात्काराय कल्पते समर्थो भवति ॥ ५३ ॥

श्लो० टी०—यत् बहुकालं निरन्तरसमाधिनिष्ठमेव कुर्वतो ब्रह्मविद्ययाः समाध्यभिनिर्दोषाशेषवासनाग्रन्थेतिः शेषनिष्ठताविपरीतभावस्य सम्यक्परिपक्वविज्ञानसिद्धेः फलमाह—अहंकारमिति । चिरकालनित्यनिरन्तरसमनुष्ठितसमाधिनिष्पन्नसम्यग्ज्ञानेन देहादिद्वैतप्रपञ्चस्य स्वव्यतिरिक्तत्वाभासत्वात्सर्वधीपूर्वकमधिष्ठाने स्वात्मनि ब्रह्मणीदमेवाहमस्मीति स्वात्मना विधिरे ब्रह्मण्येवात्मत्वासासनादाव्यवधानात्मनि देहादावहंकारमहंकरणमनात्मन्यहमिति बुद्धिं विमुञ्चति ब्रह्मविद्ययाः । नक्षत्रवदात्मवत्त्वज्ञः सर्वाधिष्ठानं नित्यं बुद्धं बुद्धं मुक्तं विदेकरसं परिपूर्णं परं ब्रह्म स्वस्वरूपत्वेन विज्ञायारोपितमसत्तुच्छमहमित्यवलम्ब्यते, किंतु प्रतिच्छायावदामासत्त्वेण प्रतीयमानेऽप्यस्मिन् देहेऽहंभावं परित्यजति । तत्रात्मस्थोदेवो रज्ज्वात्तस्याधिष्ठानयात्रात्म्यसंदर्शनेन विनष्टत्वात्ततः 'कारणनाशात्कार्यनाशः' इतिन्यायेन ब्रह्मवित्तत्राहंभावं न करोतीत्यर्थः । किंच यत्नं त्वमहनिश्चय इत्यारोपितपदार्थमहंकरणमविद्यावाचनाकृतं वृत्तिवेगलक्षणं विमुञ्चति । नित्यातिरन्तरसमाधिनिष्ठयाऽनाद्यविद्यावासानासंख्ये सति तत्कृतं यत्नं वेगलक्षणमन्तःकरणस्य परित्यजति । पूर्वं वासनाजलादन्तःकरणं परिपूर्णमपि प्राप्तस्वरूपमतिक्रम्य यथा प्रपञ्चं गृह्णाति, तथा समभित्ता वासनासंक्षयात् विशिष्य नामरूपादिप्रहङ्गं न करोति, किंत्वाभासप्रपञ्चं त्यक्त्वा सर्वत्र ब्रह्मेव पश्यति । व्युत्थानाव्युत्थानयोः सर्वदा ब्रह्मण्येव तिष्ठतीत्यर्थः । एतेन विदुषस्तदहमिति भावेनेदमित्तिवासानाद्यभावः सूचितः । दर्पं च—कृतार्थोऽहमिति ब्रह्मविद्ब्रह्ममित्यभिनिवेशलक्षणोऽन्तःकरणविकारो दर्पस्त्वं च विमुञ्चति, स्वकारणेऽज्ञानेहंकारे च समाधिना विनष्टे सति । 'कारणनाशात्कार्यनाशः' इतिन्यायेन स्वयमेव दर्पो विनश्यतीत्यर्थः । तथैव कामं क्रोधं च विमुञ्चति । संप्राप्तपदार्थभोगेच्छा कामः, स्वापकारिणं हन्तुमुद्योगः क्रोधः, तौ परित्यजति । स्वकारणस्य रजसः समाधिना निर्मूलितत्वादिनिर्मलान्तःकरणतया सम्यगप्रतिरिद्धात्मविज्ञानेन अहमेवेवं सर्वमिति सर्वात्मभावं प्राप्तस्याहं भोक्तृर्भोग्यमिति, अयं हन्ताऽहं हन्य इति विपरीतभावनाभावात्स्वभावात्स्वत्वरत्नं रागद्वेषयोरुत्तमकाशापचौ निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः । इतिन्यायेन कामक्रोधौ स्वयमेव विनाशं प्राप्तावित्यर्थः । तत एव परिग्रहं शरीररक्षणार्थत्वेन प्राप्नो यः परिग्रहः कौपीनकाषायकन्यादिस्तं चापि विमुञ्चति । एवम् 'अहंकारं यत्नं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहं' च यद्यद्बहिरन्तश्च विकल्पकारणं तत्सर्वं विमुच्य 'न दण्डं न कमण्डलुं न शिरां न यशोपवीतं नाच्छादनं' परति परमहंस' इत्युक्तत्वा देहमात्राभिष्टः परमहंसो भूत्वा । ननु शरीरस्तिवदेतोः काषायकन्यादेः परित्यागे शोषवातादिभिर्निर्गच्छ पञ्च संभवति, कथं निर्वाहकल्पयं ब्रह्मविदुषस्तस्य परमहंसस्येयादाशुच्यः । न देहादावहममेत्यभिमानत एव शीवादिभूतविक्षेपो, न तु निरभिमानस्येति । वदसंभवे हेतुमाह—निर्मम इति । स्वकारणस्याहंकारस्य विनष्टत्वाभिज्ञेयेण गतो निर्गतो देहे ममभावे । यस्य तत्र निर्ममः परदेह इव स्वदेहे ममत्वरहित इत्यर्थः । 'एतमुच्छ्रज्यमपि न हृष्यते यस्तदुत्प्रेष्यत्यवस्थम' इति श्रवणाद्ब्रह्मण्येवात्मत्वप्रत्ययवता महात्मना ब्रह्मविदाऽनात्मत्वेन त्यक्ते शयकक्षेत्रे शरीरे तदहंभावे ममभावश्च न स्थिते । तस्मिन्निष्ठव्यवस्थाविकल्पस्य । विदुषस्तदभावात्परमहंस इति सूचितितुमेव निर्मम इत्यु-

कम् । यत् एवं चिरकालनित्यनिरन्तरसमाधियोगनिर्धृताहंकारमप्रकाराद्यवियत्वासानाप्रपञ्चो यो ब्रह्मविद्याविः सर्वभूयो गृह्यप्रतियम्यो विमुक्तो भवति । तत् एव शान्तः निरिन्धनाश्रितदुःखशान्तान्तःकरणसर्वाकारस्वत एव प्रसन्नान्तःकरणतया संप्राप्तात्मयायात्म्यविज्ञानो ब्रह्मभूयाय ब्रह्मावाय-ब्रह्मभावो नाम सच्चिदानन्दै-करसब्रह्मात्मनाऽवस्थानम्-तस्मै कल्पते ब्रह्माकारेण तिष्ठतीत्यर्थः । एतेनात्यन्तश्रद्धया चिरकालं नित्यं निरन्तरं समाधिनिष्ठामेवैहां नियमेन समनुतिष्ठवस्तीतिष्ठयाऽहमादिसर्ववासनाप्रतियविच्छित्तिं सम्यक्कृतव-तस्तद्विच्छित्त्या सम्यगात्मप्रसादं लब्धवत्तत्त्वत्वा संसिद्धात्मयायात्म्यविज्ञानेनाहमेवैवं सर्वमिति सर्वमा-स्मानमेव पश्यतो ब्रह्मविदो ब्रह्मभावः सिध्यतीति सूचितम् ॥ १३ ॥

श्री० टी०-किंच-अहंकारमिति । वस्तु विश्वोऽहमित्याहंकारं, वलं दुराग्रहं, दूषं योगयत्नादुन्मार्ग-प्रवृत्तिलक्षणं, प्रारब्धवशात्प्राप्यमाणेष्वपि विषयेषु कामं क्रोधं परिग्रहं च विमुच्य विशेषेण त्यक्त्वा वला-दापन्नेषु निर्ममः सन् शान्तः परासुपशान्तिं प्राप्नोति ब्रह्मभूयाय ब्रह्माहमिति नैऋत्येनावस्थानाय कल्पते योग्यो भवति ॥ १३ ॥

स० टी०-महाकुलप्रसूतोऽहं निरक्तोऽन्यो न यत्तमः ॥ इत्येवमभिमानं च बलमत्रासवाभम् ॥ १ ॥ न क्षारीरं यत्ततश्च स्वाभाविकतया जनेः ॥ त्यागः कर्तुमशक्योऽस्ति दूषं हर्षं च दुर्मदम् ॥ २ ॥ धर्मा-विक्रमणे हेतुं ववृक्तं च स्मृतौ स्फुटम् ॥ हृष्टो हृष्यति हसः सन्नविक्रमति धर्मतः ॥ ३ ॥ कामं भोगाभि-लाषं च क्रोधं द्वेषं परिग्रहम् ॥ बाह्योपकरणं सर्वं यद्यद्विशेषकारणम् ॥ ४ ॥ परित्यज्यापिब्रह्मेवान् देह-धारणमात्रके ॥ समस्वरहितः क्षान्तश्चित्तविक्षेपचर्जितः ॥ ५ ॥ ज्ञानसाधनसामग्रीपरिपाकक्रमेण च ॥ ब्रह्मभावाय वतिराहं समर्थो भवति स्वयम् ॥ ६ ॥ अहंकारादिपदं च सम्यगैराग्यवैभवात् ॥ तथा विवे-कसाम्यया वेदान्तानां विचारणात् ॥ ७ ॥ नैरन्तर्येण स्वसङ्गद्वाराऽभ्यासादिवैभवात् ॥ त्यक्तं शक्यं भवे-द्यस्मान्मन्यथाऽतो विवेकवान् ॥ ८ ॥ अगवत्पदमालम्ब्य सतां सङ्गेन सर्वदा ॥ अभ्यसेद्ब्रह्मवस्तुवैतथं श्रीहरेरयमाशयः ॥ ९ ॥ १३ ॥

भा० टी०-किंच-अहंकारमिति । देहादिष्वहंकरणमहंकारसं देहे आत्मत्वाभिमानं, वलं कामरागादिप्र-मुक्तं सामर्थ्यं नेतरञ्जरीरादिसामर्थ्यं स्वाभाविकत्वेन तत्त्यागस्याशक्यत्वात् । दूषो हर्षानन्तरभावी धर्मावि-क्रमहेतुः 'हृष्टो हृष्यति हसो धर्मविक्रममिति' इति स्मरणात् तं च, काममिच्छाम् । वैराग्यशब्देन लब्धव्यापि कामत्यागस्य पुनर्बन्धनं तस्मिन्नाधिक्यतः कर्तव्य इति बोधनाय प्रकृत्यस्वापत्तार्थम् । श्चित्तवत्पदार्थाभिप्रयुक्तं क्रोधं, परिग्रहमिन्द्रियमनोगवदोपत्यागोऽपि क्षारीरधारणप्रसङ्गेन धर्मलुप्तानतिमिसेन वा प्राप्तं बाह्यपरिमहं च विमुच्य परित्यज्य परमहंसपरिवाजको भूत्वा देहजीवनमात्रेऽपि विगतममभावो निर्ममोऽत एव शान्तः कपरवः संहृतापातो यतिर्हानिनिष्ठो ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभवनाय ब्रह्मणोऽनुसंधानपरिपाकपर्यन्तजाय साक्षात्काराय कल्पते समर्थो भवति ॥ १३ ॥

प० टी०-अथ विश्वेकारणोन्मूलनप्रकारमहं-अहंकारमिति । अहमेवाहं निरक्तोऽहमित्याहंकारं, वलं दुराग्रहं, दूषं योगयत्नादुन्मार्गप्रवृत्तिलक्षणं, प्रारम्भे(?) कामं क्रोधं परिग्रहं च विमुच्य विशेषेण मुक्त्वा वला-त्कारेण प्राप्तेषु निर्ममो ममतायुक्तः शान्तः परासुपशान्तिं प्राप्नोति एवंमूतो योगी ब्रह्मभूयाय ब्रह्माहममिति नैऋत्येनावस्थानाय कल्पते योग्यो भवति ॥ १३ ॥

रा० टी०-अहंकारमिति । अहंकारं स्वकर्तृत्वाभिमानं, वलं स्वसमर्थत्वाभिमानं, दूषं भित्तिदेवो-रदष्टिम्, कामं विषयाभिष्टायम्, क्रोधं परिग्रहं च विमुच्य निर्ममः कर्मणि मदीयवातुकिहेतुः, शान्तः हेतुभिरप्यनुश्रितक्रोधः ब्रह्मभूयाय ब्रह्मणि स्थितिर्ब्रह्मभूयं तस्मै सर्वदा ब्रह्ममनस्तत्त्वापेक्षया, कल्पो समर्थो भवति ॥ १३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ॥

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

त० टी०—इदानीं यस्य ब्रह्मभावयोग्यतोक्ता तस्य ब्रह्मभावप्राप्तस्य लक्षणं तत्फलं चाह—ब्रह्म-
भूत इति । आविर्भूतानवच्छिन्नज्ञानधर्मात्मस्वरूपानुभूतिस्तत एव प्रसन्नात्मा बाह्यविषयानिरेष-
प्रसादयुक्त आत्मा चित्तं यस्य स तथा । तत्र किङ्कम्—न शोचति । किञ्चिदष्टं वस्तु न शोचति । न
वा अप्राप्तं किञ्चित् काङ्क्षति, आत्मानुभवस्तत्तुष्टया समलोपासकमकान्धनदृष्टिरित्यर्थः । अत एव सर्वेषु
भूतेषु समः स्वस्य स्तुतिपूजाकर्तृषु निन्दापकारकर्तृषु च मित्रारिभाववर्जितः । एवं ज्ञानसिद्धिं प्राप्तो
मद्भक्तिं लभते परा—मद्विषयां निरतिशयमीति लक्षणां परामन्यभिचारिणीं मत्साक्षात्कारासाधारणकार-
णभूतां भक्तिं लभते । पराभक्तिरपि एव ज्ञानस्य परा निष्ठा फलमित्यर्थः । तथोक्तं श्रीभागवते—
“आत्मात्माश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्यहं तु कौं भक्तिमित्यंभूतगुणो हरिः । सनन्दना-
दयो ये च ब्रह्मभावनाया युताः” इति विष्णुपुराणोक्तब्रह्मभावनावातां सनन्दनादीनामपि “हरिः
शरणमित्येव नित्यं तेषां मुखे वचः” इति भागवतमाहात्म्ये अहंनिवृत्ताभक्तस्मरणस्य पराभ-
क्तिरक्षणस्य प्रतिपादनात् । एवं विशुद्धबुद्ध्यादियोगपूर्वकप्रशान्तस्य ब्रह्मभूतस्यापि पराभक्तिरूपक-
धनेनोक्तसाधनमक्रियां विना सर्वभूतसमत्वं लक्षणब्रह्मभावयोग्यता न भवति । उक्तब्रह्मभावं विना
पराभक्तिर्न लभ्यते, तस्मात् पराभूतेः क्षेत्रज्ञस्वरूपधातम्यज्ञानोत्तरभावेति न विशीयते ॥ ५४ ॥

म० टी०—केन क्रमेण ब्रह्मभूताय कल्पत इति उदाह—ब्रह्मेति । ब्रह्मभूतः अहं ब्रह्मास्मीति दृढनि-
श्चयवान् अवगमननाभ्यासात् प्रसन्नात्मा शुद्धचित्तः ह्रस्वमाद्यभ्यासात् । अत एव न शोचति नष्टं न का-
ङ्क्षति प्राप्तम् । अत एव निग्रहानुग्रहयोरनारम्भात् समः सर्वेषु भूतेषु आत्मोपम्येन सर्वत्र सुखं दुःखं च पश्य-
तीत्यर्थः । एवंभूतो ज्ञाननिष्ठो यतिर्मद्भक्तिं मयि भगवति शुद्धे परमात्मनि भक्तिमुपासनां मदाकारचित्तवृत्त्या-
वृत्तिरूपां परिपक्वनिदिध्यासनाख्यां अवगमननाभ्यासफलभूतां लभते । परां चेष्टागन्धवानेन साक्षात्कार-
फलान् “चतुर्विधा भजन्ते माम्” इत्यनोक्तस्य भक्तिचतुष्टयस्यान्त्यं ज्ञानलक्षणमिति वा ॥ ५४ ॥

शुं० टी०—एवं विशुद्धबुद्धिर्वादिषट्कारिसाधनसंपत्त्या समनुष्ठितज्ञानयोगनिष्ठा समुत्पन्नसम्यग्ज्ञानेन
ब्रह्मभावं गतवतो महात्मनो जीवन्मुक्तस्य कृतार्थस्य यतेः स्थितिमाह श्लोकार्थेन—ब्रह्मभूत इति । निवृत्त-
साधनसंपत्त्या समनुष्ठितसमाधिनिष्ठा विष्वक्स्वरजस्वस्तत्कार्यरहितपदार्थपादहंकारसमकाराद्यशेषनलक्षणा प्रसन्नः
वेनलुद्धसत्त्वभावपन्नः सर्वत्र ब्रह्ममात्रप्रहणेन प्रशान्तो विपरीतवृत्त्यतिशुक्ल आत्मान्तकः करणं यस्य स
प्रसन्नात्मा समाधिनिष्ठा परिपक्वबिज्ञानः । तत एव इत्यसंबन्धं परित्यज्य ब्रह्मभूतः—सद्वृत्तं चिद्धनमान-
न्ददत्तं यत्परं ब्रह्म एव देवाहमिति तज्ज्ञात्वा गतो जीवन्मुक्तो ब्रह्मविद्यमानो न शोचति शोकं
न करोति, शोकहेतोरनर्थस्याभावात् । लोके यं कंचनानर्थमात्मनो दृष्ट्वा मूढः शोचति, तदभावात्तयं
शोचति । न हि सर्वं स्वमेव पश्यतो विदुषः संभवत्यर्थान्तरमनर्थक्यं, यद्वृत्ताड्यं शोचेत्—“द्वितीयोद्वेगं भयं
मरति” इति द्वैतस्यैव भयहेतुत्वं श्रूयते दृश्यते च स्वव्यतिरेकस्यैव भयकारणत्वं दुःखकारणत्वं च ।
ततः स्वमेव सर्वत्र निर्विकरत्वं प्रशान्तं वृद्धिभ्रष्टादिवाजिपमानन्दधनमद्वितीयं च पश्यतोऽनर्थहेतो-
रन्यथादर्शनाद्ब्रह्मविद्यमः शोकनिमित्ताभावात् शोचतीत्यर्थः । नन्वाभासरूपेण विदुषोऽप्युपा-
धिरस्त्येव, वद्रेकस्यैशुष्ययोः शोकनिमित्तयोः संभवत्वात् विद्वान् शोचतीति चेन्न । देहे ममताभावस्य
प्रतिपादितवापरे हेतुमतेति मद्भावेन एव वद्रेकस्यैशुष्ययोः शोकः संभवति, किंतु प्रदीपादं न तु देह

इति निरभिमानस्य सर्वात्मन्येव तयोरविषये ब्रह्मण्यात्मभावापत्त्या तदात्मना निरुद्धवृत्तेर्विदुषः प्रतिच्छा-
यावदुपाधेरसत्त्वात्तन्निमित्तकः शोको न संभवति । तथा च श्रुतिः “ किमिच्छन्कस्य कामाय ” इति,
“मत्वा धीरो हर्षशोको जहाति ” इति, “ कः शोक एकत्वमनुपदयतः ” इति च । न काहुति च निरुक्त-
क्षणो ब्रह्मविद्यार्तिर्न किंचिदर्थान्तरं कामयेत । सर्वोद्योगप्रतिमर्थं कामयते, न तथास्य ब्रह्मवेदः प्राप्तव्यमर्थान्तर-
मस्ति यत्कामयेत ममेदं भूयादिति । “अहमज्ञमहमज्ञमहमज्ञमज्ञादोऽहमज्ञादोऽहमज्ञादः” इति, “अहं मनुरभवं
सूर्यश्च” इतिन्यायेन स्वस्यैव शोक्तुमोग्यात्मनाऽवस्थितत्वात्स्वव्यतिरिक्तवस्तुन्तराभावाच्च अहमेवेदं सर्वमिति
सर्वात्मभावापत्त्या सर्वस्यापि वस्तुनः स्वात्मत्वेन प्राप्तत्वाच्च कामनैव न संभवति, तत एव न काहुति ।
“सोऽश्नुते सर्वकामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिवा” इति ब्रह्मभावापन्नस्य यतेः सर्वकामातिश्रवणाद्वातसर्वका-
मस्य कामयितृत्वासंभवात्कामं क्रोधमिति कामस्य परित्यक्तत्वाच्च प्रत्यवित्कथिर्किंचिदपि न काहुती-
त्यर्थः । ज्ञानस्य सम्यक्त्वसिद्धये विशुद्धपुष्टित्वाविषादनसंपत्त्या ज्ञाननिष्ठां कुर्वतोऽसत्यतागुर्वैश्व-
ब्रह्मप्रातिरेक सूचिता न तु निष्ठया संप्राप्तज्ञानस्वरूपम् । तेन वस्तुतत्त्वनिर्धारणप्रकारो निर्धारितवस्तुप्राप्तिश्च
जिज्ञासोर्विज्ञातव्यम् । तदेतत्सर्वसंक्षेपेण प्रतिपादयति सार्धेन—सम इति विशुद्धपुष्टित्वादिमस्तद्रुद्धित्वादिभिश्च
ज्ञाननिष्ठासहकारिसाधनैः सम्यक्संपन्नः समदर्शनपरः सम्यग्ज्ञानसिद्धयै ज्ञाननिष्ठयां प्रवृत्तौ ब्रह्मविद्यैः
“अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्वनवस्थितम्” इति, “सर्वभूतेषु येनैकम्” इत्युक्तप्रकारेण भूतेष्वकाशादिस्थूलान्तेषु सूक्ष्म-
कार्येषु च ब्रह्मादिस्थान्त्वान्तरीरेषु सर्वेषु सर्वत्र पराज्ञाननिष्ठापरिपाकजन्यत्वात्संशयनिर्पयादिकोपनिर्मुक्त-
त्वादप्रतिषेधत्वात्परमार्थबोधकत्वाच्च पराप्रकृष्टा तां परां मज्जति—विपश्चिकारं भजति इति भक्तिज्ञानं निष्ठा-
परिपाकजं मम सर्वभूतात्मभूतस्य त्रिविधोपस्थापरिच्छिन्नस्य सर्वोपाधिधिनर्मुक्तस्य विदेकरसस्य परस्य ब्रह्मणो
भक्तिर्मज्जतिक्लिंतां लभते । नित्यनिरन्तरसमाधिनिष्ठयान्तःकरणस्य शुद्धसत्त्वभावापत्तौ सर्वत्र मत्स्वरूपमा-
त्रप्राहकनष्टैतदविषयं ज्ञानं ब्रह्मविद्याप्रोवीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

श्री० टी०—ब्रह्माहमित्येवं नैष्ठिक्येनवस्थानस्य फलमाह—ब्रह्मभूत इति । ब्रह्मभूतो ब्रह्मण्यवस्थितः प्रस-
न्नचित्तो नष्टं न शोचति न चाप्राप्तं काहुति देहात्मभिमानाभावात् । अत एव सर्वेष्वपि भूतेषु समः सन्
राक्ष्सेषादिकृत्वविक्षेपाभावात् सर्वभूतेषु मद्भावनालक्षणां परां मज्जति लभते ॥ ५४ ॥

स० टी०—येन क्रमेण ब्रह्मात्मभावयोग्यो भवेन्मुनिः ॥ तदाह ब्रह्मभूतश्च ब्रह्मसमीति मुनिश्चितः
॥ १ ॥ अवगादेः सदाभ्यासात्प्रसन्नात्मा विशुद्धधीः ॥ शमाद्यभ्यासतो नष्टमिष्टं वस्तु न शोचति ॥ २ ॥
नाप्राप्तं काहुति स्वस्यः सर्वभूतेषु यः समः ॥ आत्मौपन्येन सर्वत्र सुखं दुःखं च पश्यति ॥ ३ ॥ ज्ञान-
निष्ठः पुमानेवं मयि श्रुते परात्मनि ॥ वपासतो मदाकारधीश्वर्या वृत्तिरुपिणीम् ॥ ४ ॥ अवगादेः
सदाऽभ्यासफलभूतामनुत्तमाम् ॥ निदिध्यासनसंसिद्धां साक्षात्कारकलां पराम् ॥ ५ ॥ मज्जति लभते
धीरश्वत्थुर्धो ज्ञानलक्षणाम् ॥ ६ ॥ ५४ ॥

भा० टी०—ब्रह्मभूत इति । जनेन क्रमेण ब्रह्मभूतः ब्रह्मभवनसमर्पत्वात् ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा प्रसन्नः
कर्तृत्वादिविनिर्मुक्तः आभिर्भूतानन्द आत्मा प्रत्यगात्मा यस्य च लब्धात्मप्रसादः न शोचति किंचिदर्थवैक-
ल्यमात्मनो वैगुण्यं चोद्दिश्य न शोचति न संतप्यते, न काहुति अप्राप्तं वस्तु । ब्रह्मभूतस्य शोककाहुत्ये-
रनुपपन्नत्वाच्च स्वभावाज्जुलते न शोचति न काहुतीति । न हृष्यतीति वा पाठः । रमणीयं प्राप्य न
प्रमोदते तस्य निष्प्राप्त्येन निश्चयादित्यर्थः । सर्वेषु भूतेषु समः सुखं दुःखं वा आत्मौपन्येन सममेव
पश्यतीत्यर्थः । नत्वात्मसमदर्शनमिह प्राप्तं भक्त्या मामभिजानातीति तस्य वक्ष्यमाणत्वात् । य एवभूतः
स मद्रूपया भक्तिं ‘आर्तो जिह्वासुरार्थी ज्ञानी च’ इत्यग्रेकां चतुर्थी ज्ञानलक्षणां । तेषां ज्ञानी नित्यमुक्तः
एकभक्तिर्विशिष्यते’ इत्युक्तं परामनुत्तमां लभते प्राप्नोति ॥ ५४ ॥

प० टी०—तथाविधत्वस्य फलमाह—ब्रह्मभूत इति । ब्रह्मण्यवस्थितः प्रसन्नचित्तः सन् न शोचति । न चाप्राप्तं काङ्क्षति देशभिमानाभावात् । अत एव सर्वेषु भूतेषु समो न केवलं वारतम्यवर्जितः, किं तु परासु-
त्कृष्टां मज्जति लभते सर्वभूतेषु मज्जानयना भजते ॥ १४ ॥

रा० टी०—ततः किमिष्यत आह—ब्रह्मभूत इति । ब्रह्मणि स्थितमनस्कः लक्ष्मीं प्रापः प्रसन्नात्मा स्वतः
एव विषयेष्वप्रवृत्तमनाः न शोचति न काङ्क्षति । सर्वेषु भूतेषु समः परां भक्तिं लभते ॥ १४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ॥

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ १५ ॥

त० टी०—ततश्च “भक्तिरेवैनं वर्धयति, भक्तिरेवैनं दर्शयति, भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव
भूयसी” इति श्रुत्युक्तं भक्तेर्भगवद्दर्शनासाधारणकारणत्वं सदृशीकरणत्वं चाह—भक्त्येति । ततस्तथा
भक्त्या यावान् वादशगुणवृत्तिविभूतेरिमानहं यथ सखिदानन्दविग्रहः सर्वज्ञः सर्वकारणं सर्वान्तर्यामी
देशकालवस्तुपीरच्छेदशून्यः सर्वव्यापकोऽपि सर्वदोषास्पृष्टः सकलचेतनाचेतनभिन्नाभिन्नस्वभावस्तं मां
तत्त्वतः संशयविपर्ययराहित्येनाभिजानाति, साक्षादनुभवति । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा तदनन्तरं
मयि विशते निरतिशयानन्दं मामनुभवभिरतिशयानुरागेण सर्वदा मां परिचरन्मभिनिविष्टो मयि वर्तते,
कदाचिन्मदृष्टयोगोचरो न भवति । तद्भक्त्या वर्धनीभूतोऽहमपि कदाचित्तदृष्टधर्मोचरो न भवामीत्यर्थः ।
“यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । तस्य हि न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति” इत्युक्तरीत्या
सर्वदा मद्दर्शनपरिचर्यया मदविनाभावेन मय्येव वर्तते । न च मूढः कदाचिद्विदुष्यते इति भावः ॥ १५ ॥

प० टी०—तच्च भक्त्या निदिध्यासनात्मिकया ज्ञाननिष्ठया सामद्विवीच्यमात्मानमभिजानाति साक्षा-
त्करोति । यावान् विभुर्नित्यश्च यश्च परिपूर्णसत्यज्ञानानन्दव्ययः सदा विष्वस्तसर्वोपाधिरूपवैकरस एकस्ता-
वन्तं चाभिजानाति । ततो मामेवं तत्त्वतो ज्ञात्वा अहमस्यस्वरूपज्ञानन्दद्विवीचं ब्रह्मेति साक्षात्कृत्य विशते
अज्ञानतत्कार्यनिवृत्तौ सर्वोपाधिशून्यतया मद्रूप एव भवति । तदनन्तरं बलवत्पारमार्थिकमोहेन (ण) देहपाता-
नन्तरं ननु ज्ञानानन्तरमेव । क्त्वाप्रत्ययेनैव तद्धाभे तदनन्तरमित्यस्य वैयर्थ्यापादात् । “वस्मात्तस्य वावदेव
चिरं यावन्न विमोक्षेऽयं संपत्स्ये” इति श्रुत्यर्थ एवात्र दर्शितो भगवता । यद्यपि ज्ञानेनाज्ञानं निवर्तितमेव
क्षीयन्नेव वनस्तस्य तद्विरोधित्वभाक्त्वात्, तथापि तदुपादेयमहंकारदेहादि निरुपादानमेव यावत्प्रारब्धकर्म-
भोगमनुवर्तते दृष्टकादेव । नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । तर्किकैरपि हि समवायिकारणनाशाद्वाह्यनाशमङ्गीकुर्वन्नि-
रुपादानं त्रयं क्षणमात्रं विद्यवीत्यङ्गीकृतम् । नित्यपरमाणुसमवेतद्रव्यणुकनाशे स्वसमवायिकारणनाशादेव
द्रव्यनाशः । समवायिनिरूपितकारणनाशत्वमुभयोरनुगतमिति नानुगमः । ये त्वसमवायिकारणनाशमेव
सर्वत्र कार्यद्रव्यनाशकमिच्छन्ति तेषामाश्रयनाशस्थले क्षणत्रयमनुपादानं कार्यं विद्यति । एवं च तत्रैव
प्रतिबन्धकसंनिपाते घट्टकालावस्थितिः केन वार्यते । प्रारब्धकर्मणश्च प्रतिबन्धकत्वं श्रुतिसिद्धं, अन्तःकरणदेहा-
द्यसंस्थित्यन्यानुपपत्तिसिद्धं च । एवं, सिध्यसेवकाद्यदृष्टमपि तत्प्रतिबन्धकं तदमात्रमपेक्ष्य च पूर्वसिद्ध
एवाज्ञाननाशस्तत्कार्यमन्तःकरणादिकं नाशयतीति न पुनर्ज्ञानापेक्षा । तदुक्तम् “तीर्थे श्वपचगूदे वा नष्ट-
स्थितिरपि परित्यजन्नेहम् । ज्ञानसमकालमुक्तः केवल्यं याति हृद्योक्तः ॥” इति । न जानामीत्यादिप्रत्ययस्तु
तस्य निवृत्त्याज्ञानस्याप्यज्ञाननाशज्ञाननिवादानुपादानात् साक्षात्तमाश्रयादेवाज्ञानसंस्कारात्तत्त्वज्ञानसंस्कारानि-
वर्त्यादन्वयः करणमित्यप्येति विवरणरूपः । अहं ब्रह्मास्मीति चरमसाक्षात्कारानन्तरमहं प्रज्ञं न भवामि
न जानामीत्यादिप्रत्ययो नास्त्वेष । यदि परं घटं न जानामीत्यादिप्रत्ययः स्याच्छुद्धपादनाय चेयं संस्कार-

ब्रह्मैवं प्रत्यंगृह्णा सर्वतः सम्यग्विवर्षयि कृतं सदेकरसतया ज्ञात्वाऽवधार्य रज्जोः स्वरूपसंदर्शनेन यत्सत्तात्मना भानं तद्रज्जोरिव केवलेति करगृहीताया रज्जोः कैवल्यमिव । 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्मपश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण अधश्चोर्ध्वं प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' इत्येवं दृष्ट्या ज्ञाननिष्ठापरिपक्वया 'सर्वं ब्रह्मैव केवलम्' इति ब्रह्मणः कैवल्यं निश्चित्य सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति सर्वस्य च स्वस्य च ब्रह्ममात्रत्वं सम्यगनुभूयेत्यर्थः । 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्युक्तरीत्या ज्ञानादेव मुक्तिर्नान्यथा इति श्रुत्यनुगतं स्वनिश्चयमाह—तत इति । तदनुन्तरं—यदैवं विज्ञानं वस्तु तत्त्वनिश्चयात्मकं निरुद्धमप्रतिबद्धं जायते—तदनुन्तरमेव प्रबोधस्थूलदेहप्राप्त्योरिव ब्रह्मवेदनवस्त्राप्त्योरुत्तरालाभावात्सम्यग्ज्ञानोत्तरक्षण एव ब्रह्मनिष्ठो यतिस्तत्स्तेनैव ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेन विश्वे, अहं ब्रह्मास्मीति स्वात्मना साक्षात्कृते निर्विशेषे चिदेकरसे परे ब्रह्मण्यानन्दानन्दमन्येव देवाहमस्मीत्यहं बुद्धिं प्रवेशयति । स्थूले स्वरूपरूपे निद्रयाऽन्यथाभावं गतः पुरुषः प्रबोधेन तन्निवृत्तौ सस्यां चत्वारंशुद्धिं यथा करोति तथा स्वाज्ञानेन विपरीतभावं गतो विद्वान् विवेकविज्ञानेन तन्निवृत्तौ सस्यां स्वात्मन्येव ब्रह्मणि एतदेवाहमिति तत्राहं बुद्धिं करोति, न तु देवदत्तो गृह इव ब्रह्मणि प्रविशति, ब्रह्मणः परिपूर्णत्वाभिरवयवत्वेन संकोचव्याकोचशून्यत्वादाप्तुः स्वरूपवर्णि-
त्याप्तत्वाच्च प्रवेदयत्वायोगात् । "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवल्लयन्ते । ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्नोति । ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति । तमेवं विद्वानमृत इह भवति" इति विदुष उक्तमपराहिरयेन ब्रह्मात्मनाऽवस्थितस्यैवैव ब्रह्मप्राप्तेः श्रूयमाणत्वाद्भूतृत्वगन्तव्यगमनक्रिया न संभवन्ति, किंतु 'एतस्मिन्नहं देवेऽनात्मे देवेऽनिरुक्तेऽनिरुपनेऽमयं प्रतिष्ठां विन्दते' इति भवणादृश्यत्वादि लक्षणलक्षिते प्रत्यस्तीमहाशेषविशेषे अजरेऽमृतेऽमयेऽपूर्वेऽनपरेऽनन्तरेऽबाधे नित्यानन्दात्मणैकरूपेऽद्वितीये परे ब्रह्मण्यहंबुद्धिप्रतिष्ठापयति श्रुत्याचार्येश्वरामप्रसादसंपत्त्या कृतार्थो ब्रह्मविज्ञानो यतिः सविशेषं परित्यज्य निर्विशेषब्रह्मात्मना मुक्तं तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

श्री० टी०—ततश्च—अवस्थां मामिति । तथा च परया भक्त्या तत्त्वतो मामभिजानाति । कथंभूतम् ? यावान् सर्वव्यापी यश्चास्मि सविदानन्दघनस्तथाभूतम् । ततश्च मामेवं तत्त्वतो ज्ञात्वा तदनुन्तरं तस्य ज्ञानस्याप्युपरमे सति मां विश्वे परमानन्दरूपो भवतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

स० टी०—निदिध्यासनरूपिण्या भक्त्याऽऽत्मज्ञाननिष्ठया ॥ सामद्वितीयमात्मानं सम्यक्साक्षात्करोति सः ॥ १ ॥ यावान्विबुधश्च नित्यश्च यज्ञानन्दपानोऽद्वयः ॥ सत्यज्ञानवपुः सर्वोपाधिभूतः सदाऽमलः ॥ २ ॥ अरुणैकरसः शुद्धस्तावन्तं मां च तत्त्वतः ॥ अभिजानाति सर्वज्ञस्त्वतो मां स यथार्थतः ॥ ३ ॥ ज्ञात्वा-
हमन्त्यजपण्डितानन्दप्रसेति सद्धिया ॥ साक्षात्कृत्य निबुध्यताम् ज्ञानस्य सकलस्य च ॥ ४ ॥ सर्वोपाधि-
विनिर्मुक्तो मद्रूपः केवलो भवेत् ॥ प्रारब्धकर्मभोगेन देहावादानन्तरम् ॥ ५ ॥ कैवल्यार्थं परं धाम
मामेव विश्वे सुनिः ॥ यद्यपि ज्ञानसंप्राप्तिसमये भगवद्वपुः ॥ ६ ॥ ह्यनी तथापि प्रारब्धकर्मभासेन
वद्वपुः ॥ नराकारतया भाति व्ययहारेऽप्यदेहवत् ॥ ७ ॥ प्रारब्धकर्माणि क्षीणे त्यक्त्वा मायामयं वपुः ॥
चिदानन्दपदे स्वात्मतत्त्वे वद्वपु एव सन् ॥ ८ ॥ तिष्ठतीति हरेरेवं तात्पर्यमिह गम्यते ॥ यद्यपि ब्रह्म-
योगेनाज्ञानं सर्वं निर्वर्तितम् ॥ ९ ॥ दीपेनेव तमस्तस्य तद्गोचरित्वमावृतः ॥ तथापि वदुपादेवं देहादि-
प्रकाशेदितः ॥ १० ॥ निरुपादानमनुवर्षते निजकर्मणा ॥ दृष्टयादेव दृष्टे नानुपपन्नं ज्ञानमपि ॥ ११ ॥
वार्द्धिकेऽपि देहोऽथ विनादास्तमवायिनः ॥ निरुपादानकं द्रव्यं क्षणमात्रं हि विद्यति ॥ १२ ॥ इत्येवं
स्वीकृतं वद्वद्वपुःसमयं संभवेत् ॥ तथापि कल्पनाऽनादिवया योग्यः क्षणः किल ॥ १३ ॥ शरीरादि-
स्थितेरेषामप्येऽगोऽप्यदोषता ॥ यैरप्यज्ञानलेहोऽत्र स्वीकृतस्तेषां स्फुटम् ॥ १४ ॥ देहादित्यतिस्थित्यर्थः
निर्वाहं शैल्यर्थपन्न ॥ आभासभात्रदेहापाहंकारोऽपि वाद्वपुः ॥ १५ ॥ नहि तेन विना वज्रदेहादि-

यन्नामा यद्वपश्चास्मि । वादशं मां प्राप्नुक्त्या परमभवत्या तत्त्वतः अभि स्वयोग्यतानुसारेण जानाति ।
तेनापि किमित्यत आह—तत् इति । सकृन्वल्लक्षत्त्वो मां ज्ञात्वा तदनन्तरं मां विज्ञते मदनुप्रविष्टो भवति
मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्भयाश्रयः ॥

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

त० टी०—एवं वर्णाश्रमोचितनियतकर्मणां फलकर्तृत्वाभिसंघानरहितानां नैष्कर्म्यसिद्धिर्मासिद्धिद्वारेण
भगवत्प्राप्तिफलकत्वमुक्तम् । इदानीं नैष्कर्म्यसिद्धयभावे कर्मकर्तुः किं फलं स्यादित्यपेक्षायामाह—सर्व-
कर्माणीति । सर्वकर्माणि वैदिकलौकिकानि विविहीनान्यपि सदा कुर्वाणोऽनुतिष्ठन् मद्भयाश्रयः अहं
सर्वेश्वर एव व्यापश्रयः समाश्रयणीयो न त्वन्यो देवः फलं वा यस्य ॥ मत्प्रसादात् शाश्वतपदमदि-
मव्ययं परिणामशून्यं नित्यं पदं मद्गम प्राप्नोति ॥ ५६ ॥

म० टी०—ननु योऽनात्मज्ञोऽशुद्धान्तःकरणः सोऽन्तःकरणशुद्धिपर्यन्तं सहजं कर्म न त्यजेत् । यस्तु
शुद्धान्तःकरणः स नैष्कर्म्यसिद्धिं संन्यासेनाभिगच्छतीत्युक्तम् । संन्यासश्च ब्राह्मणेनैव कर्तव्यो न क्षत्रियवैश्या-
भ्यामिव प्रागुक्तं भगवान् 'कर्मणैव हि संसिद्धिमाप्स्यता जनकादयः' इत्यत्र । वन शुद्धान्तःकरणेन क्षत्रिया-
दिना किं कर्माण्यनुष्ठेयानि किंवा सर्वकर्मसंन्यासः कर्तव्यः ? नाद्यः—'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तथैव शमः कारणमुच्यते ॥' इत्यादिना योगमन्तःकरणशुद्धिमारूढस्य कर्मानुष्ठाननिषेधात् ।
न द्वितीयः । 'सर्वभूतं निधानं श्रेयः परमं भवावहः' इत्यादिना ब्राह्मणधर्मस्य सर्वकर्मसंन्यासस्य क्षत्रिया-
दिकं प्रति निषेधात् । नच कर्मानुष्ठानकर्मस्यागयोरन्यतरमन्तरेण तृतीयः प्रकारोऽस्ति । वस्मादुभयोरपि प्रति-
पिद्धत्वेन गत्यन्तराभावेन चावश्यकत्वेन प्रतिषेधातिक्रमे कर्मस्याग एव श्रेयात् बन्धहेतुपरित्यागेन मोक्षसा-
धनपौष्पक्यात्, न तु कर्माण्यनुष्ठेयानि चित्तविशेषहेतुत्वेन मोक्षसाधनज्ञानप्रतिबन्धकत्वादित्यभिप्रायमर्जु-
नस्यालक्ष्याद् भगवान्—सर्वेति । यः पूर्वोक्तैः कर्मभिः शुद्धान्तःकरणः सोऽवश्यं भगवदेकधारणः भगवदे-
कधारणतार्यन्तवत्वात् अन्तःकरणशुद्धेः । एतादृशश्चेत् ब्राह्मणः संन्यासप्रतिबन्धरहितः सर्वकर्माणि संन्यास्य-
तु नाम । संसारविमोक्षस्तु तस्य भगवदेकधारणस्य भगवत्प्रसादादेव । एतादृशश्चेत् क्षत्रियादिः संन्यासान-
धिकारी स करोतु नाम कर्माणि, किंतु मद्भयाश्रयः अहं भगवान् वासुदेव एव व्यापश्रयः शरणं यस्य स
मदेशकरणो मत्परितोषसर्वप्रभावः संन्यासानधिकारात् सर्वकर्माणि सर्वाणि कर्माणि वर्णाश्रमधर्मरूपाणि
लौकिकानि प्रतिपिद्धानि वा सदा कुर्वाणो मत्प्रसादान्ममेश्वरस्यानुग्रहात् अवाप्नोति हिरण्यगर्भवन्महिशानो-
त्पत्त्या शाश्वतं नित्यं पदं वैष्णवमव्ययमपरिणामि । एतादृशो भगवदेकधारणः करोत्येव न प्रतिपिद्धानि
कर्माणि, यदि कुर्वात्तथापि मत्प्रसादादव्ययवायानुत्पत्त्या मद्विज्ञानेन मोक्षमगमवतीति भगवदेकधारणतास्तुत्यर्थं
उपकर्माणि सर्वदा कुर्वाणोऽतीत्यनूचते ॥ ५६ ॥

मं० टी०—स्वकर्माणां तमभ्यर्च्येत्यारभ्य विज्ञते तदनन्तरमित्यन्तेन मन्थनेन मुमुक्षोरीधरार्पणयुद्धा सम-
गुष्ठिवर्गभिरैव सत्त्वशुद्धिः, शुद्धात्मन एव ज्ञानं, ज्ञानवत् एव मोक्ष इति ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनभावं
सर्वज्ञाप्रसिद्धं निर्धारयितुं कर्मभिश्चिच्छुद्धिं शुद्धात्मनो ज्ञानं यस्य फलं मोक्षं च क्रमेण प्रविष्टायाधुना
(आरुरुक्षोर्द्विग्राह्यरूढस्य च यतेश्वोभयोर्मोक्षककामयोनित्वं नियमेन कर्तव्यमर्थनिर्णयायोत्तरमन्य आर-
भ्यते ।) उपायो ज्ञानं मोक्षफलं चिच्छुद्धिं विना न सिध्यति, चिच्छुद्धिश्च स्वकर्मभिरपेक्षारपणयुद्धा
द्विजेन तु कामनया, आरुरुक्षोरीधरयोस्तैः कर्मभावस्य कर्तव्यमिति बोधयितुं मत्प्रोक्तं कर्माणि कुर्वाणो

मत्प्रसादान्मुक्तिं प्राप्नोतीत्याह-सर्वेति । मद्भूषणाश्रयः योऽहम् “अग्निर्गृध्रा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ” इत्युक्तलक्षणः सर्वभूतः सर्वात्मकः परमेश्वरः स एव ज्योपाश्रयो भवमुक्त्यै स्वकर्मभिरारोचनीयो यस्य ॥ मद्भूषणाश्रयः स्वाराधयेषु देवैष्वग्न्यादिषु योगे यामीयेषु चरुणुण्डाससुगादिषु च सर्वत्र मद्भावनायुक्तो भूत्वा मुमुक्षुः सर्वकर्मणि सर्वाणि श्रोतानि स्मार्तानि च नित्यानि नैमिचिकानि च कर्माणि विशुक्तानि मत्प्राप्त्यै ब्रह्मया भक्त्या च कुर्वाणः सन् मत्प्रसादान्मम भक्त्याऽनेकजन्मसु समनुष्ठितकर्मभिः संतोषितस्य परमेश्वरस्य प्रसादोऽनुग्रहस्तस्मात्सर्वशुद्धिं ज्ञानं च लब्ध्वा अनन्यं वृद्धिस्तयुर्वाजितं न्यूनार्थिकभाववर्जितं सदैकरूपं शाश्वतं नित्यं पदं मोक्षार्थं प्राप्नोति-कर्मभिः संतुष्टेयमनुग्रहान्मुक्तिं विन्दतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

शाश्वतं नित्यं पदं मोक्षारूपं प्राप्नोति कर्माभः सर्वदुःखरनुग्रहं ह्येतत् किं नृणां वन्द्यम् ॥ १११ ॥
 श्री० टी०—एवमर्थः पश्येत्शराधनादुक्तं मोक्षप्रकारमुपसंहरति—सर्वकर्माणीति । सर्वकर्माणि नित्य-
 नैमित्तिकानि कान्यानि च कर्माणि पूर्वोक्तक्रमेण सर्वदा कर्तव्याः सन् महत्पराश्रयः अहमेव व्यापारय आश्रय-
 णीयो न तु स्वर्गादिकलं यस्य सः मय्यसादाच्छाश्वतमनादि अवयवं नित्यं सर्वोत्तमं वैष्णवं पदं प्राप्नोति ॥११॥

स० टी०-अज्ञो धीशुद्धिपर्यन्तं सहजं कर्म न त्वजेत् ॥ शुद्धान्तःकरणो यस्तु नेष्टर्क्य सोऽधिगच्छति ॥ १ ॥ संन्यासेनेति पूर्वोक्तं संन्यासो प्राक्षणेन वै ॥ कर्तव्यो ज्ञान्यवर्गेनेत्युक्तं भगवता पुरा ॥ २ ॥ कर्मणैव हि संप्रित्तिमास्थिता जनकादयः ॥ चित्रशुद्धिमवस्वर किं कर्मकरणं वरम् ॥ ३ ॥ नृपादेर्वार्य संन्यास इत्यत्राह जगत्वविः ॥ पूर्वोक्तेः कर्मभिरेतु शुद्धान्तःकरणः युमान् ॥ ४ ॥ सोऽवनृपादेर्वार्य संन्यास इत्यत्राह जगत्वविः ॥ पूर्वोक्तेः कर्मभिरेतु शुद्धान्तःकरणः युमान् ॥ ४ ॥ सोऽवश्यं भगवत्कृष्णपदैकशरणो भवेत् ॥ श्रीमद्भगवतः पादसरोजे मक्तिहस्ता ॥ ५ ॥ विचशुद्धेः कृतं श्रेष्ठं ततो ज्ञानादिमुक्ता ॥ ईदृशो प्राक्षणक्षेत्रस्यात्मरूपैरात्म्यसंयुतः ॥ ६ ॥ स सर्वं कर्म संन्यस्य भगवच्छरणं ब्रजेत् ॥ तस्य संसारतो मोक्षः स्याज्जगत्प्रसादतः ॥ ७ ॥ ईदृशः क्षत्रियादिष्वेत्यसंन्यासे ऽधिकृतो न सः ॥ स्वधर्मे निघ्नं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ८ ॥ इति प्राज्ञपथमस्य संन्यासस्य च ऽधिकृतो न सः ॥ स्वधर्मे निघ्नं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ८ ॥ इति प्राज्ञपथमस्य संन्यासस्य च कर्मजात् ॥ क्षत्रियादिं प्रति श्रीमद्विष्णुना नियेषतः ॥ ९ ॥ संन्यासान्वितिकारात्स कुर्वाणः सन्तदेव कर्मजात् ॥ क्षत्रियादिं प्रति श्रीमद्विष्णुना नियेषतः ॥ ९ ॥ संन्यासान्वितिकारात्स कुर्वाणः सन्तदेव च ॥ सर्वकर्माणि वर्णादिधर्मरूपाणि त्सरः ॥ १० ॥ भगवान्वासुदेवोऽहं कृष्ण एव व्याप्राश्रयः ॥ शरणं यस्य नित्यं स मेकशरणो महान् ॥ ११ ॥ मयेवार्पितसर्वोत्तमभावोऽसौ मदनुग्रहात् ॥ हिरण्यगर्भवत्सत्यकुम्भश्चिह्नानजनेस्तवः ॥ १२ ॥ नित्यकृतस्यैवं व्योक्तिः पदं प्राप्नोति वेण्वन् ॥ १३ ॥ १६ ॥

गर्मवत्सम्यक्प्रज्ञादानजनेस्त्वयः ॥ १९ ॥ नित्यं कृत्यै स्व ज्ञातव्यं प्रसादात् ॥
भा० टी०—एवं शुद्धान्तःकरणस्य सैन्यासाधिकादिणो ब्रह्मप्राप्तिक्रमविभिनानामज्ञस्याशुद्धान्तःर-
णस्य सैन्यासानधिकारिणो ब्रह्मप्राप्तिसाधनं भगवन्नक्तियों तत्र यत्र प्रतिपादितं शास्त्रार्थोपदेशपरकमे-
शास्त्रार्थनिश्चयदाढ्याय स्वीति—सर्वेति । सर्वाणि नित्यनैमित्तिकाक्षिणि प्रविष्टान्न्यायि खरा कुशीनोऽनु-
विष्टनि मन्व्यपात्रयोर्द्ध नासुरेष ईश्वरो व्यपात्रय आश्रयणीयो वस्य स मन्व्यपात्रयो मन्व्यपित्तसर्वा-
स्मभावः मत्प्रसादात् अमेधारास्य प्रसादात् क्षाश्वं नित्यमव्ययमपल्लयजन्यं पदं वेण्वपममाप्नोति । निवि-
ष्टान्यव्याचरन् शश्वं पदमव्ययमपाप्नोतीत्युक्त्या पापत्यापि मोक्षफलेतुल्यं स्यादित्यादाङ्मानिपाद्याय
मन्व्यपात्रयः मत्प्रसादादित्युक्तम् । तथाच येन भाक्तियोगेन प्रसादिवादीश्वरात्सर्वकर्माण्यनुविष्टोऽपि
वेण्वपब्रह्मप्राप्तिस्तस्य माहात्म्यं किं वक्तव्यमिति भावः ॥ १९ ॥

प० टी०-अथ बुद्ध्या विशुद्धयेत्याद्युक्तमोक्षप्रकारस्यातिप्रयाससामर्थ्यात्सुगमं प्रकारमाह-सर्वकर्मणि । सदा निरन्तरं मद्यप्राग्रयः, अज्ञेयात्रय आश्रयणीयो नतु स्वर्गाविकलं यस्य स सर्वकर्मणि नित्यनेमि-
त्तिर्वादीनि कुर्वाणोऽपि सन् माप्रसादाभित्यं सर्वोत्कृष्टं च पदं स्थानमवाप्नोति । श्रुतिरापि कस्मिंश्चित्कामु-
“ अहमेव स्वयमिदं वदामि लुप्तं देवमिदं वदामि । यं कामये यं वसुभिः कृणोमि तं प्रह्मणं वसुभिः
तं समेधाम् ” इति । भाव्यम्-अहमेव स्वयमिदं ब्रह्माख्यं वस्तु वदामि, इदं ब्रह्म स्वयमेवास्मीति वदा-

भीत्यर्थः । देवेभिर्देवैरिन्द्रादिभिर्जुष्टं सेवितम् । उतापि मानुषेभिर्मनुष्यैः सेवितम् । अयं तदेव प्रकटयन्नाह—
ईदम्ब्रह्मात्मकोऽहं स्वा मायामधिष्ठाय धृतमानुषवेपा(१)सवी यं कामये यं पुरुषं रक्षितुमहं वाञ्छामि
तं पुरुषमुग्रं क्रुणोमि सर्वेभ्योऽप्यधिकं रुद्रं करोमि रुद्रपदवीं प्रापयामि । तमेव ब्रह्माणं स्रष्टारं करोमि
तमेव ऋषिमतोत्तिष्ठयद्भारं करोमि । तमेव सुमेधा शोभन्प्रज्ञं ज्ञानिनं करोमि ॥ ५६ ॥

रा० टी०—पुनरन्तरङ्गसाधनान्मुक्त्वा द्वाकार्यसुपसेहरति—सर्वेति । यद्वा ययः प्रवृत्तिभूतानामित्यत्र-
स्वकर्मणा तमभ्यर्चयेत्युक्तं, तत्र कर्मकरणं विशिष्य फलं व्यनक्ति—सर्वेति । मद्यायात्रयः मय्येव समर्पय-
न्नेव सर्वाणि विहितानि कर्माणि सदा कुर्वाणः मत्प्रसादाच्छाश्वतं पदमवश्यं मत्स्वरूपमवाप्नोति शाश्वतमव्य-
यमिति कूटस्थतयाऽऽद्यन्तहीनमित्यर्थः । अत्र अपिशब्दो नैकमपि कर्म अतदात्रयेण कार्यमि-
त्यर्थसूचनाय ॥ ५६ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्य य मत्परः ॥

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

त० टी०—तस्मात्पूर्वोक्तप्रकरणे वैराग्यादि कर्तुं न शक्नोति चेच्चमप्येवं कुर्वित्याह—चेतसेति ।
चेतसा मत्तन्मकर्तृत्वविचारेण सर्वाणि कर्माणि लौकिकानि वैदिकानि स्वभावप्राप्तानि च फलकर्तृ-
त्वोद्देश्यदेवतासहितानि मयि संन्यस्य सम्यगर्घ्यं मत्परः अहमेव परः प्राप्यः प्रापकश्च यस्य सः बुद्धि-
योगं व्यवसृतायात्मिककुदृष्ट्या सर्वसंन्यधमुपाश्रित्य सर्वारम्भना माप्नेव सर्वथेयोहेतुं थेयोहूपं च निश्चित्य
सततं मच्चित्तो भव इत्येवमनुसंधानं कुरुष्वेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

म० टी०—यस्मान्मद्वेकशरणतामात्रं मोक्षसाधनं न कर्मानुष्ठानं कर्मसंन्यासो वा तस्मात् क्षत्रियस्त्वम्—
चेतसेति । चेतसा विवेकबुद्ध्या सर्वकर्माणि दृष्टादृष्टार्थानि मयोन्मारे संन्यस्य 'मत्करोमि यद्भासि' इत्युक्त-
न्यायेन समर्प्य मत्परः अहं भगवान् वासुदेव एव परः प्रियतमो यस्य स मत्परः सच बुद्धियोगं पूर्वोक्तस-
मत्त्वबुद्धिलक्षणं योगं धन्योदेवोरपि कर्मणो मोक्षहेतुत्वसंसादकमुपाश्रित्य अनन्यशरणतया स्वीकृत्य मच्चित्तः
मयि भगवति वासुदेवे एव चित्तं यस्य स राजनि कामि-न्यादौ वा स मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

श्री० टी०—वेपामेवानुक्रमार्थमहमज्ञानजं तमः नाशयान्यामभावस्थो ज्ञानदीपेव भास्ववेद्युक्तो बुद्धे-
रात्मवत्प्रकाशनलक्षणो यो मत्प्रसादलेनैकलभ्यो मोक्षो यस्मात्तस्मात् मत्परो भवेत्याह—चेतसेति ।
कर्मणा संतुष्टेश्चरितुमहादेव शुक्तिरिति ज्ञानं चेतस्तेन चेतसा विवेकबुद्ध्या त्वं मत्परः अहमेव परः परम-
पुरुषार्थः प्राप्तं वरित्वेति बुद्धिरित्य स मत्परस्तीद्विमुमुक्षुः सन्नित्यर्थः । मत्प्रसादसिद्धये 'कर्ता मोक्षा जना-
र्दन' इति न्यायेन सर्वकर्माणि श्रौतानि स्मार्तानि च सर्वाणि कर्माणि कुर्वानि मयि परमेश्वरे संन्यस्य
कर्माणि कर्मफलानि च मर्षं समर्प्येत्यर्थः । बुद्धियोगं बुद्धेर्मुमुक्षेव योगः स्थितिस्त्वमुपाश्रित्य सततं मद्भ-
जनपरो भूत्वेत्यर्थः । यद्वा 'मूत्राणि विष्णुर्मुदनाणि विष्णु' इतिन्यायेन सर्वत्र परमेश्वरत्वबुद्धिर्बुद्धियोगवत्
सततमाश्रित्य । यद्वा 'न्यावाजितवनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रिय' इति गुदियोऽपि वेदान्तविचारस्य कर्त-
व्यपरस्मरणकर्माणि कुर्वन्तु बुद्धियोगं, ज्ञानसिद्धहेतुः अवगमननादित्तं बुद्धियोगमुपाश्रित्य सर्वदा
वेदान्तार्थविचारपरो भूत्वा सततं मच्चित्तः मय्येव सर्वमपे परमात्मनि चित्तं यस्य स मच्चित्तः ज्ञानसिद्धये
वत्फलसिद्धये च सर्वदा मच्चरणो भवेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

श्री० टी०—यस्मादेवं यस्मात्—चेतसेति । सर्वकर्माणि चेतसा मयि संन्यस्य समर्प्य मत्परः अहमेव

परः प्राप्यः पुरुषार्थो यस्य सः न्यवसायात्मिकया बुद्ध्या योगमाश्रित्य सततं कर्मानुष्ठानकालेऽपि 'ब्रह्म-
र्षी ब्रह्महविः' इतिन्यायेन मध्येव चित्तं यस्य सः तथाभूतो भव ॥ ५७ ॥

स० टी०—यस्मान्मदकशरणभावो मोक्षस्य साधनम् ॥ न कर्मकरणं नापि कर्मसंन्यास एव वा ॥ १ ॥
तस्माद्विवेकबुद्ध्या त्वं दृष्टादृष्टार्थान्वपि ॥ सर्वकर्माणि मय्याद्ये वासुदेवे समर्प्य च ॥ २ ॥ यत्करोषि
यद्भासीत्युक्तन्यायेन मत्परः ॥ भगवान्वासुदेवोऽहं यस्य प्रियतमः परः ॥ १ ॥ स मत्परस्त्वं पूर्वोक्तं
समताबुद्धिबुधम् ॥ योगं ह्यनन्यशरणतया स्वीकृत्य सर्वदा ॥ ४ ॥ वासुदेवे भगवति यस्य चित्तं
मयीश्वरे ॥ नान्यत्र राजनि रुपादौ समचित्तः सदा भव ॥ ५ ॥ इत्येवैकमनाविलं रसपदं ह्यसंप्रका-
शोऽब्जवर्णं कारुण्यादिगुणौघशैत्यशरणं शान्त्यान्वितं छायया ॥ अज्ञानार्कप्रवापयर्मक्षमं सहातैरर्थितं
ब्रह्मानन्वसुवर्णगोन्मुखमहं कृष्णाख्यमेघं अये ॥ ६ ॥ ५७ ॥

मा० टी०—यतो भक्तियोगस्यैवं साहाय्यं तस्मान्मत्प्रसादार्थं भगवा मदारारधने प्रयतितव्यमित्याह—
चेतसेति । चेतसा विवेकबुद्ध्या सर्वकर्माणि दृष्टादृष्टार्थानि सवि संन्यस्य 'यत्करोषि यद्भासि यच्चुहोषि
ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्तु कृणु मर्पणम्' इत्युक्तन्यायेन समर्प्य मत्परोऽहं वासुदेव एव परः
प्रकृष्टः प्राप्यो यस्य न तु स्वर्गादिः स मत्परः सन् बुद्धियोगं समाहितबुद्धित्वं सिद्धयसिद्धिजन्याभ्यां हर्ष-
विषाद्याभ्यामक्षुभितबुद्धित्वमुपाश्रित्यानन्यशरणत्वेनाङ्गाकृत्य सचित्तो मध्येव चित्तं यस्य ॥ त्वं सततं
सर्वदा सचित्तो भव ॥ ५७ ॥

प० टी०—यस्मादेवं तस्माच्चमपि तथा मवेत्याह—चेतसेति । चेतसा सह सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य
समर्प्य मत्परः अहमेव परः परमो यस्यं तथाविधः सततं भव तस्य व्यवसायात्मिकबुद्धियोगमुपाश्रित्य
सचित्तः भगवाकरं चित्तं यस्य तथाविधो भवेत्यनेन विशते तत्त्वन्तरमित्येव पर्यायेणोक्तमित्यर्थः ॥ ५७ ॥

रा० टी०—यदि भगवाद्राश्रयेण सिद्धिकर्म कुर्वतो मुक्तिस्तर्हि त्रैविध्यस्यापि सा स्यात् । तस्यापि विहित-
कर्मकरणभगवद्वर्पणयोः सत्त्वेन भगवदाश्रयत्वादित्यत आह—चेतसेति । चेतसा सर्वाणि कर्माणि मयि
संन्यस्य मत्परः अहमेव परः सर्वोत्तम इति भावो यस्य स मत्परः भव । किंच बुद्धियोगं बुद्धेर्गो-
प्रत्याहारादिरूपमुपायमाश्रित्य सचित्तः मध्येव निरुद्धचित्तः सततं भवेत्युक्त्या त्रैविध्यैवंरूपत्वाभावात्
तस्य मुक्तिश्चेति भावः ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ॥

अथ चेत्त्वमहङ्कारात् श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

त० टी०—एवं मनुकस्य विषयो यत् प्राप्स्यसि तच्छृणु—मच्चित्त इति । उक्तमकारेण
मच्चित्तः सन् सर्वकर्माणि कुर्वन्नपि सर्वाणि दुर्गाणि दुस्तराणि सांसारिकाणि दुःखानि मत्प्रसादादेव
तरिष्यसि । विषये दोषमाह—अथ चेदिति । यदि पुनस्तन्महङ्कारादहमेव कर्तव्याकर्तव्यं सर्वं जाना-
मीत्यभिमानान्मदुक्तमेव तन्न श्रोष्यसि पुरुषार्थद्वयसे । यतः सर्वस्य हिताहितज्ञाता प्रशस्ता च
मदन्यः कश्चिन्न विद्यते ॥ ५८ ॥

म० टी०—ततः किं स्यादिति वदाह—मच्चित्त इति । मच्चित्तत्वं सर्वदुर्गाणि दुस्तराणि कामक्रोधादीनि
सांसारदुःखासाधनानि मत्प्रसादात् स्वव्यापारमन्तरेणैव तरिष्यसि अनायासेनैवातिक्रमिष्यसि । अथ चेत्
यदि तु त्वं मनुके विश्वासमरुत्वाऽहंकारात्पण्डितोऽहमिति गर्वात् श्रोष्यसि मन्त्रचार्थं न करिष्यसि ततो
विनष्टुष्यसि प्रकृष्यार्थज्ञो भविष्यसि कामकारेण संन्यासावाचरन् ॥ ५८ ॥

शं० टी०—वेदान्तार्थविचारपरत्वस्य त्वदेकशरणत्वस्य किं फलमिति चेदुच्यते शृणु—मच्चित्त इति ।

मच्चित्तः सर्वदा ध्येयत्वेन सर्वत्र विषयत्वेन बाह्येन परमात्मा चित्ते यस्य सः । यद्वा सर्वात्मनि मध्येव चित्तं यस्य स मच्चित्तः सदा भेदकच्चित्तः संस्वं मत्प्रसादान्मदनुग्रहप्राप्तात्मविज्ञानात्सर्वदुर्गाणि सर्वाणि दुर्गाणि दुष्टेनातिगन्तुमशक्यानि दुर्गाणि दुस्तराण्यविद्याकामकर्माणि । यद्वा सत्त्वरजस्तमांसि सकार्याणि जन्मजरामृत्युदुःखप्रवाहकारणानि तरिष्यसि, तानि तीर्त्वा चिदेहमुत्तिमुखं प्राप्स्यसीत्यर्थः । एवेनेश्वरार्थं कर्म कुर्वाण एव तरति न त्वकुर्वाण इति सूचितं भवति । ननु कर्मणा द्रव्यसाध्यत्वेन हिंसाप्रधानत्वा- स्ताभूना हिंसाप्रधानकं कर्म कर्तुं न शक्यते, तन्नापि स्वजनवधलक्षणं युद्धं तु सुतरा कर्तुं न शक्यत एवेति सास्वगतमनुस्मृत्याहंकारेण स्वधर्मवैमुख्यं न कर्तव्यमिति सुसुद्धोः स्वधर्मप्रवृत्तिमेव दृढीकर्तुमाक्षेपपूर्वकं स्वधर्मनिष्ठामेवार्जुनमङ्गीकारयति सार्धद्वयेन—अथेति । अथसन्दः पक्षान्तरारम्भार्थः । त्वमहंकाराच्छास्त्र- न्तरज्ञानरुचाभिनिवेशाच्चैतसा सर्वकर्माणीत्युक्तं मद्बचनं न ओप्यसि चेद्विधिसुलब्धं यदि कर्म न करिष्यसी त्यर्थः । ततो विनङ्गुयसि विनाशमेव्यसि ' अकृत्वा वैदिकं कर्म द्विजः पतनमुच्यते ' इतिन्यायेन स्व- धर्मस्यागात्पातित्यं प्राप्स्यसि । विष्णुद्वन्द्वमेको दोषः, स्वधर्मत्यागो द्वितीयः, परधर्माश्रयस्तृतीयः, पुरुषार्थत्रं- शश्चतुर्थः, एवमनर्थपरंपरा इत्यादित्यर्थः ॥ ५८ ॥

श्री० टी०—ततो यद्भव्यसि तच्छृणु—मच्चित्त इति । मच्चित्तः सन् मत्प्रसादात्सर्वान्यपि दुर्गाणि दुस्तराणि सासारिकाणि दुःखानि तरिष्यसि । विपक्षे दोषमाह—अथ चेद्यदि पुनस्त्वमहंकारात्प्राप्तत्वाभिमाना- न्मदुक्तमेवञ्च ओप्यसि तर्हि विनङ्गुयसि पुरुषार्थान्तरयसि ॥ ५८ ॥

स० टी०—मच्चित्तत्वं हि सर्वाणि दुस्तराणि समुद्रवत् ॥ संसारदुःखदायीनि कामक्रोधादिकान्यपि ॥ १ ॥ मत्प्रसादात्सुखेनैव स्वव्यापारं विना वि च ॥ अविक्रमिदयसि—प्रत्यग्रज्ञानमुखेन च ॥ २ ॥ यदि तु त्वं मनुजेऽर्थं निःसंदिग्धेऽपि मोह्यवः ॥ अविश्वासादहंकारात्पण्डितोऽस्मीति गर्वतः ॥ ३ ॥ न ओप्यसि बभो मत्तः श्रुत्वाऽपि न करिष्यसि ॥ विनङ्गुयसि सदा सम्यक्पुरुषार्थात्परिच्युतः ॥ ४ ॥ काम- कारेण यत्किञ्चित्कुर्वन्नाप्नोति शोभनम् ॥ ५ ॥ अज्ञानार्कमुवापि न भवमरो घावन्धमर्थोऽपि न तूष्णामृदूपरि- तापितेन्द्रियगर्णं भोगान्मुकामाकुलम् ॥ व्यर्थमेवमरुततत्सकटावधामाग्नाद्विकं दीनं त्वा शरणागतं यदुपते मा मामुपेक्षस्व भो ॥ ६ ॥ ५८ ॥

भा० टी०—ततः किमित्यपेक्षायामाह—मच्चित्त इति । मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि संसारहेतुभूताज्ञानादीनि मत्प्रसादात्तरिष्यसि अतिक्रमिष्यसि । व्यतिरेके दोषमाह—अथ चेद्यदि मनुकमहंकारात् पण्डितेन मया स्व- बुद्ध्या यद्विचारितं तदेव सम्यक् इत्यभिमानान्न ओप्यसि न हिष्यसि सवत्त्वं विनङ्गुयसि विनाशं गमिष्यसि पुरुषार्थात् अष्टौ भविष्यसि ॥ ५८ ॥

प० टी०—अतो यत्रविष्यति तच्छृणु—मच्चित्त इति । प्रागुक्तरीत्या मच्चित्तत्वं मत्प्रसादात् सर्वदुर्गाणि आधिदैविकादीनि सर्वदुःखानि तरिष्यसि । अथ विपक्षे दोषमाह—अथेति । अथ चेद्यदि त्वमहंकारात् प्राप्तत्वाभिमानान्मदुक्तमेवञ्च ओप्यसि, तर्हि विनङ्गुयसि पुरुषार्थान्तरयसे, अपभया योनिं प्राप्स्यसि । अत्र भागवतो हार्दं तु—कुरुकुलदलेन रोदं वेदोच्छेदे ह निर्वेदम् । यन्मनुषेऽयमजनुषे दत्ते धनुषे विलाजलि यस्मादिति(?) ॥ ५८ ॥

रा० टी०—भगवद्विषय फलमाह—मच्चित्त इति । मच्चित्तो मध्येव निरुद्धमनस्कः । सर्वाणि दुर्गाणि दुस्तराणि दुष्टेन सर्वयोगानि कष्टानि मत्प्रसादात्तरिष्यसि । एवं स्वविहितवृत्त्या भगवदाराधनस्य परधर्म- द्वापरादावपेक्षविहितकर्म भगवद्वीत्यर्थमेवावश्यं कार्यमित्येवावका प्रकथेन प्रतिपादितम् । उदकरणेऽनिष्ट- नाह—अथ पेदिति । अर्थान्तरे गत्यदाहः । अहं न योत्स्यामिपिहंनारात् गुप्यसेति मदीयवचनं त्वं न

श्रोष्यसि चेत् श्रुत्वा न करोषि चेत्, विनष्टुपसि पुरुषार्थहीनो भविष्यसि । मद्ब्रचनाकरणे विनाश इत्यभ्यु-
पेत्योक्तम् ॥ ५८ ॥

**यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ॥
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥**

त० टी०—किंचाहं स्वतन्त्रो बन्धुव्याथै त्वत्रियोगं कथं करिष्यामीति त्वया न मन्तव्यमित्याह—
यदिति । यद्यहङ्कारमात्मनि स्वातन्त्र्याभिमानमाश्रित्य मनुकमनादृत्य न योत्स्ये युद्धं न करिष्या-
मीति मन्यसे व्यवस्यसे तर्ह्येव ते व्यवसायो मिथ्यैव स्यात् । यतः प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति प्रकृति-
स्त्रिगुणमयी मन्त्रियस्या रजोगुणरूपेण परिणता सती रजःप्रधानसन्निपजातामुद्भवत्वां युद्धे प्रवर्त-
यिष्यत्येवेत्यर्थः ॥ ५९ ॥

म० टी०—त्वं च—यदिति । अहङ्कारं धार्मिकोऽहं कूरं कर्म न करिष्यामीति मिथ्याभिमानमाश्रित्य न
योत्स्ये युद्धं न करिष्यामीति मन्यसे यत् मिथ्या निष्फल एव व्यवसायो निश्चयस्ते, तव परमात्मकृतिः क्षत्र-
जात्यारम्भको रजोगुणस्वभावस्त्वां नियोक्ष्यति प्रेरयिष्यति युद्धे ॥ ५९ ॥

श्री० टी०—तथापि नाहं योत्स्य इति चेन्न तत्र संकल्पो न्यर्थ एव भविष्यति । स्वभावादपि कर्म कर्त-
व्यमेव स्यादिति स्वयमपि सांख्यमतां वदन्मेन कर्मणोऽवश्यकर्तव्यतां प्रतिपादयति—यदिति । शोषवत्कर्म
न कर्तव्यमेवेत्यहङ्कारमविवेककृतं पाण्डित्याभिमानमाश्रित्य “ये युष्यन्ते प्रवन्तेषु” इति वेदोक्तं धर्मविज्ञाया-
न वैदिकमताश्रयेण न योत्स्य इति यदि मन्यसे, स एष ते तव व्यवसायो निश्चयः शास्त्रविद्वदो मिथ्याकाश-
गमनेच्छावन्निरर्थक एव भवति । कथं मे, संकल्पो निरर्थक इत्यत्र आह—प्रकृतिरिति । तेजःशौर्यधैर्यदक्ष-
त्वाभिमानादिगुणोत्पत्तिहेतुः क्षत्रत्वरीर्षिः रजोगुणमयी प्रकृतिः क्षत्रियस्वभावस्त्वामस्वतन्त्रमस्वाधीनं
नियोक्ष्यत्यधिकेनासहिष्णुत्वलक्षणं गुणमुत्पाद्य युद्धं कारयिष्यतीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

श्री० टी०—कामं विनष्टुपसि, न तु बन्धुमियुद्धं करिष्यामीति चेत्तथाह—यदिति । मनुकमनादृत्य
केवलमहङ्कारमवलम्ब्य युद्धं न करिष्यामीति त्वं यन्मन्यसे अभ्यवस्यसि, एष ते व्यवसायो मिथ्यैव अस-
तन्त्रत्वात्तव । तदेवाह—प्रकृतिस्त्वां रजोगुणरूपेण परिणता सती नियोक्ष्यति युद्धे प्रवर्तयिष्यत्येव ॥ ५९ ॥

स० टी०—धार्मिकोऽहं न च कूरं कर्म हिंसादिलक्षणम् ॥ करिष्यामीति मिथ्याभिमानमाश्रित्य केव-
लम् ॥ १ ॥ युद्धं नैव करिष्यामीत्येवं त्वं यदि मन्यसे ॥ एष ते निश्चयो मिथ्या निष्फलः सर्वथा यतः
॥ २ ॥ रजोगुणस्वभावस्त्वां क्षत्रियत्वनिबन्धनः ॥ शतयन्तधार्मिकं कूरे प्रेरयिष्यति संगरे ॥ ३ ॥ अतो
मिथ्यामहं त्यक्त्वा मद्ब्रचः शरणं कुरु ॥ ४ ॥ ५९ ॥

भा० टी०—स्वतन्त्रोऽहं परोक्तं न करिष्यामीति त्वया न मन्तव्यं, परतन्त्रत्वात् तवेत्याशयेनाह—
यदिति । यद्येत्स्वमहङ्कारं मिथ्याभिमानमाश्रित्य न योत्स्ये युद्धं न करिष्यामीति मन्यसे निश्चयं करोषि,
यतः प्रकृतिः क्षत्रियस्वभावस्त्वां क्षत्रियं नियोक्ष्यति वलत्कारेण युद्धे प्रेरयिष्यति ॥ ५९ ॥

प० टी०—कामं विनष्टुपसि न तु बन्धुभिः संयोत्स्य इति चेदित्याह—यदिति । यद्यपि मनुकमनाद-
र्य केवलमहङ्कारमवलम्ब्य युद्धं न करिष्यामीति मन्यसे, तर्ह्येव व्यवसायश्चिच्छेदो मिथ्या निरर्थक एव ।
यतः प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति प्रवर्तयिष्यत्येव । तस्या अपि मन्थान्तरादिति भावः ॥ ५९ ॥

रा० टी०—मनुकाकरणमशक्यं च तदेवाह—यदिति । मिथ्यैव त्वयैव ते निश्चयः । कुतः? प्रकृति-
रिति । ईश्वरेच्छां त्वां नियोक्ष्यति प्रेरयति ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्मणा ॥

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्वशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

त० टी०-तदेवोपपादयति-स्वभावजेनेति । हे कौन्तेय ! यत्स्वधर्मभूतं युद्धाख्यं नियतं कर्म मोहात्कर्तुं नेच्छसि-तत्स्वभावजेन स्वभावः पूर्वकर्मनिकन्धनसत्त्वादिगुणवृत्तिरूपः; तस्माज्जातेन राजसेन क्षत्रियत्वप्रयोजकेन पूर्वोक्तेन शौर्याख्येन स्वेन कर्मणा निबद्धो यन्त्रितः अवशोऽपि शत्रूणाम् वाच्यवादानसहमानस्त्वं स्वयमेव करिष्यसि ॥ ६० ॥

म० टी०-प्रकृतिं विवृणोति-स्वभावजेनेति । स्वभावजेन पूर्वोक्तक्षत्रियस्वभावजेन शौर्यादिना स्वभावान्गन्तुकेन कर्मणा निबद्धो वशीकृतस्त्वं हे कौन्तेय ! यद्बन्धुवशादितिमिच्छं युद्धं मोहात् स्वतन्त्रोऽहं यथेच्छामि तथा संपादयिष्यामीति भ्रमात् कर्तुं नेच्छसि, तद्वशोऽपि अनिच्छन्नपि स्वाभाविकर्मपरतन्त्रः परमेश्वरपरतन्त्रश्च करिष्यस्येव ॥ ६० ॥

शृ० टी०-अहं करोमि नाहं करोमीति चाभिमानो यद्ध एव भवति, न तु मुक्तः, अनुक्तस्यालोपकर्म-रथागसंभवत् । अतः स्वाभाविकेन कर्मणा निबद्धस्य तच्च कर्मत्यागः कर्तुं न शक्यते । यद्विवेकास्यकुमिच्छसि तदेव प्रहसितशो भूत्वा करिष्यसि । ततः प्रकृतिबद्धस्य प्राप्तं कर्म कर्तव्यमेवेत्याशयेनाह-स्वभावेति । जन्मान्तरीयपुण्यापुण्यकर्मसंस्कारो कर्तमानजन्मनि प्रवृत्तिनिवृत्तिमुखदुःखादिसिद्धिहेतुः स्वभावाद्भूतश्चैव प्रकृतिगुणविशेषः । तस्माज्जायत इति स्वभावजं चेत्, स्वाभाविकेन स्वेन स्वकीयेन क्षत्रेण 'शौर्यं तेजो धृतिः' इत्युक्तेन कर्मणा निबद्धः संतुष्टस्त्वं मोहाद्युद्धादेः स्वधर्मस्याज्ञानाद्यस्त्वजसितवः प्राप्तं कर्म कर्तुं नेच्छसि ममेदं न कर्तव्यमिति त्यक्तुमिच्छसि, तदेव कर्म अवशः स्वप्रकृतेर्ज्ञेयो भूत्वा करिष्यस्येवास्वतन्त्रतया कृत्या बलात्कारेण बोधितः सुनक्रोष्येव न तु त्यक्तुं शक्नोषि । यतः कर्तव्यस्वेन प्राप्तं स्वार्थं साक्षीयं कर्म विवृणोति तदर्थं कर्तव्यमिति । ॥ ६० ॥

श्री० टी०-किंच-स्वभावजेनेति । स्वभावः क्षत्रियस्ये हेतुः पूर्वकर्मसंस्कारस्तस्माज्जातेन स्वकीयेन कर्मणा शौर्यादिना पूर्वोक्तेन निबद्धो यन्त्रितस्त्वं मोहाद्यस्त्वं युद्धलक्षणं कर्तुं नेच्छसि अवशोऽपि तत्कर्म करिष्यस्येव ॥ ६० ॥

स० टी०-प्रकृतिं विवृणोतीतिः सर्वतोऽपि वलीयसीम् ॥ यस्माच्छौर्यादिना स्वेन यथोक्तेनात्मकर्मणा ॥ १ ॥ वशीकृतस्त्वं कौन्तेय क्षत्रियत्वेऽहेतुना ॥ यद्युद्धं बन्धुहिंसादिनिमित्तमविवेकदः ॥ २ ॥ स्वतन्त्रोऽहं यथेच्छामि करिष्यामि तथेति च ॥ भ्रमान्नेच्छसि कर्तुं त्वमनिच्छन्नपि कर्म तत् ॥ ३ ॥ स्वभावपरतन्त्रः समीधराशीन एव च ॥ करिष्यस्येव तस्मात्स्वं मा कार्षीराग्रहे वृथा ॥ ४ ॥ त्यक्त्याऽऽग्रहं कृण्वपदास्विन्दमर्त्तिं पुरस्कृत्य सदा स्वकर्म ॥ कुर्मज्जानी नेति पराभवं श्रीमुद्वन्धामेति न संशयोऽत्र ॥ ५ ॥ ६० ॥

भा० टी०-प्रकृतिपारतन्त्र्यं विशदयति-स्वभावजेनेति । स्वभावजेन शौर्यादिना यथोक्तेन स्वेन स्वकीयेन कर्मणा नियतः निबध्नेन बद्धः यन्मोहादविवेकभक्तुं नेच्छसि, तद्वशोऽपि परवश एव करिष्यसि । यस्माच्चैव तस्माच्छत्रियपुत्रस्य क्षत्रियशिरोमणेरस्मात्संवन्निनस्त्वं युद्धमेतुल्यं बोधितमिति सूचयन्संज्ञयति-हे कौन्तेयेति ॥ ६० ॥

प० टी०-किंच च-स्वभावजेनेति । स्वभावः क्षत्रियत्वप्रापकः पूर्वकर्मसंस्कारस्तस्माज्जातेन स्वकीयेन कर्मणा शौर्यादिना पूर्वोक्तेन निबद्धो यन्त्रितः सन् यदि-मोहादियुद्धलक्षणं-कर्म कर्तुं नेच्छसि तथाप्यवशः सन् कर्म करिष्यस्येव-शास्त्रसंस्कारपरंपरापरिणतं प्रायो मनः प्राणिना कस्तस्य प्रकृतिं निरस्य

सहजां कर्ताऽन्यथा स्यान्नरः । दौर्गन्ध्यं लघुनादिकस्य सहजं यत्नस्तस्मैत्सारयन् सौरभ्यं वितनोति कः ।
मुरभिवा कर्पूरमुखस्य वा' इति । तदेवं सांख्यमीमांसकादिमतेन प्रकृतिपारतन्त्र्यं स्वभावपारतन्त्र्यं च
निरूप्य युद्धानादरो निषिद्धः ॥ ६० ॥

रा० टी०—ईश्वरेच्छाया जीवनिमित्ते तिमितत्वादिकं दर्शयन्तुं विवृणोति—स्वभावजेनेति । स्वभावः
संस्कारस्तज्जातेन स्वेन कर्मणा निबद्धः । हे कौन्तेय यत्कर्म मोहान्धुल्लेहमोहात्कर्तुं नेच्छसि, तत्कर्मा-
वशोऽपि स्वानधीनोऽपि भगवदिच्छाधीनोऽपि सन्करिष्यसि ॥ ६० ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ॥

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

त० टी०—तदेवं सांख्यमतानुकूलं प्रकृतिपारतन्त्र्यं स्वभावार्थीनं च कर्मकर्तृत्वमुक्तम् । इदानीम्
“अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वोत्पत्ता य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति यमात्मा न वेद
यस्यात्मा शरीरम् एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः, एतदक्षरस्य प्रज्ञासने गाविं । सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ
तिष्ठतः” इत्यादिभूतिनिर्णीतं सर्वस्य प्राणिनः परमेश्वराधीनत्वमाह—ईश्वर इति । ईश्वरः सर्वचेत-
नाचेतननियमनशीलो भगवान्वासुदेवः सर्वभूतानां हृद्देशे हे अर्जुन ! तिष्ठति । किं कुर्वन् ? सर्वभू-
तानि मायया निजशक्त्या भ्रामयन् तच्चदनादिवीजभूतकर्मानुसारेण गुणाशुभकर्मासु प्रवर्तयन् । कथं-
भूतानि? यन्त्रारूढानि प्रकृतिपरिणामदेहेन्द्रियरूपं यन्त्रमारूढान्यारोपितानि यथा दारुमययन्त्रमारूढानि
कृत्रिमाणि पत्तिमृगादिभूतानि सूत्रवद्भूतानि सूत्रधारो लोके भ्रामयति तद्वदित्यर्थः ॥ ६१ ॥

म० टी०—स्वभावाधीनतत्त्वपक्षेऽप्यधीनतां विवृणोति—ईश्वर इति । ईश्वर ईश्वरशीलो नारायणः
सर्वान्तर्यामी ‘यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवी-
मन्तरो यमयति’ । ‘यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं हृदये भूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः
स्थितः’ इत्यादिभूतिनिर्णयः सर्वभूतानां सर्वेषां प्राणिनां हृद्देशेऽन्तःकरणे तिष्ठति सर्वव्यापकोऽपि सन्नाभि-
व्यज्यते सप्तदीपाधिपतिरिव राम उत्तरकोसलेषु । हेऽर्जुन हे शुक्र शुद्धान्तःकरण, एतादृशमेश्वरं त्वं ह्यर्जुनं
योगोऽसीति शोभते । किं कुर्वन्तिष्ठति भ्रामयन् इतस्तत्कालयन् सर्वभूतानि परतन्त्राणि मायया लघ्नना
यन्त्रारूढानि च सूत्रसंचारादियन्त्रमारूढानि वाकनिर्मितपुरुषादीन्यत्यन्तपरतन्त्राणि यथा मायाभी भ्रामयति
तद्वदित्यर्थः ॥ ६१ ॥

ज्ञ० टी०—प्रकृत्यधीनस्य स्वातन्त्र्याभावात् स्वाभाविकं कर्म त्यक्तुं न शक्यते । किंतु कर्तव्यमेवे-
त्युक्त्वाऽधुनेश्वराधीनस्य कर्म त्यक्तुं न शक्यं, तत्परिणया प्राप्तं कर्म कर्तव्यमेवेति कर्मणोऽन्तर्यं कर्म-
व्यवर्तं बोधयितुमाह—ईश्वर इति । ईश्वरः ईश्वरशीलः सर्वलोकनियन्ता परमेश्वरः सूत्रधारी यन्त्रारूढानि
दारुमयप्रतिमा यथा यथा सर्वभूतानि ब्रह्मादिस्तन्मान्ताति वासनात्मिकया मायया विशेषशक्त्या भ्राम-
यन् स्वस्वकर्मसु प्रवर्तयन् हृद्देशे हृद्देशे बुद्धिशुद्धया तिष्ठति । यद्वा “एष एव साधु कर्म कारयति नमः” इति
‘यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वानि भूतानि शरीरं
यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति’ इति श्रवणाद्यन्त्रारूढानि यन्त्राणि शरीराणि देष्वात्मत्वाभिमानेना-
धिष्ठितानि भूतानि प्राणिनो भ्रामयन् तत्कर्मसु प्रवर्तयन् ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति, अतस्तत्प्रेर-
णया प्राप्तं कर्म तत्परतन्त्रस्य त्यक्तुं न शक्यते । ततो ‘यथा त्विच्छोऽस्मि तथा करोमि’ इति सुमुखोः
कर्तव्यतया प्राप्तं कर्मावश्यं करणोपमित्यर्थः ॥ ६१ ॥

श्री० टी०—तरेयं श्लोकद्वयेन सांख्यादिमतेन प्रकृतिपारतन्त्र्यं स्वभावपारतन्त्र्यं कर्मपारतन्त्र्यं चोक्तम् । इदानीं स्वसतमाह—ईश्वर इतिद्विभ्याम् । सर्वभूतानां हृदयमध्ये ईश्वरोऽन्तर्यामी विद्यति । किं कुर्वन् ? सर्वाणि भूतानि मायया निजशक्त्या भ्रामयन् तत्तत्कर्मसु प्रवर्तयन् यथा दारुयन्त्रमारूढानि कुनिमाणि भूतानि सूत्रधारो लोके भ्रामयति तद्वत् । यद्वा यन्त्राणि शरीराणि आरूढानि भूतानि देहाभिमानिनो जीवान् भ्रामयन्तित्यर्थः । तथाच श्वेतपञ्चराणां मन्त्रः—“ एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माग्न्यक्षः सर्वभूताविवासः साक्षां चेत्ता केवलो निर्गुणश्च ” इति । अन्तर्यामिनाक्षणं च । “य आत्मनि विद्यन्नात्मानमन्तरो यमयावि यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं एव ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः” इत्यादि ॥ ११ ॥

स० टी०—स्वभावाधीनतामुक्त्वेश्वराधीनत्वमुच्यते ॥ हरिरीक्षणशीलो यो नाराणपद्मभिः ॥ १ ॥ सर्वान्तर्वाप्सिता यस्य प्रसिद्धा बहुधा श्रुतौ ॥ विघ्नपृथिव्या यस्तस्या आन्तरो यं न वेद सा ॥ २ ॥ यस्य पृथ्वी शरीरं यस्तामन्तर्यमथत्यजः ॥ यद्य किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ॥ ३ ॥ अन्तरिक्षं तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥ इत्यादिश्रुतिवाक्यानि सन्ति श्रीपरमेश्वरे ॥ ४ ॥ स सर्वव्यापकोऽपिशः सर्वेषां प्राणिनां विभुः ॥ अन्तःकरणदेशेऽविनिर्मले विद्यतीत्यसौ ॥ ५ ॥ सार्वभौमो यथा एनो महाराजो रघूत्तमः ॥ उत्तराकोऽस्यया ये विद्यतीति तथैव च ॥ ६ ॥ व्यापकोऽपि परेशानो हृद्यमिष्यमयते विभुः ॥ शुद्धान्तःकरणत्वात्त्वमीदृशं परमेश्वरम् ॥ ७ ॥ ज्ञातुं योग्यं इति स्पष्टं सूच्यतेऽर्जुनशूद्रतः ॥ किं कुर्वन्तिप्रवीक्षान् इत्याह स्वयं विभुः ॥ ८ ॥ भ्रामयंश्चालयन्सर्वभूतानीश इवस्ततः ॥ दारुनिर्मित-पुष्पवादीन्यवशानि यथा नरः ॥ ९ ॥ यन्त्रारूढानि मायावी भ्रामयंस्तिष्ठतीतरः ॥ मायया छद्मना तद्वत्सर्वभूतानि सर्वतः ॥ १० ॥ स यन्त्राभिष्टितानीव भ्रामयंस्तिष्ठतीश्वरः ॥ यद्वा मायामयं यन्त्रं शरीरद्वित्वं जडम् ॥ ११ ॥ तत्रादृष्टाभिमानेन प्राणिजावं हि विद्यति ॥ तत्सर्वं भगवन्तीशो मायया भ्रामयन् जगत् ॥ १२ ॥ विद्यतीति स्वतन्त्रः सन्निर्लेपो निरुपद्रवः ॥ तदुक्तं सर्वविद्यानां पारौरपि योगिभिः ॥ १३ ॥ देहादिपञ्चर यन्त्रं तदारोहोऽभिमानता ॥ विहितप्रतिपिद्वेषु प्रवृत्तिर्नर्मणं भवेत् ॥ १४ ॥ अविषाण्कामक्रमादिसामग्री सकला जडा ॥ जीवोऽप्यज्ञतया भ्रान्त्या परतन्त्रो जडानुगः ॥ १५ ॥ न किंचित्कर्तुमस्त्यस्य सामर्थ्यं च स्वतन्त्रतः ॥ अतः श्रीभगवानेव ह्युत्तमशक्तिर्महेश्वरः ॥ १६ ॥ समस्तं स्ववशे कृत्वा लोकं लोकेश्वरः सह ॥ मायया भ्रामयन्स्यामी विद्यति प्राणिना हृदि ॥ १७ ॥ समस्तानुपपत्तीनां परिहाराय सर्वथा ॥ माययेति स्वयं प्रोक्तं श्रीमद्भगवदेत्यपि ॥ १८ ॥ हृदि गतसमलभादिज्ञानं सर्वलभं रविशशिनयनाभं इयामेवोष्णलभम् ॥ श्रुतिविपरिवाचं पञ्चानां सुनाभं सकलमुनिनवाभं नौमि कृष्णं रमाभम् ॥ १९ ॥ समस्तलोककर्तारं गोप्तां सर्वदेहिनाम् ॥ सर्वविधनियन्तारं मुकुन्दं हृदिगं श्रये ॥ २० ॥ ११ ॥

भा० टी०—स्वभावपारतन्त्र्यमुक्त्वेश्वरानीमन्तर्यामिपारतन्त्र्यमाह—ईश्वर इति । ईश्वरः ईशानशीलः नारायणः सर्वभूतानां सर्वप्राणिनां हृदये विद्यति, सर्वत्र स्थितोऽपि हृदयेऽभिव्यक्ततया विद्यति “ अहश्च कृष्णमहर्जुनं च ” इतिश्रुतौ अर्जुनशब्दस्य शुक्लशब्दपर्यायतया प्रयोगदर्शनात् शुक्लान्तरात्मस्वभावो विशुद्धान्तःकरणोऽर्जुनसर्वं सर्वोपपन्नस्य तथाविवेकेन निरन्धनं स्वस्वातन्त्र्याप्यारोपणं नोचितं, किंतु ईश्वरप्रेरितः सर्वं करोमीति परिज्ञानमिति सूचयति । किं कुर्वन् विद्यतीत्याकाङ्क्षायामाह—भ्रामयन् भ्रमणं कारयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि यन्त्राण्यारूढान्यविष्टितानीव यथा मायावी दारुपुष्पवादीनि यन्त्रारूढानि मायया छद्मना भ्रामयंस्तिष्ठति, तद्वदीश्वरो यन्त्रसदृशशरीरारूढानि भूतानीत्यर्थः ॥ ११ ॥

प० टी०—इदानीं मायाऽप्यक्षेपे प्रकृतिः सूचते सत्त्वापरमसि स्वमतमुद्दिश्य स्वाश्रयवर्तित्वं चाह—

ईश्वर इति । ओ अर्जुन ! सर्वभूतानां हृद्देशे ईश्वरोऽन्वयमित्वेन तिष्ठति । किं कुर्वन् ? सर्वभूतानि जीवान् यन्त्राणि शरीराण्यारुढान्यधिष्ठितानि मायया स्वशक्त्या भ्रामयन् संनिधिमौलेण व्यापारयन्, न तु स्वयमित्यर्थः । श्रुतिरपि कृष्णशास्त्रारण्यके “यो वै स संवत्सरः प्रजापतिः पौडशकलोऽयमेव स योऽयमेवेति पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदशं कला आत्मेवास्य पौडशी कला स वित्तेनैवाऽऽन पूर्वतेऽन च क्षीयते तदेतन्नभ्यं यद्यमासा प्रधिर्वित्तं तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानि जीवय आत्मना चेज्जीवति प्रथिनाऽगादित्याहुः” इति । मान्यम्—य इति पूर्वोक्तः संवत्सरः कालरूपः पौडशकलः प्रजापतिरयमपि तन्निदिध्यासनात्तुदूष एव । पूर्वोक्त एवेति पुरुषः सोऽपि पौडशकलः प्रजापतिस्तस्य वित्तं पञ्चपञ्चसूक्ष्मभूतेन्द्रियप्राणात्मकं लिङ्गदेहं वा एव पञ्चदशकला आत्मे- वास्य पौडशी कला स प्रागुक्तेन वित्तेन पूर्वतेऽपक्षीयते च—प्रभृत्सिमाग्रेण पूर्वते, निवृत्तिमार्गेणापक्षीयते च उपरमं प्राप्नोति, तथा पौडशी कलाऽवशिष्टा भवति । तत्र तदेतन्नभ्यं नामो भवं नाभ्यम् । अत्र छान्दसः प्रयोगो नभ्यमिति । यद्वा मध्यप्रदेशोपरिस्थितं स्थिरं वस्तु विचक्षितम् । तेन नभसि हृदयाकाशोऽवस्थितं नभ्यम् । तत्किम् ? यद्यमासा “अज्ञस्य नाभावव्येकमपि तम्” इति श्रुतेः । जयसर्थः—यया कुलजलचक्रस्य मण्डित्रे स्थितः कौलकक्षकचलेऽपि न चलति तदेव नभ्यं, तथा वित्तं प्राङ्मुखपलिङ्गदेहं प्रथिः चक्रपरिधिवद्भा- परिधिस्थानीयम् । तस्माद्विद्याद्यपि सर्वज्यानि सर्वल्लहानि जीयते प्राप्नोति, तथाप्यात्मना चेतसंपद्यते तथा जीवति जीबन्मुक्तो भवति । अथ प्रथिना शरीरेण चेतसंपद्यते तदाग्रं गमनागमनं करोति ॥ ६१ ॥

रा० टी०—नन्वीश्वरेच्छयाः प्रवर्तकत्वे ईश्वरः प्रवर्तको नेतिहङ्कामीश्वरस्वरूपं दर्शयन्परिहरति—ईश्वर इति । ईश्वरः यन्त्रारुढानि यन्त्राणि शरीराणि तदांरुढानि तत्रस्थानि भूतानि प्राणिनः मायया स्वरूप- भूतेच्छया भ्रामयन्प्राणाकर्मसु प्रवर्तयन्सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति ॥ ६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ॥ ६१ ॥

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

त० टी०—नन्वेवं चेत्तर्हि मायायास्तत्प्रयोजकस्य च नित्यत्वात्कस्यापि कदापि संसारनिवृत्तिर्न स्यात्कथं मोक्षोऽयेति चेत्तत्राह—तमेवेति । सर्वभूतानां भ्रापको मायाया अपि नियन्ता वात्स- ल्यकावण्यसौहार्दादिशुणपारस्वयेन स्वत्सारथ्यमङ्गीकृत्य त्वद्धितं विकीर्णस्वत्प्रशासिता, तमेव सर्व- भावेन सर्वात्मना शरणं गच्छ, तदुक्तं सर्व निर्मोक्षिकत्वेन कुरुष्व । हे भारतेति संवोधनेन भरत- वंश्येन त्वया सर्वशत्रुनिग्रहेण स्वकीर्तिक्रयपानमुचितमिति सूचितम् । तस्मान्मुक्तप्रकारेण युद्धार्थं स्वधर्मं कुर्वन् तत्प्रसादात्तस्य ममानुग्रहात् परां शान्तिं निःशेषाऽविद्यानिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दरूपां भगवद्वाचापि शान्तं प्रकृतिकालकर्मसंकल्पशून्यं नित्यैकरतं स्थानं परमपदविष्णुपदादिशब्दा- भिधेयं धाम प्राप्स्यसि ॥ ६२ ॥

म० टी०—ईश्वरः सर्वभूतानि परतन्त्राणि प्रेरयति चेत्तानां विधिपरिषेवशास्त्रस्य सर्वस्य पुरुषकारस्य चानर्थक्यमित्याह—तमेवेति। तमेवेश्वरं शरणमाश्रयं संसारसमुद्रोत्थरणार्थं गच्छऽऽश्रय सर्वभावेन सर्वात्मना मनसा वाचा कर्मणा च हे भारत ! तज्जसादात्तत्वेवेश्वरस्यानुग्रहात्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तात् परा शान्तिं सकायाविद्यानिवृत्तिं स्थानमद्वितीयस्वरूपकप्रमाणानन्दरूपेणावस्थानं शाश्वतं नित्यं प्राप्स्यसि ॥ ६२ ॥

शं० टी०—आरुह्योधिष्ठितयुद्धे कर्मैव कर्तव्यमिति निर्धारयितुमेवं नयेन मयेन च कर्मणः कर्तव्यत्व- मेव संपाद्यापुनरु तस्यैव मोक्षेऽकामस्य तदेकस्मरणतया स्वकर्मणा तदाराधनं कुर्वन्स्वतत्प्रसादात्ज्ञानं मोक्षं सिध्यत्यवस्तद्योत्ये कर्मं कुर्वन् तमेव शरणं यादीत्याह—तमेवेति । हे भारत ! स्वकर्मणा तदाराधनपरो ।

भूत्वा त्वै सर्वभावेन नारायण एवेदं सर्वमिति सर्वप्रात्मभावः सर्वभावेन सर्वत्र पर-
मेश्वरत्वमुद्यथा सर्वात्मनो तमेव परमेश्वरं शरणं गच्छ 'संसारसागरे मां मामुद्धर जगद्यमो' इति संसा-
रदुःखनिवृत्त्यै तमेवाश्रय, तदेकशरणो भूत्वा तत्प्रसादात्तत्सर्वैश्वरस्य प्रसादानुमहात्समुत्पन्नाः समिधानां तारां
द्वयालम्बनरहितवातप्रकृष्टां परमानन्दानुभूतिहेतुत्वाद्वा परां शान्तिं वृत्त्युपरति सर्वत्र समदृष्टिं वा प्राप्स्य-
सि, शाश्वतं नित्यं सर्वदा चिदानन्दैकस्वरूपेणाविक्रियात्मना विद्युवीति स्थानं स्वस्वरूपं कृतस्यासङ्गाविश-
सकं परं ब्रह्म प्राप्स्यसि, विदेहमुक्तिमुत्तुं गमिष्यसित्यर्थः ॥ ६२ ॥

श्री० टी०—तमिति । यस्मादेवं सर्वे जीवाः परमेश्वरपरवन्त्रास्त्वस्मादहंकारं परित्यज्य सर्वभावेन
सर्वात्मना तन्मीश्वरमेव शरणं गच्छ । तत्तत्सत्येव प्रसादात्परमाप्तुपशान्तिं स्थानं च पारमेश्वरं शाश्वतं
नित्यं प्राप्स्यसि ॥ ६२ ॥

स० टी०—ईश्वरः सर्वभूतानि परवन्त्राणि मायया ॥ प्रेरयत्येव चेत्यासमानर्थक्यं श्रुतेः स्मृतेः ॥ १ ॥
विष्वादिप्रतिपादिन्याः पौरुषस्य तथैव च ॥ इत्यत्राह तमेवेदं शरणं गच्छ सर्वथा ॥ २ ॥ संसारजल्ले-
पारोत्तरणार्थं तमाश्रय ॥ मनसा कर्मणा वाचा सर्वभावेन भारत ॥ ३ ॥ तस्येश्वरस्य श्रीविष्णोः कल्याण-
गुणवारिधेः ॥ अनुमहात्परब्रह्मज्ञानोत्पत्त्यवधेः पराम् ॥ ४ ॥ सकाशात्तन्मायाघात्यां शान्तिं स्थानं परं
पश्य ॥ स्वप्रकाशपरानन्दान्मावस्थानमश्वरम् ॥ ५ ॥ नित्यकृतसम्यक्त्वं निर्मलं प्राप्स्यसि स्वयम् ॥
अतो विष्वादिशास्त्रस्य पौरुषस्य च सर्वथा ॥ ६ ॥ इमेव हि सार्वभूतं यदीदृशशरणं प्रवेत् ॥ न
स्यातन्मयात्कथिर्किञ्चित्प्राप्तोतीह कलं नटः ॥ ७ ॥ ईश्वरानुमहादेव सर्वं सर्वस्य जायते ॥ ईश्वरात्तुमे-
व तस्माद्यतिवच्यं मुमुक्षुभिः ॥ ८ ॥ यथा प्रसन्नो भगवान्परमेदेवं कृताश्रितः ॥ सर्ववेदेषु शास्त्रेषु पुराणे
भारवे स्या ॥ ९ ॥ सर्वं विहाय कर्तव्यमिदमेव सुनिश्चितम् ॥ बांनुदैवैकशरणः सर्वप्राप्तोति शोभनम्
॥ १० ॥ अतस्त्वमेव शरणं गच्छेत्त्वाह रामासि ॥ ११ ॥ ईशत्वेन हरिं भजस्व निगमप्रोक्तेन मार्गेण भो
दासं तस्य समाश्रयस्व सुमनोभक्त्या भवेनादरात् ॥ तत्त्वं सौहृदमाश्रयस्व नृदरेः प्रेम्णा शुश्रूष्य च
स्थात्मानं प्रकटीकरोति भजतामेव स बुद्धी हरिः ॥ १२ ॥ ६२ ॥

भा० टी०—यस्मादीश्वर एव तत्तत्कर्मफलप्रदाता आत्मयति तस्मात्तमेव ईश्वरं शरणमाश्रयं संसारादि-
हरणार्थं सर्वभावेन सर्वात्मना मनसा वाचा कर्मणा च गच्छ आश्रय । हे भारतेति सेवोभयम् उच्चमव-
शोद्धवत्वं योगयोऽस्तीति धोवयति । तत्प्रसादात्तस्य सत्यगाराधितस्येश्वरस्य प्रसादानुमहात् परां प्रकृष्टां
शान्तिमाविद्योपशमरूपां सर्वानर्थनिवृत्तिस्थानं च मुक्तास्तिष्ठन्ति यस्मिन्निति स्थानं मम विष्णोः परमं
पदं शाश्वतं सदैकरसमवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥

प० टी०—एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतेस्तदनुरूपसंस्काराणां वा ईश्वरानीन्तरात्सर्वत्र स एव शरण-
मिति ज्ञात्वा मनुक्तमुत्तरस्याह—तमेवेति । तमेव मामीश्वरमन्वयार्थिभिर्गं सर्वभावेन सर्वात्मना शरणं ब्रज ।
तत्प्रसादात्परामुत्कृष्टा शान्तिं निर्वृतिं शाश्वतं नित्यं स्थानं च प्राप्स्यसि । तदुक्तम्—'स्थूलं बपुः परिधिरा-
न्तरमस्य सूक्ष्मं देवालयं वह्निर्देवगतिः परात्मा । तत्पूजनोपकरणान्यखिलेन्द्रियाणि कृत्वा तमेव शरणं
ब्रज जीव नान्यम् ॥' इति ॥ ६२ ॥

रा० टी०—यस्मादेवमीश्वर एव स्वतन्त्रः जीवास्तदधीनास्तस्मादहंकारमुत्सृज्य तमेवेश्वरं सर्वभावेन
सर्वप्रकारेण शरणं गच्छ आदि । मा शरणं याहीति वक्तव्ये ईश्वरसिद्धयति चं शरणं याहीति परोक्षनिर्देशः
कृष्णस्येश्वरवनिश्चयार्थत्वाभिप्रायेण 'निश्चयार्थः स तु ज्ञेयो यत्रास्तेव परोक्षतः । उच्यते' इति

स्मृतेः । तत्प्रसादादीश्वरप्रसादात्परां शान्तिं बुद्धेर्भगवन्निष्ठतां, शाश्वतं स्थानं वैकुण्ठादि लोकं प्राप्त्यतीति ।
‘वैकुण्ठादिस्थानस्य शाश्वतत्वं च चित्पञ्चत्वात्मकत्वात् । ‘आर्ये लोकरूपेण विष्णोस्तिष्ठति’ इत्यादेः ॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्यादुह्यतरं मया ॥

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

न० टी०—इदानीं प्रसादं दर्शयितुमुपदेशमुपसंहरन्नुपदिष्टार्थं स्तौति—इतीति । इत्येवमुक्तप्रका-
रेण ते तुभ्यं हितैषिणा परमकारुणिकेन मया मुमुक्षुणादेयं ज्ञानमाख्यातमुपदिष्टम् । कथंभूतम् ? गुह्या-
दुह्यतरं कर्मज्ञानभक्तियोगविषयभक्तिरहितस्यमेतन्मदुपदिष्टं गीताशास्त्रमशेषेण विमृश्य पर्यालोच्य तदनन्तरं
स्वाधिकारारुरूपं यथेच्छसि तथा कुरु । कर्मज्ञानभक्तिषु यदेकं हिततरं मन्यसे तदेवानुतिष्ठेत्पर्यः ॥६३॥

म० टी०—सर्वगीतार्थमुपसंहरन्नाह—इतीति । इति अनेन प्रकारेण ते तुभ्यमत्यन्तप्रियाय ज्ञानमात्म-
नाप्रविषयमोक्षसाधनं गुह्याद्गुह्यतरं परमरहस्यमपि संन्यासान्तात् कर्मयोगाद्गहस्पतरं एतलभूतत्वात्
आख्यातं समन्तान् कथितं मया सर्वज्ञेन परमात्मिना । अतो विमृश्य पर्यालोच्य एतन्मयोपदिष्टं गीताशास्त्र-
मशेषं सामस्त्येन सर्वैकवाक्यतया ज्ञात्वा स्वाधिकारानुरूपेण यथेच्छसि तथा कुरु, न स्वेतद्विमुक्षयैव
कामकारेण यत्किंचिदित्यर्थः । अत्र चैतावदुक्तम्—अमुद्यान्वःकरणस्य मुमुक्षोर्मोक्षसाधनज्ञानोपसिद्ध्य-
त्ताप्रतिबन्धकपापप्रक्षयार्थं फलाभिसंक्षिप्यतिरिक्तागेन भगवद्वर्णयुद्धया वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानं, ततः शुद्धान्तःकरणस्य
विविधोत्पत्तौ गुरुमुपसृत्य ज्ञानसाधनवेदान्तवाक्यनिचाराय ब्राह्मणस्य सर्वकर्मसंन्यासः, ततो भगवदेकश-
रणतया विविच्छेदशेषादि ज्ञानसाधनाभ्यासाच्छ्रवणमनननिदिष्यासन्नैरिहसमाक्षात्कारोत्पत्त्या मोक्ष इति ।
अत्रियादेस्तु संन्यासानधिकारिणो मुमुक्षोरेन्तःकरणशुद्धयनन्तरमपि भगवद्वाशापाठनाय लोकसंप्राप्त्य च
यथाकर्थाचत्कर्माणि कुर्वन्तोऽपि भगवदेकशरणतया पूर्वजन्मकृतसंन्यासाद्विरापाकाद्वा हिरण्यगर्भमन्या-
येव तदनपेक्षयाद्वा भगवदनुग्रहादशेषेणैव तत्त्वज्ञानोत्पत्त्याऽप्रिमज्जमानि ब्राह्मणजन्मलभ्येन संन्यासा-
दिपूर्वकज्ञानोत्पत्त्या वा मोक्ष इति । एवं विचारिते च नास्ति मोहावकाश इति भावः ॥ ६३ ॥

श्री० टी०—‘एवकर्मा समग्र्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः’ इत्यारभ्य ‘सिद्धिं प्राप्नो यथा ब्रह्म तथाप्रोति
निबोध ने’ इत्यन्तेन कर्मभिः समारापितेश्वरप्रसादाक्षिप्तशुद्धित्वतो ज्ञानं ततो मोक्ष इत्युक्तमेवार्थं दृढीकर्तुं
पुनः संक्षेपेणोपन्यसेदानीमुपक्रान्तं ब्राह्मणमुपसंहरति—इतीति । ‘नत्वेकाहं जातु त्वत्सत्’ इत्यारभ्य ‘स्थानं
प्राप्त्यसि शाश्वतम्’ इत्येतदन्तं ज्ञानं ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानोत्पत्तिकारणमेवद्वीताशाखं गुह्याद्वोपनीयान्मनिमन्त्रादे-
रणिमादिसिद्धिदेवतोरपि प्रयत्नेन संवरणीयत्वाद्गुह्यतरं परमरहस्यं ज्ञानशास्त्रं मुमुक्षवे शुद्धात्मने शरणं गता-
य ते तुभ्यं मया सर्वज्ञेन परमकारुणिकेनावाप्तसर्वकामेनेश्वरेणाख्यातं ज्ञानतत्त्वसिद्धिसाधनप्रकाशकं मोक्ष-
शास्त्रं समप्रमुपदिष्टम् । ज्ञानस्य तत्साधनसंपत्तेश्च बोधकमेवद्वीताशाखं पदवाक्यप्रमाणमित्युपसंस्तवमशेषेण
सर्वमवमृश्य साधनं साध्यं तत्सिद्धिप्रकारं स्वाधिकारं च सम्यगालोच्य, सत्त्वशुद्धेरभावे सत्त्वेन कर्मणि,
तत्सद्भावे सत्यात्मविज्ञाननिष्ठार्थां च स्वस्य योग्यत्वं निश्चित्य यथेच्छसि यथा कर्तुमिच्छासि तथा कुरु
तथा भवस्व । स्वतृप्तिवत्त्वग्राहिकारस्य स्वज्ञेयत्वात्प्रबुद्धेरप्रत्यक्षत्वाच्च स्वाधिकारं स्वयमेव निश्चित्य
कर्मणि ज्ञाने वा यथाभिकारस्तत्र विद्येत्पर्यः ॥ ६३ ॥

श्री० टी०—सर्वगीतार्थमुपसंहरन्नाह—इतीति । इति अनेन प्रकारेण ते तुभ्यं, सर्वज्ञेन परमकारुणि-
केन मया ज्ञानमाख्यातमुपदिष्टम् । कथंभूतम् ? गुह्याद् गुह्याद्गहस्पतमन्त्रयोगादिज्ञानादपि गुह्यतरम् ।
एतन्मयोपदिष्टं गीताशास्त्रमशेषतो विमृश्य पर्यालोच्य पश्चाद्यथेच्छसि तथा कुरु । एतस्मिन्पर्यालोचिते सति
तव मोहे निवर्तिष्यसि इति भावः ॥ ६३ ॥

स० टी०—इदानीं सर्वगीतार्थमाहुदमुपसंहरन् ॥ इत्यनेन प्रकारेण तुभ्यं प्रेमास्पृश्याय च ॥ १ ॥ ज्ञानगामैर्यविषये मोक्षसाधनमन्तरम् ॥ यदेवात्यन्तसद्गोप्यादपि गोप्यतरं महत् ॥ २ ॥ कर्मसंन्यास-पर्यन्तात्कर्मयोगादुपरिवात् ॥ रहस्वरतमस्तीदं तत्कलत्रात्पुनरुक्तम् ॥ ३ ॥ सर्वज्ञेनश्रेणामवमेनागम-हेतुना ॥ आसमन्तान्मया साक्षात्कथितं परमोष्ठिना ॥ ४ ॥ एतन्मयोपदिष्टं त्वं गीताशास्त्रमशेषतः ॥ पर्यालोच्य धिया शुद्धया साकल्येन विवेकतः ॥ ५ ॥ एकानयतया ज्ञात्वा स्वाधिकारानुरूपतः ॥ श्रेयोमार्गं विनिश्चिश्य यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६ ॥ एतदुक्तं भवत्ययं गीताशास्त्रार्थसंग्रहे ॥ नरस्यागुह्यचि-त्तस्य सुमुश्रोमोक्षसाधनम् ॥ ७ ॥ कर्मयोगो च शास्त्रार्थं फलसङ्कटविवर्जितः ॥ ईशार्पणधिया सम्यक्कृतः सत्त्वविशुद्धिकृत् ॥ ८ ॥ ज्ञानमुपचयते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः ॥ कपाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ॥ ९ ॥ इति स्मृत्या तथा श्रुत्या तमेवमितिवाक्यतः ॥ निष्कामः कर्मयोगोऽतो प्रथमं साधनं मतम् ॥ १० ॥ ततः शुद्धविद्यः सम्यग्भेदाग्यादियुतस्य च ॥ सम्यग्विविदिषोत्पच्चावाचार्यमुपसृत्य च ॥ ११ ॥ ज्ञानसाधनवेदान्तगीर्वाचाराय शास्त्रतः ॥ समस्तकर्मसंन्यासो प्राक्षणस्य विधीयते ॥ १२ ॥ ततः कृष्ण-कक्षरणतया पूर्वोक्तसाधनैः ॥ अमानित्वादिभिर्निर्घ्नं श्रवणादिपरस्य च ॥ १३ ॥ प्रज्ञाभैरन्यापवोषस्य साक्षात्कारस्य सन्मतेः ॥ प्रादुर्भावेन मोक्षोऽस्ति सिद्ध इत्येव निर्णयः ॥ १४ ॥ क्षत्रियादेस्तु संन्यासात् नधिकारितया तथा ॥ सुमुक्षोभ्येतसः शुद्धो जातयां वदन्नन्तरम् ॥ १५ ॥ ईशाज्ञापालनार्थं च लोक-संग्रहसिद्धये ॥ यथाकथंचित्कर्माणि कुर्मतोऽपि विरागिणः ॥ १६ ॥ कृष्णकक्षरणत्वेन पूर्वजन्मकृतादपि ॥ संन्यासादेः परप्रज्ञज्ञानं कृष्णप्रसादतः ॥ १७ ॥ जायते तेन सिद्धः स्थान्मोक्षस्तस्येति निर्णयः ॥ एवं विचारिते शास्त्रे पौर्वापर्यानुरोधतः ॥ १८ ॥ नास्ति मोहावच्छयोऽशुभाप्रमित्याशयो हरेः ॥ १९ ॥ सकलनिगमसारं मोक्षदानेऽनुद्युतं भ्रमविमिरविदारं संस्तुवित्रेः कुंठारम् ॥ दृढमतिस्त्रिविदारं प्रज्ञविद्यावि-हारं निरुद्धगुणविचारं नीर्मलकर्म्यैकदारम् ॥ २० ॥ १३ ॥

भा० टी०—शास्त्रमुपसंहर्तुमिच्छन्नाह—इतीति । इत्येव ते तुभ्यं शयदेऽनेनैति ज्ञानं गीताशास्त्रं गुह्यत् गोप्यात् गुह्यवरमतिशयेन गोप्यं रहस्यं मया सर्वज्ञेनाततमेन शास्त्रयोनिना आख्यातं कथितम् । एतद्य-थोक्तशास्त्रमशेषेण समस्तं विमृश्य निमरीतमालोचनं कृत्वा यथेच्छसि तथा कुरु, नत्वेतत्साकल्येनावि-मृश्यैवेत्यर्थः ॥ १३ ॥

प० टी०—अथ सर्वगीतार्थमुपसंहरन्नाह—इतीति । इत्येव प्रकारेण ते तुभ्यं मया कथनार्थेन ज्ञान-मात्मविवेकरूपमाख्यातम् । किमुतम् ? गुह्यान्मन्त्रादिरहस्यादपि गुह्यं गोप्यतमम् । एतदशेषेण पूर्वापरमा-क्यानुसंधानपूर्वकं विमृश्य विचार्य यथेच्छसि मोक्षमार्गमपेक्षते तथैवोक्त्युपायं कुरु ॥ १३ ॥

श० टी०—एवं भगवानर्जुनस्यतिगोप्यं सत्त्वमुपदिश्य तदनुवादपूर्वं तूष्णीं स्थितमर्जुनमाक्षिपति—इतीति । गुह्यादुह्यतरमिवगोप्यमिति प्रागुक्तप्रकारेण ज्ञानं श्रेयं तुभ्यं मया आख्यातम् । एतदशेषेण विमृश्य विचार्य यथेच्छसि तथा कुर्वीताशेषः ॥ १३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ॥

इष्टोऽसि मे दृढमतिस्ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

त० टी०—अतिगम्भीरस्य गीताशास्त्रस्याशेषेण विपरीतकेशपरिहाराय स्वयमेव कृपया तत्सारं संक्षुप्तं प्राहपितुं हृदीकरोति—सर्वगुह्यतममिति । पूर्वं गुह्यवरमुक्तमिदानीं तस्मादन्येभ्योऽपि गुह्य-तरेभ्यो गुह्यतममतिरहस्यं परमं प्रकृष्टं मे वचः भूयस्तव तनोक्तमपि त्वदेवप्रहार्थं पुनर्वक्ष्यामि

शृणु । नन्वतिरहस्यं कुतः कथयसि । तत्राह—यतस्त्वं मे मग्रेष्टः प्रियोऽसि दृढमतिविश्वासयुक्तस्ततस्ते हितं वक्ष्यामि ॥ ६४ ॥

म० टी०—अतिगम्भीरस्य गीताशास्त्रस्याशेषतः पर्यालोचनकृशेनवृत्तये कृपया स्वयमेव तस्य सारं संक्षिप्य कथयति—सर्वेति । पूर्वं हि गुह्यतः कर्मयोगात् गुह्यतरं ज्ञानमाख्यातम्, अधुना तु कर्मयोगात्तत्फलभू-
तज्ञानाद्यैः सर्वैरसादृशितयेन गुह्यं रहस्यं गुह्यतमं परमं सर्वतः प्रकृष्टं मे मम वचो वाक्यं भूयः तत्र तत्रो-
क्तमपि स्वदनुमहर्षे पुनर्वक्ष्यमाणं शृणु । न त्वामपूजाख्यात्याद्यर्थं त्वां ब्रवीमि । किं तु इष्टः प्रियोऽसि मे मम
दृढमतिज्ञेयेन इति यत्तत्तत्स्तेनैवेष्टत्वेन वक्ष्यामि कथयिष्याम्यष्टोऽपि सन्नहं वे तव हितं परमं श्रेयः ॥ ६४ ॥

शं० टी०—एवमारुक्षोरारुक्षस्य च कर्तव्याहं निर्धार्य ज्ञानतत्फलसिद्धेश्चिच्छिद्विरेषासाधारण-
कारणं, चित्तशुद्धौ सिद्धायां ज्ञानसिद्धिः सुखमवरा, तदभावे ज्ञानं ज्ञाननिष्ठा संन्यासश्च न फलति, साध-
नशङ्क्यैर्नैव भवितव्यमतश्चित्तशुद्धये कर्मवारुक्षोरारुक्षरापणबुद्ध्या सम्प्रकर्तव्यमिति दृढतरमुपदेष्टुमुपदे-
ष्टव्यं सौति मुमुक्षोः अद्वयाऽत्रैव प्रवृत्तिसिद्धये—सर्वेति । सर्वाणि यानि गुह्यानि गोप्यान्यनिमादि-
सिद्धिसाधनानि मन्त्रौपधाशीनि वेभ्यो गोक्षमुल्लेकसाधनत्वेन गुह्यतरं ज्ञानवत्सिद्धेः कारणत्वादिष्वेक-
शरणत्वेन कर्माचरणं गुह्यतममत्यन्तरहस्यं सद्गोप्यं मम वचनमपि सर्वगुह्यतममेव । किं च परमं परमपुत्र-
पार्थसाधनत्वात्परममुत्कृष्टं मे मम वचो वचनं 'मत्कर्मपरमो भव' इति 'मत्कर्मकृतपरमः' इति तत्र तत्रोक्त-
मपि भूयः पुनरपि दारुण्यापोष्यमानं शृणु, अद्वया श्रुत्या तत्परो भवेत्यर्थः । नन्वस्य वचनस्य सर्वगुह्यत-
मत्वे कथमुपदेश उपयुज्यत इत्यत आह—इष्ट इति । यतः पितुः पुत्रवत् त्वं सर्वशतबान्धे मग्रेष्टः प्रियो-
ऽसि तवस्मादेव हेतोस्ते सद्यः शृणुष्वं वक्ष्यमाणलक्षणं दृढं फलाप्यभिचारि पूर्वोक्तमपि दृढं यथा तया
हितं हितसाधनं वक्ष्याम्युपदेक्ष्यामि शृणुर्वित्यर्थः ॥ ६४ ॥

श्री० टी०—अतिगम्भीरं गीताशास्त्रमशेषतः पर्यालोचयितुमशक्नुवतः कृपया स्वयमेव तस्य सारं संगृह्य
कथयति—सर्वगुह्यतममिति श्रिभिः । सर्वेभ्योऽपि गुह्येभ्यो गुह्यतरं मे वचः तत्र तत्रोक्तमपि भूयः पुनरपि
वक्ष्यमाणं शृणु । पुनः पुनः कथने हेतुमाह—दृढमत्यन्तं मे मम त्वमिष्टः प्रियोऽसीति मत्वा । तव पक्षेहेतो-
स्ते हितं वक्ष्यामि । यद्वा त्वं ममेष्टोऽसि, मया वक्ष्यमाणं च दृढं सर्वप्रमाणोपेतमिति निश्चित्य तवस्ते
वक्ष्यामीत्यर्थः । दृढमतिरिति केचित्पठन्ति ॥ ६४ ॥

स० टी०—अतिगम्भीरभावस्य गीताशास्त्रस्य सर्वतः ॥ पूर्वापरपरामर्शयुक्तिकृशेनवृत्तये ॥ १ ॥
अप्या स्वयमेवैवः सारं संक्षिप्य तस्य च ॥ कथयत्वात्मसिद्धान्तं भगवान्कुरुषानिधिः ॥ २ ॥ कर्मयो-
गात्परागुह्याज्ज्ञानं गुह्यतरं स्मृतम् ॥ इदानीं कर्मयोगाच्च तत्फलान्तत्त्वबोधतः ॥ ३ ॥ सर्वस्मादपि संगो-
प्याद्रहस्यमवितुर्लभम् ॥ प्रकृष्टं सर्वतो वाक्यं ममास्तस्यैश्वर्यस्य च ॥ ४ ॥ तत्र तत्रोक्तमप्येवमुपन्यसे प्रीति-
काम्यया ॥ वक्ष्यमाणं शृणु त्वं भोः किमर्थं ते ब्रवीम्यहम् ॥ ५ ॥ न त्वामपूजाख्यात्यादिसिद्धये किं तु मे
हरेः ॥ प्रियोऽस्यतिशयेनेति यस्मात्तेनैव हेतुना ॥ ६ ॥ कथयिष्याम्यष्टोऽपि श्रेयस्ते परमं ब्रह्म
॥ ७ ॥ भक्तिर्हरेः प्रेमधनावितुर्लभा न गुह्यसिद्धान्त इवःपरं नृणाम् ॥ आश्रित्य तां मोक्षपदं करे
स्त्विदं न तां विना श्रेय उपैति कश्चन ॥ ८ ॥ ६४ ॥

भा० टी०—अतिगम्भीरस्य गीताशास्त्रस्य पौर्वापर्येण विमर्शनाद्वारा प्रविप्लुतमसमर्थं प्रति स्वयमेव
कहणानिधिः श्रीभगवान्वासुदेवस्तस्य सारं संगृह्य कथयति, तथा भूयोऽपि मयोच्यमानं सर्वगुह्यतमं सर्व-
गुह्येभ्योऽत्यन्तरहस्यमुक्तम्यसकृत् भूयः पुनः मे मम परमं प्रकृष्टं वचो ब्रवीम्यहम् । यत्तु पूर्वं गुह्यतमं कर्म-
योगात् गुह्यतरं ज्ञानमाख्यातम्, अधुना तु कर्मयोगात् तत्फलभूतज्ञानयोगाच्च सर्वस्यादृतिशयेन गुह्यतममिति

तु नादत्तं ज्ञेयम् । पूर्वस्मिन्श्लोके ज्ञानं करणव्युत्पत्त्या गोवाशाक्षपरमिति व्याख्यातवान् । 'इदं तु वे गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूये' इत्यादौ ध्यामस्य गुह्यतमत्वाभिधानायाऽऽज्ञानादपि गुह्यतममन्यदित्यभिधानस्यानुचितत्वाच्च । किमर्थं पुनः पुनः आचक्षतेति चेत्, न भयाच्चाप्यर्थकारणाद्वा वक्ष्यामि, किं तु दृढमन्यमिचारेणान्यन्तं मे मम इष्टः प्रियोऽसि तत्तस्मात्कारणाद्वक्ष्यामि कथयिष्यामि ते तव हितं परं ज्ञानप्राप्तिसाधनं, तद्वि सर्वहितानां हिततमम् ॥ ६४ ॥

प० टी०—अथोक्तप्रकारेणोपायं कर्तुमशक्तमर्जुनं प्रति परमकारणिकः परमात्मा संक्षेपेण सर्वगोतार्थसारं वक्तुमुपक्रमते—सर्वगुह्यतममिति निभिः । सर्वभ्योऽपि परमं गुह्यतमं वक्ष्यमाणं मे वचः शृणु । न त्वसंगोपासीतस्य परमात्मनस्तव मयि कथमेतावान्ममत्वानुपपन्न इत्याह—इष्ट इति । यत्तत्त्वं दृढमनसिर्दृढसंकल्प इति मे इष्टोऽभीष्टः संगतोऽसि ततस्तेन कारणेन ते हितमुपकारं वक्ष्यामि ॥ ६४ ॥

रा० टी०—तत्त्वसारमुपसंहरत्य साधनसारकथनमुपसंहरतुं प्रतिजानीते—सर्वेति । चतुर्विंशदौ साधनसारस्योपसाराद्वच इत्युक्तम् । पुनरित्यर्थः । सर्वसाधनेषु गोप्यतमं मे परमं वचः शृणु मे इष्टोऽसि । दृढमिति तिश्च । तत्तस्ते हितं वक्ष्यामि उपसंहाररूपेण कथयिष्यामीत्यर्थः ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्रक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ॥

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

त० टी०—तदेवाह—मन्मना भवेति । मयि भगवति पुरुषीचर्षे चेतसा शुभाश्रये मनो यस्य स मन्मनास्तथा भव, पराभक्तिलक्षणं सर्वदा मद्रक्त्यान् कुर्वित्यर्थः । तत्साधनमाह—मद्रक्तो भवेति । मद्रक्तिं कुर्वित्यर्थः । सा च भगवदर्थी क्रियैव । “सुर्यं विदिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया । सैव भक्तिरिति शोक्ता यथा भक्तिः परा भवेत्” इति वचनात् । तामेवोपदिशति—मद्याजीति । द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा इत्यादिनोक्तः पञ्चयज्ञैः अभिगमनोपादान्मन्यास्वाध्याययोगैः पञ्चकालोक्तमद्रजनैर्वा मत्पूजनशीलो भवेत्यर्थः । तत्र द्रव्ययज्ञो विभवे सति सर्वसमृद्धिमदुपचारैर्मदाराधनं, निष्कचनानां यथाशक्ति पत्रपुष्पफलादिभिर्षष्पोपलब्धैरविमीत्या भगवदाराधनं, तपोयज्ञश्च स्वधर्मश्रुतिपासाशीतोष्णादिसहनं, योगयज्ञश्च यमनियमासनादिनियमपूर्वकसमर्पमाणायामैश्चेतसो जयाभ्यासः, स्वाध्याययज्ञश्च यथाधिकारमुपनिषद्गीतासहस्रनाम्नादिस्तोत्रापररूपः, ज्ञानयज्ञश्च श्रुताधीतोपनिषद्गीतापर्यस्य धननकथनरूपः । अथ क्वत्स्य यजनस्य वैगुण्यपरिशरार्थमाह—मां नमस्कुरु । मां सर्वैर्भवं सर्वशक्तिं वात्सल्यकारुण्यादिगुणार्णवं निपमेन नित्यमग्राह्यैः प्रणमेत्यर्थः । एतत्साधनभक्तैः फलमुक्तं विष्णुधर्मे “अन्वमेधसहस्राणां रहसं यः समाचरेत् । नासौ तत्फलमाप्नोति मद्रक्त्या यदवाप्नुयात्” इति । एवं पञ्चविधमदाराधनेन निरन्तरध्याननिष्ठो भूत्वा मत्साक्षात्कारेण ब्रह्मरुद्रादिभिर्देवैराचार्यं परमप्राप्यं परमानन्दधनं मामेवैष्यसि माप्स्यसि, एतत्सत्यं न म्लम्भनमिति ते त्वभ्य प्रतिजाने प्रतिज्ञां करोमि । यत्तत्त्वं मे प्रियोऽसि, मयिष्य श्लम्भनमनुचितमिति भावः । अत एव महाभारते ध्यानस्यैव परमार्थेयोहेतुत्वं श्रीव्यासेन निर्णीतम् “आलोड्य सर्वेशान्नाणि विचार्य च पुनः पुनः । इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नाशकणः सदा” इति । शोशधर्मं मेधाविनाऽपि तथैव निश्चितं “सौहृदं त्वर्हिसः सत्यात्मा कामक्रोधविवर्जितः । जितेन्द्रियः शमी भूत्वा मृत्युं जेष्याम्यमर्त्यवत् । अन्वर्हसिश्च मत् किंचिन्मनोव्यासद्वकारणम् । तत्सर्वं संपरित्यज्य ध्यानेऽभ्यस्ये-
न्मनः सदा । मनसधेन्द्रियाणां च कृत्स्नकार्यं समाधितः । तावत्स्यात्सामि नियतो यावत्संक्षयमागतम् ।

विमुक्तविषयासङ्गं सन्निरुध्य मनो हृदि । यदा यात्युन्मनीभावं तदा निर्वाणमृच्छति । कामक्रो-
धभयेनेह तमसाऽऽवृतचेतसः । पिशुनाथ कुवघ्नश्च नास्तिका भिन्नचतयः । एतन्मूढा न पश्यन्ति
मोक्षद्वारमपावृतम् । अन्धमेधसहस्राणि बाणपेयशतानि च । ध्यानयोगस्य माहात्म्यं कलां नार्हन्ति
पोडशीम् ॥ इति । अत एवमुक्ते सर्वशुद्धतमे त्वद्धिते परमे मद्भक्तसि त्वं सर्वात्मना श्रद्धायानो यथो-
क्तमनुतिष्ठेति भावः ॥ ६६ ॥

म० टी०—तदेवाह—यन्मना इति । मयि भगवति वासुदेवे मनो यस्य मन्मनाः भव सदा मां
चिन्तय । द्वेषेण कंसदिशुपालादिरपि तथाऽहं मन्त्रकः प्रेम्णा मध्यमुरक्तः, मद्रिपयेणानुरागेण सदा
मद्रिपयं मनः कुर्विति विधीयते । त्वद्विषयोऽनुराग एव केन स्यादित्यत आह—मद्याजी मां यदुं पूजयितुं
शीलं यस्य स सदा मद्रिपयसो भव । पूजोपकरणभावे तु मां नमस्कुरु—कायेन वाचा मनसा च प्रह्नी-
भवतेनाराधय । इदं चार्चनं बन्धनं चान्येषामपि भागवतधर्माणामुपलक्षणम् । तथा चोक्तं श्रीभागवते
‘श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं बन्धनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसाऽर्चिता
विष्णो भक्तिः श्रेष्ठलक्षणा । क्रियते भगवन्त्यहं तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥’ इति । एतच्च भक्तिरसायने
व्याख्यातं विस्तरेण । एवं सदा भागवतधर्मानुष्ठानेन मध्यमुरागोत्पत्त्या मन्मनाः सन् मां भगवन्तं
वासुदेवमेव पश्यसि प्राप्त्यसि वेदान्तावकाशजनिसेन मद्गोपेन । त्वं चात्र संशयं वा कार्पाः, सत्यं यद्यर्थं
ते शुभ्यं प्रतिजाने—सत्यामेव प्रतिष्ठां करोम्यस्मिन्नर्थे । यवः । प्रियोऽसि मे, प्रियस्य प्रशारणा नोचितैवेति
भावः । सत्यन्ते प्रारब्धकर्मणामन्वे सति आमेध्यस्तीति वा । अनुवादापेक्षया विश्वासदाढ्यप्रयोजनं प्रथमं
व्याख्यातमेव श्रेयः । अनेन यत्पूर्वमुक्तं ‘यवः प्रवृत्तिभूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तस्यैवार्थं
सिद्धिं विन्दति मानवः’ इति वद्व्याख्यातं मच्छब्देनेश्वरत्वप्रकटनत्वात् ॥ ६९ ॥

शं० टी०—वक्ष्यामीति यद्यपिज्ञाते तमेव शुद्धतमं भागवतं कर्मयोगं साङ्ख्यमुपदिशति—मन्मना इति ।
मद्याजी मद्याजनशीले भव, मन्मनाः मध्येव मनो यस्य स मन्मना सच्चित्तो भव, मन्त्रकः मामेव भजतीति
मन्त्रको मन्त्रजानो भव, मां नमस्कुरु नमस्कारमपि मद्भावेन कुरु । यद्वा मद्याजी वेदोक्तैरेव स्वकर्मभिरौपा-
सनाद्यन्तमेधान्तैर्मात्रेव परमेश्वरं यमुपाराधयितुं शीलमस्वात्मीयि सद्याजी भव, स्वकर्मभिरभिसिधं यज मशी-
तये सर्वाणि कर्माणि कुर्वित्यर्थः । पुत्रादिकामनयैव परमेश्वरस्याराधनं कृतवतः परमपुरुषार्थासंभवात्कामरा-
हित्वेन अनिवार्यमित्याशयेनाह—मन्मना इति । मयि मोक्षस्वरूप एव मनो यस्य स मन्मना मोक्षैककामो
भव, न तु पुत्रकामः पशुकामो राष्ट्रकामः स्वर्गकामो मल्लोक्तकामश्च भवेत्यर्थः । स्वकर्मभिः परमेश्वरमेवारा-
धयतः क्रतुपुत्रपुत्र्यैवाहित्वप्राप्तिषु देवतान्तरस्वबुद्धौ सत्यां परमेश्वरभक्तिर्विच्छिद्यते, ततः सर्वत्र मद्बुद्धिः
कर्तव्येत्याशयेनाह—मन्त्रक इति । ‘प्रह्लाद नारायणः शिवश्च नारायणः’ इति ‘तदेवामिस्तद्भुक्तस्तत्पुत्रस्तदु-
चन्द्रमाः’ इति परमेश्वरस्यैव सर्वदेवतात्मकत्वश्रवणात्सर्वदेवतात्मकं मायैकमेव भजतीति मन्त्रको भव—बह्मया-
दिषु सर्वत्र मद्बुद्ध्या सर्वात्मकं मायैकमेव भजेत्यर्थः । फलेषु कामत्यागेनाग्न्यादिबन्धनैस्तत्पुत्रपुत्र्या च
रागद्वेषादिदोषा न संभवन्ति । तथाप्यहं ब्राह्मणो याजी षण्डित इत्यापाभिमानलक्षणं कालुष्यं चित्तप्रसक्ति-
प्रतिबन्धकं त्वरितं वनिर्बन्धितुमाह—मायिति । ‘ईश्वरो जीवकल्या प्रविष्टो भगवानिति’ ‘वासुदेवः सर्वम्’
इति न्यायेन देहाभिमाननिवृत्तये सर्वभूतात्मकं मां सर्वत्र नमस्कुरु न तुः केवलदाहरतापाणादिरूप-
मित्यर्थः । एवं साधनसंपत्त्या स्वकर्मणा सद्गाराधनवत्परस्त्वं मत्पसादाचित्तशुद्धिं प्राप्य संप्राप्तात्मवत्तत्वि-
ज्ञानं सन् मामेव त्रिविधपरिच्छेदशून्यं सच्चिदानन्दैकरसं परं श्रेष्ठैक्यसि मद्भावे प्राप्स्यसि । सत्यं प्रवीणि
नात्र संदेहः कर्तव्यः । ते तथाहमस्मिन्नर्थे प्रतिजाने प्रमाणं करोमि, यस्मान्मे मम त्वमुत्तमभक्त्या प्रियोऽसि,

तस्मात्तव मङ्गावापत्तौ संशयो नास्तीति प्रविष्टां करोमीत्यर्थः । अद्याभक्तिर्भावां स्वकर्मभिर्मदारधनमेव कुर्वाणो निरुक्तसाधनसंपन्नो मुग्धः सत्त्वशुद्धिसंभावित्वात्मविज्ञानेन मङ्गावं याति, नास्त्यत्र संशय इति भगवति प्रतिज्ञां कृतवति सति कस्य प्राक्षणस्य प्रामाणिकस्य योनिर्गोत्रशुद्धिमतो विश्वासो न स्यात् ? अत आरुरुक्षोर्मोक्षैकामस्याकामनयेत्परमीत्यै कर्मैवावश्यं कर्तव्यमिति सिद्धम् ॥ ६५ ॥

श्री० टी०—तदेवाह—मन्मना इति । मन्मना भव, मधितो भव, ममेव भक्तो भव । मद्याजी मद्यजनशीलो भव । मामेव नमस्कुरु । एवं वर्तमानस्त्वं मत्पसादाप्रवृत्त्यानेन मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि । अत्र च संशयं मा कार्षीः । त्वं हि मे प्रियोऽसि, अतः सत्यं यथा मत्सत्त्वेन तुभ्यमहं प्रतिजाने प्रतिज्ञां करोमि ॥ ६५ ॥

स० टी०—तदेवाह कृपासिन्धुः स्वमच्छायाजुनाय ॥ वासुदेवे भगवति मयि यस्य मनः स च ॥ १ ॥ सदा मां चिन्तयत्यर्थं मङ्गलं भव सर्वदा ॥ प्रेम्णा मध्यनुरक्तः सन्मद्विषयं मनः कुरु ॥ २ ॥ मामेव श्रीपतिं यष्टुं शीलं यस्य तथा भव ॥ मध्येवास्तुरागेण मत्पूजावत्परो भव ॥ ३ ॥ पूजोपकरणाभावे मामेव त्वं नमस्कुरु ॥ कायेन मनसा वाचा प्रह्वोभावेन मां भज ॥ ४ ॥ एवं च भगवद्धर्मातुष्टानेन मयीश्वरे ॥ अनुरागोद्भवैर्नैव भवेद्भगवतोत्तमः ॥ ५ ॥ एषं भागवतो भूत्वा भगवन्त्वं स मां हरिन् ॥ प्राप्स्यसि श्रुतिगोर्जन्यबोधेनात्मनमद्वयम् ॥ ६ ॥ त्वमत्र संशयं दुष्टं मा कार्षीमिदं च सत्यतः ॥ सत्यमेव प्रतिज्ञां ते हस्मिन्नर्थं करोम्यहम् ॥ ७ ॥ यतः प्रियोऽसि मे तस्मान्न प्रियस्य प्रवारणा । उचितोऽदिति विश्वासं मनुजैर्दुर्धं सदा कुरु ॥ ८ ॥ यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ॥ स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं चिन्तयि मानवः ॥ ९ ॥ इष्ट्यत्रोक्तस्य यच्छब्दप्रतिपाद्यस्य यस्तुनः ॥ मच्छब्देनात्र कथनं कृतं भगवता स्वयम् ॥ १० ॥ स एव भगवान्कृष्णो वासुदेवाभिधो विशुः ॥ अर्च्यो ध्येयस्तथा ज्ञेयः शरण्य इति निश्चितम् ॥ ११ ॥ नातः परतरं किञ्चिच्छ्रेयःसाधनमिष्यते ॥ समस्तेषु च वेदेषु पुराणविदुषा स्मृतौ ॥ १२ ॥ ६५ ॥

भा० टी०—किं वदित्यपेक्षायामाह—मन्मना इति । मन्मना मयि भगवति वासुदेवे मनो यस्य स मधितो भय—सर्वदा मामेव चिन्तय । मङ्गलं मच्छब्दवर्णकीर्तनादिसमस्तज्ञो भव । मद्याजी मद्यजनशीलो भव । मां नमस्कुरु नमस्कारमपि मामेव कुरु । तत्रैवं वर्तमानो मयि वासुदेवे एव समर्पितसाध्यसाधनप्रयोजनो मामेवैष्यसि आगमिष्यसि मदभेदज्ञानं प्राप्स्यसि । अस्मिन्नर्थं सत्यं ते तव प्रतिजाने सदायं प्रतिज्ञां करोमि, यतः प्रियोऽसि मे । तथा च मम भगवतः सत्यप्रतिज्ञत्वं युवद्भ्यो मङ्गलैरवश्यंभावि मत्प्राप्तिकलत्वं मत्परायं मच्छरणैकपरायणो भवेति वाक्यार्थः ॥ ६५ ॥

प० टी०—तत्किमिवाह—मन्मना इति । यद्वान्तर्दृष्टिर्भवति तदा मन्मना अहमेव मनसि यस्यासौ मन्मना न विषयान्तरम् । चित्तमिच्छौ चित्रन्यस्वमिव मां कुर्वित्यर्थः । वासुदेवौ भण्यो भव तवप्रकारभक्ति-युक्तो भव । कर्मणि क्रियमाणे मद्याजी मद्यजनशीलो भव । तत्र 'कर्माद्भेदेववास्तन्त्यामित्येन स्थितं मामेव नमस्कुरु । जनेनोपायेन मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि न प्ररोचनामार्थं, किं तु सत्यं यथा तथा प्रतिजाने प्रतिज्ञां करोमि, यतस्त्वं मद्रूपत्वान्ने प्रियोऽसि परमप्रेमसाधकमिति ॥ ६५ ॥

रा० टी०—तदाह—मन्मना इति । यतो मे प्रियोऽसि, अतो मन्मनस्तत्वादिसाधनसारचतुष्टयेन मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि । ते सत्यं प्रतिजाने अवश्यं मत्प्राप्तिर्भवतीति प्रतिज्ञां करोमि, नात्र संदेहः कार्य इति भावः ॥ ६५ ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजं ॥

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

त० टी०-एवं भगवदुपादिष्टे सर्वशास्त्रगुह्यतमसिद्धान्ते सर्वात्मना स्वानन्यभजने श्रद्धानमपि धर्मविमन्यादिमहर्षिर्विहितयज्ञदानतपःस्वाभ्यायाग्निसौमहायज्ञाद्यनुष्ठाने कर्तव्ये यथोक्तं केवलभगव-
 ज्ञजनं नोपपद्येत तत्परित्यागे च विहितधर्मत्यागजन्यपापापचिपसङ्गेन भजनभङ्गः स्यात् । किंच
 “ यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् । एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
 कर्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुच्यते । पुनः “ स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ”
 इत्येवमादिवचनैस्तेपापवश्यकर्तव्यताया भगवता स्वयमपीह विहितत्वात् कथं तस्यागो युज्येत ? अ-
 त्यागे च भगवति मनोनिवेशनपूर्वकं तदैकान्त्यभजनं न स्यादन्यकर्मादौ प्रवृत्तत्वात् । एवं च किं
 हेयं किमुपादेयमित्यनिश्चयात् संदेहव्याकुलचित्तमर्जुनपालोच्य श्रीभगवान्वासुदेवस्तत्संदेहपाकुर्वन्
 स्वस्य निरङ्कुशेश्वरत्वं च खयापयन् स्वशरणागतस्य सर्वपापक्षयकृत्त्वेन स्वप्रपत्तिमेव हृदयति-सर्व-
 धर्मानिति । सर्वान् धर्मान्यज्ञदानतपोऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीन्तित्यनैमित्तिकान्साधनाङ्गफलसहिता-
 न्यरित्यज्य एतैरेव मे श्रेयो भविष्यतीति तेष्वेदं विहाय तदनुष्ठानं कुर्वन्कुर्वन्वा तत्करणाकरणयो-
 र्गुणदोषबुद्धिमकृत्वैत्यर्थः । मामेकं शरणं व्रज मां निखिलहेयगन्धशून्यं भगवन्तं ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यते-
 जोवीर्यवात्सल्यकाख्ययद्वासाधनन्तकल्याणगुणार्णवं सर्वनियन्तारं सर्वफलप्रदातारं सबिदानन्दमू-
 र्तिमेकमतिशयसाम्यशून्यं ब्रह्मल्लेन्द्रविद्वन् सर्वमुमुक्षुसाख्यं शरणं शरण्यं शायं रसकं च विज्ञाय म-
 दातुकूपसंकल्पाघातप्राणव्ययसायेन कर्मदेवादिनिरोधशान्तिप्रशान्तिप्रदादाहं कृतार्थो भविष्यामीति
 विश्वासपूर्वकं स्वस्य स्वतन्त्रकर्तृत्वाभिमानं विहाय स्वहितार्थं सर्वं मद्भीनं निश्चित्य मेममक-
 प्येण गङ्गाप्रवाहवद्वनचिञ्चनचिन्तनेन ग्रपयस्वैत्यर्थः । न चैवं सर्वधर्मानादरेण मम पापसंबन्धः स्या-
 दिति शङ्कनीयमित्याह-अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामीति । अहं स्वतन्त्रः सर्वेश्वरः स्वम-
 क्तिमार्गसंरक्षणाय स्वीकाराधनधर्ममवर्तनाय स्वेच्छयैव भक्तानुग्रहाय यदुकुलेऽवतीर्णः मयि भवत्य-
 तिश्रयानित्यनैमित्तिककर्मणादकारिणं भेदकशरणं त्वा सर्वपापेभ्योऽनेकजन्मस्वकृत्यकरणकृत्याकर-
 णजनितानि बहुपापानि इह च प्रायश्चित्ताद्यकरणास्त्ववर्णाश्रयोचितधर्मानादरणाच्च वन्धुवधादिनिमि-
 त्ताच्च जायमानानि प्राक्तनभविष्यद्वर्तमानानि पापानि तेभ्यः सर्वेभ्यो मोक्षयिष्यामि स्वसामर्थ्यादेव ।
 अतो मा शुचः प्रायश्चित्ताकरणास्त्ववर्णाश्रयोचितधर्मानादराद्वन्धुवधाच्च यानि मे पापानि तानि कथं तरिष्यामीति
 शोकं मा कृषाः । नचैवं “ न कर्मणामनारम्भाबैष्वर्ग्यं पुरुषोऽश्नुते । नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो
 नोपपद्यते । मोहाच्चस्य परित्यागस्तापसः परिकीर्तितः ” इत्यादिस्वधर्माचरणावश्यकत्वमतिपादक-
 स्ववचनविरोध इति वाच्यं, यथोक्तभक्तिहीनानां तदधिकारयोग्यतापादनाय तेषां नियतत्वेनाङ्गी-
 कार्यत्वात् । “ तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिपन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशुकेन ” इति
 श्रुत्या तेषां विविदिपापमेवोपयोगस्य निर्णीतत्वात् जिज्ञासोत्पादनेन तेषामुपसीगत्वात् । तथोक्तं
 श्रीभागवतैकादशे “ निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत् । जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत् धर्मचो-
 दनाम् । तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विनेत यावत् । मत्कथाधवणादौ वा अद्वा यावच्च जागरे ”
 इति । अन्यथा “ न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुचैः । एवंप्रः शस्य अहं नृलोके द्रष्टुं
 त्वदन्तेन कुरुमवीर ! । नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न ज्ञेयया । शस्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मा
 यथा ॥ भवत्या त्वन्मनसा शस्य अहमेवंविधोऽहम् । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ मत्कर्म-
 कृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ” इति पारमेस्वररूपदर्शनं
 प्रति यज्ञदानादीनामपि किञ्चित्कृत्यमभिप्रायान्दयपक्षेरेव तर्कतत्त्वकथनपूर्वकं स्वकर्मकर्तृनिर्वैरस्य स्वय-

क्तस्यैव स्वप्राप्त्यभिप्रायकवाक्यमुन्नाविरोधः कथं न शङ्क्यते युयैः । किंच “ भिद्यते हृदयग्रन्थि-
विज्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ यदा चर्मवदाकाशं वेष्टिपिप्यन्ति
मानवाः । तदा देवमभिज्ञाय दुःखस्थान्तं निगच्छति ” इत्यन्वयव्यतिरेकवाक्याभ्यां निःशेषदुःखक-
र्मसंशयनिवृत्तिहेतुत्वेन परमात्मज्ञानस्यैव हेतुत्वाभिधानाच्चस्य च पूर्वोक्तानन्यभक्तेरेव हेतुत्वात् ।
“ शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विदुः नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैव
वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा वृणुते तर्हं स्वाम् । न स शक्यः सुरैर्द्रष्टुं न चान्यैरपि सत्तम ! ।
यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं द्रष्टुमर्हति ” इति श्रुतिस्मृतिभ्यां भगवत्प्रसादस्यैव तद्दर्शनहेतुत्वात् ।
प्रसादविषयोऽपि तदनन्यभक्त एव । “ नास्य भक्तास्त्रियतरो लोके कश्चन विद्यते । अहं भक्तपरा-
धीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ! ॥ साधुभिर्ब्रह्महृदयो भक्तैर्मत्तजनप्रियः । नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः
साधुभिर्विना ॥ श्रियमात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा । न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः
म्रियः ॥ तस्मै देयं ततो ब्राह्मं स च पूज्यो यथा ब्रह्म ” इति महाभारतश्रीभागवतरेखाखण्डादिपूक्त-
भगवद्भक्त्येभ्यः । तथा धर्मेविद्वेदसंज्ञेन याज्ञवल्क्येनाप्युक्तम् “ इत्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्म-
णाम् । अयं तु परमो धर्मो यथोभेनात्मदर्शनम् ” इत्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणादिवाक्यैर्भगवदनन्यभक्तितरेव
परमो धर्म इति सिद्धम् । तस्माद्यथोक्तभक्तिहीनो मत्प्रपञ्चिगुण्यः यद्येष्टाचारेण स्ववर्णाश्रमोचितधर्म-
स्वागी मदाज्ञाविरुद्धाचरणात् पतितः स्यात् । नतु मदनन्यशरणो मद्भक्त्यावेष्टायतादिकर्म कुर्वन्पुण्येक्षको
वा कदाऽपि (न) कयमपि पुरुषार्थं हृदयते मदनुग्रहं । तथा मोक्षधर्मे “ नारायणीयाख्याने भगवदनन्य-
शरणस्य प्रपन्नैव सर्वपापक्षयपूर्वकं सर्वपुरुषार्थवाप्तिरभिहिता । तथाहि “ अनेनैव प्रपन्नस्य भगवन्तं
सनातनम् । तस्यानुबन्धाः प्राप्मानः सर्वं नश्यन्ति तत्तज्ज्ञात् । कृतान्यनेन सर्वाणि तपांसि तपतां
वर । सर्वतीर्थाः सर्वयज्ञाः सर्वदानानि तत्तज्ज्ञात् ॥ कृतान्यनेन मोक्षश्च तस्य इस्ते न संशयः । यद्येन
कामकामेन सेसाध्यं साधनान्तरैः । मुमुक्षुणा यत्संख्येन योगेनापि च भक्तितः । प्राप्यते परमं
धाम यतो नावर्तते यतिः ॥ तेन तेनाप्यते तत्तन्वासेनैव महामुने । परमात्मा च तेनैव साध्यते
पुण्योत्तमः । या वै साधनसंपादिः पुरुषार्थचतुष्टये । तथा विना तदामोति नरो नारायणाश्रयः ”
इति पुण्डरीकाख्येन च “ अश्वमेधवशतैरिष्टा बाजपेयशतैरपि । नाशुवन्ति च श्रुतिं नारायणपराङ्मु-
खाः । ये नृशंसा दुरात्मानः पापाचाररतास्तथा । तेऽपि यान्ति परं धाम नारायणपदाश्रयाः ” इत्य-
न्वयव्यतिरेकाभ्यां भगवदनन्यशरणानामेव परमपदप्राप्त्यभिधानं, नतु केवल्यज्ञादिकभिष्टानामिति
निर्णीतम् । अत्र नृशंसत्वादिविशेषणानि प्रपञ्चिपूर्वकालानीति बोध्यम् । तथोक्तं सात्वततन्त्रे “ दुरा-
चारोऽपि सर्वशीः कुतश्चो नास्तिकः पुरा । समाश्रयेदादिदेवं श्रद्धया शरणं हि यः । निर्दोषं विद्धि
तं जन्तुं प्रभावात्परमात्मनः ” इति । अपिशब्देन यद्येवमिहा दुराचारिणोऽपि भगवन्तं प्रपद्य सर्व-
दोषनिरासेन परं धाम प्राप्नुवन्ति चेच्चहिं सदाचारनिष्ठा ज्ञानवैराग्ययुक्ता भगवदनन्यशरणास्तदारा-
धनेतरकर्मपेक्षास्तत्पद प्राप्नुयुरिति किमु वक्तव्यमिति कैमुत्यं दर्शितमित्यलं चिन्तरेण ॥ ६६ ॥

• म० टी०—अधुना तु ‘ईश्वर धर्मभूतानां हृदयेऽर्जुन तिष्ठति’ । ‘तमेव सर्वमात्मेन शरणं गच्छ’ इति यदुक्तं
वद्विबृणोति—सर्वेति । केचिद्वर्णधर्मा केचिदाश्रमधर्मा, केचित्सामान्यधर्मा इत्येवं सर्वानपि धर्मान् परित्यज्य
विद्यमानानां विद्यमानानां शरणत्वेनानादृत्य मामीश्वरमेकमादित्येवं सर्वधर्माणामभिष्टातारं कलदातारं च
शरणं व्रजे, धर्मा सन्तु न सन्तु वा किं तेन्यसापेक्षैः भगवदनुग्रहादेव स्वान्यनिरपेक्षादहं कृतार्थो भवि-
ष्यामीति निश्चयेन परमानन्दपञ्चमूर्तिमन्तं श्रीधामदेवमेव भगवन्तमुपमावतया भजस्व, इदमेव

संन्यासश्च वणाश्रमादिकारुक्षेत्रमुद्योगादिभिः सर्वकर्मसंन्यास उपमुच्यते 'ये स्तेवदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् । सर्वज्ञानविमृष्टास्तान्निन्दन् नष्टानचेतसः' इति, 'सर्वकर्मवर्जितवृत्तः इति' 'तद्विहीनः पतयेव छाल्म्यरहितान्भवन्' इति स्मरणात्सर्वकर्मपरित्यागे दुर्वाक्षागत्वपातितत्वादिदोषापत्तेः । ननु मामेकं शरणं प्रजोतीश्वरभजनतामस्तस्य कर्मणो विहितस्यात्यक्तत्वादुक्तदोषा न संगदन्वोषि चेन्न । स्वकर्मणा तमभ्यर्चयेति स्मरणाश्रमकीर्त्यादिलक्षणस्य कर्मणः श्रुतिस्मृत्याविहितत्वात्तत्पर्यमस्तानुपपत्तेर्निहितस्यागाविहितकरणदोषौ च प्रसज्येयातां, श्रेयान्मन्त्रयो विगुण इति विगुणस्यापि स्वाधर्मस्य श्रेष्ठत्वस्मरणात् । 'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मउपायो ह्यकर्मणः' इति, कर्मण्येवाधिकारस्त इति, न कर्मणामनाराधनादिति, नहि संन्यस्यस्यैव सिद्धिस्तस्माद्विगुणोक्तिः, सत्सङ्गः सततं कार्यं कर्म समाचरेति, यदकर्मकृन्तव्यमस्ति इति, यद्व्यवहारः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव वदिति, वपनयनं वेदाभ्ययनं फलवन्ति च कर्माणीति, दारं कृत्वाप्रीनापाय कर्माण्यारभन्त इति, पाणिप्रहणादिशूलं परिचरेत्, इति, उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति, यावज्जीवमिहोत्रं जुहोतीत्यादि श्रुतिस्मृतिकेदिभिर्मात्राणादेवैकिकस्यैव कर्मणः स्वधर्मत्वेन कर्तव्यत्वविधानात् । ननु सर्वधर्माश्च परित्यजेद्यत्र लक्षणया सर्वकर्मफलत्याग एवोच्यते, न तु कर्मपरित्यागात्ततः कर्मप्रकरणाद्भक्त्योगेनारभ्य वचनस्येति चेन्न, संन्यासानुपपत्तिभ्यां लक्षणवित्यायेनाऽऽप्तार्थानुपपत्त्यभावाद्भक्त्याऽप्रसक्तेः । मुख्यस्य वत्यन्तराभावे यत्तु लक्षणा, गत्यन्तराभावाभावाच्च लक्षणा नात्र प्रसज्यते । कथं गत्यन्तरमिति चेदुच्यते 'लोकैर्दृष्टिम् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयातप । ज्ञानयोगेन साधयानां कर्मयोगेन योगिनाम्' इति योगिनामाकरुक्षूणां कर्मिणां कर्मयोगेन निष्ठा, साधयानामाकरुक्षूणां संन्यासिना प्रकृतिद्वं ज्ञानयोगेन निष्ठेति निष्ठाद्वयमुपक्रम्यनियतैः कृत्वा कर्मत्वमिति कर्मयोगमारभ्य प्रविजाने प्रियोऽसि मे हृदयन्तेन ग्रन्थेनाकरुक्षोर्भयनेन कर्तव्यवद्या, कर्मयोगं साङ्गं सफलं च निर्धारयि साधयानां प्रकृतिद्वं सर्वकर्मसंन्यासिनामाकरुक्षूणां यस्त्वास्मरतिरेवं इत्यादित्यारभ्य सर्वकर्माणि मनसेति, योगारूढस्य सर्वैवेति, योगी युजोव सत्तवमात्मानं रहसि रिक्त इति, ध्यानयोगवरो नित्यामिति, प्रकृत्युदाय कश्यप इति, ततो मां तत्परो ह्यास्वा विप्रो वे ददन्तन्तरमित्यन्तेन ग्रन्थेन सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकं नियमेन कर्तव्यवद्या ज्ञाननिष्ठा सफलः निर्धारयन्ति तामेव निष्ठामुच्छलक्षणां साङ्गं सफलामुपसंहरति-सर्वधर्मेति । यदस्ततो नास्य वचनस्य कर्मप्रकरणान्तःपातित्वं कर्मपरत्वं च सिध्यति । नन्वाकरुक्षवापि यतोः सर्वकर्मसंन्यासो न युक्तः, किं तु चरितञ्चित् स्मर्येन कर्मण्य भवितव्यमेवेति न शङ्कनीयं, तृतीयाध्याये श्रीभार्य-कृत्तिरेवैषा शङ्का परिहृता वत्र द्रष्टव्या, ग्रन्थविस्तरभयात्तत्र मीमांस्यते । जन्मान्धरातेकशतेषु श्रद्धाभक्तिभ्यां समनुष्ठितैरभ्यप्रसारैकप्रयोजनेः श्रौतस्मार्तकर्मभिर्निर्देशोपनिर्वाहोपपादोपपत्त्या विशुद्धान्तःकरणत्वे सत्य-ग्विज्ञावात्मकत्वे भूत्वोत्पन्नज्ञानस्याप्रतिबद्धत्वसिद्धये ज्ञाननिष्ठां कर्तुंकारः सञ्जादौ प्रयोजनरहितवानस्तद्विषया-निष्ठाप्रतिबन्धकत्वेन दुष्टाश्च सर्वधर्माश्च सर्वे च ते धर्माश्च तान् औवालि स्मर्यन्ति च सर्वाण्यपि च कर्माणि सत्सम्पन्नाणि परित्यज्य । ननु कर्मणा 'शब्दोक्तानामुपशान्तिप्रयत्नमाप्रयोजनवत्त्वं चानुपपन्नं 'ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' इति यज्ञदानादीनां फलवत्ता श्रवणात् । स्वकर्मणा तमभ्यर्चयेति कर्मणामीश्वरा-राधनात्मकत्वादस्त्वेव सद्भिपयत्वं फलत्वं चेति चेत्सत्यमस्त्येव कर्मणामश्वराधनात्मकत्वं चित्तशुद्धयेक-प्रयोजनत्वं च । तथापि तदज्ञविषयं कर्तृत्वादिकारकमेव बुद्धिबिबन्धनत्वमात्रमेव कर्तव्यदर्शिनो विदुषः कर्मोपमु-च्यते । ज्ञानकर्मणोः परस्परविरोधिनेः सहभावयोगाच्चित्तशुद्धिं उत्फलं ज्ञानं च प्राप्तवतीः प्रयोजनमप-रपक्षो प्रकृतिवत्परित्यक्तो युक्त एव भवति "सत्यायुते सुखदुःखे वेदानिर्म लोकमयं च परित्यज्यात्मानम-न्यच्छेत्" इति, "स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि संन्यस्य" इति विदुषः सर्वकर्मपरित्यागश्रवणात् । ननु कर्म-गोश्वरः प्रीयते, तस्मिन्ने कर्म कर्तव्यमेवेति ज्ञेयं प्रकृतिप्रिया परमेश्वरस्य त्वोपधिकतरमीदृश्वरः, जीवेशा-

पनोदनमुपसंहरति भगवान्मा शुचस्त्वमिति । अद्वैतं पश्यतश्चात्मनोऽर्हत्वं च पश्यतस्त्वव शोको न युक्त इत्युपाकांतशोकापनोदनमेवानुचये, न तु विदुषः शोकं संभाव्य तस्यापनोदः कियते 'तत्र को मोहः कः शोकः' इत्यादिभ्युतिविरोधप्रसङ्गात् 'न शोचति न काङ्क्षति' इत्युक्तवचनव्याघातप्रसङ्गाद्योपसंहारार्थमेवार्थं वचनमिति युक्तम् । एवं निर्विषयोमेव परं ब्रह्म स्वात्मना समधिगतमनुसंधयतो विदुषस्तदनुसंधानफलं सम्यग्ज्ञानं तत्फलं विदेहकैवल्यं च 'ज्ञात्वा विद्यते तदनन्तरम्' इति पूर्वमेव निरूपितं, न पुनरत्र निरूपितव्यं भवति, यस्माज्ज्ञानकर्माणोः साम्यसाधनभाव एवात्र सम्यक्कुरूपितः सर्वज्ञेश्वरेण, तस्मात्सिद्धं कर्मकाण्डस्य ब्रह्माण्डस्य च मोक्षकारणत्वम् ॥ १६ ॥

श्री० टी०—सर्वोऽपि शुद्धवन्माह—सर्वेति । भद्रवचैव सर्वं भविष्यतीति हृदयिधासेन विधिकैङ्कर्यं त्यक्त्वा मदेकशरणो भव । एवं वर्तमानः कर्मत्यागनिमित्तं पापं स्यादिति मा शुचः, शोकं मा कार्षीः । यतस्त्वा त्वां मदेकशरणं सर्वपापेभ्योऽहं मोचयिष्यामि ॥ १६ ॥

स० टी०—पूर्वोक्तमक्तियोगस्य प्रारम्भस्य विरोधिनः ॥ पापाकृत्यप्रवियन्धाये ऽनेकजन्माजिता मलाः ॥ १ ॥ तद्विनियुक्तपुंस्तः स्याद्वक्तियोगेऽधिकारिता ॥ आनन्त्याचैव पापानां भस्मयारम्भविरोधितान् ॥ २ ॥ तद्या-
थक्षितरूपैस्तु धर्मेर्नानाविधैरपि ॥ अल्पकालकृतेस्तेषां पापानां दुस्तस्त्वतः ॥ ३ ॥ इत्येवमात्मनो
भक्तियोगारम्भेऽप्ययोग्यताम् ॥ आलेख्य शोचतो जिष्णोः शोकं चापनुदन्हरीः ॥ ४ ॥ आहानुप-
ह्वास्तत्स्यवारिभिः पार्यसारिभिः ॥ सर्वधर्मान् ध्रुविप्रोक्तप्रायश्चित्तात्मकान्यहन् ॥ ५ ॥ कृच्छ्रचान्द्रायणेष्टपा-
र्यैस्त्वत्पापानुत्थिणः ॥ नानाविधास्तव्या भगवन्स्वल्पकालानुयायिनः ॥ ६ ॥ दुरनुष्ठानरूपाश्च परि-
त्यज्यैव सर्वशः ॥ निर्विघ्नमक्तियोगस्य सम्यगारम्भसिद्धये ॥ ७ ॥ मामेकमीश्वरं सर्वासाधारणगुणाभ-
यम् ॥ शरण्यं कुरुणासिन्धुं शरणगतवत्सलम् ॥ ८ ॥ तवांस्मीति धिया शुद्धया प्रपद्यस्व सुखा-
स्पदम् ॥ शरणं हे हरे कृष्णं मां गृहाण स्वसेवकम् ॥ ९ ॥ अनन्यशरणत्वान्मे त्वमेव शरणं भव ॥
इत्येवमनुसंधाय सर्वं कृत्यं विहाय माम् ॥ १० ॥ आश्रयस्व सर्वोऽहं त्वा पापेभ्योऽत्यन्तशोकितम् ॥
भक्त्याऽऽरम्भविरोधिभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ११ ॥ सकलमपि विहाय भ्रान्तिजालं अमा-
दर्थं ब्रज हरिशरणं ओमहाविद्यासिद्धेतुम् ॥ भजनमपि हरेः श्रीकृष्णचन्द्रप्रसादात्स्वयमिह भुजनस्य
प्रेमयुक्तं सुसिद्धयेत् ॥ १२ ॥ यद्वा श्लोकद्वयस्याह तत्पर्यं भगवान्हरिः ॥ ईश्वरः सर्वभूतानां
हरेरोऽर्जुन तिष्ठति ॥ १३ ॥ तमेव शरणं गच्छेत्येवं प्राणीरितस्य च ॥ धर्माः केचन वर्णानां केषिदाभनवा-
सितम् ॥ १४ ॥ केचित्सामान्यधर्माश्च वेदस्मृतिगिरितः ॥ विद्यमानांश्च तान्धर्मान्समस्तान्सफलानपि
॥ १५ ॥ अविद्यमानान्वा शास्त्रविहितानपि सर्वशः ॥ संसारेऽस्मिन् हि ये पूर्वं शरणत्वेन संमताः ॥ १६ ॥
आस्तंस्तत्समनाहृत्य मामीश्वरमहं विनुम् ॥ आनुन्दे सर्वधर्मानामपिष्टातारमक्षरम् ॥ १७ ॥ धर्माणां फलदा-
तारमुदारं शरणं ब्रह्म ॥ धर्माः सन्तु न वा सन्तु किमेतैः फलतन्त्रकैः ॥ १८ ॥ भगवद्वाप्युदेवस्यानुग्रहादेव
सर्वथा ॥ कृतार्थोऽहं सर्वेभ्योमीत्येवं निश्चित्य चेत्स ॥ १९ ॥ वासुदेवमनन्तं श्रीपरमाचन्दविग्रहम् ॥ कर्तु-
म्याप्तारं सर्वकृत्पाण्डुगुणसंश्रयम् ॥ २० ॥ कृतज्ञं दीनमन्धुं मां भगवन्तन्मुखधरम् ॥ भक्तिभाववया सारं
भजन्स सत्तवं हरिम् ॥ २१ ॥ इदमेव परं तत्त्वं नावोऽधिकमिति स्वयम् ॥ विचारपूर्वकैर्न प्रेमाधिक्येन
सर्वथा ॥ २२ ॥ चिन्तय त्वं मनोवृत्त्या संत्यक्त्वा त्वात्मचिन्तया ॥ तैलभारावदुच्छिन्नरूपयाऽत्यन्तशु-
द्धया ॥ २३ ॥ मदेकशरणस्यास्य नास्ति धर्माद्यपेक्षणम् ॥ सर्वेषामपि शास्त्राणां रहस्यं परमं त्विदम् ॥
॥ २४ ॥ यतोऽशरणत्वं स्यात्तुल्यसंवेदितेतुम् ॥ अत्रैव गीताशास्त्रस्य समासिद्धिर्णा कृता ॥ २५ ॥
भगवच्छरणत्वेन विना सर्वस्य धर्माणः ॥ सैन्यासस्य फले नास्ति स्वतः पर्यवसायिता ॥ २६ ॥

मदेकशरणो यसमात्तवं धर्मान्पुण्येक्ष्य तान् ॥ मन्त्रितनपरो नित्यं विष्टस्यनन्यमानसः ॥ २७ ॥
 अतोऽहं सर्वधर्माणां कार्यकारितृपेश्वरः ॥ संसारानर्थहेतुभ्यः सर्वपापेभ्य एव च ॥ २८ ॥ वन्दुहि-
 सादिजन्येभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ मम गुडे प्रवृत्तस्य स्वकुलार्चयैषातिनः ॥ २९ ॥ नि-
 स्तारोऽतः कथं मे स्यान्मा कथारिति शोचनम् ॥ प्रायश्चित्तं विनैवाहं धर्मस्थानीय ईश्वरः ॥ ३० ॥
 पापान्धतमसस्त्वं वै मोक्षयिष्यामि आत्करः ॥ संदेहे नात्र कर्तव्यो मानमौलौ वचस्यवः ॥ ३१ ॥
 निगमविहितधर्मोस्तद्विरुद्धानधर्माऽनिमूतिभयमूर्खस्तज्जमोगानुपेक्ष्य ॥ भवमृतिमयसिधौ पोतभूतं शरण्यं
 हरिपदमकरन्दं चित्तमित्राग्रयस्य ॥ ३२ ॥ सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यत्र भाष्यकृतां मतम् ॥ सन-
 स्तकर्मसंन्यासानुवादेनैव युक्तिभिः ॥ ३३ ॥ मामेकं शरणं वेति ज्ञाननिष्ठोपसंहृता ॥ श्रीम-
 ज्ज्ञगवत्स्वेवं संमतं साधुसंमतम् ॥ ३४ ॥ अत्रायमाशयो भाति श्रीमज्ज्ञाप्यकृतां सवाम् ॥
 गीतासु सर्ववेदार्थं संगृह्य करुणानिधिः ॥ ३५ ॥ प्रोक्तवाञ्छारमानाधो योयसौक्यसिद्धये ॥ उक्त-
 मष्टादशाध्यायैरुपसंहृतवान्मतम् ॥ ३६ ॥ सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यत्र श्लोके रमापतिः ॥ ज्ञाननिष्ठा
 ह्युपक्रान्ता मुत्पन्नामविदां मता ॥ ३७ ॥ तत्राधिकारसिद्धयर्थं कर्मनिष्ठेरिता परा ॥ तयाऽधिकारे सिद्धे-
 ऽपि भगवत्प्रकृतत्वात् ॥ ३८ ॥ अन्तरङ्गवया प्रोक्ता तृतीया ज्ञानसाधनम् ॥ यस्य देवे परा भक्ति-
 र्युथा देवे तथा गुरौ ॥ ३९ ॥ तस्येते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ इति श्रद्धेयजिज्ञासोर्भक्तिः
 स्यात्साधनं परम् ॥ ४० ॥ प्रवानानुगुणं न्याय्यमित्यतोऽन्ते हरिः स्वयम् ॥ उपसंहृतवान्ज्ञाननिष्ठामेव
 ससाधनम् ॥ ४१ ॥ तत्रापि प्रथमे पादे सर्वधर्मपदेन च ॥ धर्माधर्मद्वयं प्रोक्तं त्याज्यत्वेनात्र संमतम् ॥
 ॥ ४२ ॥ तेनोपसंहृताः कर्मसंन्यासो ज्ञानसाधनम् ॥ चित्तशुद्धिं विना नासौ सा न कर्म विना भवेत् ॥
 ॥ ४३ ॥ तेनोपसंहृता कर्मनिष्ठाग्रि संप्रपन्ना परा ॥ पादे द्वितीये भगवत्तत्त्ववीरुपसंहृता ॥ ४४ ॥
 भगवत्प्रकृतसहिता पुरुषार्थकजन्मभूः ॥ उत्तरार्धेन मुख्याया निष्ठायाः फलसीरितम् ॥ ४५ ॥ अवि-
 द्यायाः सकार्याया निवृत्तिश्चेत्यतो हरिः ॥ प्रतिश्रुत्य जगादेभं श्लोकं गुह्यतमं परम् ॥ ४६ ॥ इत्येवं
 गूढतात्पर्यमविदित्वाऽन्यथाऽन्यथा ॥ कल्पयित्वा मतं स्वीयं दूषणीकृतं कृतम् ॥ ४७ ॥ कैश्चिदतप्त
 साधुक्तमित्यलं बहुनाऽपुना ॥ पश्यन्नेनैकसूर्याणां श्रीमज्ज्ञाप्यकृतां पुरः ॥ ४८ ॥ अस्मदधिजनः स्वल्पः
 ख लघोतायवे न किम् ॥ अन्ये त्वेवं व्यवस्था च प्राहुरत्रोपसंहृतौ ॥ ४९ ॥ साम्यसाधनभावेन
 गीताशक्तौ विवक्षितम् ॥ निष्ठात्रयं भगवताध्यायेऽस्मिन्नुपसंहृतम् ॥ ५० ॥ तत्र संन्यासपर्यन्ता
 कर्मनिष्ठोपसंहृता ॥ स्वकर्मणा तमग्र्यर्थ्यं सिद्धिं शिन्दति सावकः ॥ ५१ ॥ इत्यत्र सफला सांग
 श्रीमज्ज्ञगवत्ता स्वयम् ॥ संन्यासपूर्ववेदान्तश्रवणादिनिरन्तरा ॥ ५२ ॥ सफला च सद्योपायैर्ज्ञाननि-
 ष्ठोपसंहृता ॥ सद्यो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशिष्टेऽत्रेति विष्णुना ॥ ५३ ॥ भगवत्प्रकृतिनिष्ठा तु मेढीभूता
 द्वयोरपि ॥ सेवान्ते बासुदेवेन सम्यगेकोपसंहृता ॥ ५४ ॥ सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यत्रेवात्यन्तप्राधान्ये ॥
 यस्य देवे परमभक्तिरित्युक्ता हरिर्भोः ॥ ५५ ॥ परा भक्तिः परमज्ञाने गुरवयवेरिता ॥
 संनोपायेन भगवान् शरण्यो भक्तवत्सलः ॥ ५६ ॥ आराध्य इति तात्पर्यं सर्ववेदविदा सवाम् ॥ आरा-
 धिते हरौ मोक्षहेतुर्ज्ञानमवान्तरम् ॥ ५७ ॥ भवत्येव फलं तस्मादाराध्यो हरिरीश्वरः ॥ इत्यस्यापि
 निर्णीतव्यवस्थायां मनागपि ॥ ५८ ॥ विरोधो नास्ति भगवत्ज्ञाप्यकारानुयायिनम् ॥ निर्विवादा हरेर्भक्तिर्ज्ञान-
 नमोक्षप्रदायिनी ॥ ५९ ॥ सर्वोपरि कर्वाति सिद्धमित्येव महत्तमम् ॥ क च निगमशिरोवाचयेद्येकुण्ठ-
 वापी क च परिमितयुक्तिर्माहृतः कर्मवयः ॥ हरिपदशरणा ये दुर्लभं नास्ति तेषां किमपि जगति
 कृत्यं ज्ञेयमान्यं विचार्यम् ॥ ६० ॥ विषयविषयिभावान्तिष्ठान्यं विमुक्तं सकलनिगमवाणोभावगम्यं क्ष-
 रान्यम् ॥ इति सकलजनैरानामोशितारं निनिष्टं बहुपक्षिमयिबन्धे सर्वविज्ञानसत्त्वं ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

भा० टी०—परमेधरयजनात्मकं कर्मयोगं, तन्निष्ठायाः परमरहस्यमोक्षरक्षणतालक्षणं भक्तियोगं चोपसंहृत्यादिशान्तिमुभयफलभूतं सम्यग्दर्शनं सर्ववेदान्तप्रतिपादितं तत्र तत्र विस्तरेण प्रोक्तमुपसंहरति—सर्वेति । सर्वधर्मान् सर्वे च ते धर्माश्च सर्वधर्मास्तान् । धर्मशब्देनात्राधर्मोऽपि गृह्यते, नैष्ठिकस्य विवक्षितत्वात् “ नाविरतो दुश्चरिताज्ञानतो नासमाहितः, नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैवमाप्नुयात् ” ‘त्यज धर्ममथं च’ इत्यभिदधुतिस्मृतिभ्यः सर्वधर्मान् सर्वाणि कर्माणि परित्यज्य संन्यस्य मामेकं सर्वात्मानं समं सर्वभूतस्यमोक्षरमच्युतं गर्भज्जन्मजरारवजितमहमेवेवाट्टशः परमात्मैवमेकं शरणं ब्रज, न मत्तोऽन्यद्वस्तीत्यवधारयेत्यर्थः । अहं त्वामेव निश्चितशुद्धिं सर्वपापेभ्यः सर्वेभ्यो धर्माधर्मन्यनरूपेभ्यो मोक्षयिष्यामि स्वात्मभावप्रकाशकरणेन । उक्तं च दशमे—‘ नाश्याम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ’ इति, अतो मा शुचः शोकं मा कार्षीरित्यर्थः । यत्तु कश्चित्पुच्छलाप ‘स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव’ इत्यत्र कर्मनिष्ठा कर्मसंन्यासपर्यन्तोपसंहृता । ततो मा त्वत्तो ज्ञात्वा विश्वे तदन्तरमित्यत्र संन्यासपूर्वकभ्रवणादिपरिपाकसहितज्ञाननिष्ठोपसंहृता, अधुना तु ‘ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन’ इति यदुक्तं तद्विवृण्वन् भगवद्भक्तिनिष्ठानुभयसाधनत्वादनुभयफलभूतत्वाच्चाते उपसंहरति—सर्वधर्मानिति । सर्वान् वर्णाश्रमादिधर्मानविद्यमानान् विद्यमानान्वा परित्यज्य शरणत्वेनानादृत्य मामोक्षस्मेकमद्वितीयं सर्वधर्माणामभिष्ठातारं फलरातारं च शरणं ब्रज । धर्माः सन्तु न सन्तु वा, किं तैरन्यसावेक्षे ? भगवदनुग्रहादेव अन्यनिरपेक्षादहं कृतावीं भविष्यामीति निश्चयेन परमानन्दपन्नूर्तिमनन्तं श्रीवासुदेवेमेव भगवन्तत्तुभ्यंभावयथा भजेत्सु । इमेव परमं त्वत्वं तातोऽधिकमसीति विचारपूर्वकेण प्रेमप्रकर्षेण सर्वानात्मनिष्ठादृष्टयथा मनोवृत्त्या तेलवारावद्विच्छिन्नया सततं चिन्तयेत्यर्थः । अत्र मामेकं शरणं ब्रजेति सर्वशरणतापरिपागे लब्धे सर्वधर्मन्परित्यजेति निषेधात्तुवाक्सात्कार्यकारितालाभाय वक्ष्यामीत्ये स्मात्रि “ येनं कुरुतेवम् ” इत्यत्र “न गिरा गिरेति प्रयात्” इतिवत् । तथाच ममेव सर्वधर्मकारितात्सर्वैकशरणस्य नास्ति धर्मपिच्छेत्यर्थः । एतेनेदमपार्थं सर्वधर्मन्परित्यजेत्युक्ते नाधर्माणां परित्यक्तो लभ्यतेऽतो धर्मस्य कर्मपरमिति । नह्यत्र कर्मस्यमो विधीयतेऽपि तु विद्यमानेऽपि कर्मणि तत्रा नादरेण भगवदेकशरणतामात्रं श्रद्धाचारिगुह्यस्वभूतप्रत्यभिज्ञा साधारण्येन विधीयते । तत्र सर्वधर्मन्परित्यजेति तेषां स्वधर्माद्वरसंभवेन तस्मिन्शरणार्थम् । अथर्त्वं चानर्थफलं कस्याप्यदराभावात् स्वानवचनमनर्थकमेव, शास्त्रान्तरप्राप्तत्वाच्च । तस्माद्गुणश्रमधर्माणामभ्युदयहेतुत्वात्प्रसिद्धेसोक्षहेतुस्वमपि स्यादेव... न चेदमपि संन्याससाधनं, भगवदेकशरणताया विधित्वित्वात् । तस्मात्सर्वधर्मन्परित्यजेत्युक्तत्वाद् एव । सर्वेषां तच्छास्त्राणां परमरहस्यमोक्षरक्षणतैवेति तत्रैव परिसमाप्तमिगमत्वा कृत्वा । तामन्तरेण संन्यासस्यापि स्तफलाप्यवसायित्वात् । अर्जुनं च क्षत्रियं संन्यासानधिकारिणं प्रति संन्यासोपदेशायोमात् । अर्जुनस्याजेतान्यस्योपदेशे तु वक्ष्यामि ते हितं, त्वा मोक्षयिष्यामि सर्वपापेभ्यः, त्वं मा शुचः इत्युक्तमोपसंहारो न स्याताम् । तस्मात्संन्यासधर्मप्लव्यनादरेण भगवदेकशरणतामात्रे तात्पर्यं भगवत् । यस्मात्सर्वं मदेकशरणः सर्वधर्मानाद्रेणोतोऽहं सर्वधर्मकार्यकारी त्वा त्वा सर्वपापेभ्यो वन्त्युबधादिनिमित्तेभ्यः संसारहेतुभ्यो मोक्षयिष्यामि प्रायश्चित्तं विनैव “धर्मो पापमपनुदति” इतिश्रुतेर्धर्मस्यातीत्यत्वाच्च मम । अतो मा शुचः युद्धे प्रवृत्तस्य मम वन्त्युबधादिनिमित्तप्रत्यवपायात्कर्म निस्तारः स्यादिति शोकं मा कार्षीरित्यादि । तत्रादत्तव्यं, श्रीमता सर्वज्ञाना भगवदात्मत्वात्, भगवद्भिमप्रायविदुः भगवत्ता भावकृत्वाधिमप्रायापरिज्ञानविजृम्भितत्वात् । तथाहि समस्तप्राय्यायनश्रीवाद्याश्चाध्यात्मसंहारत्वेऽस्मिन्नप्याये प्रतिपादितेन कर्मादिना एतदप्यायान्तरसमस्तशोभोपसंहारो नोपपद्यते । यदि ‘स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव’ इत्यत्र कर्मनिष्ठानिष्ठ-

पणस्य समाप्तिर्दृश्यते 'सर्वकर्मण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः । चेतसा सर्वकर्मणि मयि संन्यस्य मत्प-
रः ॥' इत्युक्तत्वात्तस्मात्तत्र तत्र प्रतिपादितं कर्मयोगं मक्तियोगं ज्ञानं चास्मिन्प्रकाशे संग्रहेणोपपद्य सर्वशास्त्रान्ते
उपसंहरतीत्येव युक्तम् । अन्यथा 'बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव । मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादाच्चरि-
ष्यसि' इत्यत्र भाक्तियोग उपसंहृत इत्यपि कुतो न स्यात् । तस्मात्कर्मयोगादिप्रतिपादनपरिसमाप्तावेव यथासं-
भवमुपसंहारवर्णनं युक्तं, न तु यत्रकुञ्चितम् । 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन
सामुपयान्ति ते ॥ नहि ज्ञानेन सट्टशं पवित्रमिह विद्यते । इदं तु ते गुह्यतमं, नैककर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासे-
नापिगच्छति' इत्यादिना प्रतिपादित्वायाः समस्तवेदान्तवाच्यभूतायाः कर्मयोगभाक्तियोगफलभूतायाः संन्या-
सपूर्विकायाः ज्ञाननिष्ठायाः उपसंहारस्य शास्त्रान्ते कर्तव्यत्वाच्चयत्वेन सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यनेन सर्वकर्मसं-
न्यासस्य स्पष्टतया प्रतीयमानत्वेन च तादृशज्ञाननिष्ठोपसंहारस्य युक्तताभिप्रेत्याचार्यैः सैवारिमन्त्रोके
उपसंहृता । ईश्वराभिप्राय ईश्वरेणेन ज्ञायवे न तु वराकैरस्मादिभिः । विष्णुशिवयोरेकात्मत्वं परमात्मत्वं च
श्रुतिस्मृतीविज्ञापराणादिसिद्धम् । तमेव हरणं गच्छेत्त्यस्य विवरणमनेन क्रियत इत्यपि न । अर्हविधार्थस्य
संविधार्थेन विवरणयोगात् । सर्वधर्मान्परित्यज्येति तु तत्र तत्रार्जुनं निमिच्छीकृत्य संन्यासपूर्वकज्ञान-
निष्ठाप्रतिपादनमिबार्जुनस्य क्षत्रियत्वाद्युक्तसंन्यासद्वारा ज्ञाननिष्ठायामनधिकारेऽपि तं पुरस्कृत्याधिका-
रिभ्यस्तस्योपदिद्विषितत्वाच्च विरुध्यतेऽर्जुनं निमिच्छीकृत्य लोकोपकाराय भगवतः प्रवृत्तिरिति संमतम् ।
अन्यथा क्षत्रियरंजार्जुनस्य श्रोतुर्यस्मिन्नपिकारस्त्यैव वक्तव्यत्वे संन्यासपूर्विकायाः ज्ञाननिष्ठायाः वर्णन-
मनर्थकं स्यात् । यस्तुतोऽर्जुनस्य स्वविग्रहस्य सर्वज्ञत्वेनोपदेशानर्थक्यं च भवेत् । अपि च तं प्रति सर्वधर्म-
परित्यागकथनं भगवतः पूर्वापरस्मिन्नर्थम् 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा-
ते संगोऽक्षयकर्मणि ॥' कर्मणैव हि संसिद्धिसारिण्या जनकादयः । न कर्मणामनारम्भात्मैक्यं पुरुषोऽनुते ।
स्वेत्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते पराम् । स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यदा विन्दति तच्छृणु । स्वकर्मणा
तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः । श्रयान्स्त्वधर्मो विगुणः । सहजं कर्म कौन्तेय सदोपमपि न त्यजेत् ।
सर्वकर्मण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः । स्वभावज्ञेन कौन्तेय? इत्यादिना तत्रतत्र कर्मापरित्यागमस्या-
प्रहेण प्रतिपादात्रैवं कथने परस्परविरोधस्य स्पष्टत्वम् । एतेन सर्वधर्मान्परित्यज्य शरणत्वेनानादृत्य धर्माः
सन्तु न सन्तु वा किं तैरित्यादिवर्णनमपास्तम् । 'यज्ञदानतपः कर्म न स्वाक्यं कार्यमेव तत् । यज्ञो दानं
तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् । मत्कर्मकृन्मत्परमः । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' इत्यादिवचनानां विरोधस्या-
स्मिन्नभूतकल्पनेऽपि तुल्यत्वात् । कर्माधिक्येनाक्षेपे वेदविहितं धर्ममनादृत्य मद्भूतोपासनं कार्यमिति सर्व-
स्मिन्नादिवाशे काप्यनुक्तत्वेन तदुपसंहारवर्णनस्यानुचितत्वात् । "अन्वं यतः प्रविशन्ति वेऽविद्यामुपासते
वतो मूय इव ते तमो य व विद्यायाः रताः" 'मास्तुस्मरयुष्य च,' 'श्रुतिस्मृती ममेवाक्षे वेऽलक्ष्य प्रवर्तते ।
आज्ञामद्भो मम ब्रह्मे मत्प्रकोऽपि न वैष्यवः ॥ वर्णाश्रमाचारवत् पुरुषेण परः पुमान् । विश्वराराधते
पन्था नान्यस्तोषकारणम् ॥ तस्मात्सदाचारवत् पुरुषेण जनार्दनः । आराध्यते स्ववर्णोक्त्यर्मागुपानका-
रिणा ॥' इत्यादि श्रुतिस्मृतियः कर्मसमुच्चितोपासनाया वैशिष्ट्यवचनानां । यत्र तु कर्मणो निन्दा पुराणा-
दिषु श्रूयते, न सा भगवत्परावनलक्षणस्य निष्कामकर्मणो वेदविहितस्य नियतस्य, अपि तु भगवत्पराईदृ-
कोनामुपानस्य सकामस्य । तस्माद्वर्जनेन सर्वकर्मत्यागः कर्तव्य इति भगवतो नाभिप्रेतं, किंतु त्यागाधिकारिभिः
कर्ममार्गं संन्यस्यब्रह्मेव भगवान्स्व वायुदेवः न तु मत्तोऽप्योऽस्तीति ज्ञाननिष्ठा सप्रयत्नं संघादनीयेति, वक्ष्यामि
ते दिवं त्वां, मोक्षयिष्यामि सर्वपापेभ्यस्त्वं मा शुच इति चोपक्रमोपसंहारात् । 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिश्रमेन
सेवया । उपदेक्षन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिष्वत्स्ववर्जिनः' इत्यादिवत् अनुरन्यासीनान्यस्योपदेशेऽपि न विद्वद्वत् ।

यदपि सर्वपापेभ्यः वन्द्युपधत्तिनिमित्तेभ्यः-इत्यादि तदपि साहसमात्रं, धन्याद्वि शुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्त्रयस्य न विद्यते इत्यादौ अमीषोमीयपदार्थैर्हन्तव्ये युद्धे शत्रुहननरूपायाः विहिताया हिंसायाः पापजनकत्वाभावात्स्यात्पाप-
हेण स्वेनैव स्थापितत्वात् । यदप्युक्त्यादि तदपि बालविमोहनमात्रम्, उक्तयुक्त्या मामेकं शरणं ब्रजेत्यत्राचार्यो-
क्तार्थस्यैव विवक्षितत्वात् । मामेकं शरणं ब्रज स्वधर्माचरणादिना मामेवाराधय न तु देवतान्तरमित्यर्थस्यापि
संभवेन सर्वधर्मत्यागस्य स्त्राभयोगाच्च । यदप्येतेनेदमपास्तमित्यादि तदपि तुच्छमेव 'नाविरतो दुश्चरितात्,
त्यज धर्ममधर्मं च' इति आप्योदाहृतश्रुतिस्मृत्यनवलोकनविज्ञप्तिवत्त्वात् । यथाच-सर्वस्याप्यज्ञस्य कामिनो
विषयरागवशात् अधर्माचरणं दृश्यते, शरीरस्थिविमात्रविषयकामनया । तदाचरणं संन्यासाधिकारिणोऽपि
संभाष्य तत्परित्यागवचनस्य श्रुतिस्मृत्यनुरोधेन सार्थक्यम् । अधर्मोऽनर्थकले कस्याप्यादरो नास्तीति वक्तुम-
शक्यं, लोके तदादुरस्योपलभ्यमानत्वात्, अन्यथा 'न सुरां पिबेत् । न कलत्रं भक्षयेत्' इत्यादिनिषेधात्स्या-
त्ता वैयर्थ्यं स्यात् । तस्माद्भ्रातृभुवं निमित्तीकृत्याधिकारिभ्यो वेदविहितः कर्मयोगो गीताशास्त्रे उपपाद्य तदन्ते
उपसंह्रियते, भगवद्देकशरणतायाः तमेव शरणं गच्छेत्यनेनोक्तत्वात् । मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजीत्यनेन
भक्तियोगस्य कर्मयोगस्य बोधोद्धृत्वात् । यत्तु संन्यासशास्त्रेण अविपिद्धशास्त्रेण च लब्धत्वात्तात्र सर्वधर्म-
स्यागो विधीयते इति तत्र विधिविषयरूपेण वेदेन प्राप्तत्वात् । तदर्थप्रतिपादकरमृषीतिहासपुराणानां वैयर्थ्य-
प्रसङ्गादित्यास्तां तावत् । एवमन्येषामपि कुक्कुरना भाष्यविरुद्धाः सन्त्यम् विचार्य निराकर्तव्याः ॥ गोभाराद-
रणार्थिना सुविहृता वेदार्थनाशे रता येतांच जगतां निदानममलं शास्त्रस्य योमिं विभुम् । यत्काष्ठव्यकटा-
क्षतोऽभिलषितं पूर्णं ममाप्यद्भुतं तं वन्दे परमामृतं शिवमहं कृष्णं गुरुणां गुरुम् ॥ ६१ ॥

प० टी०-अतो शुद्धतममाह-सर्वधर्मीनििति । मद्भक्त्यैव सर्वं भविष्यतीति दृढविश्वासेन विधिकैङ्कर्यं
त्यक्त्वा नामेकमद्वितीयं शरणं ब्रज मदेकशरणो भव । एवं वर्तमानस्य कर्म्मत्यागमव पापं भविष्यतीत्याह-मा
शुच इति । शोकं मा कार्षीर्यतीह त्वां मदेकशरणं सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि, यथा धनैकशरणस्य
प्रातकस्य घनदेवामीष्टसिद्धिरित्यर्थः । अनेन स्वसामर्थातिशयो दर्शितः । एतदर्थेऽस्माभिः पूर्वं उदाहृत्या-
तम् । "अहमेव स्वयमिदं वदामि" इति श्रुतिरपि (श्लो. १६) दर्शिता । यदा पूर्वश्लोके सेव्यसेवकभावात्त्वेन
मन्मना भवेत्याद्यो मन्मात्रकाश्रवत्वारो धर्माः प्रोक्तः, तां सर्वधर्मां परित्यज्यावर्गिवमुक्त्वा ततो
मामेकमष्टपदैकर्षं शरणं ब्रज मन्मानात्मकलविकारराहित्येन मदाकारतां ब्रज । एवं जाते सत्यहमास्मैव
अथमहमिति भेदाभावाद्भूतेभ्यः पापेभ्यो दुःखहेतुभ्यो मोक्षयिष्यामि, तदुक्तम्-“यथासिलविकारश्चेद् ब्रह्म-
ज्ञानादिना मुनिः । वर्तमानः भुवेर्भूमिर्नैव स्याद्विचिकिर्करः" इति या शुचः-अनन्तरं शोकः क्षारीत्यर्थः ।
तदुक्तम्-“स्वान्तेकान्वसुपागते यदुपतौ शान्त्या समं कीदृशं निर्वातं बहिरन्तरङ्गगतिमिस्तप्राप्तिः सा-
न्विकैः । प्राणायामगती यतानुपरते स्वानन्दपूर्णा यतः श्रुत्वा गानधनादृषधनिभवं न त्वं न चाहं
जगत् ॥ ११ ॥" एतदर्थ-“यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवामूढिजानतः" इति श्रुतिः पूर्वं सभाष्या
दर्शिता ॥ ६१ ॥

डा० टी०-कथं मन्मनस्त्वादिकमिह उक्तम्-सर्वधर्मीनििति । अन्यसर्वधर्मान्परित्यज्य मन्मनाः
मद्भक्तो मद्याजीत्येवम् । पूर्वश्लोकोऽयम् । मन्मना भवेत्यादिना किमुक्तं भवतीत्यतस्तदस्योपसंहाररूपेण व्याख्या-
क्रियते-मामेकं शरणं ब्रजेति । मन्मनस्त्वादेरेव शरणागतिरुपलब्धा । उक्तं हि-“सर्वोत्तमत्वविज्ञानपूर्वं
घन मनः सदा । सर्वाधिकप्रेमयुक्तं सर्वस्यात्र समर्पणम् । अखण्डा त्रिविधा पूजा तत्रत्येव स्वमावतः ।
रक्षतीत्येव विश्वासस्तद्गोऽहमिति स्मृतिः ॥ शरणागतिरेषा स्याद्विष्णौ मोक्षफलप्रदा" इति । यदा सर्वधर्मा-
न्परित्यज्येति सर्वधर्मफलानि परित्यज्येत्यर्थः । अन्यथा युद्धविधिविरोधः स्यात् । यद्वाऽत्रैव सर्वधर्मान्प-

रित्ययेत्यर्थः । अनादिजन्मकृतप्रतिबन्धकसत्त्वात्कथं मामेव एष्यसीत्युक्तिरित्यत आह—अहं खेति । त्वा
त्माननादिजन्मकृतपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि त्विनिर्मुक्तं करिष्यामि । मा शुचः संसारमयाच्छोकं मा कार्षीः ॥ ६६ ॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ॥

न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

त० टी०—एवं सर्वशास्त्रस्य सारभूतं गीताशास्त्रमुपदिश्येदानीमस्य शास्त्रस्योपदेशाधिकारिनिय-
ममाह—इदमिति । इदं कर्मज्ञानश्रुक्तिविषयं गुह्यतमं शास्त्रं तुभ्यं मया कृपयापादिष्टं, ते त्वया अतप-
स्काय वाच्यमानसगुरोरिति त्रिविधतपोरहिताय, तपः स्वधर्मवर्तित्वं तद्रहितायेति वा न वाच्यं
नोपदेष्टव्यं, तपोयुक्ताय अभक्ताय गुरावीश्वरे च भक्तिशून्याय कदाचन न वाच्यं, न चाशुश्रूषवे
वाच्यं भक्तायापि अशुश्रूषवे परिचर्यामकुर्वते न च वाच्यं, न च मां योऽभ्यसूयति मां भगवन्तं
धामदेवं दोषारोपेण यः पश्यति दोषगन्धास्पृष्टस्वरूपे दिव्याप्राकृतानन्तगुणे ब्रह्माद्यक्षित्यनित्यै-
र्भ्येऽपि दोषमारोपयतीत्यर्थः तस्मै तपस्विने भक्ताय शुश्रूषवेऽपि कदाचन न वाच्यं, तपस्विने भक्ताय
शुश्रूषवेऽनसूयवे श्रीकृष्णेऽनुरागयुक्ताय वाच्यमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

प० टी०—समाप्तः शास्त्रार्थः । शास्त्रसंप्रदायाविविधमधुना कथयति—इदमिति । इदं गीतास्यं सर्व-
शास्त्रार्थरहस्यं ते तप संसारविक्षिप्तये मयोक्तं नातपस्काय असंयतेन्द्रियाय न वाच्यं कदाचन कस्या-
नप्यनस्थायामिति पर्यायशेषेऽपि संक्ष्यते । तपस्विनेऽभ्यभक्ताय गुरो देवे च भक्तिरहिताय न वाच्यं
कदाचन । तपस्विने भक्तायापि अशुश्रूषवे श्रुश्रूपां परिचर्यामकुर्वते च न वाच्यं कदाचन । चक्षुर्दो-
'वाच्यं' 'कदाचन' इति पदद्वयाकर्णार्थः । न च मां योऽभ्यसूयति मां भगवन्तं धामदेवं मनुष्यमसर्वज्ञावादि-
गुणकं मत्वा अभ्यसूयति आत्मप्रशंसादिदोषाभ्यारोपणेनेधरत्वमसहमानो द्वेष्टि यः वस्मे श्रीकृष्णोत्कपति-
क्षिणवे तपस्विने भक्ताय शुश्रूषवेऽपि न वाच्यम् । कदाचनेत्यनुकर्णार्थश्चकारः । तपस्विने भक्ताय शुश्रूषवे
श्रीकृष्णानुराग्य च वाच्यमित्यर्थः । एकैकविशेषगताभावेऽप्ययोग्यतादिपादनार्थात्प्रशंसो न काराः । मेधाविने
तपस्विने वैश्यन्त्र विकल्पदर्शनात् शुश्रूषा गुरुभक्तिमगवदतुरक्तियुक्ताय तपस्विने बहुक्ताय मेधाविने वा
वाच्यम् मेधातपसोः बाधकत्वेऽपि भगवदतुरक्तिगुरुभक्तिशुश्रूषाणां नियम एवेति भाष्यकृतः ॥ ६७ ॥

शं० टी०—एवमारुहक्षोरारूढस्य चोभयोरालम्बितकक्षसारदुःखोपशान्तये नियमेन कर्तव्यांश्च विभज्य
दर्शयित्वा तत्कलमन्युपपाद्य ज्ञानकर्मणोर्मोक्षसाधनत्वात्प्रधारणेन सर्वेषामपि वेदाना सकलाया अपि गीता-
याश्च निर्विशेषप्रत्यक्षपरत्वमेव सूचयित्वा इति ते ज्ञानमिदमुपक्रान्तिं शास्त्रमुपसंहृत्याधुना शास्त्रप्रवर्तकानामस्य
मोक्षशास्त्रस्य संप्रदायप्रवर्तने नियममाह—इदमिति । इदं मोक्षशास्त्रं ते त्वया अवतपस्काय “नत्वं तपः सत्यं
सपः” इत्यादिश्रुत्युक्तं तपो न यस्यास्ति सोऽवतपस्वतस्मै अतपस्काय वेदोक्तकर्मनुष्ठानविहीनाय न वाच्यं
कदाचन नोपदेष्टव्यमित्यर्थः । स्वधर्मनिष्ठायाप्यभक्ताय यस्य देवे परा भक्तिरितिन्यायेन गुरो देवे भक्ति-
रहितस्त्वभक्तस्तस्मा अभक्ताय कदाचन न वाच्यम् । तपस्विने भक्तिमतेऽप्यशुश्रूषवे गुरुशुश्रूषामकुर्वते कदा-
चन न वाच्यं, किं तु विशेषणद्वयत्वे गुरोः शुश्रूषा कुर्वत एव वाच्यम् । चकारान्तेधाविने मन्वत्तदर्थप्रार्थनादि-
भक्त न वाच्यं, किं तु विशेषणद्वयत्वे गुरोः शुश्रूषा कुर्वत एव वाच्यम् । यथा मां निर्विशेषं परं
वासुदेवं प्राठवं मनुष्यं मत्वाऽभ्यसूयति निन्दति तस्मै तु न कदाचन वाच्यम् । यदा मां निर्विशेषं परं
प्राज्ञाभ्यसूयति प्राज्ञो निर्विशेषत्वं केवलत्वं सजायोपादिभेदरहितत्वमद्वैतीयत्वं चायुक्तमिति विदेहकैवल्य-
मपि लोकशास्त्रविरुद्धमित्यत्रैव प्रसमाप्तिश्चायुक्तैवमद्वैतमर्थं विदेहकैवल्यं चासहमानो यो निन्दति

तस्मै चतुर्वेदिनेऽपि शतक्रतवेऽपि च सगुणभक्तिमतेऽपि चाद्वैतद्वेषिणे कथंचिदपि नोपदेष्टव्यम् । उपदेष्ट-
व्यस्याद्वैतशास्त्रवाद्यद्वैते प्रीतिमत् एवोपदेष्टव्यं, न तु ज्ञानशास्त्रादयस्साहिष्णव इत्यर्थः । चकारान्मुमुक्षवे
यथारोग्यकामिन एव दिग्गोपनं, तथा मोक्षेच्छावत् एव ज्ञानशास्त्रमुपदेष्टव्यं नान्यस्मा इति सिद्धम् ॥ ६७ ॥

श्री० टी०—एवं गीतार्थतत्त्वमुपदिश्य तत्संप्रदायप्रवर्तने नियममाह—इदमिति । इदं गीतार्थतत्त्वं ते
स्वयाऽतपरस्काय स्वधर्मनुष्ठानक्षीनाय न वाच्यं, न चाभक्ताय गुरौ ईश्वरे च भक्तिशून्याय कदाचिदपि न
वाच्यम् । न चाशुश्रूषवे परिचर्यामकुर्वते श्रोतुमनिच्छते वा वाच्यम् । मां परमेश्वरं योऽभ्यसूयति मनुष्यदृष्ट्या
दोषारोपेण निन्दति तस्मै च न वाच्यम् ॥ ६७ ॥

स० टी०—समाप्तः सर्वशास्त्रार्थः शास्त्रस्यैवाधुना हरिः ॥ संप्रदायविधिं प्राह सर्वज्ञो भगवानिति
॥ १ ॥ इवं समस्तशास्त्रार्थरक्षसं प्रक्षंसमित्यम् । गीताख्यं तव संसारवन्दविच्छिद्यते मया ॥ २ ॥
सर्वज्ञेनेरितं सन्ध्याज्ञानसाधनमुत्तमम् ॥ नासंयतेन्द्रियायोक्तं तपःशून्याय कर्हिचित् ॥ ३ ॥ वाच्यं यस्मा-
त्तपोहीने निष्कलं स्यादुदीरितम् ॥ तपस्विनेऽपि नो वाच्यं भक्तिहीनाय केशवे ॥ ४ ॥ सद्गुरौ
भक्तिहीनाय न वाच्यं कर्हिचित्तथा ॥ कस्याचिदप्यवस्थायां भक्तायापि तपस्विने ॥ ५ ॥ न चाशुश्रूषवे
वाच्यं परिचर्यामकुर्वते ॥ यो मां श्रीवासुदेवं हि भगवन्तमपेक्षयाम् ॥ ६ ॥ स्वप्रशंसादिदोषाभ्यारोप-
णेन ममेशताम् ॥ अजानन्प्रत्युत द्वेष्टि मन्दभाग्यतयाऽयमः ॥ ७ ॥ शुश्रूषवेऽपि भक्ताय गुरावपि तप-
स्विने ॥ न तस्मै जातु वाच्यं श्रीकृष्णोत्कर्षासहिष्णवे ॥ ८ ॥ सर्वे यर्मा अतिक्रान्ता न कुर्वन्तादृशं
महत् ॥ अनर्थजालं यद्वच्छ्रीकृष्णस्युक्ता करोत्यपह् ॥ ९ ॥ यतो वेदान्तसिद्धान्तरहस्यं मुनिसंन-
तम् ॥ श्रीकृष्णाख्यं परं धाम सदान्वधनं परम् ॥ १० ॥ अतो यस्य हृषीकेशे कृष्णे भगवतीश्वरे ॥
अवहासिते न सोऽत्यक्तः संभाव्योऽपि कदाचन ॥ ११ ॥ कर्ण्यं कमलपत्रार्थं नार्चयिष्यन्ति ये नराः ॥
जीवन्मुक्तास्तु ते ज्ञेया न संभाष्याः कदाचन ॥ १२ ॥ किं पुनर्ब्रह्मविद्यायां जनन्यो भगवद्भिरः ॥ तस्मै
वाच्या सुधीर्मन्त्रिर्नरपेक्षैर्विचारितम् ॥ १३ ॥ तपस्विने च भक्ताय गुरुशुश्रूषवे सत्वे ॥ श्रीकृष्णे चातु-
रक्ताय वाच्यं शास्त्रमिदं परम् ॥ १४ ॥ विशेषणानां सर्वेषामस्त्यपेक्षेवि सिद्धये ॥ चरवारोऽत्र तकाराः
श्रीहरिणा संप्रयोजिताः ॥ १५ ॥ एकस्यापि ह्यभावेन योग्यता प्रविनद्धधत्ते ॥ अतो विचार्य गीताख्यं
शास्त्रं आख्यं मुमुक्षवे ॥ १६ ॥ ६७ ॥

भा० टी०—एवं सप्तदशाध्यायान्तर्गीताशास्त्रार्थं सर्वं प्रतिपत्तिस्वीकर्तार्यनस्मिन्नध्याये विस्तरेणोपसंह-
रन्त्यान्ते मन्मना भवेति द्वाभ्यां पुनः स्वशास्त्रादर्थार्थं संक्षेपतत्त्वस्योपसंहारं कृत्वाधेदानीं शास्त्रसंप्रदायविधि-
माह—इदमिति । इदं शास्त्रं संसारविच्छिद्येहेतुभूतं तव हिताय मन्योक्तम् । अतपरस्काय उक्तशरीराद्विद्विषारहिताय
न वाच्यं कदाचन—कस्याचिदप्यवस्थायापि—छन्दः, संबध्यते । तपस्विनेऽप्यभक्ताय गुरौ देवे च भक्तिरहिताय
कदाचन न वाच्यं विशेषणद्वययुक्तायाप्यशुश्रूषवे शुश्रूषार्थजित्तय कदापि न वाच्यम् । यो मां वासुदेवं मनुष्यं
प्राकृतं मत्त्वाऽभ्यसूयति आत्मप्रशंसादिदोषाभ्यारोपणेन मत्स्वरूपानभिज्ञो भवेन्नरत्वं न सहते तस्मै
ममेश्वरत्वासहिष्णवेऽतपरस्विनेऽभक्ताय शुश्रूषवेऽपि कदाचन न वाच्यम् । तपस्विने भक्ताय शुश्रूषवेऽनसूयते
शास्त्रं वाच्यमिति प्रतिषेधसामर्थ्याद्भज्यते । तत्र मेधाविने तपस्विने वा इति स्मृत्यन्तरे मेधावितपस्विनोर्विक-
ल्पदर्शनात् । शुश्रूषाभक्तियुक्ताय भगवत्सुखारहिताय तपस्विने वाच्यम् । शुश्रूषाभक्तयनसुखासहिताय मेधाविने
ज्ञा वाच्यम् । शुश्रूषाभक्तियुक्ताय तपस्विने मेधाविने वापि न वाच्यम् । भगवत्सुखायुक्ताय समस्तगुणवतेऽपि
न वाच्यम् । गुरुशुश्रूषाभक्तयनसुखायुक्ताय तपस्विने मेधाविने वा वाच्यमित्येव शास्त्रसंप्रदायविधिः ॥ ६७ ॥

प० टी०—एवं गीतार्थतत्त्वमुपदिश्य तत्संप्रदायप्रवर्तने नियममाह—इदमिति । इदं गीतावत्त्वं ते स्वया-

तत्परमाय स्वधर्मातुष्टानहीनाय न वाच्यं, न वाभक्त्या परमेश्वरभक्तिसून्याय, न चानुश्रूयै परिचर्यामकुर्वते ।
 तथा यो मां परमेश्वरभक्त्यसूयति मनुष्यदृष्ट्या दोषारोपेण निन्दति तस्मै न वाच्यम् । श्रुतिरपि नैतकी-
 “विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय ॥ शेषभिष्टेऽहमस्मि । असूयकायानुजयेऽयताय न मा द्यूया अवी-
 र्यमती स्वाम्” इति । भाष्यम्—विद्या औपनिषद्भ्यात्मविद्या एतद्वक्तुं ब्राह्मणं ब्रह्मनिष्ठं प्रतीत्याभिरुपेन
 समक्षं जगाम प्राप्ता । तर्हि मा इति मां त्वं गोपाय । वक्ष्यमाणाया पुरुषागेति चतुर्थ्या द्वितीयोक्ता । तं
 पुरुषं प्रति श्रुतिं कुरु न कथयेत्यर्थः । यतोऽहं ते शेषभिर्नैरवाभिरस्मि । चतुर्विधपुरुषार्थसाधनत्वात् ।
 यया निर्भिर्गुणः क्रियत इत्यर्थः । किंलक्षणायेत्याह । असूयकाय निन्दकाय । अनुश्रूयै सदावक्राय । अयताय
 नियमशून्याय । मानात्मविद्यां न द्यूया न कथय । एवं सति यदि द्यूये तर्ह्यवीर्यवती स्याम् । त्वय्यपि
 सामर्थ्यं न स्यात्तयोत्यर्थः ॥ ६७ ॥

श० टी०—गीताशालेऽन्यकारिनिरासेन लक्षणयाऽधिकारिणमाह—इदमिति । इदं गीताशालं तपोहीनाय
 ते दद्यात् न वाच्यम् । अनुश्रूयै सेवामकुर्वते न वाच्यम् । तपोहीनोपदेशादप्यनुश्रूयैरुपदेशो महादोषकर इति
 सूचनाप्राप्त चक्षुः ‘समुच्चयेऽथवाधिक्ये भूयस्त्वे चः प्रयुज्यते’ इत्युक्तेः । चक्षुः इत्यर्थः । अनुश्रूय-
 पदेशादप्यभक्त्या कदाचन कदापि न वाच्यमित्युक्तिः अल्पमात्रवपःशुश्रूषावतो भक्तिमरुः कदाचिदुपदे-
 शेऽपि भक्तिहीनायोपदेशे महान्दोष इति सूचनाय । मां योऽभ्यसूयति तस्मै न वाच्यमित्यत्रापि चक्षुः
 तपोहीनादित्रितयोपदेशादप्यसूयावत् उपदेशे दोषाभिक्यज्ञापनार्थः । एतेन वपःप्रभृतिगुणयोऽभिक्षा-
 रीति सूचितम् ॥ ६७ ॥

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ॥

भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

त० टी०—एवमुक्तदोषरहितेभ्यो भगवद्भक्तेभ्यो यो ददाति तस्य फलमाह—य इदमिति । यः
 कश्चिद्गीतासंन्यायप्रवर्तक इदं मद्भक्तं परमं गुह्यमतिरहस्यत्वात्सर्वत्र प्रकाशनानर्हमतो मद्भक्तेषु मयि
 भगवति वासुदेवे भक्तियुक्तेषु योऽभिधास्यति अभितो ग्रन्थतोऽर्थतश्च स्थापयिष्यति, पूर्वश्लोकेऽभ-
 क्तस्य निषेधेन भक्त्यैवार्थतो ग्रहणेऽपि पुनर्भक्त्यग्रहात् तपश्चादभावेऽपि मद्भक्तिमात्रेणाप्यस्य
 शास्त्रस्य संप्रदानपात्रता भवति । भक्तेरेव तदधिकारापादनत्वमिति सूचितम् । कथमभिधास्यति
 तन्माह—भक्तिं मयि परां कृत्वेति । गीतावर्तुर्भगवतो गरीयसः परमवीर्यस्य मया भक्तेभ्यो दीयते,
 तन्माह—भक्तिं मयि परां कृत्वेति । गीतावर्तुर्भगवतो गरीयसः परमवीर्यस्य मया भक्तेभ्यो दीयते,
 नतु केनचिदुपाधिनेति निश्चित्य यो वक्ष्यति स मामेवैष्यत्यत्र संशयो न कर्तव्यः । अथवा यो मद्भ-
 क्तेभ्योऽभिधास्यति स मयि परां प्रेमलक्षणां भक्तिं कृत्वा तया मामपाराध्य मामेवैष्यति । अवधारणे-
 नोक्तार्यसिद्धौ सत्यां पुनरसंशयवचनं यथा यज्ञादिकर्मणिष्ठो भक्तिहीनज्ञाननिष्ठो वाज्यदेवान्तर्गतकलं
 मामोति, न तथा मद्भक्त इति दाढ्योपेति भावः ॥ ६८ ॥

म० टी०—एवं संप्रदायस्य विधियुक्त्वा तस्य कर्तुः फलमाह—य इति । यः संप्रदायस्य प्रवर्तकः
 इदमावयोः संवादरूपं प्रवचं परमं निरविशयपुरुषार्थसाधनं गुह्यं रहस्यार्थत्वात् सर्वत्र प्रकाशयितुमर्हते
 मद्भक्तेषु मां भगवंतं वासुदेवं प्रत्यनुरक्तेषु अभिधास्यति अभितो ग्रन्थतोऽर्थतश्च स्थापयति स्थापयिष्यति ।
 भक्तेः पुनर्ग्रहणात् पूर्वोक्तविशेषणत्रयसाहचर्यात् भगवद्भक्तिमात्रेण पात्रता सूचिता भवति । कथमभिधा-
 स्यति तन्माह—भक्तिं मयि परां कृत्वा भगवतः परमगुरोः शुश्रूषेयं मया क्रियत इत्येवं कृत्वा निश्चित्य
 योऽभिधास्यति स मामेवैष्यति मां भगवंतं वासुदेवमेवत्येव-अविशान्मोक्षय एव संसारद्वय संशयो न

कर्तव्यः । अथवा भवि, परं भक्तिं कृत्वाऽसंशयो निःसंशयः सन्मामेवैष्येति वा मामेवैष्यति नान्यमिति यथाश्रुतमेव वा वोच्यम् ॥ १८ ॥

श्लो० टी०—वपस्वित्वं भक्तिमत्त्वं शुश्रूषत्वमद्वैते प्रीतिमत्त्वं मुमुक्षुत्वं चाधिकारिणः शुद्धात्मत्वे ज्ञान-
शास्त्रोपदेशयोग्यत्वे च लिङ्गमित्यधिकारिलक्षणमुत्त्वा, निरुक्तलक्षणलक्षितेभ्य एवाधिकारिभ्यो ज्ञानशा-
स्त्रमुपदेष्टुः फलमाह—य इति । यः श्रोत्रियो ब्रह्मनिष्ठो यतिर्मज्जकेषु मामेव परमेश्वरं संसारमोक्षव्यति-
वन्धहेतुं मोक्षेच्छया स्वकर्मभिराराधयन्तो ये भजन्ति ते मज्जकास्तेषु वपस्विने भक्तायेति पूर्वमुक्त्वा
मज्जकेष्विति पुनर्भक्तिग्रहणम् “तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्नैव शरणमहं प्रपद्ये” इति, “अमृतस्यैव सेतुः”
इति शिवप्रसादेन विना न सिद्धिरिति मोक्षस्येश्वरप्रसादेकलभ्यत्वश्रवणान्मुमुक्षूणामेश्वरेकशरणत्वेन भवि-
तव्यं, परमेश्वरैकशरणैरेव कृतं श्रवणादिकं फलत्पत्तसत्रैव दृढा भक्तिः कर्तव्येति ज्ञापनार्थं मज्जकेषु मदे-
कशरणेषु पूर्वोक्तविशेषणवत्सु च । अत्र विषयसप्तमी । मज्जकानामतत्परजिज्ञासूनुद्दिश्येत्यर्थः । परमं परमपुरु-
षार्थसाधनं शुद्धं गोप्यमयोपेक्षप्रयोक्तव्यमिदं गीताख्यं ज्ञानमयं शास्त्रमभियास्यति परमकुरुणयैवोपदे-
क्ष्यति, न तु शुश्रूषाद्येवैव मन्यं तदर्थं च यथा गृहीयुष्मया व्याख्यास्यतीत्यर्थः । ननु ब्रह्मनिष्ठस्य
बिदेकैवव्यापिनः शिष्येभ्यो गीताशास्त्रोपदेशो नोपेय्यते, ज्ञाननिष्ठावत्फलप्रतिबन्धकत्वात् “ब्रह्मसंस्थोऽमृ-
तत्वमेति” “प्रसादं मे मयुमहं ब्रवीमि” इतिश्रुत्या स्मृत्या च ब्रह्मविज्ञो बहिर्मुखस्तत्रं मुक्तिप्रतिबन्धकं
निषिध्यत इति चेन्नवानत्र प्रष्टव्यः—तत्त्वोपदेष्टा साधको वा सिद्धो वा संसिद्धो वेति । नायः । साधकस्या-
त्मयाथात्म्यविज्ञानाभावाद्वाभ्यर्थोपदेशमात्रं विना निर्विधिकिसं. तत्त्वोपदेशानुपपत्तेः । यथा शास्त्रेण
लक्षणेन स्वरूपेण च वयमपि विज्ञातवत एव मणितत्त्वोपदेश उपपद्यते, न तु शास्त्रमात्राभ्येतुर्नापि लक्षणं
श्रुतवतो नापि चापातवर्जनवतः सिध्यति वदन् । नापि तृतीयः, सप्तमी भूमिकामधिकृत्य प्रपञ्चं विस्मृत्य
परमप्रत्यक्षादौर्ध्वं कर्म कुर्वन्त उपदेशयोगात्पारिशेष्यास्तिस्रस्वैवोपदेशयोग्यत्वम् । ननु सिद्धस्यापि बहिः-
प्रवृत्त्या ज्ञानं प्रतिबन्धयेति चेन्न, मुमुक्षुभ्यः शिष्येभ्यस्त्वस्वमस्यादिवाक्यार्थोपदेशोनात्मज्ञानं दृढमेव
भवति । ततः शिष्येभ्यो मुमुक्षुभ्यः सिद्धेनोपदेष्टव्यम्, अन्यथा स्वाचार्याभावप्रसङ्गाज्ज्ञानार्थस्यप्रसङ्गान्मु-
मुक्षूणामगतिप्रसङ्गमपि । ततः ‘स्वयं तीर्णः परान् वारयति’ इतिन्यायेन सिद्धः स्वयं मुक्तोऽन्यान्
शरणगतान् मुमुक्षून् बन्धान्मोचयति, तदेव फलमैहिकज्ञानसंपत्तेर्विदुषः । ननु स्वदेवस्तत्त्वं, तथापि मूढा-
नामुपदेशप्रवृत्त्या द्वैतवासनां प्रवर्धते, तथा विपरीतप्रत्यवशङ्कि, तथा सर्वस्वज्ञानं प्रतिपद्यते, तेन
मोक्षश्च । कथमात्महानिं विद्वानज्ञीकृत्योपदेक्ष्यतीत्यत आह—भक्तिमिति । ‘पुद्गलपुद्गलविषयेषु च तत्परोऽपि
ब्रह्मावलोकननिरुद्धमना हि योगी । संगीतवाद्यपरिनृत्यवशं गतापि मोक्षित्यकुम्भपरिरक्षणधीर्नदीव’
इतिन्यायेन परोपदेशे प्रवृत्तोऽपि सिद्धो यतिर्मपि सर्वात्मन्यद्वितीये परे ब्रह्मण्यारोपितं सर्वदृश्यं चिरका-
लनित्यनिरन्तरसमाभ्यभ्यासचलेन सन्मानतया गृह्णातीति परा प्रकृष्टा वासुक्तमा भक्तिं सर्वत्र सन्मान-
माहिणीं प्रत्यगदष्टिं कृत्वा । यदा सर्वत्र सर्वं ब्रह्मेव पश्यन्, निःशेषविनष्टैवभावो विद्वान्मात्रेणाद्वितीयं
निर्विशेषं परं ब्रह्मेत्यति प्राप्स्यति, न तूक्तमणं नापि लोकान्तरं नापि देशान्तरं नेत्रं च देहान्तरं यास्यति ।
अत्र संशयो न कर्तव्यः । ब्रह्मविदो यतः सिद्धस्य कचित्परोपदेशे प्रवृत्तस्य ब्रह्मप्राप्तौ शङ्कामेवकारणैव
निरस्य तस्यापि दार्ढ्यार्थमसंशय इत्युक्तम् । तेन सिद्धं ब्रह्मविद्यतिः सिद्धः कचित्परोपदेशे प्रवृत्तोऽपि स्वयं
सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिममुन्वाहोः ब्रह्मभावमेव गच्छति, नास्त्यत्र संशय इति ॥ १८ ॥

श्री० टी०—एतेर्देवैर्विद्वद्विद्येभ्यो गीताशास्त्रोपदेष्टुः फलमाह—य इति । मज्जकेष्वभियास्यति मज्जकेभ्यो
गो वक्ष्यमि, स मपि परा भक्तिं करोति, तयो निःसंशयः सन्मामेव प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

स० टी०—संप्रदायविधिं प्रोच्य तत्कर्तुः फलमुच्यते ॥ य आवयोरिमं ग्रन्थं संवादात्मकमद्भुतम् ॥ १ ॥
 रहस्यार्थतया गुह्यं सत्पुरुषार्थसाधनम् ॥ वक्तुं योग्यं न सर्वत्र मन्त्रकैष्वभिधास्यति ॥ २ ॥ मां श्रीम-
 द्वासुदेवाख्यं भगवन्तं जगद्गुरुम् ॥ हर्षिं प्रत्यनुरक्तेषु योऽभितो ग्रन्थतोऽर्थतः ॥ ३ ॥ स्थापयिष्यति
 मन्त्रस्तथा संप्रदायप्रवर्तकः ॥ भगवद्वासुदेवस्य समस्तजगतां गुरोः ॥ ४ ॥ शुश्रूषेव मयावीर्यं क्रियते
 मनसा गिरा ॥ इत्येवं निश्चयाकारां भक्तिं कृत्वा मयीश्वरे ॥ ५ ॥ योऽभिधास्यति सोऽत्यन्तप्रियं मामेव
 विद्वानम् ॥ भगवन्तं जगन्नाथं वासुदेवमघोक्षजम् ॥ ६ ॥ एष्यत्येवाह्यं संसारान्मुच्यते नात्र संशयः ॥
 भगवद्भक्तिमात्रेण पात्रतां याति मानवः ॥ ७ ॥ इति सूचयितुं भक्तेरुपादानं पुनः कृतम् ॥ ८ ॥ ६८ ॥

भा० टी०—एवं संप्रदायस्य विधिमुखत्वाद्याख्यसंप्रदाने प्रवृत्त्यर्थं तस्य कर्तुः फलमाह—य इति । इमं
 यथोक्तं केशवाजुनयोः संवादरूपं ग्रन्थम् । इदमिति पाठस्याचार्यैरन्याख्यावत्त्वाद्वाद्वादर्शनीयः । य इमं तिःश्रे-
 यसार्थत्वात्परमं प्रवृष्टं गुह्यं गोप्यं रहस्यार्थविपयत्वात् । मन्त्रकेषु मयि भक्तिमत्सु योऽभ्यापकोऽभिधास्यति
 ग्रन्थतोऽर्थतश्चाभ्यापयिष्यति । यथा मयि वासुदेवे नित्यभक्ते त्वयि मया ग्रन्थतोऽर्थतश्च स्थापितस्तथा मन्त्रकेषु
 यो ग्रन्थमिमं स्थापयिष्यति, स भक्तिं मयि परां कृत्वा भगवतः परमगुरोः शुश्रूषा मया क्रियत इत्येवं कृत्वा
 मामेवैष्यति नान्यं, सुक्तौ अभिधायकेत्यर्थः । अत्र संशयो न कर्तव्यः । मन्त्रकैष्विति भक्तेः पुनर्ग्रहणं भक्तिमात्रेण
 शास्त्रसंप्रदाने पात्रं भवतीति गम्यते, भक्तिं परामर्शतलक्षणगुणसनां कृत्वेति तु गीताशास्त्रप्रदानलक्षण-
 भक्तेः फलं वक्तुं प्रवृत्तत्वेवरभक्तिफलकथनमनुचितमित्यभिप्रेत्याचार्यैर्न व्याख्यातम् ॥ ६८ ॥

प० टी०—एतेदोषोर्विरहितेभ्यो भक्तेभ्यो गीताशास्त्रोपदेष्टुः फलमाह—य इति । य आचार्य इदं परमं
 गुह्यं गोप्यं गीतार्थतत्त्वं मन्त्रकेषु जिज्ञासुषु प्रातेषु सत्सम्भिधास्यति वक्ष्यति सामिप्रायं निरूपयिष्यति,
 स मयि जगदीश्वरे परामर्शविचारिणौ भक्तिं कृत्वाऽसंशयः सन् मामेव प्राप्नोति । आत्माख्यदक्षिणादाहः
 किमन्यत् फलं वाच्यमित्यर्थः । श्रुतिरपि ऋग्वेदे—“आविरभून्महि माधोनभेषां विश्वं जीवन्तमसौ निर-
 मोचि । महिष्योतिः वितृभिर्वृत्तमागदुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि” इति । अत्र रावणमाह्वयम्—एषा-
 माचार्याणां माधोनं महि आविरभूत् । इद्वति जानातीति व्युत्पत्त्या मयोन इन्द्रस्य परमात्मन इदं
 माधोनं महि महद्वमविरभूत् । कुत इत्याह—महीति । महिस्वं ज्योतिर्ज्ञानं च वितृभिरस्माभिर्दत्तं सदागात्
 प्रातं वेद्याचार्येषु परिणतं, येन ज्योतिषा विश्वं जीवं सर्वं जगत् तमसोऽज्ञानाजिरमोचि निर्मोचिषत् ।
 अथ कथमस्माभिस्तेभ्य एवार्पितमित्याह—तैः ऋग्निर्वधिकफलो दक्षिणायाः पन्था मार्गोऽदर्शि दृष्टः । मोक्षा-
 र्थिभ्य आत्माख्यदक्षिणाया मार्गस्य फलं निरवधिकमिति ज्ञातमित्यर्थः । अत एव सावधिकफला दक्षिणा-
 मभिमश्रुत्याह—उवाचितीति ॥ ६८ ॥

श० टी०—गीताशास्त्रस्य व्याख्यानं फलेकत्वा प्रशंसति—य इत्यादिद्वाभ्याम् । परमं गुह्यमवि-
 गोप्यमिदं गीताशास्त्रं योऽधिकारी मन्त्रकेषु सम भक्तेभ्योऽभिधास्यति उपदेक्ष्यति त इति बोध्यम् ।
 मयि परा भक्तिं कृत्वा मामेवैष्यति प्राप्स्यति । असंशयः नास्ति संशयः ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ॥

भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

त० टी०—मामेवैष्यतीत्युक्तं तत्र हेतुमाह—न चेति । मन्त्रकेषु यो गीताशास्त्राभिधायकस्त-
 स्मादन्यो मनुष्येषु मध्ये कश्चिन्मे सम प्रियकृत्तमः अविद्यमेन प्रियकृत्तमस्ति वर्तमानकाके, न च मे
 तस्मादन्यः कश्चिन्प्रियतरो भुवि अस्मिन्लोके भविता भविष्यति ॥ ६९ ॥
 ग० टी०—किंच—नेति । तस्मान्मनुष्येषु शास्त्रसंप्रदायकृतः सकाशादन्यो मनुष्येषु मध्ये कश्चिदपि मे

मम प्रियंकुत्तमः अतिशब्देन प्रियंकुत् न द्विपयप्रीत्यतिशयवाचाश्रित वर्तमाने काले, नापि प्रागासीत्तादृक् कश्चित् । न च कालान्तरे भविष्य भविष्यति । ममापि तस्मादन्यः प्रियतरः प्रीत्यतिशयविषयः कश्चिदप्यासीन्न अधुना च भुवि लोकेऽस्मिन्नास्ति । न च कालान्तरे भवितेत्याहृत्या योग्यम् ॥ १९ ॥

श्लो० टी०—एवं करुणयेव मुमुक्षुभ्यो गीताशास्त्रं तदर्थं पोषदिद्वन्द्वं स्तौति—न चेति । यो प्रदक्षित-विमुमुक्षुभ्यो निरुक्तविशेषणवत्तो गीतां तदर्थं पोषदिशति, तस्माद्गीताशास्त्रोपदेष्टुर्वैरन्यः प्रियंकुत्तमः मे प्रियमिष्टं मत्प्राप्तेरन्तरङ्गसाधनं श्रवणमननप्यानादिकं नित्यं प्रयत्नेन ये कुर्वन्ति ते प्रियकृतस्तेभ्यः सर्वेभ्योऽयुत्तमः प्रियतृप्तः प्रियकृतमः । मनुष्येषु स्तोत्रमन्त्रज्ञपञ्चादिवहिरङ्गसाधनपरेषु कश्चिन्नास्ति, वहिरङ्गसाधनपरेभ्योऽन्तरङ्गसाधनपराः मम प्रियास्तेभ्यः सर्वेभ्यः प्रियो गीतार्थोपदेष्टा । यतः स्वयं सीमाः परेषामपि वारणाय प्रवृत्तस्ते तु स्ववर्ण एव प्रवृत्तास्तस्मादयमेव प्रियकृतमो नान्यः कश्चिदिदानी-मित्यर्थः । इतः परमपि मे मम तस्मान्मम भक्तेभ्यो गीताशास्त्रोपदेष्टुरन्यः प्रियतरः प्रियकृतरो भुवि भूलेके न भविता च न भविष्यति । संसारदुःखसागरनिमग्नान् मत्प्रकान् मुमुक्षून् दययैव ज्ञानशास्त्रार्थो-पदेशेन यो प्रदक्षिष्यतिः समुद्रराते स एव कालत्रयेऽपि मम परमेष्ठरस्य प्रियकृतम इति वात्सर्यार्थः ॥ १९ ॥

श्री० टी०—किंच—न चेति । तस्मान्ममभक्तेभ्यो गीताशास्त्रव्याख्यातुः सन्नशास्त्रो मनुष्येषु मध्ये कश्चिदपि मम प्रियकृतमोऽन्यन्तं परितोषकर्ता नास्ति, न च कालान्तरे भविता भविष्यति ममापि तस्मादन्यः प्रियवरोऽधुना भुवि वाचनास्ति न च कालान्तरेऽपि भविष्यतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

सू० टी०—तस्मान्मम्यत्तुत्तरेषु संप्रदायप्रवर्तकान् । पुरुषात्परं कश्चित्तेषु मध्ये मदेशितुः ॥ १ ॥ न चैवातिशयेनास्ति प्रियकृतसंप्रति कश्चित् ॥ नापि कश्चित्सुषु वादार्गांसिद्धा पुरुषोत्तमः ॥ २ ॥ न च कालान्तरे कश्चिन्नविष्यति नरोत्तमः ॥ तस्मात्कश्चिन्ममाप्यन्यो नत्सीदित्यतरो भुवि ॥ ३ ॥ वर्तमाने-ऽधुना नास्ति न वाच्यमे भविष्यति ॥ ४ ॥ १९ ॥

भा० टी०—तत्तु सर्वेषां सुखसाधनानां ध्यानस्य श्रेष्ठत्वाच्चिष्टस्य मुमुक्षोः कुत एतच्छास्त्रसंप्रदाने प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह—न चेति । न च तस्माच्छास्त्रसंप्रदायकृत्वो मनुष्येषु मत्प्रतिमत्सु वर्तमानेषु मध्ये क-श्चिन्मे प्रियकृतमोऽतिशब्देन प्रीतिकृतोऽन्यो नास्त्येव नाप्यतेतिवैतादृक् कश्चित् आसीदिति शेषः । तस्मादेतच्छास्त्रसंप्रदानकर्तुरन्यो द्वितीयो भुवि लोकेऽस्मिन्कालान्तरेऽपि न च भविता न भविष्यतीत्यर्थः । ध्यानकर्तुः श्रेष्ठत्वेऽपि एतच्छास्त्रसंप्रदानकर्तुरन्यस्य कालत्रयेऽपि श्रेष्ठतमत्वाभावादेतच्छास्त्रसंप्रदाने प्रवृत्तिरुचितैवेति भावः ॥ १९ ॥

प० टी०—अथैतमेवाभिप्रायमाह—न च तस्मादिति । तस्मान्ममदुर्कं गुह्यमात्मवत्त्वं मत्प्रभ्यो दातुं पुरुषात्सकाशदण्डः कश्चिपि मे प्रियकृतमो न चास्ति न वर्तते । कालान्तरेऽप्येतादृक्प्रियकरो भुवि न भविता । अनेन बहुजननकुलसुकुलसामर्थ्येनाहव्यतिरेकेणैवाहमिदं न भविष्यतीति तस्य दुर्लभत्वमुक्तम् । तथा सर्वभजनपक्षेयं भजने मम परमप्रीत्यै अवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

• रा० टी०—न चेति । तस्माद्गीताव्याख्यातुः मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृतमः न चास्ति नैवास्ति । तस्मादन्यो मे प्रियतमो भविता च न, नाऽभूदिति च ज्ञेयम् । अत्र मनुष्येभ्यस्तुत्या देवानां फल-धिनयं सूचयति ॥ १९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्मं संवादमाचरोः ॥

ज्ञानयत्नेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

त० टी०—एवमभ्यापकस्य फलमुक्त्वा अध्येतुः फलमाह—अध्येष्यत इति । आवयोर्वास्तु-
देवार्जुनयोरिमं धर्म्यं धर्मादनपेतं संवादं सर्वशास्त्रार्थनिर्णयं यथाध्येष्यते ययोक्तार्थविशिष्टं सद्गुरोः
सम्पगवधार्यार्थानुसंधानसहितं नियमेन पठिष्यति, तेन पुंसा ज्ञानयज्ञेन चतुर्थाध्यायोक्तसर्वयज्ञेषु
'न हि ज्ञानेन सद्गं पवित्रमिह विद्यते । सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते । श्रेयान् द्रव्य-
मयाद्यज्ञाज्ञानयज्ञः परन्तप' इति विशिष्टवयोक्तेन अहिमिष्टः पूजितः स्यामिति मे मतिर्मम निश्चयः ।
यद्यपि ज्ञानयज्ञस्त्वर्थविचारेणैव भवति तथाऽपि यो मद्भक्तः केवलपाठमात्रेणापि मां स्तौति सोऽपि
स्वमाहात्म्यं शृण्वतो मम प्रियो भवति । यथा लोके कश्चिदल्पबुद्धिरपि कस्यचिन्महान्नस्य यथा-
बुद्धि माहात्म्यं वाङ्मयात्रेणापि ख्यापयति स तस्य प्रियो भवति, तथा गीतापाठमात्रकदपि ममैश्वर्य-
गुणसूचकोऽयमिति मे प्रियो भवतीत्यर्थः ॥ ७० ॥

म० टी०—अभ्यापकस्य फलमुक्त्वाऽध्येतुः फलमाह—अध्येष्यत इति । आवयोः संवादात्मिनं प्रमथं
धर्म्यं धर्मादनपेतं योऽध्येष्यते जपरूपेण पठिष्यति ज्ञानयज्ञेन ज्ञानात्मकेन यज्ञेन चतुर्थाध्यायोक्तेन द्रव्य-
यज्ञादिश्रेष्ठेनाहं सर्वेश्वरः तेनाभ्येन्ना इष्टः पूजितः स्यामिति मे मतिर्मम निश्चयः । यद्यप्यसौ गीतार्थमनु-
ध्यमान एव जपति तथापि तच्छृण्वतो मम मामेवास्मै प्रकाशयतीति बुद्धिर्भवति । अतो जपनान्नापि
ज्ञानयज्ञफलं मोक्षं लभते सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारा । अर्थानुसंधानपूर्वकं पठतस्तु साक्षादेव मोक्ष इति किं
नक्तव्यमिति फलविधिरेवायं नार्थवाहः । 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ञानयज्ञः परंतप' इति हि प्रागुक्तम् ॥ ७० ॥

शं० टी०—अख्या भक्त्या न्व नित्यं यो मुमुक्षुर्गीतापारायणं करोति तस्य फलमाह—अध्येष्यत
इति । तत्र च मम चावयोः संवादं, संक्षेपारूपं धर्म्यं धर्मस्य मोक्षैककारणस्य ज्ञानस्य सिद्धिहेतुत्वा-
द्धर्मादनपेतं धर्म्यमिमं प्रमथं गीताशास्त्रं यच्च मुमुक्षुर्माहात्मापिः अख्या भक्त्या चार्थज्ञानपूर्वकमभ्ये-
ष्यते नित्यं नियमेन पठिष्यतीत्यर्थः । तेनार्थज्ञानपूर्वकं गीताप्रवृत्तिं कुर्वता मद्भक्तेनाहं परमेश्वरः सततं
ज्ञानयज्ञेन ज्ञानात्मात्मैकत्वविषयं ज्ञानमेव यज्ञो ज्ञानयज्ञस्तेन ज्ञानयज्ञेन इष्टः आराधितः स्यां भवेयम् । गीता-
पठनस्यार्थज्ञानपूर्वकत्वाद्गुण एव तदर्थत्वाच्चतुसंधानेन यत्फलं केवलश्रद्धां तत्क्रमेण गीताभ्येता
प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ७० ॥

श्री० टी०—पठतः फलमाह—अध्येष्यत इति । आवयोः कृष्णार्जुनयोः इमं धर्म्यं धर्मादनपेतं संवादं
योऽध्येष्यते जपरूपेण पठिष्यति तेन पुंसा सर्वयज्ञेभ्यः श्रेष्ठेन ज्ञानयज्ञेनाहिमिष्टः स्यां भवेयमिति मे
मतिः । यद्यप्यसौ गीतार्थमनुध्यमान एव केवलं जपति तथापि मम तच्छृण्वतो मामेवास्मै प्रकाशयतीति
बुद्धिर्भवति । यथा लोके यदृच्छयाऽपि कश्चित्कदाचित्कल्पविज्ञानं गृह्णाति तदासौ मामेवायमाहुष्यतीति
मत्वा तत्पार्थम्यमाकुरुति तथाहमपि तस्य सन्निहितो भवेयम् । अत एव अज्ञातिलभ्यवन्मुमुक्षुना कर्म-
विज्ञानोच्चारणमात्रेण प्रसन्नोऽस्मि, त्वमेवास्यापि प्रसन्नो भवेयमित्यर्थः ॥ ७० ॥

स० टी०—फलमभ्यापकस्योक्तत्वा फलमभ्येतुमर्हते ॥ य आवयोरिमं प्रमथं संवादमकमादरात् ॥ १ ॥
स्वधर्मादनपेतं च पठिष्यति जपारम्भना ॥ ज्ञानात्मकेन यज्ञेन चतुर्थाध्यायोक्तेन वै ॥ २ ॥ द्रव्ययज्ञा-
दिश्रेष्ठेन सर्वयज्ञेश्वरो ह्यहम् ॥ तेनाभ्येताऽपिपुण्येन पूजितः स्यामीति श्रितुः ॥ ३ ॥ ममास्ति निष्प्र-
यस्तेन कृतकलोऽस्ति मत्प्रियः ॥ यद्यप्यसौ जपत्येवानुसंधानोऽर्थमाश्रयम् ॥ ४ ॥ तच्छृण्वतस्त्वधापीति
भवत्येवं मतिर्मम ॥ प्रकाशयति मामेवाभ्येताऽयमिति धीपतेः ॥ ५ ॥ ज्ञानयज्ञफलं तस्माज्जपमात्रादपी-
रितम् ॥ चित्तशुद्ध्यात्मविज्ञानद्वारा मोक्षमुदाययि ॥ ६ ॥ प्राप्नोति भगवद्गीताज्ञात्माभ्येता न' संशयः ॥
पठतोऽर्थानुसंधानपूर्वकं गुरुपस्य तु ॥ ७ ॥ साक्षादेव भवेन्मोक्ष इति किं वाच्यमित्ययम् ॥ साक्षात्फलं

विधेरेवेदोऽथ नारयार्थवादता ॥ ८ ॥ श्रेयान्द्रज्यमयायज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ॥ इत्येवं पूर्वमेवोक्तमतो नित्यं सुसुशुभिः ॥ ९ ॥ अस्वाधरेण गीतारूपं शास्त्रमभ्येयमित्यलम् ॥ १० ॥ ७० ॥

भा० टी०—एवमेतच्छास्त्रसंप्रदानकर्तुराध्यापकस्य फलमुक्त्वाऽभ्येतुस्त्वदाह—अभ्येप्यते इति । योऽभ्येता धर्म्यं धर्मादनपेतमिमामवयोः संवादमध्येप्यते च पठिष्यति तेन अभ्येता ज्ञानयज्ञेनाहमिष्टः स्यात् श्रेयान्द्रज्यमयायज्ञाज्ज्ञानयज्ञः इति सर्वयज्ञेभ्यः श्रेष्ठतमत्वेनाभिहितस्य देववादिविषयज्ञानयज्ञस्य फलं केवल्यं सुसुखं देववाद्यात्मस्वतस्य फलं भवतीत्यर्थः । तेनाभ्येता ज्ञानयज्ञफलतुल्यफलेनाभ्ययनेनाहमिष्टः पूजितः स्यात् अभ्येयमिति मे मम मतिर्निश्चयः । फलविधिरैवायं न स्वर्थाद् ॥ ७० ॥

प० टी०—अथ गीताशास्त्रस्य पठनफलमाह—अभ्येप्यते चेति । आवयोः कृष्णार्जुनयोरिमं धर्म्यं धर्मादनपेतं संवादं योऽभ्येप्यते जपरूपेण पठिष्यति, तस्य जपयज्ञफलेन भवितव्यम् । परं तु तेन पुंसां सर्वयज्ञेभ्यः श्रेष्ठेन ज्ञानयज्ञेनाहमिष्टः स्यात् ज्ञानयज्ञेन संतर्पितो भवेयमिति मे मतिर्मम संमतम् । यद्यप्यसौ गीतार्थमवबुद्धाजपि (ऽपि जपति) तथापि मत्प्रसादकर एव । यतो गीतारूपपठनं देवतायुतो मातामनः । तत्र छन्दोऽस्य सुप्रवादीनि, ऋषिर्वेदव्यासः, देवता श्रीकृष्णस्तत्र मन्त्रसुन्दरार्थस्तु—मन्त्रारं प्रायवेदसौ मन्त्र इति व्युत्पत्त्या जपमात्रेणैव सिद्धिदो भवति, नहि तत्र मन्त्रार्थो भूयते । तथा च यदेवताको मन्त्रस्तेन मन्त्रेण सा देवता प्रीयते । प्रकृते तु पितृशुद्धिद्वाराहं प्रीतः सन् स्वरूपं दर्शयामीत्यर्थः ॥ ७० ॥

रा० टी०—गीताभ्ययनमपि फलकृत्वेन प्रशंसति—अभ्येप्यते चेति । धर्म्यं धारकत्वाद्धर्मो भगवान् । तर्थायं धर्म्यम् । धर्मसाधनमिति वा । इमामवयोः संवादं गीताप्रबन्धं यः अभ्येप्यते च पठिष्यति च । तेन पुंसां ज्ञानयज्ञेन ज्ञानाभ्ययनेनाहमिष्टः पूजितः स्यात् ममेवं, इति मे मतिः ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ॥

सोऽपि मुक्तः शुभाल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

त० टी०—इदानीमन्यस्य पठतो योऽन्यः शृणोति तस्य फलमाह—श्रद्धावानिति । यः कश्चिन्नरः अन्यस्य विदुषो योषैः पठतः सकाशात् केवलं शृणुयादपि । कथंभूतः ? श्रद्धावान् साक्षादङ्गवद्गीतास्वामहाफलमिति विश्वासवान् । पुनरनसूयश्च—सम्पङ्ग पठति, अयं पठितुमर्ह इति दोषारोपमकुर्वन् यः शृणुयात्सोऽपि परिश्रुतः पुण्यकर्मणामभ्यवेधादिपुण्यकर्मकृतां शुभाल्लोकान् पुण्यफलभोगभोग्यान्प्राप्नुयात् ॥ ७१ ॥

म० टी०—प्रवक्तुरभ्येतुश्च फलमुक्त्वा श्रोतुरिदानीं फलं कथयति—अद्वेति । यो नरः कश्चिदपि अन्यस्योपेक्षितः कारुणिकस्य सन्नतात् श्रद्धावान् श्रद्धायुक्तः, तथा किमर्थमयमुपैर्जपत्यमर्द्धं वा जपतीति शेषदृष्ट्याऽपुंथया रहितोऽनसूयश्च केवलं शृणुयादपि अन्यम्—अपिश्रद्धात् किमुत्तरं ज्ञानवान्—सोऽपि केवलाक्षरस्यश्रोतापि मुक्तः । पापैः शुभान् प्रशस्ताम् लोकान् पुण्यकर्मणामभ्यवेधादिकृतां प्राप्नुयात् । ज्ञानवतस्तु किं वाच्यमिति भावः ॥ ७१ ॥

शं० टी०—प्रवक्तुरभ्येतुश्च फलमुक्त्वा श्रोतुरिदानीं फलमाह—श्रद्धावानिति । विचारारण्ययनयोरनभिकारी योऽपि—यश्च नरो नरमात्राकारवान् मूढो वा वृद्धो वा क्षीजतो वा, अन्यद् श्रद्धावान् वक्तुरीति तावमपि परमेश्वरे च श्रद्धाभाकिसंपन्नस्थानसुपुरसूयादिदोषरहितो भूत्वा नित्यमिदं गीताशास्त्रं शृणुयात्, सोऽपि श्रोतापि ज्ञानाज्ञानकृतेभ्यः पापेभ्यो मुक्तः सन् पुण्यकर्मणामभ्यवेधादियामाकर्तृणां च लोकान्वाप्नुयात् । अत्यन्तमुत्तकरान् प्राप्नुयात् । नित्यं गीताभ्ययनमात्रेण सत्यादिपुण्यलोकान् प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ७१ ॥

श्री० टी०—अन्यस्य जपतो योऽन्यः कश्चिच्छृणोति तस्यापि फलमाह—अद्वावानिति । यो नरः अद्वायुक्तः केवलं शृणुयादपि । अद्वावानपि कश्चित्किमर्थमुपैर्जपति अन्तर्जपतीति वा दोषदृष्टिं करोति तद्यावृत्त्यर्थमाह—अनसूयश्च । असूयाप्रतिहो यः शृणुयात् सोऽपि सर्वैः पापैर्मुक्तः सन् अश्वमेधादिपुण्यकृतां लोकान्प्राप्नुयात् ॥ ७१ ॥

स० टी०—फलं प्रवक्तुं श्रुत्येतत्त्वोक्त्वा श्रोतुः फलं हरिः ॥ इदानीं कथयत्यहं कण्ठरससागरः ॥ १ ॥ यः कश्चन मनुष्योऽपि जपतोऽन्यस्य कस्यचित् ॥ उच्येतानिधेः पुंसः सकाशाच्छृणुयादन्वितः ॥ २ ॥ उच्येतपत्ययत्नं वा किमर्थमिति दोषदृक् ॥ असूया तद्विहीनः सन्केवलं शृणुयादिसम् ॥ ३ ॥ ग्रन्थमप्रापिशब्दात् किमुत्तार्यविशेषान् ॥ केवलश्रवणमात्रस्य श्रोतव्यं त्यक्तकित्वेन ॥ ४ ॥ लोकान्प्राप्ता नामोति सोऽश्वमेधादियजिनाम् ॥ किं वाच्यं भगवद्गीताशास्त्रार्थविद इत्यलम् ॥ ५ ॥ ७१ ॥

भा० टी०—प्रवक्तुं श्रुत्येतत्त्व फलमुक्त्वा श्रोतुमपि फलं कथयति—अद्वावानिति । अद्वावान् अद्वावानोऽनसूयश्च—पौरुषेयत्वात् श्रुतिवो निरुद्धमिदमिति दोषदृष्टिरसूया—तद्ग्रहितः सन्निमित्तं प्रश्नं यो नरो यः कश्चिच्छृणुयादपि । नरशब्देनैतच्छ्रवणेनापि यो हृत्तो नारसो नरः किंतु पशुरिति सूचयति । सोऽपि मुक्तः पातकाद्द्विदः पुण्यकर्मणामनिहोत्राश्वमेधादिपुण्यकर्मणां लोकान् शुभान् प्रशस्तान् प्राप्नुयात् । अपिशब्दात् किमुत्तार्यज्ञानयान् ॥ ७१ ॥

प० टी०—अथ श्रवणफलमाह—अद्वावानिति । यो नरः अद्वायुक्तः सन् केवलं शृणुयादपि कश्चित्किमर्थमसूयैर्जपत्ययत्नं वेति दोषदृष्ट्या शृणोति तन्निरुत्तर्यमाह—अनसूयश्चेति । असूयाप्रतिहो यः शृणुयात् सोऽपि सर्वैः पापैर्मुक्तः सन्अश्वमेधादिपुण्यकृतां लोकान् प्राप्नुयात् ॥ ७१ ॥

रा० टी०—गीताश्रवणमपि फलोत्पन्नं प्रशंसति—अद्वावानिति । अस्मादस्ति मे फलमित्यास्तिव्यवृत्तिमान् । अतसूयः असूयादिदोषादित्थं नरः इममावयोः संवादं शृणुयाच्चेदपि । सोऽपि मुक्तः सन्पुण्यकर्मणां शुभानलोकान्प्राप्नुयात् । अत्र सोऽपि श्रवणं कुर्वन्नपि मुक्तः । किमु तदश्वमेधेत्युक्त्या श्रवणं कुर्वतोऽपि तदश्वमेधेत्युक्त्यावधिकमुक्तमिति सूचितम् । तथा तस्मादपि व्याख्यातुर्मुमुक्षुस्तस्याधिकं सुखम् । ततो वेदानामिति ज्ञातव्यम् ॥ ७१ ॥

कचिदेतच्छ्रुतं पार्थ ! त्वयैकाग्र्येण चेतसा ॥

कचिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनंजय ! ॥ ७२ ॥

त० टी०—एतद्गीताशास्त्रस्य वक्तुं श्रुत्येतत्त्व फलमुक्तम् । इदानीं यावच्छिष्यस्याज्ञानं न नश्येतावदुहणा शिष्यः पुनरुपदेष्टव्य इति गुरुमर्थं शिष्यस्त्वैकोऽपि भगवानर्जुनं मोहनिवृत्तिं पृच्छति—[कचिदिति ।] कचिदिति प्रश्ने । एतन्मयोक्तं गुह्यत्वमज्ञाननाशानं गीताशास्त्रं हे पार्थ ! त्वयैकाग्र्येणावित्तितेन चेतसा श्रुतं किं, सद्युक्तिभिरवधारितम् ? तेन तयाज्ञानसंमोहः अज्ञानहेतुको विपर्ययः प्रणष्टः कचित् हे धनंजय ! येन संमूढः सन्न योत्स्यामीत्युक्तवान् यदि न नष्टः स्यात्तर्हि पुनरुपदेष्टव्यमीति आचः ॥ ७२ ॥

म० टी०—शिष्यस्य ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं गुरुणा कारुणिकेन प्रवासः कार्य इति गुरोर्मै शिष्यार्जुनं सर्वज्ञोऽपि पुनरुपदेष्टव्यमाह नास्तीति ज्ञापनाय पृच्छति—कचिदिति । कचिदिति प्रश्ने । एतन्मयोक्तं गीताशास्त्रमेकाग्र्येण व्यासस्मृत्तिद्वेन चेतसा हे पार्थ ! त्वया किं श्रुतमर्थोऽवधारितम् ? कचित्—किं अज्ञानसंमोहो अज्ञाननिमित्तः संमोहो विपर्ययः अज्ञाननाशाय प्रणष्टः प्रकर्षेण पुनरुक्तविधौचित्येन नेष्टस्ते त्वं हे धनंजय ? यदि स्यात् पुनरुपदेशं करिष्यामीत्यभिप्रायः ॥ ७२ ॥

शु० टी०—शास्त्रार्थे सम्यग्ज्ञाते शिष्यः कृतार्थ एव स्यात्, अज्ञाते तु प्रकारान्तरेण बोधयित्वा तदज्ञान-
विपरीतप्रवृत्त्यादिदोषमापस्य तस्य कृतार्थता संपादनीया—अयमाचार्यस्य धर्म इत्युपदेष्टृणां सूचयितुमर्जुनस्य
स्वबोधितार्थप्रवृत्तिं तदप्रवृत्तिं च विज्ञातुमिच्छया प्रवृत्तिं श्रीभगवान्—कश्चिदिति । हे पार्थ तत्त्वनिष्ठासु-
ना त्वया एतन्मयोपदिष्टायास्मत्तत्त्वप्रकाशकत्वव्यजातमेकामेव सावधानेन चेतसा श्रुतं कश्चित्किं ?—मयोक्तं
सर्वं सावधानेन गृहीतं न गृहीतं वा वक्तव्यमित्यर्थः । एतमुपदेशं पृष्ट्वा तत्कार्यं प्रवृत्तयेति—कश्चिदिति ।
ते तवाज्ञानसंमोहः अज्ञानमास्मत्तत्त्वावरणं विमिरवदावरणलक्षणं तन्निमित्तकः संमोहो विपरीतग्रहः नष्टो
नाशो गतः कश्चित् ? मयोक्तवचनजन्यज्ञानेन वर बुद्धिभयो नष्टः किं न वेत्यर्थः ॥ ७२ ॥

श्री० टी०—सम्यग्बोधानुत्पत्तौ पुनरुपदेश्यामीत्याशयेनाह—कश्चिदिति । कश्चिदितिप्रार्थः । अज्ञा-
नसंमोहः तत्त्वाज्ञानकृतो विपर्ययः । स्पष्टमन्यत् ॥ ७२ ॥

सु० टी०—विज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं शिष्यस्यानुगतस्य च ॥ सम्यक्प्रयासः कर्तव्यो गुरुणा कर्तव्याग्निना ॥ १ ॥
इति शिक्षयितुं सन्ध्यागुरोर्धर्मं कृषानिधिः ॥ सर्वज्ञोऽपि स्वयं शिष्यं प्रवृत्तिं स्वानुगतं जयम् ॥ २ ॥
एतन्मयोक्तं गीताख्यं शास्त्रं हे पार्थ चेतसा ॥ व्याख्यान्तरशून्येन किं त्वया श्रवमर्थतः ॥ ३ ॥ अवधारि-
तेनेतत्किं मोहोऽज्ञाननिमित्तकः ॥ अज्ञाननाशतो नष्टः प्रकर्षणैव किं तव ॥ ४ ॥ यद्यर्थोऽयं मनायास
उपवेष्टव्यता तथा । तवापि श्रवणायासः स किं नष्टो धर्मेजय ॥ ५ ॥ यदि स्यादुपदेशं ते करिष्यामि
पुनर्वाहम् ॥ ६ ॥ ७२ ॥

भा० टी०—तं तु प्रत्यक्षमास्थाय सर्वप्रकरणे शिष्यः कृतार्थः कर्तव्य इत्याचार्यधर्मं दर्शयितुमुपदि-
ष्टार्थमहणे ज्ञाते पुनर्माहविष्यामुपायान्तरेणेत्यभिप्रायवान् शिष्यस्य शास्त्रार्थमहणं विविक्षुः प्रवृत्तयेति—
कश्चिदिति । कश्चिदिति प्रश्नस्तत्प्रार्थः । एकामेव चेतसा पितृतेन त्वया एतन्मयोक्तं श्रुतं श्रवणेनावधारि-
तं किंवा प्रमादेन नावधारितम् ? अज्ञानसंमोहः अज्ञाननिमित्तकः संमोहः अविवेकस्वभावः कश्चिदिति
किं तेऽज्ञाननाशाग्रनष्टः प्रकर्षणं पुनरुत्पत्तिविरोधित्वेन नष्टः ? यद्यर्थोऽयं तव शास्त्रश्रवणायासो मम बो-
धवेष्टव्यतायासः प्रकृतः । हे पार्थ इति संबोधयन् स्त्रीस्वभावशोकोदनिवर्तकनेतृत्ववैकामेन चेतसा श्रुतमिति
सूचयति । यदि त्वया न श्रुतं स्यात्तर्हि पुनर्मया वक्तव्यं, पृथापुत्रेण प्रेमास्पदेन त्वया यावन्नावधारितं
वाचनमया पुनः श्रावणीयमिति वा संबोधनाश्रयः । सदाज्ञया लोकोद्धारार्थं त्वया स्त्रीस्वभावो शोकमोहा-
वह्नीकृतौ । लोकोद्धारोपायस्य च मया प्रोक्तस्वैतस्य त्वयैकामेन मनसा श्रुतत्वादिदानीं तौ विहाय स्वस्वभा-
वमाविर्भावयेति पार्थैतिसंबोधनस्य गूढाभिप्रेतिः । धर्मेजयेति संबोधयन् यदि ते मोहः प्रनष्टस्तर्हि धर्म-
जयो भव, सोऽप्युनरस्त्राशाय यथाष्टव्यं तत्प्रवृत्तयेति सूचयति । गूढाभिप्रेतिपक्षे 'वीरोऽनन्तो धर्मेजयः'
इत्यत्रोक्तं धर्मेजयेन स्वान्मना संबोधयन् मदवतारस्य तवाज्ञाननिमित्तकमोहाभावान्मदाज्ञया लोकोपकारा-
याङ्गीकृतोऽज्ञानसंमोहः कश्चित्प्रनष्टः—अज्ञाननिमित्तकसंमोहप्रणाशनसामर्थ्यं मनुपदेशस्यास्ति कश्चिदिति
ध्वनयति ॥ ७२ ॥

प० टी०—सम्यग्बोधानुत्पत्तौ पुनरुपदेश्यामीत्याशयेनाह—कश्चिदिति । अज्ञानसंमोहस्ते प्रनष्टः कश्चि-
दिति प्रार्थविपर्ययः । स्पष्टमन्यत् ॥ ७२ ॥

रा० टी०—एतावानुपदेशः अरण्यकदितनज्वालो न भवति भिक्षेतिशब्देन प्रवृत्तयेति—कश्चिदिति ।
किमित्यर्थोऽयमेवमेवत् । हे पार्थ त्वयैकामेव चेतसा एतन्मदुक्तं गीताप्रमेयं श्रुतं किम् ? अज्ञानोत्थः संमोहः
कश्चित्ते प्रनष्टः ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच—नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ॥

स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

त० टी०—एवं पृष्ठः स्वकृतार्थतामर्जुन उवाच—नष्ट इति । य आत्मविषयो मोहोऽन्यथा-
ज्ञानजो विपर्ययोऽभूत्स नष्टः । तत्र हेतुमाह—त्वत्प्रसादादिति । मोहनश्रे गमकमाह—स्मृतिर्ल-
ब्धेति । यथाऽवस्थिततत्त्वज्ञानमवाप्तं, तच्च पूर्वजन्मन्यासीत्तरूपनारायणसखित्वात् । पूर्वसिद्धमेवेह
जन्मानि विनष्टं पुनर्भववत्कृपा लब्धमतः स्मृतिर्लब्धेत्युक्तम् । मम ज्ञानं च्युतं, त्वं तु सदैकरसज्ञान
इत्यभिप्रायेण संबोध्यति—हे अच्युतेति । एतेन त्वत्प्रसादादसत्यज्ञानानन्दस्वरूपमजहदुपशक्तिकं
सर्वनियन्तारं सर्वस्य भवाभवहेतुं परमात्मानं साक्षाद्भवन्तं वामुदेवं त्वां जानामीति सूचितम् ।
स्मृतिलाभस्य “स्मृतिर्लभ्ये सर्वग्रन्थीनां विममोक्षः” इति श्रुत्युक्तं संदेहनिवृत्तिरूपं फलमाह—स्थितो-
ऽस्मि गतसंदेह इति । गता मुक्ताः संदेहाः संशया आत्मपरमात्मस्वरूपगुणसंबन्धमोक्षमाप्ति-
साधनविषया यस्य सोऽहं स्थितोऽस्मि, निश्चितत्वात्कृतास्त्रायां निःसंशयोऽस्मीत्यर्थः । तथा हि “न
साधनविषया यस्य सोऽहं स्थितोऽस्मि, निश्चितत्वात्कृतास्त्रायां निःसंशयोऽस्मीत्यर्थः । तथा हि “न
स्वेवाहम्” इत्यादिनाऽऽत्मनित्यत्वनात्वाविनाशित्वनिश्चयादनित्यत्वैकत्वविनाशित्वसंशयो नष्टः ।
ततः ‘एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये’ इत्यारभ्य यावदध्यायसमाप्तिं पूर्वास्तास्त्वज्ञानमाप्तिसाधनतया कर्म-
योगज्ञानयोगभक्तियोगाः संक्षिप्य दृष्टिता ज्ञाताः । तत्र कर्मज्ञानाधिकारिविशेषानिश्चयजाग्रतसंवेह-
निरासपूर्वकासंगकर्मानुष्ठानतन्माहात्म्यकर्मकर्मादिज्ञानं, तदनासक्त्या नैककर्मकर्मणि ब्रह्मदृष्टिर्यहमेव-
स्तज्ज्ञानमाहात्म्यमात्मनोऽकर्तृत्वात्संशयनेन कर्मानुष्ठानसंन्यासयोरैक्यं, देहेन्द्रियमनोनियमनेन ध्यानयो-
गनिष्पत्त्या सर्वत्र समात्मस्वरूपानुसंधानायाभ्यासवैराग्यभगवद्भक्तियोगनिष्ठेति तृतीयादिषष्ठाध्याया-
गनिष्पत्त्या सर्वत्र समात्मस्वरूपानुसंधानायाभ्यासवैराग्यभगवद्भक्तियोगनिष्ठेति तृतीयादिषष्ठाध्याया-
गनेन साधनसंशयो गतः । ततो भजनीयभगवत्पदार्थतद्भक्तिनिरूपणोपयुक्तचिदचिद्विषयपरापरप्रकृतिद्व-
यविभागः स्वस्य तत्त्वाभित्वसर्वात्मत्वसर्वकारणत्वसर्वपरमत्वं गुणमायया जगन्मोहकत्वं स्वाधितानां
ततो मोचकत्वं भक्ताभक्तादिभेदतत्फलकधनेनात्मनः सर्वमुपभूषास्यत्वं परमफलरूपत्वं भक्तिमाहा-
त्म्यान्तविभूत्यैश्वर्यं ब्रह्मेशानन्दवर्ष्यादिमुरासुरनरदुर्दशदिग्वाभाकृताद्भुतैश्वर्यरूपदर्शनं भक्त्यैकलभ्यं
भक्तसुलभत्वं भक्तसंसारोद्धारकत्वं भक्तमियमिति सप्तमादिद्वादशाध्यायाभातेन निश्चयाद्भगवद्भूतिगुणै-
श्वर्यभक्तलक्षणभक्तिप्राप्तिविषयकसंशयो गतः । ततः परापरप्रकृती एव क्षेत्रक्षेत्रज्ञशब्दवाच्ये तयोर्भ-
गवच्छक्तित्वेन स्वरूपेण भिन्नेऽपि पृथक्स्थितिपटव्यनर्हेतया तच्चादात्म्यं क्षेत्रस्वरूपकथनपूर्वकं
क्षेत्रज्ञस्वरूपज्ञानोपायममानित्वादिविशर्कं ज्ञानशब्दवाच्यं तत्स्वरूपं तु सदसद्विलक्षणं स्वयंप्रकाशं
नित्यमेव । तथाविष्य सदसद्योनिजन्मसु प्रकृत्युद्भवस्त्वादियुगलद्वयः कारणं, तस्यागुप्तिमागकत्वेन
देहाद्यावरणे धर्मभूतज्ञानेन सर्वक्षेत्रज्ञाशक्त्यै, तद्ब्रह्मकगुणानामुत्पत्तौ स्वस्य हेतुत्वं तल्लक्षणवन्प्रक-
त्वमकारतत्कार्यभेदगुणातीतलक्षणगुणातिक्लृपणप्रकारो गुणातीतस्य ब्रह्मावयवाप्तिरिति त्रयोदशचतुर्द-
शध्यायाभ्यां निश्चयात् । क्षेत्रज्ञब्रह्मभूतयोः प्रकृतिपुरुषयोः परमात्मना केवलभेदो वैक्यं वेति संवत्स-
विषयः, पुरुषस्य पारमार्थिकं स्वरूपं कीदृशं ? कथं संसारः ? कथं वा मोक्षः ? कीदृशो मोक्षः ? इति
स्वरूपविषयश्च संशयो गतः । ततो ब्रह्मावयवाप्यहस्य पुरुषस्य बन्धनिरास्युद्भवैराग्यार्थं संसारस्या-
श्वत्यरूपकेण ज्ञानासिना छेदनपूर्वकपरमपुरुषमपत्त्या ज्ञानमोहादित्यागेन परमपदमाप्तिः । प्रपञ्चस्य
प्राप्यभूतस्य परमात्मनः सर्वचेतनाचेतनात्मत्वसर्वमकारभुक्तत्वसर्वभोजनहेतुत्ववेद्यत्ववेदान्ताचार्य-
त्वसर्ववेद्यार्थहेतुत्वपरास्वरूपपुरुषद्वयातीतत्वेन पुरुषोचमत्वं, तथा ज्ञातुः सर्वज्ञत्वं कृतकृत्यत्वमिति पञ्चदशेन

निश्चयादनादिसंसारस्य कथं केन साधनेन वा निवृत्तिः स्यात्, परमात्मा किस्वरूपः कीदृशगुणशक्त्यै-
 श्वर्यवानिति संशयो गतः । तथा उक्ततत्त्वाधिकार्यनधिकारिनिर्णयाय हेयोपादेयदैवासुरसंपद्व्यविभाग-
 निरूपणं, दैव्याः संपदो मोक्षहेतुत्वम्, आसुर्याः कामक्रोधमोभूलकत्वेन नित्यासुरभाववृद्ध्या अधमग-
 तिनारकयादियोनिश्राप्तिफलम् । ततो हेयोपादेयमदर्शनार्थं सत्त्वादियुगत्रयविभागेन श्रद्धाऽऽहारयज्ञतपो-
 दानविभाग इति पौष्टशास्त्राध्यायद्वयेन निश्चयः । तेन तत्त्वज्ञानस्य कोऽधिकारी को वाऽनधिकारी किं
 हेयं किमुपादेयमिति संदेहो नष्टः । ततोऽन्तिमेषोऽस्मिन्नध्याये सर्वाध्यायोक्तार्थं संगृह्य ग्राहयितुं तावत्प-
 राभक्त्यनधिकारिणामविशुद्धबुद्धियुक्तानां यज्ञदानतपआदिकर्मनिष्ठयैव श्रेयो, नान्यथा । विशुद्धबुद्ध्या-
 दियुक्तस्य विगतकामक्रोधरागद्वेषस्य ब्रह्मभूतस्य पराभक्तिलाभाः, तयैव त्वत्स्वरूपगुणैश्वर्ययाध्यात्म्यज्ञानेन
 त्वत्प्राप्तिः, सर्वजीवानां त्वन्मिष्यत्वं, तव स्वतन्त्रत्वं, निरुद्धशैश्वर्यवत्त्वम् । अतस्त्वदाज्ञानुवर्तिनोऽन्य-
 शरणस्य निरतिशयप्रेम्णा त्वां भजतो निष्कामस्य स्वेच्छया किञ्चित् कर्म कुर्वतोऽकुर्वतो वा न किञ्चित्
 पापस्पर्शस्त्वस्मात्सिद्धेर्द्वेष्टेति त्वद्बचनाभिहिततत्त्वो निर्गतसंदेहो निर्भयोऽस्मि । अतस्त्वच्छासने याव-
 जीवं स्थिताऽस्मि, युद्धादिविषयं सर्वं त्वद्बचनं क्रूरिष्ये, परमगुरोर्भगवतस्तवाज्ञापालनमेव करिष्ये
 इत्यर्थः । अत्र मार्गेण शरणं ब्रजेति शरणागतत्वेन शास्त्र(स्य)समापनात् “ शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां
 प्रपन्नम् ” इत्युपक्रमेऽपि प्रपन्नशब्देन शरणागतस्यैवोपदेश्यत्वज्ञापनात् “ निवासः शरणं सुहृत् ” इति
 मन्त्रेऽपि उपास्यस्य सर्वशरणात्वाभिधानाच्छरणागतिप्रमेवेदं गीताशास्त्रमित्यवगम्यते । सा च पद्धिर्वा
 “आतृकृत्यस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम् । रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥ आत्मनि-
 श्लेषकार्षणे पद्धिर्वा शरणागतिः” इति नारदपञ्चरात्रवचनात् । तत्रानुकूल्यादिपञ्चाङ्गानि, आत्मनिश्लेषो-
 ऽङ्गो । तथा च “सर्वभूतस्थितं श्रो मां भजत्येकत्वमास्थितः” इत्यादिनाऽऽस्तृकृत्यसंकल्पारूपः प्रथमोऽङ्गो
 दर्शितः । हेयतया आसुरीसंपत्प्रतिपादनम् । अन्यत्रापि निर्बत्त्वादिप्रतिपादनं प्रातिकूल्यवर्जनाख्यो
 द्वितीयोऽङ्गो दर्शितः । “ योगक्षेमं वहाम्यहम् ” इति विश्वासाख्यस्तृतीयोऽङ्गो दर्शितः । “ पिताऽसि
 लोकस्य चराचरस्य ” इत्यादिना “ प्रसीद देवेश । जगन्निवास ” इत्यन्तेन गोप्तृत्ववरणाख्यश्चतुर्थोऽङ्गो
 दर्शितः । “ दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जननिवास । । नहि भ्रजानामि तव मष्ट-
 चिम् ” इति कार्पण्यरूपः पञ्चमोऽङ्गो दर्शितः । आत्मात्मीयस्य सर्वस्य विधिश्रद्धया भगवत्पर्यगमात्मनि-
 श्लेषः, स च “ तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये मामेकं शरणं ब्रज ” इति षष्ठोऽङ्गो दर्शितः । अवशिष्टो ज्ञानकर्म-
 भक्तिप्रतिपादको ब्रह्मः प्रपन्नप्रपन्नमपत्तव्यस्वरूपगुणाङ्गैर्वर्षमतिपादनेन तत्रैव परम्परया संबध्यते
 इति विवेकः । अथोपास्यस्वरूपमुपासकस्वरूपं तदुपासनस्वरूपं तदुपासनफलं तद्विरोधित्वरूपमित्य-
 र्थपञ्चकं निरूपितम् । तत्र सप्तमाध्यायादिषु तत्र तत्र सर्वज्ञसर्वकारणसर्वनियन्तृभक्तवात्सल्यादिगुणार्णवं
 भगवत्तत्त्वमुपास्यस्वरूपमुक्तम् । १ । तत्प्राप्त्यर्थं तत्र तत्र जीवक्षेत्रज्ञाक्षरपुरुषादिशब्दवाच्यं ज्ञानं
 शास्त्रप्रतिशरीरभिन्नमसंख्यकं भगवद्भीनं धन्वमोसार्हं नित्यमित्युपासकस्य स्वरूपं निर्णीतम् । २ ।
 तत्प्राप्तिसाधनं कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्तिगुणैर्बुद्धिप्रेमात् पञ्चविधं तदुपासनं तत्र तत्र निर्दिष्टम् । ३ ।
 निःशेषाविद्यानिवृत्त्या परमानन्दस्वरूपतत्प्राप्त्यर्थं भगवद्वादादिशब्दाधिषेवं योऽस्य तदुपासनं तत्कृ-
 पाफलम् । ४ । एतच्चतुष्टयस्य प्रतिक्रमकं कामक्रोधरागद्वेषादिकमासुरीसंपच्च विरोधस्वरूपमित्यर्थपञ्च-
 कमेव गीतायां श्रीभगवतोपदिष्टमिति बोध्यम् । ५ । तदुक्तं भगवता आद्याचार्येण श्रीनिम्बादित्येन-
 “ उपास्यरूपं तदुपासकस्य च कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम् । विरोधिन्वो रूपमथैतदरासेनैवा इमेऽर्था
 अपि पञ्च ज्ञाद्यभिः ” इति ॥ ७३ ॥

म० टी०-एवं पृष्ठः कृतार्थत्वेन पुनरुपदेशानपेक्षतामात्मनः अर्जुन उवाच-नष्ट इति । नष्ट उच्छिन्नो मोहः अज्ञानकृतो विपर्ययः । तन्नाशकमाह-स्मृतिर्लब्धा त्वप्रसादान्मया । यस्मात्स्वदुपदेशादात्मज्ञानं लब्धं सर्वसंशयानाम्नास्तवया प्राप्तमतः सर्वप्रतिबन्धशून्येनात्मज्ञानेन मोहो नष्ट इत्यर्थः । हे अच्युत ! आत्मत्वेन निश्चितत्वात् वियोगायोग्य । “स्मृतिर्लब्धे सर्वमन्यानां विप्रमोक्षः” इति श्रुत्यर्थमनुभवनाह-स्थितोऽस्मि गतसं-वेदः निवृत्तसर्वसंदेहः स्थितोऽस्मि युद्धकर्तव्यतारूपे त्वच्छासने । यावज्जीवं च करिष्ये वचनं तव-भगवतः परमगुरोराज्ञां पालयिष्यामीति प्रयाससाफल्यकथनेन भगवन्तमर्जुनः परितोषयामास । अनेन गीताशा-स्त्राभ्यापिनो भगवत्प्रसादादवश्यं मोक्षफलपर्यन्तं ज्ञानं भवतीति शास्त्रफलमुपसंहृतं “तद्वाप्त्य विज-ज्ञौ” इतिवत् ॥ ७३ ॥

शृ० टी०-एवं पृष्ठवन्तं भगवन्तं प्रवि कार्यकथनेन कारणसिद्धिरुक्तप्रायेति मत्वा भगवदुपदेशज-ज्ञानफलं वक्तुमर्जुन उवाच-नष्ट इति । जन्मजरामरणदुःखप्रवाहकारणं सर्वानर्थहेतुर्दुर्न्तो मोहः स्वाज्ञानसं-भवः शार्वरतत्सर्गोऽपि हे अच्युत कृदस्वभगवन् स्वप्नसादात् स्वदुपदेशजन्यज्ञानाप्रपटः स्वरूपेणादर्शनं गत इत्यर्थः । एवं भगवदुपदिष्टवान्यजावश्य तद्वर्त्यस्य च ग्रहणं कार्यप्रकाशनेनैव ज्ञापयित्वा तत्प्रसादसिद्धायाः स्वाज्ञानतत्त्वार्थनिवृत्तेः फलमाह-स्मृतिरिति । अपिद्याकृतकर्तृत्वमोक्तत्वादिसर्वसंसारनिर्मुक्तौ नित्यकृद-स्थोऽसङ्गचिद्रूपो निष्कलो निष्क्रियः ज्ञान्तो य आत्मा सर्ववेदान्त्रप्रसिद्धः ॥ एवाहमस्मीति स्वात्मतत्त्व-विषया स्मृतिर्लब्धा, यथा प्रमादाद्विस्मृतार्थस्यातद्वाक्येन स्मृतिस्तथा त्वत्प्रसादान्मया लब्धा भवति । सर्वद्वय-विषया स्मृतिर्लब्धा, यथा प्रमादाद्विस्मृतार्थस्यातद्वाक्येन स्मृतिस्तथा त्वत्प्रसादान्मया लब्धा भवति । सर्वद्वय-मस्तुत्वेन कर्मणा लेशोऽस्ति वा न वा, कर्तृत्वमात्मनोऽस्ति वा न वेत्येवमादिक्रिादिकः स्ववस्वनिर्धारण-सति विपरीतभावे तत्कारणसद्भावे च संदेहनिवृत्त्यसंभवाद्वः संदेहनाशाल्परविकल्पनाशः सिद्धो भवति । एवं त्वदुपदेशजनितविज्ञानेन सर्वानर्थबीजे मोहे सकारणे विनष्टे सति संप्राप्तात्मन्याथात्म्यविज्ञानोऽहं गतसंदेहः सन्नक्षोऽभ्यस्वभावेन स्थितोऽस्म्यविद्यातत्कार्यवद्वर्त्मतत्त्वमैतत्त्ववसानिर्मुक्ता विक्रियात्मस्वरूप एव । इवः परं मम न किंचिज्ज्ञातव्यं प्राप्तव्यं बाधेषुदस्ति, तथापि बहुगुरोरीश्वरस्य तव वचनं करिष्ये । नन्वविद्या-संवन्धनिर्मुक्तताजुनेन करिष्ये वचनं तवेति यदुक्तं तदयुक्तमेव, युक्तस्य कर्तव्याऽसंभवान्ममेदमीश्वरस्य वचनं कर्तव्यमिति करणसन्नधर्मो, न तु तत्त्वज्ञधर्मः तच्छास्यायमीश्वरोऽहं तद्वचनं करिष्ये इति भेदज्ञाना-श्रुति भेदज्ञानं संभावयितुं क्षम्यते, कार्यशेषो वा “तस्य कार्यं न विद्यते” इति विदुषः कृत्यनिषेधात् । “नैवास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्” इति कृत्यशेषवदोऽज्ञास्वरूपणाच । ततो ज्ञानित्वं कर्मि-त्वं चैकस्य न संभवति, परस्परविरुद्धं सन्नाहूत्वं भिद्युत्वं चैकस्य यथा तद्वत् । ॥ यजुर्नस्य-कृतव्यशेषस्त-र्हि क्षत्वमेव न संभवति । ननु नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धेवज्ञाननिवृत्तिज्ञानप्राप्तिश्च कण्ठवेणोका, अतो-ऽस्त्येव ज्ञत्वमिति चेन्न करिष्ये वचनं तवेत्येवमपि कण्ठवेणोक्तत्वादस्त्यमपि संभवति । नन्विष्टोऽस्ति मे ददमिति हितमुद्धवा द्यवा च भयान्ता मवेति भगवतोऽहं तव वचनकरणं तद्वत्प्रसादपुण्यं युक्तमेवेति तदु-च्यते । यदा जनकान्धपतिप्रभृतीनां मुक्तानामन्याधिकारिकाणां लोकसंग्रहचिकीर्षया कर्माचरणं तद्वदुत्त-र्याप्याधिकारिकस्य लोकहिताय कर्माचरणमविकरुमेव लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हति । यदाचारत्रि-

५० टी०—कृतार्थः सन्नर्जुन उवाच—नष्ट इति । आत्मविषयो मोहो नष्टः । यतः अयमहमस्माति स्वरूपानुसंधानरूपा स्मृतिस्त्वत्प्रसादान्मया लब्धा, अतः स्थितोऽस्मि युद्धाभ्योत्थितोऽस्मि । गतः स्वधर्मविषये संदेहो यस्य सोऽहं तवाज्ञां करोमि ॥ ७३ ॥

० रा० टी०—इति पृष्ठस्योत्तरमाहर्जुनः—नष्ट इति । नष्टो मोहः प्रथमाध्यायोक्तो विपरीतज्ञानलक्षणो मोहो नष्टः । त्वत्प्रसादान्मया स्मृतिर्लब्धा । नारायणद्विदत्तवृत्तवन्धिनमिहः परमो धर्मोऽवश्यं कार्य एवेत्यादि-स्मृतिर्मम जाताऽस्ति । गतसंदेहः युद्धे स्थितोऽस्मि । यथेच्छसि तूया कुर्यिषि भागवत्कृत्यापेपरिहाराय भग-वन्ममनुसरति—करिष्ये वचनं तवेकि ॥ ७३ ॥

सञ्जय उवाच—इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ॥

संवादमिममश्रौपमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

त० टी०—तदेवं सर्वं श्रीकृष्णार्जुनसंवादं हृतराष्ट्रायवैय स्वयमनुसंधानः सञ्जय उवाच—इतीति । इत्येवमुक्तप्रकारेण वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मन इत्युभयोर्विशेषणम् । अद्भुतमाश्चर्यरूपमत एव रोमहर्षणं रोमाञ्चकरं संवादं यथोक्तमहमश्रौपं श्रुतवानास्मि ॥ ७४ ॥

म० टी०—समाप्तः शास्त्रार्थः । कथासंबन्धमिदानीमनुसंधानः सञ्जय उवाच—इतीति । अद्भुतं चेत्तसो विरमयाद्यविकारकरं लोकेष्वसंभाव्यमानत्वात् । लोमहर्षणं शरीरस्य रोमाञ्चक्याविकारकरं तेनातिपिपुष्टत्वं विरमयस्य दाक्षितम् । स्पष्टमन्यतू ॥ ७४ ॥

शं० टी०—एवमर्जुनस्याभिधातृत्वात्प्रममार्जनायौपमत्वनस्य ज्ञानशास्त्रस्य तदर्थस्य च परिसमाप्तिं क्षात्मा तच्छ्रवणतदर्थानुभवसंज्ञावात्माबन्धुरसाविरिकेण स्वगुरोरनुग्रहं स्ववृत्तिं चाविष्कृतुं कथासंबन्धमवतारयितुं च सञ्जय उवाच—इतीति । “सर्वभूताधिवासं यद्भूतेषु च वसत्यभि” इतिश्रुतलक्षणलक्षितत्वाद्वास्तुदेवः सर्वज्ञः परमेश्वरस्तस्य वासुदेवस्य महात्मनो महानुभावस्य पार्थस्य चार्जुनस्य इत्युक्तप्रकारकं संवादं प्रभप्रसिध्दचनरूपमिदं शीताग्रन्यमद्भुतमत्यन्तविस्मयकरं रोमहर्षणमनुपूर्वरेवनातिगम्भीरत्वेनाभे पार्थत्वेनासिद्धोक्तेनाद्भुतरसत्वेन च रोमाञ्चक्यार्हं तयोः संवादमहमश्रौपं श्रुतवानास्मि ॥ ७४ ॥

श्री० टी०—तदेवं धृतराष्ट्रं प्रति श्रीकृष्णार्जुनसंवादं कथयित्वा प्रस्तुतां कथामनुसंधानः सञ्जय उवाच—इतीति । रोमहर्षणं रोमाञ्चकरं संवादमश्रौपं श्रुतवानहम् । स्पष्टमन्यतू ॥ ७४ ॥

स० टी०—शास्त्रार्थोऽयं समाप्तोऽयं कथासंबन्धमुक्तम् ॥ इदानीं सञ्जयः प्राह धृतराष्ट्रानुपं प्रति ॥ १ ॥ इतिशब्दः समाप्तौ स्याच्छास्त्रार्थस्येतिवत् ॥ रोमाञ्चनकरं युद्धैर्निर्मलपक्षपादाद्भुतम् ॥ १ ॥ लोके संभाव्यमानत्वात्स्पष्टमन्यत्तथाऽर्थतः ॥ ३ ॥ ७४ ॥

भा० टी०—परिसमाप्तः कृष्णपार्थसंवादात्सुकः शास्त्रार्थः । अभेदानीं कथासंबन्धप्रदर्शनार्थं सञ्जय उवाच—इतीति । इत्येवं वासुदेवस्य सर्वात्मनः सर्वज्ञस्य सर्वेश्वरस्य पार्थस्य पूयापुत्रस्य च महात्मनोऽद्भुतस्वभावस्य भगवदनुगृहीतस्य सम्यग्वाद् संवादं गुरुमित्रवचनेन प्रभप्रसिध्दचनमिदमिदं त्वां प्रत्युक्तमनुवृत्तमन्यन्त-विस्मयकरं, रोमाणि हृष्यन्ति पुलकीभवन्त्यनेनेति रोमहर्षणं, हर्षनिमित्तकरोमाञ्चकरमश्रौपं श्रुतवानास्मि । अतिधन्यो वसुदेवो यद्गृहे सत्यं भगवानवतीर्णः, पूया च भन्या यस्याः पुत्रः परमभागवतो जगत्पदनुगृहीतः प्रसिद्धं भगवता संवदमानः । त्वं त्वत्यन्ताधन्यो यस्य पुत्रो दुर्योधिनः कृष्णपराङ्मुखस्तद्वत्क्रोदी चेति वासुदेवपार्थविशब्दाभ्यां ध्वनितम् ॥ ७४ ॥

प० टी०—तदेवं धृतराष्ट्रं प्रति श्रीकृष्णार्जुनसंवादं कथयित्वा प्रस्तुतां कथामनुसंधानः सञ्जयः

प्राह-इत्यहमिति । अद्भुतमपूर्वाश्रयं करमत एव रोमहर्षणं रोमाश्वकरं संवादमश्रौषं श्रुत्वानहम् ।
स्पष्टमन्यत् ॥ ७४ ॥

रा० टी०-एकान्ते संजातः कृष्णार्जुनसंवादः कथं त्वया ज्ञात इति धृतराष्ट्रद्वन्द्वशङ्कां निराह संजय
इत्याह-इत्यहमिति । इतिपदेन प्रथमाभ्यायाद्युक्तस्य सर्वस्य परामर्शः । महानात्मा मनो यस्य तस्य महा-
त्मनः । अद्भुतं प्राक्कुत्रापि न श्रुतमाश्रयं रोमाश्वकरम् ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुत्वानेतदुह्यमहं परम् ॥

योगं योगेश्वरात् कृष्णात्साक्षात् कथयंतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

त० टी०-असन्निकृष्टस्य व्यवहितस्य संवादस्यात्मनः श्रवणयोग्यतायां हेतुमाह-व्यासप्रसादा-
दिति । दिव्यचक्षुःश्रोत्रादिलभरूपाद्यासप्रसादादेतदुह्यं गोप्यं परं सर्वोत्कृष्टं परमपुरुषार्थोपायं
योगेश्वरात् कृष्णात्स्वयमेवेश्वररूपेण कथयतः साक्षादहं श्रुत्वानस्मि, नतु परम्परया । अहो मे भाग्य-
मित्यभिप्रायः ॥ ७५ ॥

[अ० १८ श्लो० ७६]

पप योगस्तं श्रुतवान् योगेश्वरात् कृष्णात्साक्षात्स्वयं कथयतः न तु परंपरातः । योगानामीश्वरादिश्रुतया व्यवहितेन मया येन योगसामर्थ्येन श्रुतं तत् तस्यैव योगेश्वरस्य सामर्थ्यं न तु ममेति सूचयति कृष्णादि-
त्यनेन कृष्णप्रसाद एव कृष्णद्वैपायनप्रसादो न त्वन्य इति ध्वनयति ॥ ७५ ॥

प० टी०—अथात्मन ईदृशश्रवणासंभवात्तस्माद्—व्यासेति । गस्तेष्वया प्रसन्नेन भगवता व्यासेन मङ्ग-
मलौकिकं मन्त्रश्रवणादिकं दत्तं तेनाहं श्रुतवानस्मि । किं तदित्याह—परं योगम् । परत्वमेवाह—
योगेश्वराच्छ्रीकृष्णान्वरूपं स्वयमेव वा साक्षात्स्वमुखेनार्जुनं प्रुवि कथयतः श्रुतवान् । तदुक्तं महाभारते
भीष्मपर्वणि संजयेन धृतराष्ट्रं प्रति—‘नमस्तस्मै भवतिष्ठे पाराशर्याय धीमते । यस्य प्रसादाद्विष्णुं मे
प्रज्ञाविज्ञानमुत्तमम् ॥ दृष्टिश्चातीन्द्रिया राजन् दूराच्छ्रवणमेव हि । परचित्तस्य विज्ञानमवीतानागतस्य
च ॥ व्युत्थितोऽपत्तिविज्ञानमाकाशे च गतिः सदा । अक्षैरसङ्को बुद्धे च वरदानान्महत्तमः ॥ प्रत्यक्षं यन्मया
दृष्टं दृष्टं योगधत्तेन च । शृणु तत्पृथिवीपाल मा च शोके मनः कृपाः ’ ॥ ७५ ॥

रा० टी०—व्यासेति । व्यासेन हि संजयस्य कुरुक्षेत्रे युद्धसमाप्तिपर्यन्तं तत्र प्रवृत्तस्य सर्वस्यापि वर्षी-
नश्रवणे तव स्यातामिति दिव्यदृष्टिदानद्वयौ सप्रसादाद्विदुक्तम् । योगं पुमर्थोपायं योगेश्वरात्सर्वोपायानामी-
श्वरात् स्वयमेव कथयतः कृष्णात् साक्षाद्व्यास्यश्रवणेन श्रुतवानित्यन्वयः ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ॥

केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

त० टी०—तदेव विशदयति—राजन्निनि । केशवार्जुनयोरिमं पुण्यं श्रवणमात्रेण पापहरं पुण्यो-
त्पादनमद्भुतं संवादं संस्मृत्य मुहुर्मुहुर्वारंवारं हृष्यामि हर्षं प्राप्नोमि ॥ ७६ ॥

ग० टी०—राजन्निनि । पुण्यं श्रवणेनापि सर्वपापहरं केशवार्जुनयोरिमं संवादमद्भुतं न केवलं श्रुत-
वानस्मि, किंतु संस्मृत्य संस्मृत्य, संश्रये द्विक्रिः । मुहुर्मुहुर्वारंवारं हृष्यामि च हर्षं प्राप्नोमि च, प्रतिक्षणं
रोमाञ्चितो भवामीति वा ॥ ७६ ॥

श्ल० टी०—सूत्रा किं कृतवानसौत्पाकाङ्क्षायां संतुष्यामीत्याह—राजन्निनि । पुण्यं पुण्यकरं पावनं
श्रवणपठनाभ्यां ज्ञानाज्ञानरुतसर्वपापविध्वंसकं केशवार्जुनयोः संवादमुक्तलक्षणमिमं गीताख्यं ग्रन्थं श्रुत्वा
मुहुर्मुहुश्च स्मृत्वा स्मृत्वा हृष्यामि । किं मया जन्मान्तररात्रेषु पुण्यं कृतं, किं वस्ते, किं दत्तं, किं हृतं, किं दत्तं
वा न जाते, येन तयोर्विदं संवादलक्षणं गीताशास्त्रं मेवा श्रुतमित्यर्थः ॥ ७६ ॥

श्री० टी०—किंच—राजन्निनि । हृष्यामि रोमाञ्चितो भवामि, हर्षं प्राप्नोमीति वा । स्पष्टमन्यत् ॥ ७६ ॥

स० टी०—पुण्यं श्रवणमात्रेण सर्वपापहरं शुभम् ॥ कश्च प्रजापतिः प्रोक्त ईशः श्रीश्रीः स्वयः
॥ १ ॥ तयोरपि पिताऽऽचार्यः स्वामी चाल्मेति केनचः ॥ तदुक्तं हरिवंशे श्रीश्रीमुना केदावं प्रति ॥ २ ॥
क इति प्रज्ञापो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम् ॥ जावां त्वाङ्गसंभूतो तस्मात्केदावनामवान् ॥ ३ ॥ शुद्धसंप-
त्समायुक्तः सद्द्विपाथिरुतोऽर्जुनः ॥ संवादो यस्तयोः साक्षात्तमिमं परमाद्भुतम् ॥ ४ ॥ तं केपुमदं
सम्यक् श्रुतवानस्मि विस्मयात् ॥ किं तु संस्मृत्य संस्मृत्य द्विक्रिःरिति संश्रये ॥ ५ ॥ वारंवारं परं हर्ष-
मवाप्नोमि प्रविशन्म ॥ रोमाञ्चितो भवामीह प्राप्नोऽहं विस्मयावनिम् ॥ ६ ॥ ७६ ॥

भा० टी०—किंच—राजन्निनि । इमेव केशवार्जुनयोः संवादमद्भुतं पुण्यं श्रवणमात्रेणैव पापहरं
श्रुत्वा, संस्मृत्य संस्मृत्य पुनः पुनः स्मृत्वा मुहुर्मुहुः प्रविशं हृष्यामि रोमाञ्चितो भवामि, हर्षं प्राप्नोमीति ।

वा । तयोः संवादं श्रुत्वान् स्वमपि वैरं विहाय कृष्णभक्तिमत्यादरेणाङ्गीकुर्वन्नत्यन्तदीप्तिमान्तरत्यन्तदृष्टो वास्तवो राजा भवेति घोषयन् ज्ञंयोयति—हे राजन्निति ॥ ७६ ॥

प० टी०—अथ व्यासप्रसादसामर्थ्यमेवावबुधदति—राजन्निति । राजन् धृतराष्ट्र इममद्भुतं केशवार्जुनयोः संवादं संस्मृत्य सकृच्छ्रुतमपि स्मरणारूढं कृत्वा पुनर्यथावत्संस्मृत्य मयि निष्पन्नोऽयं गीतार्थसंग्रह इति हृष्यामि रोमाञ्चितो भवान्येतावतैव कृतकृत्योऽस्मीति हर्षं प्राप्नोमि ॥ ७६ ॥

रा० टी०—तच्छ्रवणेन स्वस्य जातं तात्कालिकं फलमाह—राजन्निति । हे राजन्! धृतराष्ट्रस्य संबोधनम् । पुण्यं पारम्यं सुखहेत्वदृष्टकरम् ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ॥

विस्मयो मे महान्राजन् ! हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

त० टी०—अथार्जुनाय दर्शितं विश्वरूपमनुसंधान आह—तच्चेति । यदर्जुनाय प्रकाशितमत्यद्भुतमैश्वरं हरे रूपं मया साक्षात्कृतं तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य हे राजन्! संस्मरतो मे महान् विस्मयो जायते, पुनः पुनश्च हृष्यामि रोमाञ्चितो भवामि ॥ ७७ ॥

म० टी०—यद्विश्वरूपाख्यं सगुणं रूपमर्जुनाय ध्यानायै भगवान् दर्शयामास तद्विदानीमनुसंधान आह—तच्चेति । तदिति विश्वरूपम् । हे राजन्मम महान्विस्मयोऽव एव हृष्यामि चाहम् । स्पष्टमन्यत ॥ ७७ ॥

श्री० टी०—विश्वरूपसंदर्शनं तस्मिन् वर्णयति—तच्चेति । हरेः स्वसाक्षात्कारमात्रेणाविद्यां तरकार्यं च हरति शक्तिमन्नेव विरोभाभवतीति हरिः । सविधानन्दस्वरूपः परमेश्वरस्वस्य 'अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्' इत्युक्तक्षणं तच्च रूपं विश्वरूपमपि अत्यद्भुतं महाश्रयंकरं पुनः 'पुनश्च संस्मृत्य संस्मृत्य स्मृत्वा स्मृत्वा हृष्यामि, धन्योऽहं धन्योऽहं कृतकृत्योऽहमिति संतोषसागरे मज्जामीत्यर्थः ॥ ७७ ॥

श्री० टी०—किंच—तच्चेति । तदिति विश्वरूपं निर्दिशति । स्पष्टमन्यत ॥ ७७ ॥

स० टी०—यत्पूर्वं विश्वरूपाख्यं सगुणं रूपमद्भुतम् ॥ अर्जुनाय हरिः साक्षाद्दर्शयामास सर्ववित् ॥ १ ॥ आहानुसंधानः सन्निधानं ध्येयमैश्वरम् ॥ तच्चेति विश्वरूपं भो राजन्संस्मृत्य चेत्तथा ॥ २ ॥ स्मारं स्मारं महानसि विस्मयो मे पुनः पुनः ॥ अत एव महान्माग्यफलं हर्षं गवोऽभ्यहम् ॥ ३ ॥ ७७ ॥

भा० टी०—यत्तु विश्वरूपं सगुणमर्जुनाय भगवान् ध्यानायै दर्शितवान् । तच्च हरेरत्यद्भुतं रूपं संस्मृत्य संस्मृत्य मे महान् विस्मयो भवति हृष्यामि च पुनः पुनः । हरेः 'यद्वा ज्ञेयं यदि वा नो ज्ञेयम्' इत्यर्जुनसंशयस्य विश्वरूपप्रदर्शनेन हरणे प्रश्रुतस्य सर्वोपसंहरणं प्रदर्शयतः विश्वरूपं श्रुत्वापि त्वं तु त्रौहं परित्यज्य संप्रयत्नमुपतः सन् न सज्जस इत्याश्चर्यमिति धनयन्नाह—हे राजन्निति ॥ ७७ ॥

प० टी०—किंच—तच्चेति । तच्चाद्भुतं हरे रूपं विश्वरूपमभयवाक्यैः श्रुतं न च दृष्टम् । तथात्रिषमपि प्रथममक्षरतः संस्मृत्य पुनरर्थं ॥ संस्मृत्य मे महान् विस्मयो भवति । अहो कथमर्जुनस्य भाग्यं यदेवैरपि प्रुमशस्य परमात्मनः समष्टिरूपं साक्षात्कृतवांस्तथा सत्त्वगामागोचरोऽपि परमात्मा कथया परमार्थिकं वरूपं दर्शितवानिति सविस्मयत्वेनानुतरसत्याभिमानिन रोमहर्षाद्यष्टसात्त्विकोद्रेकदाहो पुनः पुनर्मवामीत्यर्थः । धेयं विश्वरूपदर्शने—श्रीं च भोयं च जयदधं च कर्णं तयान्यानापि योववोरान् । मया इवात्वं त्रि मा वयमिष्टा । इत्यादिभगवद्वाक्यानि, तथा 'अमी च त्वां धृतराष्ट्र पुनः...संदृश्यन्ते चूर्णित-इत्थमात्रैः' इत्यर्जुनवाक्यानि च त्वया मन्मुखाच्छ्रुवान्येव ॥ ७७ ॥

रा० टी०—तदिति । तच्च रूपं विश्वरूपरूपम् ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ॥
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥
इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु संन्यासयोगो

नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

त० टी०-एवं चेश्वरेश्वरकृष्णपराङ्मुखस्वपुत्रसैन्यविजयादिदुराशा ते दृश्यन्त्याह-यजेति । यत्र यस्मिन् पक्षे योगेश्वरः योगोऽद्यदित्यष्टनापटीयस्त्वसामर्थ्यं राज्यैश्वर्यादिप्राप्त्युपायो वा योगस्तस्येश्वरो निवर्तको नियामको वा सर्वकर्मसिद्धिनामपीश्वरः सर्वकर्मफलप्रभुः सर्वज्ञोऽचिन्त्यशक्तिर्भगवान् कृष्णः स्वाश्रितदुःखकर्षकस्तिष्ठति, यत्र पार्थस्तस्मिन्पुत्रस्वस्तीयो धनुर्धरो गाण्डीवधन्वाऽर्जुनो वर्तते तत्रोभयाधिष्ठिते धर्मराजपक्षे श्रीः राज्यलक्ष्मीः, विजयः शत्रुविनाशः, भूतिः सर्वसंपत् ऐश्वर्यं वा, नीतिर्न्यायोऽपि तत्रैव । ध्रुवा निश्चितेति सर्वत्रान्तेत्ययम् । इति मे मम मतिर्निश्चयबुद्धिः । तस्मात्स्वपुत्रविजयाशां त्यक्त्वा श्रेयस्काशनया श्रीभगवदाश्रितैर्लक्ष्मीविजयाद्यर्थैः पाण्डवैः सह राज्याद्यर्पणेन सन्धिं विधाय स्वीयानां संरक्षणं कुर्विति भावः ॥ ७८ ॥

स्वतन्त्रः सर्वफलदः सर्वोपास्यो हि यो हरिः ॥ कर्तृत्वं सर्वजीवानां तत्तन्त्रमिति निश्चयात् ॥ १ ॥
श्रेयस्कामो मुमुक्षुर्वा तमेव शरणं व्रजेत् ॥ स्वाभिमानं परित्यज्य ह्येतदन्ते हृदीकृतम् ॥ २ ॥
संसाराभ्युपनिषानां स्वभक्तकृपया हरिः ॥ नृकार गीतानां तं कन्दे सर्वगरीयसम् ॥ ३ ॥

हंसस्वरूपं सुनकादिकेभ्यस्तत्त्वोपदेशाय विधायं शुद्धम् ॥
तत्त्वं परं भागवते च धर्मं सत्संप्रदायार्थमुपादिशयः ॥ ४ ॥
श्रीवायुदेवो भगवान्स एव भक्ताय पाथोय तु भास्ते वै ॥
मोहापहं शास्त्रमुवाच गीतां सर्वेश्वरं तं शरणं प्रपद्ये ॥ ५ ॥
ध्यायतामतादौ तदद्भ्रवोधादाचार्यवर्येण हरिप्रियेण ॥
निम्बार्कनाम्नाऽस्तिगभीरबोधं श्रीनारदानुग्रहभाजनेन ॥ ६ ॥
तत्पादचिन्ताप्रतिबुद्धबुद्धिना भद्रेन श्रीकेशवसंज्ञकेन ॥
तदर्थबोधाय तदाश्रितानां संक्षिप्य चैवद्विष्टैः सुवोयम् ॥ ७ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां धरामण्डलविजयित्रीभारतिकेशवका-

श्मीरिभट्टाचार्यवर्यविरचितायामष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

म० टी०-एवं च सति स्वपुत्रे विजयादिसंभावनां परित्यजेत्याह-यजेति । यत्र यस्मिन् युधिष्ठिरपक्षे योगेश्वरः सर्वयोगसिद्धिनामेश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्भगवान् कृष्णो भक्तदुःखकर्षकस्तिष्ठति गुरायणः, यत्र पार्थो धनुर्धरः यत्र गाण्डीवधन्वा विष्टयर्जुनो नरः, तत्र नरनारायणाधिष्ठिते यस्मिन् युधिष्ठिरपक्षे श्रीः राज्यलक्ष्मीः, विजयः शत्रुपराजयानिमित्त उत्कर्षः, भूतिरुत्तरोत्तरं राज्यलक्ष्म्या विष्टद्विध्रुवाऽवश्यंभावितनीतिः सर्वत्रान्वयः । नीतिर्न्यायः । एवं मम मतिर्निश्चयः । तस्माद्गृह्णा पुत्रविजयाशां त्यक्त्वा भगवदनुगृहीतैर्लक्ष्मी-विजयादिभारिभिः पाण्डवैः सह संधिरेव विधीयतामित्यभिप्रायः ॥ ७८ ॥

वंशीविभूषितकराजवनीरदाभास्तीताम्ररादरुणविम्बकलापरोष्ठात् ।

पूर्णेन्दुसुन्दरमुख्यादरचिन्वनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तन्महं न जाने ॥ १ ॥

क्राण्डत्रयात्मकं शास्त्रं गीताख्यं येन निश्चितम् ।

अदिमध्यान्तपट्केषु तस्मै भगवते नमः ॥ २ ॥

श्रीगोविन्दमुखादिन्दुमधुना मिष्टं महाभारते

गीतारूपं परमं रहस्यमृषिणा व्यासेन विख्यापितम् ।

व्याख्यातं भगवत्पदैः प्रतिपदं श्रीसङ्कराख्यैः पुनः

विस्पष्टं मधुसूदनेन गुणिना स्वज्ञानशुद्धयै कृतम् ॥ ३ ॥

इह योऽस्ति विमोहयन् मनः परमानन्दघनः सनातनः ।

गुणदोषभूतेषु एव नस्तुणेतुल्यो यदयं स्वयं जनः ॥ ४ ॥

श्रीरामविश्वेश्वरमाधवात्मं प्रसादमासाद्य मया गुरुणाम् ।

व्याख्यानमेतद्विहितं सुषोभं समर्पितं चरणान्मुञ्चेपु ॥ ५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिब्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपूज्यपादसिद्ध्यश्रीमधुसूदनसरस्वती-

विरचितायां श्रीभगवद्गीतामूढार्थदीपिकायां संन्वासायोग-

प्रतिपादनं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

शं० टी०-किमतः परं वक्तव्यमस्ति । मम निश्चयं सृष्टिर्नैवाह-यत्रेति । योगेश्वरः योगास्तेजोबलपौ-

रुपविद्याराज्यजयधनधान्यपुत्रपौत्राद्यस्तुष्टयानां यदनास्तेषामोश्वरः । यद्वा “विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः” इति श्रवणात् युज्यते आभ्यासिति योगौ विद्याविद्ये ईशितुं शीलमस्यास्तीति योगेश्वरः ।

यद्वा युज्यते समाधीपते चित्तमेतेष्विति योगाः ऐहिकामुष्मिकसुखाविशेषाः कर्मसाध्या उपास्तिसाध्याश्च, तेषां प्रदाने शक्त ईश्वरो योगेश्वरः । यद्वा योगो ज्ञानयोगः कर्मयोगो वा तयोः फलसिद्धेश्चोश्वराधी-

नत्वानयोगेश्वरः । “संसारमोक्षस्थितिवन्धहेतुः” इति श्रुतेः । पर्यवक्ष्यामः परमात्मा श्रीकृष्णो यत्र यस्मिन्पक्षे तिष्ठति, धनुर्वरो धनुर्विद्यापारगोऽतिरयो गाण्डीवधन्वाऽर्जुनः यत्र यस्मिन् पक्षे तिष्ठति, तत्र तस्मिन् पक्षे एव ध्रुवा जन्मभिचारिणौ नीचिः शाल्वदृष्टा मर्यादा तिष्ठति, धर्मस्तत्रैव तिष्ठतीत्यर्थः । ‘यतो धर्मस्ततो जयः’ इति न्यायेन विजयोऽपि तत्रैव तिष्ठतीत्यर्थः । श्रीध्रुवा निश्चला राज्यलक्ष्मीस्तत्रैव तिष्ठति ।

भूतिर्गजतुरगपनधान्याविसंपादितस्तत्र तस्मिन्नेव पक्षे ध्रुवा निश्चला तिष्ठतीति मम मतिर्निश्चयः । त्वमतः पुत्राणां जयाशां परित्यजेत्यर्थः । शुक्रभ्रात्रादिहिंसालक्षणं योरं कर्मदं कुर्या यापी स्यां, तेन नरकं यास्यामी-

त्यनात्मकर्तृके कर्मण्यकर्तारमेवगुमानं कर्तारं भोक्तां मत्वा मोहेन शोचतोऽर्जुनस्य सोहसागरे निमग्नस्यो-

द्धरणमात्मयाभाष्यविज्ञानेन विना नान्येन सिध्यति, आत्मयायात्म्यविज्ञानं च तत्त्वैवदार्ढ्यैः शोचितयोरैक-

त्वप्रतिपादनेन विना न सिध्यत्यवतत्त्वोः शोचनं कर्तव्यमिति ‘त त्वेवाहं जातु नास्मि’ इत्यारभ्य प्रथमप-

ट्वेन त्वंपदार्थं शोधयित्वा, द्वितीयेन तत्पदार्थं च शोधयित्वा, तृतीयेन तयोरैकत्वं प्रतिपाद्य कर्तृत्वसौकर्य-

चविद्यातत्त्वार्थसंभारहितं सर्वसंसारभर्मानिमृक्तगुल्मवत्त्वं बोधयित्वा तस्यैव बोधस्याप्रतिघ्नधरसिद्धये

ज्ञाननिष्ठागुपदिश्य त्वपरिपक्षज्ञानेन ‘अस्त्या ममभिजानाति यावान् यथास्मि वचस्वतः । ततो मां तत्त्वतो

ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्’ इत्यात्मयायात्म्यावधारणं, तेन प्रज्ञाप्राप्तिश्च प्रतिपादिता । ततः सर्वस्या अपि गीतायाः

‘प्रसिद्धिप्राप्तं प्रत्यगभिज्ञं परं प्रदोष । तज्ज्ञानमेव मोक्षसाधनमिति पर्यवसितम् । तथैव सर्वस्या अपि गीतायाः श्रवणं

कृत्ववोऽर्जुनस्योक्तिरप्यनुभवारूढा ‘नष्टो मोहः स्फुटित्वा’ इति ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तिं तत्कलभूतमात्मलभं च

बोधयति । अतः सिद्धं ज्ञानमेव मोक्षस्य परमकारणमिति । तथा च श्रुतिः “ज्ञानादेव तु केवल्पम्” । “तमेव

विदिद्याविमूढ्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय” इति, ‘एषा वेदभिदिता सांक्ष्ये’ इति ज्ञानयोगगुपदिश्य

स्तेनोपदिष्टज्ञानसंपादने पुरुषस्य प्रज्ञामान्यमात्मस्य ‘सुखयोगे त्विमां द्रष्टुम्’ इति कर्मयोगमुपकम्य ‘सुदौ

शरणमन्विष्यते’, ‘योगः कर्मसु कौशलम्’ इति ज्ञानयोगं च पनः प्रस्तव्य ‘ज्ञानयोगेन सांक्ष्यानां कर्मयोगेन

योगिनाम् इति तयोर्विषयमेदन्यतया कृत्वा, राजसत्तासत्यागनिन्दापूर्वकं सात्त्विकत्यागस्यैव श्रेष्ठत्वमुक्त्वा, तथापि परमेश्वरप्रीत्यै कर्तव्यमिति निश्चित्य, कर्मनिष्ठया परिशुद्धचित्तस्य ज्ञानं प्राप्तवतो ज्ञाननिष्ठा वि-
दित्वा । ततः कर्मयोगो ज्ञानयोगस्य साधनमेव भवति, ननु साधनोपकरणमित्येव सिद्धान्तितं भवति ।
अथ गीतायां ज्ञानकर्मयोगयोरेव द्वयोर्हृत्पुरुषोपसंहारदर्शनाद्योगान्तरस्य च प्राधान्यं प्रतीयते । अमानित्वा-
द्वेष्टृत्वशुद्धबुद्धिवादयो यथा ज्ञानतत्त्वलक्षितसाधनानि, तथा सुमुखत्वनिष्ठावत्त्वसारित्वकध्वत्तासक्तिमत्त्वा-
दयः कर्मफलसिद्धिप्राधान्यादीनि सिद्धं सर्वमनवद्यम् ॥ ७८ ॥

कालकूटसमो द्योपो यस्य कण्ठे तत्रायते ।

गुणोऽपि वा कलामात्रो यस्य भूषयते सतः ॥

तमहं पुरुषं वन्देऽविद्यादोषहरं परम् ॥ १ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिश्राजकार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीभगवत्पादपूज्यशिष्यश्रीशंकरानन्दसर-

स्ववीरुवो गीतातात्पर्यबोधिण्यामष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

श्री० टी०-असत्त्वं स्पृष्ट्वाणा राज्यादिंश्चङ्कां पक्षित्यजेत्याशयेनाह-त्यनेति । यत्र येषां पाण्डवानां पक्षे
योगेश्वरः श्रीकृष्णो वर्तते, यत्र च पाथो गाण्डीवधनुर्धरः, तत्रैव श्रीः राज्यसङ्गमी, तत्रैव च विजयः, तत्रैव च
भूतिवत्तरोत्तराभिष्टुष्टिश्च, नीतिर्नियोऽपि तत्रैव । ध्रुवा निश्चितेति सर्वत्र संवध्यते । इति नम मतिर्निश्चयः ।
अत इदानीमपि तावत्सपुत्रस्वं श्रीकृष्णं शरणमुपेक्ष्य पाण्डवान्यसाय सर्वस्वं च वेभ्यो निवेद्य पुत्रप्राप्ति-
रक्षणं कुर्विति भावः ॥ ७८ ॥

भगवन्नक्तिमुक्तस्य तत्प्रसादात्मवोधः । मुक्तं बन्धविमुक्तिः स्वादिति गीतार्थसंग्रहः ॥ १ ॥

तथाहि, 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यथा । भक्त्या स्वनन्यथा शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ॥'
इत्यादौ भगवन्नक्तैर्लोके प्रवि साधकतत्त्वप्रवृत्त्या तदेकान्तभक्तिरेव तत्प्रसादोत्पन्नज्ञानान्तरण्यापारमात्र-
युक्ता मोक्षहेतुरिति श्रुतं प्रतीयते । ज्ञानस्य च भक्त्यवान्तरण्यापारत्वमेव युक्तम् । 'तेषां सततयुक्तानां
भजतां प्रीतिपूर्वकम् । इदमि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ मय्यहं पवद्विज्ञाय मयावायोपपद्यते' इत्या-
दिवचनात् । न च ज्ञानमेव भक्तिरिति युक्तम् 'तस्यः सर्वेषु भूतेषु मय्यहं सभवे परम् । भक्त्या मामभिजा-
नाति यावान्यश्चास्मि तत्पठः ॥' इत्यादौ भेदेन निर्देशात् । नैवेवं सति "वमेव विदिद्वाहिमुख्यमेति
नान्यः पन्था विश्वेऽयनाय" इत्यादिश्रुतिपिरोधः शङ्कनीयः, भक्त्यवान्तरण्यापारत्वव्यावृत्तस्य । नहि काष्ठैः
पथतीत्युक्ते बालानामसाधनत्वमुक्तं भवति । किंच "मय्य देवे पराभक्तिर्या देवे तथा गुरौ । तस्यैव
कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महामनः" । "देवान्ते देवः परं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे" । "यमेवैव हृणुते तेन लभ्यः"
इत्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणवचनान्येवं सति सन्नञ्जसाति भवन्ति । तस्माद्भगवन्नक्तिरेव मोक्षहेतुरिति सिद्धम् ।

तेनैव दक्षया सत्या तद्गीताविबुधिः कृत्वा । स एव परमानन्दस्त्वया शीणतु मातृवः ॥ २ ॥

परमानन्दपादाब्जराजःश्रीपारिणाधुना । श्रीवरत्नाभियलिना कृत्वा गीतापुनोक्तिः ॥ ३ ॥

स्वप्रागहम्यमलाद्विलोडय भगवद्गीतातदन्तर्गतं तत्त्वं त्रेप्सुरुपैति किं गुरुकृपावीर्यपट्टे विना ।

अन्तु स्वाञ्जलिना निरस्य जलवेरादित्सुरन्तर्मर्षिनावर्षेण न किं निमज्जति जनः सूक्तर्षधारं विना ॥ ४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते शबस्तादृश्यां संहितायां वैयासिन्या भोष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु

प्रज्ञाविद्याया योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे योगशास्त्रनिर्णयसंन्यासादितरङ्गिण्ये तुरी-

थिण्या टीकाया श्रीहरस्वामिकृताया मोक्षयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

स० टी०—एवं च सति पुत्रे स्वे जयस्थाशा बलीयसीम् ॥ त्यज त्वं सर्वथा राजन्भगवन्तं हरिं स्मर ॥ १ ॥ यस्मिन्पौत्रिष्टिरे पक्षे योगमयिश्चरो हरिः ॥ समस्तयोगसिद्धीनां योगस्याप्यथ योगिनाम् ॥ २ ॥ ईश्वरो भगवान्कृष्णः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् ॥ भक्तदुःखहरः श्रीसो विभुर्नारायणोऽप्युतः ॥ ३ ॥ विष्टत्वात्मीयरूपेण गृहीत्वा पाण्डुनन्दनान् ॥ यत्र गाण्डीवधन्वा च विष्टस्वपोऽर्जुनो नरः ॥ ४ ॥ तस्मिन्पौत्रिष्टिरे पक्षे नरनारायणाश्रिते ॥ श्री राज्यलक्ष्मीर्विजयः शत्रुहानिनिमित्तकः ॥ ५ ॥ समुत्कर्षस्तथा भूतिः श्रीविशेषोऽतिविस्तरः ॥ राज्यलक्ष्म्या विटृद्धिश्चेत्यवश्यंभाविनी ध्रुवा ॥ ६ ॥ ध्रुवेत्यस्यान्वयो ज्ञेयः सर्वत्रैवाविशेषतः ॥ नीतिर्नयो यथाशास्त्रमेवं मे निश्चयो नृप ॥ ७ ॥ तस्मात्त्वं सर्वथा राजन् नृप पुत्रजयाशिषम् ॥ त्यक्त्वा श्रीभगवत्कृष्णानुगृहीतेश्च पाण्डवैः ॥ ८ ॥ लक्ष्म्यादिभागिभिः साकं संधिरेव विधीयताम् ॥ इत्यभिप्राय एवास्य संजयस्यात्र गम्यते ॥ ९ ॥ यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ इत्युक्तरीत्या धर्माद्या संपद्यस्माद्बलीयसी ॥ १० ॥ तस्या एव जयस्तस्मादासुर्यास्तु पराजयः ॥ महामोक्षोद्भवा संपन्नास्या दैव्या सुसंपदा ॥ ११ ॥ सा धर्ममूलिका यस्मात्कृष्णपक्षावलम्बिनी ॥ आसुरी कृष्णविमुखा बलहीनतयाऽवना ॥ १२ ॥ अतो धर्मं समाश्रित्य कृष्णपादरतो भवेत् ॥ तेनैव संसृतेः पुंसो नित्यारः सुलभः स्वयम् ॥ १३ ॥ इत्थैवं रूपकस्योपसंहारो मुनिना कृतः ॥ अतः सर्वे सुसंपन्नं कृष्णपादानुरागिणाम् ॥ १४ ॥ नैवास्ति दुर्लभं किञ्चित्तरक्तदक्षैकभागिनाम् ॥ सिद्धमिदमेवशास्त्रीयं रहस्यं सर्वमङ्गलम् ॥ १५ ॥ ७८ ॥

स्वाभाविकानवधिकातिशयेऽनौजस्तेजोऽवबोधवलयैर्गुणैश्चकार्षिः ॥

वेदान्तवाक्यपरिशोद्धततत्त्वनिष्ठैर्व्याङ्गिरक्षरपदोऽवतु नो मुकुन्दः ॥ १ ॥

बुद्धो बुद्धो विमुक्तः श्रुतिस्मिन्नरगिरा मुख्यवात्पर्यभूमिं-

यस्माज्जातं समस्तं जगदिदममृताद्वाप्य सर्वं स्थितो यः ॥

यस्यांशाशावतारैः सुरनरवनजे रक्षितं सर्वमेत-

त्तं भूमानं मुकुन्दं हृदि गतममलं कृष्णमेव प्रपद्ये ॥ २ ॥

अत्यन्तगम्भीरमतीव विस्तृतं निर्मथ्य वेदादिभिर्दं चिन्तिर्भूतम् ॥

सुधारसं शास्त्रमगाधगोचरं सुबोधनिष्ठं किल येन तं श्रये ॥ ३ ॥

यदुपतिमभिरामं सर्वविद्यामयामाभयपददमकामं वामदेवादिरामम् ॥

सकलसुखलक्ष्मणं इयाममाराममूर्तिं भवजलधिबिरामं नौमि कृष्णं सरामम् ॥ ४ ॥

फ शब्धं गीतास्य हरिमुपसरोजद्विगलितं क चारमाकं बुद्धिर्विषयाविषयके निपतिता ॥

तथापि श्रीकान्तप्रचुरगाण्डलक्ष्मीविरचितं कृदाक्षं स्वच्छाच्छं ह्यनुसृतवतां किं न सुलभम् ॥ ५ ॥

इदं गीताशास्त्रं परमपुरुषार्थकनिलयं त्रिराण्डं वेदार्थसकलमिह संगृह्य कथितम् ॥

स्वयं श्रीकृष्णेन श्रुतिविशदतत्त्वेन विभुना जगत्प्रपाताब्जानाच्छ्रुतमपि फलत्येव सुभियाम् ॥ ६ ॥

वृत्तिभिरपि कृतं यत्र प्रशंसन्ति लोके किमु भित्तमतिनेहाहं प्रवृत्तस्त्वथापि ॥

मम भवतु कथंचित्कृष्णपादेऽनुरागतिरिति मनसि निधाय श्रुन्तुमर्हन्ति सन्तः ॥ ७ ॥

नरत्नमापद्य सपत्न्यामर्थं विरम्य भोगेभ्य इदं विलोक्यताम् ॥

वदारायं तृष्णमशेषसाक्षिणं स्वयं विदित्वा कृतिनः कवैरलम् ॥ ८ ॥

गीताशास्त्रमापद्यच्छ्रुत्यश्रीमन्मुकुन्दानना-

भोनाभिः सुतभाः सवत्सवतिभिर्न्यासयातमत्यादरात् ॥

दित्वाऽतिमृत्युमेति । नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्', 'नरते ज्ञानात्र मोक्षः' इत्येव-
माद्या अज्ञानपरिकल्पितस्य संसारस्य शान्तेनैव निवृत्तिर्युक्ता, न तु कर्मणा, उपारितक्रियया वा, तथा
सति मोक्षस्यानित्यत्वं, सातिशयत्वं च प्रसज्येत इत्यन्यत्र विस्तरः । एतेनोपासनायाः साक्षान्मोक्षसाधनत्वं
ज्ञानस्य साधान्तरव्यापाररूपत्वं च वदतामपरेषामुक्तिर्निरस्ता । वेदान्तडिण्डिमेषु मोक्षान्म्यसाधनत्वेन
प्रसिद्धस्य तत्त्वज्ञानरसावान्तरव्यापाररूपत्वप्रदर्शनानौचित्यात् । अन्यथा मुख्यफलसाध्यवान्तरव्यापा-
रत्वकल्पनायाम् 'स्वकर्मणा तप्तभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इत्युक्तत्वात्कर्मैव साक्षान्मोक्षसाधनं
भक्तिज्ञानं चावान्तरव्यापार इत्यपि कुतो न स्यादित्यास्तां तावत् ॥ •

आज्ञया भाष्यकाराणां तैर्दत्ताभिः सुयुक्तिभिः । आपातरम्यव्याख्यमाना मया निरसनं कृतम् ॥ १ ॥

जयरामादयः कृतिभिः शास्त्राभिज्ञैः सुसाधुभिः । विरक्तैरतिरक्तैश्च रामे कृष्णे शिरोऽद्वये ॥ २ ॥

प्रेरित, कृतवान् गीताभाष्यस्योत्कर्षदीपिकाम् । सद्भिर्विलोभ्यता सम्पत् प्रमादः क्षम्यतां युवै ॥ ३ ॥

क्षेत्रादन्वयमनादिभ्यो निधनं सत्त्वादिसत्ताप्रदं लभ्यं संस्तुतिरुद्धृष्टे दूतपर्युक्ते, सता संपदा ।

सद्यज्ञाविधिभूतमानसमर्पिताख्यशार्थार्थैर्बन्धैः स्वात्मसुगुणात्तये शिवमहं कृष्णं परं केवलम् ॥ ४ ॥

कृत्वा भक्तपतेः कृष्णः प्रीयता परमेश्वरः । शिवारूपः कृष्णसंज्ञश्च शिवः सर्वेश्वरेश्वरः ॥ ५ ॥

रामेश्वहीन्दुसंघत्सरस्य प्रभवसंज्ञिनः । फारुने कृष्णपञ्चम्या रूपे सिद्धा गुरावियम् ॥ ६ ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीनालन्दाविशिष्टपदत्तवंशावतंसरामकुमारसूनुभनपतिविदुषा

सारस्वतेन विरचिताया गीताभाष्योत्कर्षदीपिकायामष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

प० टी०—अतः परं तव पुत्राणां जीवनसंदेहः, किं पुत्रा राजप्राप्तिरिति मनसा विचार्य पाण्डवेभ्यः सर्वस्व
दत्त्वा श्रीकृष्णं शरणं गत्वा प्राणसंरक्षणं कार्यमित्याशयेनाह—प्रेरितं । यत्र येषां पक्षे योगमावेश्वरः कृष्णो
वर्तते । टिप्पणिकासु—कर्मणेन मनोभूमिर्निवृत्तिः, फलमाप्नोते । कृष्णनाम्ना समाज्ञातस्तत्साम्यं देव ईदृशः ॥
इति । यत्र च तत्पक्षपातसाधितसकलपुरुषार्थ, पार्थो धनुर्धरो गाण्डीवधन्वा परमेश्वरस्य विश्रुतिर्वर्तते तत्रैव
श्रीराज्यलक्ष्मीस्तत्रैव विजयस्तत्रैव भूतिरुत्तरोत्तरेभ्यः तत्रैव ध्रुवाचला नीबिर्नयमार्गः । न त्वन्वायिना
तव पुत्राणां लाक्षागृहे गरदानभ्रातृजायावस्त्राहरणादिकूटकारिणाभिति भे मतिर्निश्चयः । तदुक्तं भारते
आदिपर्वणि धृतराष्ट्रं प्रति संजयेन 'तव पुत्रा दुरात्मानः प्रवृत्ताश्चैव मन्युना । लुब्धा दुर्हृताभूषिता न
तान् शोचिषुमर्हसि ॥' इति । तद्यारण्यकेऽपि 'द्रोपदीहरणे भग्नो युधि राजा जयद्रथः । शिवं प्रसाद्य तपसा
ययौ च जयमर्जुनात् ॥ इति राजा प्रवीहेनं मेति देवस्तमब्रवीत् । कृतेऽर्जुनं महाबाहुद्वैरपि दुरुस्तहम् ॥
यमादुरजित देवं शङ्खचक्रगदाधरम् । प्रपानं शास्त्रविदुष तेन कृष्णेन रक्षितम् ॥' इति ॥ ७८ ॥

अथ सजयस्य धृतराष्ट्रस्य च हार्द-पावशब्दे ।

यो लाक्षावेकमहादाहतिविषमविपाद्विप्रसाधाद्वनान्ते
दुष्टचूवात्समाया युवतिपरिभवात्सजुगोप स्वभक्तान् ॥

दूत, सूतश्च भूत्वा स युधि निजजनं किं करिष्यत्युपेक्षा

सत्यैवं तावकानां त्रिगुणदसाधिया जीवितेच्छाऽपुनापि ॥ १ ॥

उपनिषदुपदेशतोऽज्ञानाणैर्हृदि बसतोऽपि जपान अः सपत्नान् ॥

स्वभरणशरीरस्य पाण्डुसूनोः स च किमु न प्रमेजिदन्तुमेवम् ॥ २ ॥

कृष्णोऽखिलप्रलयहेतुरचिन्त्यशक्तिः शमेषु तेन तनयेषु किञ्चान् सुमर्थः ॥

पार्थस्य वा निहृत्सारणके तु पुण्य पुण्यैश्चो भवति संजय नार्जवेन ॥ ३ ॥

रणे मरणमस्ति चेच्छरणमागतैः किं भवेत्ततोऽपि यदि जीवन् किम् तदच्युतोक्तिर्भूया ॥
 अधाऽपि यदि जीव्यते परमतो मृतिर्भूमिजामिदं मनसि चिन्तयन्, कुरुविताऽयं तूष्णीमभूत् ॥४॥
 अपाध्यायतात्पर्यम्—

अध्यायैर्यश्च सप्ताधिकदशभिर्मिप्राय उक्तः क्रमेण
 संन्यासत्यागपूर्वविधिमतिधृतिज्ञानकर्तृक्रियादिः ॥

प्रक्षपतिरुपायः पुनरपि गदितोऽष्टादशे संप्रहार्ये
 पार्थस्तेनोद्विष्टश्च नु समरकृते स्वकसंदेहेजातः ॥ १ ॥

जगति समनवीर्णमत्र साक्षात्परां सदसि दृषदकन्या कुर्वता वक्षस्तन्याम् ॥
 रणभुवि निद्वान्नामप्यभूदुद्धतानां यदुपतिनिमुत्ताना रौरवः कौरवाणाम् ॥ १ ॥
 रणशिरासि शरोपैर्षावराष्ट्रानमोपेस्तदनुगज्जनसोप्मद्रोणकर्णाश्च हत्वा ॥
 कलितविजयलक्ष्मीर्याद्वेशोपदेशादधिगतपरमार्थः पार्थ आसीत्कृतार्थः ॥ २ ॥

छन्दःसंदर्भगर्भप्रमुगद्गिरामृग्यजुःसामसीमा—
 भीमासायांसलान्तः, रणपरिणमःसंगवीनां गतिः क ॥

कास्माकं धीरधीरा तदपि रचयितुं माण्ड्यमुद्योगभाजा

प्रागहर्भ्यं छिन्मवाचामिव कुतुकरताः क्षन्तुमर्हन्तु सन्तः ॥ ३ ॥

अभिप्रायः प्राज्ञः सकलनिगमानामधिगतः सुधीर्मर्षिर्वै स्युर्भगवदनुकम्पाभ्यवशात् ॥
 चिरं सान्द्रानन्दानुभवरासिकास्तत्र सुजनाः सुविचारिण्यन्ति प्रसभमपरे नेह विद्वद्वै ॥४॥
 गभीराभिप्रायान् सुगममन्त्रनैरुद्धतवता कवीनां स्वग्रन्थे भवति बहुविस्तरणभयम् ॥
 कृते सूनप्राये दुरधिगमता दूषणमतः सविस्तारः श्लाघ्यः क्षण्यति हि यः संशयभरम् ॥५॥
 विदिस्था वेदार्थे दशवदनवाणीपरिणतं शतश्लोकज्याख्या परमरमणीयामकरवम् ॥

सतो गीताभाष्यं निखिल निगमार्थैरुनिलयं विधिज्ञार्थैः सूर्यैर्नृहरिकरुणायाद्भूशरणः ॥६॥

गोदोदत्तपूर्णसीर्थनिषटे पार्थाभिधानं पुरं तत्र ज्योतिषितान्त्रये समभवच्छ्रीज्ञानराजाभिः ॥
 तत्सूनुर्निगमागमार्थनिपुणः सूर्याभिमानः कविः कृष्णप्रेरणया तदर्पणाधिया गीतार्थभाष्यं व्यधात् ॥७॥

इति श्रीमद्देवक्षपाण्डितसूर्यनिरचिताया भगवद्गीताष्टीकाया परमार्थपद्यायां सकल-

गीतार्थसंग्रहे प्रक्षार्पणसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

रा० टी०—युद्धकरणनिश्चयं श्रुतपत्रो गच्छः कुत्र जयादिरिति हृदयवश्या निराह संजयः—पश्येति ।
 यत्र सेनाया घोरीश्वरः सर्वोपायवता स्वामी, तत्र श्रीः राघवलक्ष्मीभूतिः संपन्न नीतिर्विर्णयः ध्रुवा निश्च-
 लेति मम मतिः निश्चय इत्यर्थः ॥ ७८ ॥

अशेषमुण्णर्णस्य दोषदूराय निष्णवे । जमः श्रीप्राणनायाय भक्ताभीष्टप्रदायिने ॥ १ ॥

इति श्रीकृष्णगीताभाष्यशुकार्यसंग्रहः । राघवेन्द्रेण यजिना कृतः सञ्जनसंनिधे ॥ २ ॥

इति श्रीमत्सर्ववज्रस्वतन्त्रमुखीन्द्रपूज्यपादशिष्येण राघवेन्द्रेण कृते श्रीमद्गीतार्थसंग्रहे
 अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इति तत्त्वप्रकाशिकाष्टटीकोपेता

धीनन्दनगवतीता समाप्ता ।